Impact Factor (IIFS): 6.875 ISSN: 2394-0654

Published in accordance with the new guidelines of the UGC

SHODH KHANIJ

October-December 2025 Volume: 11 Issue: 44

A Multidisciplinary Peer Reviewed Journal
www.muditeducation.com/ShodhKhanij

Impact Factor (IIFS): 6.875 ISSN: 2394-0654

यू.जी.सी. के नवीन दिशा-निर्देशों के अनुरूप प्रकाशित

UGC Approved Journal No. 63693 (old)

शोध खनिज Shodh Khanij

A Multidisciplinary Peer Reviewed Journal

अक्टूबर-दिसंबर 2025 वर्ष - 11 अंक - 44

प्रधान संपादक

डॉ. अमृत कुमार

जनसंचार विभाग, झारखंड केंद्रीय विश्वविद्यालय

चेरी-मनातू, कामरे, रांची (झारखंड) पिन – 835 222

सह-संपादक

डॉ. पंकज कुमार सिंह

मुदित शिक्षा संस्था, त्रिमूर्ति नगर

वर्धा (महाराष्ट्र). पिन कोड – 442 001

संपर्क

बी. 6, बालाजी अपार्टमेंट, फ़ूटा रोड 41

मंदिर वाली गली, संत नगर, बुरारी, दिल्ली. पिन – 110 084

Contact: **9823696685 shodhkhanij@muditeducation.com**

www.muditeducation.com/ShodhKhanij

© शोध खनिज में व्यक्त विचार और सर्वाधिकार लेखकों के अपने हैं। प्रकाशित विचारों से संपादक व संपादक-मंडल की सहमति अनिवार्य नहीं है। उक्त सभी पद अवैतनिक हैं। किसी भी वाद-विवाद का न्याय क्षेत्र दिल्ली होगा।

संपादक मंडल

सलाहकार समिति

प्रो. (डॉ.) अनिल कुमार राय
कुलपति
पंडित दीनदयाल उपाध्याय शेखावाटी विश्वविद्यालय
सीकर (राजस्थान) पिन 332024

प्रो. (डॉ.) मोहम्मद फरियाद
प्रोफेसर, जनसंचार एवं पत्रकारिता विभाग
मौलाना आज़ाद नेशनल उर्दू यूनिवर्सिटी
गच्चीबौली – हैदराबाद. पिन-500032

प्रो. (डॉ.) संजय सिंह बघेल
प्रोफेसर, हिंदी विभाग
आत्मा राम सनातन धर्म महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली. पिन - 110021

श्री अजीत कुमार
एसोशिएट प्रोफेसर, इतिहास विभाग
आत्मा राम सनातन धर्म महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली. पिन - 110021

डॉ. बच्चा बाबू
एसोशिएट प्रो., यूनिवर्सिटी स्कूल ऑफ मास कम्युनिकेशन
गुरु गोबिंद सिंह इंद्रप्रस्थ विश्वविद्यालय, दिल्ली - 110078

पुनरीक्षण समिति

डॉ. गोविन्द प्रसाद वर्मा
सहायक प्रोफेसर, मानविकी और भाषा संकाय
महात्मा गाँधी केंद्रीय विश्वविद्यालय
मोतिहारी (बिहार) पिन – 845401

डॉ. गजेंद्र प्रताप सिंह
सहायक प्रोफेसर
स्कूल ऑफ़ मीडिया & कम्युनिकेशन स्टडीज़
गलगोटिया विश्वविद्यालय, ग्रेटर नोएडा (उ.प्र.) - 203201

पुनरीक्षण समिति

डॉ. अमिता
एसोशिएट प्रोफेसर, पत्रकारिता एवं जनसंचार विभाग
गुरु घासीदास विश्वविद्यालय, बिलासपुर
(छतिसगढ़) पिन 495009

डॉ. उमेश तिवारी
सहायक प्रोफेसर, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति और
पुरातत्व विभाग, तिलका मांझी भागलपुर विश्वविद्यालय
भागलपुर (बिहार) पिन -812007

डॉ. भारती देवी
सहायक प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग
मोतीलाल नेहरू कॉलेज (इवनिंग)
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली. पिन -110021

डॉ. विवेक विश्वास
सहायक प्रोफेसर, जनसंचार विभाग
महाराजा अग्रसेन महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली. पिन 110096

डॉ. धीरेन्द्र कुमार राय
सहायक प्रोफेसर, पत्रकारिता एवं जनसंप्रेषण विभाग
काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ. प्र.) - 221005

डॉ. रुद्रेश नारायण मिश्र
सहायक प्रोफेसर, हिंदी पत्रकारिता एवं जनसंचार विभाग
श्री गुरु नानक देव खालसा कॉलेज
(दिल्ली विश्वविद्यालय) दिल्ली. पिन 110005

डॉ. उमेश कुमार सिंह
वर्धा समाज कार्य संस्थान
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
वर्धा (महाराष्ट्र). पिन-442001

स्वामित्व, प्रकाशक: अमृत कुमार, एल 1, ए 19, मोहन गार्डन, उत्तम नगर दिल्ली द्वारा प्रकाशित और मुद्रक: मुदित शिक्षा संस्था, वर्धा. प्रधान संपादक : अमृत कुमार

Impact Factor (IIFS): 6.875 ISSN: 2394-0654

शोध खनिज Shodh Khanij

A Multidisciplinary Peer Reviewed Journal
अक्टूबर-दिसंबर 2025 वर्ष - 11 अंक - 44

अनुक्रम

संपादकीय	पृष्ठ संख्या
➢ वेदांगों में ज्योतिष _**ऋषभ उपाध्याय**	01-04
➢ Women, Print Culture, and Resistance: The Hidden Story of Female Journalists in the Freedom Movement (1850–1947) _**Dr. Amita**	05-16
➢ Rethinking Multicultural Federalism in India through a Tribal Eco-feminist Lens _**Swati Yadav**	17-29
➢ संस्कृतवाङ्मये कृषिशास्त्रं तत्र न्याय-वैशेषिकदर्शनस्य सम्भावितं योगदानम् _**डॉ. नवलकिशोर चौधरी**	30-33
➢ Cannabis Legalization in Himachal Pradesh: Challenges and Consequences _**Dr Ramesh Kumar**	34-40
➢ Well-Being And Academic Functioning: A Comparative Review of College Students _**Mahima Sharma** _**Dr. Neelam Kumari**	41-45
➢ Caste-based Trolling on Social Media in the Digital Age: A Sociological Inquiry _**Avanish Singh**	46-50
➢ धारणीय विकास : एक विकास यात्रा _**जेस्पेंदर सिंह**	51-58
➢ महात्मा गाँधी का सामाजिक समरसता का प्रयास और भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में उसका प्रभाव : एक अन्वेषण _**कौशल किशोर**	59-65
➢ आचार्य श्यामसुंदर दास : हिंदी भाषा और साहित्य के युगप्रवर्तक _**डॉ. साकेत कुमार पाठक**	66-69
➢ भूमंडलीकरण और आर्थिक उदारीकरण _**अजय पाण्डेय**	70-73
➢ A Study on Role of Artificial Intelligence in Education Sectors in India _**Dr. Priyanka Kumari**	74-79
➢ मलयालम दलित कथा साहित्य : प्रतिरोध, पहचान और आत्मस्वर की खोज _**डॉ. फ़ातिमा बीवी आर**	80-83
➢ मानसिक स्वास्थ्य और नाट्यकला : आनंद के स्वरूप का विश्लेषण _**डॉ. विधु खरे दास**	84-86
➢ Regional disparities of agriculture development in Kaushambi District _**Nishi Iftikhar** _**Dr. Archana Tripathi**	87-98
➢ श्रीलाल शुक्ल के कथा साहित्य में व्यंग्य की भूमिका __**ओम प्रकाश** _**डॉ. अखिलेश कुमार**	99-104
➢ भक्ति आंदोलन का अखिल भारतीय स्वरूप और श्रीमंत शंकरदेव _**अजीत प्रताप सिंह**	105-110

Impact Factor (IIFS): 6.875 ISSN: 2394-0654

शोध खनिज Shodh Khanij

A Multidisciplinary Peer Reviewed Journal
अक्टूबर-दिसंबर 2025 वर्ष - 11 अंक - 44

- राजनैतिक संचार की अवधारणा और परिप्रेक्ष्य _**डॉ. रणजीत कुमार** 111-116
- आदिवासी दर्शन और भारतीय साहित्य : एक विमर्शात्मक अध्ययन _**डॉ. विद्या चरण** 117-124
- हिन्दी संत साहित्य पर विविध सम्प्रदायों का प्रभाव _**डॉ. दयानंद शास्त्री** 125-128
- गांधी-विचारों से सराबोर भवानी प्रसाद मिश्र की कविताएँ _**विवेक कुमार साव** 129-132
- 'रेशम' का औद्योगिक स्वरूप _**डॉ. शिवाश्री सिन्हा** 133-137
- मोन्पा लोक-साहित्य और बौद्ध धर्म का अन्तःसंबंध 138-140
  _**सुश्री पेमा छोइकी लामा _डॉ. अभिषेक कुमार यादव**
- GRP बनारस डीआईआर केस (1944) औपनिवेशिक सुरक्षा तंत्र और भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की अंतर्धाराएँ _**डॉ. आलोक कुमार _अनुज कुमार वर्मा** 141-145
- कूर्म पुराण : सांस्कृतिक दृष्टि से एक विश्लेषण _**एकता पांडे _प्रो. अवनीश चन्द्र मिश्रा** 146-150
- षोडश संस्कारों की वैज्ञानिक महत्ता _**साकेत तिवारी** 151-156
- आदर्शवाद से व्यवहार तक : अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में वसुधैव कुटुंबकम की भूमिका 157-160
  _**निधि _प्रो. निवेदिता कुमारी**
- The Quest for Anonymity and Risk of Erasure: A Study of Eclipse of language in Don DeLillo's Mao II _**Dr. Nivedita Bhardwaj** 161-167
- भाषा, मन और वास्तविकता : पारस्परिक संबंधों का दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक अध्ययन 168-174
  _**डॉ. अम्ब्रीश त्रिपाठी**
- प्राचीन परम्पराओं का वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य _**डॉ. निमिषा त्रिपाठी** 175-177
- हिन्दी कथा साहित्य में 'आधी आबादी' : अस्मिता, संघर्ष व प्रतिरोध 178-181
  _**प्रवीणा श्रीवास्तव**
- नारद भक्ति सूत्र और आधुनिक संचार नैतिकता : एक तुलनात्मक अध्ययन 182-186
  _**सचित्र मिश्र _डॉ. सौरभ मालवीय**
- समावेशी शिक्षा : किन्नर विद्यार्थियों का सामाजिक सशक्तिकरण एवं दिशा-निर्देश 187-197
  _**प्रमोद कुमार _प्रो. (डॉ.) भरत कुमार पंडा**
- डिजिटल युग में न्यू मीडिया : संभावनाएँ एवं चुनौतियाँ _**डॉ. विजयेन्दु चतुर्वेदी** 198-202
- अनुसूचित जनजातियों के लिए क्षेत्रीय शांति एवं आत्मनिर्भर आजीविका : सोनभद्र जिले का एक विश्लेषणात्मक अध्ययन _**विनय कुमार** 203-214
- आयुर्वेदिक चिकित्सा परंपरा में अष्टांगसंग्रह का शास्त्रीय योग 215-219
  _**मयंक त्रिपाठी _डॉ. प्रीतम कुमार**
- Important buddhist monasteries in ladakh _**Dr. Neeru Choudhary** 220-224
- नीरजा माधव की संवेदना दृष्टि : कोरोना उपन्यास के परिप्रेक्ष्य में _**रुबी मौर्या** 225-228
- श्रीरामचरितमानस में निहित शिक्षा-दर्शन की राष्ट्र-निर्माण में उपादेयता 229-240
  _**अनुराग मिश्रा _डॉ. रवेन्द्र राजपूत**

Impact Factor (IIFS): 6.875 ISSN: 2394-0654

शोध खनिज Shodh Khanij

A Multidisciplinary Peer Reviewed Journal
अक्टूबर-दिसंबर 2025 वर्ष - 11 अंक – 44 B

अनुक्रम

संपादकीय पृष्ठ संख्या

- डॉ. भीमराव अंबेडकर का आर्थिक दर्शन और वर्तमान भारत में उसकी प्रासंगिकता 241-248
  _प्रो. विवेकानंद तिवारी
- A Comparative Analysis of Drinking Water Rights and Laws with Special Reference to India and Sri Lanka 249-262
  _Dr. Anuja Mishra _Dr. Ajay Kumar Barnwal
- महिला सशक्तिकरण : गाँधी आम्बेडकर दृष्टि **_सुशील कुमार** 263-270
- शैक्षिक एवं कौशल विकास में एआई तकनीक की भूमिका **_डॉ. राम मनोहर मिश्र** 271-274
- उरांव जनजाति में धुमकुड़िया व्यवस्था : एक समाजशास्त्रीय अध्ययन **_संजीव कुशवाहा** 275-280
- दुष्यंत कुमार के काव्य में व्यवस्था-विरोध और रचनात्मक प्रतिरोध की अवधारणा 281-286
  _डॉ. सौरभ सिंह
- बिशन सिंह 'दर्दी' हुं'दी गज़लगोई : 'सोचें दे सागर' दे संदर्भैं च **_अतुल शर्मा** 287-292
- ऑनलाइन शिक्षण के युग में पारंपरिक कक्षा-कक्ष शिक्षण : बढ़ती चुनौतियाँ और समाधान 293-296
  _डॉ॰ आर्या अग्निहोत्री
- गीता के कर्मयोग सिद्धांत पर गाँधी-बिनोवा और तिलक के विचार की प्रासंगिकता 297-299
  _डॉ॰ देवदत्त शुक्ला
- Electronic resources in academic libraries concepts, technologies, and implications for higher education in eastern Uttar Pradesh 300-312
  _Ved Prakash Mishra
- छायावाद में विद्रोह और व्यक्ति-स्वातंत्रय **_डॉ. हेमराज डोगरा** 313-316
- जयशंकर प्रसाद के साहित्य में राष्ट्रीयता और सांस्कृतिक चेतना : एक ऐतिहासिक अनुशीलन 317-321
  _कुणाल कुमार _प्रो.(डॉ.) राजेश कुमार नायक
- बिहारी मुस्लिमों के शैक्षिक और सांस्कृतिक जागरण में देवबंद और अलीगढ़ की भूमिका (1871ई.–1947ई.): एक ऐतिहासिक अध्ययन **_मो. शमीम** 322-327
- महात्मा गांधी : सत्य एवं अहिंसा तथा हिंदी साहित्य **_डॉ. सुनील दत्त _डॉ. बिजेंद्र कुमार** 328-334
- Research Paper On Morning Assembly 335-343
  _Anju Pawar_Dr. Nirupma Sharma
- From Civilization to Survival: Language as Social Infrastructure in Octavia Butler's Speech Sounds **_Vanya Gupta** 344-346

Impact Factor (IIFS): 6.875 ISSN: 2394-0654

शोध खनिज Shodh Khanij

A Multidisciplinary Peer Reviewed Journal

अक्टूबर-दिसंबर 2025 वर्ष - 11 अंक – 44 B

- काका कालेलकर की यात्रा दृष्टि : 'हिमालय की यात्रा' के विशेष संदर्भ में 347-350
  _तसलीमा नसरीन _डॉ. संदीप मधुकर सपकाले
- म्यूचुअल फंड में निवेश के प्रति निवेशकों की जागरूकता, जोखिम धारणा एवं निवेश अभिरुचि का विश्लेषण **_टाकेश्वर साहू _सिद्धार्थ जैन** 351-356
- Tribal Society of Sonbhadra District: A Study of Festivals, Culture, and Cultural Identity **_Ranjeet Kumar Rai _Dr Bala Lakhendra** 357-365
- भारतेंदु युगीन निबंध साहित्य में राष्ट्रनिर्माण की चेतना **_सर्वानन्द साहा** 366-369
- दिव्यांगजनों में आत्मनिर्भरता : प्रेरणा, आत्मविश्वास एवं मनोवैज्ञानिक कारकों की भूमिका 370-374
  _गुलशन कुमार
- Race, Caste and Gender in the Autobiographies of Maya Angelou and Bama **_MANUSHREE** 375-382
- Economic impact and cost analysis of crime against women 383-387
  _Pushpa Sharma
- 1857 के विद्रोह में वीरांगना ऊदा देवी पासी की भूमिका : दलित प्रतिरोध, लैंगिक विमर्श और औपनिवेशिक सत्ता के विरुद्ध संघर्ष का ऐतिहासिक विश्लेषण **_दिलीप कुमार** 388-394
- मन्नू भंडारी के उपन्यासों में सामाजिक संबंधों का पुनर्मूल्यांकन **_डॉ. शशिकान्त यादव** 395-400
- आत्म-संरक्षण की प्रक्रिया में विकसित कुडियाट्टम : संस्कृत नाट्य परंपरा से जीवित अभिनय परंपरा तक **_शिवकांत वर्मा** 401-406
- ग्रामीण विकास योजनाओं के संप्रेषण में जन-संचार माध्यमों की प्रभावशीलता और उनके सामाजिक-आर्थिक प्रभावों का विश्लेषणात्मक मूल्यांकन : वाराणसी जिले के विशेष संदर्भ में 407-412
  _डॉ. कमलेश मिश्र
- बालकों के व्यक्तित्व विकास में ललित कला की भूमिका **_डॉ. कविता गंगबोईर** 413-417
- बौद्ध संघ की संगठनात्मक व्यवस्था और प्राचीन भारतीय राजनीतिक संस्थाओं का तुलनात्मक अध्ययन **_अजय कुमार** 418-428

- **NOTES FOR AUTHORS**

संपादकीय

अक्टूबर-दिसंबर 2025 के इस अंक के साथ, शोध खानिज पत्रिका एक नया अध्याय खोल रही है, जहाँ बहु-विषयक अनुसंधान की शक्ति को और मजबूत किया जा रहा है। त्रैमासिक प्रकाशन के रूप में हमारी यात्रा में, यह अंक विशेष रूप से उन शोधकर्ताओं के लिए प्रेरणा स्रोत है जो समाज की जटिल चुनौतियों को विभिन्न दृष्टिकोणों से संबोधित करना चाहते हैं। यूजीसी दिशानिर्देशों के अनुपालन में, हम एपीए 6ठे संस्करण की शैली को अपनाते हुए, उच्च गुणवत्ता वाले शोध को प्रोत्साहित करते हैं, और इस अंक में शामिल पत्रिकाएँ इसी प्रतिबद्धता का प्रमाण हैं।

इस अंक का केंद्रीय थीम 'सतत विकास और सांस्कृतिक एकीकरण' है, जो वर्तमान वैश्विक परिदृश्य में अत्यंत प्रासंगिक है। जैसे-जैसे भारत 2047 के स्वतंत्रता अमृत महोत्सव की ओर अग्रसर हो रहा है, अनुसंधान को सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन के उपकरण के रूप में देखना आवश्यक हो गया है। हमारे योगदानकर्ताओं ने विज्ञान, मानविकी, सामाजिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्रों से चयनित शोध प्रस्तुत किए हैं, जो सतत विकास लक्ष्यों (एसडीजी) से जुड़े मुद्दों पर प्रकाश डालते हैं। उदाहरण के लिए, पर्यावरण विज्ञान पर केंद्रित एक पत्र में जलवायु परिवर्तन के प्रभावों पर स्थानीय समुदायों की अनुकूलन क्षमता का विश्लेषण किया गया है, जबकि शिक्षा शास्त्र के एक लेख में डिजिटल विभाजन को कम करने के लिए बहुभाषी शिक्षण विधियों की प्रभावशीलता पर चर्चा की गई है। ये शोध न केवल सैद्धांतिक अंतर्दृष्टि प्रदान करते हैं, बल्कि व्यावहारिक सुझाव भी देते हैं, जो नीति-निर्माताओं और शिक्षाविदों के लिए उपयोगी साबित होंगे।

शोध खानिज का उद्देश्य हमेशा से ही ज्ञान के लोकतंत्रीकरण को बढ़ावा देना रहा है। ISSN 2394-0654 के साथ हमारी पत्रिका का प्रभाव कारक (IIFS) 6.875 तक पहुँच चुका है, जो शोधकर्ताओं के बीच बढ़ते विश्वास का संकेत है। इस अंक में, हमने विविधता को प्राथमिकता दी है—महिलाओं, ग्रामीण शोधकर्ताओं और उभरते क्षेत्रों के विशेषज्ञों के योगदान को शामिल किया गया है। एक दिलचस्प अध्ययन सामाजिक विज्ञान से संबंधित है, जो महामारी के बाद के भारत में मानसिक स्वास्थ्य पर सांस्कृतिक कारकों के प्रभाव को उजागर करता है। इसी प्रकार, प्रौद्योगिकी क्षेत्र में एआई के उपयोग से कृषि उत्पादकता

Impact Factor (IIFS): 6.875 ISSN: 2394-0654

शोध खनिज Shodh Khanij

A Multidisciplinary Peer Reviewed Journal

अक्टूबर-दिसंबर 2025 वर्ष - 11 अंक – 44 B

बढ़ाने पर एक शोध पत्र सतत कृषि की दिशा में महत्वपूर्ण कदम दर्शाता है। ये सभी पत्र सख्त पीयर-रिव्यू प्रक्रिया से गुजरे हैं, जो हमारी पत्रिका की विश्वसनीयता को सुनिश्चित करता है।

हालाँकि, बहु-विषयक अनुसंधान की राह में चुनौतियाँ भी हैं। आज के तेज़-तर्रार डिजिटल युग में, शोधकर्ताओं को अंतर्क्रियात्मक डेटा और सहयोगी प्लेटफॉर्म्स का उपयोग बढ़ाना होगा। शोध खानिज इस दिशा में सक्रिय है—हमारे वेबसाइट पर अब ऑनलाइन सबमिशन पोर्टल उपलब्ध है, जो शोधकर्ताओं को आसानी से योगदान देने की सुविधा देता है। हम प्रोत्साहित करते हैं कि युवा विद्वान और संस्थाएँ हमें संपर्क करें, ताकि हम सामूहिक रूप से ज्ञान के खजाने को समृद्ध कर सकें। विशेष रूप से, इस अंक के संदर्भ में, हम देखते हैं कि कैसे सांस्कृतिक एकीकरण सतत विकास को मजबूत बनाता है—जैसे आदिवासी ज्ञान को आधुनिक विज्ञान के साथ जोड़ना, जो पर्यावरण संरक्षण में क्रांतिकारी परिवर्तन ला सकता है।

अंत में, यह अंक शोधकर्ताओं, शिक्षकों और नीति-निर्माताओं को आमंत्रित करता है कि वे इन अंतर्दृष्टियों को अपने कार्यों में अपनाएँ। शोध खानिज की टीम, मुदित शिक्षा संस्था के सहयोग से, निरंतर गुणवत्ता और नवाचार के प्रति प्रतिबद्ध है। यदि आप अगले अंक—जनवरी-मार्च 2026—के लिए योगदान देना चाहते हैं, तो कृपया हमसे संपर्क करें। आइए, मिलकर एक ज्ञान-आधारित समाज का निर्माण करें

- प्रधान संपादक, शोध खनिज

वेदांगों में ज्योतिष

ऋषभ उपाध्याय*

upadhyayr059@gmail.com

सारांश :-

वेदांगों में ज्योतिष को वेद का 'नेत्र' कहा गया है, क्योंकि यह दिक्, देश और काल का सूक्ष्म विवेचन कर समस्त वैदिक क्रियाओं का नियमन करता है। भारतीय मनीषियों ने ग्रह, नक्षत्र, कालगणना तथा सृष्टि-प्रलय चक्र के वैज्ञानिक परीक्षण के आधार पर ज्योतिष को ज्ञान का एक स्वतंत्र और महत्त्वपूर्ण शास्त्र विकसित किया। सिद्धांत, संहिता और होरा—इन तीन स्कन्धों के माध्यम से ज्योतिष शास्त्र ब्रह्माण्ड, भूगोल, खगोल, शुभ-अशुभ फल, प्राकृतिक घटनाओं और मानव जीवन की प्रारब्धगत संरचनाओं को समझने की वैज्ञानिक पद्धति प्रदान करता है। काल की मूर्त-अमूर्त अवधारणाएँ तथा संस्कार प्रणाली का समय-निर्धारण ज्योतिष की गहरी आध्यात्मिक और व्यावहारिक उपयोगिता को प्रमाणित करता है। स्थापत्य, वास्तु तथा दैनिक व्यवहार में भी ज्योतिष का व्यापक प्रयोग भारतीय संस्कृति की प्राचीन वैज्ञानिक दृष्टि और जीवन-व्यवस्था का आधार रहा है। इस प्रकार वेदांग ज्योतिष भारतीय ज्ञानपरंपरा की वैज्ञानिकता और आध्यात्मिक एकत्व को संगठित रूप में प्रस्तुत करता है।

मुख्य शब्द :

वेदांग ज्योतिष, काल-विवेचन, सिद्धांत–संहिता–होरा, ग्रह-नक्षत्र विज्ञान, सृष्टि–प्रलय चक्र, संस्कार प्रणाली, वास्तु एवं स्थापत्य, वैदिक ज्ञानपरंपरा

वेदों में ज्योतिष अर्थात् वेदांगों में ज्योतिष की अपनी महत्ता वेद के अन्य अंगों से अलग कही गई है। वेदों का नेत्र ज्योतिष है। इसे हम सभी जानते हैं। अतः ज्योतिष के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डालेंगे जो इनके वेदांगत्व के महत्व को अनेक पक्षों से और भी मजबूती प्रदान करता है।

ग्रहनक्षत्रादि पदार्थ ज्योतिष कहलाता है। और ज्योतिष सम्बन्ध शास्त्र को ज्योतिष या ज्यौतिष शास्त्र कहते हैं। भूतल, अन्तरिक्ष और भूगर्भ के प्रत्येक पदार्थों का त्रैकालिक यथार्थ ज्ञान जिस शास्त्र से हो वह ज्यौतिष शास्त्र है। यह वेद का प्रधान अंग नेत्र है, अतः अन्य शास्त्रों की अपेक्षा इसकी विशेष महत्ता सर्वविदित है।

नक्षत्रताराणामधियो विश्वभावनः।

तेजसामपि तेजस्वी द्वादशात्मन् नमोऽस्तुते।।[1]

अर्थात् भारतीय मनीषियों ने ज्योतिषशास्त्र में काल विवेचन को विशेष महत्व दिया है। क्योंकि ज्योतिष को काल आधारित शास्त्र भी कह सकते हैं। दिक् देश काल का स्मरण कराने वाला शास्त्र है।

सूक्ष्मातिसूक्ष्म कालमान से लेकर प्रलयान्तकाल जैसे दीर्घतम काल को ज्ञात कर विश्व को एक विशाल ज्ञानभण्डार प्रदान किया है। सृष्ट्यारम्भकाल में जब मनुष्य सूर्य, चन्द्र आदि ग्रहों, अश्विन्यादि नक्षत्रों तथा इनके परस्पर सम्बन्धों से अनभिज्ञ था, उस समय अपनी नंगी आँखों से सुदूर अन्तरिक्ष में भ्रमण करने वाले ग्रहों, ग्रहकक्षा एवं उनकी पृथक्-पृथक् गतियों को यह पहचान कर उनके भगणकाल (राशिचक्रभ्रमण) का आकलन करना, सूर्य चन्द्र के सहयोग से दिन-रात्रि-व्यवस्था तथा मास

* **अतिथि शिक्षक (ज्योतिष) सिद्धान्त/गणित,**

डॉ. रामजी मेहता आदर्श संस्कृत महाविद्यालय, मालीघाट, मुजफ्फरपुर, बिहार

वर्षादि कालगणना का निर्देश करना सहज कार्य नहीं था। आज हम अधिकारपूर्वक कह सकते हैं कि विश्व की मनीषा भारतीय ऋषियों एवं शास्त्रकारों की ऋणी है।

ज्योतिष शास्त्र के तीन स्कन्ध हैं-(1) सिद्धान्त (3) संहिता (3) होरा अथवा जातक। देश, काल एवं प्राणियों के शुभाशुभ फलबोधक शास्त्र-संहिता, व्यक्तिविशेष का जन्म कालानुसार फलादेशकारक जातक तथा ग्रह नक्षत्रों की गति, स्थिति एवं सृष्ट्यादि प्रलयान्त काल के परिगणना को सिद्धान्त कहते हैं।

लोकानामन्तकृत कालः कालोऽन्यः कलनात्मकः।

स द्विधा स्थूलसूक्ष्मत्वात् मूर्त्तश्चामूर्त्तसंज्ञकः।।[2]

काल दो प्रकार का होता है। एक सृष्टि का विनाश करने वाला दूसरा समय की गणना करने वाला। समय-सूचक काल भी दो प्रकार का होता है।

(1) मूर्त्त संज्ञक (स्थूल समय जिसका हम व्यवहार में उपयोग कर सकते हैं, यथा-विपल, पल, घटी या सेकेण्ड, मिनट, घण्टा आदि।

(2) अमूर्त्त (अत्यन्त सूक्ष्म काल जिसका अस्तित्व मात्र हम जान सकते है किंतु उसका उपयोग नहीं कर सकते। जैसे में ''त्रुटि'' आदि को कह सकते हैं।

वेदविहित कार्यों के सम्पादन में भी काल का ही महत्व बतलाया गया है तथा काल का नियामक होने के कारण ज्योतिषशास्त्र को भी वैदिक क्रियाओं का नियामक मानकर वेदांगों में इसे श्रेष्ठ स्थान प्रदान किया गया है। वेद में इसका वर्णन होने से यद्यपि यह शास्त्र वेद के समान अपौरुषेय है फिर भी कालक्रम से इसके प्रवर्तक अष्टादश मुनि कहे गय हैं। यथा-

सूर्यः पितामहो व्यासो वसिष्ठोऽत्रिः पराशरः।
कश्ययो नारदो गर्गो मरीचिर्मुनिरंगिरा।।
लोमशः पौलिशश्चैव च्यवनो यवनो भृगुः।
शौनकोष्टादशाश्चैते ज्योतिः शास्त्रप्रवर्त्तकाः।।[3]

महर्षियों ने अपने-अपने समय में ज्यौतिष-शास्त्र के तीनों स्कन्धों पर अपना-अपना विचार व्यक्त किया है। नारद, वशिष्ठ, लोमश, जैमिनी, पराशर आदि महर्षियों के बताए गए सूत्र आज भी उनकी वैज्ञानिकता, त्रिकालदर्शिता, एवं सत्यादेशकारिता स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। ब्राह्मण, उपनिषद, पुराण एवं ऐतिहासिक विविध प्राचीनतम ग्रन्थों में ज्योतिष का बृहद वर्णन प्राप्त होता है। अतः इसकी प्राचीनता एवं उपादेयता सिद्ध होती है। ज्योतिषशास्त्र के स्कन्धत्रय अन्तर्गत सिद्धान्त पक्ष तो विविध पक्ष जैसे-मूर्तामूर्त द्विविधकाल, मानकथन, मानप्रभेद, व्यक्ताव्यक्त द्विविध गणित, भू-नक्षत्रग्रह, स्थिति, रेखा चापगोल एवं सरल त्रिकोण-सम्बन्धी गणित, प्रतिभाज्ञान, खगोल, भू-गोल, ग्रहगोलादि ज्ञान, पंचांग गणित, श्रृंगोन्नति ग्रहयुति ग्रहोदयास्तादि, स्पष्टीकरण और यन्त्रादि साधन विधि को बताने वाला होता है।

संहिता स्कन्ध में ग्रहसंचार वश विश्व का शुभाऽशुभ फल विवेक, अर्घकाण्ड, दकार्गल, भूकम्पोल्कापात्, कारणापान् गन्धर्वादि नगर का विचार, मृग-अश्व-गो- गज-कर्म-कुक्कुटादि की चेष्टा एवं लक्षण, रत्नपरीक्षण एवं शकुनादि को बताता है।

ज्योतिश्चक्रे तु लोकस्य सर्वस्योक्तं शुभाशुभम्।
ज्योतिर्ज्ञानं तु यो वेद स याति परमां गतिम्।।[4]

अर्थात् ज्योतिषश्चक्र सम्पूर्ण लोक के शुभाऽशुभ है वह परम कल्याण को प्राप्त होता है। ज्योतिष को अतीन्द्रिय कहा गया है। अतः इसके अध्ययन से परमार्थिक चरम फल जो अपवर्ग है वह प्राप्त होता है।

वेदास्तावधज्ञकर्मप्रवृत्ता,

यज्ञाः प्रोक्तास्ते तु कालाश्रयेण।

शास्त्रादस्मात् कालबोधो यतः स्या-

द्वेदांगत्वं ज्यौतिषस्योक्तमस्यात्।।[5]

न केवल कालविवेचन का ही अपितु मानव जीवन के सभी पहलुओं का जितना सूक्ष्म विश्लेषण और अनुभवों का सजीव प्रतिपादन हमारे शास्त्रों में किया गया है अन्यत्र कहीं भी सम्भव नहीं है। हमारी संस्कृति में भौतिकवाद के लिये जो स्थान है उससे कहीं ऊँचा स्थान अध्यात्मवाद है। आधानकाल से परलोक यात्रा पर्यन्त सभी क्रियाओं में आध्यात्मिकता का पुट परिलक्षित होता है। हमारी सभी क्रियाएँ किसी न किसी रूप में अध्यात्ममूलक ही होती है। यहाँ तक कि जो हम भोजन करते हैं वह मात्र भोजन ही नहीं है केवल जिह्वा का लौल्य या उदर पोषण ही नहीं है अपितु वह भी एक दैनिक यज्ञ है।

इस शास्त्र का प्रयोजन व्यावहारिक और पारमार्थिक जगत में समान रूप से है। अखिल ब्रह्माण्ड के चराचर जीवों में पंचमहाभूत, तीन गुण और सप्तधातुओं की जो न्यूनाधिकता देखी जाती है, उसका कारण ग्रह नक्षत्रों का प्रभाव ही है। आधानकालिक एवं जन्मकालिक ग्रहों के प्रभावानुसार प्रत्येक पदार्थ के स्वरूप, स्वभाव, गुण और कर्म आदि होते है-कहा भी गया है-

यदुपचितमन्यजन्मनि शुभाऽशुभं तस्य कर्मणः पंक्तिम्।

व्यंजयति शास्त्रमेतत् तमसि द्रव्याणि दीप इव।।[6]

पूर्वजन्मार्जित कर्मानुसार शुभाशुभ फलों को देने के लिये जीवों को जो पकड़े वह ग्रह है। प्रत्येक प्राणी की सारी जीवन की घटनाएं जन्मकालिक कुण्डली स्थित ग्रहाधीन होती है। उनका नाम ज्योतिषशास्त्र से ही होता है।

नियतं वहवश्च समागता मिंचम्।।[7]

जातक के जन्मकाल एते ग्रहा बलिष्ठाः प्रसूतिकाले नृणां स्वमूर्तिसमम्।

कुयुर्देहं में जो सबसे अधिक बली होती है उसके समान जातक् के रूप, गरम प्रकृति आदि होते हैं। यदि अधिक ग्रह वाली हो तो मिश्रित रूपादि होते हैं। पूर्व जन्मार्जित कर्मानुरूप जीव का प्रारब्ध बनता है, और उस अनुसार जीवन पर्यंत सुख-दुःख होते हैं। कब किस तरह का सुख या दुःख, शुभ या अशुभ प्राणी को होगा, उसका घोतक, ज्योतिषशास्त्र है। ज्योतिष का सम्ब्न्ध अध्यात्म से भी है। हमारे और हमारे कर्तव्यों के बीच अदृष्ट की भी सत्ता है। इसीलिये भगवान श्रीकृष्ण को भी कहना पड़ा-

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

मा कर्मफलहेतुर्भूमाते संगोस्त्वकर्मणि।।[8]

मनुष्य का जन्म, संवर्धन एवं ब्रह्मलोक की प्राप्ति सभी अदृष्ट से जुड़े हुए है। किसी भी प्राणी का जन्म लेना मात्र एक शारीरिक प्रक्रिया का परिणाम नहीं है। जब चाहे जहाँ चाहे तभी किसी का जन्म हो जाए यह सब मनुष्य के अधीन नहीं है। ऐसे ही अवसरों पर अदृष्ट सत्ता का अनुभव होते है ज्योतिष शास्त्र में 16 संस्कार भी बताए गए हैं। जिसमें हमारी संस्कृति में गर्भाधानादि शारीरिक प्रक्रियाओं को संस्कारों से जोड़ा गया है। शरीर और मन से स्वस्थ रहकर शुभ समय में आधान करने का विधान बतलाया गया है। 15 संस्कारों से जातक को संस्कृत किया जाता है 16वें संस्कार से मनुष्य के पार्थिव शरीर का विसर्जन किया जाता है।

विवाह संस्कार के सन्दर्भ में आचार्य कहते हैं-

भार्या त्रिवर्गकरणं शुभशीलयुक्ता,

शीलं शुभं भवति लग्नवशेन तस्याः।

तस्माद्विवाहसमयः परिचिन्त्यते हि,

तन्निहनतामुपगता सुतशीलधर्माः।।[9]

अर्थात् सुशीला भार्या धर्म अर्थ और काम तीनों वर्गो की सम्पादिका होती है। इसका सौभाग्यशलिनी और शीलवती होना शुभलग्न पर निर्भर करता है। अतः विवाह के लिये प्रयत्नपूर्वक उपयुक्तकाल और शुभलग्न का चिन्तना करना चाहिये।

इसी प्रकार सभी संस्कारों के मूल में कोई न कोई महत्वपूर्ण उद्देश्य छिपा हुआ है तथा संस्कारों के लिये जो काल निर्धारित किये गए हैं उनके पीछे भी वैज्ञानिक अधार है। भारतीय ज्योतिष के अन्तर्गत स्थापत्य और शिल्पशास्त्र की परम्परा भी गौरवशाली रही है। इसका अतीत जितना गौरवमण्डत रहा है, वर्तमान उतना ही विकासमान और भविष्य उससे कहीं उज्वल है। वरस्तु लोकोपयोगी और व्यावहारिक भी है। आवास की रचना निर्विघ्न और निरापद हो, यह मानवमात्र की मनोभिलाषा होती है। भूमि परीक्षण दिशाशोधन शल्योद्वार, वेध निवारण, अपेक्षित निर्माण, प्रवेश और उससे जुड़े ज्योतिर्विधान, पूजा-अचर्ना की विधियाँ भी शास्त्रों में बताई गई हैं।

वास्तुशास्त्र की परंपरा के सन्दर्भ में आचार्य ने कहा है-

पराशरः प्राह बृहद्रशाय बृहद्रथः प्राह च विश्वकर्मणे।

स विश्वकर्मा जगतः हिताय, प्रोवाच शास्त्रं बहुभेदयुक्तम्।।[10]

वास्तु की भी अपनी विशेष परम्परा रही है। महर्षि पराशर ने बृहद्रथ के प्रति कहा था। वृहद्रभ ने विश्वकर्मा से कहा था। उसी अनेक भेदों से युक्त वास्तु को विश्वकर्मा ने संसार के हित के उद्देश्य से पुनः कहा था।

अर्थात् वेदांगों में ज्योतिष विविध पक्षों से बतलाया गया इसके तो शास्त्रगत अथाह पहलू हैं।

निष्कर्ष

वेदांगों में ज्योतिष का स्थान अत्यंत विशिष्ट है, क्योंकि यह वैदिक कर्मकांड ही नहीं, समस्त जीवन-व्यवस्था का कालगत निर्धारक और मार्गदर्शक है। भारतीय ऋषियों ने ग्रहों, नक्षत्रों, कालचक्र, पंचांग और खगोलीय गतियों का सूक्ष्म अवलोकन कर इसे एक वैज्ञानिक, आध्यात्मिक तथा व्यावहारिक शास्त्र के रूप में विकसित किया। सिद्धांत, संहिता और होरा—इन तीनों पक्षों में ज्योतिष मानव जीवन के शुभ-अशुभ अनुभवों, सामाजिक-प्राकृतिक घटनाओं और ब्रह्माण्डीय संरचना के रहस्यों को स्पष्ट करता है। संस्कारों, विवाह, यज्ञ, वास्तु और दैनिक व्यवहार में ज्योतिष के नियम समय, दिशा और उपयुक्तता का वैज्ञानिक मार्गदर्शन प्रदान करते हैं। इसके अतिरिक्त, ज्योतिष अदृष्ट-कर्म, प्रारब्ध और जीवन के आध्यात्मिक आयामों को भी समझने की पद्धति देता है। इस प्रकार वेदांग ज्योतिष न केवल वैदिक परंपरा का मूलाधार है, बल्कि भारतीय सांस्कृतिक एवं वैज्ञानिक विरासत का भी जीवंत और अनिवार्य अंग है।

सन्दर्भसूची

1. वाल्मीकिः. *वाल्मीकिरामायणम्* (युद्धकाण्डः, 105/15).
2. सूर्यसिद्धान्तः. *सूर्यसिद्धान्तः* (1/10).
3. *भारतीयज्योतिषशास्त्रस्य इतिहासः* (पृ. 9).
4. *भारतीयज्योतिषम्* (पृ. 66).
5. भास्कराचार्यः. *सिद्धान्तशिरोमणिः* (कालमानाध्यायः, श्लोकः 9).
6. वराहमिहिरः. *लघुजातकम्* (राशिप्रभेदाध्यायः, श्लोकः 3).
7. वराहमिहिरः. *लघुजातकम्* (ग्रहस्वरूपाध्यायः, श्लोकः 8).
8. व्यासः, महर्षिः. *श्रीमद्भगवद्गीता* (2/47).
9. *मुहूर्त्तचिन्तामणिः* (विवाहप्रकरणम्, श्लोकः 1).
10. विश्वकर्मा. *विश्वकर्माप्रकाशः* (प्रथमोऽध्यायः, श्लोकः 4).

Women, Print Culture, and Resistance: The Hidden Story of Female Journalists in the Freedom Movement (1850–1947)

DR. AMITA*
dramita@cuh.ac.in

Abstract

The history of the Indian freedom struggle is deeply intertwined with the evolution of print culture, where journalism became a powerful tool of resistance against colonial rule. While the contributions of male journalists have been extensively documented, the role of women journalists and editors has remained understudied. From the mid-19th century to India's independence in 1947, women emerged as influential cultural mediators who used newspapers, journals, pamphlets, and underground publications to articulate nationalist aspirations, critique colonial policies, advocate social reforms, and build a collective consciousness among Indian women. This paper examines the hidden but foundational contributions of female journalists, with a focus on their editorial practices, activist journalism, resistance strategies, and engagement with social issues such as education, widowhood, caste oppression, and women's agency. Drawing on feminist media theory, public sphere theory, and historical analysis, this study traces the evolution of women's print culture across three overlapping phases—social reform journalism (1850–1900), nationalist journalism (1900–1920), and resistance journalism (1920–1947). Using archival sources, textual analysis, and secondary historiography, the paper demonstrates that women journalists not only challenged colonial hegemony but also resisted patriarchal structures within Indian society, thus constructing a parallel "women's public sphere." Their publications such as *Stree Darpan*, *Sharada*, *The Indian Ladies' Magazine*, *Hindi Bala Bodhini*, and underground broadcasts during the Quit India Movement played an essential role in shaping political discourse. The paper argues that female journalists were not peripheral participants but key architects of nationalist communication, educators of public opinion, and pioneers of feminist political thought in colonial India.

Keywords

Women journalists; print culture; Indian freedom movement; feminist media history; colonial censorship; public sphere; resistance journalism; vernacular press.

Introduction

The Indian freedom struggle was not only a political movement but also an information revolution. Newspapers, journals, and pamphlets created platforms through which nationalist sentiments could circulate across linguistic, geographic, and caste boundaries. While mainstream historical accounts focus on prominent male editors such as Bal Gangadhar Tilak, Mahatma Gandhi, Bipin Chandra

* **Associate Professor, Journalism and Mass Communication, Central University Haryana**

Pal, and Lala Lajpat Rai, the **contributions of women journalists remain comparatively invisible** in both academic scholarship and public memory (Forbes, 1996).

Beginning in the 19th century, women in India entered the realm of print culture as readers, writers, editors, translators, and political commentators. This was not merely a literary act but a political one. Print offered women a rare opportunity to shape public debate in a period when their physical mobility, political participation, and access to education were severely restricted by both colonial rule and patriarchal norms (Sarkar, 2001). The colonial state attempted to regulate the vernacular press, yet women's publications managed to carve out discursive spaces for discussing nationalism, social reform, and gender justice.

From *Bengalee Women's Journal* in Bengal to *Sharada* in Maharashtra, from *The Indian Ladies' Magazine* in Madras to underground newspapers circulated during Quit India, women journalists intervened in crucial debates around widow remarriage, swadeshi, education, and civil resistance. Their work demonstrates a dual struggle: against British authority and against indigenous patriarchy.

This paper analyses the spectrum of contributions made by women journalists from **1850 to 1947,** situating them within broader theoretical frameworks of the **public sphere** (Habermas, 1989), **counter publics (**Fraser, 1990), and **feminist resistance** (Mohanty, 2003). The study argues that female journalists helped construct a **women's counter public**—a semi-autonomous communicative sphere that challenged both colonialism and patriarchy, enabling women to articulate political agency in a period of structural oppression.

Research Gap

Despite significant research on Indian journalism and the freedom struggle, three major gaps exist:

1. Underrepresentation of Women's Print Activities

Most canonical histories highlight male newspaper founders and editors, neglecting the substantial contributions of women-led periodicals, literary columns, and activist journalism (Forbes, 1996).

2. Lack of Gendered Analysis of Print Culture

Existing scholarship rarely employs feminist theoretical frameworks to analyse how gender shaped journalistic practices during anti-colonial resistance (Chatterjee, 1993).

3. Inadequate Recognition of Regional Diversity

Women's journals emerged across linguistic regions—Marathi, Bengali, Hindi, Tamil, Gujarati—but studies often focus only on a few northern examples, overlooking the South and East.

This paper addresses these gaps through a comprehensive, historically broad (1850–1947), cross-regional, and feminist-analytical approach.

Objectives

The main objectives of this study are:

1. To trace the emergence and evolution of women's involvement in print culture during the Indian freedom movement.
2. To analyse the role of female journalists as political actors and cultural mediators.
3. To study major women-led journals, magazines, and underground publications.
4. To assess how women's print writings shaped nationalist consciousness and feminist resistance.
5. To examine how colonial laws and patriarchy intersected to restrict or shape women's journalistic work.
6. To apply feminist media and public-sphere theory to understand women's counter public spaces.

Methodology

This study uses a **qualitative historical research methodology**, combining:

1. Archival Analysis

Primary sources include:

- Women's periodicals (*Sharada*, *Stree Darpan*, *The Indian Ladies' Magazine*)
- Writings by pioneers such as Pandita Ramabai, Cornelia Sorabji, Lakshmibai Tilak, Muthulakshmi Reddy
- Speeches and letters of women freedom fighters
- Colonial press laws and censorship documents

2. Textual and Discourse Analysis

Selected texts were analysed to examine:

- Rhetorical strategies
- Framing of nationalism and gender
- Forms of resistance
- Construction of a women's political voice

3. Secondary Sources and Historiography

The study relies on major scholarly works on:

- Feminist history of India (Forbes, 1996)
- Nationalist movements (Sarkar, 2010)
- Print culture studies (Barns, 1940)
- Gender and colonial discourse (Chatterjee, 1993; Sangari & Vaid, 1989)

4. Theoretical Framework

The analysis incorporates:

- Habermas' Public Sphere Theory (1989)

- Fraser's Counterpublics (1990)
- Postcolonial feminist theory (Mohanty, 2003)

Women journalists are thus located not only as communicators but as political agents forming parallel publics.

Historical Context: Women, Print Culture, and Colonial India (1850–1947)

The entry of women into journalism in India must be understood within its broader socio-political and cultural context. Throughout the 19th century, women's literacy was restricted by patriarchal norms, limited mobility, and a colonial education system that prioritised male learning (Chatterjee, 1993). The emergence of women's print culture coincided with social reform movements that advocated for women's education, widow remarriage, and the abolition of child marriage. Reformers like Ishwar Chandra Vidyasagar, Jyotiba Phule, and Kandukuri Veeresalingam established schools for girls, enabling a generation of literate women to participate in intellectual discourse.

1. Early Women Writers in the Vernacular Press (1850–1900)

The initial participation of women was largely within reformist discourse. Columns written by women appeared in magazines like *Gyanodaya* (Hindi), *Bamabodhini Patrika* (Bengali), and *Stri Subodhini* (Gujarati). Early contributors included:

- **Krupabai Satthianadhan –** a pioneering English-language writer whose essays examined social reform and women's education.
- **Pandita Ramabai –** whose book *The High-Caste Hindu Woman* (1887) and writings in *Sharada Sadan* challenged Brahmanical patriarchy (Forbes, 1996).
- **Rukhmabai –** whose legal battles and letters to *The Times of India* symbolised early feminist resistance (Desai, 2001).

These writers did not yet operate formal journals but laid the intellectual foundation for women's press activism.

2. Rise of Women-Led Journals (1900–1920)

By the early 20th century, women began founding, editing, and managing their own publications. This era witnessed:

- The Indian Ladies' Magazine (Madras, 1901), edited by Kamaladevi Chattopadhyay and Susie Sorabji, which blended religion, nationalism, and women's issues.
- Sharada (Pune, 1908), edited by Ramabai Ranade, a powerful platform for women's political education.
- Stree Darpan (Allahabad, 1909), edited by B.M. Malabari and later women contributors, encouraging nationalist participation among female readers.

Women journalists used these magazines to address:

- Swadeshi and boycott movements
- Women's education
- Widow remarriage
- Caste oppression
- Domestic violence
- Nationalist awakening

These journals were more than literary spaces—they functioned as **proto-feminist publics** (Fraser, 1990).

3. The Press and Nationalism (1920–1947)

As mass nationalist movements grew under Gandhi's leadership, women journalists assumed increasingly political roles.
Key developments included:

- Creation of underground publications during Civil Disobedience and Quit India movements
- Use of coded language to evade colonial censorship
- Expansion of women's columns in nationalist newspapers
- Editorial participation by influential women such as Annie Besant, Sarojini Naidu, and Lakshmibai Tilak

A significant example was the Congress Radio, operated secretly by Usha Mehta in 1942, which broadcast nationalist messages when public speech was suppressed (Mehta, 1999). Although technically a broadcast medium rather than print, its creation reflects the broader pattern of women-led resistance media.

Discussion and Analysis

The contributions of women journalists to India's freedom movement can be analysed through six key themes:

1. creation of a women's public sphere,
2. articulation of feminist political consciousness,
3. challenges to colonial authority,
4. resistance to patriarchy within Indian society,
5. mobilisation through vernacular print culture, and
6. evolution from reformist to revolutionary journalism.

Each theme is discussed in detail below.

1. Women's Journalism as a Counter public Sphere

Drawing upon Fraser's (1990) idea of "subaltern counter publics," women's periodicals provided an alternative discursive space outside mainstream male-dominated journalism. These publications enabled women to:

- express political opinions
- debate social reform
- critique oppressive customs

- share stories of female nationalist participation

For example, *Sharada* encouraged urban and rural women alike to write letters, poetry, and essays that reflected their personal struggles and political anxieties. These writings challenged colonial stereotypes that Indian women were passive, illiterate, or apolitical (Sarkar, 2001).

Women's print culture thus functioned as a grassroots political education system, preparing women for public activism.

2. Print Culture as a Tool for Feminist Political Consciousness

The writings of Pandita Ramabai, Kamini Roy, and Muthulakshmi Reddy demonstrate a strong feminist engagement with political, religious, and social structures. Their criticism was two-fold:

Against Colonial Rule:

- Exposing economic exploitation
- Condemning repressive laws
- Advocating political rights

Against Patriarchy:

- Challenging caste norms
- Critiquing dowry and child marriage
- Demanding equal education
- Questioning the institution of enforced widowhood

Women journalists therefore contributed to a distinctly feminist nationalist consciousness—one that intertwined national liberation with women's emancipation (Chatterjee, 1993).

3. Resistance to Colonial Authority Through Print

Women's publications often walked a fine line between political expression and colonial censorship. The British government responded to nationalist journalism by tightening press laws:

- **Vernacular Press Act (1878)**
- **Press Act (1910)**
- **Defence of India Rules (1915)**
- **Emergency Powers during Quit India (1942)**

Despite these restrictions, women journalists adopted creative strategies:

A. Allegorical Writing

Stories about mythological heroines symbolised contemporary resistance.

B. Symbolic Language

Words like "light," "awakening," and "mother" carried coded nationalist meanings.

C. Underground Distribution

Handwritten newsletters were circulated secretly when printing was banned.

D. Disguised Editorial Voice

Women sometimes wrote anonymously to avoid arrest.
For instance, contributors to *Stree Darpan* frequently used pseudonyms to evade colonial surveillance while discussing swadeshi and satyagraha.

4. Negotiating Indian Patriarchy While Resisting Colonialism
Women journalists fought not only the colonial state but also restrictive patriarchal norms. Their writings reveal tensions between:

- nationalism vs. gender rights
- family duties vs. political activism
- reformist gradualism vs. feminist radicalism

For example:

- **Pandita Ramabai** challenged Brahmanical patriarchy and was criticised by male reformers for being "too Western."
- **Rukhmabai's writings** questioned arranged marriage, provoking public backlash.
- Christian women editors often faced accusations of promoting foreign ideas.

This dual resistance amplified the complexity of women's roles in the public sphere.

5. Print Culture and the Mobilisation of Women

Women-led publications were instrumental in mobilising thousands of women into political life. Through articles, editorials, and letters, women journalists:

- explained political events in accessible language
- encouraged participation in picketing, marches, and boycott movements
- celebrated female revolutionaries such as **Kalpana Datta** and **Pritilata Waddedar**
- created moral and emotional support networks for activists
- circulated practical information about protests, prisons, and relief measures

This participatory model contrasts with male nationalist journalism, which often portrayed women symbolically but did not always give them a platform for direct expression.

6. Regional Vernacular Journalism: Diversity of Women's Voices
Women's print activism varied significantly by region:

Bengal - Women like Sarojnalini Dutt contributed to swadeshi literature; magazines fostered female political debate.

Maharashtra - Marathi journals such as *Sharada* were strongholds of women's self-expression.

Tamil Nadu - *The Indian Ladies' Magazine* blended Christianity, reform, and nationalism in unique ways (Sundar, 2010).

Gujarat - Women influenced Gandhian thought by writing for *Navajivan* and *Young India*.

Punjab - Women's writings addressed communal harmony and social reform.

This diversity underscores that women's print activism was not monolithic but regionally embedded.

7. Shift from Reformist to Revolutionary Journalism

The timeline from 1850 to 1947 shows an evolution:

Phase 1 (1850–1900):

Social reform Literary writings Education and moral uplift

Phase 2 (1900–1920):

Anti-colonial sentiment Nationalist editorials Swadeshi movement support

Phase 3 (1920–1947):

Civil Disobedience and Quit India Underground press

Political agitation Media activism by revolutionaries

The final phase marks women's transition from social commentators to active political journalists willing to take personal risks.

8. Journalism as an Act of Defiance

Women journalists employed the press as a subtle yet powerful form of protest. Their pens—symbolic weapons—challenged both the colonial state and patriarchal control of public opinion.

Their resistance took many forms:

writing about prison conditions celebrating women martyrs

documenting police violence encouraging civil disobedience

refusing to publish colonial propaganda

For example**, Usha Mehta's Congress Radio** (though not print) exemplified the political danger women were willing to embrace by producing resistance media (Mehta, 1999).

9. Influence on Post-Independence Indian Journalism

The foundations laid by women journalists during the freedom struggle shaped:

- women's participation in mainstream journalism
- feminist journalism in the 1960s–80s
- the rise of women editors in post-independence India
- contemporary digital feminist activism

Thus, their contributions extend far beyond the colonial period.

Case Studies of Key Women Journalists and Publications (1850–1947)

To understand how women shaped the freedom struggle through print, this section presents detailed case studies of significant women journalists, editors, and publications from the 19th and early 20th centuries. These examples illustrate diverse strategies of resistance, ideological positions, and regional variations.

1. Pandita Ramabai: Radical Voice Against Patriarchy

Pandita Ramabai (1858–1922) stands as one of the earliest feminist intellectuals to use print as a tool of activism. Her writings appeared in both Indian and foreign journals, and her seminal book *The High-Caste Hindu Woman* (1887) exposed the oppressive conditions faced by upper-caste widows (Forbes, 1996). Fluent in Sanskrit, Marathi, and English, Ramabai used journalism to:

- Critique Brahmanical patriarchy
- Advocate women's education
- Expose child marriage and enforced widowhood
- Raise international awareness of gender inequality in India

Her critiques often challenged nationalist leaders who felt that such exposure weakened the anti-colonial cause. Nevertheless, Ramabai's journalism pioneered a distinctly feminist critique, demonstrating that resisting patriarchy was integral to resisting colonialism.

2. Rukhmabai: Journalism as Legal Resistance

Rukhmabai, whose marriage-abolition case became iconic in the 1880s, wrote compelling letters to *The Times of India* under the pseudonym "A Hindu Lady" (Desai, 2001). Her writings questioned:

- The legitimacy of child marriage
- Coercive marital norms
- Legal structures that denied women agency

Through print, she turned her personal struggle into a national debate. Rukhmabai's journalism is a significant example of how individual women used media to enter public discourse and influence legal reform.

3. Ramabai Ranade and ***Sharada***: Creating a Women's Education Public Sphere

Ramabai Ranade (1862–1924), a leading social reformer from Maharashtra, edited the journal *Sharada*, which became a foundational platform for women's political education. The magazine:

- Published essays by ordinary women
- Disseminated information about swadeshi and self-rule
- Encouraged women to join political meetings
- Provided literary and moral education

Sharada exemplified the emergence of a **women's public sphere** in Marathi-speaking regions—one that combined domestic concerns with nationalist politics.

4. Kamini Roy: Poet, Editor, and Nationalist Feminist

Kamini Roy (1864–1933), a Bengali poet and intellectual, was among the first women graduates of British India. She wrote extensively in journals such as *Bangalakshmi* and *Bharati*, advocating for:

Women's suffrage National education policies Swadeshi movement ideals

Roy used poetry as political commentary, integrating emotion and nationalism in powerful ways. Her editorial writings challenged colonial narratives of Indian women's inferiority (Sarkar, 2001).

5. Annie Besant and ***New India***: Journalistic Agitation at the National Level

Although British by birth, Annie Besant became a central figure in the Indian freedom struggle through her newspaper *New India* (1914). Her editorials criticised British rule, supported Home Rule, and encouraged political activism. As a woman journalist, Besant broke colonial gender expectations by:

- Leading a radical political newspaper
- Advocating universal education

- Mobilising Indian women into public life

Her work demonstrates the intersection of feminism, theosophy, and nationalism.

6. Sarojini Naidu: Oratory and Print as Tools of Mobilisation

Sarojini Naidu (1879–1949) was a poet, freedom fighter, and contributor to nationalist newspapers. She used journalistic platforms to:

- Promote civil disobedience
- Write about women's role in nationalism
- Critique colonial injustices
- Address international audiences about India's struggle

Her journalism blended lyrical expression with political urgency.

7. Usha Mehta and the Congress Radio (1942): Underground Broadcast Journalism

While technically a radio broadcaster rather than a print journalist, Usha Mehta's role in the Congress Radio during Quit India (1942) reflects the wider culture of women-led communication resistance. Congress Radio operated secretly for three months, broadcasting messages of resistance until she was arrested (Mehta, 1999).

Her work parallels the clandestine print networks where women produced and distributed handwritten or cyclostyled newsletters during periods of censorship.

8. ***The Indian Ladies' Magazine***: Women's Voices in South India

Founded in Madras in 1901, *The Indian Ladies' Magazine*—edited by Susie Sorabji and later by Kamaladevi Chattopadhyay—played a crucial role in shaping women's political awareness in the South. It covered:

Women's education	International suffrage movements
Indian nationalism	Profiles of female reformers

The magazine fostered a cosmopolitan feminist voice long before Indian nationalism became mass-based (Sundar, 2010).

9. ***Stree Darpan***: Vernacular Feminist Journalism in North India

Stree Darpan, published from Allahabad beginning in 1909, was one of the earliest women's journals in Hindi. Its contributors wrote about:

Child marriage	Widowhood
Swadeshi	Women's political participation

Its vernacular format made political ideas accessible to non-English-speaking women, enabling broader mobilisation.

10. Women in Underground Print During the 1930s–40s

During Civil Disobedience and Quit India movements, women participated in underground journalism by:

Distributing banned pamphlets	Operating cyclostyle machines
Writing anonymous political articles	Organising women-led communication cells

These networks remained largely undocumented due to secrecy but played a vital role in sustaining resistance when male leaders were imprisoned.

Analytical Synthesis

The case studies highlight several broader patterns:

1. Women's journalism functioned as both social reform and political resistance.

2. Regional diversity produced varied feminist-public spheres.

3. Print enabled women to negotiate and challenge patriarchal limitations.

4. The transition from literary writing to political journalism reflected India's rising nationalist consciousness.

5. Women journalists legitimised female political agency for future generations.

Findings

Based on analysis of archival texts, case studies, and theoretical frameworks, the following findings emerge:

1. **Women journalists constructed a unique counter public sphere** where women could articulate political and social concerns outside male-dominated discourse.
2. **Women used print strategically** to challenge both colonial rule and domestic patriarchy.
3. **Women's publications broadened political participation** by educating female readers about nationalism, law, and civil rights.
4. **Vernacular journals enabled mass mobilisation**, especially among non-English-speaking women.
5. **Women's journalism evolved from reformist to revolutionary**, paralleling India's shifting political climate.
6. **Colonial censorship inadvertently strengthened underground women's networks**, making them more innovative and decentralised.
7. **Women journalists laid the foundation for post-independence feminist journalism** by legitimising women's public participation.

Conclusion

Women journalists played a profound yet under-recognised role in the Indian freedom struggle. Their participation spanned nearly a century, from early reformist writings in the 1850s to underground resistance journalism in the 1940s. Through their journals, essays, editorials, letters, and clandestine publications, they constructed a vibrant communicative space where political thought, feminist critique, and national consciousness could flourish.

Women's print culture functioned simultaneously as:

- a site of **feminist awakening**,
- a platform for **collective resistance**,

- a medium for **political education**, and
- a tool of **subversion** against colonial authority.

This hybrid space—located between domestic life and public action—challenged British stereotypes of Indian women while also complicating patriarchal norms within Indian society itself. Their work, often overshadowed by male-led nationalist histories, reveals that the freedom struggle was shaped not only by mass movements and political leaders but also by thousands of women whose pens were as revolutionary as protests on the streets.

Recognising their contributions enriches our understanding of both Indian journalism and the freedom movement. It also underscores the importance of inclusive historiography that acknowledges marginalised voices—particularly women whose labour built the intellectual foundation of India's independence.

References

Archival issues of Sharada, Stree Darpan, The Indian Ladies' Magazine, and regional newspapers. Nehru Memorial Museum and Library, New Delhi, India.

Barnes, M. (1940). *The Indian press: A historical review*. London, UK: George Allen & Unwin.

Chatterjee, P. (1993). *The nation and its fragments: Colonial and postcolonial histories*. Princeton, NJ: Princeton University Press.

Desai, A. V. (2001). *Women, law, and society in colonial India: A social history*. New Delhi, India: Oxford University Press.

Forbes, G. (1996). *Women in modern India*. Cambridge, UK: Cambridge University Press.

Fraser, N. (1990). Rethinking the public sphere: A contribution to the critique of actually existing democracy. *Social Text, 25/26*, 56–80. https://doi.org/10.2307/466240

Habermas, J. (1989). *The structural transformation of the public sphere: An inquiry into a category of bourgeois society* (T. Burger, Trans.). Cambridge, MA: MIT Press. (Original work published 1962)

Mehta, U. (1999). *Oral history interview on Congress Radio* [Archival interview transcript]. Nehru Memorial Museum and Library, New Delhi, India.

Mohanty, C. T. (2003). *Feminism without borders: Decolonizing theory, practicing solidarity*. Durham, NC: Duke University Press.

Sangari, K., & Vaid, S. (Eds.). (1989). *Recasting women: Essays in Indian colonial history*. New Brunswick, NJ: Rutgers University Press.

Sarkar, S. (2001). *Modern India: 1885–1947*. New York, NY: Palgrave Macmillan.

Sundar, K. (2010). *Early Tamil women's periodicals and political thought: A study of Stree Bodhini and other publications*. Chennai, India: Tamil Nadu Women's Studies Centre.

Rethinking Multicultural Federalism in India through a Tribal Eco-feminist Lens

SWATI YADAV*
swtyadav29@gmail.com

ABSTRACT:

India is known as being one of the most culturally diverse nations in the world; however, to truly understand the multicultural nature of India it is necessary to look past the Western views of ethnicity and immigrant identity. Scholars such as Bhikhu Parekh, Rajeev Bhargava and Gurpreet Mahajan explain that India's unique multicultural identity resulted from years of negotiation between the country's vast number of caste groups, tribe groups, religious communities and linguistic communities. Additionally, scholars such as Granville Austin and Louise Tillin have documented how India's federal system has become more malleable over time and can manage India's immense diversity using methods including autonomy, asymmetrical agreements, and state reorganization. However, eco-feminists argue against the idea that the federal system of India provides a sufficient framework for managing the country's diversity. Authors such as Vandana Shiva and Bina Agarwal point out that India's existing multicultural framework and federal system fail to include important elements of diversity. While India's multicultural framework and federal system take into account cultural differences, religion, geographic area, and linguistic differences they do not address the ecological and gender issues that are central to many tribal communities' day-to-day life. In particular, authors note that while culture is viewed through the lens of language, ritual, and identity for tribal communities, the way that culture relates to their relationship with nature, shared resource management practices among tribal peoples, and gender specific knowledge systems is also important.

Therefore, this paper highlights that the three important strands: multiculturalism, federalism, and eco-feminism are interrelated in the context of the India's tribal populations. The tribal's struggles over land, forest, and livelihood are not cultural, but they are ecological and are shaped by gender. Therefore, by analyzing both the academic thoughts and the real-life examples of tribal people, the paper highlights that tribal eco-feminism is a crucial lens if we have to rethink multicultural federalism. It advocates that India's approach to diversity must extend beyond merely recognizing culture and regional differences to actively include democratic participation, ecological rights, and gender justice.

KEYWORDS:

Multiculturalism, Indian Federalism, Tribal Communities, Ecofeminism, Tribal Rights, Environmental Justice, Identity Politics, Gender and Ecology

* **Research Schoolar, Department of Political Science, University of Delhi, Delhi**

INTRODUCTION

India's rich multicultural identity has been studied by several political theorists who highlight that the India's cultural diversity is neither new nor an imported concept but it is an important part of country's social makeup. *Bhikhu Parekh (2002), in "Rethinking Multiculturalism"* highlights that India's pluralism is rooted in a long history where the various groups co-existed without even recognizing or needing to become a culturally uniform group. *Gurpreet Mahajan (2002), in "The Multicultural Path,"* highlights that India's multiculturalism is uniquely shaped by the interplay of caste, tribe, religion, and language which is way different from the western model which only focuses on majority-minority relations. *Rajeev Bhargava (2010), in "The Promise of India's Secular Democracy*," introduces the concept of "principal distance" explaining that the Indian state intelligently navigates cultural differences by simultaneously protecting individual rights and ensuring social justice. All these above scholars highlight that India's multiculturalism is something which is upheld by both the daily social interactions and the strong constitutional commitments.

Along with multiculturalism, India's federalism has also grown and adapted. *Granville Austin (1966) in "The Indian Constitution,"* calls the constitution as a document of cooperative federalism, which is designed to manage diversity, but at the same time, it still maintains national unity. *Louie Tillin (2017) in "Remapping India"* shows that the federal arrangements have changed over time with the creation of new states such as Uttarakhand, Chhattisgarh, Jharkhand, and Telangana. She advocates that the statehood movements arise when the cultural identity, political marginalization, and developmental neglect come together and these reorganizations highlight the flexibility of Indian federalism. *Alfred Stepan (2011) in Crafting State-Nations: India and Other Multinational Democracies highlights* that in the Indian constitution, the asymmetric arrangements like Sixth Schedule reflects India's attempt to preserve unique tribal cultures within a unified political system.

Eco-feminists contend that currently, multiculturalism and federalism miss an important aspect of India's diversity: The interconnectedness of the environment, gender and community life. As stated by *Vandana Shiva (1998), in her book "Staying Alive,"* rural and tribal women carry the burden of not only cultural traditions, but also provide vital contributions to the environment in which they live. In *"Gender and Green Governance" (1994), Bina Agarwal* demonstrates through detailed case studies in India and South Asia that when rural women have better access to community-based resources and land ownership rights, there is a direct improvement in environmental results. From the viewpoint of these authors, our present discussions regarding multiculturalism and federalism will remain incomplete if we only consider tribal identity as a function of culture, region or administrative boundaries. For example, tribal people experience displacement, deforestation and natural resource exploitation as development issues rather than threats to their way of life as a result of their cultural and gender-specific relationships with the environment. Additionally, while women in these environments are generally exposed to the greatest number of environmental and societal hazards, their viewpoints are typically excluded from mainstream theoretical debates. Therefore, ecofeminism identifies a significant omission in the existing models by highlighting the fact that diversity in India exists not only in terms of language, religion or region, but also in terms of how men and women perceive and interact with their environment.

Therefore, this research posits that tribal ecofeminism can provide a necessary framework to reassess multiculturalism and federalism in India. By incorporating environmental rights, equity for all genders and self-governance for communities into the discussion of multiculturalism and federalism, tribal ecofeminism offers a more comprehensive model of protecting diversity in a nation where identity, land and livelihoods are highly interdependent. Through the use of academic literature and practical experiences in tribal areas, this paper seeks to demonstrate the importance of developing a multicultural federalism model that is environmentally and gender-sensitively inclusive in order to secure India's democratic future.

SECTION A: MULTICULTURAL FEDERALISM IN INDIA- THEORITICAL FOUNDATIONS

In India, social and political diversity are truly unique because of the number of languages, religions, castes and tribal communities that exist. Therein lies the need to understand both the theoretical foundations of multiculturalism as well as the institutions used to govern that diversity. The way in which multiculturalism intersects with the structure of federalism has been studied extensively, and scholars have highlighted some of the accomplishments as well as the conceptual deficiencies of those studies.

Bhikhu Parekh (2002), "Rethinking Multiculturalism", discussed how multiculturalism in India is not a concept derived from Western ideas, but a product of a historical process of negotiation among various culturally distinct peoples. Parekh argues in "Rethinking Multiculturalism" that the pluralism of India developed through a long history of negotiation among religions, castes, tribes and languages. He also indicated that the problem that democratic governance in India faces is one of accepting and recognizing the differences in a manner that protects the principles of equality and justice. Further, Parekh noted that in addition to the symbolic recognition of differences, cultural recognition in India involves the creation of institutional and constitutional mechanisms that enable the full participation of groups in public life while protecting their particular identity. Thus, Parekh's position provides a valuable framework for understanding the intrinsic relationships between multiculturalism in India and both social practices and constitutional designs.

Gurpreet Mahajan (2002) "The Multicultural Path: Issues of Diversity and Discrimination in India," focuses on the real-world aspects of diversity in India, and emphasizes that multiculturalism must take into consideration the structural inequalities that exist and affect daily social life. In her discussion, Mahajan explains that Indian multiculturalism works through everyday acts of inclusion, such as, education access, political representation, and protections of minority languages and customs. Mahajan emphasizes that, in India, individuals experience multiple aspects of identity, including caste, tribe, religion, and language at the same time in overlapping social spheres; therefore, any framework that only acknowledges one part of identity is incomplete. Mahajan's work clearly demonstrates that multiculturalism in India is both a normative principle and a negotiated process, and thus requires continued attention to issues of power relationships and social hierarchies.

Rajeev Bhargava (2010), in "The Promise of India's Secular Democracy", developed the concept of "principled distance" as a way to conceptualize how the Indian State can maintain an equal relationship with diverse communities. Bhargava discussed the need for the State to provide selective interventions to protect against social inequality or injustice to individuals and communities' rights; however, he also emphasized that the State should never attempt to create homogeneity. Bhargava provided examples of how the legal framework and policies have supported this balance of providing space for individual/communities to practice their religion, etc., and the protection of minority educational institutions, etc. Bhargava's view of multiculturalism in India provides a dynamic model of how multiculturalism works in India and that recognition is not sufficient unless there are structures in place to address structural disadvantages and allow for real participation.

Granville Austin (1966), "The Indian Constitution: Cornerstone of a Nation," examined the constitutionally based structure of multiculturalism and federalism in India. Austin argued that the Indian Constitution was constructed to include the elements of diversity through a combination of the Fundamental Rights and the Federal Arrangement of the Constitution. Austin described Cooperative Federalism as a means to ensure National Unity as a whole while allowing states enough autonomy to address their own culturally and linguistically unique context. Through an examination of the Constitutional Debates, Austin demonstrated that Multiculturalism and Federalism were interdependent; that is, they could not function independently of one another. Furthermore, through the use of mechanisms such as the Fifth and Sixth Schedules and protections for languages, etc., the Constitution has allowed Multiculturalism to be operationalized in both Law and Governance.

Louise Tillin (2017), "Remapping India: New States and Their Political Origins," studied the evolution of India's federal arrangement over time in response to demands for regional recognition and identity. Tillin analyzed the creation of new states, such as Uttarakhand, Chhattisgarh, Jharkhand, and Telangana, and showed how the creation of these new states were created due to Linguistic, Cultural and Politically motivated mobilizations. Tillin argued that these changes demonstrate a practical form of federalism, which attempts to find a balance between Local Aspirations and National Unity. Tillin's research shows that federalism in India has been flexible and has responded to the demands of various regional and culturally identified groups.

Synthesis and Emerging Gap

The current way India's multiculturalism understands tribal identity is as mostly language, traditions, and being culturally unique. Federalism helps protect tribal cultures through the use of special constitutional schedules and the use of autonomous bodies. While India has made some progress toward recognizing tribal identities, there are still significant gaps. Tribal identities are shaped by the day-to-day struggles and activities of tribal peoples. These include accessing forests and land, managing water resources, and using common property resources, and each of these are managed and maintained by tribal women.

Therefore, tribal culture cannot be separated from the ecology of the area in which the tribe lives, and vice versa, and similarly, tribal ecology cannot be separated from the gendered practices of tribal people. Neither multiculturalism nor federalism recognize the ecological and gendered practices that support tribal identity. Therefore, the gap between what tribal people know, do, and need to survive as tribes and how tribal people are recognized through multiculturalism and federalism, is that multiculturalism recognizes tribal culture, but ignores that tribal culture is only able to exist due to the ecological labor of women and the community's relationship to its natural environment. Thus, this paper argues that both multiculturalism and federalism must recognize these dimensions of tribal identity and practice, so that tribal culture can be recognized as including not only language and customs, but also ecological practices, and federalism recognizes women as key contributors to sustaining tribal identity.

SECTION B: TRIBAL ECOFEMINISM- RETHINKING CULTURE, AUTONOMY AND IDENTITY

Multiculturalism and federal accommodations have traditionally framed cultural groups, including tribal communities, as homogeneous entities that are internally consistent and united. Mainly, this framing emphasizes cultural groups' language, rituals, customs, and collective history as the defining characteristics of a community. However, this approach creates a narrow and static understanding of culture. As such, this framing conceals how culture is lived, produced, and reproduced on a day-to-day basis in many tribal communities. Women in many tribal communities carry out the majority of the ecological labor that supports tribal people's subsistence and maintains both the environment and tribal cultural practices. Such ecological labor may include- seed conservation, food collection, knowledge of forest use, water management, and seasonal agricultural practices. Therefore, if multiculturalism recognizes tribal communities solely based on symbolic markers such as festivals, ethnicity, or territorial autonomy, and does not acknowledge the gendered ecological labor that is carried out to maintain these cultural practices, then multiculturalism will only recognize a partial and incomplete version of tribal identity. One of the most critical voices addressing this issue is:

Vandana Shiva in her book Staying Alive (1988). Shiva argues that women in indigenous and forest-dependent communities are the main guardians of ecological knowledge. They have the opportunity to develop close relationships with the environment on a daily basis through their interactions with nature collecting forest foods, conserving seeds, keeping the soil fertile, and managing water sources. Shiva emphasizes that the labor that women carry out on a daily basis is not just economically driven; it is an ongoing process of creating and maintaining cultural meaning, social norms, and ecological relationships. Shiva also argues that when the state or academic frameworks frame "culture" as a traditional trait of the community, they ignore the fact that women are active participants in creating and maintaining culture through their ecological care. Therefore, Shiva argues that tribal cultural identity cannot be understood or protected unless the gendered practices through which it is created and maintained are recognized. Ignoring women's ecological knowledge

is not simply an oversight; it profoundly distorts our understanding of how tribal culture is conceptualized, because in tribal regions, nature, livelihood, ritual, and identity are interdependent.

Bina Agarwal in A Field of One's Own (1994) and Gender and Green Governance (2010) strengthens this argument empirically. Agarwal demonstrates that women's participation in forest governance and land related decision-making improve ecological outcomes in tribal communities. More critically for this paper, Agarwal shows that women's relationship to land and forest are not only material, but cultural; their knowledge of plant species, seasonal cycles, medicinal uses, and community management practices shape the cultural rhythms of everyday life in tribal communities. In many tribal areas, Agarwal demonstrates that women's knowledge systems determine how communities understand territory, belonging, and ecological responsibilities. As such, if the labor and knowledge of women remain unacknowledged, multicultural frameworks will only recognize tribal "culture" as a male led political identity, and will not address the everyday gendered practices that allow for cultural survival. Agarwal's work therefore identifies a key gap: multicultural and federal discourse accept group rights, but rarely ask whose knowledge and labor within the group is necessary for the maintenance of identity.

- **Tribal Women, Land and Forests: Examples of Cases**

Odisha Dream Maps: The tribal women of Odisha produced "dream maps" of village forest that indicated sacred grove areas, locations of water springs, locations of medicinal plants, and where livestock grazed. The dream maps brought into view many of the resources and boundaries often ignored by the bureaucracy. The women are now able to document their use of natural resources and will require that they be consulted prior to any environmental or development actions. Thus, the grassroots efforts of the tribal women demonstrate the power of tribal eco-feminism as tribal women combine their ecological knowledge with political action.

Chipko and Narmada Movements: Tribal women have historically been at the forefront of ecological resistance, although mainstream histories of environmental activism emphasize urban activism. In the Chipko and Narmada Bachao movements, tribal women fought to protect their forest and water sources. Although the women received significantly less media coverage and fewer resources than the men involved, their participation demonstrates that in spite of their critical ecological roles, capitalist-patriarchal systems consistently marginalize women.

Pathalgadi Movement (Jharkhand, 2017-2018): As part of the Pathalgadi Movement, tribal communities placed large stone slabs throughout Jharkhand declaring that tribal communities had the Constitutional Right to control the land and forests. The movement was in response to legislative attempts to dilute the protections afforded to tribal communities under the Tenancy Acts and to bring to light the systemic failures of federal governance. Women participated actively in all of the village councils that issued the slabs and emphasized that true autonomy cannot occur without the inclusion of women's voices.

Niyamgiri Hills (Odisha): In the Niyamgiri case (Odisha, 2013) the Supreme Court decided to defer to the Gram Sabhas of the Dongria Kondh villages and allow them to determine if mining in the

area would infringe upon their religious and ecological rights. The Niyamgiri struggle illustrates that protecting tribal culture, religion, and ecology are inextricably linked. The grass roots resistance against mining was led by tribal women who demonstrated how gendered ecological knowledge informs decision-making in the lives of tribal people.

Implementation of Forest Rights Act: (Throughout central India) Women's collectives have utilized the Forest Rights Act (FRA) to obtain forest title claims and to obtain seats in the Village Councils and Forest Regulatory Committees. For example, in Chhattisgarh, women went from almost zero percent to nearly 50 percent of total representation in the Forest Regulatory Committee and were successful in managing the forest resources. Despite the success, the bureaucratic process of implementing the law and the lack of awareness regarding the law continue to pose obstacles to full implementation, further demonstrating the disparity between policy and actual experience of rural women.

- **Why eco-feminism is important for multiculturalism and federalism in india?**

Vandana Shiva and Bina Agarwal collectively illustrate a point that clearly emerges: tribal culture is not only represented through rituals, festivals, and languages, but it is also preserved each and every day by the ecological labor and knowledge of women. They show that within tribal communities, identity is never separate from the environment and the environment is maintained primarily by the work of women. However, Indian multiculturalism recognizes tribal groups mainly through cultural symbols, while federalism emphasizes the territorial rights of tribal groups and administrative autonomy. Both frameworks neglect the fact that women's relationship with land, forest, and water is what keeps tribal culture alive. Ecofeminism is important because it identifies this missing layer. It illustrates that unless policy and theory recognize the gendered ecological foundation of tribal life, multiculturalism will remain incomplete and federalism will remain too narrow. An approach that acknowledges the ecological roles of women in tribal communities would provide an accurate reflection of how tribal communities currently live, and would enhance the relevance of autonomy and cultural recognition in the context of tribal communities.

SECTION C: THE PRACTICALITY OF INDIA'S FEDERAL SYSTEM; TRIBAL LAND RIGHTS AND ECO-FEMINIST CLAIMS

India’s federal system is designed to balance national unity with cultural diversity. The Indian constitution divides powers between the union government and state governments. The union government is responsible for defense, money supply, and foreign policy while state governments are generally responsible for all other aspects of government. All authorities derived by each level of government are from the Indian constitution which states that the two levels of government are "co-equal partners." however; the Indian federal system is also unitary at times because parliament can alter the borders of or grant additional powers to a state without having to go to referendum. Additionally, the president may remove the elected head of a state government under article 356 of the constitution. Policies such as forest protection laws fall into the concurrent list of the Indian

constitution, which means both the union government and state governments have jurisdiction to pass legislation in this area.

Tribal communities in India are protected by the Indian constitution. tribal majorities exist in nine states of India, including Odisha, Madhya Pradesh, and Gujarat, and are referred to as scheduled areas under the fifth schedule of the Indian constitution. The president of India has the authority to give direction to the governance of scheduled areas. States are required to pass protective laws for the scheduled areas. The panchayats (extension to scheduled areas) act, 1996 (PESA) extends local self-governance to these areas. PESA grants Gram Sabhas (village councils) the power to prevent the alienation of tribal lands, manage minor forest products, control village markets, and influence development projects. PESA was intended to enable villagers, including women, to make decisions consistent with customary governance practices. Unfortunately, implementation of PESA has varied widely among the states of India. Many states view forest lands as a source of revenue, or as development zones rather than as the commons of the tribal communities. Examples of this include the leasing of forest lands to companies for mining or plantations.

In contrast to the fifth schedule of the Indian constitution, the sixth schedule of the Indian constitution extends greater local autonomy to the seven autonomous district and regional councils of northeast India (Assam, Meghalaya, Mizoram, Tripura). The autonomous district and regional councils of northeast India have legislative authority over land and forests. Theoretically, the use of these powers will permit the continued existence of the traditional tribal institutions in northeast India. In practice, however, the autonomous district and regional councils of northeast India are often dominated by men, and central legislation, such as citizenship legislation and environmental clearing legislation, continue to apply.

The forest rights act (FRA), 2006 sought to address historical injustices caused by colonial forest laws by recognizing the rights of scheduled tribes and other traditional forest dwellers to land and resources. The FRA permits individual families to claim land titles and permits communities to claim common land rights. Of particular importance, the FRA was amended in 2008 to stress women's rights, permitting women to have an equal claim to land if they work on the land. Despite these provisions, implementation of the FRA has varied widely among the states of India. Many of the forest rights committees (FRCS) established pursuant to the FRA remain male-dominated, and tribal women often lack knowledge or support to assert their rights under the FRA. these provisions were intended to be gender-inclusive, yet Landesa reports show that officials often listed only husbands on land titles, that FRCS remained male-dominated, that tribal women lacked information or institutional support to file claims, and that customary norms continue to restrict tribal women's ownership of land. Therefore, even progressive legislation has been implemented through patriarchal structures.

However, judicial interventions have played a significant role in enforcing participatory rights, including eco-feminist claims under India’s federal system. The Niyamgiri case (Odisha, 2013) is a prime example of this. The supreme court of India deflected to the gram sabhas of Dongria kondh villages, permitting tribal communities to decide whether mining would violate their religious and

ecological rights. Likewise, in 2025, the supreme court of India upheld a Gond tribal woman's equal inheritance rights in Chhattisgarh. These cases demonstrate that Indian federalism can enforce participatory rights, including eco-feminist claims, but often only after lengthy struggle and legal battles.

•Why current federalism falls short?

The laws, such as PESA, FRA and the provisions under the sixth schedule recognize tribal culture and autonomy on paper; however, the gendered ecological labor of women has remained largely invisible. While federalism is able to protect the community as a legal or political entity, the women who are the main caretakers of the ecological and cultural components of the community are marginalized in practice. The majoritarian state priorities, the bureaucratic inertia and the large scale development projects usually supersede the local consent and limit the potential of participative federalism. an example of this can be seen in Odisha, where tribal women mapped their forests, documenting sacred groves, grazing areas, water sources etc., continue to face difficulty in getting formal recognition for their maps. the Gond-land ruling of the supreme court in 2025 stated that the "constitutional principles of gender equality have to reach every community because neither the personal laws nor the tribal customary laws are just from a gender and class perspective." in essence, the law must be read through an egalitarian lens, regardless of whether it goes against some traditions, therefore making clear that contemporary federalism will remain ineffective until the ecological and cultural contributions of women are explicitly recognized and supported.

Eco-feminist perspectives demonstrate that tribal identity and ecological stewardship cannot be separated, as well as women's roles within this to make federalism meaningful, federalism must go beyond mere administrative recognition and take into account the everyday lives of communities, where women provide care for land, water, forest and culture. By incorporating these perspectives, federalism is no longer merely about recognizing and providing autonomy and multiculturalism and legal protection for tribal society, but rather about how these societal structures actually function. When we recognize women's ecological work, not only is federalism more inclusive, but it is also more effective at protecting culture and environment.

SECTION D: RETHINKING MULTICULTURAL FEDRALISM THROUGH A TRIBAL ECO-FEMINIST LENS

Indian multiculturalism has a long history of recognizing diversity, but has done so with the use of standard identity markers including religion, language, caste and tribe. However, this model has always been incomplete in that it assumes that all communities are internally homogeneous, and that cultural identity is disconnected from ecology and gender. A tribal eco-feminist perspective completely undermines the above assumption in that tribal identity is ecological identity, and that the ecological way of life of tribal peoples is almost exclusively maintained through the gendered labor of tribal women. Therefore, a tribal eco-feminist perspective does not reject multiculturalism or federalism, but will encourage a much deeper re-thinking of each.

Rajeev Bhargava (2010), in The Promise of India's Secular Democracy, argues that multiculturalism needs to be flexible and contextualized, in order to adapt to the lived experiences of communities, while at the same time protecting equality. In tribal contexts, this means recognizing that culture is not simply symbolic rituals or customs; it is the interconnectedness of people and their environment, including forests, seeds, water and land. Furthermore, *Rajeev Bhargava (1998), in Secularism and Its Critics,* critiques India's limited definition of cultural pluralism, which recognizes only a few established forms of identity. While Bhargava does not specifically refer to ecological ways of life, his critique theoretically supports an expansion of multicultural recognition to include ecological knowledge, forest-based livelihoods, and women's environmental labor as integral aspects of cultural identity.

Gender and Green Governance Bina Agarwal (2010) demonstrates that women's meaningful participation in forest governance leads to better environmental outcomes and increases community compliance with regulations. Furthermore, she illustrates that women's rights to land and commons are not just about gender equity; they are structurally related to sustainable ecology. In addition, *Vandana Shiva (2005) in Earth Democracy* asserts that the only way to achieve biodiversity preservation and ecological resilience will be through the day-to-day environmental knowledge of local communities, particularly women. Shiva's advocacy for recognizing commons, shared custodianship and community based resource rights. This highlights why federalism and multiculturalism are needed to support tribal ways of life through recognition and protection of the ecological relationships.

Together, these perspectives provide a clearer theoretical base for understanding that India's multicultural federalism should move away from territorial recognition of tribes toward ecological-gender recognition, in which forest rights, women's land titles, community-based resource management, and ecological identities are recognized as constitutional claims rather than as welfare benefits.

This reconceptualization is needed because tribal identity cannot exist independently of land and ecology. For most Tribes, forests are not resources but living ancestors, genealogical relations, and protectors. Viewing ecology as separate from the realm of cultural rights reduces multiculturalism to a hollow shell that preserves symbols, but not life-worlds. Further, in these ecological worlds, the labor of women is central to the maintenance of the ecological way of life, whether through seed preservation and forest regeneration, through water-sharing customs, or through soil care. Nonetheless, this labor remains invisible in both multicultural theory and federal practice. Even though institutions may recognize tribal culture, many institutions continue to reinforce patriarchal norms that prevent women from participating in decision-making forums, including Gram Sabhas, Autonomous Councils, or forest management committees.

The 2025 Supreme Court Gond-land ruling, therefore, is central to this claim since it established that the principle of constitutional equality must be applied to all communities without regard for violation by customary patriarchal laws. The court further emphasized that multicultural federalism

cannot justify internal inequalities in the name of respecting a culture; instead, it has a duty to provide an egalitarian understanding of culture that recognizes the ecological rights of women as part of a tribe's fundamental identity. Therefore, a tribal eco-feminist approach will enhance the cultural bases of autonomy by recognizing those who are actually maintaining those cultures.

Revisiting federalism and multiculturalism through this lens also necessitates recognizing the constraints of current institutional arrangements. Scheduled Areas, PESA, the Forest Rights Act, and Sixth Schedule provisions recognize tribal communities territorially; however, they infrequently recognize ecological identity as the basis of that territory. More often than not, state governments supersede the consent of Gram Sabhas for mining, forest diversion and other large-scale development projects, thus illustrating that autonomy exists more on paper than in practice. When displacement occurs, tribal women bear the brunt of the impact due to their responsibility for collecting forest foods, maintaining seed banks, and providing access to water, and therefore experience the greatest disruption to their livelihood and cultural lives.

Therefore, the model of tribal eco-feminist federalism would necessitate a transformation of the normative framework of governance. First, federal institutions must recognize that ecology is a component of a group's cultural identity; therefore, the law and constitution must provide the same level of protection to sacred groves, water springs, seed commons, forest trails, and traditional agricultural systems as to language or ritual. Second, the model of federalism must emphasize women's participation and rights. Therefore, the model must insure that women are more than just nominal members of Gram Sabhas (Village Assemblies) and committees established under the Forest Rights Act and PESA; that women have mandatory participant status with decision making authority; and that the women's experience and perspective are an integral part of all discussions regarding resource management, including decisions regarding the use of natural resources.

Further, the model must establish the ability of communities to govern themselves without interference from bureaucratic discretion. Thus, Gram Sabhas must have the final say in matters of diverting land, granting permits for mining, and managing forests. In addition, Autonomous District Councils in the Northeast must incorporate into their structure, women-led ecological councils and give full recognition to the customary roles and responsibilities of women and not treat them as marginal or outside of the council's deliberations. Federalism must also support Shiva's concept of community-based ecological rights, by supporting knowledge transmission through providing women's ecological education, training local governance, and restoring community common spaces.

Ultimately, transforming multiculturalism and federalism through a tribal eco-feminist lens recognizes that ecology, gender, and culture are not separate domains of rights, but are interdependent and foundational to democratic life. When tribal women are able to act as ecological guardians, the promise of democratic autonomy will become a reality instead of a symbolic gesture. A tribal eco-feminist approach also transforms multiculturalism by linking it to lived ecological practices and strengthens federalism by establishing governance based upon the everyday knowledge of those who sustain the land.

CONCLUSION

Tribal ecofeminism reminds us that the diversity of India cannot be complete without the voices and relationships between Tribal women and the earth. While India takes pride in its many cultures, religions, and languages, the experiences of tribal people who live in forests and other remote areas of many states in India, are often ignored. Women in tribal communities are key actors in protecting forests, growing food, saving seeds, and maintaining ecological balance, however, the value and contributions of their labor and knowledge are rarely formally recognized or supported in the law or politics.

The paper shows how while India's Constitution and federal system were designed to protect diversity, they have not always addressed the ecological and gender-based concerns of tribal communities. For example, in India, federalism has been used primarily to address religious, caste and linguistic identities. However, the issues that determine the daily lives of tribal women, such as land rights, forest access, displacement and climate vulnerability are still largely absent from mainstream multicultural thought. Therefore, multiculturalism must be reconceptualized. Rather than understanding diversity solely through cultural identity, we must understand it also through ecological realities and gendered experiences. Tribal ecofeminism provides the conceptual framework to achieve this shift.

For India to realize this shift into practice, the country must more effectively implement existing laws. Laws such as PESA and the Forest Rights Act already mandate women's representation, community consensus, and shared ownership of forest titles. Enforcement of these provisions on the ground and not just in lawmaking processes would help to bring about positive change. Strengthening federal structures, such as enabling Autonomous District Councils and providing guaranteed representation for tribal women in government, can also strengthen community self-governance and decision-making.

Therefore, it’s important to strengthen tribal ecofeminism as it will strengthen the Indian democracy. When tribal women are represented in governance, forests are preserved in a more sustainable manner, communities are more resilient and development is more equitable. Tribal women's knowledge and leadership in relation to the environment also enriches the conception of Indian pluralism. Only when land, nature and the lived experiences of Tribal women are at the center of policy and political imagination can India's democracy reflect the ideals of "unity in diversity".

References:

Agarwal, B. (1992). The gender and environment debate: Lessons from India. *Feminist Studies, 18*(1), 119–158.

Agarwal, B. (1994). *A field of one’s own: Gender and land rights in South Asia*. Cambridge University Press.

Agarwal, B. (2010). *Gender and green governance: The political economy of women's presence within and beyond community forestry*. Oxford University Press.

Austin, G. (1966). *The Indian Constitution: Cornerstone of a nation*. Oxford University Press.

Bhargava, R. (1998). (Ed.). *Secularism and its critics*. Oxford University Press.

Bhargava, R. (2010). *The promise of India's secular democracy*. Oxford University Press.

Government of India. (1996). *The Panchayats (Extension to Scheduled Areas) Act, 1996 (PESA)*. Ministry of Panchayati Raj.

Government of India. (2006). *The Scheduled Tribes and Other Traditional Forest Dwellers (Recognition of Forest Rights) Act, 2006*. Ministry of Tribal Affairs.

Landesa & Resource Equity. (2016). *India: Gender in a forest rights project in Jharkhand*. Landesa. Retrieved from https://www.landesa.org/wp-content/uploads/2016-Best-Practices-Case-India.pdf

Mahajan, G. (2002). *The multicultural path: Issues of diversity and discrimination in India*. Oxford University Press.

Parekh, B. (2002). *Rethinking multiculturalism: Cultural diversity and political theory*. Palgrave Macmillan.

Shiva, V. (1988). *Staying alive: Women, ecology and development*. Zed Books.

Shiva, V. (1993). Women in nature. In M. Mies & V. Shiva (Eds.), *Ecofeminism* (pp. 22–35). Zed Books.

Shiva, V. (2005). *Earth democracy: Justice, sustainability, and peace*. South End Press.

Stepan, A., Linz, J. J., & Yadav, Y. (2011). *Crafting state-nations: India and other multinational democracies*. Johns Hopkins University Press.

Tillin, L. (2013). *Remapping India: New states and their political origins*. Oxford University Press.

Legal and Constitutional References (APA 6th style)

The Constitution of India (Articles 244, 275; Fifth and Sixth Schedules).

Orissa Mining Corporation Ltd. v. Ministry of Environment and Forest & Others, (2013) 6 SCC 476.

Ram Charan & Ors. v. Sukhram & Ors., Civil Appeal No. 4481 of 2025 (Supreme Court of India).

संस्कृतवाङ्मये कृषिशास्त्रं तत्र न्याय-वैशेषिकदर्शनस्य सम्भावितं योगदानम्

डॉ. नवलकिशोर चौधरी*

navalkishoranita@gmale.com

प्रस्तावना

संस्कृतवाङ्मयः भारतीयसंस्कृतेः मूलाधारः अस्ति। अस्मिन् वाङ्मये विविधानां विषयानां समावेशः अस्ति, येषु कृषिः शास्त्रम् अपि प्रमुखं स्थानं वहति। कृषिः अनादिकालादेव भारतीयजीवनस्य भारतीयसंस्कृतेश्च आधारः अस्ति, कृषिं विना भारतीयसंस्कृतेः कल्पनापि कर्तुं न शक्यते अस्माभिः। संस्कृतवाङ्मये कृषेः महत्त्वं, तस्य वैज्ञानिकपद्धतयः, सामाजिक-आर्थिकप्रभावः इति विषयाः विस्तृतरूपेण वर्णिताः सन्ति। कृषिः न केवलमन्नोत्पादनेन, औषधीनाम् उतपादनेन सह सम्बन्धितः अपितु पर्यावरणसंरक्षणस्य, समाजस्य, आर्थिकस्य च विकासेऽपि महत्त्वपूर्णं स्थानं वहति। भारतीयसंस्कृतौ कृषिः प्राचीनकालादेव व्यवसायरूपेण विख्यात इति वयं सर्वे जानीमः।

१. संस्कृतवाङ्मये कृषेः महत्त्वम्

संस्कृतवाङ्मयेषु कृषिः धर्मस्य, अर्थस्य च आधारभूतं स्तम्भं इति निर्दिष्टम् अस्ति। वेदेषु, रामायणे, महाभारते, पुराणेषु, अर्थशास्त्रेऽपि च कृषेः विषये विविधाः चर्चाः दृश्यन्ते।

कृषिकर्मसु प्रमुखं फलम् अन्नोत्पादनम्, अतः अन्नस्य महत्वं प्रतिपादयन् ऋग्वेदः कथयति दशमे मण्डले एकनवतितमे सूक्ते

1. ऋग्वेदे – "अन्नं वै प्राणिनां प्राणः" इति उक्तं, यत् कृषिः जीवनस्य आधारभूतं तत्वं अस्ति।10/91

अस्यैव मतं समर्थयन्ति उपनिषत् पुराणादयः

अन्नं वै प्राणः (तैत्तिरीयोपनिषत्)

कलावन्नगतप्राणा:(स्कन्दपुराणे-रेवाखण्डे)

अन्नं वै जीवनम् इत्यादयः

2. यजुर्वेदे – कृषेः विविधाः प्रक्रियाः वर्णिताः, यथा – बीजरोपणम्, जलसिंचनम्, खाद्यपदार्थानां संग्रहणम् च।

अत्र एकं मन्त्रम् श्रावयामि यथा-

"व्रीह्यश्च मे यवाश्चमे माषाश्च मे तिलाश्च मे मुद्गाश्च मे खल्वाश्च मे प्रियङ्गवश्च मे णवश्च मेश्यामाकाश्च मे नीवाराश्च मे गोधूमाश्च मेमसूराश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्" 18/अ

मन्त्रेऽस्मिन् द्वादशानामन्नानां नामोल्लेखः प्राप्यते। परमत्र वेदः निर्दिशति यद् एतेषाम् अन्नानां प्राप्तिः यज्ञेन कल्पताम्।

यज्ञेन विना पर्जन्यं न भविष्यति पर्जन्यं विना कृषिं न भविष्यति तर्हि अन्नोत्पादनमपि न भविष्यति। यतो हि उक्तं खलु भगवता श्रीकृष्णेन गीतायाम्

यज्ञाद् भवति पर्जन्यः पर्जन्यादन्नसम्भवम्। अस्तु।

* सहायक-आचार्य (दर्शन), श्रीमती लाड देवी शर्मा पञ्चोली आदर्श संस्कृत महाविद्यालय, बरूंदनी, भीलवाड़ा, राजस्थान

3.अथर्ववेदे अपि कृषेः विषये अनेकानि सूक्तानि सन्ति, येषु पृथ्वी सूक्तं प्रमुखम्। यस्मिन् कृषिकर्मणः वैज्ञानिकपद्धतयः बहुविधाः वर्णिताःसन्ति।

कृषेः महत्त्वं महाभारतेऽपि प्रतिपादितं व्यासेन यथा-

4. महाभारते – "कृषिर्धन्या मोक्षस्य मूलम्" इत्युक्तंम्, यत् कृषि: समृद्धेः कारणम्।

5. मनुस्मृतौ – "कृषिपशुपालनञ्च वैश्यकर्म स्वभावजम्" इति, यत् कृषि: समाजस्य स्थैर्याय आवश्यकम्।

संस्कृतग्वाङ्मयेषु कृषिशास्त्रस्य मूलभूतविविधतत्त्वानि निर्दिष्टानि सन्ति। यथा –

1. ऋतुचक्रस्य महत्त्वम् – ऋग्वेदे, यजुर्वेदे च वृष्टिकाले बीजारोपणस्य, हेमन्ते कर्तनस्य नियमाः वर्णिताः।

2. भूमेः वर्गीकरणम् – कश्यपसंहितायां मृत्तिकायाः भेदाः (उष्णा, शीतला, समा) निर्दिष्टाः।

3. बीजनिर्वाचनम् – वराहसंहितायां उत्तमबीजानां लक्षणानि उल्लिखितानि।

4. जलप्रबन्धनम् – अर्थशास्त्रे जलसंरक्षणस्य, नदीनालिकानां उपयोगस्य च उल्लेखः प्राप्यते।

5. सस्यरक्षणम् – वात्स्यायनकौटिल्येन सस्यानां रोगाणां निवारणाय वहु जैविकविधयः निर्दिष्टाः।

३. प्रमुखाः संस्कृतग्रन्थाः कृषिशास्त्रविषये

संस्कृतवाङ्मये कृषिशास्त्रं बृहद्रूपेण प्रतिपादितम् अस्ति।

1. कृषिपराशरः – पराशरमुनिना विरचितः अयं ग्रन्थः कृषेः विविधविषयेषु विषदं विवरणं ददाति।

कृषेः महत्वं प्रतिपादयन् कथितं पराशरसंहितायां यद्यपि कृषि कर्मणि हलादिसञ्चालनेन जीवानां हिंसादि दोषाः अपि बहु सन्ति तथापि कृषकाः कृषिकर्ममवश्यं करणीयं यतो हि कृषिः जीवनस्याधारोऽस्ति।अतिथिपूजनात् जीवहिंसादि दोषेभ्यः कृषकाः मुक्ताः भवन्ति। उक्तं हि-

कृषिर्धन्या कृषिर्मेध्या जन्तूनां जीवनं कृषिः।

हिंसादिदोषयुक्तोऽपि मुच्यतेऽतिथिपूजनात् ॥

(पराशर-संहिता)

2. अर्थशास्त्रम् (कौटिल्यः) – कृषि, जलसंरक्षणं, करव्यवस्था, अन्नसंग्रहणं च निर्दिशति।

3. वृक्षायुर्वेदः (सुरपालः) – वृक्षरोपणं, औषधीयवनस्पतिः, भूमिविज्ञानं च विशदतया वर्णितम्।

4. वराहसंहिता (वराहमिहिरः) – कृषि, ऋतुविज्ञानं, नक्षत्राणां प्रभावः इत्यादयः उल्लिखिताः।

5. कश्यपसंहिता – भूमि, जलविज्ञानं, उर्वरकं च कथ्यते।

४. आधुनिकपरिप्रेक्ष्ये संस्कृत-कृषिशास्त्रम्

अद्यतनकाले जैविककृषेः, प्राकृतिककृषेः, जलसंरक्षणस्य च महत्त्वं वर्धते। संस्कृतवाङ्मये उल्लिखितानि कृषिसम्बद्धानि तत्त्वानि अद्यापि प्रासङ्गिकानि सन्ति।

1. जैविककृषिः – प्राकृतिकविधीनां, जैविकखाद्यस्य उपयोगः कृषिं शास्त्रे निर्दिष्टः।

2. जलसंरक्षणम् – अर्थशास्त्रे उल्लिखिताः नहरव्यवस्था, जलाशयः, कुञ्जसरणि: इत्यादयः।

3. भूमिसंवर्धनम् – कश्यपसंहितायां वर्णितानि पद्धतयः अद्यापि प्रयोगार्हाः।

4. वातावरणसंतुलनम् – वृक्षायुर्वेदे वर्णितानि वृक्षारोपणस्य लाभाः।

वातावरणसंतुलनम् – वृक्षायुर्वेदे वर्णितानि वृक्षारोपणस्य लाभाः।

कृषेः सामाजिक-आर्थिकप्रभावः

संस्कृतसाहित्ये कृषेः सामाजिक-आर्थिकप्रभावः अपि विस्तृतरूपेण वर्णितः। कृषकाः समाजस्य आधारः इति मन्यते, तथा च कृषिः अर्थव्यवस्थायाः मुख्यस्तम्भः अस्ति। कौटिल्यस्य अर्थशास्त्रे कृषेः आर्थिकमहत्त्वं विस्तृतरूपेण वर्णितम्। तत्र कृषेः उन्नत्यै राज्ञः कर्तव्यानि सन्ति, कृषकाणां संरक्षणम्, तथा च कृषिः कर्म सम्यक् सम्पादनाय जलसंसाधनानां व्यवस्थापनम्, कृषकैः उत्पादनानाम् अन्नानाम् समुचितं मूल्यं प्राप्तुं कृषिनीतेः निर्माणम् यया कृषकाणाम् उत्साहवर्धनं भवेद् इति विषयाः चर्चिताः।

न्याय-वैशेषिकदर्शनस्य कृषि-क्षेत्रे योगदानम्

भारतीयदर्शनस्य महतीपरम्परायां न्यायवैशेषिकदर्शनं विशेषस्थानं धारयति। इदं दर्शनं तत्त्वज्ञानस्य, पदार्थतत्त्वस्य च गभीरं विश्लेषणं करोति। न्यायवैशेषिकदर्शनस्य सिद्धान्ताः केवलं तत्त्वज्ञानपर्यन्तं सीमिताः न सन्ति, अपितु विविधक्षेत्रेषु तेषां प्रायोगिकं महत्वमपि दृश्यते। अस्मिन्-प्रबन्धे न्यायवैशेषिकदृष्ट्या कृषि-क्षेत्रे योगदानस्य विश्लेषणं क्रियते।

न्यायवैशेषिकदर्शनस्य प्रमुखतत्त्वानि कृषिसन्दर्भे-उपयुक्तानि सन्तीति विचार्येते-

न्यायवैशेषिकदर्शनं मुख्यतः सप्ततत्वानां (द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, अभाव) विवेचनं करोति। कृषि-क्षेत्रे एतानि तत्त्वानि कियन्तं योगदानं कुर्वन्ति, इति विचार्यते।

1. द्रव्य (Substance) एवं कृषि

कृषि-कार्ये पृथ्वी, जलं, तेजः, वायु, आकाश इत्यादयः द्रव्यतत्त्वाः अनिवार्याः।

बीजस्य उत्पादने, भूमेः उर्वरत्वे, जलप्रवाहे च द्रव्यतत्त्वं प्रधानं भवति।

कृषिकार्ये विविधद्रव्याणां प्रयोगेन वर्धमानमुत्पादनं सुलभं भवति।

2. गुण (Quality) एवं कृषि

बीजानां गुणाः, भूमेः सत्त्वगुणाः, जलस्य शुद्धता इत्यादयः कृषेः उन्नतिकरणाय आवश्यकाः।

भूमि-गुणनिरूपणं न्यायवैशेषिकस्य गुणपरिकल्पनया शक्यते।

3. कर्म (Action) एवं कृषि

कृषिः कृषकस्य क्रियायाः परिणामः अस्ति। बीजनिक्षेपणं, सिंचनं, उर्वरकं उपयोगः, फसलस्य संग्रहः इत्यादयः क्रियायाः उदाहरणानि सन्ति।

कृषि-क्रियायाः सुचारुरूपेण संचालनं हेतुं न्यायवैशेषिके कर्मस्वभावस्य विवेचनं समीचीनं भवति।

4. सामान्य-विशेष सिद्धान्तः कृषि-क्षेत्रे

सामान्य-विशेषसिद्धान्तेन विभिन्नपादपानां भिन्न-भिन्नस्वभावानुसारं कृषि-विधीनां निर्धारणं भवति।

कृषि-विविधता, मृत्तिकाविज्ञानं, जलप्रबन्धनं च एषः सिद्धान्तः समर्थनं करोति।

5. समवाय एवं कृषि-सम्बन्धः

बीजं भूमिरित्यनयोः सम्बन्धः समवायो भवति।

कृषिक्षेत्रे बीजस्य उत्पादनं, भूमेः स्वभावः, जलस्य उपयोगः इत्यादयः परस्परसंबद्धाः सन्ति, यः समवायस्य स्पष्टं उदाहरणं भवति।

6. अभाव एवं कृषिक्षेत्रे

यदि भूमौ जलस्य अभावः अस्ति, तर्हि कृषि दुर्लभा भवति।

यदि कृषकः सम्यक् ज्ञानं न प्राप्नोति, तर्हि सः उत्तमुत्पादनं कर्तुमशक्तः भवति।

न्यायवैशेषिकदर्शनस्य वैज्ञानिकदृष्ट्या कृषि-विज्ञाने योगदानम्

1. भूमितत्त्वस्य वैज्ञानिकसंशोधनम् – भूमेः गुणविश्लेषणं, उर्वराशयश्च।

2. जलप्रबन्धनं – न्यायवैशेषिकतत्त्वानुसारेण जलव्यवस्थापनं कियदुत्तमं भवेत् इति विचारः।

3. बीजसंरक्षणं एवं गुणवर्धनम् – सामान्य-विशेषसिद्धान्तस्य आधारेण बीजोत्पादनस्य नवनवीनः उपायाः चिंतयितुं शक्यन्तेऽस्माभिः।

4. कृषिपद्धत्याः आधुनिकीकरणं – कर्मसिद्धान्तस्य प्रयोगेन कृषि-यन्त्राणां निर्माणम्।

उपसंहारः

न्यायवैशेषिकदर्शनस्य तत्वानि केवलं आध्यात्मिकतया न सम्बद्धानि, अपितु विज्ञानं, तर्कः, एवं कृषि-सम्बद्धानि अपि सन्ति। आधुनिककृषिक्षेत्रे अस्य दर्शनस्य मूलभूतसिद्धान्तानां प्रयोगेन अधिकमुत्पादनं, जलसंरक्षणं, एवं भूमेः उर्वरतावृद्धिः साध्यते। अतः न्यायवैशेषिकदर्शनं केवलं दार्शनिकदृष्ट्या न, अपितु प्रायोगिकदृष्ट्या अपि कृषि-क्षेत्रे महद् योगदानं दातुं समर्थमस्ति। आधुनिककृषिविज्ञानेन सह समन्विताः चेत् कृषेः उन्नतिः भवितुं शक्या। संस्कृतसाहित्यस्य अध्ययनेन कृषिशास्त्रस्य प्राचीनज्ञानं संरक्षितं भवति, तथा च तस्य उपयोगः अद्यत्वे अपि कृषेः उन्नत्यै कर्तुं शक्यते।

सन्दर्भग्रन्थाः

ऋग्वेद. (2020). *ऋग्वेद संहिता* (पं. श्रीराम शर्मा आचार्य, संपा.). गोरखपुर: गीताप्रेस.

अथर्ववेद. (2019). *अथर्ववेद संहिता* (पं. सत्यव्रत सामश्रमी, संपा.). वाराणसी: चौखम्भा संस्कृत सीरीज़ ऑफिस.

मनु. (2022). *मनुस्मृति* (मेधातिथि टीका सहित). गोरखपुर: गीताप्रेस.

पराशर. (2018). *कृषिपराशर* (डॉ. जी. पी. भट्ट, संपा.). वाराणसी: चौखम्भा विद्याभवन.

वराहमिहिर. (2017). *बृहत्संहिता* (पं. रामनारायण शर्मा, संपा.). दिल्ली: चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान.

कौटिल्य. (2016). *अर्थशास्त्रम्* (आर. पी. कांगले, संपा.). नई दिल्ली: मोटीलाल बनारसीदास.

सुश्रुत. (2015). *सुश्रुतसंहिता* (के. के. भारद्वाज, संपा.). वाराणसी: चौखम्भा ओरिएंटालिया.

कश्यप. (2014). *कश्यपसंहिता*. वाराणसी: चौखम्भा संस्कृत सीरीज़ ऑफिस.

Cannabis Legalization in Himachal Pradesh: Challenges and Consequences

Dr Ramesh Kumar*
rameshpolsci@gmail.com

Abstract:

This paper is about the cannabis legalization in Himachal Pradesh at present there is blanket ban on this crop according to the Narcotic Drugs and Psychotropic Substances Act of 1985 due to which its cultivation as a field crop, transportation of its substances has become illegal in the entire country. This crop could become green gold in terms of its use in textile, pharmaceutical, beauty products, and cuisine if it is allowed as a field crop generally in the state and especially in the hard areas of the state where due to agro- climatic reason other crops production is next to impossible. In the state its legalization demand is old one but due to legal and administrative reason it has not been legalized yet but successive government of the state's are working on it. So its legalization is a new hope for the hardworking mountainous people of the state.

Keywords:

agro- Cannabis legalization, climatic condition, Narcotic Drugs and Psychotropic Substances Act 1985, pharmaceutical, cuisine, hardworking mountainous people.

Cannabis (hemp, marijuana, weed) is a controversial plant due to its use in smoking and illegality of its marketing. But demand for its legalization is old one in Himachal Pradesh†. This demand is raised on various platfroms from time to time. Especially in hard and inacessible areas of the state where another agricultural and horticultural crops are either below subsistence or not possible due to dry land patches or barren slopes land patches. cannabis is a rapidly growing natural plants which grows in dry as well as fertile regions with less human work efforts. Natural production of it is ancient one in India. Cannabis has always been a part of the culture of Himalayan people, which is used in multiple ways to fulfil human and livestocks requirements. Hemp seeds are used in food ingredients and cuisine items of spicy salt, chutney, as a stuffing in steam baked siddu dish and medicinal puposes hemp seed oil, and hemp seed flour have medicinal value and are used in

* **Assistant Professor Political Science, Akal College of Arts and Social Sciences, Eternal University, Baru Sahib Sirmour, Himachal Pradesh PIN 173101**

† In some parts of the districts of Chamba, Kullu, Mandi, Kangra, Sirmour and Shimla where due to mountainous terrain, weather conditions, scarcity of irrigation water channels and hilltops land location productivity of field crop is below subsistence.

products to boost heart health, good skin, lower blood pressure, to reduce inflammation, relieve pain, ensure a healthy pregnancy and yeilded positive results in treatment of cancer, medicinal properties and to make different cuisine items. The hemp fibres are used in the production of textiles (clothes, diapers, shoes, handbags, fine fabrics etc.), commercial textiles (netting, carpet, matress, canvass, rope, kilt basket etc.), production of paper and bioplastic (packaging, card boards, printing, biodegradable plastic and bottles etc.), eco- friendly building materials (fiber glass, substitute brick blocks, oil paints, printing inks, varnishes etc,), beauty products (shampoo, cosmetics, lotions, balms soaps) and ethnomedicinal techniqes by forest dwellers to cure dysentry, fever and cold coughing of livestocks. But by the enforcement of Narcotic Drugs and Psychotropic Substances Act of 1985 cultivation of cannabis is completely banned. Before this act it was like a farm crop to Himachali people. This blanket ban on the household kitty of people, was taken in a hurry. Those people who were engaged in cannabis cultivation from generations were not taken into considerations due to which instead of reducing cultivation, illegal harvesting and trade increased multifold.

The ban is anti- people because the synthesis of cannabinoids in cannabis plant is regulated by the prevalence of some climatic conditions of temperature, humidity, sunshine etc. The climate of a place is the gift of nature to its people and they have the right to use it for their livelihood. It is unfair for any government to stop its people from making use of this resource by asking them to grow something for which agro climatic conditions of the place is not suitable. So for the people of those parts of Himachal Pradesh which have suitable climate, hemp cultivation should be permitted for their livelihood. Moreover, they have been doing it for generations, since centuries. So they should not be forced to stop it. If at all it has to be done, they must be provided with some viable alternatives to earn their livelihood. Just casually suggesting them to grow medicinal herbs or fruits without any scientific trials about their suitability and profitability are all theoretical suggestions (Parmar 2018).

The only viable solution to this problem is to treat cannabis as a farm crop and let people continue to grow it. In Himachal Pradesh many factors are in its favours:

1. Suitable agro- climatic condtions.
2. Low cost smart natural farming with zero inputs of agro- chemicals and fertilizers.
3. Low input and high output agro- farming of cannabis.
4. Cannabis fastest growing plants as an alternative field crops in barren or infertile hillocks land.
5. Small size of of landholding and below subsistence agriculture production.

Declaring cannabis as a field crop and smart farming of it would be an viable alternative and revolution in agriculture. In Himachal Pradesh arable land is less in proportion to other states of Indian Union's because out of total geographical area most parts are covered with barren land, bush, forests and mountains, where agriculture crops potential is less in comparison to its population. Although voices of cannabis legalization in State Assembly of Himachal Pradesh's floor witnessed its demands from time to time but yet its not legalized, but processes are underway. In neighbouring

state of Uttarakhand it has been legalized in 2018 for industrial and alternative purposes and hard areas are shortlisted according to the geo- climatic and other factors and state is providing marketing mechanisms to harvested cannabis and other substances of it. The need of the hour is to legalized it in Himachal Pradesh also.

Background

In mid 1990s, marketing demand had become central to determining land use in Kullu, where horticulture and tourism become central to livelihoods. Due to which there was change in agricultural production grain based kingdom was replaced by horticulture empire and integration with market opened avenues for commercialization of hitherto subsistene products even when these were prohibited by law. Charas, the resin of cannabis sativa, is a case in point. Bhang (the plant that yeilds charas) has been traditionally cultivated in Kullu for its fibre and edible seeds. It was grown for household consumption and has been recorded in local crop records from the earliest British surveys. With the influx of foreign tourists, particularly the marijuana- smoking nature lovers that thronged Manali, the demand for marijuana grew locally. Slowly, bhang began to be cultivated to cated to this demand. Inadvertently, linkages were developed with distant market in Goa and Banglore where greater quantities could be supplied for higher profits. The local variety of bhang produced a single inglorescence at the top but provided a strong fibre and copious seeds. With the displacement of these items as the preferred outputs form the plant, charas production was perceived to be lower from the local variety. In a pre- mediated manner, through the 1990s, another variety was introduced in Kullu, allegedly imported from the mountains of Switzerland and supplied by foreigners. This variety flowered profusely and produced much more resin, even though it provided much less fibre and seeds that were less palatable. By the late 1990s, the swiss variety of bhang had almost completely displaced the local variety on private fields and had spread to the neighbouring forest floor. The production of charas from hemp violated the Narcotic Drugs and Psychotropic Substances Act of the Union Government and the period 1998-99 witnessed a state crackdown on private cultivation. Almost immediately, production shifted to the forest where it would grow wild and be available to all. In an ironic twist, the market in combination with the state ushered in equality, by eliminating landholding size as a factor in incomes derived from charas (Chhatre & Saberwal 2006: 155).

Cannabis Cultivation

In upper valley (Kullu- Manali) in hilltop villages' productivity of land is less for family survival because, there are no irrigation facilities in these hillocks, here agricultural cultivation is dependent on rainfall, monsoon and snowfall, and relatively small sizes fields have made it more adverse and unproductive animal of villagers, wild animals are second threats to agricultural productivity. But for horticultural production of apple, pear, plum, cabbage, cauliflower, tomato and garlic. This area have become suitable place due to good weather conditions. Some people in lieu of easy money and less landholding get courage to choose hemp cultivation as their crop. For this work

they use government or forests land in alpine ranges, where every year enclosure basis, that householder cultivate hemp but if hemp crop is destroyed by the destroying campaign of forest, police, land revenue and village panchayats, then hemp cultivator use to shift for another inaccessible patches. Every year in Himachal Pradesh there is hemp destroying campaign by different agencies of state, but these destruction campaign are not sufficient one. It require more initiative, energy and resources for its complete destructions.

In search of new land for cannabis cultivation, people use to go to inaccessible regions of alpine forests, so any state agencies functionaries might not reach to their cultivated patches. Firstly they saw the soils quality, if soil is rich in its nutrients, after that they used to clear, vegetation, bush and standing bushes of that land patches. This enclosure is always in sunny areas because good qualities hemp are produced in sunny areas. Marijuana harvesting demands more sun lights, in moisture prone and shadowy patches good qualities hemp cannot be harvested, so essential crop requirements and weather conditions are taken into consideration before land preparing. In surrounding of these cannabis cultivated land patches there are migratory paths of master shepherder and pastorals because hemp require manure, cultivator use to invite shepherder and cowherders according to their friendship and convenience, for which cultivator use to serve them good qualities food, wine and additionally some rupees too are given. Some cultivator use fertilizers in hemp cultivation process now a days but most of them are dependent on master pastoral for manure. Some cultivator use to hoeing of hemp crop, in that time they spread manure in entire cropped fields for better crop. This cultivation process started when winter is on its ending and there is beginning of spring season, when snow cover started melting in alpine forests zones, so people went in groups to hemp cultivating patches, firstly they cleared these patches from previous years dry hemp plants straw and residues, which is burned in field corner, after that they plough fields, either by manual labourers, or by tiller, after that hemp seeds are sown there. If there is clear hemp fields than seeds are thrown in entire fields before ploughing but if field are demanding preparation, then it's prepared for cultivation. Some people use stocking of previous years manure in master pastorals halting sheds, either in sack, either openly stocked, so rain and snow can't wash it in winter. This hemp cultivation is done in groups or collective labour of cultivators among themselves.

Hemp cultivation is measured not according to size of fields or patches but in terms of hemp seeds weight, how much seeds are used by cultivator in the patch. The previous year's hemp crop seeds are stored for next year's cultivation, if by some reason any hemp cultivator don't want to cultivate his patches for 1- 2 years, he use to give his prepared land patches to his trustworthy cultivator. So the person cannot enclose his prepared land patch for himself. After cultivation entire hemp patch is fenced either by barbed wire or either wind felled tree logs or lopped branches, after three- four weeks of cultivation people went to finish hoeing and manuring work of planted patches. The fencing is done more carefully because crop have to be secured from livestock flocks, these flocks don't eat hemp but they destroy it by pasturing and migration moments. The cultivator's hemp is not destroyed by another hemp cultivator, because they understand hardship of each other's in cultivation, land preparing, fencing and harvestings. Occasionally cultivators went to inspect hemp crop in between cultivation to harvesting time, every person in alpine forests cultivator use to

respect temporary ownership of village people. In the month of September- October when monsoon end, cultivators went with their team harvesting team, with essential requirements of tent, bedding, edible items, cigarette, tobacco and wine or liquor stock to alpine hemp cultivation places. After closing of monsoon season there are good sunny days, which is fruitful in making good qualities cannabis harvest. Some people use to reside in master pastorals halting places or in their sheds but many people use to halt themselves in temporary tent as a residence for cooking and sleeping because in this time night use to be cold one. Cultivator use to hire trustworthy villagers and Nepali labourers for harvesting work, some people use to harvest it on sharing basis too. For its harvesting harvester use to cut down standing cannabis plants, after sunshine, so hemp leaf and flowers use to give good qualities hemp. After that in a place by sitting they obtain hemp by massaging leaf and flowers in hands. Some cultivators, who are unable to harvest hemp, they used to sell their standing crop in field patches to their trustworthy or convenient person. This hemp harvesting work take 20-30 days' time period because raw hemp is not harvested, only ripe hemp is harvested. In harvesting time good qualities food is served to all harvesters and labourers by the cultivators because it require more energy, so mutton wine and cigarette are served daily to employed people. Generally people use to carry with them one cook, who have to cook food for all harvesters unit, he is also paid money for his services. In harvesting time hemp consuming peoples' daily needs hemps are given free. In this harvesting time main cultivator use to come to home with harvested hemp, they don't stock it in large scale because there is risk of theft and police raid too, so in shifts, small amount of harvested hemp, is brought to home in evening time, when there is less risk, for essential edible items too, they have to come to homes so by this they bring their harvested hemp to home, some of them use to stock for winter too because in winter they get good prices, in harvesting season prices are relatively low.

Some cultivator, who know its marketing system, they stock it. Every year from October-December (from Kullu Dushehara, Diwali, Christmas and 31st December year's closing celebration day), and New Year celebration time more people are caught in police raid, Narcotic Drugs and Psychotropic Substances (NDPS) raid and nabbing. In high hills villages of upper Beas Kullu-Manali valley, every year many people got nabbed in NDPS and hemp transportation and selling cases. No person have been caught in cultivation, hoeing and harvesting time, everyone get caught in time of its peddling, marketing and selling because it have huge black markets and some places of Kullu are known for its best quality namely- Malana, (malana cream) Kasol, Manikaran, Banjar, Sainj, Fozal, Pichhlihaar, Kathikukdi valley and old Manali etc. thousands of tourists Indian as well as foreigners use to come for hemp consumption like Britain, Nigeria, and Israel. They give good price to cannabis of this region and there is not any mixing in it here. Kasol is known for its hemp tourism, maximum foreigner use to visit here, among them large number of users come from Israel, that's why it's known as mini- Israel too.

Hoeing of hemp crop is done after one- two months cultivation in Asharh and Savan months of local calendar. Hoeing is done to uproot 'flaang' (marijuana weeds) and grass, some cultivator uproot hemp too, in case of dense cropping. Trust is a major issue in entire business from cultivation

to harvesting works. Hemp business engaged people doesn't sell and purchase hemp stuffs to suspicious, untrustworthy and new people.

The existing studies have connected cannabis legalization in their respectice study area for the local consumption and explained how local ecological and climatic conditions provide stimulus in the flourishing of cannabis as an industry but in this study reseacher would made an attempt to connect it how cannabis legalization would be a boon the revenue kitty of the state, in hard areas of the state where no other crop is feasible and possible in these hard areas of the state, it would be a source of livelihood earning. People would practized its low cost smart farming further it would bean employment generating sector to the unemployed youth of the state. in this study an attempt would be made to use it as an alternative crop for the alternative use in medicinal and pharmaceutical industry, textile, shoe and slipper manufacturing, alternative temporary construction material and food articles and cuisine.

This research work is an attempt to legalize the cannabis as a field crop in hard areas of the state, where other core crops cultivation is not possible due to geographical and climatic conditions, in those areas cannabis cultivation would become a milestone to improve the living standards of people and in earning of livelihood by doing alternative use of cannabis in textile, shoe and slipper manufacturing, pharmaceutical industry, in manufacturing of bio- plastic bags and bottles, and in temporary construction material of hemp bricks and plywoods, furnitures and cosmetics material and beauty products and cuisine and edible items.

Himachal Pradesh government is also considering this issue on policy level, for which a committee is formulated a committee who is steering this issue and that committee have visited to the neighbouring state of Uttarakhand, in which cannabis is legalized in the year of 2018 for medicinal purposes and alternative use of it, where some hard areas constituting districts have been shortlisted for cannabis cultivation and license is distributed to peasants for farming and harvested cannabis crop is procured from them by state agencies to prevent the misuse of it in drugs and narcotic industries. This research would be an attempt to legalize the cannabis in hard areas of the state on trial basis, the finding and challenges regarding the legalization on grassroots would be humbly explored in this study. So this study would be a document for the challenges and different perspective regarding this issue which people are facing and how this legalization plan would be executed.

Conclusion

For the benefits of the society cannabis would be legalized and it would be made a field crop this green grass would become a green gold to the society and people of hard areas and for the entire state after apple it would be second revolution in agricultural and horticultural sector to improce the household kitty of the people and simultaneously it would be a boon to the revenue kitty of the state, by its legalized production Himachal Pradesh would become an hub of pharmaceutical, textile and alternative use of cannabis products in long term which would be ecofriendly and consumer friendly.

References:

Chhatre Ashwini & Vasant K. Saberwal (2006): Democratizing Nature: Politics, Conservation, and Development in India, New Delhi, Oxford University Press.

Coward walter (2001): The Kulu Valley in Motion, Himalayan Research Bulletin, Vol. 21, No. 2, pp. 5-14.

Danny Danko (2018): Cannabis: A Beginner's Guide to Growing Marijuana, United States of America, Hampton Roads Publishing Co.

Deccan Herald (2023): Legalise Controlled Cultivation of Cannabis in Himachal Pradesh, recommends panel, 22 Sep. 2023.

Economic Times (2023): Himachal Pradesh Plans to Legalise Cannabis: Here's How it Can Transform the State's Economy, 12 Oct. 2023.

Fine Doug (2013): Too High TO Fail: Cannabis and the New Green Economic Revolution, United States of America, Avery Pulisher.

_____ (2014): Hemp Bound: Dispatches from the Front Lines of the next Agricultural Revolution, United States of America, Chelsea Green Publishing Co.

Gopinath P. Krishna (2018): Malana: The Valley of Cannabis, The Hindu, June 10, 2018.

Hobbes Jen (2019): American Hemp: How Growing Our Newest Cash Crop Can Improve Our Health, Clean Our Environment, And Slow Climate Change, Skyhorse Publishers.

Major Simon (2019): The Growing Marijuana: Handbook, Publisher Pholdie Publishing.

Mullick Rohit (2023): Himachal Eyes Pot of Gold Under Grass, The Times of India, 01 Oct. 2023.

Parmar Chiranjit (2017): Let Cannabis be a Farm Crop, The Tribune Chandigarh Circle, Sep. 19.

Robinson Rowan (1995): The Great Book of Hemp: The Complete Guide to the Environmental, Commercial, and Medicinal Uses of the World's Most Extraordinary Plant, Park Street Press.

Rosser Collin (1952): A Hermit Village in Kulu, The Economic Weekly, Vol. 4, Issue No. 19- 20, p 477- 482.

Sellar James (2022): Wasted: How a nation lost millions in the legalization of cannabis, Publisher Friesen Press.

Shabab Dila Ram (1996): Kullu the Valley of Gods, New Delhi, Indus Publishing Company.

WELL-BEING AND ACADEMIC FUNCTIONING: A COMPARATIVE REVIEW OF COLLEGE STUDENTS

Mahima Sharma[*]
mahimsharma9920@gmail.com

Dr. Neelam kumari[†]
muskan.m19@gmail.com

Abstract: -

Student well-being has gained increasing attention within higher education because of its close association with academic functioning. This review synthesizes findings from recent national and international studies to examine how emotional, psychological, and social dimensions of well-being relate to students' academic outcomes. Comparative evidence across gender, academic streams, living arrangements and socio-economic contexts is discuses to clarify how different groups experience varying levels of well-beingand academic adjustment. The review shows that students with higher level of well-being consistently display better concentration, intrinsic motivation, class involvement, and overall academic achievement (Pascoe et al., 2020). Despite these patterns, gaps remain-particularly the scarcity of longitudinal research, limited cultural comparisons, and uneven measurement tools across studies. The paper argues for stronger institutional support systems and well-being initiatives integrated into academic planning to foster healthier and more productive learning environments.

Keywords: -

Well-being, academic functioning, college students, comparative review, academic performance, student engagement, higher education.

INTRODUCTION

The welfare of students has taken the stage in conversations concerning and caliber of higher education. Social integration, academic pressure, financial worries and demands for personal growth are just a few of the difficulties faced by college students. These elements affect motivation, emotional stability, and academic perseverance. Academic success, resilience, and students' involvement are all highly correlated with positive emotional, psychological, and social well-being, according to research (Keyes, 2002; Upadyaya & Salmela-Aro, 2013).

[*] **Research Scholar, Department of Psychology, ACA&SS, Eternal University, Himachal Pradesh, India-173101**

[†] **HOD, Department of Psychology, ACA&SS, Eternal University, Himachal Pradesh, India**

Due to greater freedom and academic demands, the transition to college is frequently difficult. Stress, worry, and a lack of social support are common problems among students (Robotham & Julian, 2006). In order to investigate how various aspect of well-being affect academic functioning and how these patterns vary among various student groups, this review builds on prior research.

1. Understanding Students Well- Being

Three dimensions are commonly used to characterize student's well-being:

1.1 Emotional Well-Being

Positive affect, life satisfaction and efficient emotional control are all components of emotional well-being. Strong emotional well-being in students promotes learning effectiveness by lowering stress and improving focus (Aherne et al., 2018).

1.2 Psychological Well-Being

Autonomy, a life purpose self-acceptance, and personal development are all associated with psychological well-being. Increased psychological well-being supports academic perseverance and intrinsic drive (Seligman, 2011).

1.3 Social Well-Being

Relationship quality, sense of belonging, and support perception are all components of social well-being. Students that receive social support are more likely to participate in class work well with others and exhibit greater academic adjustment (Cvitkovic et al., 2017).

2. Well- Being and Academic Functioning

Research consistently demonstrates a positive association between well-being and academic functioning across cognitive, emotional, and behavioral domains.

2.1 Cognitive Functioning

Students that are happier have improved focus, memory, problem-solving skills, and less cognitive overload. According to Conley et al. (2013) emotional stability promotes better focus and academic achievement.

2.2 Motivational and Persistence

Motivation and psychological well-being are intimately related. Students who have a strong sense of purpose and self-efficacy are more likely to create and stick to their academic goals (Seligman, 2011; Upadyaya & Salmela-Aro, 2013).

2.3 Academic Engagement

Well-Being encourages active class participation, collaboration, and higher attendance. Positive social relationships also increase academic resilience (Baik et al., 2019).

2.4 Academic Achievement

According to several research (Pascoe et al., 2020; Amholt et al., 2020), students who express high levels of subjective well-being typically receive better marks and exhibit higher levels of academic satisfaction.

3. Comparative Findings Across Student Groups

3.1 Gender Differences

Due to social and academic pressures, female students typically reported higher levels of stress and anxiety. However, they also communicate their emotions more and seek assistance more frequently. Male students frequently reports feeling less stressed, and they are also less engaged in their studies (Larcombe et al., 2016; Amholt et al., 2020).

3.2 Academic Discipline

Compared to students in the arts and humanities, who frequently report higher emotional wellbeing, students in the STEM fields- science, technology, engineering, and medicines- face greater academic strain ad stress (Baik et al., 2019).

3.3 Living Conditions

Students who live away from home or in dorms typically get more support from their peers, but they may also feel lonely. Students who live with relatives, on the other hand, report more emotional stability, while they occasionally feel constrained or under pressure (Arslan, 2019).

3.4 Socio- Economic Background

Lower- income students frequently experience financial strain, have less academic resources, and have less access to technology, all of which have an impact on their wellbeing and academic performances (Kumar &Tankha, 2020).

Table 1. Summary of comparative findings across student group

S.N.	Category	Key Findings
1.	Gender	While men exhibit lower participation, women exhibit higher levels of stress but stronger help seeking.
2.	Academic Discipline	Humanities students report improved well-being, while STEM/medical students experience higher levels of stress.
3.	Living Conditions	Home students feel more stable, whereas hostel students receive more peer support.
4.	Socio-Economic Status	Students from lower socioeconomic backgrounds exhibit more stress and less resources.

4. Gaps in Literature

Several holes remain despite a great deal of research:

- Absence of long-term research monitoring academic performance and well-being throughout time.
- Minimal cross-cultural comparisons, particularly in non-Western nations.
- Inconsistent measurement methods make it challenging to compare different studies.
- First-generation students, non-traditional students, and students with impairments are under-represented.
- There aren't many assessments of institutional interventions like mindfulness training or counselling services.

5. Implications for Higher Education Institutions

Considering the robust correlation between academic achievement and well-being, institutions must:

- Offer easily accessible psychological counselling (Baik et al., 2019).
- Incorporate wellness initiatives (peer support, stress reduction, and mindfulness).
- Encourage positive interaction between students and faculty.
- Make academic and financial resources available to underprivileged pupils.
- Create an environmental on campus that values emotional safety and interpersonal relationships.

Both academic achievement and well-being can be enhanced by these actions.

Conclusion

The review emphasizes that college students academic functioning is significantly influenced by their emotional, psychological, and social well-being. Better focus, motivation, engagement, and academic success are all exhibited by students who are happier. Comparative results reveal significant differences in living arrangements, gender, discipline, and socioeconomic level. Longitudinal, cross cultural, and intervention-based research is necessary, nevertheless. Fostering students' achievement in higher education requires incorporating well-being into academic preparation.

REFERENCES

Aherne D, Farrant K, Hickey L, McGrath L, McGrath D and Wilson E (2018). Mindfulness-based stress reduction for university students: A systematic review. *J Am Coll Health* 66(7), 640-646.

Amholt G, Dammeyer J, Carter R and Niclasen J (2020). Psychological well-being and academic achievement among adolescents: A systematic review. *Sch Psychol Int* 41(3), 280-296.

Arslan G (2019). Positive psychological functioning in college students: Ruminative thinking, college belonging and mental health. *J Coll Stud Dev*60(2), 219-234.

Baik C, Larcombe W and Brooker A (2019). How universities can enhance student mental well-being: The student perspective. *High Educ Res Dev*38(4), 674-687.

Conley C S, Durlak J A and Dickson D A (2013). A meta-analysis of interventions to promote well-being in college students. *JColl Stud Dev* 54(4), 485-502.

Cvitkovic R, Jelic M and Kamenov Z (2017). The role of social support in student adjustment to university life. *JEducLearn*6(2), 1-13.

Kumar S and Tankha G (2020). Academic stress, wellbeing, and academic performance among undergraduate students in India. *Indian JPosit Psychol* 11(3), 223-227.

Keyes C L M (2002). The mental health continuum: From languishing to flourishing in life. *JHealthSoc Behav* 43(2), 207-222.

Larcombe W, Finch S, Sore R, Murray C M, Kentish S, Mulder R A and Williams D A (2016). Prevalence and socio-demographic correlates of psychological distress among students. *StudHigh Educ* 41(6), 1074-1091.

Pascoe M C, Hetrick S E and Parker A G (2020). The impact of stress on students in tertiary education: A systematic review. *Int J Adolesc Youth* 25(1), 157-173.

Robotham D and Julian C (2006). Stress and prevention management in higher education students. *JFurthHigher Educ* 30(2), 107-117.

Seligman M E P (20110. Flourish: A visionary new understanding of happiness and well-being. Free Press.

Upadyaya K, and Salmela-Aro (2013). Engagement with studies and well-being in university students: A person-oriented approach. *LearnIndivid Differ* 27, 97-107.

Caste-based Trolling on Social Media in the Digital Age: A Sociological Inquiry

डिजिटल युग में सोशल मीडिया पर जाति-आधारित ट्रोलिंग: एक समाजशास्त्रीय अध्ययन

AVANISH SINGH*
tavanishs@gmail.com

Abstract

The proliferation of social media has significantly transformed the nature of social interaction, public discourse, and identity construction. While digital platforms are often viewed as spaces of participation and inclusion, they also function as sites where existing social hierarchies are reproduced and contested. In the Indian context, caste-based discrimination has increasingly manifested in digital environments in the form of caste-based trolling. This paper examines caste trolling as a sociological phenomenon rooted in structures of power, social stratification, and symbolic domination. By situating online harassment within the broader framework of caste hierarchy, digital inequality, and social exclusion, the study analyses its forms, social mechanisms, and consequences for marginalized communities. The paper also explores resistance strategies and institutional responses necessary to address caste-based discrimination in digital public spheres.

***Keywords**:*

Caste, Social Media, Digital Inequality, Symbolic Violence, Social Stratification, Online Harassment

1. Introduction

The emergence of social media has profoundly transformed the nature of the public sphere by expanding opportunities for communication, identity expression, and socio-political engagement beyond conventional institutional boundaries. Digital platforms have enabled individuals, particularly those historically excluded from mainstream media, to articulate experiences, mobilize collective voices, and challenge dominant narratives. However, contrary to the popular perception of the internet as an egalitarian and democratic space, digital environments are neither socially neutral nor detached from existing social structures. Rather, they are deeply embedded within broader relations of power, cultural hierarchies, and institutional inequalities that shape participation and visibility.

In stratified societies such as India, caste continues to function as a foundational principle of social organization, regulating access to material resources, social status, and symbolic recognition. The

* **Research Scholar Department of Sociology, Awadhesh Pratap Singh University (APSU), M.P**

persistence of caste in everyday social life is increasingly reflected in digital interactions, where traditional hierarchies are reconstituted through new technological forms. Social media platforms, instead of dismantling caste boundaries, often facilitate their rearticulation by providing spaces where dominant caste ideologies can be asserted, normalized, and defended.

Caste-based trolling refers to patterned and systematic online practices that seek to demean, marginalize, or silence individuals on the basis of their caste identity. Unlike generalized forms of online harassment, caste trolling is structurally rooted in historical relations of dominance and subordination. It operates through language, representation, and collective targeting, reinforcing social hierarchies rather than merely expressing individual prejudice. From a sociological perspective, such practices can be understood as a form of symbolic violence, wherein power is exercised subtly through humiliation, delegitimization, and exclusion rather than through overt coercion.

In the digital context, symbolic violence often replaces older forms of physical segregation and spatial exclusion, yet it produces comparable social consequences. By discouraging participation, undermining legitimacy, and policing the boundaries of acceptable speech, caste-based trolling restricts the presence of marginalized groups within the digital public sphere. Social media thus emerges as a contested arena where caste hierarchies are not only reproduced but also actively negotiated, often under the normative framework of free expression and anonymity. Consequently, digital platforms become sites where historical patterns of inequality are both sustained and transformed, demanding sociological scrutiny beyond individual behavior to encompass structural and institutional dynamics.

2. Review of Literature

Sociological studies on digital media emphasize that online interactions are deeply embedded in offline social structures. Research on cyber harassment demonstrates that marginalized groups experience disproportionate exposure to online hostility due to unequal power relations. Scholars of caste have noted that digital platforms have not weakened caste identities; rather, they have enabled their rearticulation through memes, hashtags, and virtual communities.

Pierre Bourdieu's concept of symbolic violence is particularly relevant in understanding caste-based trolling, as it highlights how domination operates through language, representation, and everyday practices. Studies on digital inequality further suggest that algorithmic visibility often amplifies dominant caste narratives while marginalizing counter-hegemonic voices. Despite these insights, sociological analyses that explicitly examine caste trolling as a structural phenomenon remain limited, indicating a significant research gap.

3. Objectives of the Study

The objectives of the present sociological study are to:

1. Conceptualize caste-based trolling as a form of digital caste discrimination
2. Examine the social structures and power relations underlying caste trolling

3. Analyze the impact of caste-based trolling on social identity and participation
4. Explore collective resistance and counter-narratives in digital spaces
5. Suggest sociologically informed institutional and policy interventions

4. Research Methodology

This study adopts a qualitative and analytical sociological approach, relying on secondary data such as academic literature, policy documents, legal frameworks, media reports, and sociological analyses of online discourse. The study is theoretically informed by concepts of social stratification, symbolic violence, digital public sphere, and social exclusion. The focus is on interpreting social patterns rather than measuring individual psychological responses.

5. Forms and Social Mechanisms of Caste-based Trolling

5.1 Caste Stereotyping and Discursive Domination

Caste-based trolling frequently operates through the reproduction of stereotypes that portray Dalit, OBC, and Adivasi users as socially inferior or undeserving. Such representations are not random insults but reflect dominant caste ideologies that seek to legitimize unequal access to education, employment, and power. Sociologically, this functions as discursive domination, where language becomes a tool of social control.

5.2 Collective Harassment and Digital Caste Policing

Unlike isolated acts of abuse, caste trolling often takes the form of collective harassment, where multiple users target an individual for asserting caste identity or challenging dominant narratives. This phenomenon can be understood as digital caste policing, aimed at regulating who can speak, what can be said, and whose voices are considered legitimate in the digital public sphere.

5.3 Algorithmic Amplification and Structural Bias

Social media platforms operate through algorithms that prioritize engagement over equity. Content that reinforces dominant caste perspectives often receives greater visibility, while critical or anti-caste voices face suppression or reporting. This structural bias contributes to the normalization of casteist discourse and reflects broader patterns of digital inequality.

5.4 Anonymity and the Reproduction of Power

Anonymity in digital spaces allows dominant caste users to exercise power without accountability. Sociologically, this reflects a shift from overt caste domination to covert forms of exclusion, where social power is exercised without direct confrontation or responsibility.

6. Social Consequences of Caste-based Trolling

6.1 Exclusion from Digital Public Spaces

Caste-based trolling discourages marginalized users from participating in online debates, leading to their symbolic exclusion from the digital public sphere. This undermines the democratic potential of social media.

6.2 Impact on Social Identity and Belonging

Persistent caste hostility online creates identity-based marginalization, where individuals feel compelled to conceal or downplay their caste identity. This weakens collective identity formation and reinforces social hierarchies.

6.3 Emergence of Counter-publics

In response to exclusion, marginalized communities have created alternative digital spaces such as Ambedkarite platforms and Dalit online collectives. These counter-publics challenge dominant narratives, promote collective consciousness, and enable political mobilization.

7. Resistance Strategies and Institutional Responses

7.1 Collective Digital Resistance

Rather than individual coping alone, sociological responses emphasize collective action, including hashtag movements, digital campaigns, and alternative media platforms that assert dignity and representation.

7.2 Role of Digital Institutions

Social media platforms function as powerful social institutions. Their content moderation policies, reporting mechanisms, and algorithmic designs significantly influence caste dynamics online. Institutional accountability is therefore central to addressing caste-based trolling.

7.3 Legal and Policy Frameworks

Existing cyber laws in India inadequately recognize caste-based online discrimination. Sociologically informed legal reforms must acknowledge digital spaces as extensions of social life, bringing caste-based online abuse within the ambit of social justice legislation.

Table 1: Forms of Caste-based Trolling and Their Sociological Implications

Form of Caste-based Trolling	Sociological Explanation	Impact on Marginalized Communities	Theoretical Source
Caste Stereotyping	Dominant caste ideologies are reproduced through derogatory labels and narratives, reinforcing symbolic hierarchies in digital discourse.	Normalization of inferiority, delegitimization of merit, and reinforcement of social stigma.	Bourdieu (1991); Ambedkar (2014)
Collective Online Harassment	Group-based targeting functions as digital caste policing, regulating speech and participation in the online public sphere.	Withdrawal from digital participation and silencing of dissenting voices.	Goffman (1963); Deshpande (2011)
Algorithmic Amplification	Platform algorithms privilege dominant narratives by	Marginalization of anti-caste discourse and	Tufekci (2017)

	rewarding engagement, reproducing structural inequalities in visibility.	reinforcement of digital inequality.	
Anonymity-based Abuse	Anonymity enables covert exercise of caste power without social accountability, transforming overt domination into symbolic exclusion.	Increased vulnerability and erosion of democratic participation online.	Suler (2004); Bourdieu (1991)
Delegitimization of Identity Claims	Assertion of caste identity by marginalized users is framed as disruptive or illegitimate, maintaining status quo power relations.	Identity suppression and weakening of collective consciousness.	Ambedkar (2014); Omvedt (2003)

Conclusion

Caste-based trolling on social media is not merely an individual behavioral issue but a sociological phenomenon rooted in historical caste hierarchies and contemporary digital inequalities. It reflects the persistence of social stratification in new technological forms. While digital platforms reproduce exclusion, they also offer opportunities for resistance and transformation. Addressing caste trolling requires structural interventions that combine sociological understanding, institutional reform, and collective empowerment. Future research should integrate primary sociological data to deepen understanding of lived digital experiences.

References

1.Ambedkar, B. R. (2014). *Annihilation of Caste*. Verso.

2.Bourdieu, P. (1991). *Language and Symbolic Power*. Harvard University Press.

3.Goffman, E. (1963). *Stigma: Notes on the Management of Spoiled Identity*. Prentice Hall.

4.Suler, J. (2004). The online disinhibition effect. *CyberPsychology & Behavior*, 7(3), 321–326.

5.Tufekci, Z. (2017). *Twitter and Tear Gas: The Power and Fragility of Networked Protest.* Yale University Press.

6.Government of India. (2000). *Information Technology Act.*

7.Government of India. (1989). SC/ST (Prevention of Atrocities) Act.

धारणीय विकास : एक विकास यात्रा

जेस्पेंदर सिंह*

Jassijyoda1469@gmail.com

सारांश

लंबे समय तक, मानव प्रगति को आर्थिक विकास और तकनीकी उन्नति के रूप में मापा जाता था और यह एक ऐसा मॉडल था जिसकी कीमत पर्यावरण और सामाजिक कल्याण को चुकानी पड़ती थी। विकास के इस पारंपरिक मॉडल से एक तरह औद्योगिक विस्तार तो हुआ किन्तु संसाधनों का दोहन भी भरी मात्र में हुआ। जिसके परिणामस्वरूप व्यापक प्रदूषण, संसाधनों का ह्रास और सामाजिक असमानता जैसी गंभीर समस्याएं पैदा हुई। जिसने पर्यावरण के प्रति बढ़ती जागरूकता को जन्म दिया। इन गंभीर वैश्विक चुनौतियों के जवाब में, धारणीय विकास की अवधारणा का विकास हुआ । प्रस्तुत शोधपत्र तीन प्रमुख अवधारणाओं के ऐतिहासिक विकास और अंतर्संबंध का पता लगाता है: पर्यावरण शिक्षा (ईई), धारणीय विकास (एसडी), और धारणीय विकास के लिए शिक्षा (ईएसडी)। यह तर्क देता है कि ये विचार एक प्रगतिशील, परस्पर जुड़ी यात्रा का प्रतिनिधित्व करते हैं, न कि अलग-थलग आंदोलनों की एक श्रृंखला। प्रस्तुत शोध के अंतर्गत यह समझाने का प्रयास किया गया है कि ईई मानव-जनित पर्यावरणीय नुकसान के बारे में बढ़ती जागरूकता से उभरा है, जो पर्यावरण संरक्षण के लिए ज्ञान, कौशल और मूल्यों को स्थापित करने पर केंद्रित है। जैसे-जैसे दुनिया ने पारिस्थितिक, सामाजिक और आर्थिक मुद्दों के बीच संबंधों को पहचाना, एसडी की व्यापक अवधारणा को ब्रुंडलैंड रिपोर्ट (1987) द्वारा औपचारिक रूप दिया गया, जिसने इसे भविष्य की पीढ़ियों से समझौता किए बिना वर्तमान जरूरतों को पूरा करने के रूप में परिभाषित किया। पर्यावरणीय शिक्षा के विपरीत, ईएसडी व्यक्तियों में आलोचनात्मक चिंतन और समस्या-समाधान कौशल को बढ़ावा देकर परिवर्तन का एक सशक्त वाहक बनाता है ताकि वे धारणीयता से जुड़ी जटिल चुनौतियों का समाधान कर सकें। साथ ही यह पत्र बताता है कि पर्यावरण शिक्षा (ईई), धारणीय विकास (एसडी), और धारणीय विकास के लिए शिक्षा (ईएसडी) अलग-अलग विचार नहीं हैं, बल्कि एक ही, विकसित हो रहा ढाँचा है, जिसमें पर्यावरण शिक्षा आधारभूत जड़ों के रूप में, धारणीय विकास एकीकृत तने के रूप में, और धारणीय विकास के लिए शिक्षा उन शाखाओं के रूप में कार्य करता है जो एक स्थायी भविष्य की दृष्टि को व्यवहार में लाती हैं।

मूल शब्द : *पर्यावरण शिक्षा, धारणीय विकास, धारणीय विकास के लिए शिक्षा, धारणीयता, जागरूकता*

प्रस्तावना

हमारी मानव जाति लंबे समय से जलवायु परिवर्तन और प्रदूषण से लेकर सामाजिक असमानता, गरीबी जैसी कई चुनौतियों का सामना कर रही है। दशकों से, विभिन्न देशों की सरकारे और हमारा शिक्षक समाज इन समस्याओं का समाधान खोजने और एक बेहतर दुनिया बनाने की कोशिश कर रहे हैं। इस यात्रा में तीन महत्वपूर्ण अवधारणाओं ने जन्म लिया: पर्यावरण शिक्षा (ईई), धारणीय विकास (एसडी), और धारणीय विकास के लिए शिक्षा (ईएसडी)। हालाँकि ये तीनों अवधारणाएं देखने में समान अवश्य लग सकती हैं, लेकिन ये विचारों की एक ऐसी ऐतिहासिक प्रगति का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिनमें से प्रत्येक पिछले एक पर आधारित है। प्रस्तुत शोधपत्र प्रत्येक अवधारणा के इतिहास, पर्यावरणीय जागरूकता के शुरुआती बीजों से लेकर धारणीय विकास लक्ष्यों (एसडीजी) के आधुनिक ढाँचे के प्रमुख पड़ावों की पड़ताल करता है।

1. पर्यावरण जागरूकता और पर्यावरण शिक्षा (ईई) की पृष्ठभूमि

"धारणीय विकास" या "धारणीय विकास के लिए शिक्षा" जैसे शब्दों के अस्तित्व में आने से पहले ही, यह जागरूकता बढ़ रही थी कि मानवीय क्रियाएँ प्राकृतिक दुनिया को नुकसान पहुँचा रही हैं। यह समझ ही इस यात्रा की शुरुआत थी। 20वीं

*शोधार्थी (शिक्षा विभाग), महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा, महाराष्ट्र

सदी के मध्य में, वैज्ञानिकों और लेखकों ने औद्योगिक विकास, प्रदूषण और प्राकृतिक संसाधनों के अत्यधिक उपयोग के परिणामों के बारे में चिंताएँ व्यक्त करना शुरू कर दिया था । **पर्यावरण शिक्षा की अवधारणा का विकास 1960** में पर्यावरण के प्रति चिंता के परिणामस्वरूप हुआ। जिसको गति **1962 में प्रकाशित राहेल कार्सन की एक पुस्तक 'साइलेंट स्प्रिंग'** से मिली। जिसमें कीटनाशकों के खतरों और पारिस्थितिक तंत्र पर उनके प्रभाव पर प्रकाश डाला गया था। इस पुस्तक का प्रभाव इतना अधिक था कि इसने लोगों को यह एहसास दिलाया कि ग्रह का स्वास्थ्य सीधे तौर पर उनकी अपनी भलाई से जुड़ा है। इसने लोगों को पर्यावरण सुरक्षा के प्रति आकर्षित किया। इसके परिणामस्वरूप इस नई जागरूकता ने पर्यावरण शिक्षा (ईई) को औपचारिक रूप दिया। पर्यावरण शिक्षा का लक्ष्य सरल था: लोगों को उनके पर्यावरण के बारे में सिखाना। पर्यावरण शिक्षा के शुरुआती अग्रदूतों ने समझा कि वास्तव में बदलाव लाने के लिए, शिक्षा को कार्रवाई के लिए प्रेरित करना आवश्यक है। इसके परिणामस्वरूप कई प्रमुख अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन भी हुए जिन्होंने पर्यावरण शिक्षा को परिभाषित करने में मदद की। **1971 में नॉर्थ अमेरिकन एसोसिएशन फॉर एनवायर्नमेंटल एजुकेशन (NAAEE) की स्थापना** हुई। यह लगभग 50 वर्षो से पर्यावरण शिक्षा के क्षेत्र में कार्य कर रही है। इसका उद्देश्य पर्यावरण साक्षरता और नागरिक सहभागिता को बढ़ावा देकर एक अधिक न्यायसंगत और स्थायी भविष्य के निर्माण के लिए शिक्षा की शक्ति का उपयोग करना है। **1972 में स्टॉकहोम, स्वीडन में मानव और पर्यावरण पर संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन(UNCHE)** आयोजित किया गया । यह सम्मलेन पर्यावरणीय मुद्दों पर केंद्रित पहली वैश्विक बैठक थी, जिसके परिणामस्वरूप स्टॉकहोम घोषणा और मानव पर्यावरण के लिए एक कार्य योजना तैयार हुई जिसने अंतर्राष्ट्रीय पर्यावरण कानून और नीति की नींव रखी। इसी सम्मेलन का एक परिणाम **संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम (UNEP)** की स्थापना भी थी। यूनेस्को के साथ मिलकर, UNEP ने **1975 में बेलग्रेड में पर्यावरण शिक्षा पर पहली अंतर्राष्ट्रीय कार्यशाला का आयोजन** किया। कार्यशाला के परिणामस्वरूप बेलग्रेड चार्टर को अपनाया गया। इस कार्यशाला में तैयार किए गए दस्तावेज़ ने पर्यावरण शिक्षा के लिए एक वैश्विक रूपरेखा तैयार की। इसमें कहा गया था कि पर्यावरणीय जागरूकता जीवनपर्यंत चलने वाली प्रक्रिया होनी चाहिए, न कि केवल स्कूल में सीखी जाने वाली कोई चीज़। यह समग्र भी होनी चाहिए, अर्थात यह विज्ञान से लेकर इतिहास, कला और पर्यावरणीय मुद्दों तक, सभी विषयों को आपस में जोड़े।

बेलग्रेड चार्टर के मुख्य लक्ष्य थे:

- **जागरूकता बढ़ाना**: लोगों को पर्यावरण के प्रति जागरूक और संवेदनशील बनाने में मदद करना।
- **ज्ञान प्रदान करना**: लोगों को पर्यावरण और उसकी समस्याओं पर काम करने के तरीके की बुनियादी समझ देना।
- **कौशल विकसित करना**: लोगों को पर्यावरणीय समस्याओं की पहचान करने और उनका समाधान करने के लिए आवश्यक कौशल सिखाना।
- **दृष्टिकोण को बढ़ावा देना**: ज़िम्मेदारी की भावना और कार्रवाई करने की इच्छा को प्रोत्साहित करना।

ठीक इसके 2 साल बाद, **1977 में पर्यावरण शिक्षा पर पहला अंतर-सरकारी सम्मेलन आयोजित हुआ जिसे त्बिलिसी घोषणा के रूप में जाना जाता है**। इसने इस बात पर और ज़ोर दिया कि पर्यावरणीय जागरूकता केवल तथ्यों और आंकड़ों के बारे में नहीं होनी चाहिए, बल्कि मूल्यों और नैतिकता के बारे में भी होनी चाहिए। इसने पर्यावरणीय जागरूकता को एक ऐसी प्रक्रिया बनाने का आह्वान किया जो व्यक्तियों और समुदायों को "ज्ञान और जागरूकता प्राप्त करने, दृष्टिकोण, प्रेरणा और कौशल विकसित करने, और व्यक्तिगत और सामूहिक कार्यों की ज़िम्मेदारी लेने" में मदद करे। संक्षेप में, पर्यावरण शिक्षा का जन्म प्रकृति की प्रत्यक्ष समस्याओं को संबोधित करने के लिए एक शक्तिशाली उपकरण के रूप में हुआ था, जिसका उद्देश्य ऐसे लोगों की पीढ़ी तैयार करना था जो पृथ्वी के बारे में अधिक जानकार हों और उसकी रक्षा के लिए प्रतिबद्ध हों।

2. धारणीय विकास (एसडी) का उदय

धारणीय विकास एक ऐसा विचार है जो मानव समाज को आर्थिक, सामाजिक और पर्यावरणीय लक्ष्यों को एक साथ लेकर चलने की प्रेरणा देता है। इसका उदय 20वीं शताब्दी के मध्य में हुआ, जब वैज्ञानिकों और पर्यावरणविदों में

पर्यावरण और सामाजिक चुनौतियों के प्रति जागरूकता बढ़ी और उन्होंने महसूस किया कि मानव की आर्थिक गतिविधियाँ पृथ्वी के प्राकृतिक संसाधनों को तेज़ी से खत्म कर रही हैं। पारंपरिक विकास मॉडल, जो सिर्फ आर्थिक वृद्धि पर ध्यान केंद्रित करता था, ने पर्यावरण को बहुत नुकसान पहुँचाया और सामाजिक असमानता को भी बढ़ावा दिया। इस समस्या के समाधान के रूप में, 'धारणीय विकास' की अवधारणा सामने आई। इसका पहला महत्वपूर्ण उल्लेख **1987 में ब्रंटलैंड आयोग की रिपोर्ट "हमारा साझा भविष्य"** में हुआ। इस रिपोर्ट में इसे परिभाषित करते हुए कहा गया कि "धारणीय विकास एक ऐसा विकास है जो भविष्य की पीढ़ियों की अपनी ज़रूरतों को पूरा करने की क्षमता से समझौता किए बिना वर्तमान की ज़रूरतों को पूरा करे।" इस परिभाषा ने दो प्रमुख विचार प्रस्तुत किए:

- **वर्तमान की जरूरतों को पूरा करना:** बढ़ती जनसँख्या और उनकी तुलना में संसाधनों का सीमित होना एक बहुत बड़ी समस्या है। इसलिए यह कहा गया की संसाधनों का उपयोग संतुलित तरीके से किया जाना चाहिए ताकि वर्तमान पीढ़ी अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप संसाधनों का उपयोग करे और भविष्य की पीढ़ी के लिए भी संसाधनों को बचा सकें।
- **भविष्य की पीढ़ियों की आवश्यकताओं को भी ध्यान में रखना:** इसने इस बात पर ज़ोर दिया कि हमें ग्रह के संसाधनों का उपयोग अपनी आवश्यकता अनुसार ही करना चाहिए| ऐसा न हो की हमारी भविष्य की पीढ़ी के लिए संसाधन ही न बचे। इसके लिए संसाधनों के संतुलित उपयोक के साथ साथ लोगो को पर्यावरण के प्रति जागरूक करने की भी आवश्यकता है।

इस परिभाषा ने इस बात पर जोर दिया कि विकास का मतलब केवल आर्थिक प्रगति नहीं है, बल्कि इसमें पर्यावरण संरक्षण और सामाजिक न्याय भी शामिल हैं। ब्रुंडलैंड रिपोर्ट ने स्पष्ट किया कि "धारणीय विकास" के लिए तीन क्षेत्रों में सामान रूप से कार्य करने की आवश्यकता है जिन्हें अक्सर धारणीय विकास के तीन स्तंभ कहा जाता है:

- **पर्यावरणीय:** प्राकृतिक संसाधनों और पारिस्थितिक तंत्रों की रक्षा करना।
- **सामाजिक**: सामाजिक न्याय, समानता और मानव कल्याण सुनिश्चित करना।
- **आर्थिक:** एक स्वस्थ और निष्पक्ष अर्थव्यवस्था का निर्माण करना।

ये तीनों स्तंभ आपस में एक दुसरे से जुड़े होने के साथ साथ एक दूसरें को प्रभावित भी करते है जैसे एक कारखाना नदी को प्रदूषित कर सकता है, जिससे पर्यावरण को नुकसान पहुँचता है(पर्यावरणीय मुद्दा), लेकिन यह एक समुदाय को रोज़गार भी प्रदान करता है(एक आर्थिक लाभ) और स्थानीय निवासियों के स्वास्थ्य को प्रभावित करता है (एक सामाजिक मुद्दा)। यही कारण है कि लोगो को एक समस्या का समाधान दूसरी समस्याओं के बारे में सोचे बिना नहीं करना चाहिए। बल्कि एक सच्चे समाधान के लिए एक संतुलित दृष्टिकोण अपनाना चाहिए, जो पर्यावरण की रक्षा करे, स्थानीय अर्थव्यवस्था को सहारा दे, और समुदाय की जीवनशैली को भी संरक्षित करे।

निष्कर्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि धारणीय विकास केवल ग्रह को बचाने से संबंधित नहीं है बल्कि यह गरीबी से लड़ने और एक न्यायपूर्ण समाज के निर्माण से गहराई से जुड़ा हैं। साथ ही यह केवल एक सैद्धांतिक विचार नहीं रहा, बल्कि यह सरकारों, व्यवसायों और व्यक्तियों के लिए एक मार्गदर्शक सिद्धांत बन गया है जो लोगों को एक ऐसे भविष्य के लिए तैयार करता है जहां हम न केवल आर्थिक रूप से समृद्ध हों, बल्कि सामाजिक रूप से न्यायपूर्ण और पर्यावरणीय रूप से भी जिम्मेदार हों। यह हमें सिखाता है कि हम विकास और प्रकृति के बीच संतुलन कैसे बना सकते हैं ताकि एक बेहतर और सुरक्षित भविष्य का निर्माण हो सके।

3. धारणीय विकास के लिए शिक्षा (ESD) का उदय

धारणीय विकास की अवधारणा एक बड़ा विचार था और जब वैज्ञानिकों एवं पर्यावरणविदों द्वारा धीरे-धीरे यह महसूस किया गया कि धारणीय विकास के लिए केवल नीतिगत बदलाव पर्याप्त नहीं हैं। इसके लिए लोगों को अपनी सोच और व्यवहार में बदलाव लाने की आवश्यकता हैं ताकि वे पर्यावरण के अनुकूल और सामाजिक रूप से जिम्मेदार जीवनशैली

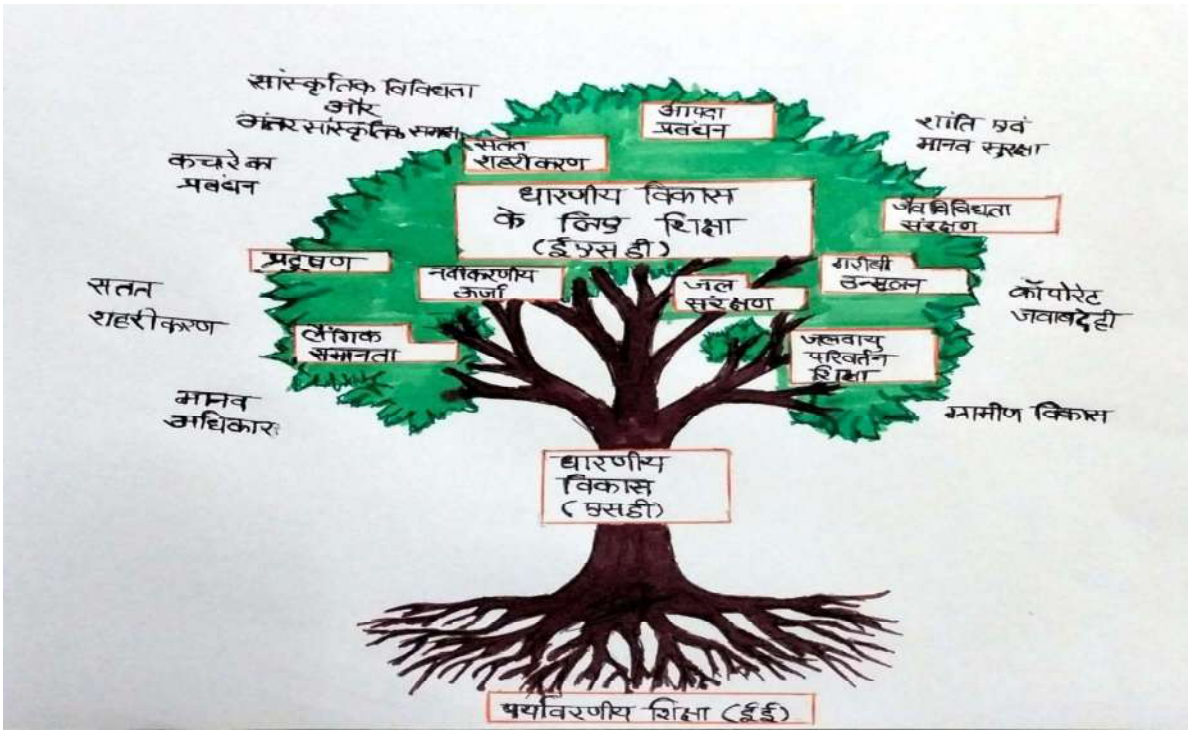
अपना सकें। इसके लिए उन्होंने यह माना कि शिक्षा ही वह मुख्य साधन है जो लोगों को धारणीय विकास के सिद्धांतों को समझने, अपनाने और उनके अनुसार कार्य करने के लिए सशक्त बना सकती है। यहीं से धारणीय विकास के लिए शिक्षा (Education for Sustainable Development - ESD) की शुरुआत हुई। धारणीय विकास के लिए शिक्षा कोई नया विषय नहीं है जिसे स्कूल की समय-सारिणी में जोड़ा जाए। बल्कि, यह सोचने का और पढ़ाने का एक नया तरीका है जो लोगों को धारणीय विकास के तीन स्तंभों और उनके आपस में जुड़े होने को समझने में मदद करता है। यह केवल पर्यावरण विज्ञान पढ़ाने तक सीमित नहीं है। बल्कि यह तो एक समग्र दृष्टिकोण है जो ज्ञान, कौशल, दृष्टिकोण और मूल्यों को विकसित करने पर ध्यान केंद्रित करता है। साथ ही यह हमें आलोचनात्मक चिंतन, समस्या-समाधान और भविष्य के बारे में चिंतन करने जैसे कौशल विकसित करने में मदद करता है। उदाहरण के लिए, एक कक्षा में जल संरक्षण का पाठ पढ़ने के बजाय, ESD छात्रों को यह सिखाता है कि वे अपने घर और स्कूल में पानी का उपयोग कैसे कम कर सकते हैं और इसके प्रभाव को समझ सकते हैं।

देखा जाए तो ESD का आधिकारिक रूप से जन्म **1992 में रियो डी जेनेरियो में हुए पृथ्वी शिखर सम्मेलन** से माना जा सकता है। यह एक ऐतिहासिक सम्मेलन था जिसने धारणीय विकास को वैश्विक एजेंडे में सबसे आगे लाया। जहाँ विश्व के नेताओं द्वारा एजेंडा 21 नामक धारणीय विकास के लिए एक कार्य योजना को अपनाया गया, जिसके अध्याय 36 में शिक्षा, जन जागरूकता और प्रशिक्षण पर विशेष ध्यान दिया गया। यह पहली बार था जब शिक्षा को धारणीय विकास को प्राप्त करने के एक महत्वपूर्ण साधन के रूप में मान्यता मिली। ठीक इसके 10 साल बाद **2002 में जोहान्सबर्ग शिखर सम्मेलन** आयोजित किया गया था। इस सम्मेलन में धारणीय विकास के तीन स्तंभों - आर्थिक, सामाजिक और पर्यावरणीय को मजबूत करने के लिए धारणीय विकास के लिए शिक्षा (ESD) को एक महत्वपूर्ण उपकरण के रूप में स्थापित किया गया। यहीं पर **2005-2014 के दशक को 'धारणीय विकास के लिए संयुक्त राष्ट्र शिक्षा दशक' (UN Decade of Education for Sustainable Development)** के रूप में घोषित करने का प्रस्ताव दिया गया, जिसे बाद में संयुक्त राष्ट्र महासभा द्वारा स्वीकार किया गया। इस दशक का उद्देश्य शिक्षा के सभी स्तरों पर धारणीय विकास के सिद्धांतों और प्रथाओं को एकीकृत करना था। इसने ESD को एक वैश्विक आंदोलन में बदल दिया और विभिन्न देशों को अपने शिक्षा प्रणालियों में इसे शामिल करने के लिए प्रेरित किया। इसका मुख्य लक्ष्य लोगों में ज्ञान, कौशल, मूल्यों और दृष्टिकोण को विकसित करना था ताकि वे धारणीय भविष्य के लिए जिम्मेदारी से कार्य कर सकें। तत्पश्चात **जून 2012** में ब्राजील के रियो डी जनेरियो में **रियो+20 शिखर सम्मेलन** आयोजित किया गया था। यह 1992 के "पृथ्वी शिखर सम्मेलन" (रियो शिखर सम्मेलन) के 20 साल बाद हुआ था। इस सम्मेलन ने 1992 के सम्मेलन के बाद से हुई प्रगति और कमियों का आकलन करने के साथ नई और उभरती चुनौतियों का समाधान खोजना का कार्य किया । साथ ही इस सम्मलेन में सहस्राब्दि विकास लक्ष्यों (Millennium Development Goals) की जगह लेने के लिए धारणीय विकास लक्ष्यों (Sustainable Development Goals) को विकसित करने पर सहमति बनी। इसके बाद **2015 में संयुक्त राष्ट्र ने धारणीय विकास लक्ष्यों (SDGs)** को अपनाया, जिन्हें 2030 तक हासिल करने का लक्ष्य रखा गया। ये 17 लक्ष्य गरीबी उन्मूलन, भुखमरी समाप्त करने, स्वास्थ्य, शिक्षा, स्वच्छ ऊर्जा और जलवायु परिवर्तन जैसी चुनौतियों का समाधान करने पर केंद्रित हैं। आज, धारणीय विकास केवल एक सैद्धांतिक विचार नहीं रहा, बल्कि यह विभिन्न देशों की सरकारों और व्यक्तियों के लिए एक मार्गदर्शक सिद्धांत बन गया है जो लोगों को एक ऐसे भविष्य के लिए तैयार करता है जहां हम न केवल आर्थिक रूप से समृद्ध हों, बल्कि सामाजिक रूप से न्यायपूर्ण और पर्यावरणीय रूप से भी जिम्मेदार हों। यह हमें सिखाता है कि हम विकास और प्रकृति के बीच संतुलन कैसे बना सकते हैं ताकि एक बेहतर और सुरक्षित भविष्य का निर्माण हो सके।

4. पर्यावरणीय शिक्षा, धारणीय विकास और धारणीय विकास के लिए शिक्षा ने मध्य अंतर्संबंध

पर्यावरणीय शिक्षा से धारणीय विकास और धारणीय विकास से धारणीय विकास के लिए शिक्षा के लिए शिक्षा की यात्रा एक विचार के दूसरे विचार के स्थान लेने की कहानी नहीं है, बल्कि विचारों के बढ़ने और विस्तार की कहानी है। इसे एक वृक्ष के रूप में समझ सकते है। उदाहरण के लिए जैसे एक वृक्ष की जड़ें वृक्ष की नीव होती है, उसे मजबूत करती है उसी प्रकार पर्यावरणीय शिक्षा हमें प्राकृतिक दुनिया के बारे में गहन, आधारभूत ज्ञान और मूल्य प्रदान करती है । इसने हमें अपने ग्रह से

प्रेम करना और उसकी रक्षा करना सिखाया है। इस आवश्यक शुरुआत के बिना, अन्य विचार कभी पनप नहीं पाते। धारणीय विकास की अवधारणा वृक्ष के तने के सामान है। जिस प्रकार से वृक्ष का तना वृक्ष का मुख्य भाग होने के साथ साथ उसकी शाखाओं के लिए पुल और सहारा देने का काम करता है उसी प्रकार धारणीय विकास की अवधारणा पर्यावरणीय मुद्दों को सामाजिक और आर्थिक शाखाओं से जोडती है। साथ हो इसने इस आन्दोलन को एक नया, समग्र ढाँचा प्रदान किया, जिसमे यह दर्शाया गया कि पर्यावरणीय स्वास्थ्य को मानव कल्याण से अलग नहीं किया जा सकता। धारणीय विकास के लिए शिक्षा फैलती हुई शाखाएँ और पत्तियाँ हैं जो पर्यावरणीय शिक्षा के विचारों को व्यवहार में लाने के लिए उपकरण और ज्ञान प्रदान करती हैं।



चित्र: पर्यावरणीय शिक्षा, धारणीय विकास और धारणीय विकास के लिए शिक्षा के अंतर्संबंध को दिखाता चित्र

आज, ये अवधारणाएँ आपस में गुंथी हुई हैं। पर्यावरणीय शिक्षा, धारणीय विकास और धारणीय विकास के लिए शिक्षा का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है। पर्यावरण के बारे में पढ़ाए बिना धारणीय विकास के बारे में नहीं पढ़ाया जा सकता। हालाँकि, धारणीय विकास के लिए शिक्षा (ईएसडी) पर्यावरण संरक्षण के साथ-साथ सामाजिक न्याय, मानवाधिकारों और एक निष्पक्ष अर्थव्यवस्था के निर्माण के बारे में भी शिक्षा देकर आगे बढ़ता है। धारणीय विकास लक्ष्यों (एसडीजी) द्वारा निर्देशित आधुनिक दृष्टिकोण यह मानता है कि हमें एक ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है जो हमें गरीबी उन्मूलन (एसडीजी 1) से लेकर जल के नीचे जीवन की रक्षा (एसडीजी 14) तक, सभी 17 लक्ष्यों को एक साथ प्राप्त करने में मदद करे। विशेष रूप से, एसडीजी 4.7 सभी देशों से यह सुनिश्चित करने का आह्वान करता है कि 2030 तक, सभी शिक्षार्थी धारणीय विकास को बढ़ावा देने के लिए आवश्यक ज्ञान और कौशल प्राप्त करें, जिसमें धारणीय जीवन शैली, मानवाधिकार, लैंगिक समानता और वैश्विक नागरिकता के लिए शिक्षा भी शामिल है।

5. ईएसडी के कार्यान्वयन में चुनौतियाँ और भविष्य की दिशाएँ

धारणीय विकास के लिए शिक्षा (ESD) का उद्देश्य छात्रों को एक स्थायी भविष्य के लिए आवश्यक ज्ञान, कौशल और मूल्यों से लैस करना है। हालाँकि, इसके प्रभावी कार्यान्वयन में कई चुनौतियाँ हैं, जिन पर ध्यान देना आवश्यक है।

चुनौतियाँ:

- **शिक्षकों का अपर्याप्त प्रशिक्षण:** कई शिक्षकों को ESD के सिद्धांतों और शिक्षण विधियों में पर्याप्त प्रशिक्षण नहीं मिला है। पारंपरिक शिक्षा प्रणाली में, वे अक्सर पाठ्यपुस्तक-आधारित शिक्षण तक सीमित रहते हैं, जिससे ESD के लिए आवश्यक व्यावहारिक और अंतर्विषयक दृष्टिकोण को अपनाना मुश्किल हो जाता है।
- **कठोर और बोझिल पाठ्यक्रम:** मौजूदा पाठ्यक्रम कठोर एवं परीक्षा-केंद्रित हैं। ESD को पाठ्यक्रम में एकीकृत करने के लिए पाठ्यक्रम में आवश्यक लचीलेपन का अभाव है। विषय-विशिष्ट ज्ञान को प्राथमिकता दी जाती है, जबकि समग्र और समस्या-आधारित दृष्टिकोण को अक्सर नजरअंदाज कर दिया जाता है।
- **पारंपरिक शिक्षण विधियों पर निर्भरता:** शिक्षण अभी भी काफी हद तक व्याख्यान-आधारित और सैद्धांतिक है। ESD के लिए आवश्यक व्यावहारिक, समस्या-आधारित और अनुभवात्मक शिक्षण विधियों का उपयोग कम होता है। छात्रों को वास्तविक जीवन की समस्याओं से जोड़ने और समाधान खोजने के लिए प्रोत्साहित नहीं किया जाता है।
- **पाठ्यक्रम में एकीकरण का अभाव:** ESD को अक्सर एक अलग विषय के रूप में पढ़ाया जाता है, न कि मौजूदा विषयों जैसे विज्ञान, सामाजिक विज्ञान या कला के साथ एकीकृत करके। इस दृष्टिकोण से छात्र इसे एक अतिरिक्त भार के रूप में देख सकते हैं।
- **संसाधनों की कमी:** ESD के कार्यान्वयन के लिए अतिरिक्त संसाधनों जैसे शिक्षण सामग्री, उपकरणों और बुनियादी ढाँचे की आवश्यकता होती है, जो कई स्कूलों में उपलब्ध नहीं होते हैं।
- **संकुचित दृष्टिकोण:** ESD को अक्सर केवल पर्यावरण शिक्षा के रूप में देखा जाता है, जबकि यह सामाजिक और आर्थिक धारणीयता को भी शामिल करता है। यह संकुचित दृष्टिकोण इसके पूर्ण कार्यान्वयन में बाधा डालता है।
- **हितधारकों का सीमित जुड़ाव:** ESD को सफल बनाने के लिए छात्रों, शिक्षकों, अभिभावकों, समुदायों और नीति निर्माताओं सहित सभी हितधारकों का सक्रिय जुड़ाव आवश्यक है। अक्सर यह जुड़ाव कम होता है।
- **दीर्घकालिक प्रभाव को मापने में कठिनाई :** ESD के प्रभाव दीर्घकालिक होते हैं, जैसे व्यवहार में स्थायी बदलाव लाना। इन प्रभावों को तुरंत या आसानी से मापना मुश्किल है, जिससे इसकी सफलता का प्रदर्शन करना कठिन हो जाता है।

भविष्य की दिशाएँ

इन चुनौतियों का सामना करने के लिए, हमें निम्नलिखित दिशाओं में काम करना होगा:

- **व्यापक शिक्षक प्रशिक्षण:** शिक्षकों के लिए विशेष प्रशिक्षण कार्यक्रम शुरू करना होगा, जो उन्हें ESD के सिद्धांतों, शिक्षण रणनीतियों और मूल्यांकन विधियों में दक्ष बनाए। उन्हें छात्रों को सक्रिय रूप से शामिल करने के तरीके सिखाने होंगे।
- **लचीला पाठ्यक्रम:** पाठ्यक्रम को अधिक लचीला बनाना होगा, जिससे ESD के विषयों को विभिन्न विषयों में एकीकृत किया जा सके। इसके लिए, पारंपरिक विषयों और ESD के बीच एक सेतु बनाना महत्वपूर्ण है।
- **शिक्षण विधियों में बदलाव:** हमें पारंपरिक व्याख्यान-आधारित शिक्षण से हटकर परियोजना-आधारित, समस्या-आधारित और सामुदायिक-आधारित दृष्टिकोण अपनाना होगा। छात्रों को वास्तविक दुनिया की चुनौतियों पर काम करने और स्थायी समाधान विकसित करने के लिए प्रोत्साहित करना होगा।
- **पाठ्यक्रम में एकीकृत दृष्टिकोण:** ESD को अलग विषय के बजाय सभी विषयों में एकीकृत किया जाना चाहिए। उदाहरण के लिए, विज्ञान में पारिस्थितिकी तंत्र के बारे में पढ़ाते समय, सामाजिक विज्ञान में न्याय और समानता के बारे में पढ़ाते समय और कला में टिकाऊ सामग्री का उपयोग करके इसे शामिल किया जा सकता है।

- **संसाधनों में वृद्धि:** डिजिटल शिक्षण सामग्री, ऑनलाइन संसाधन और ओपन-एजुकेशनल-रिसोर्स (OER) का उपयोग किया जाना चाहिए। साथ ही, स्कूलों को स्थानीय समुदाय और संगठनों के साथ साझेदारी करने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।
- **व्यापक दृष्टिकोण:** ESD की व्यापक परिभाषा को बढ़ावा देना आवश्यक है, जिसमें न केवल पर्यावरण बल्कि सामाजिक न्याय, आर्थिक स्थिरता, सांस्कृतिक विविधता और मानवाधिकार भी शामिल हों।
- **बहु-हितधारक दृष्टिकोण**: एक बहु-हितधारक दृष्टिकोण अपनाना चाहिए, जिसमें छात्र, शिक्षक, अभिभावक, स्थानीय समुदाय और गैर-सरकारी संगठन शामिल हों। संवाद और सहयोग के लिए एक मंच बनाया जाना चाहिए।
- **मजबूत मॉनिटरिंग और मूल्यांकन ढांचे का विकास:** एक मजबूत मॉनिटरिंग और मूल्यांकन ढाँचा विकसित किया जाना चाहिए जो दीर्घकालिक प्रगति को ट्रैक कर सके। इसमें समय-समय पर केस स्टडी और गुणात्मक अनुसंधान (Qualitative Research) शामिल हो सकते हैं।

संक्षेप में, ESD का सफल कार्यान्वयन शिक्षा प्रणाली में एक मौलिक बदलाव की मांग करता है, जो शिक्षक प्रशिक्षण, पाठ्यक्रम सुधार और अभिनव शिक्षण विधियों पर केंद्रित हो। यह बदलाव ही हमें एक स्थायी भविष्य की ओर ले जा सकता है।

निष्कर्ष :-

पर्यावरण शिक्षा (ईई), धारणीय विकास (एसडी) और धारणीय विकास के लिए शिक्षा (ईएसडी) के बीच अंतर्संबंध विचारो के प्रतिस्थापन की कहानी नहीं है बल्कि विचारों के निरंतर विस्तार और उसके गहन एकीकरण की कहानी है। इस शोधपत्र में यह पाया गया कि ये तीनों अवधारणाएँ एक सुसंगत और प्रगतिशील दृष्टिकोण का निर्माण करती हैं, जिनमें से प्रत्येक अवधारणा पिछली अवधारणा की उपलब्धियों और सीमाओं पर आधारित है। प्रारंभ में पर्यावरणीय जागरूकता से उत्पन्न पर्यावरण शिक्षा ने प्राकृतिक दुनिया की सराहना और सुरक्षा के लिए आवश्यक आधारभूत ज्ञान और मूल्य प्रदान किए। यह मानवीय क्रियाकलापों के चलते प्राकृतिक संसाधनों के अत्यधिक उपयोग से उत्पन्न पर्यावरणीय गिरावट के बीच सीधे संबंध पर केंद्रित एक महत्वपूर्ण पहला कदम था। हालाँकि, जैसे-जैसे वैश्विक चुनौतियाँ अधिक जटिल होती गईं, यह स्पष्ट होता गया कि पारिस्थितिक समस्याएँ सामाजिक और आर्थिक मुद्दों से अलग नहीं हैं। विचारों के इसी विकास के चलते 20वीं सदी के उत्तरार्ध में धारणीय विकास का उदय हुआ। धारणीय विकास के इस परिवर्तनकारी प्रतिमान ने धारणीय विकास के तीन स्तंभों - पर्यावरण, समाज और अर्थव्यवस्था को एक समग्र दृष्टिकोण में एकीकृत किया। इसने संरक्षण से आगे बढ़कर मानव कल्याण, सामाजिक समानता और आर्थिक व्यवहार्यता को भी शामिल कर लिया। अंततः धारणीय विकास के लिए शिक्षा इस नए, व्यापक दृष्टिकोण को प्राप्त करने के व्यावहारिक साधन के रूप में उभरी। यह लोगों को जलवायु परिवर्तन, गरीबी, असमानता और मानवाधिकारों जैसे जटिल मुद्दों को समझने में मदद करता है और उन्हें ऐसे समाधान खोजने के लिए प्रोत्साहित करता है जो लोगों और ग्रह दोनों के लिए लाभकारी हों। ईएसडी शिक्षार्थियों को जटिल, परस्पर जुड़ी चुनौतियों से निपटने के लिए आलोचनात्मक रूप से सोचने, प्रश्न पूछने और ऐसे विकल्प चुनने सिखाता है जो तीनों स्तंभों—पर्यावरण, समाज और अर्थव्यवस्था—पर दीर्घकालिक प्रभावों को ध्यान में रखते हों। यह लोगों को "परिवर्तन के वाहक" बनने के लिए सशक्त बनाने के बारे में है। संक्षेप में, पर्यावरणीय शिक्षा जड़ है, धारणीय विकास तना है, और ईएसडी एक ही वृक्ष की फलती-फूलती शाखाएँ हैं। आज, ये अवधारणाएँ अटूट रूप से जुड़ी हुई हैं। हम पर्यावरणीय ज्ञान के मजबूत आधार के बिना सतत विकास के बारे में नहीं पढ़ सकते हैं, और इसके सामाजिक और आर्थिक निहितार्थों पर विचार किए बिना पर्यावरण संरक्षण का सही मायने में अभ्यास नहीं कर सकते।

सन्दर्भ :-

ओ'फ्लेहर्टी, जे. एवं लिड्डी, एम. (2018). द इम्पैक्ट ऑफ़ डेवलपमेंट एजुकेशन एंड एजुकेशन फॉर सस्टेनेबल डेवलपमेंट इंटरवेंशन: अ सिंथेसिस ऑफ़ द रिसर्च. *एनवायर्नमेंटल एजुकेशन रिसर्च*, आईएसएसएन: 1350-4622, खंड *24*(7), 1031-1049, डीओआई: 10.1080/13504622.2017.1392484

ग्रोसेक, जी. एवं तिरु, एल. (2019). एजुकेशन फॉर सस्टेनेबल डेवलपमेंट: इवोल्यूशन एंड पर्सपेक्टिव: अ बिब्लिओमेत्रिक रिव्यु ऑफ़ रिसर्च,1992-2018. *सस्टेनेबिलिटी* , खंड 11, 6163 doi:10.3390/su11216136

बैरी, जे. (2015). एनवायर्नमेंटल एजुकेशन एंड एजुकेशन फॉर सस्टेनेबल डेवलपमेंट. *इंटरनेशनल इनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ द सोशल एंड बिहेवियरल साइंसेज़,* खंड 2, डीओआई: 10.1016/B978-0-08-097086-8.91081-X

हसनोवा, जी. एवं सफ़रली, ए. (2024). एजुकेशन फॉर सस्टेनेबल डेवलपमेंट: अ रिव्यु. *ग्रीन इकोनॉमिक्स*, खंड 2(1), 102-111 https://www.researchgate.net/publication/378088181

मेन्सा, जे.(2019). सस्टेनेबल डेवलपमेंट: मीनिंग, हिस्ट्री, प्रिंसिपल्स, पिल्लर्स एंड इम्प्लीमेंटेशन फॉर ह्यूमन एक्शन: लिटरेचर रिव्यु. *कोगेंट सोशल साइंस*, खंड 5, 1653531 https://doi.org/10.1080/23311886.2019.1653531

डु पिसानी, जे. (2006). सस्टेनेबल डेवलपमेंट- हिस्टोरिकल रूट्स ऑफ़ द कांसेप्ट. *एनवायर्नमेंटल साइंस,* आईएसएसएन:1569-3430(प्रिंट) 1744-4225(ऑनलाइन), खंड *3*(2), 83-96, डीओआई: 10.1080/15693430600688831 https://doi.org/10.1080/15693430600688831

ग्लेविक, पी. (2020). आइडेंटिफयिंग कीय इश्यूज ऑफ़ एजुकेशन फॉर सस्टेनेबल डेवलपमेंट. *सस्टेनेबिलिटी,* खंड 12, 6500, डीओआई:10.3390/su12166500

रीस, डब्लु एवं मार्टिन, एम. (2022). हाउ कैन एजुकेशन फॉर सस्टेनेबल डेवलपमेंट(ईएसडी) बी एफ्फेक्टिवेली इम्प्लीमेंटेड इन टीचिंग एंड लर्निंग? एन एनालिसिस ऑफ़ एजुकेशनल साइंस रिकमेन्डेशन ऑफ़ मेथेड्स एंड प्रोसीजरस तो प्रमोट ईएसडी गोल्स. *सस्टेनेबिलिटी,* खंड 14, 3708, https://doi.org/10.3390/su14073708

उग्ला, वाई. एवं सोनेरीड, एल. (2023). पोस्सिबिलिटीएस एंड चैलेंजेस इन एजुकेशन फॉर सस्टेनेबल डेवलपमेंट. *जर्नल ऑफ़ एजुकेशन फॉर सस्टेनेबल डेवलपमेंट*, खंड *17*(1), 63-77

अरनेओ, पी. (2024). एक्सप्लोरिंग एजुकेशन फॉर सस्टेनेबल डेवलपमेंट(ईएसडी) कोर्स कंटेंट इन हायर एजुकेशन; अ मल्टीप्ल केस स्टडी इन्क्लुडिंग व्हाट स्टूडेंट्स से डेय लाइक. *एनवायर्नमेंटल एजुकेशन रिसर्च*, खंड *30*(4), 631-660, DOI: 10.1080/13504622.2023.2280438

कार्सन, आर. (1962). साइलेंट स्प्रिंग. ह्यूटन मिफ्लिन.

यूनाइटेड नेशन. (1987). आवर कॉमन फ्यूचर: रिपोर्ट ऑफ़ द वर्ल्ड कमीशन ऑन एनवायरनमेंट एंड डेवलपमेंट. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

यूनाइटेड नेशन. (1992). एजेंडा 21: प्रोग्राम ऑफ़ एक्शन फॉर सस्टेनेबल डेवलपमेंट. यू एन डिपार्टमेंट ऑफ़ इकोनॉमिक एंड सोशल अफेयर्स.

यूनेस्को. (2017). एजुकेशन फॉर सस्टेनेबल डेवलपमेंट गोल्स: लर्निंग ऑब्जेक्टिव. यूनेस्को.

यूनेस्को. (1975). बेलग्रेड चार्टर:अ ग्लोबन फ्रेमवर्क फॉर एनवायर्नमेंटल एजुकेशन. यूनेस्को-यूएनईपी.

यूनेस्को. (1978). इंटर गवर्नमेंटल कांफ्रेंस ऑन एनवायर्नमेंटल एजुकेशन: फाइनल रिपोर्ट. त्बिलिसी.

यूनेस्को. (2005). यू एन डिकेड ऑफ़ एजुकेशन फॉर सस्टेनेबल डेवलपमेंट (2005-2014) – इंटरनेशनल इम्प्लीमेंटेशन स्कीम. यूनेस्को.

महात्मा गाँधी का सामाजिक समरसता का प्रयास और भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में उसका प्रभाव : एक अन्वेषण

कौशल किशोर*

kaushal.kishor17291@gmail.com

सारांश:-

महात्मा गांधी भारतीय इतिहास के सबसे जटिल एवं बहुआयामी व्यक्तित्व हैं, जिनकी विचारधारा ने न केवल राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम को दिशा दी, अपितु भारतीय समाज की गहरी जड़ों में व्याप्त जातिगत, धार्मिक एवं सामाजिक विद्वेष की संरचना को चुनौती भी दी। प्रस्तुत शोध-पत्र 'महात्मा गांधी' का सामाजिक समरसता का प्रयास और भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में उसका प्रभाव एक अन्वेषण गांधी द्वारा कल्पित सामाजिक समरसता' (Social harmony)की अवधारणा को उसके ऐतिहासिक, वैचारिक एवं व्यावहारिक आयामों में विश्लेषित करता है तथा यह परीक्षण करता है कि स्वराज की उनकी कल्पना में जाति-उन्मूलन, हिन्दू-मुस्लिम एकता, अस्पृश्यता निवारण एवं स्त्री-पुरुष समानता जैसे प्रश्न कितने केन्द्रीय थे और इन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन की दिशा, गति एवं सीमाओं को कैसे प्रभावित किया। गांधी की सामाजिक समरसता की अवधारणा को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम इसे केवल नैतिक अपील के रूप में न देखें, अपितु इसे एक रणनीतिक हस्तक्षेप के रूप में विश्लेषित करें। इसी प्रकार 1920-22 के खिलाफत आंदोलन से लेकर 1947 तक की सांप्रदायिक राजनीति के बीच गांधी की हिन्दू- मुस्लिम एकता की कोशिशें राष्ट्रीय आंदोलन को व्यापक जन-सामान्य तक ले गई, किन्तु अंततः विभाजन की रासदी को रोकने में असफल रही। यह शोध-पत्र तीन प्रमुख प्रश्नों पर केन्द्रित हैं

(1) गांधी की सामाजिक समरसता की अवधारणा कितनी क्रांतिकारी थी और कितनी परंपरा-नियंत्रित?

(2) क्या हरिजनोद्धार और हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रयासों ने राष्ट्रीय आंदोलन को अधिक समावेशी बनाया या उसे उच्च-जातीय हिन्दू चरित्र प्रदान किया?

(3) गांधी की असफलताएँ (विभाजन, दलितों का अलगाव) क्या उनकी विचारधारा की आंतरिक सीमाओं का परिणाम थीं या ऐतिहासिक परिस्थितियों की अनिवार्यता? महात्मा गाँधी ने भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन को केवल राजनीतिक संघर्ष तक सीमित नहीं रखा, बल्कि उसे सामाजिक आर्थिक और नैतिक पुनर्निर्माण का आंदोलन बनाया। उनका मूल लक्ष्य स्वतंत्र भारत को सामाजिक असमानताओं से मुक्त, समरस और न्यायपूर्ण राष्ट्र बनाना था। यह शोध-पत्र गाँधी के सामाजिक समरसता के प्रमुख प्रयासों अस्पृश्यता-निवारण, हिंदू-मुस्लिम एकता, सत्याग्रह, ग्राम-स्वराज, अहिंसाकृत था भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन पर उनके प्रभाव का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है।

बीज शब्द:–

सामाजिक समरसता, जाती व्यवस्था, दलित उत्थान, हिंदू मुस्लिम एकता, धर्मनिरपेक्षता,अस्पृश्यता

प्रस्तावना :-

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का इतिहास जब भी लिखा जाता है, उसमें दो धाराएँ स्पष्ट रूप से दिखाई देती हैं। एक धारा है राजनीतिक स्वतंत्रता की आकांक्षा, जिसमें सत्ता हस्तांतरण, संवैधानिक वार्ताएँ, सत्याग्रह और सशस्त्र क्रान्ति के प्रश्न केन्द्र में रहते हैं। दूसरी धारा है सामाजिक पुनर्निर्माण की आकांक्षा, जिसमें यह प्रश्न बार-बार उठता रहा कि जिस स्वराज के लिए हम

* **शोधार्थी, स्नातकोत्तर इतिहास विभाग, जयप्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा**

संघर्ष कर रहे हैं, वह केवल ब्रिटिश शासकों के स्थान पर देशी शासकों की सत्ता नहीं होना चाहिए वह एक ऐसा समाज भी होना चाहिए जिसमें सदियों से चली आ रही जातिगत, धार्मिक, लैंगिक और क्षेत्रीय असमानताएँ समाप्त हो सकें। इन दोनों धाराओं का संगम और तनाव जिस एक व्यक्तित्व में सबसे तीव्र रूप में व्यक्त हुआ, वह थे मोहनदास करमचंद गांधी। गांधी ने स्वराज को केवल राजनीतिक स्वशासन नहीं माना, अपितु उसे 'रामराज्य' और 'सर्वोदय' के रूप में परिभाषित किया, जिसमें सामाजिक समरसता एक अनिवार्य पूर्वापेक्षा थी।[1] उनके लिए स्वतंत्रता आंदोलन केवल अंग्रेजों भारत छोड़ा' का नारा नहीं था, यह हिन्दू-मुस्लिम भाई-आई बनो, 'अस्पृश्यता छोड़ो, स्त्रियों को पुरुषों के समकक्ष लाओ' और 'ग्राम-स्वराज की स्थापना करो' का आह्वान भी था। यही कारण है कि गांधी को समझने का कोई भी प्रयास यदि उनकी सामाजिक चिंताओं को पृष्ठभूमि में धकेल देता है, तो वह आंशिक और भ्रामक हो जाता है। आज जब हम आजादी के 78 वर्ष बाद खड़े हैं, तब भारत जिस सामाजिक संकट से गुजर रहा है, उसकी जड़े उन प्रश्न में हैं जिन्हें गांधी ने उठाया था और जिन्हें आधुनिक भारत ने पूरी तरह हल नहीं किया। जातिगत हिंसा आज भी जारी है, सांप्रदायिक ध्रुवीकरण नित नया रूप ले रहा है. ग्रामीण भारत और शहरी भारत के बीच की खाई बढ़ती जा रही है, और स्त्री-पुरुष असमानता नए-नए रूपों में प्रकट हो रही है। ऐसे में गांधी के सामाजिक समरसता के प्रयासों का पुनर्पाठ न केवल शैक्षणिक दायित्व है। बल्कि राजनीतिक और नैतिक अनिवार्यता भी है। सामाजिक समरसता अवधारणा और संदर्भ समरसता शब्द गांधी के लेखन और भाषणों में बार-बार आता है। यह न तो आधुनिक समाज शास्त्रीय "SOCIAL COHESION" का सरल हिंदी अनुवाद है और न ही केवल हिन्दू धर्म की 'वसुधैव कुटुम्बकम' वाली भावुकता। गांधी की समरसता एक सक्रिय, संघर्षशील और परिवर्तनकारी अवधारणा थी। यह समाज में व्याप्त हिंसा को पहचानती थी और उसे अहिंसक तरीके से समाप्त करने का रास्ता सुझाती थी। समरसता गांधी के लिए दो स्तरों पर काम करती थी।[2]

अंतर्व्यक्तिगत स्तर पर आत्म-शुद्धि, ब्रह्मचर्य, संयम और प्रार्थना के द्वारा व्यक्ति का आंतरिक परिवर्तन।

सामाजिक स्तर पर जाति-भेद, संप्रदाय-भेद, अस्पृश्य-अस्पृश्य भेद और धन-निर्धन भेद को समाप्त करने के लिए निरंतर संघर्ष। गांधी की यह धारणा दक्षिण अफ्रीका के अनुभव से गहरे तक प्रभावित थी। वहाँ उन्होंने देखा था कि नस्लीय भेदभाव कैसे एक पूरे समाज को विकृत कर देता है। भारत लौटने पर उन्होंने पाया कि यहाँ नस्ल के स्थान पर जाति और संप्रदाय काम कर रहे हैं। 1915 में अहमदाबाद में स्थापित सत्याग्रह आश्रम का पहला नियम ही था।'सभी जातियों और धर्मों के लोग यहाँ रह सकते हैं, किन्तु अस्पृश्यता का पालन करने वाले नहीं रह सकते। यह केवल आश्रम का नियम नहीं था, यह गांधी की पूरी राजनीति का मूल सिद्धांत था। भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का द्वंद्वात्मक चरित्र भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन को समझने के लिए यह समझना आवश्यक है कि वह एक साथ दो विरोधी प्रवृत्तियों का वाहक था। एक ओर थी उदार वादी-संवैधानिक वादी प्रवृत्ति, जो मुख्यतः उच्च जातीय मध्य वर्ग द्वारा संचालित थी और जो सामाजिक सुधार को राजनीतिक स्वतंत्रता के बाद का प्रश्न मानती थी। दूसरी ओर थी क्रांतिकारी और समाजवादी प्रवृत्ति, जो साम्राज्यवाद और सामंतवाद जातिवाद को एक साथ चुनौती देना चाहती थी। गांधी इन दोनों के बीच एक तीसरा रास्ता लेकर आए। उन्होंने कांग्रेस को जन-आंदोलन बनाया, किंतु साथ ही सामाजिक क्रांति के प्रश्न को स्थगित भी किया। यह द्वंद्व सबसे स्पष्ट रूप से 1920-22 के असहयोग- खिलाफत आंदोलन में दिखाई दिया। एक ओर गांधी ने मुस्लिम समुदाय को राष्ट्रीय आंदोलन में लाने के लिए खिलाफत जैसे धार्मिक प्रश्न को अपनाया, दूसरी ओर उन्होंने चौरी-चौरा की घटना के बाद आंदोलन वापस ले लिया क्योंकि उन्हें लगा कि जनता अभी अहिंसक नहीं हुई है।[3] इसी प्रकार 1930 के नमक सत्याग्रह में दलितों और आदिवासियों की भागीदारी थी, किंतु गांधी ने उन्हें 'हरिजन' कहकर एक अलग श्रेणी में रखा और उनके लिए पृथक राजनीतिक प्रतिनिधित्व का विरोध किया। गांधी और दलित प्रश्न हरिजनोद्धार या संरचनात्मक सुधार गांधी का दलित प्रश्न पर रुख सबसे विवादास्पद रहा है। उन्होंने अस्पृश्यता को हिन्दू धर्म का सबसे बड़ा पाप कहा और 1932 में यरवदा जेल में आमरण अनशन करके कम्युनल अवार्ड में दलितों के लिए पृथक निर्वाचन को रोक दिया। पूना पैक्ट के बाद आरक्षण की व्यवस्था बनी, किंतु दलित को हिन्दू समाज के अंदर ही रखा गया। डॉ. आंबेडकर ने इसे 'गांधी की जीत नहीं, बल्कि 'दलितों की पराजय कहा। यहाँ प्रश्न यह है कि क्या गांधी वास्तव में जाति-व्यवस्था के खिलाफ थे या केवल उसके सबसे क्रूर रूप (अस्पृश्यता) के खिलाफ गांधी ने वर्ण व्यवस्था को 'वैज्ञानिक' कहा और कहा कि वह वर्ण को जन्म पर आधारित नहीं, गुण-कर्म पर आधारित चाहते हैं। यह आदर्शवादी दृष्टिकोण था, किंतु व्यावहारिक रूप से यह जाति-व्यवस्था को बनाए रखने वाला सिद्ध हुआ। फिर भी, यह नहीं

भूलना चाहिए कि गांधी ने मंदिर प्रवेश आंदोलनों को प्रोत्साहन दिया, हरिजन सेवक संघ बनाया और अपने आश्रमों में दलितों को प्रवेश दिया। यह उस समय की उच्च जातीय कांग्रेस में भी अस्वीकार्य था। हिन्दू- मुस्लिम एकता रणनीति या विश्वास? गांधी की हिन्दू-मुस्लिम एकता की कोशिशें औ दोहरे चरित्र की थीं। 1919-22 के खिलाफत आंदोलन में उन्होंने मुस्लिम उलेमा के साथ मिलकर एक अभूतपूर्व एकता स्थापित की। किंतु 1924 के बाद जब खिलाफत आंदोलन समाप्त हो गया, तो सांप्रदायिक दंगे बढ़ गए। गांधी ने 1924 में 21 दिन का उपवास किया, 1930 के दशक में सांप्रदायिक सद्भाव के लिए सैकड़ों यात्राएँ की, और 1947-48 में दिल्ली और कलकत्ता में उपवास करके दंगे रोके। फिर भी विभाजन हो गया। क्या यह गांधी की असफलता थी? कुछ विद्वान (जैसे अशोक मेहता, मौलाना अबुल कलाम आजाद) मानते हैं कि गांधी ने मुस्लिम लीग की सांप्रदायिक राजनीति को समझने में देर की। कुछ अन्य (जैसे धनंजय कीर, आर. सी. मजूमदार) कहते हैं कि गांधी की 'हिन्दू-बहुसंख्यक छवि ने मुस्लिम अलगाववाद को बढ़ावा दिया। तीसरा दृष्टिकोण यह है कि गांधी ने जिस एकता की कल्पना की थी, वह धार्मिक सहिष्णुता पर नहीं, बल्कि धर्मनिरपेक्ष नागरिकता पर आधारित होनी चाहिए थी, जो उस समय संभव नहीं था। गांधी और स्त्री-प्रश्न गांधी ने स्त्रियों को राष्ट्रीय आंदोलन में लाकर एक क्रांति की। 1930 के नमक सत्याग्रह में महिलाओं की भागीदारी अभूतपूर्व थी। गांधी ने कहा था, "स्त्री पुरुष की दासी नहीं, सहचारी है।" किंतु वे स्त्री-पुरुष की मौलिक भिन्नता में विश्वास रखते थे और स्त्रियों को मुख्यतः अहिंसा का प्रतीक मानते थे।' इससे आधुनिक नारी वादियों में गांधी के प्रति संशय पैदा हुआ। फिर भी, यह नहीं भुलाया जा सकता कि गांधी ने विधवा-विवाह, दहेज प्रथा और पर्दा-प्रथा का खुलकर विरोध किया। शोध का औचित्य और प्रासंगिकता आज गांधी को दो अतिवादी धाराएँ घेर रही हैं। एक ओर है नव-दक्षिणपंथी विमर्श, जो गांधी को 'हिन्दू एकता का प्रतीक बनाकर पेश करता है और उनकी दलित-मुस्लिम एकता की कोशिशों को कमजोर बताता है। दूसरी ओर है नव-वामपंथी और दलित-बहुजन विमर्श, जो गांधी को 'उच्च जातीय सुधारवादी कहकर खारिज करता है। दोनों ही दृष्टिकोण अलग हैं। गांधी न तो क्रांतिकारी थे और न प्रति क्रांतिकारी। वे एक ऐसे सुधारवादी थे जो क्रांति की संभावना को बनाए रखना चाहते थे, किंतु बिना रक्तपात के। उनकी सीमाएँ थीं, किंतु उनकी प्रासंगिकता भी है। जब बाज भारत में संवैधानिक मूल्य, सामाजिक न्याय और बहुलतावादी लोकतंत्र खतरे में हैं, तब गांधी का सामाजिक समरसता का सपना फिर से प्रासंगिक हो उठता है। शोध का उद्देश्य और प्रस्तुत शोध-पत्र निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर खोजता है. गांधी की सामाजिक समरसता का वैचारिक आधार क्या था।

- गांधी की असफलताएँ (विभाजन, दलित अलगाव) उनकी विचारधारा की आंतरिक विधा का परिणाम थी या ऐतिहासिक परिस्थितियों की अनिवार्यता?
- आज के भारत में गांधी की सामाजिक समरसता की अवधारणा कितनी प्रासंगिक और कितनी अप्रासंगिक है?

इसके लिए शोध प्राथमिक स्रोतों (गांधी की सम्पूर्ण लेखन और भाषण, हरिजन, यंग इंडिया द्वितीयक स्रोतों (आंबेडकर, नेहरू, लोहिया, आगा खान, जिन्ना, सुवास चंद्र बोस आदि के धान) का उपयोग करेगा। साथ ही समकालीन दलित, मुस्लिम, स्त्री और आदिवासी चिंतकों के दृष्टि को भी समावेशित किया जाएगा।[6] इस शोध का प्रयास है कि हम गांधी को न तो मिथक बनाएँ और न ही खारिज करें, बल्कि उन्हें इतिहास के उस जटिलता में रखकर समझे जब एक प्राचीन सभ्यता आधुनिक राष्ट्र बनने की पीड़ा से गुजर रही थी। गांधी उस पीड़ा के सबसे संवेदनशील दुभाषिए थें। उनकी सामाजिक समरसता की खोज आज भी जारी है। यह शोध उसी खोज का एक विनम्र प्रयास है।[7]

प्रस्तुति एवं विश्लेषण :-

महात्मा गांधी का सामाजिक समरसता का प्रयास भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की वैचारिक पूर्ण था। इसे तीन प्रमुख पक्षों पर व्यवस्थित कर विश्लेषित करना होगा। अस्पृश्यता निवारण एवं दलित प्रश्न, हिन्दू-मुस्लिम एकता की राजनीति, तथा लैंगिक एवं ग्राम-आधारित समरसता की परिकल्पना। ये आशा परस्पर संनादित थे और इन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन को एक साथ व्यापक जनाधार प्रदान किया था कुछ संरचनात्मक सीमाएँ भी आरोपित की।

अस्पृश्यता निवारण नैतिक अपराध बोध या हिन्दू एकता की राजनीति[8]

गांधी ने 1932 के यरवदा आमरण अनशन के दौरान घोषित किया था कि अस्पृश्यता यदि नहीं मिटी तो में मर जाऊँगा' (सम्पूर्ण वाङ्मय, खंड 57. पू. 142- 145)। यह कारण केवल धार्मिक संवेदना नहीं तथा यह ब्रिटिश कम्युनल

अवार्ड (16 अगस्त 1932) के विरुद्ध एक सुनियोजित राजनीतिक हस्त कलाई ने दलितों को पृथक निर्वाचन देने का प्रावधान किया था, जिससे हिन्दू मतदाता समूह दो भागों में विभक्त हो जाता और कांग्रेस की भावी चुनावी शक्ति क्षीण पड़ती। गांधी ने अनशन के दबाव से पृथक निर्वाचन रद्द कराया और पूना पैक्ट (24 सितम्बर 1932) के माध्यम से संयुक्त निर्वाचन तथा आरक्षित सीटों की व्यवस्था स्थापित की। इस घटना की दो परस्पर विरोधी व्याख्याएँ प्रचलित हैं।[9] गांधीवादी व्याख्या इसे हिन्दू समाज की एकता की रक्षा और दलितों को मुख्यधारा में बनाए रखने का सफल प्रयास मानती है।

आंबेडकर वादी एवं दलित-बहुजन व्याख्या इसे दलितों की स्वतंत्र राजनीतिक पहचान पर उच्च जातीय आघात मानती है। आंबेडकर ने लिखा था। गांधी ने मेरी जान बचाई, किन्तु मेरे समाज की आत्मा को मार डाला (What Congress and Gandhi Have Done to the Untouchables, 1945) वस्तुतः गांधी वर्ण व्यवस्था को गुण-कर्म आधारित मानकर उसे बनाए रखना चाहते थे, किन्तु अस्पृश्यता को पूरी तरह अस्वीकार करते थे। यह आंशिक सुधारवादी था जो जाति-व्यवस्था की संरचनात्मक हिंसा को अपरिवर्तित छोड़ता था। फिर भी 1930 के दशक में जब अधिकांश हिन्दू-मुस्लिम एकता धार्मिक सहिष्णुता या धर्मनिरपेक्ष नागरिकता? गांधी की एकता राजनीति का सर्वोच्च बिंदु 1919–1922 का खिलाफत- असहयोग आंदोलन था। उन्होंने खिलाफत जैसे विशुद्ध धार्मिक मुद्दे को राष्ट्रीय मुद्दा बनाकर मुस्लिम जनता को पहली बार बड़े पैमाने पर आंदोलन में शामिल किया। किन्तु 1924 के बाद खिलाफत आंदोलन के समाप्त होते ही सांप्रदायिक दंगे बढ़ गए। गांधी ने 1924 में 21 दिन का उपवास किया, 1946–47 में नोआखाली-कलकत्ता की यात्राएँ की और 1948 में दिल्ली में अंतिम उपवास करके दंगे रोके। फिर भी विभाजन हो गया। क्या यह गांधी की असफलता थी कुछ विद्वान (अशिस नंदी, शाहिद अमीन) मानते हैं कि गांधी ने धार्मिक प्रतीकों का उपयोग कर एकता की कोशिश की, किन्तु इससे सांप्रदायिक चेतना को और बल मिला। अन्य (ताराचंद, बिपिन चंद्रा) कहते हैं कि मुस्लिम लीग की अलगाववादी राजनीति और ब्रिटिश फूट डालो नीति के सामने कोई भी एकता प्रयास सीमित था।[10] तीसरा दृष्टिकोण यह है कि गांधी की एकता की कल्पना आधुनिक धर्मनिरपेक्ष नागरिकता पर नहीं, बल्कि धार्मिक सह-अस्तित्व पर आधारित थी- जो आधुनिक राष्ट्र-राज्य के लिए अपर्याप्त थी। लैंगिक एवं ग्राम-आधारित समरसता गांधी ने स्त्रियों को 'अहिंसा का स्वाभाविक अवतार' मानकर 1930 के नमक सत्याग्रह में अभूतपूर्व भागीदारी दी। किन्तु वे स्त्री-पुरुष की मौलिक भिन्नता में विश्वास रखते थे और ब्रह्मचर्य को दोनों के लिए अनिवार्य मानते थे।[5] इससे आधुनिक नारीवादी आलोचना (मधु किश्वर, सुशीला नायर) उत्पन्न हुई कि गांधी ने स्त्री को केवल सहचारी बनाया, स्वतंत्र व्यक्ति नहीं। इसी प्रकार ग्राम स्वराज की परिकल्पना में गांधी ने जाति–भेद मिटाने के लिए खादी और स्वावलंबन को माध्यम बनाया। किन्तु ग्राम-संरचना में पितृसत्ता और जाति-पंचायतों की शक्ति को उन्होंने चुनौती नहीं दी।[11] फलस्वरूप समरसता की उनकी कल्पना आदर्शवादी बनी रही, संरचनात्मक परिवर्तन की बजाय नैतिक अपील पर अधिक निर्भर। इस प्रकार गांधी का समरसता प्रयास राष्ट्रीय आंदोलन को व्यापक जनाधार देने में सफल रहा, किन्तु संरचनात्मक असमानताओं को समाप्त करने में सीमित। उनकी असफलताएँ न केवल ऐतिहासिक परिस्थितियों का परिणाम थी।[12]

समिति की रिपोर्टों:-

गांधी की समरसता नीति का मूल्यांकन गांधी की सामाजिक समरसता की परियोजना को केवल उनके अपने लेखन से समझना अपूर्ण होगा। 1917 से 1948 के बीच कांग्रेस, प्रांतीय सरकारी तथा ब्रिटिश प्रशासन द्वारा गठित अनेक समितियों-आयोगों की रिपोर्ट उनके प्रयासी की सफलताओं, अंतर्विरोध तथा सीमाओं का दस्तावेज साक्ष्य हैं। इन रिपोर्टों का पुनर्पाठ आज भी यह बताता है कि गांधी की समरसता की राजनीति कितनी क्रांतिकारी थी और कितनी परम्परा। स्टार्ट कमेटी (1925) और वैकम सत्याग्रह त्रावणकोर राज्य में 1924-25 का वैकम सत्याग्रह गांधी के अस्पृश्यता- विरोध का पहला बड़ा जन-आंदोलन था। दबाव में त्रावणकोर सरकार ने स्टार्ट कमेटी गठित की। कमेटी की रिपोर्ट (1925) में स्पष्ट लिखा गया कि महात्मा गांधी के नेतृत्व में चले आंदोलन ने सवर्ण हिन्दुओं को सार्वजनिक मार्गों का उपयोग- अधिकार तो दिलाया, किन्तु यह भी स्वीकार करना होगा कि गांधीजी ने वर्ण-व्यवस्था मूल संरचना पर कोई आघात नहीं किया रिपोर्ट यह भी दर्शाती है कि गांधी ने सवर्ण हिन्दुओं को 'पाप-बोध' से बाँधने की रणनीति अपनाई, न कि संरचनात्मक सुधार की। सत्याग्रह और नायर समिति (1931-32) केरल के गुरुवायुर मंदिर- प्रवेश आंदोलन (1931-32) में गांधी ने के. केलप्पन के नेतृत्व को समर्थन दिया। जमींदारों के दबाव में जिला मजिस्ट्रेट ने रिपोर्ट भेजी कि 'गांधी का प्रभाव इतना प्रबल है कि यदि मंदिर खोलने का फरमान न हुआ तो पूरे क्षेत्र में अशांति फैल जाएगी।[13] आखिरकार 1936 में मंदिर खुला, किन्तु नायर समिति की रिपोर्ट

(1936) में लिखा गया कि यह सुधार गांधी की नैतिक दबाव- नीति का परिणाम था, न कि कानूनी- संवैधानिक परिवर्तन का। हरिजन सेवक संघ की आंतरिक रिपोर्ट (1932–1948) गांधी द्वारा स्थापित हरिजन सेवक संघ की वार्षिक रिपोर्ट (1933 से 1948 तक) अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। 1934 की रिपोर्ट में स्वीकार किया गया कि 550 से अधिक मंदिर खुलवाए गए, 12000 से अधिक हरिजन छात्रों को छात्रवृति दी गई, किन्तु साथ ही यह भी लिखा गया कि 'ग्रामीण क्षेत्रों में सवर्ण हिन्दुओं का बहिष्कार अभी भी जारी है और हरिजन सेवक संघ के अधिकांश पदाधिकारी सवर्ण हैं (हरिजन सेवक संघ वार्षिक रिपोर्ट, 1934. पृ. 23)। 1946 की रिपोर्ट में थानेदार अमृत लाल ठक्कर (ठक्कर बापा) ने लिखा कि 'गांधीजी का हरिजनोद्धार मुख्यतः सवर्ण हिन्दुओं के प्रायश्चित्त पर टिका है, न कि हरिजनों के स्वाभिमान पर'। ये रिपोर्ट गांधी की नीति के आंतरिक अंतर्विरोध को उजागर करती हैं। साइमन कमीशन (1928) और गांधी की सामाजिक चुप्पी साइमन कमीशन की रिपोर्ट (1930) में एक पूरा खंड हिन्दू समाज की आंतरिक समस्याएँ पर है। कमीशन ने लिखा'कांग्रेस के नेता गांधी अस्पृश्यता के विरुद्ध हैं, किन्तु उन्होंने अभी तक कोई ठोस संवैधानिक प्रस्ताव नहीं रखा। उनका प्रभाव नैतिक है, राजनीतिक नहीं (Simon Commission Report, Vol- II, 89 यह टिप्पणी दर्शाती है कि गांधी सामाजिक सुधार को राजनीतिक स्वराज की पूर्व-शर्त मानते थे, किन्तु उसे संवैधानिक ढाँचे में बाँधने से बचते थे। 4 सप्रू कमेटी (1946) और हिन्दू-मुस्लिम एकता की विफलता 1946 के सांप्रदायिक दंगों के बाद बंगाल सरकार ने सप्रू कमेटी गठित की। कमेटी की रिपोर्ट (1947) में लिखा गया: 'महात्मा गांधी ने नोआखाली में अकेले पैदल घूमकर हजारों जानें बधाई, किन्तु सांप्रदायिक मनोविज्ञान इतना गहरा हो चुका था कि उनका नैतिक प्रभाव भी सीमित रहा (Sapru Committee Report on Bengal Riots, 1947) पृ. 112)। रिपोर्ट यह भी बताती है कि मुस्लिम लीग के नेताओं ने गांधी को 'हिन्दू नेता' कहकर खारिज कर दिया था। भारतीय संविधान सभा की बहस (1946-49) और गांधी का अनुपस्थित प्रभाव संविधान सभा में अस्पृश्यता निवारण (अनुच्छेद 17) और धार्मिक स्वतंत्रता (अनुच्छेद 25-28) पर बहस के दौरान बार-बार गांधी का उल्लेख हुआ। डॉ. आंबेडकर ने 25 नवम्बर 1949 के अपने अंतिम भाषण में कहा गांधीजी ने अस्पृश्यता को पाप कहा, किन्तु जाति-व्यवस्था को नहीं तोड़ा। संविधान को हमें वह काम करना होगा जो गांधी नहीं कर सके (Constituent Assembly Debates, Vol- XI. पृ. 979)। यह कथन गांधी की सीमा और संविधान की प्रगतिशीलता दोनों को रेखांकित करता है। निष्कर्षात्मक विश्लेषण समरसता की विरासत और सीमाएँ उपरोक्त समितियों-रिपोर्टों के आधार पर निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं :-

- गांधी ने सामाजिक समरसता को राष्ट्रीय आंदोलन का अभिन्न अंग बनाया, किन्तु उसे संरचनात्मक परिवर्तन की बजाय नैतिक प्रायश्चित्त का माध्यम बनाया।

- अस्पृश्यता निवारण में वे आंशिक रूप से सफल रहे (मंदिर- प्रवेश, शिक्षा), किन्तु जाति-व्यवस्था की आर्थिक-सामाजिक जड़े अछूती रहीं।

- हिन्दू–मुस्लिम एकता में उनका नैतिक प्रभाव अभूतपूर्व था, किन्तु आधुनिक धर्मनिरपेक्ष नागरिकता की संस्थागत नींव रखने में वे असफल रहे।

लैंगिक समानता में उन्होंने स्त्रियों को सार्वजनिक क्षेत्र में लाया, किन्तु पितृ सत्ता की संरचना को चुनौती नहीं दी। इन रिपोर्टों से यह भी स्पष्ट होता है कि गांधी की समरसता की राजनीति एक ट्रांजिशनल मोमेंट थी - प्राचीन धार्मिक नैतिकता और आधुनिक संवैधानिक लोकतंत्र के बीच का सेतु।[15] वे पूर्ण कांतिकारी नहीं थे, न पूर्ण प्रति क्रांतिकारी। वे एक ऐसे सुधारक थे जिन्होंने क्रांति की संभावना को जीवित रखा, किन्तु उसे रक्तपात से बचाने के प्रयास में कुछ मूलभूत परिवर्तन को स्थगित भी कर दिया। आज जब भारत जातीय हिंसा, सांप्रदायिक ध्रुवीकरण और लैंगिक असमानता के नए संकटों से जूझ रहा है, तब ये पुरानी रिपोर्ट फिर से प्रासंगिक हो उठती हैं। वे हमें बताती हैं कि गांधी का सपना अधूरा रह गया था, किन्तु उसकी दिशा आज भी संवैधानिक भारत की मूल दिशा है। गांधी को न मिथक बनाना है, न खारिज करना है बल्कि उनकी विरासत को ऐतिहासिक भौतिकवाद और उपनिवेश विरोधी नजरिए से पुन: परीक्षण कर वर्तमान संकटों का समाधान खोजना है। यही इस शोध का अंतिम लक्ष्य भी है। गांधी के समरसता-प्रयासों की ऐतिहासिक प्रभाव- मात्रा उपरोक्त रिपोर्टों को यदि एक तुलनात्मक फ्रेमवर्क में रखकर देखें तो गांधी की समरसता नीति के तीन स्तर स्पष्ट होते हैं: प्रतीकात्मक- नैतिक स्तर, संस्थागत सुधारात्मक स्तर, और संरचनात्मक परिवर्तन का अभाव। ये तीनों स्तर परस्पर जुड़े हुए थे और यही उनकी ताकत एवं सीमा दोनों थे।

प्रतीकात्मक–नैतिक स्तर पर अभूतपूर्व सफलता 1924 से 1948 तक की लगभग हर सरकारी या अर्ध-सरकारी रिपोर्ट में एक बात बार-बार स्वीकारी गई है कि गांधी के अलावा कोई भी नेता सवर्ण हिन्दू समाज को 'पाप-बोध से बाँध नहीं सका। मालाबार कलेक्टर की गोपनीय रिपोर्ट (1932) में लिखा है: गांधी का नाम लेते ही सवर्ण हिन्दू जो सदियों से मंदिरों को बन्द रखते आए हैं, सहम जाते हैं (Confidential Report on Temple Entry Movement] Malaba, 1932)। इसी प्रकार बंगाल गवर्नमेंट की 1947 की रिपोर्ट में कहा गया कि 'नोआखाली में गांधी के एकाकी भ्रमण ने वह काम कर दिखाया जो पुलिस और सेना मिलकर भी नहीं कर सकी। यह प्रतीकात्मक शक्ति ही थी जिसने 1932–1940 के बीच लगभग 1200 मंदिरों को हरिजनों के लिए खुलवा दिया (हरिजन सेवक संघ की 1940 की रिपोर्ट के अनुसार)।[16] संस्थागत- सुधारात्मक स्तर पर आंशिक सफलता 1936 का मद्रास टेम्पल एंट्री एक्ट, 1947 का मद्रास टेम्पल एंट्री ऑथोराइजेशन एक्ट, और अंततः भारतीय संविधान का अनुच्छेद 17 ये सब गांधी के दबाव का प्रत्यक्ष परिणाम थे। गवर्नर जनरल की कार्यकारी परिषद की गोपनीय फाइल (1936) में स्पष्ट लिखा है।'यद्यपि गांधीजी ने कभी विधायी प्रस्ताव नहीं रखा, किन्तु उनका नैतिक दबाव इतना प्रबल था कि प्रांतीय सरकारों को कानून बनाना पड़ा। फिर भी ये कानून केवल अस्पृश्यता के लक्षणों पर थे, कारणों पर नहीं। संरचनात्मक परिवर्तन का अभाव रिपोर्टों की मौन चेतावनी सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कोई भी रिपोर्ट जाति-आधारित भूमि- संपत्ति, मजदूरी और शिक्षा की असमानता को गांधी ने चुनौती नहीं दी यह बात दर्ज करती है। 1942 की ऑल इंडिया डिप्रेस्ड क्लासेस कॉन्फ्रेंस की रिपोर्ट में आंबेडकर ने लिखा। गांधीजी हरिजनों को मंदिर में प्रवेश दिलाना चाहते हैं, किन्तु उन्हें जमीन और शिक्षा नहीं दिलाना चाहते। इसी प्रकार 1946 की बिहार प्रांतीय कांग्रेस कमेटी की आंतरिक रिपोर्ट में स्वयं कांग्रेसी नेता जयप्रकाश नारायण ने लिखा। हरिजनोद्धार मुख्यतः सवर्ण प्रायश्चित बनकर रह गया है। भूमि-सुधार और मजदूरी के प्रश्न पर गांधीजी मौन हैं। गांधी की समरसता नीति और समकालीन दलित-बहुजन आंदोलनों का संवाद आज जब हम कांशीराम, मायावती, जिग्नेश मेवानी या चंद्रशेखर आजाद रावण जैसे नेताओं को देखते हैं, तो गांधी के साथ उनका वैचारिक टकराव स्पष्ट दिखता है। किन्तु दिलचस्प बात यह है कि ये सभी नेता गांधी के प्रतीकात्मक प्रभाव को पूरी तरह खारिज नहीं करते। किन्तु ये रिपोर्ट यह भी स्वीकार करती हैं कि गांधी का नैतिक प्रभाव आज के ध्रुवीकरण समाज में उतना कारगर नहीं रहा जितना 1947-48 में था। गांधी की विरासत का पुनर्मूल्यांकन समितियों-रिपोर्टों का यह लंबा परिशीलन हमें निम्नलिखित निश्चित निष्कर्षों पर पहुँचाता है गांधी ने सामाजिक समरसता को भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का अभिन्न अंग बनाया यह अपने आप में ऐतिहासिक उपलब्धि थी। उन्होंने प्रतीकात्मक और नैतिक स्तर पर जो परिवर्तन किए, वे अभूतपूर्व थे। किन्तु संरचनात्मक स्तर पर भूमि- सुधार, पूँजी- पुनर्वितरण, जाति-आधारित श्रम- विभाजन का अंत वे जानबूझकर रुके रहे। उनकी असफलताएँ केवल व्यक्तिगत नहीं थी, वे उस पूरे युग की सीमाएँ थी जब एक प्राचीन सभ्यता आधुनिक राष्ट्र बनने की पीड़ा से गुजर रही थी। आज के भारत में जब संवैधानिक मूल्य, सामाजिक न्याय और बहुलतावादी लोकतंत्र खतरे में हैं, तब गांधी का अधूरा सपना फिर से प्रासंगिक हो उठता है लेकिन अब उसे आंबेडकर, पेरियार, लोहिया और समकालीन दलित-बहुजन- आदिवासी आंदोलनों के साथ संवाद में ही पूरा किया जा सकता है। गांधी एक अंत नहीं थे, वे एक आरंभ थे। उनकी सामाजिक समरसता की खोज आज भी जारी है नए प्रश्नों, नए संघर्षों और नए सपनों के साथ। प्रस्तुत शोध-पत्र का प्रयास यही है कि हम गांधी को न मिथक बनाएँ, न खारिज करें, बल्कि उन्हें इतिहास की उस जटिल धारा में रखकर समझें जिसमें वे खड़े थे, और जिस धारा को वे आगे बढ़ाना चाहते थे।

निष्कर्ष :-

प्रस्तुत शोध-पत्र का मूल उद्देश्य महात्मा गांधी की सामाजिक समरसता की अवधारणा को केवल नैतिक उपदेश या रणनीतिक चाल के रूप में नहीं, बल्कि भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की वैचारिक रीढ़ के रूप में पुनर्स्थापित करना तथा उसकी ऐतिहासिक गतिशीलता, अंतर्विरोधों एवं सीमाओं का संतुलित विश्लेषण प्रस्तुत करना रहा है। यह प्रयास दो अतिवादी दृष्टिकोणों एक ओर अंध-भक्तिपूर्ण महिमामंडन और दूसरी ओर नव-दक्षिणपंथी एवं कुछ नव- वामपंथी विमर्शों द्वारा गांधी को 'उच्च- जातीय सुधारवादी कहकर पूर्ण खारिज करने दोनों से मुक्त रहते हुए किया गया है। विश्लेषण से स्पष्ट हुआ कि गांधी ने स्वराज को केवल राजनीतिक सता- हस्तांतरण नहीं, बल्कि एक नए सामाजिक व्यवस्था की स्थापना का नाम दिया जिसमें जाति-भेद, संप्रदाय-भेद, लैंगिक भेद और ग्राम-नगर भेद समाप्त हो। उन्होंने अस्पृश्यता को हिन्दू धर्म का कलंक कहा, हिन्दू-

मुस्लिम एकता को स्वराज की पूर्व- शर्त माना, स्त्रियों को सार्वजनिक जीवन में अभूतपूर्व स्थान दिया और ग्राम- स्वराज के माध्यम से विकेन्द्रीकृत समरस समाज की कल्पना की। ये प्रयास राष्ट्रीय आंदोलन को उच्च- जातीय मध्य वर्ग की सीमित राजनीति से निकालकर जन-सामान्य की राजनीति बनाने में ऐतिहासिक रूप से सफल रहे। ये सीमाएँ केवल व्यक्तिगत कमजोरियों नहीं थीं। वे उस पूरे युग की सीमाएँ थी जब एक प्राचीन सभ्यता आधुनिक राष्ट्र-राज्य बनने की जटिल प्रक्रिया से गुजर रही थी। आजादी के 78 वर्ष बाद भी भारत जिस सामाजिक संकट से जूझ रहा है इस शोध का अंतिम उद्देश्य यह है कि हम गांधी की विरासत को आंबेडकर, पेरियार, लोहिया, भगत सिंह, मौलाना आजाद और समकालीन दलित-बहुजन-आदिवासी- स्त्री आंदोलनों के साथ संवाद में रखकर पढ़ें। केवल तभी गांधी का अधूरा समरसता–सपना आज के भारत में संवैधानिक मूल्यों, सामाजिक न्याय और बहुलतावादी लोकतंत्र के नए संघर्षों के साथ जीवंत हो सकता है। गांधी एक अंत नहीं थे, वे एक आरंभ थे। उनकी सामाजिक समरसता की खोज आज भी जारी है नए प्रश्नों, नए संघर्षों और नए सपनों के साथ। यह शोध- पत्र उसी खोज का एक विनम्र योगदान मात्र है।

संदर्भ :-

1. गांधी, मोहनदास करमचंद. *हिन्द स्वराज*. नवजीवन प्रकाशन मंदिर, 2010, पृ. 45. (मूल संस्करण 1909).
2. गांधी, मोहनदास करमचंद. *यंग इंडिया (1919–1932)*. नवजीवन प्रकाशन, 1981, पृ. 56.
3. आंबेडकर, भीमराव रामजी. *गांधी और कांग्रेस ने अछूतों के साथ क्या किया*. बहुजन प्रकाशन, 2017, पृ. 187. (मूल अंग्रेजी 1945).
4. आंबेडकर, भीमराव रामजी. *जाति का विनाश*. सम्यक प्रकाशन, 2018, पृ. 67. (मूल 1936).
5. आंबेडकर, भीमराव रामजी. *गांधी और कांग्रेस ने अछूतों के साथ क्या किया*. बहुजन प्रकाशन, 2017, पृ. 188.
6. नेहरू, जवाहरलाल. *भारत की खोज*. राजपाल एंड सन्स, 2017, पृ. 356. (प्रथम संस्करण 1946).
7. लोहिया, राममनोहर. *मार्क्स, गांधी और समाजवाद*. राममनोहर लोहिया समता ट्रस्ट, 1978, पृ. 112.
8. लोहिया, राममनोहर. *मार्क्स, गांधी और समाजवाद*. राममनोहर लोहिया समता ट्रस्ट, 1978, पृ. 123.
9. चंद्रा, बिपन. *भारत का स्वाधीनता संग्राम*. नेशनल बुक ट्रस्ट, 2017, पृ. 378. (प्रथम संस्करण 1987).
10. हसन, मुशीरुल. *गांधी और सांप्रदायिक समस्या*. राजकमल प्रकाशन, 2015, पृ. 89.
11. हसन, मुशीरुल. *गांधी और सांप्रदायिक समस्या*. राजकमल प्रकाशन, 2015, पृ. 90.
12. कीर, धनंजय. *डॉ. आंबेडकर: जीवन और मिशन*. बहुजन प्रकाशन, 2019, पृ. 234. (मूल मराठी 1954).
13. नंदी, अशिस. *गांधी के बाद का गांधी*. वाणी प्रकाशन, 2014, पृ. 78. (मूल अंग्रेजी 1998).
14. चटर्जी, पार्थ. *राष्ट्रवादी चिंतन और औपनिवेशिक विश्व*. वाणी प्रकाशन, 2012, पृ. 112. (मूल अंग्रेजी 1986).

आचार्य श्यामसुंदर दास : हिंदी भाषा और साहित्य के युगप्रवर्तक

डॉ. साकेत कुमार पाठक*
saketpathakkhmb1982@gmail.com

शोध सार

हिंदी भाषा और साहित्य के इतिहास में कुछ ऐसे युगनिर्माता व्यक्तित्व हुए हैं जिनके बिना इस भाषा की यात्रा अधूरी रह जाती। आचार्य श्यामसुंदर दास का नाम इस श्रेणी में अत्यंत गौरव के साथ लिया जाता है। उन्होंने हिंदी को न केवल व्याकरणिक शुद्धता और वैज्ञानिक स्वरूप दिया, बल्कि उसे राष्ट्रीय चेतना, सामाजिक जागरण और लोक-संवेदना की भाषा भी बनाया। उनका योगदान शब्दकोशकार, व्याकरणकार, आलोचक, इतिहासकार और शिक्षक प्रत्येक क्षेत्र में अनुपम और आदर्श है। हिंदी शब्दसागर जैसे महाग्रंथ का संपादन उनके जीवन की तपश्चर्या थी, जिसने हिंदी को संगठित रूप में प्रस्तुत किया। उन्होंने नागरी प्रचारिणी सभा के माध्यम से हिंदी भाषा के प्रचार, संरक्षण और मानकीकरण का कार्य जिस समर्पण के साथ किया, वह आज भी प्रेरणा देता है। हिंदी को उन्होंने न केवल साहित्य की, बल्कि राष्ट्र की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया।

मुख्य शब्द

हिंदी साहित्य, आचार्य श्यामसुंदर दास, नागरी प्रचारिणी सभा, हिंदी शब्दसागर, हिंदी आलोचना, उच्च हिंदी व्याकरण, हिंदी साहित्य का इतिहास, भाषा का मानकीकरण, साहित्यिक योगदान, राष्ट्रीय चेतना, हिंदी का विकास।

जीवन परिचय

आचार्य श्यामसुंदर दास का जन्म सन् 1875 ई. में उत्तर प्रदेश के वाराणसी नगर में हुआ। यह वही नगरी थी जहाँ वेद, दर्शन, संगीत और साहित्य की गंगा समानांतर बहती थी। वाराणसी का सांस्कृतिक वातावरण, उसकी पौराणिक परंपरा और विद्या की गूंज ने दास जी के बाल मन को गहराई से प्रभावित किया। बाल्यावस्था से ही उनमें अध्ययन के प्रति विलक्षण रुचि थी। संस्कृत, हिंदी और अंग्रेज़ी तीनों भाषाओं में उनकी पकड़ इतनी सशक्त थी कि युवा अवस्था में ही वे अपने समकालीनों में विद्वान और विवेकी समझे जाने लगे।

उन्होंने शिक्षा प्राप्त करने के बाद यह निश्चय किया कि उनका जीवन हिंदी भाषा और साहित्य की सेवा के लिए समर्पित रहेगा। उस समय हिंदी को न तो शासन की भाषा का दर्जा प्राप्त था और न ही उसे आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की भाषा के रूप में स्वीकार किया गया था। यह स्थिति उन्हें भीतर से विचलित करती थी। उन्होंने ठान लिया कि हिंदी को वैसा स्वरूप देना होगा जिससे यह केवल लोकभाषा नहीं, बल्कि राष्ट्रभाषा बनने की पात्रता प्राप्त करे। अपने इसी ध्येय के साथ उन्होंने हिंदी के मानकीकरण, व्याकरण, शब्दावली और इतिहास के क्षेत्र में अमूल्य योगदान दिया।

1945 ई. में उनका देहावसान हुआ, किंतु हिंदी जगत में उनकी विद्वत्ता और सेवा की छाप अमिट है। आज भी जब कोई हिंदी विद्वान शब्दसागर का पृष्ठ खोलता है, या आलोचना के मूल तत्त्वों पर विचार करता है, तो उसे दास जी की उपस्थिति महसूस होती है।

नागरी प्रचारिणी सभा और भाषा-सेवा

उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्ध हिंदी के लिए संघर्ष का काल था। एक ओर अंग्रेज़ी का वर्चस्व था, दूसरी ओर उर्दू के आधिकारिक उपयोग ने हिंदी को सीमित कर दिया था। ऐसे समय में आचार्य श्यामसुंदर दास ने कुछ समविचारी साथियों काशीनाथ त्रिवेदी, मदनमोहन मालवीय आदि के साथ मिलकर 1893 में नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी की स्थापना की।

* **सहायक शिक्षक, अन्नदा उच्च विद्यालय, हज़ारीबाग. पिन - 825301**

इस संस्था का उद्देश्य केवल हिंदी का प्रचार नहीं, बल्कि उसकी वैज्ञानिक संरचना, वर्तनी, व्याकरण और साहित्यिक परंपरा को पुनर्जीवित करना था। दास जी ने कहा था कि भाषा यदि शुद्ध और सुसंगत नहीं होगी, तो साहित्य की जड़ें दुर्बल हो जाएंगी। इस भावना से प्रेरित होकर उन्होंने सभा के माध्यम से हिंदी की प्राचीन ग्रंथ-संपदा का पुनर्पाठ प्रारंभ किया। नागरी प्रचारिणी सभा ने तुलसीदास, सूरदास, कबीर, बिहारी आदि कवियों की कृतियों के प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित किए। इसके अतिरिक्त इस संस्था ने हिंदी शब्दकोश निर्माण की दिशा में ऐतिहासिक पहल की, जिसका परिणाम था हिंदी शब्दसागर।

सभा के संरक्षण में हिंदी साहित्य का व्यवस्थित इतिहास तैयार हुआ, जिसके संपादन में दास जी का नेतृत्व निर्णायक था। वे सभा के प्राण, उसकी आत्मा और दिशा दोनों थे। इस संस्था ने हिंदी के लिए जो नींव रखी, उसी पर आधुनिक हिंदी साहित्य का भव्य भवन खड़ा हुआ।

हिंदी शब्दसागर : अनुपम योगदान

आचार्य श्यामसुंदर दास का सबसे बड़ा और अद्वितीय योगदान है हिंदी शब्दसागर। आठ खंडों में विस्तृत यह ग्रंथ हिंदी का पहला व्यवस्थित और प्रामाणिक शब्दकोश है। इस कार्य में उन्हें लगभग बीस वर्षों का समय लगा। यह न केवल शब्दों का संग्रह है, बल्कि हिंदी भाषा की विकास यात्रा का जीवंत अभिलेख है। शब्दसागर में प्रत्येक शब्द के अर्थ के साथ उसका व्युत्पत्ति-विश्लेषण, साहित्यिक संदर्भ और प्रयोग-परंपरा दी गई है। इससे हिंदी शब्दों की उत्पत्ति, प्रयोग और अर्थ-विकास को समझने में अपूर्व सहायता मिलती है। शब्दसागर का स्वरूप इतना विस्तृत और गहन था कि उसे हिंदी का ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी कहा गया।

इसके निर्माण से हिंदी भाषा को एक वैज्ञानिक दिशा मिली। शब्दसागर ने सिद्ध कर दिया कि हिंदी किसी लोकभाषा का संग्रह मात्र नहीं, बल्कि एक समृद्ध, वैज्ञानिक और मानकीकृत भाषा है। यह ग्रंथ हिंदी को राष्ट्रभाषा बनने की राह पर अग्रसर करने वाला प्रमाण बन गया।

साहित्यिक कृतियाँ और आलोचना का स्वरूप

आचार्य दास केवल शब्दकोशकार नहीं, बल्कि उच्च कोटि के साहित्यिक चिंतक और आलोचक भी थे। उनकी प्रमुख रचनाएँ साहित्य के प्रश्न, काव्य के रूप, उच्च हिंदी व्याकरण और हिंदी साहित्य का इतिहास हिंदी आलोचना और शिक्षण परंपरा की आधारशिला हैं। साहित्य के प्रश्न में उन्होंने साहित्य की प्रकृति, उद्देश्य और लोकमंगल की अवधारणा पर विचार किया। उनके अनुसार, साहित्य समाज का दर्पण नहीं, उसका निर्माता है। यह विचार आगे चलकर आचार्य रामचंद्र शुक्ल और नामवर सिंह जैसे आलोचकों के लिए प्रेरणा बना। काव्य के रूप में उन्होंने काव्य की शैलियों, रस-सिद्धांत और काव्य-रचना की प्रक्रिया पर तर्कपूर्ण विमर्श किया। यह ग्रंथ हिंदी आलोचना को दार्शनिकता और तार्किकता दोनों प्रदान करता है।

उच्च हिंदी व्याकरण में उन्होंने हिंदी की ध्वनि, रूप और वाक्य-रचना को वैज्ञानिक पद्धति से व्याख्यायित किया। यह हिंदी व्याकरण का ऐसा मानक ग्रंथ बना जो आज भी विश्वविद्यालयों में आदर्श माना जाता है। हिंदी साहित्य का इतिहास, जिसे नागरी प्रचारिणी सभा ने प्रकाशित किया, हिंदी साहित्य की परंपरा को क्रमबद्ध रूप से प्रस्तुत करने का प्रथम संगठित प्रयास था। यह कृति हिंदी साहित्य को युगों में विभाजित करने और उसके विकास को समझाने की दिशा में मील का पत्थर सिद्ध हुई।

इन सभी रचनाओं से यह स्पष्ट होता है कि आचार्य दास केवल शब्दों के साधक नहीं, बल्कि चिंतन के पुरोधा भी थे। उन्होंने हिंदी आलोचना को भावनात्मक नहीं, बल्कि वैज्ञानिक और तर्कपूर्ण स्वरूप दिया।

शिक्षण और समाजसेवा

आचार्य श्यामसुंदर दास लंबे समय तक काशी हिंदू विश्वविद्यालय से संबद्ध रहे। वे एक ऐसे शिक्षक थे जिनका उद्देश्य केवल ज्ञान देना नहीं, बल्कि शिष्य के भीतर राष्ट्रीयता, अनुशासन और सृजनशीलता का संस्कार भरना था। वे कहा करते थे

शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को समाज के प्रति जिम्मेदार बनाना है। उनके विद्यार्थियों में अनेक ऐसे नाम हैं जिन्होंने आगे चलकर हिंदी की धारा को समृद्ध किया। दास जी कक्षा में केवल पाठ नहीं पढ़ाते थे, बल्कि भाषा की आत्मा से विद्यार्थियों का परिचय कराते थे।

समाज के प्रति भी वे गहरी संवेदना रखते थे। उनका मानना था कि हिंदी जैसी लोकभाषा ही भारत की आत्मा का प्रतिबिंब है। यदि यह भाषा प्राणवान रहेगी, तो राष्ट्र की संस्कृति भी जीवित रहेगी। उन्होंने हमेशा हिंदी को शिक्षा, प्रशासन और जनसंपर्क की भाषा बनाने की आवश्यकता पर बल दिया। यह दृष्टिकोण आगे चलकर राष्ट्रभाषा आंदोलन की प्रेरणा बना।

व्यक्तित्व और दृष्टिकोण

आचार्य दास का व्यक्तित्व सरलता और गंभीरता का सुंदर संगम था। वे बाह्य प्रदर्शन से दूर रहते थे, किंतु विद्या के क्षेत्र में उनका तेज अपरिहार्य था। उनके जीवन में अनुशासन, श्रम और निष्ठा का असाधारण समन्वय था। वे मानते थे कि भाषा केवल अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं, बल्कि संस्कृति की आत्मा है। उन्होंने परंपरा और आधुनिकता दोनों के बीच संतुलन साधा। उनका दृष्टिकोण न तो अंध-परंपरावादी था, न ही अंध-आधुनिकतावादी। वे चाहते थे कि हिंदी आधुनिक ज्ञान-विज्ञान को आत्मसात करे, परंतु अपनी लोक-जड़ों से कभी न कटे।

उनकी आलोचनात्मक दृष्टि न्यायप्रिय थी। वे किसी लेखक का मूल्यांकन उसकी रचना की गुणवत्ता के आधार पर करते थे, न कि व्यक्तिगत झुकाव के अनुसार। यह निष्पक्षता ही उन्हें हिंदी आलोचना का प्रथम पथ-प्रदर्शक बनाती है।

हिंदी भाषा में बहुआयामी योगदान

हिंदी भाषा के क्षेत्र में आचार्य श्यामसुंदर दास का योगदान इतना व्यापक है कि उसे कुछ शब्दों में समेटना कठिन है। उन्होंने हिंदी को जो स्वरूप दिया, उसने भाषा की संपूर्ण प्रणाली को एक दिशा दी।

1. उन्होंने हिंदी को वैज्ञानिक और मानकीकृत व्याकरण प्रदान किया, जिससे यह शिक्षण की उपयुक्त भाषा बन सकी।
2. हिंदी शब्दसागर के माध्यम से उन्होंने शब्द-संपदा का ऐसा भंडार तैयार किया जो भाषा के लिए शास्त्र की तरह है।
3. उन्होंने साहित्यिक आलोचना को संगठित और तर्कसंगत आधार प्रदान किया, जिससे हिंदी में बौद्धिक विमर्श की परंपरा प्रारंभ हुई।
4. हिंदी साहित्य का इतिहास प्रस्तुत कर उन्होंने साहित्य को समय और समाज के परिप्रेक्ष्य में देखने का दृष्टिकोण दिया।
5. उन्होंने शिक्षण संस्थानों में हिंदी के प्रयोग को बढ़ावा दिया, जिससे हिंदी शिक्षा की मुख्य धारा में आई।
6. उन्होंने हिंदी को राष्ट्रीय आंदोलन का औजार बनाया, जिससे यह जनता की आवाज़ बन सकी।

आचार्य दास की परंपरा और वर्तमान संदर्भ

आज जब हिंदी वैश्विक स्तर पर अपनी पहचान बना रही है, जब यह संयुक्त राष्ट्र और तकनीकी दुनिया में प्रयोग हो रही है, तब आचार्य दास के कार्य और विचार और भी अधिक प्रासंगिक हो उठते हैं। उन्होंने जिस मानक हिंदी की कल्पना की थी, वही आज हमारे पाठ्यक्रमों, प्रसारणों और प्रशासनिक प्रयोगों का आधार है। उनका यह विश्वास कि हिंदी ही भारत की आत्मा है आज भी सत्य प्रतीत होता है। सूचना प्रौद्योगिकी, डिजिटल मीडिया और अंतरराष्ट्रीय मंचों पर हिंदी के बढ़ते प्रभाव में दास जी के उस प्रयास की झलक मिलती है, जिसने हिंदी को वैज्ञानिक और समृद्ध स्वरूप प्रदान किया।

वे हमें यह सिखाते हैं कि किसी भाषा की असली ताकत उसके प्रयोग में नहीं, बल्कि उसके प्रति हमारे भाव में निहित होती है। यदि हम भाषा को अपनी अस्मिता का अंग मानें, तो वह सशक्त होती जाती है।

निष्कर्ष

आचार्य श्यामसुंदर दास हिंदी भाषा और साहित्य के ऐसे महामानव थे जिनका योगदान कालातीत है। उन्होंने हिंदी को केवल साहित्यिक गरिमा ही नहीं दी, बल्कि उसे राष्ट्रीय चेतना और सामाजिक परिवर्तन का माध्यम भी बनाया। उनका जीवन तपस्या, साधना और समर्पण का प्रतीक है।

वे इस बात के जीवंत प्रमाण हैं कि एक व्यक्ति की निष्ठा और परिश्रम किसी भाषा को विश्वस्तरीय पहचान दिला सकता है। उन्होंने दिखाया कि जब भाषा अपने समाज से जुड़ती है, तो वह केवल अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि परिवर्तन का औजार बन जाती है। आज हिंदी के प्रत्येक विद्यार्थी, अध्यापक और शोधार्थी के लिए आचार्य दास प्रेरणा के शिखर हैं। उनके द्वारा किए गए कार्यों ने हिंदी को वह बौद्धिक आधार दिया, जिस पर आज की पूरी भाषा-व्यवस्था खड़ी है।

उनका नाम केवल इतिहास का हिस्सा नहीं, बल्कि हिंदी की आत्मा का पर्याय है। हिंदी जगत उनके प्रति सदा कृतज्ञ रहेगा। क्योंकि उन्होंने शब्दों को जीवन दिया और जीवन को शब्दों में ढाल दिया। वे न केवल एक विद्वान थे, बल्कि हिंदी भाषा और संस्कृति के अमर प्रहरी थे।

सन्दर्भ :-

1. दास, श्यामसुंदर. (1920). *साहित्य के प्रश्न*. वाराणसी: नागरी प्रचारिणी सभा.
2. दास, श्यामसुंदर. (1925). *काव्य के रूप*. वाराणसी: नागरी प्रचारिणी सभा.
3. दास, श्यामसुंदर. (1930). *उच्च हिंदी व्याकरण*. वाराणसी: नागरी प्रचारिणी सभा.
4. दास, श्यामसुंदर (सम्पा.). (1916–1937). *हिंदी शब्दसागर* (खंड 1–8). वाराणसी: नागरी प्रचारिणी सभा.
5. शुक्ल, रामचंद्र. (1929). *हिंदी साहित्य का इतिहास*. प्रयाग: इंडियन प्रेस.
6. सिंह, नामवर. (1954). *हिंदी आलोचना की भूमिका*. दिल्ली: राजकमल प्रकाशन.
7. सिंह, नागेंद्र. (1985). *हिंदी साहित्य का इतिहास और आलोचना*. दिल्ली: लोकभारती प्रकाशन.
8. गुप्त, रामचंद्र. (1990). *हिंदी साहित्य और आलोचना*. वाराणसी: विश्वविज्ञान प्रकाशन.
9. सिंह, श्यामसुंदर. (2005). *आचार्य श्यामसुंदर दास और हिंदी का विकास*. वाराणसी: भारती भवन.
10. नागरी प्रचारिणी पत्रिका. *विशेषांक*. वाराणसी: नागरी प्रचारिणी सभा.
11. त्रिपाठी, विष्णुकांत. (1982). हिंदी शब्दसागर का भाषिक महत्त्व. *भारती*, (अंक 15), वाराणसी.
12. शर्मा, सुरेशचंद्र. (1998). आचार्य श्यामसुंदर दास का आलोचनात्मक व्यक्तित्व. *हिंदी साहित्य समीक्षा*. दिल्ली: दिल्ली विश्वविद्यालय.
13. पांडेय, माधवराम. (2003). नागरी प्रचारिणी सभा का हिंदी आंदोलन. *भाषा भारती*, (अंक 21), लखनऊ.
14. आचार्य, हरिनारायण. (1995). *भारतीय भाषाशास्त्र की भूमिका*. दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास.

भूमंडलीकरण और आर्थिक उदारीकरण

अजय पाण्डेय*

ajaypandey734@gmail.com

सारांश:

भूमंडलीकरण के युग में विज्ञापन को बाजार के विश्व विजय अभियान के लिए हथियार के रूप में प्रयोग किया जा रहा है। आधुनिक जीवन-शैली तथा बाजार आधारित संस्कृति की बड़ी शक्तिशाली शक्ति के रूप में यह उभरा है। आज मीडिया का पूरा वजूद विज्ञापन पर टिका है क्योंकि समाचार पत्रों आदि का प्रकाशन व्यवसाय बन चुका है। मुंबई में 'बांबे मिरर' नामक समाचार पत्र का वितरण तीन महीने तक वायुसेना कर्मचारियों के घरों में मुफ्त किया गया। बाद में देखा गया कि लोग इसके कायल हो गए और इस प्रकार यह बाजार में अपनी जगह बनाने में कामयाब हो गया। शुरू के तीन महीनों में यह विज्ञापन द्वारा पैसे कमाता रहा। पत्र-पत्रिकाओं तथा इलेक्ट्रॉनिक मीडिया को विज्ञापन ने एक नया कलेवर दिया है। पूरी पश्चिमी सभ्यता तथा संस्कृति विज्ञापनों द्वारा फल-फूल रही है। प्रिंट मीडिया पर तो इसका वर्चस्व इस कदर है कि यदि यह कहा जाए कि आज के पत्र आदर्शों के बजाय विज्ञापन की नींव पर खड़े हैं तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। भूमण्डलीकरण और आर्थिक उदारीकरण के काल में मीडिया ने विज्ञापनों के जरिए एक क्रांति पैदा कर दी।

शब्द-सूत्र: *भूमंडलीकरण, उदारीकरण, विज्ञापन, अर्थव्यवस्था, पूँजीवाद*

मुख्य आलेख:

भूमंडलीकरण का अर्थ है वैश्विक पूँजीतंत्र के वाहक देशों, खास तौर से अमेरिका की शरण में पूरी दुनिया के पिछड़े, भूख, बीमारी और अशिक्षा से जूझते देशों को ले आना। तकनीकी तौर पर कहा जाता है कि भूमंडलीकरण के अंतर्गत इंटरनेट, कंप्यूटर, सेटेलाइट टीवी आदि संचार के नवीनतम माध्यमों से पूरी दुनिया को जोड़ना और केवल आर्थिक-राजनीतिक स्तर पर नहीं बल्कि सामाजिक-सांस्कृतिक स्तर पर भी। इसी से मालूम पड़ता है कि इसका क्षेत्र कितना व्यापक और जटिलतापूर्ण है। यही कारण है कि इसकी कोई एक सर्वमान्य परिभाषा नहीं दी जा सकती।

भूमंडलीकरण एक ऐसा व्यापक और जटिल पद है जिसकी कोई सर्वमान्य परिभाषा नहीं दी जा सकती क्योंकि यह ऐसा यथार्थ है जो जटिल है, जीवन के हर क्षेत्र में इसकी दखल हो रही है। कुमुद शर्मा भूमण्डलीकरण को इस प्रकार परिभाषित करती हैं- "तकनीकी और संचार क्रांति ने विश्व को समेटकर एक 'विश्व ग्राम' यानी 'ग्लोबल विलेज' में बदल दिया है। विश्व ग्राम की वह परिकल्पना मार्शल मैक्लूहान की थी, परंतु हमारे यहाँ इस अवधारणा के मूल स्वर पहले से ही विद्यमान हैं।"[1] मगर यहाँ यह देखना जरूरी है कि वैदिक साहित्य में विश्व ग्राम की अवधारणा के पीछे जो आदर्श है, आज का भूमंडलीकरण इससे भिन्न है। जवाहरलाल कौल भूमण्डलीकरण की व्याख्या इन शब्दों में करते हैं- "ग्लोबलाइजेशन या वैश्वीकरण वैसा ही शब्द बनता जा रहा है जैसे कभी कम्यूनिज्म (साम्यवाद) और कल तक पूँजीवाद थे। एक नारा, एक विचारधारा, एक समर नीति और एक सपना भी, लेकिन यह है क्या ? जिसे कुछ लोग 'पाप वृत्ति' तो कुछ लोग मानव जाति के सुखद भविष्य का विराट कार्यक्रम मानते हैं। सामान्यतः वैश्वीकरण विश्व के विभिन्न देशों के बीच आर्थिक संबंधों, सहयोग और विनिमय को व्यापकता तथा गहराई देने की प्रक्रिया को कह सकते हैं।"[2] मगर प्रभा खेतान का मत इससे बिलकुल भिन्न है - "भूमण्डलीकरण जोड़ने और तोड़ने वाली बिखराव भरी प्रक्रिया है। जातीयता और राष्ट्रीयता पर इसके प्रभाव से कोई इंकार नहीं कर सकता है।"[3] इससे थोड़ा

* **शोधार्थी, हिंदी विभाग, विनोबा भावे विश्वविद्यालय, हजारीबाग।**

और गहराई में उतरते हुए माइकेल हार्ट एवं एंटोनियो नेग्री अपनी पुस्तक 'साम्राज्य' में भूमण्डलीकरण को परिभाषित करते हुए लिखते हैं- "विश्व की यह नई परिस्थिति एक संजाल है, जिसमें दुनिया की महत्वपूर्ण संस्थाओं की परा-राष्ट्रीय पूँजी लगी हुई है।"[4]

मगर भूमंडलीकरण का दायरा सिर्फ पूँजी के विश्वव्यापी विस्तार तक सीमित नहीं किया जा सकता। यह पूरी दुनिया में नए साम्राज्यवाद के विस्तार की विश्वव्यापी प्रक्रिया है जिसके अंतर्गत राष्ट्रों की राजनीतिक सत्ता ही नहीं, संस्कृति, सामाजिक मूल्य और संबंध चेतना तक शामिल है। अभय कुमार दुबे भूमण्डलीकरण की परिभाषा देते हुए इस व्यापकता को प्रस्तुत करते हैं- "भूमण्डलीकरण को सामाजिक संबंधों के विश्वव्यापी सघनीकरण के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो दूर-दूर स्थित स्थानीयताओं को आपस में जोड़ देता है। यह सूत्र कुछ इस तरह से काम करता है कि स्थानीयताओं के दायरे में होने वाली घटनाओं की शक्ल-सूरत उनसे बहुत दूर चल रहे घटनाक्रम के आधार पर बनती है और ऐसा ही असर स्थानीयताओं का घटनाक्रम स्वयं को प्रभावित कर रही सुदूर घटनाओं पर डालता है।"[5]

निस्संदेह इस परिभाषा में मार्क्स के इस कथन का प्रभाव दिखलाई देता है जो उन्होंने कहा था कि- "अपने उत्पादों के बाजार की तलाश बुर्जुआ को पूरे भूमण्डल में दौड़ाती है। इसे अपना नीड़ सर्वत्र बनाना है, इसे हर जगह बसना है, इसे अपना संबंध सर्वत्र फैलाना है।"[6]

मार्क्स का उक्त कथन स्पष्ट करता है कि भूमण्डलीकरण के लिए देश या राष्ट्र की सीमा बेमानी है। यह भौगोलिक सीमाओं को नहीं मानता है। यह अपनी व्यापारिक नीतियों तथा अनुबंधों को लेकर दूसरे राष्ट्र में प्रवेश करता है जिसके साथ-साथ वहाँ की संस्कृति का प्रवाह भी होने लगता है। संस्कृतियों का आदान-प्रदान तथा उन्मुक्त व्यापार मानव को विश्व मानव बना देता है। व्यक्ति की राष्ट्रीय चेतना लुप्त होने लगती है तथा उसकी 'सामूहिकता' का ह्रास होने लगता है और उसकी सोच 'स्व' तक सीमित रहने लगती है। यह व्यक्ति को देश, संस्कृति तथा सभ्यता से विलग करके अपने व्यापारिक हितों को पोषित करता है।

चूँकि, मुक्त बाजार व्यवस्था को यह प्रोत्साहित करता है अतः उपभोक्ता ही सर्वोच्च बनने लगता है। इसके अस्तित्व के प्रारंभ में कल्पना की गई थी कि यह गुणवत्ता तथा मूल्य के आधार पर स्वस्थ प्रतियोगिता को बढ़ावा देगा परंतु यह अनावश्यक चीजों को जरूरी वस्तु के रूप में स्थापित करके हमें उनका भोगी बनाता जा रहा है।

मनुष्य को उपभोक्तावादी बनाने के लिए यह पहले व्यक्ति की वैचारिकता पर कब्जा करता है। भूमण्डलीकरण को सबसे अधिक खतरा विचार से ही नजर आता हैं। यह अपनी ओछी नीयत के कारण ही यह नीति अपनाते हैं कि समाज छोटी-छोटी लड़ाइयों में उलझा रहे और उसे सोचने-विचारने की दृष्टि से वंचित रखा जा सके। मीडिया के विभिन्न घटकों द्वारा यह बाजार पर कब्जा कर लेता है तथा पूरी दुनिया को एक वैश्विक बाजार में तब्दील करने का प्रयत्न करता है। इसके लिए हर चीज बिकने योग्य होती है। इस उपभोक्तावादी संस्कृति का सृजन विज्ञापन के माध्यम से होता है। इस बाजार तंत्र की शक्ति यह है कि सूचना जगत पर इसका पूरा अधिकार है। टी०वी० के अनेक चैनल राष्ट्र एवं समाज के सरोकार की खबरों को तवज्जो न देकर सेलिब्रिटीज की दिनचर्या तथा मॉडल के टॉप खिसकने की न्यूज को सुर्खियों तथा ब्रेकिंग न्यूज के रूप में परोस रहे हैं। जगदीश चतुर्वेदी ने अपनी पुस्तक 'सूचना समाज' में लिखा है- "आज दुनिया में 'सूचना औद्योगिक समूह' का वर्चस्व तेजी से बढ़ रहा है। जीवन के प्रत्येक पहलू को इसने प्रभावित किया है।"[7]

बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने हमेशा साम्राज्यवादी और बड़े पूँजीवादी देशों के हित में कार्य किया तथा उपभोक्ताओं और ग्राहकों की भीड़ तैयार की। इसका परिणाम यह हुआ कि घरेलू उत्पाद निरंतर कम होने लगे। सूचना क्रांति के माध्यम से इन देशों ने अपना प्रभामंडल विकसित किया है। ये कंपनियाँ देश-विदेश में पंजीकृत होकर अपना व्यापार फैला देती हैं। बाजार में पैर जमाने के लिए इनके पास हर तरह के हथकंडे हैं। विकासोन्मुख राष्ट्र अपनी आर्थिक मजबूरियों के कारण इनको चाहकर भी खारिज करने का साहस नहीं कर पाते हैं। भारत में आर्थिक उदारीकरण के दौर में बहुराष्ट्रीय कंपनियों का विकास तीव्र गति से हुआ और बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ इसका आधार हैं। इन कंपनियों के कारण स्थानीय और कुटीर उद्योग मंदी की तरफ चले गए। माँग कम हुई तो उत्पादन भी कम होता गया और इनके अस्तित्व पर संकट आ गया। लाचार स्वदेशी कंपनियाँ या तो बंद कर दी गईं या उनका बड़ी कंपनियों में विलय हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि ग्राहक वर्ग को देशी सस्ते माल की बजाय विदेशों

का महँगा माल खरीदने के लिए बाध्य होना पड़ा। मुफ्त उपहार, इनामी योजनाएँ इनके कारगर हथियार हैं। दुनिया की लगभग साठ हजार बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने पूरे संसार को अपने मकड़जाल में बाँध रखा है। आज ऐसी बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ भी अस्तित्व में आ चुकी हैं जो कि अंतरिक्ष की सैर कराने का इश्तहार दे रही हैं।

भूमण्डलीकरण जो कि 'मुक्त बाजार' का समर्थक है जिसे 'बाजार का लोकतंत्र', 'नव उदार लोकतंत्र' तथा 'मुक्त आर्थिक व्यवस्था' के नाम से भी अभिव्यक्त किया जाता है, आर्थिक उदारीकरण से गतिशीलता को प्राप्त करता है। भारत जैसे तीसरी दुनिया के देशों में आर्थिक उदारीकरण की शुरुआत में गरीबों की सुख-समृद्धि का नारा दिया गया था परंतु इसके कारण अमीर-गरीब के फासले कम नहीं हुए वरन इनके बीच की खाईं और ज्यादा बढ़ती गयी। तीसरी दुनिया के देशों के साम्राज्यवादी शोषण पर आधारित इस भूमण्डलीय उदारीकरण के चलते विकासशील देशों को आर्थिक संकट से मुक्ति नहीं मिल सकी बल्कि वे अन्य तरह के आर्थिक दुष्चक्र में फँसते चले गए। भूमण्डलीकरण की एक प्रमुख विशेषता है- समरूपीकरण। यानी यह जातीय एवं सांस्कृतिक विभेद, अस्मिताओं के बीच की विविधताओं आदि को मिटाकर एक समान संस्कृति, समान सभ्यता तथा समान रुचियों का 'विश्व मॉडल' बनाने के अभियान में लगा है। दुनियाँ में अनेक सभ्यताएँ, संस्कृतियाँ और जातीय विशेषताएँ हैं, लेकिन यह उन सभी सभ्यताओं तथा संस्कृतियों का एकीकरण करने का निरंतर प्रयास करता है। इस प्रकार इस समरूपीकरण को सूचना प्रौद्योगिकी की नई तकनीक से बहुत मदद मिली है। आज के नये मीडिया द्वारा 'वैश्विक संस्कृति' के प्रचार-प्रसार का जो अभियान चलाया जा रहा है, उसने निश्चय ही भूमंडलीकरण के पूरे ताने-बाने को खड़ा करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

विश्व बाजार समानता तथा समन्वय की बात करता है। भूमण्डलीकरण अपने व्यवहार में समानता और समन्वय के बिल्कुल विपरीत है। इसका समरूपी चरित्र तनिक भी व्यावहारिक नहीं है बल्कि यह मूलतः गरीब देशों के शोषण तथा अधिनायकवाद की नींव पर खड़ा है। इसके प्रभाव से कोई भी अछूता नहीं है। सभी देशों एवं उसके हर श्रेणी के नागरिकों को इसने अपनी गिरफ्त में ले लिया हैं। इसने हमें पूरी तरह से अपनी ओर खींच लिया है। समाज का कोई भी वर्ग इससे अछूता नहीं रह गया। राजनीतिक पार्टियाँ, नौकरशाह, समाजसेवी, विचारक, चिंतक तथा पर्यावरणविद् सब इसके पक्ष या विपक्ष में खड़े हैं। भारत के संदर्भ में ही देखें तो वास्तविकता यह है कि नब्बे के दशक के बाद कोई भी गठबंधन या पार्टी सत्ता में रही हो सभी ने इसका समर्थन ही किया है।

भूमण्डलीकरण ने जहाँ एक ओर लोगों के जीवन को भौतिक समृद्धि की दृष्टि से काफी ऊँचा उठाया वहीं इसका दूसरा पक्ष गरीब को और अधिक गरीब बनाने की स्थिति में ले गया। खुशहाली का छद्म रचते हुए यह देश में बढ़ती हुई गरीबी तथा भुखमरी को लगातार और अधिक बढ़ाता जा रहा है। यह हमारे परंपरागत कुटीर उद्योगों तथा हस्तकला को नष्ट करने पर तुला हुआ है। बड़ी-बड़ी मशीनें सैकड़ों आदमियों का काम कम समय तथा कम लागत में कर देती हैं तो जाहिर है कि इससे देश में बेरोजगारी लगातार बढ़ती जा रही है। दरिद्रतर देशों की संख्या भारत ही नहीं बल्कि दुनिया भर में बढ़ने लगी है। नीति निर्धारक अपनी नीतियाँ उन चंद उद्योगपतियों से प्रभावित होकर बनाते हैं जिन्हें उपभोक्तावाद और आर्थिक उदारीकरण से अपने विशेष क्षेत्रों में दूसरे देशों में थोड़ा-बहुत प्रवेश मिल जाता है। भारतीय अर्थव्यवस्था के इन नये भूमण्डलीय रूप ने सामाजिक और मानवीय संबंधों के बहुत सारे मिथ तोड़ दिए हैं। इसके कारण जो परिणाम सामने आए हैं उनसे राजनैतिक, सामाजिक, प्रौद्योगिक हस्तांतरण, बहुराष्ट्रीय कंपनियों की पारदर्शिता और व्यापारिक नैतिक मानदण्डों, उनकी क्षमता, विकास की धारणा आदि को लेकर गहरे अंतर्विरोध की तस्वीर उभरती है।

जब हम भूमण्डलीकरण के आर्थिक पक्ष की बात करते हैं तो उसका सामान्य अर्थ यह होता है कि दुनिया के तमाम देश बिना किसी रोक-टोक तथा सीमाओं के बंधन से मुक्त होकर व्यापार कर सकें। जहाँ तक इसके प्रारंभ की बात है तो इसकी शुरूआत 19वीं शताब्दी में ही हो चुकी थी, उन दिनों मार्क्स ने दुनिया के मजदूरों को एक होने का संदेश दिया था, किंतु पूँजीवाद के एक होने का संदेश देने वाला भूमंडलीकरण प्रथम विश्व युद्ध के दौरान शुरू हुआ। भूमण्डलीकरण का प्रारंभ तो उन्नीसवीं शताब्दी की शुरुआत में ही हो गया था परंतु प्रथम विश्व युद्ध के काल से इसका प्रसार हुआ। उन्मुक्त व्यापार और पूँजी का खुला प्रसार इसकी मुख्य विशेषताएँ हैं। इसके आर्थिक पक्ष की चर्चा कैटो इंस्टीट्यूट के टॉम जी पाल्मर इस तरह करते हैं कि वस्तुओं का सीमाओं के पार निर्बाध रूप से आवागमन उत्पादन क्षमता की वृद्धि करता है। भारत में भूमंडलीकरण की प्रक्रिया यों तो सत्तर के दशक में हो चुकी थी, पर इसको मूर्त रूप मिला 1990 के अंत में जब विदेशी कर्ज का संकट तथा खाड़ी युद्ध के

पश्चात तेल की कीमतों में अनियंत्रित वृद्धि हुई जिसके कारण सन् 1991 में भारत अंतर्राष्ट्रीय भुगतानों का अपना वादा नहीं पूरा करने की स्थिति में था। नरसिंह राव सरकार के सामने एकमात्र विकल्प बचा था कि विदेशों से नया कर्ज लिया जाय और कोई चारा इसके अलावे नहीं था। विश्व बैंक ने भारत पर अपनी कई शर्तों पर कर्ज देने की स्वीकृति दी जिसके अंतर्गत बहुराष्ट्रीय कंपनियों को भारत में व्यापार करने की छूट तथा उदारवादी खुली अर्थव्यवस्था की कड़ी शर्तें थीं। तत्कालीन भारत सरकार को इन्हें मानना पड़ा।

भूमंडलीकरण के युग में विज्ञापन को बाजार के विश्व विजय अभियान के लिए हथियार के रूप में प्रयोग किया जा रहा है। आधुनिक जीवन-शैली तथा बाजार आधारित संस्कृति की बड़ी शक्तिशाली शक्ति के रूप में यह उभरा है। आज मीडिया का पूरा वजूद विज्ञापन पर टिका है क्योंकि समाचार पत्रों आदि का प्रकाशन व्यवसाय बन चुका है। मुंबई में 'बांबे मिरर' नामक समाचार पत्र का वितरण तीन महीने तक वायुसेना कर्मचारियों के घरों में मुफ्त किया गया। बाद में देखा गया कि लोग इसके कायल हो गए और इस प्रकार यह बाजार में अपनी जगह बनाने में कामयाब हो गया। शुरू के तीन महीनों में यह विज्ञापन द्वारा पैसे कमाता रहा। पत्र-पत्रिकाओं तथा इलेक्ट्रॉनिक मीडिया को विज्ञापन ने एक नया कलेवर दिया है। पूरी पश्चिमी सभ्यता तथा संस्कृति विज्ञापनों द्वारा फल-फूल रही है। प्रिंट मीडिया पर तो इसका वर्चस्व इस कदर है कि यदि यह कहा जाए कि आज के पत्र आदर्शों के बजाय विज्ञापन की नींव पर खड़े हैं तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। भूमण्डलीकरण और आर्थिक उदारीकरण के काल में मीडिया ने विज्ञापनों के जरिए एक क्रांति पैदा कर दी।

पश्चिमी संस्कृति उपभोग को प्रमुख स्थान देती है तथा उपभोक्तावादी संस्कृति का पोषण कर रही है। यह संस्कृति आलीशान बंगलों, देशी-विदेशी गाड़ियों और ग्लैमर से जुड़े परिवार को प्रोत्साहित करती है। यह संस्कृति व्यक्ति को जीवन मूल्यों से विरक्त करके अपनी स्वच्छंद जिंदगी जीने को प्रेरित करती है। इसने लोगों के अंदर धन लोलुपता का अतिरेकी उन्माद पैदा कर दिया है। सही-गलत किसी भी तरीके से व्यक्ति रातों-रात अमीर बनना चाहता है। जीवन मूल्य उसके लिए परिहास की बात बनकर रह गए हैं। भूमण्डलीकरण ने जीवन के केंद्र में अर्थ को ला दिया है। सामूहिकता का क्षरण होता जा रहा है और ऐसा भास होता है कि प्रगति की लोक अवधारणा कहीं बहुत पीछे छूट गयी है। हम इस आयातित संस्कृति के संजाल में लगातार फँसते जा रहे हैं और इसे अपनाने में गर्व की अनुभूति करते हैं।

संदर्भ-

1. शर्मा, कुमुद. (2003). *भूमंडलीकरण और मीडिया*. नई दिल्ली: ग्रंथ अकादमी. पृ. 13.
2. शर्मा, कुमुद. (2003). *भूमंडलीकरण और मीडिया*. नई दिल्ली: ग्रंथ अकादमी. पृ. 14.
3. खेतान, प्रभा. (2008). *भूमंडलीकरण: ब्रांड संस्कृति और राष्ट्र* (द्वितीय संस्करण). नई दिल्ली: सामयिक प्रकाशन. पृ. 31.
4. खेतान, प्रभा. (2008). *भूमंडलीकरण: ब्रांड संस्कृति और राष्ट्र* (द्वितीय संस्करण). नई दिल्ली: सामयिक प्रकाशन. पृ. 177.
5. दुबे, अभय कुमार (संपा.). (2003). *भारत का भूमंडलीकरण*. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन. पृ. 38.
6. सिन्हा, सच्चिदानन्द. (2005). *भूमंडलीकरण की चुनौतियाँ* (द्वितीय संस्करण). नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन, भूमिका से.
7. शर्मा, कुमुद. (2003). *भूमंडलीकरण और मीडिया*. नई दिल्ली: ग्रंथ अकादमी. पृ. 84.

A Study on Role of Artificial Intelligence in Education Sectors in India

DR. PRIYANKA KUMARI*
pkumari080188@gmail.com

Abstract:

The integration of Artificial Intelligence (AI) in the education sector has the potential to revolutionize learning and teaching methodologies, particularly in a diverse and populous country like India. This study explores the challenges and opportunities of AI on the Indian education landscape, highlighting how AI-driven tools and platforms are enhancing personalized learning, improving administrative efficiency, and bridging educational disparities. With AI-powered adaptive learning systems, students receive tailored educational content based on their individual learning styles and progress, fostering a more inclusive and effective learning environment. Moreover, AI is aiding educators by automating routine tasks such as grading and attendance, allowing them to focus more on interactive and creative teaching methods.

Keywords

Artificial Intelligence (AI), Education, creative teaching and learning environment

1. Introduction

Artificial Intelligence (AI) is rapidly transforming various sectors, with education being one of the most promising areas of innovation. In the educational realm, AI holds the potential to revolutionize teaching and learning by offering personalized, adaptive, and efficient solutions that cater to the diverse needs of students and educators. From intelligent tutoring systems that provide tailored feedback to administrative tools that streamline school management, AI is reshaping traditional educational paradigms. This integration of AI aims not only to enhance learning outcomes but also to address long-standing challenges such as educational inequality and resource allocation. As we delve into the role of AI in education, it becomes clear that its impact is profound, offering new opportunities to optimize educational practices and support lifelong learning.

The role of AI in education extends beyond mere automation; it introduces innovative ways to engage students and facilitate deeper learning. AI-powered tools can analyze vast amounts of data to identify learning patterns and predict student needs, enabling a more customized educational experience. For instance, AI-driven platforms can adapt content delivery based on individual progress, offering supplementary resources or adjusting difficulty levels in real-time.

* **Educationist, Department of commerce, J. P. University, Chapra**

2. Literature Review

S.F Ahmad and et.al(2022)-. In any educational institution, the primary duty of teachers is to instruct. However, the teachers also have a number of other responsibilities. In addition to their teaching responsibilities, teachers spend the majority of their time and educational resources on administrative tasks. Artificial Intelligence Applications (AIA) are improving education's efficacy while also supporting it academically and administratively. Learning Analytics (LA), Virtual Reality (VR), Grading/Assessments (G/A), and Admissions are just a few of the activities that AIA assists teachers with. It reduces a teacher's administrative responsibilities so they can devote more time to instructing and mentoring students. With the numerous responsibilities that come with being a teacher in the modern day, AIA significantly contributes to improving student learning

ADO Sliva and et.al (2020) - AI is positioned as a crucial tool for tackling educational gaps and personalizing education, according to the report. However, it is thought to enhance and assist the basic human-centric process of learning rather than change it.

M Tahir (2024) - More flexibility in terms of time and location as well as a shift in the tutor's function as a facilitator are two advantages of AI in education. We also talked about important issues including lack of personal contact, lack of inclusiveness and equity for students from all backgrounds, and ethical concerns like data privacy. Based on these topics, we came to the conclusion that while AI will play a bigger part in education in the future, there are still issues that must be resolved in order to fully realize its advantages.

3. Objectives

- To know the challenges of artificial intelligence in education sectors.
- To know the opportunities of artificial intelligence in education sectors.

4. Research Methodology

The study is based on articles, journals and different websites has been used hence, based on secondary data. This paper is exploratory in nature.

5. Analysis

- **To know the challenges of artificial intelligence in education sectors.**

i. **Privacy and Data Security:** AI systems in education often require the collection and analysis of substantial amounts of personal data, including student performance, behavior, and interactions. Ensuring the privacy and security of this data is paramount, as breaches or misuse could compromise sensitive information and erode trust in AI applications.

ii. **Equity and Access:** There is a risk that AI technologies could exacerbate educational inequalities. Schools and students in underserved areas may lack the resources to implement and benefit from advanced AI tools, leading to a widening gap between well-funded institutions and those with fewer resources.

iii. **Bias and Fairness:** AI algorithms can unintentionally perpetuate existing biases present in the data they are trained on. If not properly managed, this can lead to discriminatory practices or reinforce stereotypes, affecting educational outcomes and opportunities for marginalized groups.

iv. **Teacher and Student Resistance:** The integration of AI in education may encounter resistance from both teachers and students. Educators may be apprehensive about adopting new technologies, fearing that AI could undermine their role or complicate their teaching practices. Students may also resist AI-driven approaches if they perceive them as impersonal or disruptive to their learning preferences.

v. **Quality of AI Tools:** The effectiveness of AI tools in education depends on their design and implementation. Some AI applications may be poorly developed or lack the capability to provide meaningful support, resulting in limited benefits and potential frustration for users.

vi. **Ethical and Philosophical Concerns:** The use of AI in education raises ethical questions about the role of technology in shaping learning experiences. There are concerns about the extent to which AI should influence educational decisions and the implications for human judgment and creativity in teaching and learning.

vii. **Dependence on Technology:** Overreliance on AI tools can lead to a dependency that might undermine fundamental educational practices. If AI systems fail or are unavailable, it could disrupt the learning process and impact both teaching effectiveness and student learning outcomes.

viii. **Cost and Resource Allocation:** Implementing and maintaining AI technologies can be costly. Schools and educational institutions may face financial challenges in acquiring, integrating, and updating AI systems, which could divert funds from other important educational needs.

ix. **Lack of Standardization:** The rapid development of AI technologies in education has led to a lack of standardized practices and frameworks. This variability can create challenges in evaluating the effectiveness of different AI tools and ensuring consistent quality across educational settings.

x. **Training and Professional Development:** Effective use of AI in education requires proper training for educators. Without adequate professional development, teachers may struggle to integrate AI tools into their teaching practices effectively, limiting the potential benefits of these technologies.

- **To know the opportunities of artificial intelligence in education sectors.**

Artificial Intelligence (AI) offers a multitude of opportunities in the education sector, transforming traditional methods of teaching, learning, and administration. Here are some key opportunities:

1. Personalized Learning

- **Adaptive Learning Systems:** AI can create personalized learning experiences by analyzing students' learning styles, strengths, and weaknesses. It can adjust content, pace, and difficulty to meet individual needs.
- **Customized Curriculum:** AI can help design curricula tailored to the specific interests and career goals of students.

2. Automated Administrative Tasks

- **Grading and Assessment:** AI can automate grading for multiple-choice tests and even assist in evaluating essays and short answers, saving time for educators.
- **Scheduling and Resource Management:** AI can optimize timetables, resource allocation, and classroom management, improving efficiency in schools and universities.

3. Enhanced Engagement and Interaction

- **Virtual Tutors:** AI-powered chatbots and virtual assistants can provide real-time support to students, answering questions and offering explanations outside of class hours.
- **Interactive Learning Tools:** AI can power immersive learning experiences through augmented reality (AR), virtual reality (VR), and gamification, making learning more engaging.

4. Data-Driven Insights

- **Learning Analytics:** AI can analyze large datasets from student performance and behavior, providing educators with insights to improve teaching strategies and identify students who may need additional support.
- **Predictive Analytics:** AI can predict student outcomes and retention rates, helping institutions intervene early to support at-risk students.

5. Global Accessibility

- **Language Translation:** AI-powered translation tools can make educational content accessible to non-native speakers, breaking down language barriers.
- **Remote Learning Support:** AI can enhance online learning platforms, making education accessible to students in remote or underserved areas.

6. Professional Development for Educators

- **Training and Development:** AI can provide personalized professional development for teachers, recommending courses and resources based on their specific needs and goals.
- **Feedback and Evaluation:** AI can assist in evaluating teaching performance, offering constructive feedback to educators.

7. Intelligent Content Creation

- **Content Generation:** AI can generate educational content, such as quizzes, practice problems, and even lesson plans, helping teachers save time on content creation.
- **Content Curation:** AI can curate and recommend relevant content from a vast array of sources, helping educators stay up-to-date with the latest educational materials.

8. Supporting Special Education

- **Assistive Technologies:** AI can develop tools that support students with disabilities, such as speech-to-text for students with dyslexia or predictive text for those with motor impairments.
- **Behavioral Analysis:** AI can monitor and analyze the behavior of students with special needs, providing insights that help in creating effective intervention strategies.

9. Ethical and Fair Assessment

- **Bias Detection:** AI can help identify and mitigate biases in assessments and content, ensuring a fairer educational experience for all students.
- **Diversity and Inclusion:** AI can assist in creating inclusive learning environments by recognizing and addressing the diverse needs of students.

10. Future Skill Development

- **AI Literacy:** AI can help in teaching students about AI itself, preparing them for future careers in technology by integrating AI concepts into the curriculum.
- **Career Pathway Planning:** AI can analyze student interests and aptitudes to suggest potential career paths and necessary skills, aiding in future planning.

Conclusion

Artificial Intelligence (AI) has the potential to revolutionize the education sector by offering personalized learning experiences, automating administrative tasks, enhancing engagement, and providing data-driven insights. The opportunities AI presents—such as adaptive learning, global accessibility, intelligent content creation, and support for special education—can significantly improve the quality and reach of education.However, the integration of AI in education also comes with challenges that must be carefully managed. To fully realize the benefits of AI in education, it is crucial to address these challenges through thoughtful policy-making, inclusive practices, and continuous monitoring of AI systems. By doing so, AI can be harnessed to create a more efficient, inclusive, and effective education system that prepares students for the future while ensuring fairness and equity in learning opportunities.

References:

Ahmad, S. F., Alam, M. M., Rahmat, M. K., Mubarik, M. S., & Hyder, S. I. (2022). Academic and administrative role of artificial intelligence in education. *Sustainability*, *14*(3), 1101.

Silva, A. D. O., & Janes, D. D. S. (2020). Exploring the role of artificial intelligence in education: a comprehensive perspective. *Review of Artificial Intelligence in Education*, *1*(00), e05.

Tahir, M., Hassan, F. D., & Shagoo, M. R. (2024). Role of artificial intelligence in education: A conceptual review. *World Journal of Advanced Research and Reviews*, *22*(1), 1469-1475.

Ayoub, D. (2020). "Unleashing the power of AI for education". MIT Technology Review. https://www.technologyreview.com/2020/03/04/905535/unleashing-the-power-of-ai-foreducation/

Behera, A., Matthew, P., Keidel, A., Vangorp, P., Fang, H., & Canning, S. (2020). "Associating facial expressions and upper-body gestures with learning tasks for enhancing intelligent tutoring systems". International Journal of Artificial Intelligence in Education, pp.1–37.

Busso, C., Deng, Z., Yildirim, S., Bulut, M., Lee, C. M., Kazemzadeh, A., … & Narayanan, S. (2004). "Analysis of emotion recognition using facial expressions, speech, and multimodal information". In Proceedings of the 6th international conference on Multimodal interfaces (pp. 205–211).

Chen, T., MdYunus, A., Ali, W.W. and Bakar, A. (2008). "Utilization of Intelligent Tutoring System (ITS) in mathematics learning". International Journal of Education and Development using Information and Communication Technology, vol.4, no.4, pp.50-63.

Corbin, J. M., & Strauss, A. (1990) "Grounded theory research: procedures, canons, and evaluative criteria". Qualitative Sociology, vol.13, no.1, pp.3–21.

Daugherty, P. R., & Wilson, H. J. (2018). Human + Machine: reimagining work in the age of AI, Harvard Business Review Press, Boston.

मलयालम दलित कथा साहित्य: प्रतिरोध, पहचान और आत्मस्वर की खोज

डॉ. फ़ातिमा बीवी आर*
itsmefathi2012@gmail.com

सारांश (Abstract):

मलयालम दलित कथा साहित्य का इतिहास सामाजिक अन्याय, जातिगत भेदभाव और प्रतिरोध की चेतना से जुड़ा हुआ है। यह साहित्यिक परंपरा पाट्टू और तुल्लल जैसी लोक कलाओं से प्रारंभ होकर आधुनिक उपन्यास और कहानियों तक विस्तृत हुई है। शुरुआती रचनाओं में जाति-विरोधी चेतना के बीज बोए गए, जिन्होंने आगे चलकर दलित आत्माभिव्यक्ति का रूप लिया। यद्यपि मलयालम दलित साहित्य को अन्य भाषाओं की तुलना में अपेक्षित मुख्यधारा नहीं मिली, फिर भी स्वानुभूति, प्रतिरोध और दलित दृष्टिकोण के आधार पर यह साहित्य निरंतर सशक्त होता गया है। टी. के. सी. वडुतला, पोल चिरक्कोड, सी. अय्यप्पन जैसे रचनाकारों ने दलित कहानी को नई पहचान दी। समकालीन लेखन में दलित जीवन की जटिलताओं और संघर्षों को तीव्र स्वर में अभिव्यक्त किया गया है। यह साहित्य केवल कला नहीं, बल्कि मुक्ति और आत्मसम्मान की एक वैचारिक प्रक्रिया है।

कीवर्ड(keywords)

मलयालम दलित साहित्य, दलित कथा साहित्य, दलित चेतना, जातिवाद, प्रतिरोध, दलित उपन्यास, स्वानुभूति, पुलाया समाज, धर्म परिवर्तन, दलित लेखन, दलित महिला दृष्टि, सवर्ण साहित्य, टी. के. सी. वडुतला, पोल चिरक्कोड, सी. अय्यप्पन, दलित भाषा, मलयालम नवजागरण, समकालीन दलित रचनाएँ, वंचित अनुभव, साहित्यिक विमर्श, दलित अस्मिता, आलोचनात्मक दृष्टि, आत्मस्वर, दलित सौंदर्यशास्त्र, सामाजिक यथार्थ.

मराठी में जिस प्रकार दलित साहित्य का और दलित दर्शन का विकास हुआ, उस प्रकार तीव्र गति का विकास या साहित्य दर्शन का रूपायन मलयालम दलित साहित्य में नहीं हुआ। मलयालम में दलित साहित्य की पहली झलक तो पाट्टू साहित्य यानी गान साहित्य के माध्यम से हुई। यह कोई लिपिबद्ध साहित्य नहीं था। मलयालम साहित्य के विकास की ओर ध्यान देंगे तो 'चेरुश्शेरी' ने जिस प्रकार ग्रामीण पाट्टू साहित्य के माध्यम से साधारण मलयालम भाषा में साहित्य सृजन किया, वहीं 'एषुत्तच्छन' ने उसी समय संस्कृत से प्रेरणा प्राप्त करके 'कीलिप्पाट्टू' रीति और सुनिश्चित सौंदर्य दृष्टि के माध्यम से साहित्य में प्रतिरोध दर्शाया और साहित्य विकास का प्रयास किया।

अब यदि दलित साहित्य की बात करें तो 'कुंजन नंप्यार' के 'परयन तुल्लल', 'शीतंकन तुल्लल' और 'ओट्टन तुल्लल' में ग्रामीण कला की अभिव्यक्ति विद्यमान थी। 'तुल्लल' (केरल का एक प्रकार का कला रूप जिसमें गाने के माध्यम से कथा का आख्यान और अभिनय होते हैं) कला के माध्यम से पहले जिस प्रकार 'कुंजन नंप्यार' ने जाति व्यवस्था पर वार किया, यह उल्लेखनीय है।

"विप्रन, क्षत्रियन, वैश्य, शूद्र
ऊपर से बुद्ध, पाणन, परयन
इस प्रकार जाति भेद का कोई अंत नहीं

* **पोस्ट डॉक फेलो, कोचिन विज्ञान प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय, कोच्चि, केरल पिन 691306**
केरल राज्य उच्च शिक्षा परिषद द्वारा फेलोशिप

लेकिन सबके शरीर में जीवन एक वही पर ब्रह्म

.....

इसलिए आत्मा तो सबकी एक है

एक ही धागे में ही परयन और भूसुर"

अठारहवीं सदी में किया गया यह कदम उस समय के हिसाब से क्रांतिकारी पड़ाव रहा। इस प्रकार शुरू होने वाले मलयालम दलित साहित्य विकास में कथा साहित्य की प्रबल और महत्वपूर्ण भूमिका विद्यमान है।

1087 में प्रकाशित 'पंडित के. करुप्पन' की 'जातीक्कुम्मी' को मलयालम की सबसे पहली दलित कृति मानना गलत नहीं होगा। मछुआरे समाज से आने वाले एक रचनाकार द्वारा अपने बीस साल की उम्र में रची गई यह रचना जाति और वर्ण व्यवस्था पर प्रहार करने में सक्षम थी। उपन्यास की सैद्धांतिक दृष्टि से न सही, केरल का पहला दलित उपन्यास 'स्लेयर स्लेईन' (1864) को मानना सही होगा, जिसे कोलिन्स ने लिखा। इस रचना के माध्यम से उन्होंने धर्म परिवर्तन करने वाले पुलया जाति (केरल की एक दलित जाति) के ईसाइयों को केंद्र में रखा। इसके उपरांत 1882 में 'आर्क डीकन कोशी' की 'पुल्लेलु कुंजू' का प्रकाशन हुआ। आगे इस श्रेणी में 'पोत्तेरी कुंजम्बू' द्वारा रचित 'सरस्वती विजयम' (1892), 'मूलियिल जोसेफ' की 'सुकुमारी' (1897) आदि रचनाओं में जाति विरोधी चेतना देखी जा सकती है। उन्नीसवीं सदी के अंत तक जातीय और दलित चेतना की दृष्टि से जीवन और समाज को परखने की प्रवृत्ति मलयालम उपन्यास साहित्य में पाई जाती है। यहाँ से देखा जाए तो उपन्यास भाषा और तत्वों की दृष्टि से भी गंभीर होते हुए नज़र आते हैं। इस तरह शुरू होने वाला दलित उपन्यास साहित्य धीरे-धीरे सही, परंतु अपनी विकास यात्रा में सफल रहा।

लेकिन देखा जाए तो अन्य भाषाओं के साहित्य के समान, मलयालम साहित्य के क्षेत्र में मुख्यधारा के साहित्य को जितना प्रचार-प्रसार मिला, उतना दलित साहित्य को नहीं मिला। यही सच्चाई है। इसका उत्तम उदाहरण है एक ही समय में सामने आने वाली दो रचनाएँ – 'ओ. चन्तुमेनोन' द्वारा रचित 'इंदुलेखा' और 'पोत्तेरी कुंजम्बू' द्वारा रचित 'सरस्वती विजयम'। 'इंदुलेखा' जहाँ मध्यवर्गीय परिवार की विसंगतियों पर चर्चा करती है, वहीं 'सरस्वती विजयम' में जाति व्यवस्था और उसकी समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है। लेकिन 'इंदुलेखा' को जितनी ख्याति मिली, उसकी तुलना में 'सरस्वती विजयम' पर उतनी बातचीत भी नहीं हुई।

आगे दलित उपन्यासों की बात करें तो कुछ लोग 'तकज़ी' की 'रण्डीडंगज़ी' (1948), 'तोट्टीयुड़े मकन', 'नागवल्ली', 'पी. केशवन' की 'ओडईल निन्नुम' आदि को इस श्रेणी की रचनाओं के रूप में मान सकते हैं। लेकिन इन रचनाओं में दलित समाज का चित्रण तो है, परंतु विद्रोह और प्रतिरोध के मूल्यों का अभाव देखा जा सकता है। वास्तव में स्वानुभूति और सहानुभूति की बात मलयालम दलित साहित्य में भी लागू होती है।

दलित उपन्यास की दृष्टि से देखें तो 'टी. के. सी. वडुतला' की 'ननवुल्ला मन्नू', 'पोल चिरक्कोड' की 'पुलयत्तरा', 'डी. राजन' की 'मुक्कन्नी', 'नारायणन' की 'कोच्चरायत्ति', 'मांगानम कुट्टप्पन' की 'पेरुमाल परा' आदि को दलित साहित्य क्षेत्र में महत्वपूर्ण रचनाओं के रूप में देखा जा सकता है।

यदि हम समकालीन दलित उपन्यासों की बात करें तो, वे अपना एक ज़मीन तो ज़रूर बना चुके हैं, लेकिन अभी भी उसमें विकास आना बाकी है। उत्तर भारत के दलित साहित्य ने जिस प्रकार दलित जीवन यथार्थ को आवाज़ दी, उतना सफल चित्रण मलयालम दलित साहित्य में नहीं हो सका। समकालीन दलित उपन्यासों में तिरुवनंतपुरम के कुरवर समाज के जीवन को आधार बनाकर लिखा गया 'पी. के. उत्तमन' का 'चावोली' एक सशक्त अभिव्यक्ति है। इसी तरह पुलाया समाज के जीवन पर आधारित 'राजू के. वासू' का 'चावु तुल्लल' भी उल्लेखनीय है। इसमें बीसवीं सदी की सामाजिक विसंगतियों का चित्रण मिलता है। इस उपन्यास में निम्न जातियों के जीवन यथार्थ को व्यक्त करने की सामर्थ्य है और यह एक नए सौंदर्यशास्त्र और नीति-दृष्टि का निर्माण करता है। 'प्रदीपन पांपरिक्कुन्नु' का उपन्यास 'एरी' केरल के नवजागरण की लहर को पुनः सामने लाने

का प्रयास है। इन उपन्यासों के माध्यम से हम यह मान सकते हैं कि भारत की अन्य भाषाओं की तरह मलयालम साहित्य में भी दलित उपन्यास साहित्य का विकास तीव्र गति से हो रहा है। उम्मीद है कि यह साहित्य शीघ्र ही अपने पूर्ण स्वरूप में प्रतिष्ठित होगा

संक्षिप्तता के साथ दलित जीवन के दर्द और उनके प्रतिरोध को सामने लाने में कहानी साहित्य का योगदान महत्वपूर्ण है।1930 के आस-पास से दलित कहानी साहित्य अपना स्थान प्राप्त करने लगा। देखा जाए तो मलयालम दलित कहानी के प्रारंभिक रूप या कोशिश के रूप में मूरकोत्त कुमारण की कहानी 'पल्लियीले मणि' (1930), वी. के. अम्मुन्नी की 'तमोराशियिल' (1933), एम. नारायण कुरुप की 'नीली' (1935) आदि कहानियों को गिना जा सकता है।

यदि 'पल्लियीले मणि' की बात करें, तो इसमें पुलाया जाति की स्त्री देवयानी के चरित्र को सामने लाना उस समय में बहुत बड़ी बात थी। हालांकि इस कहानी में तीव्र दलित चेतना नहीं है, लेकिन तत्कालीन समाज में खड़े होकर जाति व्यवस्था के विरोध में आवाज़ उठाने के प्रयास की दृष्टि से यह कहानी महत्वपूर्ण सिद्ध होती है। उसी प्रकार 'तमोराशि' कहानी में भी हिंदू धर्म में निहित अस्पृश्यता और भेदभाव के कारण निम्न जाति के नीलन और उसकी पत्नी ईसाई धर्म में परिवर्तित हो जाते हैं। एम. नारायण कुरुप की 'नीली' को हम सवर्ण समाज के प्रति तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त करने वाली पहली कहानी मान सकते हैं।

स्वाधीनता संग्राम, विज्ञान का विकास और पत्र-पत्रिकाओं के प्रचार-प्रसार के परिणामस्वरूप साहित्य के क्षेत्र में भी बदलाव देखने को मिल रहे थे। उस समय तकज़ी, देव, एस. के. वर्की आदि की कहानियों में भी दलित जीवन का चित्रण मौजूद था। पुनर्जागरण के उस समय में साहित्य और समाज में सभी प्रकार के सामाजिक जागरण और क्रांति देखे जा सकते थे।

तकज़ी जैसे गैर-दलित रचनाकार ने सहानुभूति के साथ अपने चारों ओर के दलित जीवन को चुनकर रचना में उतारा। मुख्य रूप से किसान जीवन को व्यक्त करने के लिए दलित जीवन को सामने लाना आवश्यक हो गया था। उनकी कहानियाँ — 'वेल्लाप्पोक्कत्तिल', 'मांचुवट्टिल', 'वेलुत्त कुंन्ज', 'स्वत्तुकारुड़े नाट्टिल' — इसके उदाहरण हैं। केशव देव की कहानियाँ जैसे 'घोष यात्रा', 'रेड वालण्टियर' किसान प्रतिरोध के साथ-साथ दलित समस्याओं पर भी चर्चा करती हैं।

आगे जाकर एस. के. पोट्टक्कड की कहानियाँ — 'विप्लव बीजम', 'सखी', 'वल्लिका देवी', 'भ्रांतन नाया' आदि, और पोनकुन्नम वर्की की 'चात्तन न्टे मकल' जैसी कहानियाँ दलित चेतना को आगे बढ़ाती हैं। 1930 से लेकर मलयालम साहित्य में समाज-मूल्य को केंद्र में रखकर रचनाओं का सृजन प्रारंभ हुआ। स्वाधीनता संग्राम, प्रगतिशील विचार, पत्रिकाओं का प्रचार-प्रसार, ज्ञान के क्षेत्रों का विस्तार आदि सभी पहलुओं के कारण सम्पूर्ण साहित्य-जगत में बदलाव दृष्टिगोचर हुए।

तकज़ी, देव, एस. के. वर्की, बशीर आदि उस समय के सुवर्ण सृष्टियों के निर्माता बने। इसमें बशीर को छोड़कर शेष सभी ने दलित जीवन के पहलुओं का चित्रण किया। दलित कहानी साहित्य में दलित व गैर-दलित रचनाकारों के माध्यम से दलित जीवन की इतनी तीव्र अभिव्यक्ति होने के बावजूद, गैर-दलित रचनाकारों की रचनाएँ एक सीमा पर आकार दलित समस्याओं को केवल सहानुभूति से देखती हैं। प्रतिरोध को व्यक्त करने में ये कहानियाँ पूर्णतः सशक्त नहीं थीं, लेकिन मलयालम साहित्य के लिए इन रचनाओं की भूमिका महत्वपूर्ण रही। साहित्य के क्षेत्र में दलित जीवन को चर्चा का विषय बनाने में इन रचनाओं का भी योगदान रहा है।

आगे के समय में जाति व्यवस्था के चंगुल को तोड़कर दूर फेंकने का प्रयास मलयालम कहानी साहित्य में टी. के. सी. वडुतला में तीव्र रूप में देखा जा सकता है। अपनी वैचारिकी को साहित्य के माध्यम से व्यक्त करने में वे कतई नहीं डरते थे। 'चंकारांति अड़ा', 'एंडे वितिया', 'अंका एरडीक्केडेंट कंडांडारा' आदि शीर्षकों के माध्यम से उन्होंने जनता के सत्वबोध को सामने लाया। उनकी कहानी 'अच्च्ण्डा वेन्तींन्जा एन्ना' वास्तव में दलित समाज और मलयालम दलित साहित्य को नई दृष्टि प्रदान करने में सहायक सिद्ध हुई।

हिंदू धर्म से धर्म परिवर्तन करके ईसाई धर्म को स्वीकार करने के बावजूद, ईसाई धर्म में भी जातीयता किस प्रकार समस्या बन जाती है, इस पर यह कहानी चर्चा करती है। धर्म परिवर्तन से भी दलित समाज को स्वाधीनता प्राप्त नहीं हो रही है — इस बात का सबसे सशक्त उदाहरण यह कहानी है। उनकी 'संताना वाल्सल्यम' नामक कहानी में भी धर्म परिवर्तन की ही चर्चा है।इस्लाम धर्म स्वीकारने पर नायक को जातीयता से मुक्ति तो मिल गई, लेकिन अपने परिवार और स्वत्व बोध को खोने

का दर्द उस स्वाधीनता की खुशी से बढ़कर था। उनकी कहानियाँ — 'रंडु तलमुरा', 'कावल भूतम', 'कुट्टावुम शिक्षयुम', 'पुरत्तरियिक्कान आवात्ता मुखम', 'ओत्तु तीरप्पू' — प्रतिरोध के सशक्त स्वर को अभिव्यक्त करती हैं।

'जातिएन्ता' नामक कहानी केरल समाज में जाति के सामाजिक यथार्थ बनने का उत्तम उदाहरण है। उनकी कहानियों में पुलाया समाज के जीवन संघर्ष का चित्रण सदैव देखने को मिलता है। उनकी दलित कहानियों में दलित भाषा को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है, क्योंकि वे जानते थे कि दलित समाज के स्वत्व का चित्रण उनकी भाषा के बिना संभव नहीं है। पूरी तरह से दलित कहानी को अपना रूप देने में टी. के. सी. की कहानियों का योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण है। उन्होंने उस समाज को स्वर दिया, जो साहित्य में अब तक सवर्ण मानसिकता के कारण मौन था। उनके लगभग 16 कहानी-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। इसलिए मलयालम दलित कहानी साहित्य में टी. के. सी. का नाम पुरोधा के रूप में रहना स्वाभाविक है।

दलित कथाकारों में एक और महत्वपूर्ण नाम है — पोल चिरक्कोड। उनकी कहानियाँ 'रुम्बा', 'पुतिया पार्प्पिडम' आदि दलित जीवन पर केंद्रित हैं। इसी प्रकार सी. वी. श्रीरामन की कहानियाँ — 'पोन्त्नमाडा', 'ञ्जंगले तोट्टाल', 'वेरुकल पुतियातुम पज़यतुम' — भी दलित साहित्य क्षेत्र में महत्वपूर्ण हैं। दलित राजनीति के प्रति चेतना जाग्रत करने वाले कहानीकारों में एम. सुकुमारन, पी. के. नाणु, यू. पी. जयराज आदि के नाम प्रमुख हैं।एम. सुकुमारन की कहानियाँ — 'कल्पवृक्षत्तिले इला', 'सिंहासनंगलिले तुरुम्ब', 'अवसानत्ते अत्ताजम' — इसके उदाहरण हैं।

दलित कहानी के क्षेत्र में आने वाले अन्य महत्वपूर्ण हस्ताक्षरों में संतोष एच्चिक्कनाम ('पंति भोजनम') का नाम उल्लेखनीय है। इस कृति के संदर्भ में कुछ आलोचक इसमें निहित दलित-विरोधी प्रवृत्ति पर भी चर्चा करते हैं। इसी प्रकार नारायणन (कुलदेवता, पेलमरुता, ऊरुमूप्पनुम आभिचारा मूप्पनुम) भी इस समय के महत्वपूर्ण कहानीकार हैं। दलित कहानी साहित्य में एक और महत्वपूर्ण नाम है — सी. अय्यप्पन। उनका 1986 में प्रकाशित कहानी-संग्रह 'उच्चमयक्कत्तिले स्वप्नंगल' सम्पूर्ण दलित साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इसमें परंपरागत दृष्टि से भिन्न होकर सुदृढ़ प्रतिरोध का स्वर देखा जा सकता है। उनकी कहानियाँ — 'कावल भूतम', 'भूतबलि', 'नेरम वेलुक्कुकायाणु' — तीव्र प्रतिरोध के स्वर को सामने लाती हैं।

अब यदि समकालीन दलित कहानी की बात करें, तो बॉबी टॉमस ('अनंतम अज्ञातम'), पी. के. प्रकाश ('प्रतिसंधि'), जॉन के. एरुमेली ('एन्ना पिन्ने जाति वेंडा'), नीग्रो ('चिरुत कुंज'), एम. के. मधुकुमार ('पाला कुन्नांटे यात्रा'), सन्नी कप्पिक्कड़ ('ओरु नायिकायुम मट्टोरु स्त्रीयुम'), रेखा राज ('ञ्जारु'), एम. बी. मनोज ('वेवुकयाणु एललाम'), रीना साम ('मुल्लिल कोरत्ता कण्णु'), धन्या एम. डी. ('ञ्जंगलूडे आनुंगलूम पेन्नुंगलूम'), राजू के. वासू ('मिया कुलपा'), मोहन चेंजेरी ('चूण्डक्करनटे सुविशेषम'), एम. आर. रेणुकुमार ('वज़ुक्कल') आदि नाम उल्लेखनीय हैं। इनके अलावा एलिक्कुलम जयकुमार और बॉबी टॉमस जैसे कहानीकारों को भी समकालीन दलित कहानी साहित्य में स्थान दिया जाना चाहिए।

दलित साहित्य और उसके विकास को यदि गहरी दृष्टि से देखा जाए, तो अनेक प्रश्न सामने आते हैं। केवल मलयालम ही नहीं, सम्पूर्ण दलित साहित्य के लिए ये प्रश्न महत्वपूर्ण हैं — जैसे कि क्या ये रचनाएँ दलित जीवन की समग्र अनुभूतियों का चित्रण करने में सक्षम हैं? क्या मुक्ति-कामी साहित्य या प्रतिरोध के साहित्य के रूप में मलयालम में दलित साहित्य की सशक्त स्थापना अभी भी आवश्यक है? सवाल अनेक हैं मलयालम दलित साहित्य इसके जवाब की ओर रास्ता ढूँढ रहे हैं।

संदर्भ :-

मुरली, कवियूर. (2001). *दलित साहित्यम*. कोट्टायम : करंट बुक्स.

गोपीनाथ, जी. (2010). *केरल की सांस्कृतिक विरासत*. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन.

अनिलकुमार, टी. के. (2022). *दलित साहित्यम: चरित्रवुम वर्तमानवुम*. त्रिशूर : केरल साहित्य अकादमी.

मानसिक स्वास्थ्य और नाट्यकला : आनंद के स्वरूप का विश्लेषण

डॉ. विधु खरे दास*
kharedasv@gmail.com

शोध सार

नाट्यशास्त्र की उत्पत्ति मानव के कल्याण तथा आनंद हेतु ही की गयी थी। आज से लगभग ढाई हज़ार वर्ष पहले ब्रह्मा जी द्वारा इस विषय पर मंथन किया गया कि मानव के स्वस्थ कल्याण के लिए आनंद का होना आवश्यक है तथा इसके लिए एक प्रमाणिक शास्त्र भी होना चाहिए। भरत मुनि ने इस हेतु नाट्यशास्त्र नामक ग्रंथ की रचना की। विश्व में इस प्रकार का कोई भी ग्रंथ नहीं लिखा गया है। कोई भी ज्ञान, कोई भी विद्या कोई भी शिल्प ऐसा नहीं है जो कि इस ग्रंथ में नहीं हो। इसमें समस्त वेदों का ज्ञान भी निहित है। इसे पंचम वेद कहा गया है। अतः नाट्यशास्त्र ज्ञान का ऐसा माध्यम है जो कि समस्त वर्णों के लिए ग्राह्य है। इस शास्त्र को कल्याण हेतु रचा गया। नाट्य शास्त्र के केंद्र में रस निष्पत्ति है। रस का उद्देश्य आनंद उत्पन्न करना है। रस का आनंद रूप में अनुभव ही नाट्य का लक्ष्य होता है। आनंद की उत्पत्ति से चित्त का शुद्धिकरण होता है जो कि मनुष्य को मानसिक रूप से स्वस्थ रखने में सहायक होता है। अतः नाट्य को मानव कल्याण के लिए आवश्यक माना गया है। अरस्तू ने भी नाट्य का उद्देश्य चित्त का शुद्धिकरण माना है तथा विरेचन द्वारा इसकी प्रक्रिया का संक्षेप में उल्लेख किया है परन्तु नाट्य शास्त्र में अरस्तू के पहले ही इस प्रक्रिया को पूर्ण वैज्ञानिक तरीके से शास्त्रबद्ध किया गया है। मानसिक स्वास्थ्य का सम्बन्ध मनोभावों से होता है। भावों का असुंतलन मनः स्थिति पर प्रभाव डालता है। संतुलित भाव ही रस रूपी आनंद प्रदान कर सकते हैं। मैं अपने शोध पत्र में नाट्य के इस वृहद् उद्देश्य को केन्द्रित कर उससे प्राप्त आनंद के स्वरूप को विश्लेषित करने का प्रयास करूँगी।

बीज शब्द :

रस सिद्धांत, विरेचन, मानसिक अवस्था, भाव, आनंद, शुद्धिकरण

प्रस्तावना

भारतीय ज्ञान परंपरा में सर्वे भवन्तु सुखिनः की अवधारणा ही सर्वोपरि है। सभी का कल्याण हो इसकी कामना की जाती है। कल्याण का प्रारंभ ही स्वस्थ मानसिकता से होता है। स्वास्थ्य का आधार भी मनःस्थिति से जुड़ा हुआ होता है। उत्तम मानसिक स्वास्थ्य ही स्वस्थ व उन्नत समाज का आधार होता है। मनुष्य स्वभावतः ही अनेक प्रकार के विकारों यथा ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, हीनता से स्वाभाविक रूप से ग्रसित रहता है। अनेक प्रकार के भाव व्यक्ति में होते हैं। मनुष्य की मनःस्थिति को भाव प्रभावित करते हैं। जैसे भाव होते हैं वैसी मानसिक अवस्था बन जाती है। समस्या तब होती है जब ये भाव विकारों में परिवर्तित हो जाते हैं। ये विकार मनुष्य को रुग्ण बनाते हैं जिसका प्रभाव पूरे समाज पर पड़ता है। विकारों का शमन अत्यंत आवश्यक है अन्यथा ये मनुष्य के पूरे व्यक्तित्व को प्रभावित कर देते हैं तथा समाज पर विपरीत प्रभाव डालने लगते हैं। विकार जीवन से आनंद की अनुभूति निकाल देते हैं जबकि आनंद की प्राप्ति ही जीवन को सुखमय बनाता है। सुसंस्कृत सभ्यता की विशिष्टता ही यही होती है कि वह आनंद के मार्ग पर चले तथा विकारों से मुक्ति पाए। नाट्य के माध्यम से आनंद प्राप्त करने की प्रक्रिया क्या है ? रस और आनंद का क्या सम्बन्ध है ? विरेचन का क्या महत्त्व है ?, इन प्रश्नों का समाधान आनंद की प्रक्रिया तथा उसका मानसिक अवस्था से सम्बन्ध का विश्लेषण करके ही प्राप्त हो सकता है।

* **प्रदर्शनकारी कला विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा**

विश्लेषण

भारतीय तथा ग्रीक दोनों ही संस्कृतियों में नाट्य को ईश्वर की भक्ति के तत्व के रूप में प्रतिस्थापित किया गया है। नाट्य शास्त्र के अनुसार नाट्य की उत्पत्ति भगवान् के माध्यम से ही हुई है जिसका उद्देश्य कल्याण की भावना में निहित है। भगवान् शिव जी, ब्रह्मा, इंद्र आदि देवता गण, ऋषि मुनि तथा चारों वेदों का ज्ञान ही नाट्य का आधार बना। इसे पांचवां वेद माना गया। इस प्रकार से नाट्य को ईश्वरीय तथा पवित्र तत्वों से जोड़ा गया है। नाट्य का उद्देश्य आनंद है जो कि ब्रह्मानंद के समकक्ष होता है। नाट्य शास्त्र के प्राप्त 36 अध्याय तथा छह हज़ार श्लोक इसी मानसिक कल्याण के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए रचे गए हैं। भरत कहते हैं कि स्थायी भाव का दर्शक को आस्वादन होता है और उन्हें हर्ष की प्राप्ति होती है –

"नानाभावाभिनयव्यंजितान वागअंगसत्त्वोपेतान स्थायिभावनास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाहः हर्शादीन्श्चाधिगच्छन्ति"[1]

सहृदय दर्शक ही इस आनंद की प्राप्ति कर सकता है। रस निष्पत्ति होने पर सहृदय के अंतस में स्व और पर की सीमा विलीन हो जाती है और उसका अंतस स्वप्रकाशित हो जाता है, उसका अहम् भी विलीन हो जाता है तथा वह अर्थात दर्शक ब्रह्मरस को प्राप्त करता है और आनंद का अनुभव करता है। इस प्रकार से रस के द्वारा प्राप्त आनंद ब्रह्मानंद के समान होता है अर्थात ईश्वरीय आनंद की अनुभूति नाट्य के द्वारा सहृदय दर्शक को प्राप्त होती है।

रस के सुखात्मक तथा दुखात्मक स्वरूप पर अनेक विद्वानों ने टीकाएँ लिखी हैं तथा इसका विश्लेषण किया है। भरत मुनि ने रस के स्वरूप को सुखात्मक माना है क्योंकि विभिन्न प्रकार के रस अंततः आनंद की उत्पत्ति ही करते हैं। अभिनवगुप्त रस को सुखात्मक तथा दुखात्मक दोनों ही मानते हैं परन्तु दोनों ही प्रकारों में सुख तथा दुःख दोनों प्रकार के उभय गुण होते हैं और ये उभय गुण आनंद का कारक बनते हैं। रसास्वादन का यह स्वरूप परमानंद की प्राप्ति कराता है। रस का मूल स्वरूप ही सुखात्मक तथा आनंद कारक है। आचार्य धनिक तथा आचार्य विश्वनाथ रस को सुखकारक मानते हैं। उनके अनुसार नाट्य के करुण, वीभत्स, भयानक आदि रस आम जीवन के दुःख, भय, घृणा आदि से भिन्न होते हैं तथा इसी कारण से नाट्य के इस प्रकार के दुःख – भय आदि उत्पन्न करने वाले रस भी अंततः आनंद की प्राप्ति ही कराते हैं। "रस वस्तुतः पूर्ण मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। यह समाज का मनोविज्ञान है। सामूहिक मनोविज्ञान है। पूरे लोक का मनोविज्ञान है।"[2]

मानसिक स्वास्थ्य भी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है तथा आधुनिक विज्ञान इसे आनंद के परिप्रेक्ष्य में ही देखता है। आज सर्वाधिक युवा अवसाद की समस्या से जूझ रहे हैं टूटते बिखरते समाज तथा परिवार के साथ-साथ डिजिटल माध्यम की शक्तियों ने आनंद को दूर कर दिया है। डिजिटल माध्यम ने भौतिक रूप से कला से दूरी उत्पन्न कर दी है। रस रूपी आनंद का प्रत्यक्ष ग्रहण आवश्यक है आनंद प्राप्ति के लिए।

इसी प्रक्रिया को विरेचन के रूप में पश्चिमी विद्वानों ने भी स्वीकृति दी है। अरस्तू ने विरेचन के सिद्धांत को इसी सम्बन्ध में स्पष्ट किया है एवं इसकी चिकित्साशास्त्रीय व्याख्या दी है। "विरेचन द्वारा संवेग संतुलित हो जाते हैं और अंततः मन की शांति की अवस्था से आनंद उत्पन्न होता है।"[3] नाट्य भय तथा करुणा आदि मानसिक विकारों का शमन करके आनंद उत्पन्न करता है जिससे मानसिक रूप से मनुष्य स्वस्थ बनता है।

मानसिक स्वास्थ्य अच्छे समाज का निर्माण करता है। इसीलिए अरस्तू ने नाट्य कला के प्रदर्शन को श्रेष्ठ माना है। होरेस भी कला को सुखकारी, कल्याणकारी तथा आनंदकारी मानते हैं। इंग्लैंड के दार्शनिक जॉन लॉक के अनुसार कला एक भ्रम है जो कि आनंददायक है। यह आनंद मानसिक स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है। भारतीय विद्वानों ने भी नाट्य कला से उत्पन्न रस का लक्ष्य आनंद माना है। "रस को अखंड, स्वप्रकाशानंद, चिन्मय, ब्रह्मानंद सहोदरः की संज्ञा दी गई है।"[4] रस का मूल स्रोत नाट्य कला है तथा नाट्य की पूर्णता रस के प्रवाह में है, रस आनंद की उत्पत्ति का कारक है, आनंद स्वस्थ मनः स्थिति का कारक है, अतः नाट्य कला आनंद तथा स्वस्थ मानसिकता में अत्यंत सहायक होती है यह सिद्ध होता है। रस का आस्वाद चमत्कारपूर्ण बताया गया है। "यह आस्वाद ही आनंद रूप रस है, रस ही आनंद है, वही आस्वाद है और आस्वाद ही रस है।"[5] अग्निपुराण में ईश्वर को आनंद का स्वरूप माना गया है तथा इस आनंद की अभिव्यक्ति का स्वरूप रस है। अभिनवगुप्त के अनुसार रस की प्रकृति अलौकिक होती है तथा यही अलौकिकता आनंद का कारक बनती है। अभिनवगुप्त तथा भट्टनायक रस के द्वारा अलौकिक आनंद की प्राप्ति का साधन साधारणीकरण की प्रक्रिया को मानते हैं। भावों का साधारणीकरण आनंद

की प्राप्ति कराता है। साधारणीकरण का माध्यम सामाजिक अर्थात दर्शक बनते हैं परन्तु रस का माध्यम अभिनेता बनते हैं। साधारणीकरण की प्रक्रिया में कवि, अभिनेता तथा दर्शक तीनों के भावों का एक तादात्म्य में होना आवश्यक है। अभिनेता आंगिक, वाचिक, आहार्य तथा सात्विक अभिनय के साथ ही विभिन्न भावों के माध्यम से रस की अनुभूति कराने में सहायक होता है जिससे दर्शकों को चित्त के शुद्धीकरण के द्वारा आनंद की प्राप्ति होती है। चित्त के शुद्धिकरण के द्वारा मनोविकारों का शमन होता है जिसके फलस्वरूप व्यक्ति मानसिक रूप से स्वस्थ बनता है। नाट्य रस के द्वारा जो मानसिक आनंद प्राप्त होता है उसका स्वरूप ब्रह्म के साक्षात् स्वरूप के आनंद के समान होता है। आचार्य भट्टनायक के अनुसार "आनंद की यह दशा चेतना के ऐसे चरम आनंद का स्वरूप होती है जो ब्रह्मानंद सहोदर है।"[6] साधारणीकरण के माध्यम से हो रहे ईश्वर प्राप्ति के समान आनंद से मनुष्य मानसिक रूप से स्वस्थ बनेगा क्योंकि इस प्रकार का आनंद समस्त विकारों को मिटा देता है। अतः नाट्य कला को श्रेष्ठ तथा दिव्य कला इसीलिए कहा जाता है क्योंकि यह कल्याणकारी है तथा समाज को स्वस्थ करती है। आज नाट्य कला को एक थेरेपी की तरह स्थापित किया जा चुका है तथा 'शिक्षा में रंगमंच' एक महत्वपूर्ण विषय के रूप विद्यमान है। स्कूल स्तर पर भी बच्चों के उत्तम मानसिक स्वास्थ्य के लिए नाट्य कला को महत्त्व दिया जा रहा है।

निष्कर्ष

नाट्य कला का मूल उद्देश्य आनंद की प्राप्ति तथा चित्त का शुद्धिकरण है। नाट्य के द्वारा उत्पन्न रस स्वयं में आनंद स्वरूप है जो कि ब्रह्म के आनंद के सदृश है। यह आनंद एक प्रक्रिया के माध्यम से सहृदय को प्राप्त होता है। अनेक भारतीय तथा पश्चिमी विद्वानों ने इसकी व्याख्या की है। नाट्य साधारणीकरण की प्रक्रिया के द्वारा सामाजिकों के चित्त का शुद्धीकरण करता है। शुद्धिकरण का कार्य मनोविकारों का शमन करना है। मनोविकार ही मनुष्य के भाव जगत में असंतुलन का कारण बनते हैं तथा मानसिक समस्याएं उत्पन्न करते हैं। आज मानसिक समस्याएं एक गंभीर रूप ले चुकी हैं। इसका मुख्य कारण मनुष्य जीवन में विकार आना तथा आनंद की कमी है। नाट्य कला को प्राचीन काल से ही मनुष्य के लिए कल्याणकारी माना गया है। कल्याण का अर्थ मनुष्य को विकारों से मुक्त करना है। विकार रहित मनुष्य स्वस्थ समाज का निर्माण करेगा। इस हेतु चित्त का शुद्धीकरण अति आवश्यक है। नाट्य कला चित्त का शुद्धिकरण करके सामाजिक को स्वस्थ बनाती है। नाट्य रूपी रस का कार्य तथा कारण दोनों ही तादात्म्य स्थापित करना है और यह तादात्म्य की प्रक्रिया दर्शकों को आनंद प्रदान करती है। इस आनंद का स्वरूप ब्रह्मानंद है, आत्मिक है। यह आनंद ज्ञानमय है तथा इस ज्ञान के द्वारा शुद्धि प्राप्त होती है। यह शुद्धि मानसिक विकारों का शुद्धिकरण अर्थात विरेचन के द्वारा होता है। मानसिक स्वास्थ्य के लिए मनोविकारों का विरेचन अति आवश्यक होता है। नाट्य कला मनोविकारों का विरेचन करती है तथा इस प्रकार वह मनुष्य को मानसिक रूप से स्वस्थ बनाने में सहायक होती है।

सन्दर्भ :

1. भरतमुनि. (सं.). गायकवाड़, के. एम. (संपा.). *नाट्यशास्त्र*. बड़ौदा: ओरिएंटल इंस्टिट्यूट. पृ. 288–289.
2. मिश्र, डॉ. ब्रिजवल्लभ. (1988). *भरत और उनका नाट्यशास्त्र*. इलाहाबाद: उत्तर मध्य क्षेत्र सांस्कृतिक केंद्र. पृ. 142.
3. चतुर्वेदी, डॉ. ममता. (2017). *सौंदर्यशास्त्र*. जयपुर: राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी. पृ. 47.
4. बाजपेयी, डॉ. राजेन्द्र. (2021). *सौन्दर्य*. भोपाल: मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी. पृ. 150.
5. द्विवेदी, डॉ. पारसनाथ. (2012). वाराणसी: चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन. पृ. 365.
6. शास्त्री, श्री बाबूलाल शुक्ल. (2000). *नाट्यशास्त्रम्*. वाराणसी: चौखम्भा संस्कृत संस्थान. पृ. 74.

Regional disparities of agriculture development in Kaushambi District

NISHI IFTIKHAR* **DR. ARCHANA TRIPATHI†**
nishiiftikhar786@gmail.com **drarchanatripathicmp@gmail.com**

Abstract

Agriculture plays an important role in the economy of any state or country. Due to variation in physical, socio-economic, bio –technological, demographic and infrastructure factors spatial variation exists in agricultural development in India. The present study is an attempt to identify the regional disparities in terms of level of agricultural development in Kaushambi district of Uttar Pradesh. The Study is based on secondary data for the average year of 2015 to 2020.

Regional agricultural disparities in the Kaushambi district are examined with the help of the Z score and principal component method. The development pattern of various blocks of Kaushambi district is evaluated from a composite score which is the mean value of five principal components .Such an exercise for identification of the level of agricultural disparities can be used by planners and policy makers to prioritize their effort in raising the agricultural development in concerned areas.

Keywords:

Regional Disparities, Agricultural Development, Z score, Principal Component, Composite index.

Introduction

Nowadays balanced regional development is a prerequisite goal for overall development of a country . Development is a process that goes on continuously. " Regional development aims to minimise and ultimately eliminate inter- regional and intra – regional differences in quality of life and make the best possible use of natural endowment" (Mishra,1978). Regional disparity is the outcome of unbalanced regional development that varies from region to region depending upon socio -cultural, economic and demographic characteristics (Kundu and Mondal,2012) "Agricultural development improves social and cultural status due to an increase in per capita income" (khan &

* **Ph.D. Research Scholar, Department of Geography,**
CMP Degree College, University of Allahabad, (U.P)

† [2]**Associate Professor, Department of Geography,**
CMP Degree College, University of Allahabad, (U.P)

Khalil ,2003. In the Kaushambi district about 92.22 percent of the population resides in rural area and the main occupation of the study area is the agricultural. Various indicators of the agricultural development are not distributed in uniform pattern so the present study is an attempt to identify spatial agricultural disparities in terms of development indicators with special reference to the Kaushambi district. so that the policies can be framed accordingly.

Review of literature-

Many scholars in the world have tried to study the level of agricultural development and different areal units. For measuring the level of regional development various statistical techniques have been applied by planners. Burja, (2011) applied the data envelopment analysis method (DEA) for identifying the level of the development region in Romania. "Gadekar (2016), used discriminant analysis to determine the level of development. Friedman (1966) has applied the composite index and principal component method for identifying the level of development of Venezuela. *Salam (2019) determined about fifteen variables for identifying levels of agricultural development of the Aligarh district by using principal component methods*. Pagar (2015) identified ten variables for determining the agricultural development regions of Nasik district by applying Kendall' Coefficient index. Singh, (2015) used coefficient of variation and compound annual growth rate (CAGR) techniques for finding out the agricultural disparity of pre-reform (1971-73 to 1991-93) and post- reform period (1991-93 to 2008- 11) of India. Jena (2014) focussed on Agricultural Disparities in Orissa by applying Principal component method. Patil (2013) examined Regional Disparities in the level of agricultural development of Dhule and Nandurbar Districts, India. He applied the composite index technique for analysing the data .. Data Envelopment Analysis Method is used by Burza (2011) for identifying the agricultural disparity in Romania. Raman and Kumari (2012) applied UNDP methodology to standardize the different variables for agricultural attainment in Uttar Pradesh.

Study Area

Kaushambi district lies between 24°,47' North to 25°North latitude and 81°,12' East to 81°47'East longitude. The district is surrounded by the Pratapgarh on the north, Chitrakoot on the south, Allahabad on the east and Fatehpur district on the west. There are many rivers which flow in the district namely Ganga, Yamuna, Sakra, Kilnahi, kanihara, Sasur Khadari. It covers about 1780 Square km of geographical area. Physiographically kaushambi district is divided into two parts such as Ganga– Sasur Khaderi area and Yamuna- Sasur khaderi area. Kaushambi District is divided into eight blocks namely Kara, Sirathu, Sarsawan, Manjhanpur, Kaushambi, Muratganj, Newada and Chail. The average annual rainfall of the district is 954 mm. The district is covered by mainly two types of soils: loamy and Clay known as Domat and Matiyar. The total population of Kaushambi district is 1,5,99,596 people according to the 2011 Census. About 92.22 percent of the population of Kaushambi district resides in villages . The economy of the district mainly depends on agriculture.

Objectives:

The main objectives of the present study are as follows:

- To identify the indicators of agricultural development.
- Examine spatial disparities in agricultural development of Kaushambi district.
- To find out the relationship between agricultural development and selected variables
- To chalk out the plan of agricultural development of the Kaushambi district.

Data

The present study is based on secondary data which are mainly collected from the different government sources like District Census Handbook and Zila Sankhikiya Patrika kaushambi district for the year 2015 to 2020.Eighteen indicators are selected for study.

Methodology

In the present study various statistical methods like mean, standard deviation, coefficient of variation, Z score and principal components analysis are applied for identifying the level of agricultural development of Kaushambi District. The whole analysis is done with the help of SPSS software and MS Excel.

PCA is a technique to transform the original set of variables into a smaller set of independent linear combinations so that most of the variations in the original data set is explained by those linear combinations. The linear combinations so selected are called Principal Components. (Imran and Salam, 2019). Principal Component Analysis are P1, P2, P3, P4, P5 and P6, are given as follows:

$$\mathbf{Pj} = \mathbf{aj}_1\mathbf{Z}_1 + \mathbf{aj}_2\mathbf{Z}_2 + \mathbf{aj}_3\mathbf{Z}_3 + \ldots\ldots\ldots\ldots + \mathbf{aj}_n\mathbf{Z}_n$$

Where**, Pj** is the principal component which is a linear combination of all the indicators and $\mathbf{aj}_n$ are called component loading.

As all the indicators of agricultural development are not equally important, different weightages are assigned to different indicators by the method of percent proportional standardized mean with the help of following formula of Z score-

$$z = \frac{Yij - \bar{Y}J}{\sigma j}$$

Where,

Z = Standard score of the ith variable of jth block

Yij = Original value of ith variable in jth block

$\bar{YJ}$ = Mean value of ith variable

σj = Standard division of ith variable

The reason for undertaking to analyse the first five principal components is due to the fact that they explain 94.44 per cent variation in data and latent root or Eigen Value is more than 1 [Kaiser's Criterion,1960].

A composite score or each block has been calculated with the following formula-

$$\mathbf{C_{Ij}} = \frac{1}{5}\sum_{1=1}^{n=5} \quad Pi$$

In this paper a composite index is used to classify the level of Agricultural Development. Compost index is a mean value of all five Principal Components. The blocks of Kaushambi district have been categorised into four level of agricultural development [Backward, Underdeveloped, Developing and Developed] based upon the mean and standard deviation .

Result and Discussion

Analysis is divided into three parts. In the first part, Indicators of spatial disparities in Agricultural development are reflected. The second part identifies the factors responsible for spatial disparities with the help of principal component methods and the third part examines the development pattern of various blocks of districts.

1.Spectrum of Spatial Disparities-

Statistical analysis of spatial disparities in agricultural development of Kaushambi district is shown in Table -1. The deviation from the mean is very high for percentage of area sown more than once to gross cropped area, agro services percent of total inhabited village, percentage of forest area to reporting area whereas on the other end it is low in case of percentage of total main workers to the total population, percentage of literate population/total population and net irrigated area. The overall coefficient of variation varies from 123.2977 percent in agro services of total inhabited area to 2.77 percent in case of percentage of total main workers to the total population.

Table- 4 Statistical Analysis of Spatial Disparities in Agricultural Development of Kaushambi District

S.No.	Indicators	Mean	S.D.	Coeff. Var.
1	Cropping Intensity	1.437083	0.167376924	11.64699
2	net irrigated area	80.3798	7.314855725	9.100366
3	percentage of literate population/total population	49.99059	1.883071471	3.766852
4	percentage of total main workers to the total population	40.51585	1.125314901	2.777468 Lowest
5	percentage of thresher machine to gross cropped area	2.507924	1.023079553	40.79388

6	percentage of net irrigated area by gov. tube wells to gross cropped area	3.765388	3.082265147	81.85783
7	percentage of diesel, electric engine and other to gross cropped area	8.427325	2.243066182	26.61659
8	percentage of harrow to gross cropped area	8.175773	2.652713091	32.44602
9	Percentage of plough to gross cropped area	26.94495	7.521803012	27.91545
10	no. of sowing machine to gross cropped area	0.204011	0.116929873	57.31538
11	percentage of fertilizer application in tons to gross cropped area	16.03348	1.777889394	11.08861
12	percentage of area sown more than once to gross cropped area	39.6782	8.924196617	22.49144
13	percentage of area forest to reporting area	0.098049	0.10686774	108.994
14	percentage of NSA to total reported area	66.86679	9.4202092	14.08802
15	percentage of net irrigated area to NSA	80.3798	7.314855725	9.100366
16	godowns as percent of total inhabited villages	2.459557	2.858241664	116.2096
17	agricultural co- operative institutions as percentage of total inhabited villages	9.847805	2.794803908	28.37997
18	agro service percent of total inhabited village	0.917851	1.13168871	123.2977 Highest

Above analysis shows that overall spatial variations over the development indicators are quite substantial and also enhance the complexities of variables. Their transformation into standardized form will reduce the complexities arising due to different units and scale of measurements of different indicators and make the distribution relatively more compact.

For measuring the level of agricultural development, the Principal Component Method is applied. Before computing the correlation matrix, the eigen value and loading factor of Principal Component firstly Z score of 18 variables is computed block wise for preparing the matrix.

Table-5 Z- Score of the variables for the agricultural development in Kaushambi District

BLOCK	Y1	Y2	Y3	Y4	Y5	Y6	Y7	Y8	Y9	Y10	Y11	Y12	Y13	Y14	Y15	Y16	Y17	Y18
Kada	.229	-1.49	.512	-2.07	-.83	-.70	1.26	1.46	.29	-1.2	1.2	-1.02	1.98	-.019	-1.5	2.96	.05	-.01
Sirathu	-.003	-.558	.665	.947	-.525	-.61	1.07	.54	.85	-1.0	-.38	-.91	-.04	.467	-.56	-.86	-1.7	.51
Sarsawan	-.751	-.619	-.455	.685	-1.30	-.88	-.62	.11	.97	.99	-1.2	-.647	-.32	1.05	-.62	.048	-.03	-.81
Manjhanpur	-.905	.987	-1.75	.735	.534	-.15	.90	-.19	-.52	.98	.78	-.285	-.69	1.05	.99	-.86	-.66	.96
Kaushambi	-.448	-.907	-.263	-.30	-.080	-.82	-1.5	.48	1.01	1.39	1.04	-.664	-.74	.816	-.91	.306	.85	-.81
Mooratganj	1.52	.802	-.579	.561	.036	.83	.046	-1.3	-1.1	-.44	-1.5	1.05	1.02	-1.06	.80	-.44	-.07	-.81
Chayal	-1.04	.746	.283	.079	2.00	1.96	-.32	.043	.18	.016	-.27	1.38	-.92	-1.40	.75	2.23	1.74	1.79
Newada	1.40	1.04	1.59	-.638	.168	.38	-.83	-1.6	-1.6	-.81	.35	1.09	-.29	-.903	1.04	-.05	.019	-.81

For the data presented in Table 5, the correlation matrix R is computed in Table-5

Table – 6 Correlation Matrix(R)

	Y1	Y2	Y3	Y4	Y5	Y6	Y7	Y8	Y9	Y10	Y11	Y12	Y13	Y14	Y15	Y16	Y17	Y18
Y1	1.00																	
Y2	.219	1.00																
Y3	.459	-.13	1.00															
Y4	-.24	.43	-.47	1.00														
Y5	-.21	.66	-.04	.12	1.00													
Y6	.12	.72	.114	.112	.864	1.00												
Y7	-.02	-.13	-.14	-.05	-.14	-.11	1.00											
Y8	-.63	-.79	-.05	-.34	-.18	-.38	.37	1.00										
Y9	-.69	-.77	-.13	.079	-.32	-.51	-.01	.809	1.00									
Y10	-.62	.016	-.69	.36	.065	-.20	-.52	.040	.353	1.00								
Y11	-.22	-.29	.080	-.62	.080	-.32	.090	.424	.099	.083	1.00							
Y12	.356	.822	.194	.112	.722	.916	-.35	-.68	-.71	-.160	-.367	1.00						
Y13	.536	-.41	.173	-.56	-.48	-.20	.531	.195	-.15	-.622	-.006	-.225	1.00					
Y14	-.50	-.49	-.49	.23	-.59	-.86	.101	.385	.587	.560	.274	-.852	-.179	1.00				
Y15	.219	1.00	-.13	.425	.663	.721	-.13	-.79	-.77	.016	-.287	.822	-.413	-.489	1.00			
Y16	-.44	-.01	.135	-.21	.598	.584	-.34	.331	.263	.152	-.014	.393	-.253	-.458	-.006	1.00		
Y17	-.21	.121	.079	-.36	.605	.564	-.57	.072	-.01	.281	.146	.513	-.226	-.481	.121	.877	1.00	
Y18	-.59	.250	-.15	.16	.684	.493	.454	.382	.128	-.067	.158	.153	-.296	-.170	.250	.458	.173	1.00

The Eigenvalues, the percentage of variance and cumulative percentage explained by the principal component derived from the correlation matrix are presented in following table-7

Table-7 Total Variance Explained

Component	Initial Eigenvalues			Extraction Sums of Squared Loadings		
	Total	% of Variance	Cumulative %	Total	% of Variance	Cumulative %
1	6.466	35.923	35.923	6.466	35.923	35.923
2	3.964	22.023	57.946	3.964	22.023	57.946
3	3.173	17.629	75.575	3.173	17.629	75.575
4	2.112	11.735	87.310	2.112	11.735	87.310
5	1.283	7.128	94.438	1.283	7.128	94.438
6	0.858	4.768	99.206			
7	0.143	0.794	100.000			
8	6.330E-16	3.517E-15	100.000			
9	4.223E-16	2.346E-15	100.000			
10	2.906E-16	1.614E-15	100.000			
11	1.927E-16	1.071E-15	100.000			
12	-4.449E-17	-2.472E-16	100.000			
13	-1.019E-16	-5.661E-16	100.000			
14	-2.117E-16	-1.176E-15	100.000			
15	-3.209E-16	-1.783E-15	100.000			
16	-3.904E-16	-2.169E-15	100.000			
17	-9.168E-16	-5.093E-15	100.000			
18	-9.805E-16	-5.447E-15	100.000			

II Factor management-

Extraction of factor was stopped after fifth principal factor as the eigen value for the next factor was less than unity (Table 5) The result of factor analysis is computed in standardized form with the help of principal factor technique and varimax rotation procedure as summarized in table 6. The listing of variables is according to their loading. From the first row onward first the variable with highest factor loading in factor I is computed then those with highest loading in factor II, III, IV and V successively.

Table-8 Varimax Rotated Factor Matrix

Eigen vector (loading)					
varibles	PC1	PC2	PC3	PC4	PC5
Y1	0.118372	-0.45706	0.033122	-0.14037	0.010594
Y2	0.35079	-0.01005	-0.20884	0.110784	0.159796
Y3	0.049551	-0.21246	0.328975	-0.14863	-0.1183
Y4	0.077866	0.12205	-0.45416	0.142437	-0.36109
Y5	0.305958	0.245105	0.113962	0.150006	0.152733
Y6	0.362194	0.085887	0.139786	0.119042	-0.13154
Y7	-0.10972	-0.13461	0.057823	0.622733	0.022071
Y8	-0.27253	0.219992	0.279011	0.182347	-0.07504
Y9	-0.28394	0.276246	0.057823	-0.03509	-0.32577
Y10	-0.0527	0.352088	-0.2807	-0.2718	0.155382
Y11	-0.12938	0.089905	0.20996	0.010322	0.730117
Y12	0.387756	-0.02059	0.046595	-0.07294	-0.05739
Y13	-0.11837	-0.34104	0.239714	0.121106	-0.07328
Y14	-0.31422	0.12205	-0.28575	-0.0055	0.168624
Y15	0.35079	-0.01005	-0.20884	0.110784	0.159796
Y16	0.13135	0.326975	0.334027	-0.10941	-0.23307
Y17	0.173822	0.261178	0.296414	-0.30208	0.050322
Y18	0.096742	0.285789	0.130243	0.507131	0.021188

The content and nature of each factor is described individually as follows-

Factor 1

Five variables are found to have significant loading in the first factor. These are cropping intensity (.118372), net irrigated area (.35079), percentage of literate population to total population (.049551), percent of main worker to total population (.077866) and percentage of thresher machine to gross cropped area (.305958). These variables are also significantly correlated with each other. The loading of all five variables is positive.

The loading of percentage literate population to total population and percentage of total main worker to total population is less than other indicators. The loading of cropping intensity is also low showing the poor fertility of land, the farmer uses poor fertilizers and is unaware of agro technological input. It explains about 35.92 percent of the common variance.

Factor 2

It includes five variables namely percentage of net irrigated area by government tube wells to gross cropped area, percentage of diesel, electric engine and others to gross cropped area, percentage of harrow to gross cropped area and Percentage of plough to gross cropped area and number of sowing machines to gross cropped area with their loading as .085887, -.1 3461, .219992, .216246 and -.352088 respectively. It is bipolar in nature due to the occurrence of positive and negative loading. Four indicators are positively and significantly correlated with each other. One indicator percentage of diesel, electric engine to gross cropped area is negatively correlated to other. It means farmers are using traditional means of agriculture. Loadings of net irrigated area by government tube wells to gross cropped area is also low signifying that it is less developed regions. It explains about 22.02 percent of common variance (Table 7).

Factor 3

Four indicators included in this factor are percentage of fertilizers used in tons to gross cropped area (.20996), percentage of area sown more than once to gross cropped area (.046585), percentage of forest to reporting area (.239714), percentage of net sown area to total reported area (-.28575). This factor is bipolar in nature due to occurrence of both positive and negative values explaining about 17.629 percent of variance. Only one indicator namely percentage of net sown area (-.28575) have high negative loading while three indicators are positively correlated to each other.

Factor 4

Fourth factor contains only two indicators namely percentage of net irrigated area to net sown area and percentage of godown's total inhabited villages. The loading of these indicators is.110784 and -.10941. This factor is bipolar in nature due to occurrence of positive and negative value. This factor explains about only 11.735 percent of common variance.

Factor 5

In comparison to other factors this factor explains the low amount of common variance (7.128) only two indicator indicators are included in this factor. These are percent of agricultural co- operative institutions to total inhabited villages (.050322) and percent of agro services to total inhabited villages (.021188) which are positively correlated with each other.

Agricultural Development-

Agriculture is an important economic activity. It is the prime source of food, raw material for agro based industry as well as mode of employment for rural people (Mishra and Singh,2016). The district wise composite index of five principal components comprising eighteen indicators of agricultural development varies from- 1.0672 to 1.686371 with a maximum score in Chayal block and minimum in Sirathu block. Mean value of the composite index is. 032. About half of the blocks come below the mean value.

Table-9 Principal Component Value and Composite Index of Kaushambi District by blocks

Block	P1	P2	P3	P4	P5	CI
Kada	-2.600347	-.42455	4.027146	.378893	-.10556	.255117
Sirathu	-1.914141	-.85963	-.5498	1.686166	-1.06628	-.54073
Sarsawan	-2.010532	.720863	-1.5453	-1.17867	-1.32232	-1.0672
Manjhanpur	.117336	1.268637	-2.29169	1.769877	1.709037	.514639
Kaushambi	-1.827653	1.781476	.028955	-2.25138	.706333	-.31245
Mooratganj	2.431787	-2.23318	-.90046	-.011109	-.89006	-.3406
Chayal	3.494568	3.046149	2.000771	.612249	-.72188	1.686371
Newada	2.684973	-2.36379	.186585	-1.21922	1.023562	.062421

Source: Computed by Author

All the blocks may be conveniently arranged into four categories of agricultural development. The score of agricultural development is marked with notable variation in its distribution among the blocks of Kaushambi district. Table 9 shows the level of agricultural development by blocks. High level of agricultural development is found in only Chayal block. It comes under the developed category.

Table-10 Level of Agricultural Development of Kaushambi District by Blocks

Category	Value	Level	No. of Blocks	Name of Blocks
Above [$\overline{CI}$ +0.6745xδ]	above 0.548214	Developed	1	Chayal
[$\overline{CI}$ +0.6745xδ] to $\overline{CI}$	.54821 to .03219	Developing	3	Manjhanpur, Newada, kada
$\overline{CI}$ to [$\overline{CI}$ -0.6745xδ]	.03219 to -.4982	Under Developed	3	Sarsawan, Mooratganj, Kaushambi
Below [$\overline{CI}$ -0.6745xδ]	below -.49827	Backward	1	Sirathu

Source Computed by Author

Three blocks of the district fall in the underdeveloped low level development region (.03219 to -.4982) comprising the blocks of Mooratgang(-.3406), Kaushambi(-.31245) Sarsawan (-1.0672). Sirathu block falls in the backward region. About half of the blocks of the district come in the under-developed and backward categories. The result clarifies that large-scale regional disparities exist in the development of agriculture in the Kaushambi District at block level.

Conclusion

Study shows regional disparities of agricultural development in Kaushambi district at block level. The principal component analysis method has been applied to find out the level of agricultural development at the block level. In view of agricultural development Chayal block has been found in the highly developed block of Kaushambi district. Sirathu is considered a backward block. Three blocks are also found in under developed categories. The main reason for its backwardness is the lack of agricultural infrastructure and the use of substandard backward techniques. The reason behind the development of the Chayal block, farmers use the new technologies and advanced infrastructure of agriculture. There is a need to pay special attention to these backward and under developed blocks and make them farmers. Government should promote different types of agricultural policies, in which farmers should be made aware of new technologies, seeds and fertilizers.

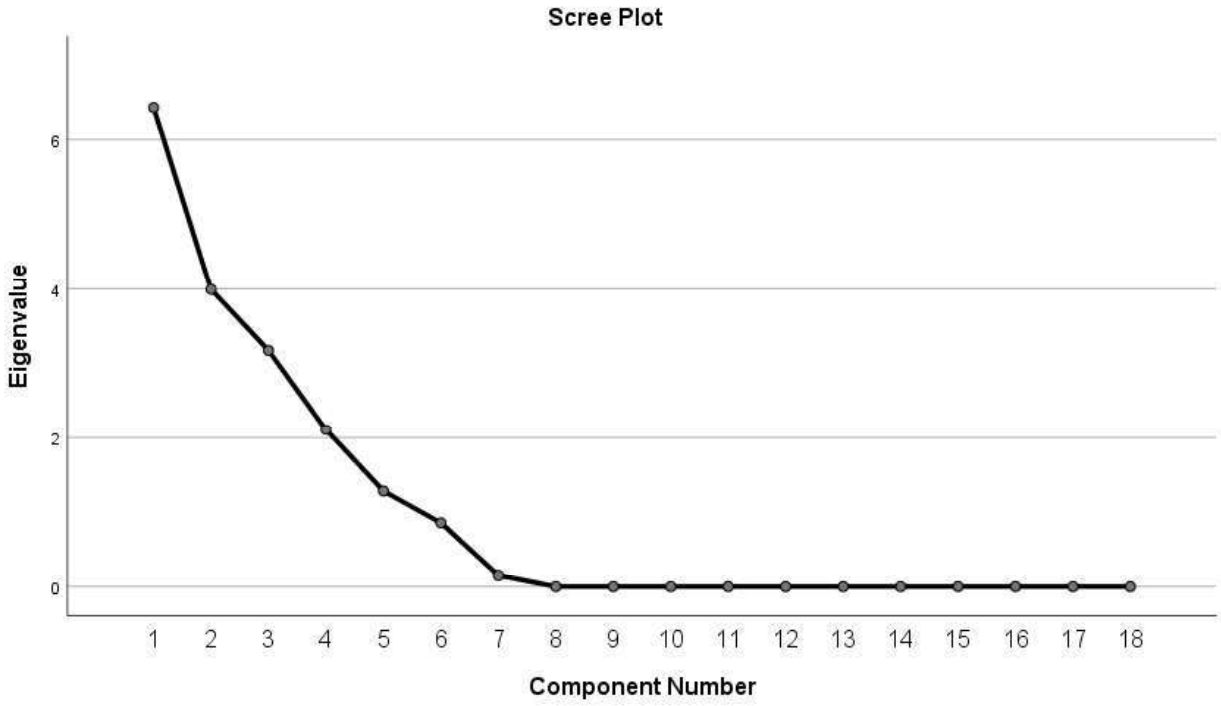


Fig. 1

Reference

Baig, I.A & Salam, M. A. (2019), Regional disparities in agricultural development: An analysis of micro level. International Journal of Research and Analytical Reviews, Vol. (6), Issue 1.E-ISSN: 2348-1269, P-ISSN 2349-5138 pp 1154-1160.

Burja, V. (2011), Regional Disparities of Agricultural Performance in Romania. Annales Universitatis Apulensis Series Oeconomica, 13(1).

Chandna, R.C. (2010), Regional planning and Development (3rd edition) Kalyani Publication, New Delhi.

Friedmann J. (1966), Regional Development Policy, A Case Study of Venezuela, MIT Press, Boston.

Gadekar, D.J. (2016), Regional Disparities of Agricultural Development in Ahmednagar District, MS, India. International Journal of Research of Social Science, Vol. (6), ISSN:2249-2496.

Jena, D. (2014), Agricultural Development Disparities in Odisha: A Statistical Study. American Research Institute for Policy Development, Vol. (2), No. 1, pp.45-53. ISSN 2374-2348.

Kaser, Henry F. (1960), The application of electronic computers to factor Analysis, Educational and Psychological Measurement, 20 (1)141-151.

Khan, k. (2013), Spatio- temporal analysis of agricultural development a block- wise study of Dehradun district. International Journal of Geography and Geology,2(3): P/p 24-35.

Kundu, K.S. and Mondal, D. (2012), Level of Development in Murshidabad District of West Bengal Level Study. Journal of Landscape System and Ecological Studies, 35 (1) :pp.515-522.

Mishra, N & Singh, M.B. (2016), Spatial analysis of micro regional disparity in level of development –A case study of Saharsa District, Bihar. National Geographic Journal of India, 62(2), pp 157-172.

Mishra, R.P.et. al. (eds.) (1978), Regional Planning and National Development , Vikas Publication, New Delhi.

Mitra, A. (1961), Level of Regional Development in India, Census of India, Vol.1, part 1, A (1) Government of India, New Delhi.

Murty, S.(2000), Regional Disparities: Need and Measure for Balanced Development , ed.by Shukla A., Regional Planning and Sustainable Development: pp.3-16.

Negi, G.& Ballabh, C. (2018), A Study on cropping intensity index and irrigation intensity in district Dehradun. International Journal of Creative Research Thought, Vol.6, Issue 1 ISSN 2320- 2882.

Pagar, S.D (2015), spatial analysis of agricultural development in Nashik District: A tehsil level study. Peer reviewed the international research journal of Geography MBSP, Vol-32. No. 1 P/p 37-4

Patil, B.D (2015), Inter-Relationship Between Net Irrigated Area and Area Sown More than Once in Dhule and Nandurbar District of Maharashtra - A Geographical Analysis, Vol. (4) ISSU 5, ISSN-2250-1991.

Patil, B.D. (2013), Regional Disparities in Level of Agricultural Development in Dhule and Nandurbar District, India. Research Journal of Agriculture and Forestry Science, Vol.1 (5), pp.9-12, ISSN 2320-6063.

Raman, R. &Kumari, R. (2012), Regional disparity in agricultural development: A district level analysis for Uttar Pradesh. Journal of Regional development and Planning, 1(2): pp. 71-9.

Singh, J. (2015), Regional Disparities in the levels of Agricultural Development in India: Comparison of Pre- Reform and Post Reform period. Agricultural Situation in India Vol. (72) No.66, pp.25-31 ref.11.

Singh, M. B & Dubey, K.N. (1986) Regional Development Planning, Tara Book Agency, Varanasi. pp 45 – 46.

Swain, A.K.P.C., and Mohanty, B. (2010), Socio-demographic Disparities in Orissa-maternal and child health and welfare perspectives, Demography India, vol. 39, No. 1, pp.129-13.

https://kaushambi.nic.in

श्रीलाल शुक्ल के कथा साहित्य में व्यंग्य की भूमिका

ओम प्रकाश*
sarjuomprakash@gmail.com

डॉ. अखिलेश कुमार†
drakhilesh369@gmail.com

सारांश

श्रीलाल शुक्ल का कथा साहित्य हिंदी व्यंग्य लेखन की परंपरा में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। उनके उपन्यासों और कहानियों में व्यंग्य केवल हास्य का माध्यम न होकर समाज की विसंगतियों, राजनीतिक पाखंड, प्रशासनिक भ्रष्टाचार और मानवीय कमजोरियों के प्रति तीव्र टिप्पणी का रूप ले लेता है। श्रीलाल शुक्ल ने ग्रामीण और शहरी परिवेश में व्याप्त सांस्कृतिक पतन और नैतिक संकट को व्यंग्यात्मक शैली में उकेरकर भारतीय समाज का यथार्थपरक चित्रण प्रस्तुत किया है। उनके प्रसिद्ध उपन्यास राग दरबारी में व्यंग्य, सत्ता और समाज की अंतर्कथाओं को उजागर करने का उपकरण बनता है, जहाँ पात्रों की भाषा, आचरण और परिस्थितियाँ व्यंग्य के माध्यम से व्याप्त विडंबनाओं को सामने लाती हैं। यह शोध पत्र उनके कथा साहित्य में व्यंग्य की संरचना, उसकी कार्यविधि और समाज पर उसके प्रभाव का विश्लेषण करेगा। साथ ही यह भी विवेचना करेगा कि किस प्रकार श्रीलाल शुक्ल ने अपने व्यंग्य के माध्यम से पाठकों को केवल हँसी नहीं बल्कि गंभीर आत्मविश्लेषण के लिए प्रेरित किया है। इस शोध में व्यंग्य को सामाजिक आलोचना और यथार्थवाद के एक प्रभावी उपकरण के रूप में देखा गया है, जिससे उनके कथा साहित्य की प्रासंगिकता और अधिक सुदृढ़ होती है।

मुख्य शब्द- *श्रीलाल शुक्ल, व्यंग्यात्मक शैली, ग्रामीण समाज, राजनीति और पाखंड, भाषा और संवाद, प्रतीकात्मकता*

परिचय

हिंदी कथा साहित्य में व्यंग्य एक ऐसा सशक्त उपकरण है, जिसके माध्यम से समाज में व्याप्त विडंबनाओं, राजनीतिक पाखंड, प्रशासनिक भ्रष्टाचार और मानवीय कमजोरियों का सजीव, प्रभावी और तीक्ष्ण चित्रण संभव हो पाता है। व्यंग्य केवल हास्य या मनोरंजन उत्पन्न करने का साधन न होकर समाज को उसकी वास्तविकता का साक्षात्कार कराने वाला दर्पण है, जो पाठकों को आत्मविश्लेषण और सामाजिक चेतना की दिशा में प्रेरित करता है। हिंदी साहित्य में व्यंग्य लेखन की एक समृद्ध परंपरा रही है, जिसमें हरिशंकर परसाई, शरद जोशी, काका हाथरसी जैसे रचनाकारों ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।[1] इस परंपरा में श्रीलाल शुक्ल का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जिन्होंने व्यंग्य को केवल हास्य तक सीमित न रखते हुए उसे सामाजिक और राजनीतिक आलोचना का एक प्रभावी माध्यम बनाया। श्रीलाल शुक्ल का कथा साहित्य भारतीय ग्रामीण और शहरी समाज के यथार्थ का सजीव दस्तावेज है। उनके उपन्यास *राग दरबारी* (1968), *आदमी का ज़हर* (1970), *सीमाएँ टूटती हैं* (1972), *अज्ञातवास* (1980) आदि में व्यंग्यात्मक दृष्टिकोण के माध्यम से समाज में व्याप्त विसंगतियों, सत्ता और प्रशासन में व्याप्त भ्रष्टाचार, शिक्षा व्यवस्था की खामियों, ग्रामीण संरचना में मौजूद पाखंड और शोषण को अत्यंत सूक्ष्मता के साथ उद्घाटित किया गया है। उनके कथा-संसार में व्यंग्य मात्र मनोरंजन का साधन नहीं बल्कि एक सामाजिक हस्तक्षेप की रणनीति के रूप में कार्य करता है।

* **शोधार्थी, हिंदी एवं अन्य भारतीय भाषा विभाग, डॉ. शकुन्तला मिश्रा राष्ट्रीय पुनर्वास विश्वविद्यालय, लखनऊ**

† **शोध निर्देशक एवं असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी एवं अन्य भारतीय भाषा विभाग**
डॉ. शकुन्तला मिश्रा राष्ट्रीय पुनर्वास विश्वविद्यालय, लखनऊ

राग दरबारी को यदि उदाहरण के रूप में लिया जाए, तो यह उपन्यास भारतीय ग्रामीण समाज और उसमें व्याप्त सत्ता-संघर्ष, शिक्षण संस्थानों की राजनीति, ग्राम पंचायत की आंतरिक जटिलताओं और नैतिक मूल्यों के क्षरण का ऐसा चित्र प्रस्तुत करता है, जो व्यंग्य की शैली में गंभीर सामाजिक आलोचना करता है। उपन्यास में विद्यालय के प्राचार्य वैद्यजी, पंचायत सदस्यों और अन्य स्थानीय पात्रों के माध्यम से प्रशासनिक मशीनरी और ग्रामीण राजनीति में फैले भ्रष्टाचार और पाखंड का खुला प्रदर्शन किया गया है। उदाहरणस्वरूप, विद्यालय की लाइब्रेरी का निरीक्षण करने आए अधिकारी के सामने पुस्तकों से दीवार को ढक कर "संपन्न" दिखाने का प्रसंग न केवल शिक्षा व्यवस्था के खोखलेपन पर प्रहार करता है, बल्कि यह बताता है कि व्यवस्था का प्रत्येक स्तर किस प्रकार दिखावे और छल की संस्कृति से संचालित हो रहा है। इसी प्रकार पंचायत बैठकों में विकास योजनाओं की चर्चा के बजाय व्यक्तिगत खींचतान और स्वार्थ का उजागर होना, भारतीय लोकतांत्रिक ढांचे में सत्ता के विकेंद्रीकरण की विडंबना को चिह्नित करता है।

श्रीलाल शुक्ल का व्यंग्य उनकी भाषा और संवाद शैली में स्वाभाविक रूप से प्रकट होता है। उनकी भाषा सरल, प्रांजल और पात्रों की मानसिकता एवं सामाजिक स्तर के अनुकूल है। संवादों में निहित तीखा कटाक्ष सामाजिक यथार्थ को मार्मिकता के साथ उजागर करता है। *राग दरबारी* में रंगलाल का यह कथन—*"यहाँ किसी को कुछ पता नहीं चलता, और अगर पता चल भी जाए तो कुछ होता नहीं",*[2] भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था में व्याप्त उदासीनता और अराजकता का संक्षिप्त किंतु गहन व्यंग्यात्मक बयान है। यह संवाद केवल एक व्यक्ति की निराशा नहीं दर्शाता, बल्कि पूरे समाज की निष्क्रियता और व्यवस्था के पतन पर तीखा कटाक्ष है। इसी उपन्यास में पंचायत की बैठकों, विद्यालय के निरीक्षण, और गाँव की राजनीति पर पात्रों द्वारा बोले गए संवाद घटनाओं को हास्य में ढालते हैं, पर उनके भीतर छुपी कटु सच्चाई पाठकों को भीतर तक झकझोरती है।इसी प्रकार *सीमाएँ टूटती हैं* में पात्रों की भाषा सत्ता-लोलुपता और नैतिक पतन को व्यंग्यात्मक ढंग से उजागर करती है। श्रीलाल शुक्ल का व्यंग्य लेखन उनके प्रशासनिक अनुभव से भी पोषित है। भारतीय प्रशासनिक सेवा (IAS) में कार्य करते हुए उन्होंने सत्ता-संरचना के विभिन्न स्तरों, नौकरशाही की जटिलताओं और ग्रामीण जीवन की वास्तविकताओं को निकट से देखा। इस अनुभव ने उन्हें समाज की गहरी विसंगतियों और सत्ता के खेल को समझने का दृष्टिकोण प्रदान किया, जिसे उन्होंने अपनी रचनाओं में व्यंग्यात्मक शैली में रूपांतरित किया। उनकी रचनाएँ इस बात का साक्ष्य हैं कि सत्ता और प्रशासनिक ढांचे में छोटे-छोटे स्वार्थ और व्यक्तिगत लाभ किस प्रकार ईमानदारी और आदर्शों की बलि चढ़ाते हैं।

आज के संदर्भ में भी श्रीलाल शुक्ल का व्यंग्य अत्यंत प्रासंगिक है। वर्तमान भारतीय समाज में भ्रष्टाचार, राजनीतिक पाखंड, प्रशासनिक असफलताएँ और सामाजिक विषमताएँ यथावत बनी हुई हैं। शुक्ल का व्यंग्य साहित्य न केवल इन समस्याओं की गहरी जड़ों को उजागर करता है, बल्कि यह भी बताता है कि ये विसंगतियाँ किस प्रकार हमारी सामाजिक संरचना में गहराई से अंतर्निहित हैं और हमारे व्यक्तिगत तथा सामूहिक जीवन को प्रभावित करती हैं। उनके व्यंग्य में हास्य का उद्देश्य केवल हँसी तक सीमित नहीं है; इसके माध्यम से वे समाज में परिवर्तन और सुधार की दिशा में विचार उत्पन्न करने का प्रयास करते हैं।

शुक्ल का व्यंग्य हमें यह भी बताता है कि शिक्षा व्यवस्था से लेकर प्रशासन तक, सत्ता के शिखर से लेकर ग्राम पंचायत तक, हर स्तर पर व्याप्त भ्रष्टाचार और नैतिक पतन किस प्रकार व्यक्ति और समाज के नैतिक आधार को कमजोर करता है। उनका साहित्य पाठक को इन विसंगतियों पर हँसने के लिए प्रेरित करता है ताकि वह उनका सामना कर सके, उनका विश्लेषण कर सके और उनके समाधान की दिशा में सोच सके। इस शोध-पत्र में श्रीलाल शुक्ल के कथा साहित्य में व्यंग्य की संरचना, उसकी प्रविधियों तथा उसके सामाजिक प्रभाव का विश्लेषण किया जाएगा। विशेषतः यह देखा जाएगा कि किस प्रकार उन्होंने व्यंग्य को सामाजिक यथार्थ और आलोचना का माध्यम बनाया, किस प्रकार उनके व्यंग्य ने पाठकों में जागरूकता और आत्मविश्लेषण की प्रवृत्ति उत्पन्न की, और किस प्रकार उनका व्यंग्य हिंदी कथा साहित्य को एक नई दिशा प्रदान करता है[3]। श्रीलाल शुक्ल का व्यंग्य हिंदी कथा साहित्य में एक ऐसे उपकरण के रूप में स्थापित होता है, जो पाठक को हँसी के माध्यम से गंभीर सामाजिक सच्चाइयों का बोध कराता है और समाज में जागरूकता तथा सुधार की दिशा में प्रेरित करता है। उनका व्यंग्य भारतीय समाज का सच, उसकी समस्याएँ और उसकी विडंबनाएँ एक सहज, प्रवाहमयी और सजीव शैली में प्रस्तुत करता है, जिससे उनका साहित्य न केवल मनोरंजन का साधन बनता है बल्कि समाज के यथार्थ से साक्षात्कार कराने और उसमें सकारात्मक बदलाव लाने का माध्यम भी बनता है।

श्रीलाल शुक्ल के कथा साहित्य में व्यंग्य: संरचना

श्रीलाल शुक्ल का कथा साहित्य हिंदी व्यंग्य लेखन में अपनी विशिष्ट संरचना, प्रविधि और दृष्टिकोण के लिए विख्यात है। उन्होंने व्यंग्य को केवल हास्य उत्पन्न करने का उपकरण न मानकर समाज की विसंगतियों, विडंबनाओं और भ्रष्ट तंत्र की परतें उघाड़ने का सशक्त माध्यम बनाया। उनके व्यंग्य की संरचना में प्राकृतिक सहजता, पात्रों की विश्वसनीयता, भाषा की चपलता और यथार्थ की गहराई से उपजा हास्य-बोध विद्यमान है। यही कारण है कि उनका व्यंग्य पाठक को केवल मनोरंजन तक सीमित न रखकर उसे सामाजिक और राजनीतिक यथार्थ से साक्षात्कार कराता है। *राग दरबारी* में शुक्ल ने ग्रामीण समाज की विसंगतियों और सत्ता के विकेंद्रीकरण की विडंबनाओं को घटनाओं और स्थितियों के माध्यम से गहराई से उकेरा है। उपन्यास का शिवपालगंज ग्राम मात्र एक भौगोलिक इकाई नहीं, बल्कि भारतीय लोकतांत्रिक ढांचे का लघु रूपक है। वे *राग दरबारी (1968)* में लिखते हैं *"हमारा गाँव ऐसा है कि यहाँ जो आदमी सबसे कम काम करता है, वही सबसे ज़्यादा सम्मान पाता है।"*[4] यहाँ का विद्यालय और पंचायत भवन भ्रष्टाचार, दिखावे और राजनीतिक स्वार्थ का केंद्र बन चुके हैं। प्राचार्य वैद्यजी विद्यालय के नाम पर सरकारी अनुदान प्राप्त करने और राजनीतिक प्रभाव बढ़ाने में निरंतर सक्रिय रहते हैं। एक प्रसिद्ध प्रसंग में निरीक्षण के लिए आए अधिकारी को यह दिखाने के लिए कि विद्यालय में पुस्तकालय व्यवस्था सुदृढ़ है, टूटी-फूटी दीवार को किताबों से इस प्रकार ढक दिया जाता है कि निरीक्षक को सब कुछ व्यवस्थित और "संपन्न" प्रतीत हो। यह दृश्य शिक्षण संस्थानों में व्याप्त खोखलेपन और सरकारी योजनाओं की औपचारिकता पर तीखा व्यंग्य करता है, जहाँ वास्तविक सुधार की जगह कागजी खानापूर्ति और बाह्य प्रदर्शन को ही 'विकास' मान लिया जाता है।

इसी प्रकार, पंचायत भवन की बैठकों का चित्रण भी व्यंग्यात्मक शैली में किया गया है। ग्राम विकास योजनाओं और आम जनता की समस्याओं पर चर्चा के लिए बुलाई जाने वाली ये बैठकें वास्तविकता में केवल व्यक्तिगत स्वार्थ, गुटबाजी और आपसी खींचतान का मंच बनकर रह जाती हैं। सदस्य विकास योजनाओं पर ध्यान देने के बजाय अपने-अपने राजनीतिक हित साधने और वैद्यजी जैसे प्रभावशाली व्यक्तियों की कृपा पाने में जुटे रहते हैं। श्रीलाल शुक्ल के व्यंग्य साहित्य में शहरी जीवन, नौकरशाही और राजनीति की विसंगतियाँ गहरे व्यंग्यात्मक तेवर के साथ सामने आती हैं। उनके उपन्यास *मकान* (1957) में शहरी मध्यमवर्गीय परिवार द्वारा मकान निर्माण की प्रक्रिया में रिश्वतखोरी, लालफीताशाही और सरकारी भ्रष्टाचार की परतें उजागर होती हैं। इस कथा के माध्यम से लेखक ने भारतीय शहरी जीवन की जटिलताओं और नैतिक पतन को यथार्थवादी ढंग से चित्रित किया है। यही कारण है कि वे लिखते हैं— *"इस देश में ईमानदार आदमी का सबसे बड़ा अपराध यही है कि वह ईमानदार है।"*[5] यह कथन उस व्यवस्था पर करारा व्यंग्य है जहाँ ईमानदारी स्वयं अपराध के समान हो जाती है। इसी प्रकार *सीमारेखा* (1972) सत्ता और राजनीति की खींचतान के बीच आम आदमी के सपनों और मूल्यों के विघटन को उजागर करता है। यहाँ सीमारेखा केवल भौगोलिक नहीं, बल्कि नैतिक और सामाजिक विभाजन का प्रतीक बन जाती है। लेखक ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है— *"सीमाएँ ज़मीन पर नहीं, इंसान के भीतर खिंची होती हैं।"*[6] यह उद्धरण समाज में व्याप्त आंतरिक विरोधाभासों और मनुष्य की नैतिक दुविधाओं को गहराई से प्रकट करता है। इसी कड़ी में *पहला पड़ाव* (1960) नौकरशाही की अक्षमता और लालफीताशाही की विडंबनाओं को व्यंग्यात्मक रूप में प्रस्तुत करता है। सरकारी तंत्र में आम नागरिक की पीड़ा और हास्यास्पद परिस्थितियों का चित्रण करते हुए शुक्ल लिखते हैं— *"यहाँ काम करने के लिए नहीं, काम को टालने के लिए कार्यालय बनाए गए हैं।"*[7] यह वाक्य नौकरशाही की जड़ता और प्रशासनिक ढाँचे के खोखलेपन को तीखे व्यंग्य के साथ सामने लाता है। इन तीनों रचनाओं के उद्धरण और घटनाएँ इस तथ्य को प्रमाणित करती हैं कि श्रीलाल शुक्ल ने अपने साहित्य में सामाजिक, राजनीतिक और प्रशासनिक व्यवस्था की कमजोरियों को न केवल उकेरा, बल्कि उन्हें जनचेतना का विषय बनाकर हिंदी व्यंग्य साहित्य को नई दिशा प्रदान की।

यह प्रसंग भारत की ग्रामीण राजनीति में व्याप्त स्वार्थपरता और निर्णयहीनता पर करारा व्यंग्य प्रस्तुत करता है, जहाँ सत्ता का विकेंद्रीकरण लोकतंत्र को मजबूत करने के बजाय स्थानीय स्तर पर भ्रष्टाचार और गुटबाजी को बढ़ावा देने का माध्यम बन जाता है। इन घटनाओं के माध्यम से शुक्ल न केवल ग्रामीण व्यवस्था के खोखलेपन और प्रशासनिक असफलताओं को उजागर करते हैं, बल्कि यह प्रश्न भी खड़ा करते हैं कि समाज में बदलाव और सुधार की वास्तविक प्रक्रिया कब प्रारंभ होगी। इस प्रकार उनका व्यंग्य पाठक को हँसाते हुए भीतर तक झकझोरता है और यथार्थ के प्रति आत्मबोध कराता है।

पात्रों के माध्यम से व्यंग्य

श्रीलाल शुक्ल के व्यंग्य की दूसरी महत्वपूर्ण आधारशिला उनके पात्र हैं, जो समाज के विभिन्न वर्गों, प्रवृत्तियों और मानसिकताओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। *राग दरबारी* के *वैद्यजी, रंगलाल, बद्री पहलवान* और *शंकर* जैसे पात्र केवल कथा के घटक नहीं हैं, बल्कि ग्रामीण सत्ता-संरचना और सामाजिक विडंबनाओं को उजागर करने वाले जीवंत प्रतीक हैं। वैद्यजी का चरित्र विशेष रूप से शिक्षा व्यवस्था और ग्राम राजनीति में व्याप्त अवसरवाद और पाखंड का प्रतिनिधित्व करता है। शिक्षा व्यवस्था पर ये अपने उपन्यास *राग दरबारी* (1968) के माध्यम से कहते हैं- *"यहाँ शिक्षा का उद्देश्य पढ़ाना नहीं, बल्कि दिखाना है कि पढ़ाई हो रही है।"*[8] विद्यालय के प्राचार्य होते हुए भी वह निजी स्वार्थ साधने और गाँव में अपनी सत्ता बनाए रखने के लिए शिक्षा व्यवस्था को राजनीतिक हथियार की तरह प्रयोग करते हैं। सरकारी अनुदान और योजनाओं का लाभ वह अपने प्रभाव को बढ़ाने के लिए करते हैं और विद्यालय का वास्तविक सुधार उनकी प्राथमिकता में नहीं आता। इस प्रकार वैद्यजी का चरित्र व्यंग्यात्मक शैली में शिक्षा और प्रशासनिक व्यवस्था में व्याप्त आडंबर और भ्रष्टाचार पर तीखा प्रहार करता है।

रंगलाल और बद्री पहलवान जैसे पात्र ग्रामीण राजनीति में गुटबाजी, सत्ता संघर्ष और व्यक्तिगत स्वार्थ की प्रवृत्तियों को हास्य और व्यंग्य के माध्यम से उद्घाटित करते हैं। रंगलाल अपनी चालाकियों और चापलूसी से लाभ उठाने में निपुण है, जबकि बद्री पहलवान अपनी ताकत और गुंडागर्दी के बल पर सत्ता में स्थान बनाने का प्रयास करता है। शंकर का पात्र ग्रामीण युवा वर्ग की आकांक्षाओं और विसंगतियों का प्रतिनिधित्व करता है, जो आधुनिकता और पारंपरिकता के द्वंद्व में उलझा हुआ है। इन पात्रों के माध्यम से शुक्ल ने सत्ता-संरचना, राजनीतिक चालबाजियों और व्यक्ति-स्वार्थ की जटिलताओं को उजागर किया है।

इसी प्रकार, *विश्रामपुर का संत* उपन्यास में 'संत' का पात्र समाज में धर्म और साधुता के नाम पर बने आडंबर का प्रतीक है। संत का सादा जीवन, त्याग और कथित 'निर्लिप्तता' केवल दिखावे का आवरण है, जिसके पीछे उसका सामाजिक प्रभाव और सत्ता के समीकरण छिपे हुए हैं। नगर के गणमान्य नागरिक—जिनमें नेता, व्यापारी और स्थानीय अधिकारी शामिल हैं—संत की सेवा और संगत में केवल इसलिए जाते हैं ताकि उनके सामाजिक प्रभाव और व्यक्तिगत स्वार्थों को साधा जा सके। यह पात्र और उसकी गतिविधियाँ भारतीय समाज में धर्म और आस्था के नाम पर होने वाले पाखंड और स्वार्थपूर्ण व्यवहार पर तीखा व्यंग्य प्रस्तुत करती हैं। इसी उपन्यास में नगर के स्थानीय राजनेता का संत से बार-बार मिलना और उनके "आशीर्वाद" को चुनावी लाभ के रूप में प्रस्तुत करना धर्म और राजनीति के गठजोड़ का तीखा व्यंग्यात्मक उदाहरण है। यहाँ संत का त्याग और समाजसेवा केवल दिखावे तक सीमित है, जबकि उसकी संगति सत्ता प्राप्ति का साधन बन जाती है।

इन पात्रों के माध्यम से शुक्ल यह स्पष्ट करते हैं कि भारतीय समाज में नैतिकता और आदर्शों की बातें तो बहुत होती हैं, परंतु वास्तविकता में ये केवल स्वार्थ, सत्ता और लाभ अर्जित करने के साधन बनकर रह जाते हैं। उनका व्यंग्य पात्रों के व्यवहार, भाषा और कार्यों के माध्यम से स्वाभाविक रूप से प्रकट होता है, जिससे पाठक सहज रूप में हँसते हुए भी सामाजिक यथार्थ से साक्षात्कार कर पाता है। पात्रों की यह सामाजिक निकटता उनके व्यंग्य को और अधिक विश्वसनीय और प्रभावी बनाती है, क्योंकि पाठक इन चरित्रों में अपने आसपास की वास्तविकताओं को पहचान सकता है। यही कारण है कि शुक्ल के पात्र न केवल कथा-संरचना के अंग हैं, बल्कि हिंदी व्यंग्य साहित्य की आलोचनात्मक परंपरा में स्थायी महत्त्व रखते हैं।

श्रीलाल शुक्ल के कथा साहित्य में भाषा और संवाद व्यंग्यात्मक संरचना के सबसे प्रभावशाली उपकरण के रूप में उभरते हैं। उनकी भाषा न केवल सरल और प्रवाहमयी है, बल्कि पात्रों की मानसिकता, सामाजिक पृष्ठभूमि और वर्गीय परिस्थितियों के अनुरूप भी ढलती है। यह भाषा व्यंग्य को बनावटी शैली के बजाय सहज और स्वाभाविक रूप में प्रस्तुत करती है, जिससे कथा का यथार्थ अधिक प्रामाणिक और प्रभावशाली प्रतीत होता है। शुक्ल की संवाद-शैली इस तथ्य को सिद्ध करती है कि व्यंग्य केवल वाक्यगत चपलता या भाषाई चुटकुले का खेल नहीं, बल्कि समाज की गहन संरचनाओं का उद्घाटन करने वाला सशक्त औजार है। उदाहरणस्वरूप *राग दरबारी* में रंगलाल का यह संवाद, भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था की जड़ता, सामाजिक उदासीनता और लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं में व्याप्त निष्क्रियता पर तीखा कटाक्ष है। यह संवाद केवल व्यक्तिगत निराशा का नहीं, बल्कि सम्पूर्ण ग्रामीण समाज के राजनीतिक पतन और नागरिक चेतना के क्षरण का प्रतीक है। इस प्रकार शुक्ल संवादों को केवल हास्य उत्पन्न करने के लिए नहीं, बल्कि गहरे सामाजिक विश्लेषण के लिए प्रयुक्त करते हैं।

इसी तरह, *सीमाएँ टूटती* हैं उपन्यास के संवादों में सत्ता की लोलुपता, नैतिक मूल्यों का हास्यास्पद पतन और अवसरवादिता की प्रवृत्तियाँ व्यंग्यात्मक भाषा में उद्घाटित होती हैं। पात्रों के बीच चलने वाली राजनीति, उनके तर्क और बेतुकी दलीलें समाज में आदर्शवाद के आवरण के भीतर छिपे स्वार्थ का खुलासा करती हैं। यहाँ भाषा की सहजता व्यंग्य को और पैना बना देती है। शुक्ल लोकप्रचलित कहावतों, ग्रामीण बोलियों और मुहावरों का प्रयोग इस प्रकार करते हैं कि संवाद पाठकों को सामान्य जीवन की तरह ही प्रतीत होते हैं, परंतु उनमें छुपा कटाक्ष गहरे सामाजिक यथार्थ पर प्रहार करता है[9]। शुक्ल की व्यंग्यात्मक संरचना का दूसरा महत्त्वपूर्ण पक्ष प्रतीक और संकेतों का प्रयोग है। उनके उपन्यासों और कहानियों में प्रतीक केवल सजावटी तत्व नहीं, बल्कि सामाजिक यथार्थ की बहुस्तरीय व्याख्या के साधन हैं। *राग दरबारी* में शिवपालगंज गाँव स्वतंत्रता-प्राप्त भारत के ग्रामीण लोकतंत्र का व्यापक प्रतीक है, जहाँ लोकतांत्रिक संस्थाओं का ढाँचा तो मौजूद है, परंतु उनकी आत्मा भ्रष्टाचार, गुटबाजी और निष्क्रियता से ग्रस्त है। विद्यालय और पंचायत भवन क्रमशः शिक्षा और लोकतंत्र के आदर्शों का प्रतिनिधित्व करते हैं, किन्तु उपन्यास में ये दोनों स्थान केवल सरकारी अनुदानों की खानापूरी, खोखले विकास और दिखावे के प्रतीक बनकर सामने आते हैं। विद्यालय की टूटी-फूटी दीवार को निरीक्षण के समय किताबों से ढक देने का प्रसंग शिक्षा व्यवस्था की उस विडंबना को रेखांकित करता है जहाँ ज्ञान का स्थान केवल कागजी उपलब्धियों ने ले लिया है।

इसी प्रकार, *विश्रामपुर का संत* में 'संत' का चरित्र धर्म और साधुता के नाम पर फैलाए गए पाखंड का प्रतीक है। उन्होंने *विश्रामपुर का संत (1977)* नामक उपन्यास में प्रसंग दिया की *"संत का काम सत्य की खोज नहीं, बल्कि सत्य को अपनी सुविधा के अनुसार बदल देना है।"* [10] संत की 'निर्लिप्तता' और सादगी केवल सामाजिक प्रभाव और सत्ता-समीकरणों को साधने का आवरण बन जाती है। नगर के नेता, व्यापारी और अधिकारी संत के समीप जाकर धार्मिकता का प्रदर्शन तो करते हैं, पर उनके वास्तविक उद्देश्य राजनीतिक स्वार्थ सिद्धि में छिपे होते हैं। यह प्रतीकात्मकता केवल धर्म पर कटाक्ष नहीं करती, बल्कि आधुनिक भारतीय समाज में आस्था के व्यापारीकरण और नैतिक मूल्यों के क्षरण को भी उजागर करती है। शुक्ल के व्यंग्य में हास्य और करुणा का द्वंद्व एक तीसरा महत्त्वपूर्ण आयाम है। उनका व्यंग्य सतही हँसी तक सीमित नहीं रहता, बल्कि उसी हँसी के भीतर समाज की गहरी पीड़ा और विडंबना को उजागर करता है। उदाहरणस्वरूप, *राग दरबारी* में विद्यालय निरीक्षण का वह प्रसंग जहाँ टूटी दीवार को किताबों से ढक दिया जाता है, पाठक को तत्काल हास्य का अनुभव कराता है, किंतु इसी दृश्य में शिक्षा व्यवस्था के खोखलेपन और ग्रामीण विकास की विफलता की करुण सच्चाई भी छुपी रहती है। इसी प्रकार पंचायत की बैठकों में विकास योजनाओं पर चर्चा के स्थान पर निजी स्वार्थों और गुटबाजी का प्रदर्शन लोकतांत्रिक आदर्शों के पतन की करुण तस्वीर पेश करता है। पाठक इन घटनाओं पर हँसता अवश्य है, परंतु उसकी हँसी के भीतर व्यवस्था के प्रति आक्रोश और सामाजिक वेदना का भाव भी अन्तर्निहित रहता है।

हास्य और करुणा का यह द्वंद्व *विश्रामपुर का संत* में भी दिखाई देता है। संत की ओर आकर्षित नगर के गणमान्य नागरिकों की चापलूसी पाठक को हँसाती है, पर साथ ही धर्म और नैतिकता के नाम पर चल रहे पाखंड की करुण सच्चाई का बोध भी कराती है। शुक्ल का यह द्वंद्व इस बात को रेखांकित करता है कि व्यंग्य का उद्देश्य केवल मनोरंजन नहीं, बल्कि समाज को उसकी विसंगतियों का बोध कराना और पाठक को आत्मविश्लेषण के लिए प्रेरित करना है। इन सभी आयामों—भाषा, संवाद, प्रतीकात्मकता और हास्य-करुणा के द्वंद्व—के संयुक्त प्रयोग से श्रीलाल शुक्ल का व्यंग्य एक बहुस्तरीय संरचना ग्रहण करता है। यह न केवल ग्रामीण समाज और प्रशासनिक तंत्र के पाखंड को उजागर करता है, बल्कि भारतीय लोकतंत्र के गहरे संकटों को पाठक के सामने इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि हँसी के पीछे छुपी पीड़ा दीर्घकाल तक मन में गूँजती रहती है। उनकी रचनाएँ इस बात का उदाहरण हैं कि व्यंग्य, जब भाषा की सहजता, प्रतीकात्मकता और मानवीय करुणा के साथ प्रयुक्त होता है, तो वह साहित्य को केवल मनोरंजन नहीं बल्कि सामाजिक सुधार और जनचेतना का प्रभावशाली माध्यम बना सकता है।

निष्कर्ष

श्रीलाल शुक्ल ने हिंदी कथा साहित्य में व्यंग्य को मात्र मनोरंजन का साधन न बनाकर उसे एक गंभीर सामाजिक आलोचना और जनचेतना के सशक्त उपकरण के रूप में प्रतिष्ठित किया। उनके व्यंग्य का मूल स्वर समाज की संरचनात्मक विसंगतियों, नैतिक पतन और सत्ता-समीकरणों की जटिलताओं को उजागर करना है। उनकी रचनाओं में व्यंग्य केवल चुटीले हास्य का खेल नहीं, बल्कि यथार्थ के बहुस्तरीय उद्घाटन और सामाजिक परिवर्तन की चेतना को उद्बुद्ध करने की साहित्यिक

रणनीति के रूप में प्रयुक्त होता है। *राग दरबारी* और *विश्रामपुर का संत* जैसी कृतियों में शुक्ल ने ग्रामीण लोकतांत्रिक संस्थाओं, शिक्षा व्यवस्था और धार्मिक-सामाजिक परिवेश के भीतर व्याप्त भ्रष्टाचार, पाखंड और अवसरवाद को इस प्रकार चित्रित किया है कि हँसी के भीतर करुण सच्चाई का तीखा अनुभव पाठक को समाज की गहन विडंबनाओं से अवगत कराता है।

विशेषतः *राग दरबारी* में विद्यालय, पंचायत और स्थानीय सत्ता संरचना लोकतांत्रिक आदर्शों के खोखलेपन का प्रतीक बनकर उभरते हैं, जहाँ विकास योजनाएँ और शिक्षा सुधार केवल सरकारी काग़जों तक सीमित रह जाते हैं। वैद्यजी, रंगलाल और अन्य पात्र केवल कथानक को गति देने वाले चरित्र मात्र नहीं, बल्कि ग्रामीण राजनीति और सामाजिक संरचना में व्याप्त पाखंड, स्वार्थ और सत्ता-क्रीड़ा के जीवंत प्रतीक हैं। इसी प्रकार *विश्रामपुर का संत* में 'संत' का चरित्र धार्मिक नैतिकता के आवरण में छिपे राजनीतिक स्वार्थ और सामाजिक ढोंग को उद्घाटित करता है। इन पात्रों के माध्यम से शुक्ल सत्ता, शिक्षा और धर्म जैसे संस्थागत ढाँचों की अंतर्निहित कमजोरियों पर करारा प्रहार करते हैं, जिससे उनका व्यंग्य केवल व्यक्तिगत आचरण की आलोचना न रहकर व्यापक सामाजिक यथार्थ की पड़ताल बन जाता है। शुक्ल की भाषा और संवाद-शैली उनके व्यंग्य को अकादमिक दृष्टि से और भी महत्त्वपूर्ण बनाती है। उनकी भाषा सरल, प्रवाहमयी और पात्रानुकूल है, जो ग्रामीण समाज की बोलचाल, लोक-प्रयोगों और मुहावरों से संपृक्त होकर व्यंग्य को स्वाभाविकता प्रदान करती है। यह भाषिक संरचना पाठक को तत्कालिक यथार्थ से जोड़ते हुए व्यंग्य की प्रभावशीलता को गहन बनाती है। संवादों की स्वाभाविकता और व्यंग्यात्मक चपलता सामाजिक-सांस्कृतिक अंतर्विरोधों को उजागर करने का प्रमुख साधन है, जिससे पाठक हँसते हुए भी अंतर्निहित करुणा और विडंबना का अनुभव करता है।

साथ ही, शुक्ल के व्यंग्य में प्रयुक्त प्रतीक और संकेत उनकी रचनाओं को बहुस्तरीय अर्थवत्ता प्रदान करते हैं। शिवपालगंज गाँव, विद्यालय, पंचायत भवन, संत जैसे प्रतीक केवल कथात्मक स्थल नहीं, बल्कि भारतीय लोकतांत्रिक ढाँचे और धार्मिक-सामाजिक संरचनाओं के खोखलेपन का रूपक बनकर कार्य करते हैं। इन प्रतीकों के माध्यम से शुक्ल ने यह स्थापित किया कि व्यंग्य केवल तत्कालीन राजनीतिक-सामाजिक स्थिति की आलोचना नहीं करता, बल्कि वह व्यापक सामाजिक प्रक्रियाओं की ऐतिहासिक और सांस्कृतिक निरंतरता को भी उद्घाटित करता है। सबसे महत्त्वपूर्ण यह कि शुक्ल के व्यंग्य में हास्य और करुणा का द्वंद्व एक विशिष्ट सौंदर्यात्मक अनुभव रचता है। उनकी रचनाओं में उत्पन्न हँसी केवल मनोरंजन नहीं, बल्कि उस करुण सच्चाई की ओर संकेत करती है जो समाज की गहन पीड़ाओं, शोषण और नैतिक पतन को उजागर करती है। यह द्वंद्व पाठक को केवल हँसने पर नहीं, बल्कि आत्मचिंतन और सामाजिक विश्लेषण की दिशा में भी प्रेरित करता है।

इस प्रकार, श्रीलाल शुक्ल का व्यंग्य हिंदी कथा साहित्य को अकादमिक दृष्टि से समृद्ध करने वाला और सामाजिक यथार्थ की आलोचनात्मक व्याख्या का प्रामाणिक उदाहरण है। उन्होंने व्यंग्य को केवल साहित्यिक शिल्प नहीं, बल्कि जनचेतना को सक्रिय करने और सत्ता-स्वार्थ के ताने-बाने को उजागर करने का माध्यम बनाया। उनकी रचनाओं की गहराई, प्रतीकात्मकता और प्रभावशीलता हिंदी साहित्य की व्यंग्य परंपरा को नई दिशा और स्थायित्व प्रदान करती है, जिसके कारण उनका साहित्य समकालीन समाज में भी उतना ही प्रासंगिक और प्रेरणादायी बना हुआ है।

संदर्भ :-

[1] मिश्र, स. (2005). *हिंदी व्यंग्य साहित्य की परंपरा*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन.

[2] शुक्ल, श. (1968). *राग दरबारी*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन.

[3] सिंह, प. (2012). *श्रीलाल शुक्ल और हिंदी व्यंग्य उपन्यास* (अप्रकाशित शोधप्रबंध).

[4] शुक्ल, श. (1977). *विश्रामपुर का संत*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन.

[5] शुक्ल, श. (1957). *मकान*. इलाहाबाद: लोकभारती प्रकाशन.

[6] शुक्ल, श. (1972). *सीमारेखा*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन.

[7] शुक्ल, श. (1960). *पहला पड़ाव*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन.

[8] शुक्ल, श. (1968). *राग दरबारी*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन.

[9] मिश्र, न. (1980). *हिंदी उपन्यास और यथार्थ का विकास*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन.

[10] शुक्ल, श. (1983). *विश्रामपुर का संत* (संस्करण 2). नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन.

भक्ति आंदोलन का अखिल भारतीय स्वरूप और श्रीमंत शंकरदेव

अजीत प्रताप सिंह*
say2ajeet2001@gmail.com

भक्ति आंदोलन के अखिल भारतीय स्वरूप का निर्माण पूर्व, पश्चिम, उत्तर एवं दक्षिण के समवेत सम्मिलन से हुआ है। आदि शंकराचार्य जी से प्रारंभ होकर निंबार्काचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, विष्णुस्वामी, वल्लभाचार्य, रामानंद जी से होते हुए जिस भक्ति आंदोलन का संधान चैतन्य महाप्रभु, कबीरदास, रैदास, गुरु नानकदेव, गोस्वामी तुलसीदास, सूरदास, मीरा आदि संतों ने किया वही कार्य पूर्वोत्तर भारतवर्ष में श्रीमंत शंकरदेव जी ने किया। इस अखिल भारतीय आंदोलन का पूर्वोत्तर में नेतृत्व श्रीमंत शंकरदेव जी कर रहे थे। यह आंदोलन वस्तुतः धर्म के आवरण में पल रही कुरीतियों, भेदभाव, कर्मकांडीय आडंबर, सामाजिक असमानता के खिलाफ़ और मानवता, बंधुत्व,सामाजिक समानता एवं समरसता का प्रेरक आंदोलन था। इस आंदोलन में लोक ने अपने कंठ से अपनी भाषा में अपने धर्म का गान किया। इसने भाषा एवं समाज पर प्रभुवर्ग के इज़ारे को तोड़ते हुए लोकभाषाओं - ब्रजभाषा, अवधी, ब्रजबुली,मैथिली, मराठी, उड़िया, असमिया आदि में अपनी अभिव्यक्ति की। जाति, लिंग आदि के बंधनों को भक्ति के वृत्त से बहिष्कृत करते हुए भक्ति के सर्व-सुलभ स्वरूप को रुपायित किया। 'कण-कण में भगवान' को मनाकर उनकी आराधना की। श्रीमंत शंकरदेव जी भक्ति आंदोलन की इस मूल भावना को और भी मंडित करते हैं। वे कहते हैं - "कुकुर शृगाल गर्धबरो आत्माराम/ जनिया सबको परी करीबा प्रणाम"[1](यानि कुत्ते, सियार और गधे में भी ईश्वर का वास है, वे सब प्रणम्य हैं)।

भक्ति आंदोलन के संदर्भ में जो कार्य उत्तर भारत में रामानंद जी ने किया वही कार्य पूर्वोत्तर भारत में सन् 1449 ई० में जन्मे श्रीमंत शंकरदेव जी ने किया। शंकरदेव ने रामानंद की ही भांति भक्ति के क्षेत्र में जाति और धर्म के बंधनों को शिथिल करते हुए विविध जातियों के लोगों को अपना शिष्य बनाया। उन्होंने पूर्वोत्तर के अनेक जाति, धर्म, भाषा से ऊपर उठकर ब्राम्हण समुदाय के राम सरस्वती, कैवर्त समूदाय के पूर्णानन्द, वैश्य के हरिदास, कछारी के रमाई, नगा के नरोत्तम, गारो के गोविन्द, यवन के चान्दसाई, भुटीया के दामोदर, आहोम के नरहरि आदि को एक सूत्र में पिरोया। श्रीमंत शंकरदेव जी ने उत्तर भारत की दो बार यात्राएं कीं; जिसमें वाराणसी,प्रयाग,मथुरा, वृन्दावन, गोकुल,कुरुक्षेत्र,अयोध्या,बद्रिकाश्रम,जगन्नाथ पुरी और रामेश्वरम जैसे तीर्थों की यात्राएं शामिल प्रमुख थीं। इस व्यापक यात्रा के अनुभव के परिणाम स्वरूप शंकरदेव ने भारत की आंतरिक व्यवस्था और सामाजिक अवस्था के अनुरूप समाज को जाग्रत करने का संकल्प लिया। अपनी इस यात्रा में उन्हें भारत की 'विविधता में एकता' और 'महान सांस्कृतिक परम्पराओं में झंकृत मौलिक एकात्मवाद' के दर्शन होते हैं। यात्रा का वैशिष्ट्य यह रहा की "भ्रमण में शंकरदेव को भारतवर्ष की विविधता, अनेकता और विराटता में जिस एकता (अद्वैतता) का प्रत्यक्षीकरण हुआ, मानो वही जगत की अनन्तता और विष्णु-कृष्ण की विराटता व सर्वशक्तिमत्ता की प्रतिमूर्ति थी और वही 'कृष्णस्तु भगवान स्वयम' के बोध में परिणत हो उनकी सिद्धि बनी। विराट राष्ट्रपुरुष भगवान कृष्ण की शरण उन्हें स्वीकार्य हुई।"[2] श्रीमंत शंकरदेव जी ने अपनी साधना के केंद्र में भगवान विष्णु को रखा और अपने मत के उपजीव्य ग्रन्थ के रूप में 'श्रीमद् भागवत महापुराण' को। उन्होंने शंकराचार्य के अद्वैतवाद की सैद्धांतिक पृष्ठभूमि और 'श्रीमद् भागवत महापुराण' के व्यवहारिक पक्ष की संयुक्त आधारभूमि पर अपने मत 'एकशरण नाम धर्म'(यानि श्री कृष्ण की शरण) की प्रतिष्ठापना की।

श्रीमंत शंकरदेव जी ने पूरे पूर्वोत्तर भारत में 'एकशरण नाम धर्म' का अपने शिष्यों के माध्यम से खूब प्रचार प्रसार किया। उन्होंने इसके लिए 'बरदोआ(असम)' में अपने धार्मिक केंद्र के रूप में 'नामघर' या 'सत्र' की स्थापना की; जो मूलतः भक्ति, सांस्कृतिक मूल्यों के अनुशीलन, आध्यात्मिकता आदि का केंद्र था। शंकरदेव के शिष्यों ने इन 'नामघरों या सत्रों' की बहुतायत मात्रा में पूरे पूर्वोत्तर भारत में स्थापना की। ये केंद्र एक ओर तो भगवान श्री कृष्ण की उपासना के केंद्र थे वहीं दूसरी

* शोध छात्र, हिंदी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी

ओर आदिवासी, जनजातीय एवं पूर्वोत्तर भारतीय लोगों की सांस्कृतिक रंगस्थली भी थे। शंकरदेव जी की इस पहल के संदर्भ में डॉ० कृष्ण गोपाल जी कहते हैं- "शंकरदेव जी ने नामघरों तथा सत्रों की स्थापना की, महंगे तथा खर्चीले मंदिर बनाने के स्थान पर गांव के लोगों की सहायता से भी बिना दीवार का, बाँस के सहारे, फूस आदि से छाया हुआ नामघर ही ग्राम के सभी धार्मिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों का केंद्र बन गया। इस नामघर में किसी मूर्ति की स्थापना नहीं थी। गाँव की सभी जातियों के स्त्री-पुरुष मिलकर इन नामघरों में भजन-कीर्तन आदि करते थे। ऐसे हजारों नामघर आज भी असम में लोक संस्कार के कार्य में रत हैं। उन्होंने भक्त की तरह जीवन यापन करने वाले व्यक्ति को सत्राधिकारी बनाने का चलन चलाया।"[3] ये सत्रघर वास्तव में आज भी पूरे असम में आस्था के केंद्र हैं।

शंकरदेव जी ने अपने उपास्य भगवान श्री कृष्ण को परमब्रह्म के रूप में स्वीकार किया है; जो अपने भक्तों के उद्धार के लिए अवतार भी लेते हैं। वे कहते हैं :-

"नमो पदुपति कृष्ण परि करो सेव,
परम पुरुष तुमि बिने नाहि केव।
नित्य निरंजन शुद्ध आनन्द स्वरूप,
भक्तर जेन इच्छा लेने धरा रूप।"[4]

शंकरदेव जी की भक्ति दास्य भाव की है; उन्होंने 'श्रीमद् भागवत महापुराण' की 'नवधा भक्ति' में से 'कीर्तन' और 'श्रवण' को अधिक महत्व दिया है। श्रीमंत शंकरदेव जी ने विपुल परिणाम में संस्कृत, असमिया और ब्रजबुली भाषा में लेखन किया है।उन्होंने संस्कृत में भक्ति-रत्नाकर' (जो मूलतः 546 श्लोकों का संकलन है) तथा तोटय। ब्रजबुली में उनकी लिखी रचनाएँ- बरगीत, रुक्मिणी हरण नाट, कालिय दमन नाट, केलि गोपाल नाट, पत्नी प्रसाद नाट, पारिजात हरण नाट तथा रामविजय नाट इत्यादि हैं। इसी प्रकार असमिया भाषा में- भक्ति-प्रदीप, हरिश्चन्द्र उपाख्यान (काव्य), रुक्मिणी हरण (काव्य), गुणमाला (काव्य), उत्तरकाण्ड रामायण (काव्य), भटिमा (स्फुट पद), कीर्तन-घोषा (काव्य) तथा भागवत (अनूदित)। लगभग इन सभी ग्रंथों में शंकरदेव जी ने अपने उपास्य कृष्ण को केंद्र में रखा है। "कृष्ण भक्त कवि महापुरुष शंकरदेव का विपुल साहित्य प्रधानत: भागवत पर आधारित है। मध्ययुगीन भक्ति आंदोलन के संदर्भ में उन्होंने यह अनुभव किया था कि संस्कृत भाषा में रचित शास्त्रों का अध्ययन अनुशीलन सामान्य लोगों के लिए संभव नहीं है इसलिए उन्होंने स्थानीय भाषा में साहित्य सृजन का महत्वपूर्ण दायित्व निभाया। इसके साथ ब्रजावली (ब्रजबुलि) भाषा को अपनाना उनकी राष्ट्रीय दृष्टि का परिचायक है। विस्तृत एवं गहन संस्कृत वाड्मयों के अध्ययन से शंकरदेव के वैचारिक चिंतन में जो स्थिरता, परिपक्वता, आई है, उसका निदर्शन उनका बहुआयामी कृतित्व है।"[5]

उत्तर भारत में कृष्ण-भक्ति की जो धारा ब्रजभाषा के महाकवि सूरदास के समय से वेगमय दिखाई पड़ती है, वही धारा उनसे पहले पूर्वोत्तर में शंकरदेव जी के यहां दिखाई पड़ती है। ऐसे में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी का वह संकेत अपनी प्रामाणिकता पेश करता है जहां वे कृष्ण भक्ति और सूरदास के बहाने पूरे मध्यकालीन काव्य के संदर्भ में कहते हैं - "भारतवर्ष का मध्यकालीन साहित्य वस्तुतः समूचे भारतवर्ष का साहित्य है, प्रांतवर बँटा हुआ विभिन्न बोलियों का नहीं"[6] मध्यकालीन काव्य की कोई भी धारा किसी क्षेत्र विशेष की नहीं है अपितु उसकी कई धाराएं देश के अलग - अलग कोनों में बहती हुई दिखाई पड़ जाएंगी, जैसा कि कृष्ण भक्ति धारा के संबंध में श्रीमंत शंकदेव का साहित्य।

श्रीमंत शंकरदेव जी ने अपने उपास्य श्री कृष्ण के लोकरंजक और लोकरक्षक दोनों रूपों की उपासना की है यद्यपि उसमें लोकरक्षक का भाव प्रमुख है। शंकरदेव जी के 'एकशरण नाम धर्म' के संदर्भ में डॉ० नगेंद्र अपनी पुस्तक 'मिथक और साहित्य' में लिखते हैं - "शंकरदेव ने भागवत पुराण की अपना उपजीव्य ग्रन्थ बनाकर भक्ति विषयक विचार प्रस्तुत किये हैं। आत्म-समर्पण की भावना की स्वीकृति होने से यह भक्ति संप्रदाय, अन्य वैष्णवों से कुछ भिन्त्र लक्षित होता है, किन्तु मूल विचार में भेद नहीं हैं। इनकी भक्ति में दास्य भावना का प्राधान्य है। दास्य भावना की भक्ति के कारण इन भक्तों को 'शरणिया' शब्दों से भी अभिहित किया जाता है।"[7] अन्य मतों में जहां शरणागत होना भक्ति का एक अंग माना वहीं श्रीमंत शंकरदेव जी ने शरणागति को भक्ति का पर्याय ही घोषित कर दिया। भक्ति प्रदीप' में शंकरदेव लिखते हैं-

"मोक एरि आन एको न भजे देवक,
सेहि भक्ति एरुवावे समस्ते कर्मक
सेहि एकशरण भजन अनुपाम,
नु शुन्य आन एको देवतार नाम"[8]

शंकरदेव ने पूर्ववर्ती तमाम साधनात्मक मार्गों का खुला विरोध करते हुए घोषणा की कि, 'विष्णुतर परे आन नहिं केव /अन्य देवी-देव न करिवा सेव।' वे अपने आराध्य की भक्ति में अनन्य समर्पित भाव रखते थे।

शंकरदेव जी के श्री कृष्ण के विविध लीला प्रसंगों को भी अपने साहित्य का विषय बनाया है उनके यहां बाललीला, गोपियों की विरह भावना, प्रकृति के मनोहारी रूप, बाल मनोविज्ञान आदि से संबंधित तमाम पद मिलते हैं। सूरदास जी ने कृष्ण के खेलकूद को लेकर जैसे लिखा कि 'खेलत में को काको गुसैयाँ' उनके नटखट और रिझाने वाले भाव को लेकर लिखा 'हरि अपनैं आंगन कछु गावत/तनक तनक चरनन सों नाच मन हीं मनहिं रिझावत' वैसे ही शंकरदेव जी बालक कृष्ण के मनोहारी चित्र खींचते हैं-

"बालेक गोपाले करत रे केलि।

उच्चाया, पांचनि, नाचे, हासे गोप मेलि।।"[9] (गोपाल जी गोप बालकों के साथ विविध खेल खेल रहे हैं। चोटी को ऊपर उठाकर नाच रहे हैं जिसे देखकर गोप बालक हंस रहे हैं)

कृष्ण के साथ गोपियों का चित्रण लगभग अनिवार्य सा दिखाई पड़ता है। कृष्ण के प्रति प्रेम, विरह और पुनरागमन की गोपियों की अभिलाषा को, कृष्ण के प्रति उपालम्भ को, उद्धव-गोपी संवाद पर लगभग सभी कृष्ण कवियों ने लेखन किया है। श्रीमंत शंकरदेव जी इससे अछूते नहीं रहे हैं; श्री कृष्ण उद्धव के माध्यम से अपना संदेश भेजते हैं -

"उद्धव, चलहु गोकुले लाइ।

हामु बिने गोपीक तिलेके युग याय।।"[10]

(श्री कृष्ण उद्धव जी से कहते हैं कि तुम गोकुल जाओ क्योंकि मेरे बग़ैर वहां गोपियों का एक - एक पल युगों की तरह बीत रहा है।) उद्धव जी जब कृष्ण जी के भेजने पर गोकुल जाते हैं तो गोपियों के अतिशय विरह और उनकी कारुणिक स्थित को देखकर व्याकुल हो जाते हैं। गोपियों की दिन दशा को देखकर उद्धव जी भी रुआंसे हो जाते हैं, उनके नयनों से अश्रुओं का प्रवाह शुरू हो जाता है - "गोपिनी प्रेम पारशि नीर झुरय।"[11] उत्तर भारत की कृष्ण भक्ति धारा का पूर्ववर्ती स्वरूप हमें श्रीमंत शंकरदेव जी के यहां ऐसे ही दिखाई पड़ता है। मनोभावों की सहज भावात्मक अनुभूति उनके विविध काव्य प्रसंगों के प्राणतत्व के रूप में दिखाई पड़ती है

शंकरदेव के साहित्य में उत्तर भारत की सगुण भक्ति परम्परा और निर्गुण भक्ति परम्परा; दोनों के तत्व मिलते हैं। उनके साहित्य में भक्ति, धर्म, समाज, भाषा, राजनीति और संस्कृति जैसे विविधवर्णी विषय हैं। इसी वैविध्य को लक्षित करते हुए प्रो० सूर्यकांत त्रिपाठी लिखते हैं - "शंकरदेव के साहित्य में धार्मिक और लोक- विश्वास दोनों का ही उल्लेख मिलता है। भाग्यवाद, कर्म, पुनर्जन्मवाद, ज्योतिष पर विश्वास, भूत प्रेत आदि पर विश्वास झाड़-फूंक, नज़र, रक्षामंत्र, शकुन,स्वप्न,श्राप,आशीर्वाद, टोना-टोटका आदि लोक-विश्वास है। जबकि सत्संग, गुरु-महल,तीर्थ, वृत, उपवास,दान आदि धार्मिक विश्वास हैं। शंकरदेव ने इन सभी का उल्लेख अपनी रचनाओं में किया है।"[12] यही कारण है कि शंकरदेव को उत्तर भारत के मध्यकालीन संतों के समकक्ष या उनसे ऊंचा दर्जा प्राप्त है। ओजस्विता में शंकरदेव पूर्वोत्तर भारत के कबीर हैं, सामाजिक मूल्यनिर्मिति, प्रभावान्विति और लोकप्रियता में तुलसीदास, कृष्ण के प्रति अनन्य भक्ति में मीरा, संप्रदाय निर्माण में दादू, विनम्रता में रैदास और सत्ता के साथ संघर्ष में नानक । उनकी बहुमुखी प्रतिभा को ध्यान में रखते हुए सांवरमल सांगानेरिया ने कहा है- "महामहिम शंकरदेव को संस्कृति-पुरुष कहना ज्यादा समीचीन होगा। एक में अनेक गुणों के सामंजस्य का नाम श्रीमंत शंकरदेव है। वह केवल धर्म-प्रतिष्ठापक संत ही नहीं थे और न ही उनकी आध्यात्मिकता केवल धर्म मात्र से ही जुड़ी थी। वे चिंतक, दार्शनिक, शास्त्र मर्मज्ञ, समाज संस्कारक, मानवतावादी, कवि, संगीतज्ञ, नाट्यकार, नर्तकः चित्रकार, अभिनेता, गीतिकार, गायक-वादक, निर्देशक,

मंच व्यवस्थापक आदि के अतिरिक्त वयन विशेषज्ञ भी थे।"[13] भगवान कृष्ण के संदर्भ में उनकी अनन्यता को हमने ऊपर देख लिया है कि कैसे वे बाल कृष्ण और गोपियों के कृष्ण को याद करते हैं।

शंकरदेव जी ने कबीरदास की ही तरह समाज में व्याप्त अनाचार, जाति,लिंग, के तंग विभाजन, धार्मिक आडंबर, छुआ-छूत आदि का जमकर विरोध किया है। वे समरसतावादी समाज के पक्षधर रहे हैं। शंकरदेव भक्ति में किसी भी जाति के प्रभुत्व को खारिज करते हैं और कबीर,रैदास, नानक और निर्गुनिया संतों की ही भांति कहते हैं -

"शुना रामायण सबे सभासद यत।
हरि भकतरि देखा महत्व ॥
तृण वन वृक्ष पशु पतगरो गति
एकोवे न बाछे देखा हरिर भकति ॥"

शंकरदेव ऐसी भक्ति का स्वरूप निर्मित कर रहे थे जिसमें सभी को समान अधिकार प्राप्त हो। उनके यहां कोई मूर्ति पूज्य नहीं है उनके यहां पूज्य है 'श्रीमद् भागवत' ठीक वैसे ही जैसे सिक्ख पंथ में 'गुरुग्रंथ साहिब'। उनके इस निर्वैर भाव को लक्षित करते हुए लक्ष्मीशंकर गुप्त जी लिखते हैं- "इन्होंने अपने संप्रदाय में कोई जातिगत भेदभाव नहीं रखा और संपूर्ण समाज को एक पथ का अनुयायी बनाकर मनुष्य मात्र में समानुभूति उत्पन्न करने की चेष्टा की। उनकी इस दृष्टि का स्पष्ट चित्रण हमें निम्नलिखित गीत में दिखाई देता है -

"किरात, कछारी, खासी, गारी, मोरी, यवन, कंक, गोवाल।
असम मुलुक, रजक तुरुक, कवँछा, म्लेंछ चंडाल॥
आन पापी नर कृस्न सेवा कर संगते पवित्र हय।
भक्ति लभिया, संसार तरिया, बैकुंठ सुखे चलय॥"[14]

शंकरदेव जी ने धर्म के ठेकेदारों अर्थात मौलवी और पुजारी वर्ग के मूल चरित्र का उद्घाटन किया है; उन्होंने उनकेनिर्मूल ज्ञान के दंभ को एक झटके में खारिज कर दिया है। वे कहते हैं - पंडितों तुम्हें तो सीधा मार्ग दिखाई नहीं देता (स्वर्ग मुक्ति के लिए), तुम करोड़ों तरह के कर्म करते-करवाते हो। पर उन (कार्यों) से हरि को प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसलिए बार-बार संसार में पड़ना पड़ता है -

"ओजा सोजा पन्थ नाहेरि, कोटी करम कायी।

हरि को नाहि पायी, परल भव बेरि-बेरि।"[15]

शंकरदेव जी की स्त्रियों के प्रति दृष्टि कबीर आदि निर्गुण पंथियों से बिल्कुल अलग थी। इस मामले में वह गोस्वामी तुलसीदास जी की पंक्ति में आकर खड़े हो जाते हैं। जहां तुलसीदास जी एक पतिव्रता स्त्री की संकल्पना सीता के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं और सफल दाम्पत्य जीवन के लिया स्त्री से ऐसे आचरण की कामना करते हैं - "सासु ससुर गुरु सेवा करेहू। पति रुख लख आयसु अनुसरेहू॥" शंकरदेव के 'उत्तरकांड' में सीता इसलिए विह्वल दिखाई पड़ती हैं क्योंकि रावण द्वारा अपहृत किए जाने, वापस आने पर राम को विभिन्न परीक्षाएं देने के बाद भी राम का हृदय उनको लेकर अशांत क्यों है। शंकरदेव ने स्त्री निंदा लगभग नहीं की है। उन्होंने अपने 'एकशरण नाम धर्म' में 'कनकलता' एवं 'भुवनेश्वरी' जैसी विदुषी स्त्रियों को काफी महत्त्व दिया; उन्हें सत्राधिकार या महंत जैसा महत्वपूर्ण पद दिया गया। इस तरह शंकरदेव ने स्त्रियों के प्रति बहुत सहज और उदार दृष्टिकोण का परिचय दिया है और उन्हें समाज की मूल नेतृत्वकर्ता धारा से जोड़ने का प्रयास भी किया।

मध्यकालीन कवियों की एक विशेषता रही है कि उन्होंने अपने समय और समाज के सापेक्ष एक वैकल्पिक समाज की प्रस्तावना हमारे सामने रखी। कबीर का अमरदेशवा, रैदास का बेगमपुरा, तुलसीदास का रामराज्य, जायसी का सिंहलद्वीप, नूर मुहम्मद का अगमपुर आदि इसमें प्रमुख हैं। इन वैकल्पिक समाजों में कवियों ने अपने काल्पनिक समाज, उसके सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक व्यवस्था का स्वरूप निर्धारित किया है। शंकरदेव जी भी कुछ ऐसे ही यूटोपीया के साथ 'हरिश्चंद्र उपाख्यान' में हमारे सामने आते हैं। वे राजा हरिश्चंद्र के राज्य को सर्वथा उचित मानते हैं; जहां नैतिकता, सामाजिक मूल्य, त्याग की भावना और सत्य प्रियता कायम है। अपने इस यूटोपिया के नायक के रूप में वो हरिश्चंद्र को प्रस्तुत करते हैं।

श्रीमंत शंकरदेव जी ने संपूर्ण पूर्वोत्तर भारत में भक्ति आंदोलन की उसी धारा का प्रचार-प्रसार किया जो उत्तर भारत में प्रवाहित हो रही थी। भारतीय सांस्कृतिक एकता के सूत्र के रूप में शंकरदेव जी हमारे सामने प्रस्तुत होते हैं। वे केवल असम, असमिया समाज, संस्कृति और भाषा के ही उन्नायक नहीं हैं अपितु संपूर्ण भारतवर्ष के राष्ट्रनायक हैं। शंकरदेव में तथाकथित आंचलिकतावाद नहीं है, जातीयतावाद है और उनका जातीयतावाद राष्ट्रीयतावाद में समाहित होकर अंतर्राष्ट्रीयतावाद की ओर उन्मुख है। नदी जैसे समुद्र में, समुद्र जैसे महासमुद्र में विलीन हो जाता है, वैसे ही शंकर की जातीय प्रेम-सरिता भी राष्ट्रीय प्रेमधारा में समाहित होकर महार्णव की तरफ धावित है। शंकरदेव ने भारतभूमि में जन्म मिलने को परम सौभाग्य माना है-

"जानिया सबे एड़ा भाषभूष
भाग्ये से भारते भैला मानुष।।"[16]

शंकरदेव जी असमिया जनमानस के महाप्राण हैं। असमिया समाज, संस्कृति, भाषा, व्यवहार सबकुछ की समवेत अभिव्यक्ति शंकरदेव जी द्वारा होती है। पुतु प्रसन्न दत्त जी इस संदर्भ में लिखते हैं - "श्रीमंत शंकरदेव असमिया जाति के प्राण हैं। जिस तरह शेक्सपीयर के बिना अंग्रेजों का कोई अस्तित्व नहीं रहता उसी तरह श्रीमंत शंकरदेव के बिना असमिया जाति का कोई अस्तित्व नहीं। क्योंकि, ये एक साथ महापुरुष धर्मगुरु, साहित्यकार, कवि, नाटककार, अभिनेता, वाद्ययंत्र निर्माता हैं। संसार के किसी भी धर्मगुरु में एक ही साथ इतनी प्रतिभा देखने को नहीं मिलती।"[17] वास्तव में श्रीमंत शंकरदेव असम ही नहीं अपितु संपूर्ण भारत के प्राण हैं। उन्होंने अपने मत, सांस्कृतिक प्रयासों से भारतीय जनमानस की अनेकता में एकता वाली सूक्ति को चरितार्थ किया है। शंकरदेव के सामाजिक-सांस्कृतिक दाय का ऋण हम कभी नहीं चुका सकते। उन्होंने भक्ति और भारतीयता दोनों को एकमेक करके 'एकशरण नाम धर्म' का ढांचा निर्मित किया। प्रो० गोपेश्वर सिंह उनके महत्त्व के संदर्भ में लिखते हैं - "शंकरदेव का व्यक्तित्व बहुत विशाल था। वे एक साथ संन्यासी, गृहस्थ, कवि, नाटककार, समाजसुधारक कई भूमिकाएँ निभाते हुए दिखाई पड़ते हैं। एक तरह से वे असमी जाति और समाज के संगठनकर्ता हैं। आज असमी राष्ट्रीयता का जो अलग अस्तित्व है उसकी कल्पना उनके बिना नहीं की जा सकती। मिथिलांचल में जो सामाजिक-सांस्कृतिक महत्त्व विद्यापति का है और बंगाल में रवीन्द्रनाथ का, वैसा ही सामाजिक-सांस्कृतिक महत्त्व असम की संस्कृति और समाज में शंकरदेव का है। एक तरफ़ तो उन्होंने असम की अपनी पहचान को मजबूत किया और दूसरी तरफ़ उसे भारतीय चिन्ता- धारा से जोड़ा और भारतीयता को विस्तार और मजबूती प्रदान की। 'धन्य धन्य कलिकाल, धन्य नर तनुभाल, धन्य-धन्य भारतबरिषे' के उद्घोष के जरिये असमी जाति को राष्ट्र की मुख्यधारा से जोड़ने में वे सफल हुए। आज पूर्वोत्तर क्षेत्र खासकर असम में भारत की राष्ट्रीय पहचान की जो स्वीकृति है. उसकी जमीन शंकरदेव ने तैयार की थी।"[18] वास्तव में गोपेश्वर जी ने उनका समीचीन मूल्यांकन किया है। भारतीयता के आधार स्तंभ के रूप में श्रीमंत शंकरदेव जी हमारे सामने उपस्थित होते हैं। जिन्होंने सगुण, निर्गुण का समन्वय किया,जिन्होंने ऊंच - नीच के भेद को खत्म किया, जिन्होंने स्त्रियों को नेतृत्व क्षमता से संपन्न बनाया और जिनके प्रयासों से कामरूप का वह प्रदेश उत्तर भारत के कंधों से कंधा मिलाकर चलता हुआ दिखाई देता है; ऐसे श्रीमंत शंकरदेव जी का व्यक्तित्व एवं कृतित्व हम सभी के लिए प्रेरणास्पद है।

संदर्भ :-

1. प्रसाद मागध, कृष्णनारायण. (1976). *शंकरदेव साहित्य और विचार*. पटियाला: पंजाब विश्वविद्यालय.
2. प्रसाद 'मागध', कृष्णनारायण. (2015). *महाकवि शंकरदेव: विचारक एवं समाज सुधारक* (प्रथम संस्करण). नई दिल्ली: हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय.
3. कृष्णगोपाल. (2017). प्राग्ज्योतिष क्षेत्र की समरसता के उन्नायक: श्रीमंत शंकरदेव. *समन्वय (पूर्वोत्तर)*, नवंबर–जनवरी अंक, पृ. 05.
4. प्रसाद 'मागध', कृष्णनारायण. (2015). *महाकवि शंकरदेव: विचारक एवं समाज सुधारक* (प्रथम संस्करण). नई दिल्ली: हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, पृ. 127.

5. राय चौधरी, भूपेंद्र. *श्रीमंत शंकरदेव: व्यक्तित्व और कृतित्व*. पृ. 44.

6. द्विवेदी, हजारी प्रसाद. *मध्यकालीन धर्म-साधना* (प्रथम संस्करण). इलाहाबाद: साहित्य भवन लिमिटेड, पृ. 127.

7. नगेंद्र. *मिथक और साहित्य* (द्वितीय संस्करण). नई दिल्ली: नेशनल पब्लिशिंग हाउस, पृ. 84.

8. शंकरदेव. *भक्ति प्रदीप*.

9. वर्मा, नवारुण. (2000). *महापुरुष श्रीमंत शंकरदेव: जीवन, कृतित्व एवं संदेश* (प्रथम संस्करण). गुवाहाटी: बृहत्तर फैंसीबाजार साहित्य सभा, पृ. 83.

10. वर्मा, नवारुण. (2000). *महापुरुष श्रीमंत शंकरदेव: जीवन, कृतित्व एवं संदेश* (प्रथम संस्करण). गुवाहाटी: बृहत्तर फैंसीबाजार साहित्य सभा, पृ. 84.

11. वर्मा, नवारुण. (2000). *महापुरुष श्रीमंत शंकरदेव: जीवन, कृतित्व एवं संदेश* (प्रथम संस्करण). गुवाहाटी: बृहत्तर फैंसीबाजार साहित्य सभा, पृ. 85.

12. त्रिपाठी, सूर्यकांत. (2021). *भारतीय भक्ति आंदोलन और श्रीमंत शंकरदेव*. प्रयागराज: लोकभारती प्रकाशन, पृ. 72.

13. सांगानेरिया, साँवरमल. *लोहित के मानस पुत्र: शंकरदेव* (भूमिका). गुवाहाटी: हेरिटेज फाउंडेशन.

14. गुप्त, लक्ष्मीशंकर. (1975). *महापुरुष शंकरदेव: ब्रजबुलि ग्रंथावली*. प्रयाग: हिंदी साहित्य सम्मेलन, पृ. 15.

15. वर्मा, नवारुण. (2000). *महापुरुष श्रीमंत शंकरदेव: जीवन, कृतित्व एवं संदेश* (प्रथम संस्करण). गुवाहाटी: बृहत्तर फैंसीबाजार साहित्य सभा, पृ. 74.

16. शंकरदेव. *कीर्तनघोषा*.

17. दत्त, पुतु प्रसन्न. (2014). *श्रीमंत शंकरदेव जीवनामृत* (प्राक्कथन: ननी दत्त). डॉ. मुकुंद माधव दत्त प्रकाशन.

18. सिंह, गोपेश्वर. (2009). भक्ति आंदोलन और शंकरदेव. *आलोचना*, जनवरी–मार्च अंक.

राजनैतिक संचार की अवधारणा और परिप्रेक्ष्य

डॉ. रणजीत कुमार*
doctorranjitkumar@gmail.com

सारांश :

राजनैतिक संचार सामाजिक विकास की प्रमुख धुरी है। इसके अभाव में समाज के सर्वांगीण विकास की परिकल्पना को मूर्त रूप प्रदान नहीं किया जा सकता। राजनैतिक दर्शन का आरंभ संचार पर आधारित है। इस संचार के बारे में अरस्तू एक प्रमुख कथन है कि मनुष्य एक राजनैतिक प्राणी है। यह प्राणी समाज में रहता है और समाज के प्रत्येक गतिविधियों में भाग लेता है जिसमें राजनैतिक संचार की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इस संचार का महत्वपूर्ण स्रोत आरंभ से ही शासन व्यवस्था रहा है। सामंतवादी और राजशाही व्यवस्था में यह संचार पूर्णरूपेण शासन व्यवस्था के नियंत्रण में रहा। लेकिन जैसे-जैसे शासन व्यवस्था लोकोन्मुख होती गई वैसे- वैसे राजनैतिक संचार शासन व्यवस्था के साथ नागरिक केंद्रित भी होता चला गया। अब राजनैतिक संचार एकतरफा और नियंत्रित नहीं बल्कि जनसंचार के रूप में स्थापित हो चुका है। प्रत्येक गतिविधियों में नागरिक सहभागिता अब अनिवार्य हो गई है। हर सजग और जागरूक नागरिक राजनैतिक संचार में प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से भाग लेकर व्यवस्था को संचालित और प्रभावित कर रहा है।

शोध केंद्रित शब्द: *राजनीति, लोकतंत्र, राजनैतिक संचार, शासन व्यवस्था, लोक, नागरिक।*

प्रस्तावना:

सामाजिक विकास के साथ राजनैतिक संचार का प्रभाव लगातार बढ़ता गया है, क्योंकि इसके अभाव में समाज का बहुमुखी विकास नहीं किया जा सकता। जब जन माध्यमों का विकास नहीं हुआ था तब पारंपरिक माध्यमों के द्वारा प्रजा को अनुशासित और सीमित सूचना ही प्रदान करने का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार के एकतरफा सूचना का उद्देश्य शासकों द्वारा प्रजा को अपने अधीन बनाए रखने का प्रयास होता था, क्योंकि उन्हें पता होता था कि अगर सूचनाओं को स्वतंत्र रूप में संप्रेषित किया जाएगा तो परिणाम उनके विपरीत हो सकते थे। इतिहास में जागरूकता और विद्रोह से संबंधित सूचनाओं के दबाए जाने के अनेक उल्लेख मिलते हैं। लेकिन जैसे-जैसे शासन व्यवस्था लोक उन्मुख होने लगीं तब सकारात्मक और आवश्यक सूचनाओं के उन्मुक्त प्रवाह की परिकल्पना और आवश्यकता महसूस की जाने लगी। इस कार्य में मीडिया ने प्रमुख भूमिका निभाई। आरंभ में प्रेस के आविष्कार के साथ जनसंचार के वास्तविक माध्यम के रूप में समाचारपत्र प्रकाश में आए। सुविधाओं के अभाव में शुरूआत में मुद्रित माध्यमों का एक निश्चित नियत काल पर प्रकाशन नहीं हो पाता था लेकिन जैसे-जैसे तकनीकी विकास होता गया वैसे-वैसे इसका प्रकाशन आसान होता गया। यदा-कदा छपने वाले पत्र अब नियत समय पर विभिन्न प्रकार की सूचनाओं के साथ प्रकाशित होने लगे। इसके बाद मीडिया के रूप में रेडियो और टेलीविजन के आविष्कार ने जनसंचार की दुनिया में नवीन कीर्तिमान स्थापित कर दिया। इस मीडिया ने निरक्षर नागरिकों को भी सूचनाओं से अवगत कराना आरंभ कर दिया। इक्कीसवीं सदी के आरंभिक दौर में सोशल मीडिया के विभिन्न प्रतिरूपों ने दो तरफा संवाद को बढ़ावा दिया। इस प्रकार राजनैतिक संचार की पहुंच वास्तव में आम आदमी तक हो गई।

साहित्य पुनरावलोकन

यह सर्वविदित है कि राजनीति शब्द का हिंदी अनुवाद अंग्रेजी के पॉलिटिक्स (Politics) से किया गया है। अंग्रेजी में इस शब्द का उद्भव यूनानी भाषा के पॉलिस (Polis) से माना गया है। उस भाषा में इस शब्द का अर्थ नगर और राज्य के संदर्भ में किया गया है, जिसमें शासन भी सम्मिलित है। प्रो. रमेश जैन ने 'जनसंचार विश्वकोश' में बताया है कि "राजनीति का

***सहायक प्रोफेसर, पत्रकारिता एवं जनसंचार विभाग, मौलाना मजहरूल हक अरबी एवं फारसी विश्वविद्यालय, पटना**

रूढ़ अर्थ है- 'राज्य की नीति'। लोकतांत्रिक व्यवस्था में राजनैतिक दलों की भीतरी उठा- पटक और दलों के परस्पर संबंध भी राजनीति के दायरे में आ गए हैं।"[1] जिसका नकारात्मक आभास होता है।

किसी समाज के सफल संचालन में उसके लोकतांत्रिक व्यवस्था की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। लोकतांत्रिक व्यवस्था का मुख्य आधार राजनीति' को माना गया है। क्योंकि इसी के सहारे 'लोक' को स्वतंत्रता और सुविधाएं देने का प्रावधान किया जाता है। इस संदर्भ में सुभाष कश्यप ने 'हमारी राजनीतिक व्यवस्था' में राजनीतिक व्यवस्था के बारे में बताया है कि "राजनीतिक व्यवस्था एक सामाजिक संस्थापन है, जो राज्य के संचालन और जनता के साथ उसके संबंधों का स्वरूप प्रस्तुत करता है।"[2]

सुभाष कश्यप ने 'हमारा संविधान' में भारतीय संविधान के इतिहास और विकास के साथ नागरिक अधिकारों के अनेक विषयों पर विस्तार से चर्चा की है। उन्होंने इस पुस्तक के आरंभ में इस बात का उल्लेख किया है कि "किसी देश का संविधान उसकी राजनीतिक व्यवस्था का वह बुनियादी सांचा- ढांचा निर्धारित करता है जिसके अंतर्गत उसकी जनता शासित होती है।"[3]

लोकतांत्रिक व्यवस्था में लोक को शिक्षित और जागरूक बनाने में राजनैतिक संचार की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इसके अभाव में विकास और परिवर्तन की परिकल्पना नहीं की जा सकती। इस बारे में 'जनसंचार विश्वकोश' में प्रो. रमेश जैन ने बताया है कि "राजनीतिक संचार उस समय होता है जबकि राज-व्यवस्था के एक भाग से मांगें, निर्णय आदि दूसरे भाग तक जाती हैं। राजव्यवस्था इस प्रकार के संचार के बिना चल नहीं सकती। राजव्यवस्था में संचार के द्वारा ही गतिशीलता आती है।"[4]

'जनसंचार विश्वकोश' में राजनीतिक समाचार पत्र के संबंध में उन्होंने कहा है कि "राजनीतिक गतिविधियों से संबंधित समाचार, विचार प्रस्तुत करनेवाले पत्र 'राजनीतिक समाचार पत्र' कहलाते हैं।"[5] इसी के साथ प्रो. रमेश जैन ने राजनीतिक समाचार के बारे में लिखा है कि "राजनीतिक समाचारों का संबंध यों तो राज्य, राजनीति और राजनेताओं की गतिविधियों से जुड़ी ख़बरों से होता है, लेकिन जैसा कि हम रोजमर्रा की जिंदगी में देखते हैं कि गैर-राजनीतिक घटनाओं और फैसलों का राजनीतिक पक्ष भी होता है।"[6]

भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास पूर्णतः राजनैतिक स्वतंत्रता की लड़ाई थी। इसकी महता के संबंध में जे. नटराजन ने 'भारतीय पत्रकारिता के इतिहास' में अरविंद घोष को उधृत किया है- "अरविंद घोष का मानना है कि राजनीतिक आजादी किसी राष्ट्र की प्राणवायु है। सर्वप्रथम राजनीतिक आजादी प्राप्त किए बिना समाज- सुधार, शैक्षणिक- सुधार, औद्योगिक विकास, कौम का नैतिक विकास आदि का प्रयास करना परले दरजे की नासमझी है।"[7] अरविंद घोष के इस कथन में संचार शब्द की चर्चा तो नहीं की गई है लेकिन इसकी संपूर्णता में यह अप्रत्यक्ष रूप से व्याप्त है।

राजनीति की परिणति ही नहीं विकास के किसी भी स्वरूप को उसके लक्ष्य तक पहुंचाने में संचार की भूमिका काफी महत्वपूर्ण है। अपनी पुस्तक 'मीडिया समग्र' में अर्जुन तिवारी ने इसका उल्लेख करते हुए लिखा है कि "विकासशील राष्ट्र और जाग्रत समाज समाज की सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, प्रशासनिक प्रवृतियों के अनुसंधान में जनसंचार का योगदान अविस्मरणीय है। संचार के अभाव में व्यक्ति का समाज से संपर्क नहीं बन सकता, उसका जीवन अवरूद्ध हो जाता है, रिक्तता आ जाती है। समाज के विकास में जनसंचार की महता सर्वमान्य है।"[8]

शासन व्यवस्था की बागडोर अपने हाथ में थामने के लिए आज भी सूचनाओं को नियंत्रित करने का कार्य किया जा रहा है। इसमें मीडिया संचालकों की भूमिका जगजाहिर है। देश ही नहीं दुनिया के अनेक देशों में मीडिया संचालकों का शासन व्यवस्था में आने का क्रम लगातार जारी है। इस संबंध में चर्चित पुस्तक 'पत्रकारिता की लक्ष्मण रेखा' में आलोक मेहता ने बताया है कि दुनिया के विभिन्न लोकतांत्रिक देशों में राजनीतिज्ञों और पत्रकारों के मध्य काफी गहरे संबंध रहे हैं। राजनीति दलों और राजनीतिज्ञों ने अपने अख़बारों का प्रकाशन भी किया है। लगभग डेढ़ सौ साल पहले इंग्लैंड के 'हाउस ऑफ कॉमंस' में छः अखबारों के स्वामी सांसद चुने गए थे। यह संख्या आगे चलकर वहां दो गुनी हो गई। साम्यवादी देशों में लोकप्रिय अखबारों के संपादक सर्वोच्च नीति बनाने वाली संस्थाओं के सदस्य रहे हैं। हमारे देश की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व और बाद के आरंभिक वर्षों में अनेक नेताओं ने आजादी की अलख जगाने के लिए अखबारों का प्रकाशन किया।[9]

लोकतांत्रिक व्यवस्था में नागरिक को मीडिया द्वारा प्रदान की जाने वाली सूचनाओं के संप्रेषण के संबंध में मुकेश कुमार ने अपनी पुस्तक 'टीआरपी टीवी न्यूज और बाजार' में इस बात का उल्लेख किया है कि "लोक प्रसारक की राजनीतिक-अर्थव्यवस्था दर्शक उपभोक्ता के रूप में नहीं होता उसे नागरिक या लोक के तौर पर देखा जाता है।"[10]

सैद्धांतिक आधार : किसी भी विषय की अपनी एक परिधि होती है, जिसके अंतर्गत उस विषय की व्याख्या और विस्तार किया जाता है। लोकप्रिय विषयों के बारे में अनेक मत भी जुड़े होते हैं जिससे एक सार्वभौमिक सिद्धांत का उद्भव हो जाता है। यही सिद्धांत आगे चलकर विषय को सरल रूप में प्रस्तुत करता है जिससे संबंधित विषय का अध्ययन आसान हो जाता है। इस संबंध में टर्नर का कथन है कि सिद्धांत के बारे में कहानियां हैं कि घटनाएं कैसे और क्यों घटित होती हैं। वैज्ञानिक सिद्धांत इस धारणा से शुरू होते हैं कि अभिनय करने वाले मनुष्यों द्वारा बनाए गए सामाजिक ब्रह्मांड सहित ब्रह्मांड, कुछ बुनियादी और मौलिक गुणों और प्रक्रियाओं को प्रकट करता है। जो विशिष्ट प्रक्रियाओं में घटनाओं के उतार- चढ़ाव की व्याख्या करते हैं।

एजेंडा सेटिंग: लेकतांत्रिक समाजों में मीडिया की सकारात्मक सक्रियता जनोन्मुखी होती है लेकिन अगर यह सक्रियता नकारात्मक सूचना प्रवाहित करने की तरफ होगा तो निश्चय ही जनमत को प्रभावित होने से इनकार नहीं किया जा सकता है। क्योंकि मीडिया के माध्यम से ही लोग देश और दुनिया को देखते हैं। यह सर्व विदित है कि मीडिया ही जनसंचार का स्रोत है। इस संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि मीडिया ही तय करता है कि कौन सी सूचना प्रमुख है और कौन सी सूचना गौण।[11] हिंदी का एक विशाल वर्ग है जो हिंदी समाचारपत्रों के माध्यम से सूचनाओं को ग्रहण करता है समाज में अनेक घटनाएं होती हैं लेकिन सभी घटनाएं समाचार नहीं बन पाती हैं। कुछ घटनाओं को कई बार मीडिया जानबूझकर अनदेखा करता है और अनेक बार बिना सामाजिक सरोकार के प्रमुख स्थान दे देता है। इस प्रकार की घटनाएं अक्सर समाचारपत्रों की दुनिया में दिखाई पड़ती है। इसी संदर्भ में यह कहा गया है कि मीडिया न केवल घटनाओं को समाचार के रूप में चुनता है बल्कि उनका क्रम भी तय करता है।[12] इसी से एजेंडा तय होता है और इससे यह इनकार नहीं किया जा सकता है कि यह एजेंडा राजनीति से प्रेरित होता है।

प्रॉपगेंडा: हर परिस्थिति में मीडिया से यह आशा व्यक्त की जाती है कि वह जनसरोकार से संबंधित सकारात्मक सूचनाओं को उसके मूल स्वरूप में बिना बदलाव के संप्रेषित करे। लेकिन अनेक बार ऐसा नहीं होता है। कई बार यह देखा गया है कि किसी विशेष प्रयोजन हेतु सूचनाओं को नियंत्रित रूप में प्रवाहित करके मीडिया अपने स्वार्थ की पूर्ति करता है। यह परिस्थितियां राजनैतिक गतिविधियों, औद्योगिक प्रतिस्पर्धा और उत्थान तथा शासन तंत्र की छवि आदि निर्माण के लिए निर्मित की जाती हैं।[13] इसे सामान्यता आसानी से नहीं समझा जा सकता है। मीडिया अपने सशक्त प्रभाव से ऐसा वातावरण निर्मित कर देता है कि किसी सूचना के लक्ष्य के बारे में आम पाठक, श्रोता अथवा दर्शक बिलकुल समझ नहीं पाता है। मीडिया का यह वातावरण ही प्रॉपगेंडा का मुख्य आधार बन जाता है।

प्रस्तुत शोध में उपरोक्त सैद्धांतिक स्वरूपों को व्यावहारिक रुप में आंकलन किया गया है।

शोध प्रविधि:

प्रस्तुत शोध अध्ययन द्वितीयक सामग्री पर आधारित है। क्योंकि इस विषय पर लगभग सभी सामग्री पूर्व से ही उपलब्ध है। राजनैतिक संचार की अवधारणा और परिप्रेक्ष्य के विषय को समझने के लिए मुख्यतः पुस्तकों का अध्ययन करके विश्लेषण किया गया है। इसलिए इस शोध में विश्लेषणात्मक पद्धति का प्रयोग किया गया है। विश्लेषणात्मक शोध के बारे में कहा गया है कि इसमें उपलब्ध तथ्यों और सूचनाओं का उपयोग कर मूल्यांकन हेतु विश्लेषण किया जाता है।[14]

उपकल्पना: समाज के संचालन में राजनैतिक संचार की भूमिका बेहद महत्वपूर्ण है।

उद्देश्य: राजनैतिक संचार की अवधारणा और परिप्रेक्ष्य को प्रस्तुत करना।

महत्व: राजनीति, लोकतंत्र को संचालित करनेवाली सभी संस्थाओं और लोक को प्रभावित करती है। इसके अभाव में लोकतंत्र को जनोन्मुख नहीं बनाया जा सकता है। क्योंकि यह सरकार बनने से लेकर शासन प्रदान करने तक में प्रमुख भूमिका निभाता है। इसकी प्रत्येक गतिविधियों के बारे में लोक को सूचना संप्रेषित करने और उनकी प्रतिक्रिया को दर्शाने के लिए मीडिया पुल का कार्य करता है। मीडिया की यही भूमिका राजनैतिक संचार के लिए भी उत्तरदायी होती है। इस दिशा में मीडिया

की भूमिका कई बार अपने प्रकृति के विपरीत भी होती है। ऐसी परिस्थिति में राजनैतिक संचार की अवधारणा और परिप्रेक्ष्य को दर्शाना एक महत्वपूर्ण कार्य है।

प्रासंगिकता:

दुनिया के लगभग देशों में लोकतांत्रिक व्यवस्था की स्थापना हो चुकी है और जहां नहीं हुई है वहां इसको स्थापित करने की दिशा में कार्य किया जा रहा है। कुछ देश तानाशाही और राजतंत्र होने के बावजूद जनोन्मुख शासन व्यवस्था प्रदान करने की बात करते हैं। ऐसे में राजनैतिक संचार की अवधारणा और परिप्रेक्ष्य जैसे विषय पर कार्य करना बेहद प्रासंगिक है।

विश्लेषण:

राजनैतिक संचार के मूल में 'राजनीति' शब्द है। इस शब्द की उत्पत्ति यूनानी भाषा के पॉलिस से माना जाता है। इस शब्द का अर्थ उस भाषा में नगर अथवा राज्य होता है। नगर अथवा राज्य के संचालन में राजनीति की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इसलिए 'पॉलिस' के अंतर्गत शासन को भी सम्मिलित किया गया है। 'राजनीति' शब्द के इतिहास और विकास पर दृष्टिपात करने पर यह ज्ञात होता है कि यह शब्द समाज को लोकतांत्रिक बनाने की दिशा में प्रयोग किया जानेवाला बेहद पवित्र शब्द है। लेकिन शासन व्यवस्था में जनमानस की अपेक्षाओं पर खरा नहीं उतरनेवाले जनप्रतिनिधियों और संस्थाओं ने इस शब्द को नकारात्मक रूप में प्रस्तुत किया। "बोलचाल की भाषा में राजनीति शब्द का प्रयोग नकारात्ममक खींचतान और गलत आभास दने के लिए भी प्रयुक्त किया जाता है।"[15] लेकिन इस प्रकार के नकारात्मक आंकलन से इस शब्द की गरिमा को खत्म नहीं किया जा सकता है। दुनिया के अनेक लोकतांत्रिक देशों में अभी भी यह शब्द 'लोक' को बेहतरीन शासन के साथ सुविधा उत्पन्न कराने के लिए ही प्रयोग किया जाता है। इन देशों में लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं को संपन्न बनाने के लिए लगातार संपन्न प्रयास किए जा रहे हैं। इस दिशा में संयुक्त राष्ट्र के प्रयास से दुनिया के खुशहाल देशों की सूची प्रत्येक साल सार्वजनिक की जाती है। जिसमें अलग-अलग मानकों के साथ नागरिक सुविधाओं का प्रमुख रूप से उल्लेख होता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि राजनीति एक शब्द से आगे लोकतांत्रिक संस्थाओं को सुदृढ बनानेवाली एक व्यवस्था है जो सकारात्मक रूप में हमेशा संचालित होती है। इसी के साथ यह भी कहा जा सकता है कि "राजनीतिक व्यवस्था एक सामाजिक संस्थापन है, जो राज्य के संचालन और जनता के साथ उसके संबंधों का स्वरूप प्रस्तुत करता है। किसी देश की राजनीतिक व्यवस्था आमतौर पर उन संस्थाओं की संरचना को रेखांकित करती है जो राज्य और सरकार का निर्माण करती है। यह राज्य की संस्थाओं और उसके अंगों विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका के बीच अंतर्संबंधों एवं उनकी कार्यप्रणाली को निर्धारित तथा आमजन से उनके संबंधों को सुनिश्चित करती है। व्यापक अर्थ में राजनीतिक व्यवस्था अपने दायरे में अंतरराष्ट्रीय संगठनों जैसे संयुक्त राष्ट्र, यूरोपीय संघ आदि को भी शामिल करती है।"[16] लोक को संप्रभु बनाए रखने के लिए राजनैतिक व्यवस्था को सजीव, गतिशील और प्रगतिशील बनाए रखने के लिए सबसे महत्वपूर्ण कारक मीडिया अथवा संचार माध्यम हैं। इसके अभाव में किसी भी सभ्य समाज की परिकल्पना नहीं की जा सकती है। संचार माध्यम ही सभी लोकतांत्रिक संस्थाओं और व्यवस्थाओं के बारे में जानकारी एकत्रित करके लोक को संप्रेषित करते हैं तथा लोक की बातों को संस्थाओं तक पहुंचाते हैं। इसलिए इनके बारे में कहा जाता है कि "समाचार माध्यमों अथवा प्रेस की स्वतंत्रता को लोकतंत्रात्मक समाज में सभी स्वतंत्रताओं की जननी माना जाता है।"[17] माध्यमों द्वारा संप्रेषित हर प्रकार का संचार राजनीति से प्रेरित होता है। लेकिन अनेक मौकों पर राजनैतिक संचार को लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं और उनके संचालन कर्ताओं तक सीमित कर दिया जाता है। "राजनैतिक संचार तब होता है जब राज-व्यवस्था के एक भाग से मांगे, निर्णय आदि दूसरे भाग तक जाती हैं। संचार के अभाव में इस व्यवस्था का संचालन संभव नहीं है। क्योंकि संचार ही राजव्यवस्था को गतिशील बनाने में सहयोग करता है जो राजनीतिक संचार के अंतर्गत आता है। इस संचार में संवैधानिक संस्थाओं से संबंधित सभी प्रकार की जनसूचनाओं को सम्मिलित किया गया है। राजनीतिक संचार वह संचार प्रक्रिया है जिससे नागरिक, शासन और सरकार तथा इससे संबद्ध अनेक निकायों की मांगो, निर्णयों, मूल्यों, विचारों, भागीदारी आदेशों, प्रतिक्रिया की सूचना संचारित होती है।"[18]

यूं तो राजनीति के विषय और परिधि की चर्चा ऊपर की जा चुकी है फिर इसके विषय के बारे में यह कहा जा सकता है कि राजनैतिक संचार की सामग्री के रूप में जो समाचार होते हैं वे राजनैतिक समाचार होता है। हमारे सामाजिक परिवेश में 'राजनीति' शब्द की भांति ही इसके विषय के बारे में भी चर्चा की जाती है। "हमारे देश ही नहीं दुनिया भर के समाचार पत्रों का प्रमुख स्थान राजनैतिक समाचारों से ही भरा होता है। क्योंकि सरकार की नीतियों से लेकर उसके संचालन और सकारात्क तथा

नकारात्मक प्रभाव में आम पाठकों की काफी दिलचस्पी होती है। यह भी कहा जा सकता है कि इसका दायरा अत्यंत व्यापक है। इसलिए इसमें हमेशा नवीन विषयों का समावेश होता रहता है जो इस प्रकार के समाचार को तरोताजा बनाए रखने में सहायक होते हैं। राजनैतिक समाचारों का संबंध यूं तो राज्य, राजनीति और राजनेताओं की गतिविधियों से जुड़ी खबरों से होता है, लेकिन जैसा हम रोजमर्रा की जिंदगी में देखते हैं कि गैर- राजनीतिक घटनाओं और फैसलों का राजनीतिक पक्ष भी होता है।"[19] यह पक्ष विचारधारा और कई प्रकार के संबंधों से प्रभावित होता है। भारत ही नहीं दुनिया के अनेक देशों में इसके उदाहरण मिलते हैं। "दुनिया के विभिन्न लोकतांत्रिक देशों में राजनीतिज्ञों और पत्रकारों के मध्य काफी गहरे संबंध रहे हैं। राजनीतिक दलों और राजनीतिज्ञों ने अपने अख़बारों का प्रकाशन भी किया है। लगभग डेढ़ सौ साल पहले इंग्लैंड के 'हाउस ऑफ कॉमंस' में छः अखबारों के स्वामी सांसद चुने गए थे। यह संख्या आगे चलकर वहां दो गुनी हो गई।"[20] हमारे देश में भी राजे-रजवाड़ों से लेकर स्वतंत्रता सेनानियों और साधन संपन्न अनेक लोगों ने अपनी राजनैतिक इच्छाशक्ति को लोगों तक पहुंचाने के लिए समाचारपत्रों का सहारा लिया। इस बारे में यह कहा जा सकता है कि जिसने भी मीडिया का संचालन कार्य किया या कर रहे हैं वे सामान्य पंक्ति के लोग नहीं माने जा सकते, क्योंकि इन्होंने अपने विभिन्न मीडिया प्रतिरूपों के द्वारा राजनैतिक वातावरण ही तैयार किया है।

यह सर्वविदित है कि हमारे देश में सर्वप्रथम समाचारपत्र आरंभ करने का श्रेय एक अंग्रेज कर्मचारी जेम्स ऑगस्ट हिक्की को दिया जाता है। हिक्की ने 29 जनवरी 1780 में प्रथम पत्र 'हिक्की गजट' का कलकता से सफलतापूर्वक प्रकाशन किया। इस पत्र में अंग्रेज अधिकारियों और कर्मचारियों की अनेक गतिविधियों के बारे में खबरें प्रकाशित होती थी जिससे संबंधित अधिकारी और कर्मचारी विचलित हो जाते थे। जेम्स ऑगस्ट हिक्की को इस प्रकार के कार्य के लिए अनेक यातनाएं दी गई लेकिन उसने अपने अवसान तक अपने समाचारपत्र में लेखन का कार्य जारी रखा। हिक्की के पत्र का आदर्श वाक्य 'पत्र खुला तो सभी के लिए है लेकिन प्रभावित किसी से नहीं' लिखा रहता है। पत्रकारिता की दुनिया में हिक्की ने अपने समाचारपत्र के लिए जो आदर्श स्थापित किया वह आज भी प्रासंगिक बना हुआ है। इसलिए जेम्स ऑगस्ट हिक्की की चर्चा के बिना भारतीय पत्रकारिता का इतिहास पूरा नहीं हो पाता है। हिक्की के समाचारपत्र के विषय-वस्तु पर दृष्टिपात करने पर यह ज्ञात होता है कि उनकी सामग्री के मुख्य विषय अंग्रेज अधिकारी और कर्मचारी थे जो शासन का हिस्सा थे। इसलिए यह कहना अतिसयोक्ति नहीं होगी कि हमारे देश का प्रकाशित होनेवाला प्रथम समाचारपत्र पूर्णरूपेण राजनैतिक था। "आरंभिक समाचार पत्र कंपनी के पूर्व कर्मचारियों द्वारा निकाले गए थे, जिन्होंने ऐसा करके उसको नाराज कर लिया था और उनके कॉलम अपने समय की बुराइयों और अनाचारों का पर्दाफाश करने के लिए प्रतिबद्ध होते थे। ये बहुतायत में कड़ी और आपत्तिजनक भाषा में लिखे होते थे और वे घोर मानहानि करने की कोटि के होते थे। फिर भी उस समय के समाचार पत्रों ने एक उपयोगी भूमिका निभाई। बाद के समाचारपत्र प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सरकारी संरक्षण में निकलने शुरू हो गए।"[21] इस आरंभिक दौर में मीडिया के रूप में समाचारपत्रों का संचालन अधिकांशतः अंग्रेजों के ही हाथ में था। धीरे-धीरे जब भारतीय भी इसकी प्रभावशीलता से अवगत हुए तो अपनी महत्वाकांक्षाओं को मूर्त रूप प्रदान करने लिए समाचार पत्रों का प्रकाशन करने लगे। इन भारतीयों में राजे-रजवाड़ों से लेकर स्वतंत्रता सेनानी तक थे। भारतीय पत्रकारिता के इतिहास में इस बात का उल्लेख मिलता है कि कई रजवाड़े अपना अधिपत्य बनाए रखने के लिए स्वतंत्रता आंदोलन तक विरोध अपने पत्रों के माध्यम से करते थे। इसके विपरीत आंदोलन करनेवाले अपना सबकुछ न्योछावर करके समाचारपत्रों के माध्यम से स्वतंत्रता आंदोलन की लड़ाई लड़ रहे थे। अनेक पत्र जातीय और धार्मिक भी थे। इन सभी के सरोकारों के संबंध में कहा जा सकता है कि मीडिया के रूप में ये समाचारपत्र और पत्रिकाएं अपने-अपने लक्षित समूह को राजनैतिक संचार के माध्यम से अपने पक्ष में तैयार कर रहे थे। आजादी के बाद भी यह दस्तूर निरंतर जारी है।

निष्कर्ष:

राजनैतिक संचार ही सामाजिक विकास की प्रमुख धुरी है। जनसंचार के माध्यमों ने इसे लगातार प्रभावी बनाने में अपनी महती भूमिका निभाई है और निभा रहे हैं। आरंभ में समाचारपत्रों ने जनसंचार में अपनी वास्तविक भूमिका निभाई। सभी दौर के समाचारपत्रों ने अपनी-अपनी निर्धारित सीमाओं के अंदर प्रकाशित सामग्री को प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से राजनीति से जोड़े रखा। उनके विषय हमेशा राजनीति से प्रेरित और आच्छादित रहे। धार्मिक और जातीय समाचारपत्रों ने अपनी एकता और प्रभुत्व को बनाए रखने की राजनीति को आगे बढ़ाया। साहित्यिक और समाज सुधार से जुड़े पत्रों ने सामाजिक उत्थान

की राजनीति की तो स्वतंत्रता आंदोलन से संबंधित समाचारपत्रों ने स्वराज के लिए राजनीति की। राजनैतिक संचार के बारे में कहा जा सकता है कि इस दिशा में मीडिया के रूप में समाचारपत्रों ने अपनी सामग्री से देश के बहुत बड़े वर्ग को विभिन्न विषयों पर मत बनाने में आरंभ से ही सहयोग किया है। स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ लोगों को आंदोलित करके स्वाधीनता के लिए प्रेरित किया। आजादी के बाद राजनैतिक संचार की भूमिका बेहद व्यापक हो गई। तकनीकी के विकास के साथ इलेक्ट्रॉनिक मीडिया ने इसे और प्रभावी बनाया तथा सोशल मीडिया ने द्विपक्षीय संचार को वास्तविकता के धरातल पर उतार दिया। इससे शिक्षित और सजग नागरिकों ने अपने विचारों से दबाव समूह का कार्य करके राजनैतिक संचार के दायरे को बेहद व्यापक बना दिया। मीडिया के सभी प्रतिरूप राजनैतिक खबरों को वरीयता देते हैं। यही कारण है कि इनमें हमेशा राजनैतिक खबरों की भरमार होती है। यह कहा जा सकता है कि राजनैतिक संचार से संबंधित सूचनाओं को अत्याधुनिक संचार माध्यमों ने बेहद गतिशील और रुचिकर बना दिया है।

संदर्भ :-

1. जैन, रमेश. (2014). *जनसंचार विश्वकोश.* नई दिल्लीः नेशनल पब्लिशिंग हाउस. पृ. 369.
2. कश्यप, सुभाष. (2020). *हमारी राजनीतिक व्यवस्था.* नई दिल्लीः राष्ट्रीय पुस्तक न्यास. पृ. 1.
3. कश्यप, सुभाष. (2024). *हमारा संविधान.* नई दिल्लीः राष्ट्रीय पुस्तक न्यास. पृ. 1.
4. जैन, रमेश. (2014). *जनसंचार विश्वकोश.* नई दिल्लीः नेशनल पब्लिशिंग हाउस. पृ.368-369.
5. जैन, रमेश. (2014). *जनसंचार विश्वकोश.* नई दिल्लीः नेशनल पब्लिशिंग हाउस. पृ. 369.
6. जैन, रमेश. (2014). *जनसंचार विश्वकोश.* नई दिल्लीः नेशनल पब्लिशिंग हाउस. पृ. 369.
7. नटराजन, जे. (2002). *भारतीय पत्रकारिता का इतिहास.* (आर. चेतनक्रांति, अनु.). नई दिल्लीः प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार. पृ. 21.
8. तिवारी, अर्जून. (2019). *मीडिया समग्र.* नई दिल्लीः वाणी प्रकाशन. पृ. 36.
9. मेहता, आलोक. (2007). *पत्रकारिता की लक्ष्मण रेखा.* नई दिल्लीः सामयिक प्रकाशन. पृ. 22.
10. कुमार, मुकेश. (2015). *टीआरपी टीवी न्यूज और बाजार.* नई दिल्लीः वाणी प्रकाशन. पृ.35.
11. राजगढ़िया, विष्णु. (2008). *जनसंचार सिद्धांत और अनुप्रयोग.* नई दिल्लीः राधाकृष्ण. पृ. 95.
12. हींगड़, आशाः जैन, मधु व पारीक सुशीला. (2015). *संचार के सिद्धांत.* (संजीव भनावत, संपा.). जयपुरः राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी. पृ. 170.
13. हींगड़, आशाः जैन, मधु व पारीक सुशीला. (2015). *संचार के सिद्धांत.* (संजीव भनावत, संपा.). जयपुरः राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी. पृ. 170.
14. कोठारी, सी. आर. (2024). *शोध पद्धति.* नई दिल्लीः न्यू एज इंटरनेशनल (प्रा.) लिमिटेड, पब्लिशर्स. पृ. 3.
15. जैन, रमेश. (2014). *जनसंचार विश्वकोश.* नई दिल्लीः नेशनल पब्लिशिंग हाउस. पृ.368-369.
16. कश्यप, सुभाष. (2024). *हमारी राजनीति व्यवस्था.* (इष्ट देव सांकृत्यायन, अनु.). दिल्लीः राष्ट्रीय पुस्तक न्यास. पृ. 1.
17. कश्यप, सुभाष. (2024). *हमारा संविधानः भारत का संविधान और संवैधानिक विधि.* नई दिल्लीः राष्ट्रीय पुस्तक न्यास. पृ. 97
18. जैन, रमेश. (2014). *जनसंचार विश्वकोश.* नई दिल्लीः नेशनल पब्लिशिंग हाउस. पृ. 368- 369.
19. जैन, रमेश. (2014). *जनसंचार विश्वकोश.* नई दिल्लीः नेशनल पब्लिशिंग हाउस. पृ. 369.
20. मेहता, आलोक..(2007). *पत्रकारिता की लक्ष्मण रेखा.* नई दिल्लीः सामयिक प्रकाशन. पृ. 22.
21. नटराजन, जे. (2002). *भारतीय पत्रकारिता का इतिहास.* (आर. चेतनक्रांति, अनु.). नई दिल्लीः प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार. पृ. 11-12.

आदिवासी दर्शन और भारतीय साहित्य : एक विमर्शात्मक अध्ययन

डॉ. विद्या चरण*
drvidyacharan@gmail.com

सारांश

यह शोध हिंदी साहित्यिक आलोचना में आदिवासी साहित्य की स्थिति को नए सिरे से देखने का प्रयास है। अब तक आदिवासी रचनाओं को प्रायः सामाजिक हाशियाकरण, प्रतिरोध या पहचान की राजनीति के संदर्भ में पढ़ा गया है। हालाँकि इन दृष्टियों का अपना महत्व है, पर वे आदिवासी साहित्य के भीतर निहित उस गहरी दार्शनिक चेतना को पूरी तरह उद्घाटित नहीं कर पातीं, जो उसे एक स्वतंत्र और सुसंगत बौद्धिक परंपरा का रूप देती है। इस अध्ययन का मूल तर्क यह है कि आदिवासी साहित्य केवल सामाजिक अनुभवों का वर्णन नहीं करता, बल्कि वह दुनिया को समझने, समय को महसूस करने और जीवन के अर्थ को गढ़ने का एक अलग तरीक़ा प्रस्तुत करता है।

यह शोध पाठ-केंद्रित आलोचना से आगे बढ़ते हुए आदिवासी मौखिक और लिखित अभिव्यक्तियों को उनके जीवन-दर्शन के संदर्भ में पढ़ता है। गीत, कथा, लोकगाथा और आधुनिक लेखन—सभी को यहाँ केवल साहित्यिक विधाओं के रूप में नहीं, बल्कि सामूहिक स्मृति, पारिस्थितिक नैतिकता और समुदाय-केंद्रित अस्तित्व-बोध के वाहक के रूप में समझा गया है। अध्ययन यह दिखाता है कि आदिवासी दर्शन अमूर्त सिद्धांतों में नहीं, बल्कि रोज़मर्रा के जीवन, प्रकृति के साथ संबंधों और पूर्वजों की स्मृतियों में जीवित रहता है।

अध्ययन का निष्कर्ष यह है कि यदि हिंदी साहित्यिक आलोचना को बौद्धिक रूप से समृद्ध और समावेशी बनना है, तो उसे आदिवासी दर्शन को गंभीरता से ग्रहण करना होगा। इसके लिए 'साहित्य', 'भाषा', 'लेखक' और 'पाठ' जैसी मूल अवधारणाओं पर पुनर्विचार आवश्यक है। यह शोध न केवल आदिवासी साहित्य के अध्ययन में एक नए दार्शनिक दृष्टिकोण का प्रस्ताव करता है, बल्कि हिंदी आलोचना को ज्ञान की बहुलता और पारिस्थितिक संवेदनशीलता की दिशा में आगे बढ़ने का आमंत्रण भी देता है।

मुख्य शब्द:

आदिवासी दर्शन, आदिवासी साहित्य, हिंदी साहित्य, स्वदेशी ज्ञान, भारतीय साहित्यिक आलोचना, पारिस्थितिकी।

प्रस्तावना-

भारतीय साहित्य का इतिहास बहुत विविधता से भरा हुआ है। इसमें शास्त्रीय संस्कृत की गहरी विचारधारा, भक्ति और सूफ़ी आंदोलनों की मानवीय भावनाएं, लोककथाओं और मौखिक परंपराओं की जीवन से जुड़ी जागरूकता, और आधुनिक समय के राष्ट्रीय और सामाजिक विचार-विमर्श सभी शामिल हैं। इन सभी ने मिलकर भारतीय साहित्य को एक जटिल और समृद्ध बौद्धिक दृश्य प्रदान किया है। लेकिन, हिंदी साहित्यिक आलोचना में आदिवासी या जनजातीय विचारों को अभी भी कम महत्व दिया जाता है। रहा है। यह स्थिति तब और अधिक चिंताजनक हो जाती है, जब यह देखा जाता है कि आदिवासी साहित्यिक अभिव्यक्तियों को प्रायः सामाजिक वंचना, सांस्कृतिक हाशियाकरण या पहचान की राजनीति के सीमित ढाँचों में बाँधकर पढ़ा गया है।

* **राजकीय महाविद्यालय रामकोला, कुशीनगर, उत्तर प्रदेश**

हिंदी आलोचना की परंपरा में आदिवासी साहित्य को अक्सर ऐतिहासिक दस्तावेज़, सामाजिक यथार्थ या सांस्कृतिक स्मृति के रूप में स्वीकार किया गया है। लेकिन उसके भीतर निहित दार्शनिक विश्वदृष्टि की गंभीर आलोचनात्मक व्याख्या अपेक्षाकृत कम हुई है। आदिवासी रचनाओं में उपस्थित प्रकृति-बोध, सामूहिक नैतिकता, स्मृति-केंद्रित इतिहास-दृष्टि और जीवन की चक्रीय अवधारणा को प्रायः 'विषय-वस्तु' तक सीमित कर दिया गया है, जबकि ये तत्व वस्तुतः एक सुविचारित और सुसंगत ज्ञानमीमांसीय ढाँचे का निर्माण करते हैं। इस उपेक्षा के परिणामस्वरूप भारतीय साहित्य-अध्ययन में एक महत्वपूर्ण पक्ष अनदेखा किया गया है। आदिवासी साहित्य की यह विशिष्ट दृष्टि हमें जीवन के विभिन्न पहलुओं को समझने का एक नया दृष्टिकोण प्रदान कर सकती है। स्वदेशी और गैर-पाठ्य ज्ञान-परंपराएँ लंबे समय तक आलोचनात्मक हाशिए पर बनी रहीं।

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से, आदिवासी साहित्य में अकादमिक रुचि में काफी वृद्धि हुई है। खासतौर पर आदिवासी लेखकों की रचनाओं, अनुवादों और संपादित संकलनों के माध्यम से, यह साहित्य हिंदी पाठकों और शोधार्थियों के लिए अधिक स्पष्ट रूप में सामने आया है। हालांकि, हिंदी साहित्यिक आलोचना ने अभी भी इसे मुख्य रूप से 'क्षेत्रीय', 'लोक' या 'प्रतिरोधात्मक' साहित्य की श्रेणियों में रखकर देखने की प्रवृत्ति को बनाए रखा है (पांडे, 1990)। यद्यपि यह वर्गीकरण राजनीतिक और नैतिक सहानुभूति से युक्त है, फिर भी यह आदिवासी कथनों की उन गहरी दार्शनिक संरचनाओं तक नहीं पहुँच पाता, जो उनके चिंतन का आधार हैं। परिणामस्वरूप, आदिवासी दर्शन को सांस्कृतिक सामग्री के रूप में तो स्वीकार किया गया, किंतु एक स्वतंत्र साहित्यिक चिंतन के रूप में उसकी मान्यता अब भी अपर्याप्त बनी हुई है।

यह आलेख इस मूल विचार पर आधारित है कि भारतीय साहित्यिक आलोचना तब तक पूरी नहीं हो सकती जब तक हम आदिवासी दर्शन को एक मूलभूत ज्ञानमीमांसीय ढाँचे के रूप में शामिल नहीं करते। इस अध्ययन का मुख्य बिंदु यह है कि आदिवासी दर्शन सिर्फ साहित्य का एक विषय नहीं है, बल्कि यह साहित्य को देखने, बनाने और समझने का एक विशेष नजरिया प्रदान करता है। यह दृष्टि उन प्रचलित साहित्यिक प्रतिमानों को चुनौती देती है, जो पाठ-केंद्रितता, व्यक्तिगत लेखकत्व और रैखिक, प्रगति-उन्मुख इतिहास-बोध पर आधारित हैं। आदिवासी दर्शन प्रकृति को केवल सौंदर्यात्मक या प्रतीकात्मक पृष्ठभूमि नहीं, बल्कि सजीव सह-अस्तित्व का नैतिक संबंध मानता है; इतिहास को केवल अतीत का अभिलेख नहीं, बल्कि भूमि, स्मृति और पूर्वजों में निरंतर प्रवाहित वर्तमान के रूप में देखता है; और कथा को केवल व्यक्तिगत अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि समुदाय की सामूहिक चेतना की वाहक के रूप में प्रतिष्ठित करता है।

हिंदी साहित्य में स्वदेशी ज्ञान-पद्धतियों को महत्व देना सिर्फ यह नहीं है कि हम उन्हें शामिल करें या नहीं, बल्कि साहित्यिक आलोचना की सोच को बदलने की जरूरत है। यह शोध सिर्फ आदिवासी साहित्य को हिंदी साहित्य में जोड़ने की बात नहीं करता, बल्कि उसके साथ बातचीत करके पूरे साहित्य को समृद्ध बनाने की कोशिश करता है। करता है। इसी संवाद के माध्यम से हम एक ऐसे भारतीय साहित्यिक चिंतन की कल्पना कर सकते हैं, जो ग्रंथ और लोक, व्यक्ति और समुदाय, इतिहास और मिथक, तथा मानव और प्रकृति के बीच निर्मित उस जीवंत सेतु को पहचान सके, जिस पर भारत की वास्तविक बहुस्वरता आधारित है। इस अर्थ में यह लेख केवल एक आलोचनात्मक हस्तक्षेप नहीं, बल्कि भारतीय साहित्य की आत्मा को उसकी संपूर्ण जटिलता, गहराई और सौंदर्य में समझने का एक आवश्यक बौद्धिक प्रयास है।

साहित्यिक समीक्षा-

भारत में आदिवासी समुदायों के साथ विद्वतापूर्ण जुड़ाव का इतिहास अपेक्षाकृत विस्तृत रहा है, विशेषतः मानवशास्त्र, समाजशास्त्र और राजनीतिक अध्ययन के क्षेत्रों में। औपनिवेशिक और उत्तर-औपनिवेशिक काल में हुए अनेक अध्ययनों ने आदिवासी समाजों की सामाजिक संरचना, सांस्कृतिक परंपराओं, शासन-प्रणालियों और उनके हाशियाकरण की

प्रक्रियाओं का विश्लेषण किया है। इस संदर्भ में वर्जीनियस ज़ाक्सा (Xaxa, 2008) और आंद्रे बेतेइय (Béteille, 2012) के कार्य विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने आदिवासी पहचान, राज्य के साथ उनके संबंध और संरचनात्मक असमानताओं की आलोचनात्मक पड़ताल की। इसी क्रम में रामचंद्र गुहा (2000) जैसे विद्वानों ने आदिवासी और स्वदेशी संस्कृतियों में निहित पारिस्थितिक ज्ञान प्रणालियों की ओर ध्यान आकर्षित किया है, जिससे पर्यावरणीय विमर्श को एक नया नैतिक आधार प्राप्त हुआ। हालाँकि, इन बहुमूल्य अध्ययनों की एक प्रमुख सीमा यह रही है कि आदिवासी ज्ञान को प्रायः दार्शनिक या साहित्यिक प्रणाली के रूप में नहीं, बल्कि सामाजिक-वैज्ञानिक विश्लेषण के लिए प्रयुक्त प्रायोगिक या अनुभवजन्य डेटा के रूप में देखा गया। आदिवासी जीवन-दृष्टि को 'अध्ययन की वस्तु' तो बनाया गया, किंतु 'ज्ञान के स्रोत' के रूप में उसकी स्वायत्तता को अपेक्षित मान्यता नहीं मिल पाई। इस कारण आदिवासी समाज की बौद्धिक परंपराएँ लंबे समय तक अकादमिक विमर्श में गौण बनी रहीं। साहित्यिक अध्ययनों के क्षेत्र में स्थिति कुछ हद तक भिन्न दिखाई देती है। बीते कुछ दशकों में संपादित संकलनों, अनुवाद परियोजनाओं और सक्रियतावादी विद्वता के माध्यम से आदिवासी लेखन को अपेक्षाकृत अधिक दृश्यता प्राप्त हुई है (Devy, 2019; Hansda, 2020)। इन प्रयासों ने आदिवासी लेखकों की कविताओं, कहानियों और मौखिक परंपराओं को व्यापक पाठक-वर्ग तक पहुँचाया तथा साहित्यिक मानचित्र पर उनकी उपस्थिति को दर्ज किया। तथापि, इस साहित्य पर केंद्रित आलोचनात्मक लेखन का बड़ा हिस्सा अब भी वर्णनात्मक प्रकृति का रहा है, जो मुख्यतः विस्थापन, शोषण, गरीबी और प्रतिरोध जैसे विषयों पर केंद्रित है। विशेष रूप से हिंदी साहित्यिक आलोचना में आदिवासी रचनाओं को प्रायः यथार्थवादी या सुधारवादी दृष्टिकोण से पढ़ा गया है। इन पाठों को सामाजिक दुख और ऐतिहासिक अन्याय के प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया, किंतु उनकी वैचारिक और दार्शनिक भिन्नता पर अपेक्षित गंभीरता से विचार नहीं किया गया। परिणामस्वरूप, आदिवासी साहित्य को हिंदी साहित्य के भीतर एक 'विषयगत उप-श्रेणी' के रूप में तो स्थान मिला, परंतु एक स्वतंत्र साहित्यिक-दार्शनिक परंपरा के रूप में उसकी पहचान अधूरी रह गई। इस संदर्भ में रमणिका गुप्ता का हस्तक्षेप एक महत्वपूर्ण अपवाद के रूप में सामने आता है। वे स्पष्ट रूप से यह तर्क प्रस्तुत करती हैं कि आदिवासी साहित्य को मुख्यधारा के हिंदी साहित्य का उपसमुच्चय मानने के बजाय एक स्वायत्त साहित्यिक परंपरा के रूप में समझा जाना चाहिए (गुप्ता, 2018)। उनके लेखन में आदिवासी साहित्य की आंतरिक दृष्टि, सांस्कृतिक स्वायत्तता और भाषिक भिन्नता पर बल दिया गया है। फिर भी, इस प्रकार की प्रगतिशील आलोचनाएँ भी अक्सर आदिवासी दर्शन को एक व्यवस्थित बौद्धिक या ज्ञानमीमांसीय ढाँचे के रूप में स्पष्ट रूप से परिभाषित करने से चूक जाती हैं। परिणामस्वरूप, आदिवासी आवाज़ों को स्वीकार करने और आदिवासी ज्ञान-पद्धतियों से सैद्धांतिक स्तर पर जुड़ने के बीच एक स्पष्ट और गहरी खाई बनी रहती है। प्रस्तुत अध्ययन इसी रिक्ति से संवाद स्थापित करता है। यह मौजूदा विद्वता से इस अर्थ में भिन्न है कि यह आदिवासी साहित्यिक अभिव्यक्ति के संगठन सिद्धांत के रूप में पहचान या प्रतिनिधित्व को नहीं, बल्कि दर्शन को प्राथमिकता देता है। यह अध्ययन इस तर्क को केंद्र में रखता है कि आदिवासी कथाओं को केवल इसलिए नहीं पढ़ा जाना चाहिए कि वे क्या चित्रित करती हैं, बल्कि इसलिए भी कि वे वास्तविकता, समय, अस्तित्व और संबंधों की अवधारणा कैसे निर्मित करती हैं। वस्तुतः, आदिवासी साहित्य के अध्ययन में एक 'दार्शनिक मोड़' (philosophical turn) की आवश्यकता है। इन रचनाओं में एक ऐसा सहज और अंतर्निहित दर्शन निहित है, जो अमूर्त सैद्धांतिक सूत्रों के रूप में नहीं, बल्कि जीवन के बुने हुए ताने-बाने में—कथाओं, गीतों, मिथकों, लोककथाओं और आधुनिक लेखन की संरचना में प्रकट होता है। यह दर्शन पश्चिमी द्वंद्वात्मकताओं, जैसे मनुष्य बनाम प्रकृति या भौतिक बनाम आध्यात्मिक, से भिन्न एक सातत्य और अंतःसंबंध पर आधारित है। इसमें व्यक्ति का अस्तित्व समुदाय और प्रकृति से पृथक नहीं, बल्कि उनका अविभाज्य अंग है। भूमि यहाँ केवल संसाधन नहीं, बल्कि स्मृति, इतिहास और पहचान का सजीव पटल है। इसी कारण जब कोई आदिवासी कथाकार नदी के सूखने का वर्णन करता है, तो वह मात्र एक पर्यावरणीय संकट का चित्रण नहीं करता। वह एक संपूर्ण जीवन-दृष्टि के क्षरण, स्मृतियों के विस्थापन और एक ज्ञान-तंत्र के टूटने की कथा कहता है। जब कोई कवि पूर्वजों के स्वरों को वर्तमान में बुलाता है, तो वह केवल सांस्कृतिक विरासत

का स्मरण नहीं करता, बल्कि अतीत और वर्तमान के बीच एक जीवंत दार्शनिक संवाद स्थापित करता है। यहाँ समय रैखिक न होकर चक्रीय है, जहाँ इतिहास, मिथक और वर्तमान निरंतर संवाद की अवस्था में रहते हैं। हिंदी साहित्यिक परिदृश्य में आदिवासी रचनाओं को यदि इस दृष्टि से पढ़ा जाए, तो वे केवल सामाजिक यथार्थ या प्रतिरोध की अभिव्यक्ति नहीं रह जातीं। वे एक जीवंत चिंतन-प्रक्रिया के रूप में सामने आती हैं, जो वास्तविकता को देखने, समय को समझने और अस्तित्व के अर्थ को खोजने की एक वैकल्पिक, स्वदेशी पद्धति प्रदान करती है। प्रस्तुत अध्ययन इसी दार्शनिक संरचना को उद्घाटित करने का प्रयास करता है, ताकि आदिवासी मौखिक और लिखित अभिव्यक्तियों को एक गहन बौद्धिक विरासत के रूप में समझा जा सके। इस प्रकार, यह न केवल साहित्यिक आलोचना में विद्यमान एक महत्वपूर्ण रिक्ति को भरने का प्रयास है, बल्कि ज्ञान के इतिहास में भी एक आवश्यक और अर्थपूर्ण हस्तक्षेप सिद्ध होता है।

अनुसंधान पद्धति-

प्रस्तुत अध्ययन गुणात्मक (qualitative) और व्याख्यात्मक (interpretive) अनुसंधान पद्धति पर आधारित है। इस अध्ययन में पाठ-केन्द्रित, संदर्भ-संवेदनशील और स्वदेशी दृष्टि से प्रेरित पद्धति को अपनाया गया है, जो साहित्यिक अर्थ-निर्माण की जटिल प्रक्रियाओं को उजागर करने में सक्षम है। यह अध्ययन मूलतः अंतर्विषयी (interdisciplinary) प्रकृति का है। इसमें साहित्यालोचना के साथ-साथ मानवशास्त्र, सांस्कृतिक अध्ययन, दार्शनिक और उत्तर-औपनिवेशिक विमर्श के अंतर्दृष्टियों का सहारा लिया गया है। किंतु यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि इन सैद्धांतिक उपकरणों का उपयोग आदिवासी साहित्य पर बाहरी ढाँचे आरोपित करने के लिए नहीं, बल्कि आदिवासी रचनाओं के भीतर निहित अर्थ-संरचनाओं को अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिए किया गया है। इस दृष्टि से यह अध्ययन "आदिवासी साहित्य के बारे में" नहीं, बल्कि "आदिवासी साहित्य के साथ" संवाद स्थापित करने का प्रयास करता है। अध्ययन के लिए पाठों का चयन उद्देश्यपूर्ण नमूना (purposive sampling) पद्धति के आधार पर किया गया है। इसमें हिंदी में लिखित आदिवासी रचनाएँ, हिंदी में उपलब्ध अनूदित आदिवासी कविताएँ एवं कथाएँ, तथा प्रलेखित मौखिक परंपराओं को शामिल किया गया है। पाठ-चयन के प्रमुख मानदंड निम्नलिखित रहे हैं—

1. रचना में आदिवासी जीवन-दृष्टि और दर्शन की स्पष्ट अभिव्यक्ति,
2. प्रकृति, समुदाय, स्मृति और समय के विशिष्ट बोध की उपस्थिति, तथा
3. हिंदी साहित्यिक परंपरा से प्रत्यक्ष या परोक्ष संवाद।

मौखिक परंपराओं को शामिल करने का उद्देश्य यह रेखांकित करना है कि आदिवासी दर्शन केवल लिखित ग्रंथों तक सीमित नहीं है, बल्कि वह गीतों, कथाओं, अनुष्ठानों और सामूहिक स्मृति में भी समान रूप से विद्यमान है। इस प्रकार, यह अध्ययन पाठ (text) की पारंपरिक अवधारणा का विस्तार करता है।

प्रस्तुत अध्ययन में मुख्यतः गहन पाठ-विश्लेषण (close reading) की विधि अपनाई गई है। इसके अंतर्गत चयनित रचनाओं की भाषा, प्रतीक, कथानक, संरचना और कथ्य का सूक्ष्म अध्ययन किया गया है, ताकि यह समझा जा सके कि दार्शनिक अर्थ किस प्रकार साहित्यिक रूप में अभिव्यक्त होते हैं। विशेष ध्यान इस बात पर दिया गया है कि आदिवासी रचनाएँ प्रकृति, इतिहास, व्यक्ति और समुदाय के संबंधों को कैसे परिभाषित करती हैं। विश्लेषण के दौरान अर्थ को स्थिर या एकरेखीय मानने के बजाय उसे बहुवचन और संदर्भ-निर्भर माना गया है। इस दृष्टि से पाठ को केवल लेखक की मंशा का परिणाम नहीं, बल्कि सांस्कृतिक स्मृति, सामूहिक अनुभव और ऐतिहासिक स्थितियों की अंतःक्रिया के रूप में पढ़ा गया है।

दार्शनिक एवं उत्तर-औपनिवेशिक विमर्शात्मक परिप्रेक्ष्य - इस अध्ययन का सैद्धांतिक आधार स्वदेशी (Indigenous) दर्शन/ज्ञानमीमांसा है। यह ढाँचा इस मान्यता पर आधारित है कि ज्ञान केवल आधुनिक अकादमिक संस्थानों या लिखित परंपराओं में ही नहीं, बल्कि समुदायों के जीवन-व्यवहार, मौखिक परंपराओं और प्रकृति के साथ उनके संबंधों में भी निहित होता है। गणेश देवी और अन्य स्वदेशी चिंतकों के कार्यों से प्रेरित होकर यह अध्ययन ज्ञान को एक जीवित, गतिशील और नैतिक प्रक्रिया के रूप में देखता है, न कि मात्र सूचना या सिद्धांत के रूप में। स्वदेशी ज्ञानमीमांसा के अंतर्गत व्यक्ति और समुदाय, मानव और प्रकृति, अतीत और वर्तमान के बीच कठोर विभाजन को स्वीकार नहीं किया जाता। यही दृष्टि आदिवासी साहित्य में परिलक्षित होती है, जहाँ कथा केवल कथन नहीं, बल्कि स्मृति और अस्तित्व की निरंतरता का माध्यम होती है। इस सैद्धांतिक ढाँचे के माध्यम से अध्ययन यह दिखाने का प्रयास करता है कि आदिवासी दर्शन आधुनिक साहित्यिक सिद्धांतों का 'विकल्प' नहीं, बल्कि उनके समानांतर और उनसे संवादरत एक वैध बौद्धिक परंपरा है। यद्यपि यह अध्ययन उत्तर-औपनिवेशिक साहित्य-सिद्धांत से प्रेरणा ग्रहण करता है, फिर भी वह केवल औपनिवेशिक सत्ता-संबंधों की आलोचना तक सीमित नहीं रहता। इसका उद्देश्य यह समझना है कि किस प्रकार औपनिवेशिक और आधुनिक ज्ञान-प्रणालियों ने आदिवासी ज्ञान को हाशिए पर धकेला और कैसे साहित्यिक आलोचना में भी यह प्रवृत्ति अनजाने में दोहराई गई। इस परिप्रेक्ष्य से अध्ययन साहित्यिक विमर्शों में निहित सत्ता-संबंधों को उजागर करता है, साथ ही वैकल्पिक ज्ञान-दृष्टियों की संभावनाओं को रेखांकित करता है।

दार्शनिक आयाम	साहित्यिक अभिव्यक्ति
पारिस्थितिकता	नैतिकता और चेतना के रूप में प्रकृति
सामूहिकता	समुदाय-केंद्रित आख्यान
परिवर्तनशीलता	अनुष्ठान का समय और मौसम का आधार
प्रतिरोधकता	स्मृति, अस्तित्व, विरोध

अनुसंधान नैतिकता-

इस अध्ययन में अनुसंधान नैतिकता का विशेष ध्यान रखा गया है। आदिवासी साहित्य और मौखिक परंपराओं को 'अध्ययन की वस्तु' के रूप में नहीं, बल्कि जीवित सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों के रूप में देखा गया है। विश्लेषण में सामान्यीकरण या रूढ़ीकरण से बचने का प्रयास किया गया है तथा समुदाय की आंतरिक विविधताओं को स्वीकार किया गया है। यह पद्धति ज्ञान के उपनिवेशीकरण से बचते हुए संवाद और सम्मान पर आधारित है।

विश्लेषण-

आदिवासी दर्शन को एक वैध साहित्यिक-दार्शनिक परंपरा के रूप में स्वीकार करने का मतलब सिर्फ़ यह नहीं है कि हम साहित्यिक आलोचना में एक नए विषय को शामिल कर रहे हैं। इसका अर्थ है कि हमें हिंदी साहित्यिक आलोचना के पूरे विचारों को फिर से देखने की ज़रूरत है। यह अध्ययन एक मूलभूत विचार से शुरू होता है और आगे बढ़ता है। आदिवासी साहित्य को सिर्फ प्रतिनिधित्व, सामाजिक पीड़ा या सांस्कृतिक भिन्नता के स्तर तक सीमित करना उसकी बौद्धिक संभावनाओं को कम करता है। लेकिन जब आदिवासी रचनाओं को उनके अंतर्निहित दार्शनिक तर्क, ज्ञान-संरचना और नैतिक दृष्टि के साथ पढ़ा जाता है, तो वे भारतीय साहित्यिक परंपरा में एक स्वतंत्र और सुसंगत बौद्धिक धारा के रूप में सामने आती हैं (Guha, 2015; Beteille, 2012)।

इस संदर्भ में, सबसे बड़ी चुनौती साहित्य की आम परिभाषा से जुड़ी हुई है। हिंदी साहित्यिक आलोचना का एक बड़ा हिस्सा अब तक केवल लिखित, मुद्रित और व्यक्तिगत रचनात्मकता को ही साहित्य का मानक मानता आया है। लेकिन आदिवासी परंपराएँ इस दृष्टिकोण को सवालों के घेरे में खड़ा करती हैं, क्योंकि यहाँ साहित्य का मुख्य रूप मौखिक होता है - जैसे कि गीत, कथाएँ, आख्यान, मंत्र, लोकगाथाएँ और अनुष्ठानिक कथन। ये अभिव्यक्तियाँ न केवल कलात्मक होती हैं, बल्कि वे आदिवासी समुदायों की संस्कृति, इतिहास और जीवनशैली को भी दर्शाती हैं। मनोरंजन से ज्यादा, ये चीजें समुदाय की पुरानी यादों, सामाजिक नैतिकता और बड़े पैमाने पर दुनिया को देखने का तरीका दिखाती हैं। इनका अर्थ सिर्फ लिखे शब्दों में नहीं है, बल्कि लोगों के मिलकर करने और उनके साथ जुड़ने से बनता है। इसलिए, अब आलोचना को सिर्फ शब्दों का विश्लेषण नहीं करना चाहिए, बल्कि इसमें लोगों के अनुभव, सामूहिक यादें और प्रदर्शन को भी शामिल करना चाहिए।

दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न जो सामने आता है वह भाषा से जुड़ा हुआ है। हिंदी आलोचना में जो मानक भाषा की दृष्टि अपनाई जाती है, वह आमतौर पर खड़ी बोली हिंदी को ही साहित्यिक रचनाओं की प्रामाणिकता का मापदंड मानती है। लेकिन यह दृष्टि आदिवासी साहित्य की विविध भाषाओं को महत्व नहीं देती और उन्हें पृष्ठभूमि में धकेल देती है।

आदिवासी लेखकों की रचनाएं स्थानीय बोलियों, प्रकृति से जुड़े रूपकों, लयबद्ध संरचनाओं, और सांस्कृतिक संकेतों से बनती हैं। यह भाषा सिर्फ बातचीत का एक तरीका नहीं है, बल्कि यह मनुष्य और प्रकृति के बीच के गहरे संबंधों को दर्शाती है (हंसदा, 2020)। अगर इसे 'अशुद्ध' या 'अपर्याप्त' माना जाए, तो यह वास्तव में एक पूरे ज्ञान के अस्तित्तव को नकार देना होगा।

इस अध्ययन के माध्यम से यह बात स्पष्ट होती है कि आलोचना को आदिवासी साहित्य की इस विशिष्ट भाषिक विविधता को समझने और सम्मान देने की आवश्यकता है। अब हमें 'मानकता' की बजाय 'सार्थकता' और 'अनुभवजन्य गहराई' को मूल्यांकन की कसौटी बनानी होगी।

तीसरा और सबसे गहन हस्तक्षेप दर्शन और नैतिकता के क्षेत्र में दिखाई देता है। मुख्यधारा की साहित्यिक आलोचना, चाहे वह पश्चिमी दार्शनिक परंपराओं से प्रेरित हो या आधुनिक भारतीय चिंतन से, प्रायः मानव-केंद्रित दृष्टि को आधार बनाती है। इसके विपरीत, आदिवासी दर्शन मनुष्य को ब्रह्मांड का स्वामी नहीं, बल्कि प्रकृति के साथ सह-अस्तित्व में रहने वाला एक घटक मानता है। यहाँ जंगल, नदी, पर्वत और जीव केवल पृष्ठभूमि नहीं, बल्कि नैतिक और दार्शनिक अर्थों से युक्त सक्रिय उपस्थिति हैं। इस दृष्टि से, जब किसी कथा में नदी के सूखने या जंगल के कटने का वर्णन आता है, तो वह केवल पर्यावरणीय संकट का चित्रण नहीं, बल्कि एक समूचे जीवन-दर्शन के विघटन का संकेत होता है। इसलिए साहित्यिक आलोचना के लिए 'पारिस्थितिक नैतिकता' अब एक वैकल्पिक विषय नहीं, बल्कि किसी भी रचना को समझने का केंद्रीय दृष्टिकोण बन जाती है।

समय और इतिहास की अवधारणा पर यह अध्ययन महत्वपूर्ण अंतर्दृष्टि प्रस्तुत करता है। आदिवासी साहित्य में समय रैखिक प्रगति का क्रम नहीं है, बल्कि यह चक्रीय, संवादात्मक और स्मृति-आधारित होता है। पूर्वज, मिथक और वर्तमान एक-दूसरे से जुड़े रहते हैं और निरंतर संवाद में रहते हैं। यह समय-बोध औपनिवेशिक इतिहास-लेखन और आधुनिक राष्ट्रवादी साहित्यिक इतिहास दोनों से अलग है, जैसा कि पाण्डेय 2014 ने बताया है। इस दृष्टि से आदिवासी साहित्य हिंदी साहित्य के इतिहास-बोध को पुनर्संरचित करने की क्षमता रखता है।

अंततः, इस पूरे विमर्श का मुख्य निष्कर्ष यह है कि हमें ज्ञान के विभिन्न स्रोतों को स्वीकार करना होगा। अब हिंदी साहित्य का इतिहास केवल बड़े शहरों के संस्थानों, प्रसिद्ध प्रकाशनों और अकादमिक मान्यताओं पर आधारित नहीं किया जा सकता है। हमें गाँवों, पहाड़ों और जंगलों की ओर भी देखना होगा, जहाँ साहित्य आज भी एक जीवंत सामाजिक और

दार्शनिक प्रक्रिया के रूप में सक्रिय है। यह समावेशन किसी प्रकार का उपकार नहीं है, बल्कि यह ज्ञान के क्षेत्र में न्याय की पुनर्स्थापना है।

निष्कर्षतः, आदिवासी दर्शन को हिंदी साहित्यिक आलोचना में गंभीरता से शामिल करना एक वैचारिक क्रांति का संकेत है। यह आलोचना को अधिक समावेशी, पारिस्थितिक रूप से संवेदनशील और ज्ञानात्मक रूप से बहुलतावादी बनाता है। यह केवल साहित्य के दायरे का विस्तार नहीं, बल्कि हमारी साहित्यिक चेतना का विस्तार है—एक ऐसी चेतना जो मानव अनुभव के साथ-साथ समूची सृष्टि को अर्थपूर्ण पाठ के रूप में पढ़ने का साहस रखती है।

निष्कर्ष-

यह अध्ययन इस बिंदु को स्पष्ट करता है कि आदिवासी साहित्य को केवल पीड़ा, विरोध या सामाजिक दस्तावेज़ के रूप में पढ़ना उसके बौद्धिक स्वरूप को सीमित कर देता है। आदिवासी रचनाएँ अपने भीतर एक सुस्पष्ट जीवन-दृष्टि समेटे हुए हैं, एक ऐसी दृष्टि जिसमें मनुष्य, प्रकृति और समुदाय अलग-अलग इकाइयाँ नहीं, बल्कि एक ही अस्तित्व के परस्पर जुड़े हुए रूप हैं। इस दर्शन में जीवन का अर्थ व्यक्तिगत उपलब्धियों में नहीं, बल्कि सामूहिक स्मृति, भूमि के साथ संबंध और नैतिक उत्तरदायित्व में निहित है।

अध्ययन यह भी दर्शाता है कि हिंदी साहित्यिक आलोचना की पारंपरिक पद्धतियाँ जो लिखित पाठ, व्यक्तिगत लेखक और मानकीकृत भाषा पर आधारित हैं। आदिवासी साहित्य की प्रकृति को पूरी तरह समझने में सक्षम नहीं हैं। आदिवासी परंपराओं में मौखिकता, सामूहिक रचना-प्रक्रिया और संदर्भ-निर्भर अर्थ-निर्माण केंद्रीय भूमिका निभाते हैं। इन्हें स्वीकार किए बिना आलोचना अधूरी रह जाती है। इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि आलोचना अपने औज़ारों और मानदंडों का विस्तार करे।

इस शोध का एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष यह भी है कि आदिवासी दर्शन मानव-केंद्रित सोच को चुनौती देता है। यहाँ नैतिकता केवल मनुष्य तक सीमित नहीं, बल्कि पूरी सृष्टि के प्रति उत्तरदायित्व का भाव है। साहित्य में प्रकृति कोई पृष्ठभूमि नहीं, बल्कि एक सक्रिय सहभागी है। यह दृष्टि आज के पर्यावरणीय संकटों के संदर्भ में भी विशेष रूप से प्रासंगिक हो जाती है और साहित्य को नैतिक हस्तक्षेप के रूप में पुनः स्थापित करती है।

अंततः, यह अध्ययन इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि आदिवासी दर्शन को हिंदी साहित्यिक आलोचना के केंद्र में लाना केवल एक अकादमिक सुधार नहीं, बल्कि एक वैचारिक आवश्यकता है। इससे न केवल एक उपेक्षित ज्ञान-परंपरा को उसका उचित स्थान मिलेगा, बल्कि हिंदी आलोचना स्वयं अधिक मानवीय, अधिक व्यापक और अधिक जीवन-सापेक्ष बनेगी। यह साहित्य को केवल ग्रंथों का संसार नहीं, बल्कि जीवन की समूची जटिलता को समझने का माध्यम मानने की दिशा में एक सार्थक कदम है।

संदर्भ :-

गुप्ता, आर. (2018). *आदिवासी साहित्य: परंपरा और दृष्टि*. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन.

मिश्र, दिनेश (संपा.). (2015). *लोक और शास्त्र: अन्वय और समन्वय*. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन.

नेगी, स्नेह लता. (2021). *आदिवासी समाज और साहित्य*. नई दिल्ली: अनुज्ञा बुक्स.

पांडेय, रवीन्द्र. (2014). *हिंदी आलोचना और आदिवासी साहित्य*. नई दिल्ली: साहित्य अकादमी.

राय, कुबेरनाथ. (1972). *गंधमादन*. नई दिल्ली: भारतीय ज्ञानपीठ.

राय, कुबेरनाथ. (2006). *प्रिया नीलकंठी*. नई दिल्ली: भारतीय ज्ञानपीठ.

तिरकी, पी. (2023). *फिर उगना*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन.

टोप्पो, एम. (2015). *आदिवासी दर्शन और साहित्य*. रांची: झारखंड साहित्य अकादमी.

Béteille, André. (2012). *Democracy and its institutions*. New Delhi, India: Oxford University Press.

Devy, G. N. (2019). *The being of bhasha: A general study of Indian languages*. Hyderabad, India: Orient Blackswan.

Elwin, Verrier. (1955). *The religion of an Indian tribe*. London, UK: Oxford University Press.

Guha, Ramachandra. (1990). *The unquiet woods: Ecological change and peasant resistance in the Himalaya*. New Delhi, India: Oxford University Press.

Guha, Ramachandra. (2000). *Environmentalism: A global history*. London, UK: Longman.

Hansda, Sowvendra Shekhar. (2020). Adivasi literature and the politics of representation. *Indian Literature*, 64(4), 45–58.

Nazneen Khan, N. (2025). Indian tribal literature: An overview. *The Creative Launcher*, 10(4). https://doi.org/10.53032/tcl.2025.10.4.07

Sharma, Ram Sharan. (2005). *Indian feudalism*. New Delhi, India: Macmillan.

Singh, K. S. (1992). *Tribal society in India: An anthropo-historical perspective*. New Delhi, India: Manohar.

Xaxa, Virginius. (2008). *State, society and tribes: Issues in post-colonial India*. New Delhi, India: Pearson Education.

हिन्दी संत साहित्य पर विविध सम्प्रदायों का प्रभाव

डॉ. दयानंद शास्त्री*
dayanandshastry@gmail.com

सारांश :

प्रस्तुत शोध-पत्र हिन्दी भक्ति काल के अंतर्गत विकसित संत साहित्य पर विविध धार्मिक-दार्शनिक सम्प्रदायों के प्रभाव का सम्यक् अध्ययन प्रस्तुत करता है। भक्ति आंदोलन की निर्गुण धारा में विकसित संत काव्य केवल किसी एक सम्प्रदाय की उपज न होकर सिद्ध-जैन, नाथ, वैष्णव, महाराष्ट्रीय संत तथा इस्लामिक विचारधाराओं के पारस्परिक संवाद का परिणाम है। शोध में यह स्पष्ट किया गया है कि संत कवियों ने इन सम्प्रदायों से प्राप्त तत्त्वों को यांत्रिक रूप से ग्रहण न कर, अपनी सहज अनुभूति, लोकानुभव और सामाजिक चेतना के अनुरूप आत्मसात किया। सिद्ध-नाथ परम्परा से प्राप्त योगात्मक प्रतीक, वैष्णव भक्ति से प्रेम और अहिंसा, महाराष्ट्रीय संतों से समन्वयवादी दृष्टि तथा इस्लाम से प्राप्त खंडनात्मक चेतना—इन सबका संत साहित्य में मौलिक संश्लेषण दिखाई देता है। निष्कर्षतः यह अध्ययन प्रतिपादित करता है कि संत काव्य भारतीय भक्ति परम्परा की एक स्वतंत्र, लोकाश्रयी और मौलिक धारा है, जो समन्वय, मानवतावाद और सामाजिक चेतना को केंद्र में रखती है।

मुख्य शब्द :

संत साहित्य, निर्गुण भक्ति, भक्ति आंदोलन, सिद्ध-नाथ परम्परा, वैष्णव भक्ति, महाराष्ट्रीय संत, इस्लामिक प्रभाव, समन्वयवाद, लोकचेतना

भूमिका:-

हिन्दी साहित्य के भक्ति काल (1375-1700 ई.) में भक्ति की दो धाराएँ सगुण तथा निर्गुण प्रवाहित हुई। सगुण धारा के अंतर्गत राम-कृष्ण भक्ति की शाखाएँ आती है, निर्गुण के अंतर्गत संत कथा सूफियों का काव्य आता है। आचार्य शुक्ल ने नामदेव एवं कबीर द्वारा प्रवृत्तित भक्तिधारा 'निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा' की संज्ञा से अभिहित किया है। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसे 'निर्गुण भक्ति साहित्य' तथा डॉ. रामकुमार वर्मा ने इसे संत काव्य परम्परा का नाम दिया है। ज्ञानाश्रयी शब्द से यह भ्रांति उत्पन्न होती है कि इस धारा के कवियों ने ज्ञानतत्व को सर्वाधिक महत्व दिया होगा, जबकि वास्तव में इन्होंने प्रेम के सम्मुख समस्त ज्ञान राशि को तुच्छ माना है। भक्ति का आलंबन सगुण आश्रय ही उपयुक्त है, अत: निर्गुण भक्ति साहित्य का नाम असमीचीन प्रतीत होता है। इस धारा के कवियों का विशेष दृष्टिकोण संत शब्द से भली-भाँति व्यक्त होता है। अतः इस धारा को संत काव्य की संज्ञा देना अपेक्षाकृत संगत प्रतीत होता है।

शोध-प्रविधि

प्रस्तुत शोध-पत्र में ऐतिहासिक-विश्लेषणात्मक एवं तुलनात्मक शोध-प्रविधि का प्रयोग किया गया है। अध्ययन के लिए भक्ति कालीन संत काव्य के प्रमुख ग्रंथों, संत कवियों की वाणियों तथा हिन्दी साहित्य के प्रामाणिक इतिहास-ग्रंथों को आधार बनाया गया है। विभिन्न सम्प्रदायों के दार्शनिक एवं साधनात्मक तत्त्वों का संत साहित्य में प्रतिबिंब खोजने हेतु तुलनात्मक दृष्टि अपनाई गई है। साथ ही, आलोचनात्मक विवेचन के माध्यम से यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि संत कवियों ने बाह्य प्रभावों को आत्मसात करते हुए भी अपनी मौलिक वैचारिक स्वतंत्रता बनाए रखी। शोध पूर्णतः पुस्तकालय आधारित (Library-based Research) है तथा निष्कर्ष तार्किक और पाठ्य साक्ष्यों पर आधारित हैं।

*सह-प्राध्यापक, एन.व्ही. पदवी महाविद्यालय, गुलबर्गा (कर्नाटक)

साहित्य समीक्षा

हिन्दी संत साहित्य के अध्ययन में इतिहास, दर्शन और सामाजिक चेतना—तीनों स्तरों पर पर्याप्त आलोचनात्मक कार्य हुआ है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की *हिन्दी साहित्य का इतिहास* संत काव्य के विवेचन का आधार ग्रंथ मानी जाती है। शुक्ल संत काव्य को भक्ति आन्दोलन की निर्गुण धारा से संबद्ध करते हुए सिद्ध, नाथ और वैष्णव परम्पराओं के प्रभाव को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में रेखांकित करते हैं (शुक्ल, 2016)। उनके अनुसार संत साहित्य लोकजीवन से गहरे जुड़ा हुआ है और इसका विकास सामाजिक रूढ़ियों के प्रतिरोध के रूप में हुआ।

डॉ. नगेन्द्र ने संत साहित्य को समन्वयात्मक दृष्टि से देखा है। वे सिद्ध, नाथ, वैष्णव और सूफी परम्पराओं के प्रभाव को स्वीकार करते हुए भी संत कवियों की वैचारिक मौलिकता को प्रमुख मानते हैं (नागेंद्र, 2014)। उनके अध्ययन से स्पष्ट होता है कि संत साहित्य किसी एक सम्प्रदाय की अनुकृति न होकर विविध धाराओं का सर्जनात्मक संश्लेष है।

डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त ने *हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास* में संत काव्य का वस्तुनिष्ठ एवं तर्कसंगत विश्लेषण प्रस्तुत किया है। वे यह प्रतिपादित करते हैं कि इस्लाम अथवा विदेशी प्रभावों की अपेक्षा संत साहित्य की जड़ें भारतीय साधना-परम्परा में अधिक गहराई से स्थित हैं (गुप्त, 2012)। यह दृष्टिकोण प्रस्तुत शोध के निष्कर्षों को सैद्धांतिक समर्थन प्रदान करता है।

हजारीप्रसाद द्विवेदी की *कबीर* संत साहित्य के अध्ययन में अत्यंत महत्त्वपूर्ण कृति है। द्विवेदी कबीर के माध्यम से यह सिद्ध करते हैं कि संत काव्य में सिद्ध-नाथ, वैष्णव और इस्लामी विचारों का प्रभाव होते हुए भी उसकी आत्मा भारतीय भक्ति परम्परा से अनुप्राणित है (द्विवेदी, 2011)। उनका विवेचन संत साहित्य की मौलिकता और मानवतावादी दृष्टि को स्पष्ट करता है।

बाबू गुलाबराय की *हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास* संत साहित्य को जनसाधारण की आध्यात्मिक चेतना की अभिव्यक्ति मानती है। वे संत काव्य को सामाजिक समरसता और सहज भक्ति का साहित्य बताते हैं तथा विविध सम्प्रदायों के प्रभावों के बावजूद उसकी स्वतंत्र पहचान को स्वीकार करते हैं (राय, 2015)।

इस प्रकार उपलब्ध साहित्य से यह स्पष्ट होता है कि हिन्दी संत साहित्य का विकास विभिन्न सम्प्रदायों के प्रभाव से अवश्य हुआ, किंतु उसने उन प्रभावों को आत्मसात कर एक स्वतंत्र, मौलिक और जनोन्मुख काव्य परम्परा का निर्माण किया। यही दृष्टि प्रस्तुत शोध का केन्द्रीय आधार है।

सन्त सम्प्रदाय

सन्त सम्प्रदाय की विकास परम्परा में निम्नांकित संप्रदायों ने योगदान दिया-

1. सिद्ध और जैन,
2. नाथ सम्प्रदाय का प्रभाव,
3. वैष्णव भक्ति आन्दोलन का प्रभाव,
4. महाराष्ट्रीय संत सम्प्रदाय का प्रभाव,
5. इस्लाम सम्प्रदाय का प्रभाव आदि।

1. सिद्ध और जैनों का साहित्य: -

सिद्ध साहित्य की अनेक प्रवृत्तियाँ संत साहित्य में विकसित हुई, जैसे जाति-भेद, रूढ़ियों, अंधविश्वासों तथा बाह्याडंबरों का खण्डन, निजी अनुभूतियों की अभिव्यंजना, मुक्तक पद- शैली, रूपक, उलटभाषीयों एवं प्रतीकों का प्रयोग। सिद्धों के समान संतों ने भी लोग-भाषा को अपनाया। सिद्धों के साहित्य में जो स्थूल श्रृंगारिकता हैं, वह संत साहित्य में नहीं है। कारण, संत

साहित्य में नैतिक पक्ष पर अधिक बल दिया गया, दूसरा संतों की साधना -पद्धति व्यक्तिपरक होते हुए भी समाज की उपेक्षा करके नहीं चली। संत काव्य पर जैन मुक्त काव्य का प्रभाव भी देखा जा सकता है। जैसे कि सरहपा के पद-

'नाद न बिन्दू न रवि, न शशि मंडल,

चिअराअ सहाबे मूकल।'

2. नाथ सम्प्रदाय का प्रभाव:-

नाथ सम्प्रदाय का संत काव्य पर स्पष्ट रूप से प्रभाव पड़ा। संत मत का सीधा विकास नाथ सम्प्रदाय से हुआ। नाथ पंत के अनुयायी शिव की उपासना करते थे। इनके यहाँ जंत्र-मंत्र और योग की क्रियाओ का अधिक महत्व है। तत्कालीन समाज पर इनकी चमत्कारपूर्ण सिध्दीयों का खूब प्रभाव पड़ा। सुफ़ियों के प्रेमाख्यानक काव्योंपर इन योगीओं का प्रभाव स्पष्ट है। इनके देशव्यापी प्रभाव को लक्षित करके कदाचित महाकवि तुलसी को कहना पड़ा था-

"गोरख जगायो जोग, भक्ति भगायो भोग।"

अस्तु ! इन योगीयों का प्रभाव संत काव्यपर पड़ा है। कबीर आदि संत कवियों ने इंगला, पिंगला, षट्चक्र, सहस्त्रदल, कमल आदि योग के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है, किन्तु हमारा अनुमान है कि संतों की योग की श्रम साध्य क्रियोंपर कोई आस्था नही है, क्योंकि, उन्हें जन-सामान्य के लिए भक्ति का एक सरल मार्ग प्रस्तुत करना था। जिसमें योग की प्रक्रियों की जटिलता अवांछनिय थी। संतों को अजपा-जाप या सहज समाधि पर विश्वास हैं और वें इसका पुन: पुन: उल्लेख करते है। कहीं-कहीं पर तो योग की जटिल प्रक्रियों पर इन संतों ने मिठे तीखे व्यंग्य भी कसे हैं। संत साधना पध्दति के दो पक्ष हैं-

1. भक्ति के अंतर्गत रस्यवाद तथा 2. योग के अंतर्गत सहज समाधि।

3. वैष्णव भक्ति आन्दोलन का प्रभाव:-

रामानुज तथा मध्वाचार्य भक्ति का सैंधातिक प्रतिपादन कर चुके थे। रामानंद उसका उत्तरी भारत में खूब प्रचार कर रहे थे। कबीर रामानंद के शिष्य परम्परा में थे। अत: संत काव्य पर वैष्णवी भक्ति का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। हालाँकि दोनों में पर्याप्त तात्विक भेद है। संतों ने वैष्णवी भक्ति के प्रपतिवाद को पूर्ण रूप से अपनाया है। सगुण भक्ति द्वारा गृहीत ईश्वर के नामों को- राम, गोविंद, हरि आदि को इन संतों ने बड़ी श्रद्धा से लिया है। ध्यान रहे अल्ला-खुदा आदि शब्दों का ग्रहण वे हिन्दू-मुसलमान एकता प्रतिपादन के समय ही करते हैं। संत काव्य में वर्णित प्रेम बहुत-कुछ वैष्णवों के प्रेम से साम्य रखता है।

कुछ विद्वानों इसे सुफी प्रभाव माना है, जो कि उपर्यक्त नहीं है। इस दिशा में यदि कहीं सुफ़ीयों का प्रभाव पड़ा है तो वह प्रेम की मादकता में ही सुफ़ीयों का तत्व समानता पर आधारित है। जब कि संत दबीर परमात्मा की अपेक्षा अपने आप को हीन समझता है। सुफ़ीयों ने परमात्मा की कल्पना प्रेयसी के रूप में की है। जब की संतों ने परमात्मा की कल्पना पति रूप में की है। संतों की यह भावना भारतीय परम्परा के अत्यन्त अनुकूल है। अहिंसा आदि की प्रवृत्तियाँ भी संत काव्य में वैष्णवी भक्ति से आयी है। संतों ने अन्य धर्म-सम्प्रदायों की आलोचना की है, किन्तु वैष्णवों की प्रति श्रद्धा का प्रदर्शन किया है।

4. महाराष्ट्रीय संत सम्प्रदाय का प्रभाव:-

संत सम्प्रदाय का बहुत कुछ उत्तरी भारत में उसके प्रचार से पूर्व महाराष्ट्र में तैयार हो चुका था। महाराष्ट्र में बारहवीं तेरहवीं शताब्दी में महानुभावम्प्रदाय तथा वारकरी सम्प्रदाय की स्थापना हो चुकी थी, जिसकी विचारधारा, साधना-पध्दति और अभिव्यंजना शैली का संत काव्य से ग़हरा साम्य है। महानुभाव सम्प्रदाय की स्थापना श्रीचक्रधर स्वामी ने (1194-1274) में की थी। उन्होंने एक ओर तो कृष्ण-भक्ति का उपदेश देते हुये जीव, देवता और परमेश्वर आदि को अनादि बताया, दूसरी ओर अद्वैतवाद के सिद्धांतों को भी स्वीकार किया। उन्होंने मोक्ष प्राप्ति के लिए ज्ञान की अपेक्षा प्रेम को अधिक महत्व दिया। इसी सम्प्रदाय के साथ ज्ञानेश्वर ने वारकरी सम्प्रदाय की स्थापना की। ज्ञानेश्वर ने अद्वैतमत, सगुणमत और भक्तिभावना का समन्वय किया। इसी परम्परा में नामदेव हुये। नामदेव का बाद में सगुणवाद से विश्वास उठ गया, जब उन्होंने दक्षिण देश में अल्लाऊद्दीन

खिल्जी द्वारा मूर्तियों को भग्न होते हुये देखा। इन महाराष्ट्रीय संतों में से कईयों ने हिन्दी भाषा में भी काव्य रचना की भगवान के प्रति दृढानुराग, मिलनाकांक्षा, प्रणयनिवेदन, अद्वैत दर्शन का प्रतिपादन आदि बातें महाराष्ट्रीय और हिन्दी संत कवियों में समानरूप से मिलता है। इन महाराष्ट्रीय संतो में नामदेव का नाम कबीर तथा रैदास आदि ने बड़े आदर से लिया है। हमारे विचारानुसार हिन्दी साहित्य में इस परम्परा के प्रवर्तन का श्रेय नामदेव को ही है। यह दूसरी बात है कि नामदेव की वाणी में मृदुता रही है और कबीर में परिस्थितिजन्य अधिक कर्कशता।

5. इस्लाम सम्प्रदाय का प्रभाव:-

कुछ विद्वानों ने संत काव्य की अनेक प्रवृत्तियों-निर्गुणोंपासना, वर्ण व्यवस्था और मूर्ति-पूजा विरोध आदि को मुस्लिम प्रभाव बताया है। किन्तु इन सब बातों का विकास भारतीय धर्म- साधना में इस्लाम के प्रचार से पूर्व हो चुका था, जिनका विवेचना हम अनेक सम्प्रदायों के प्रभाव के अंतर्गत कर चुके हैं। हाँ, गणपति चंद्रगुप्त के शब्दों में- "संत मत के खंडनात्मक पक्ष में इस्लाम का अस्तित्व है, उसका मंडनात्मक पक्ष तो हिन्दू धर्म और हिन्दू-दर्शन के ही तत्वों से परिपूर्ण है। ईश्वर का गुणगान करते समय वें राम-गोविंद-हरि का नाम लेते हैं, अल्ला या खुदा का नहीं। संसार की असारता घोषित करते हुये वें अद्वैतवाद और माया की बातें करते हैं, मृत्यु के पश्यात मिलनेवाली बहिश्त और आखिरी कलम की नहीं। विधी निषेधों की चर्चा करते हुये वें हिन्दू शास्त्र का आधार ग्रहण करते हैं, कुरान का नहीं।"

निष्कर्ष :-

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि संत काव्य किसी विदेशी-साहित्य या अभारतीय धर्म साधनोंओं के प्रभाव से विकसित साहित्य नहीं है, अपितु वह तत्कालीन भक्ति आन्दोलन से प्रभावित है। तथा अपभ्रंश साहित्य की विशेष काव्यधारा का विकसित रूप है। संत मत वस्तुत: भक्ति आन्दोलन की एक विशेष शाखा है, जिसका नेतृत्व उच्च वर्ग के शिक्षित लोगों के द्वारा न होकर निम्न वर्ग के अशिक्षित वर्ग के द्वारा हुआ। इन प्रभावों के होते हुये भी संत कवियों की विचार-दृढता और मौलिकता में कोई अंतर नहीं आया। इन्होंने- "सार सार को गति रहा, थोथा दिया उडाय" की प्रवृत्ति का सर्वत्र निदर्शन किया है। बहुश्रुत होने के कारण साधु-संगति में बैठकर अपने सामान्य भक्ति मार्ग के लिए जिस तत्व को व्यवहारिक और ग्राह्य समझा, उसका समावेश अपने मत में कर लिया, संत मत किसी धर्म विशेष की शास्त्रीय व्याख्या नहीं, बल्कि उनकी सहज अनुभूतियों का सुंदर समुच्चय है।

संदर्भ :-

द्विवेदी, हजारीप्रसाद. (2011). *कबीर*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन.

गुप्त, गणपतिचंद्र. (2012). *हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास*. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन.

नगेन्द्र. (2014). *हिन्दी साहित्य का इतिहास*. नई दिल्ली: नेशनल पब्लिशिंग हाउस.

राय, गुलाब. (2015). *हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास*. नई दिल्ली: लोकभारती प्रकाशन.

शुक्ल, रामचन्द्र. (2016). *हिन्दी साहित्य का इतिहास*. नई दिल्ली: लोकभारती प्रकाशन.

गांधी-विचारों से सराबोर भवानी प्रसाद मिश्र की कविताएँ

विवेक कुमार साव*
vivekshaw.dg@hkbk.edu.in

सारांश :-

भवानी प्रसाद मिश्र स्वतंत्रता आंदोलन में सक्रियता से भाग लेने वाले ऐसे विराट कवि हैं जिन्होंने जनता में राष्ट्रीय चेतना जागृति के लिए महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। कवि ने महात्मा गांधी की कार्यशैली हो या उनकी साधना सभी को अपनी आँखों से देखा और खुद में आत्मसात किया या यूँ कहें कि गांधी के विचारों ने उन्हें खुद में भीतर तक डुबोया। गांधी युग के समूचे परिवेश को जिसतरह भवानी प्रसाद मिश्र ने अपने काव्य में व्यक्त किया, वैसा अन्यत्र मिलना कठिन है, जिसका एक उत्कृष्ट प्रमाण उनकी कृति 'गांधी पंचशती' है। गांधी विचार उनकी कविताओं की मेरुदंड है। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि इस दिशाहीन समाज को गांधी विचारों के माध्यम से सही दिशा की ओर मोड़ा जा सकता है, उन्होंने गांधी-दर्शन को अपने काव्य के माध्यम से लोक में उतारने का एक महत्वपूर्ण प्रयास किया। अपनी कविताओं में कवि ने जहाँ एक ओर मानवीय मूल्यों की स्थापना की, तो वहीं दूसरी ओर श्रमशीलता के महत्व को भी दर्शाया, जो समष्टि से अनुरक्त दिखाई पड़ती है। अहिंसा में निष्ठा रखने वाले गांधी के सपनों में एक सपना राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी को प्रतिष्ठित करने का भी था और ठीक उसी प्रकार भवानी प्रसाद मिश्र भी हिंदी को अपनी ताकत मानते थे। जिसतरह सत्य महात्मा गांधी के लिए महत्वपूर्ण था, ठीक उसी प्रकार भवानीप्रसाद के विचार और व्यवहार में भी सत्य दृष्टिगोचर होता है। उन्होंने जो देखा, जो जिया उसे ही अपनी कविताओं में व्यक्त किया। इसका जिक्र खुद वे करते हुए लिखते हैं - 'हिम्मत नहीं पड़ती कि जो दिखता नहीं है वह लिखूँ!' अतः गांधी विचार से प्रभावित उनकी कविताओं की भावभूमि जहाँ एक ओर मानवीय भावनाओं के प्रति जागरूक है तो दूसरी ओर सत्य, कर्मठता, श्रमशीलता, प्रेम और आशावादिता के स्वर अनेक स्थानों पर सुनाई पड़ते हैं। वर्तमान समाज प्रकृति के विनाश की ओर व अन्धदौड़ करती हुई पूंजीवादी ढंग में चल रही है। हम विकास की बात तो करते हैं, परन्तु उसमें मानवीयता कितनी है ? अगर हम बुनियादी परिवर्तन की बात करते हैं तो उसमें सर्वोदय कहाँ हैं ? ऐसे असंख्य अमानवीय कर्कश ध्वनियों व पागल दौड़ के बीच भवानी प्रसाद मिश्र की कविताएँ अपने समय-समाज से संवाद करने की प्रेरणा देती है। अतः आज की ऐसी परिस्थितियों में भवानी प्रसाद मिश्र की कविताओं पर बात-चीत करना और भी अधिक प्रासंगिक हो जाता है।

बीज शब्द :- *गांधी दर्शन, मूल्य, प्रेम, अहिंसा, सत्य।*

मूल आलेख :-

सहज भाषा में सपाटबयानी और बेतकल्लुफी से बोलचाल का लहजा भवानी प्रसाद मिश्र की ऐसी अदा है जो उन्हें उनके दौर के कवियों से अलग पहचान देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। वे सामान्य जनजीवन के बीच रहकर अपनी सहज भावों और कथनों को आम भाषा में बड़े प्रभावी ढंग से कविताओं के माध्यम से अभिव्यक्त करने वाले कवि हैं। भवानी प्रसाद मिश्र का रचनाक्रम 1930 से आरंभ होता है। जिस दौर में छायावादी कवियों की लहर थी ; अलबत्ता, इसे गांधी-दर्शन के प्रति श्रद्धा कहें या विलियम वर्ड्सवर्थ जैसे कवियों का प्रभाव, जो उनके काव्य को छायावादी-संस्कार से दूर रखता है। इन्होंने अपनी रचनाधर्मिता से आधुनिक हिंदी काव्य-क्षितिज को व्यापकता प्रदान की। वे काव्य सृजन के लिए महत्वपूर्ण, आंतरिक प्रेरणा व विचारों को आत्मसात् कर सकने की क्षमता को मानते तथा उनका यह भी मानना था कि उसमें कवि के विचार हावी न हों,

* **सहायक आचार्य, एच.के.बी.के डिग्री कॉलेज, बंगलुरू**

बल्कि उसकी आत्मा के स्वर गुंथे हों। गांधी दर्शन प्रभाव के सम्बंध में वह खुद कहते कि 'मैंने गांधीवाद को ऐसे अपनाया जैसे वह सिर्फ गांधी का ही नहीं, मेरा हो। गांधी का भाव पूरे मानवता का भाव है, इसलिए वह मेरा है, बिना किसी तर्क के सहज भाव से।'[1] जैसा कि हम सभी जानते हैं लगभग 1920 से ही गांधीजी का प्रभाव हिंदी साहित्य पर दिखना शुरू हो गया था, उस दौर में कई ऐसे रचनाकार हुए जिनकी रचनाओं में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से गांधी दर्शन का प्रभाव मिलता है, जिनमें सियाराम शरण गुप्त, मैथलीशरण गुप्त, जैनेंद्र, बालकृष्ण शर्मा, सोहनलाल द्विवेदी, सुभद्रा कुमारी चौहान, रामधारी सिंह दिनकर, आदि का नाम महत्वपूर्ण है। इन सभी ने मिलकर गांधी विचारों की रचनात्मक भावधारा प्रवाहित की ; इसी क्रम में भवानी प्रसाद मिश्र का नाम भी अतुल्नीय है। गांधीजी के विषय में भवानी प्रसाद मिश्र कहते हैं- 'गांधी ने अवश्य ही कभी अपने को धर्म-नेता की तरह पेश नहीं किया ; फिर भी यह सच है कि बीसवीं सदी में पैदा किसी और व्यक्ति की बात लाखों-करोड़ों लोगों ने इस भाव से नहीं सुनी और न किसी ने अपनी-अपनी हद तक ऐसी बात सुनकर उसपर गांधी के अनुयायियों की तरह चलने की कोशिश की।'[2] उनका मानना था कि गांधीजी की दृष्टि में सत्य का आचरण अहिंसक क्रांतिकारी ताकतों का संग्रह है। उनके अनुसार गांधी खेत भी हैं और बीज भी। वे अपनी कविताओं में सार्वभौमिक उत्थान की बात करते हैं, वे सर्वोदय समाज का उद्घोष करते हैं। वे समाज में फैली कुरूतियों का हल गांधी के रास्ते निकालना चाहते हैं। वे इस बात के बिल्कुल खिलाफ रहें कि सत्ता हो या प्रतिष्ठा, इसकी प्राप्ति के लिए गांधी का नाम लेना संकुचित मानसिकता है। इसी बात को दादा धर्माधिकारी ने 'बाबा बाजी' कहा था। खादी और गादी की लड़ाई के बीच वे लिखते हैं - 'कि बेशक गांधी के ढंग से इन/ दोहरी समस्याओं का हल/ निकाला जाना चाहिए/ देखा-भाला जाना चाहिए'[3] उन्होंने अपनी कविताओं के माध्यम से बड़ी ही सरलता से गांधी विचारों को हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है, जिसे हम निम्न रूपों में देख सकते हैं -

सत्य - हम सभी जानते हैं कि गांधीजी ने अपने जीवन में सदा सत्य को उतारा, जो उनके मूलमंत्र के रूप में विकसित भी हुआ। उनका मानना था कि 'हम सत्य को इतनी दृढ़ता से पकड़ें कि भले ही हमारे हाथ टूट जाए लेकिन हम उसे न छोड़े। हम इस मंत्र को अपने अंतःकरण में इस सीमा तक अंकित कर लें कि उसके मन में किसी और वस्तु का विचार आए ही नहीं।'[4] भवानी प्रसाद मिश्र भी गांधी के आदर्शों का प्रतिपादन करते हैं। वे उस सत्य को आत्मसात करते हैं इसका संकल्प लेते हैं, जिसकी बात गांधी करते थे। वे लिखते हैं -

"क्या करें हमने शांति के साथ/ सच कहने का संकल्प/ जो लिया है/ मगर किसी दिन/ वे शांति भी समझेंगे/ जिन्होंने अभी/ हमारे खून को/ सड़कों पर पानी को तरह बहा दिया है।" [5] कवि सिर्फ अपने भीतर ही नहीं बल्कि, सबके लिए सत्य के प्रति विश्वास भरने की बात करता है। कवि यह मानता है कि जो सच है, वह कभी न कभी उभरकर जरूर सामने आएगा - "चिंता मत करो/ सिर्फ अपने भीतर ही नहीं/ सबके भीतर विश्वास भरो/ कि जो सही है/ वह उभर कर रहता है और गलत है जो/ सो/ अपनी मौत मरता है !" [6]

अहिंसा - कवि के लिए गांधी एक ऐसे आदर्श नायक की तरह हैं, जिसका मन अहिंसक और निर्भय है, जो व्यापक प्रेम और विश्वव्यापी उदारता का नाम है, जो महात्मा है, एक संत है, दार्शनिक है, समाज-सुधारक व भारत की गरीब जनता के मसीहा हैं, जिन्होंने सत्य को साध्य और प्रेम-अहिंसा को साधन माना। भवानी प्रसाद मिश्र ने अहिंसा को संस्कृति का आधार स्तम्भ बताया। जिसतरह 'गांधीजी ने कहा कि सत्य का आचरण अहिंसा है। जब हम सत्य को व्यवहार में उतारते हैं तो हमको अहिंसा का पालन करना होता है।'[7] उसीप्रकार कवि भी सोचता है कि "जगेगी मनीषा यदि/ एक-एक व्यक्ति में कि/ शांति और स्नेह से ही/ धरती सजेगी,/ प्रितिमन्त्र, मंगलगान/ गूँजेंगे चारों ओर/ भैरव तब विलीन होगा/ भैरवी बजेगी।" [8] वहीं दूसरी ओर भवानी प्रसाद मिश्र अपनी कविता में लिखते हैं - "भारत के लोग/ गए बाहर/ लेकिन सेना न लेकर गए ;/ वे जहाँ गये इसलिए/ प्रेम के पौधे/ पनपे नये-नये !"[9] अतः कवि यहाँ हमारी संस्कृति में अहिंसा की श्रेष्ठता का चित्रण करता है जिसके बल पर विश्वशांति स्थापित की जा सकती है।

सत्याग्रह - महात्मा गांधी के सिद्धांतों के प्रबल अनुयायी दादा धर्माधिकारी का मानना था कि सत्याग्रह की शक्ति लोगों की समस्याओं से लाभ उठाने में नहीं होती, लोगों की समस्याओं के समाधान में, लोगों को अपनी दिशा में मोड़ने में होती है। अपनी दिशा से आशय है - मानवता की दिशा। यानि उनका स्वत्व जाग्रत हो, उनकी आत्म-मर्यादा की स्थापना हो और विधायक सामुदायिक प्रवृत्ति का विकास हो। इसी मानवता की दिशा में बढ़ते हुए गांधी के अधूरे सपने को सँवारने के लिए

भवानी प्रसाद मिश्र लिखते हैं - "प्रार्थना के स्वर तुम्हे लगते हैं अच्छे/ किंतु मेरा आज का स्वर प्रार्थना का स्वर नहीं है/ सत्य का आग्रह लिए हूँ आज अपने प्राण में मैं"[10] अतः कवि ने अपनी कविता में गांधीजी के सत्याग्रह की प्रतिमा गढ़ी और जिस तरह गांधी ने सत्याग्रह को एक शक्तिशाली आवाज का तरीका बनाया, उसी तरह भवानी प्रसाद मिश्र भी सामाजिक समस्याओं का समाधान ढूँढने के लिए अपने प्राण में सत्य का आग्रह लिए आह्वान करते हैं।

खादी - सन् 1920 के आस-पास से ही महात्मा गांधी ने आत्मनिर्भरता के लिए खादी की कताई पर जोर देना शुरू कर दिया था। उनके लिए खादी केवल एक कपड़ा मात्र नहीं, बल्कि एक विचार था। उन्होंने स्वयं भी चरखे पर सूत काता और समस्त देशवासियों को इसके लिए प्रेरित भी किया। किशोरलाल घ० मशरूवाला खादी-कार्य के सम्बंध में लिखते हैं -'खादी की उत्पत्ति और काम में सैकड़ों उच्चाकांक्षी युवकों के लिए अपनी बुद्धि, व्यवस्था-शक्ति, व्यापारीक चतुरता और शास्त्रीय ज्ञान के प्रदर्शन का लंबा-चौड़ा मैदान खुला पड़ा है। इस एक ही काम को सम्यक रीति से संपन्न कर दिखाने से राष्ट्र अपनी स्वराज्य संचालन की योग्यता सिद्ध कर सकता है।'[11] इसी सिद्धि के लिए भवानी प्रसाद मिश्र अपनी कविता खादी का रिश्ता में अपना ख्याल लिखते हैं - "ओ/ सफेद जलधाराओं की बहनों/ खून रंगे चीर मत पहनो/ मैंने/ तुम्हारी स्वच्छता के कारण/ सागर-संगम तक/ तुम्हारे साथ बहना तय किया था"[12]

सर्वधर्म समभाव - महात्मा गांधी सर्वधर्म समभाव पर विश्वास रखते थे। वे चाहते थे कि समाज मे हर धर्म के लोग एक दूसरे के साथ मिलकर रहें और एक-दूसरे का सम्मान करें। गांधीजी का कहना था कि सारे धर्म सत्य को प्रकट करते हैं, परन्तु सभी अपूर्ण हैं और सब में दोष हो सकते हैं। हमें अपने धर्म के दोषों के प्रति भी अत्यंत जाग्रत रहना चाहिए। परन्तु दोषों के कारण उसका त्याग नहीं करना चाहिए, बल्कि उन दोषों को मिटाने का प्रयत्न करना चाहिए। उनका मानना था कि दुनिया के समस्त धर्म उसी एक बिंदु पर पहुंचने वाले अलग-अलग मार्ग हैं। जब तक हम एक ही लक्ष्य पर पहुँचते हों तब तक यदि हम अलग-अलग मार्ग ग्रहण करें तो उसकी क्या चिंता। एक उदाहरण देखिये कि कवि किस तरह गांधीजी के समानता की सोच को अपनी कविताओं के माध्यम से व्यक्त करता है - "आदमी का आदमी से भेद/ आधार चाहे जाति हो या वर्ग हो या रंग हो/ धर्म हो या देश हो इस सोचने का ढंग हो, तुमको नहीं है सह्य !/ सृष्टि में तुम आदमी तो आदमी/ हर जीव पत्ती पेड़ तक की आत्मा का ध्यान रखते हो/ उस दिशा में सदा जाग्रत भावनाएँ कर्मरत मन-प्राण रखते हो।"[13]

प्रेम - गांधीजी के अनुसार जहाँ प्रेम है वहाँ ईश्वर भी है तथा उनका मानना था कि हमारे प्रेम का दायरा विश्व तक फैल जाना चाहिए। वे बताते हैं -'वैज्ञानिक हमसे कहते हैं कि हमारी इस पृथ्वी की रचना करने वाले परमाणुओं के बीच यदि मिलाने वाली शक्ति मौजूद न हो, तो यह पृथ्वी टूटकर टुकड़े-टुकड़े हो जाय और हमारा अस्तित्व इस दुनिया से मिट जाय। और जिस प्रकार जड़ प्रकृति में मिलाने वाली शक्ति है, उसी प्रकार चेतन पदार्थों में भी वह शक्ति होनी चाहिए ; और चेतन प्राणियों में रही उस मिलाने वाली शक्ति का नाम है प्रेम।'[14] अतः गांधीजी के लिए प्रेम एक ऐसी शक्ति है जो एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य से जोड़े रखती है और यही शक्ति सम्पूर्ण विश्व को एक-दूसरे से जोड़े रखेगी। भवानी प्रसाद मिश्र भी प्रेम को निर्देशक शक्ति मानते है, एक ऐसी शक्ति जो जीवन से भी बड़ी है और वो जीवन को दिशा देने वाली है। वे लिखते हैं - "मुझे मालूम हो गया है/ कि बड़ी है जीवन से/ जीवन को दिशा देने वाली/ प्रेम की शक्ति/ शरीर की हड्डियों तक को/ वह दिल की तरह/ धड़का देती है।"[15] भवानी प्रसाद मिश्र के लिए स्नेह एक ऐसा बीज है जिसका फल हमेशा ही शुद्ध होगा, वह खोटा नहीं होगा तथा उसमें कोई मिलावट नहीं होगी। इसी प्रेमभाव के विषय में वो लिखते हैं - "धृणा प्रहार गिरावट फँसना/ सब हास्यास्पद, सच है हँसना/ मठ-मंदिर मन से छोटे हैं/ स्नेह सही है, सब खोटे हैं!"[16]

निष्कर्ष :-

कई वर्षों के अश्रांत प्रयासों के बाद हम जिस वर्तमान समाजिक व्यवस्था को देख रहे हैं, हम जिस सबसे बड़े लोकतांत्रिक देश की बात कर रहे हैं, वो साम्राज्य व राजतंत्र से होते हुए, संसदीय लोकतंत्र तक बहुत काठिनाइयों से पहुँचा ; किन्तु वर्तमान परिदृश्य पर नजर डालें तो पूंजीवाद, कट्टरवाद, सामंतवाद आदि वर्चस्ववादी ताकतें लोकतंत्र को निगलने की तैयारी में है। दुनिया के सबसे बड़े लोकतांत्रिक देश में लोकतांत्रिक मूल्यों का क्षय होता दिख रहा है, ऐसी विकट परिस्थिति में गांधीजी द्वारा दिये गए सूत्र भारत ही नहीं समूचे विश्व के लिए महत्वपूर्ण है। इन्हीं सूत्रों को भवानी प्रसाद मिश्र ने अपनी

कविताओं के माध्यम से बड़ी ही सहजता से हम सभी के समक्ष प्रस्तुत किया। उन्होंने ग़ांधी विचारों के माध्यम से सत्ता शासन व शोषणवादी मानसिकता के खिलाफ कई आलोचनात्मक कविताओं का सृजन किया, जो मनुष्य के प्रति एक गहरा आत्मविश्वास तो भरती ही है, साथ ही साथ कई सारी ऐसी मानवीय चिंताओं की ओर सोचने को मजबूर भी करवाती है जिसकी परिकल्पना गांधी ने की थी। गांधी, कवि के लिए कल्पना नहीं, एक यथार्थ है। गांधी विचार ने उन्हें सिर्फ जीवन का ढंग ही नहीं दिया, अपितु उन्हें रचनात्मक खुराक भी दी।

कवि ने गांधी विचार का मुख्य रूप से चार सार माना - सत्य, अहिंसा, सर्वोदय और सत्याग्रह। और यह चारों सूत्र ही कवि की कविताओं के गुण बनकर आते हैं। मनुष्य हित के लिए गांधी ने खादी, चरखा, सर्वोदय, सत्याग्रह, प्रेम, अहिंसा, साम्प्रदायिक एकता आदि बातों पर जो बल दिया, वे सारे विचार भवानीप्रसाद मिश्र की कविताओं में विभिन्न रूपों में प्रकट हुई हैं। अतः यह कहने में बिल्कुल भी झिझक नहीं कि समाज जिस भटकाव की ओर बढ़ता दिख रहा है, उस अँधेदौड़ में गांधी-विचार चिंतन को अपनी कविता में ढालकर कवि ने समाज को उस भटकाव रूपी समस्याओं का हल दिया, जो सिर्फ अमानवीय जीवन स्थितियों पर कड़क व्यंग्य ही नहीं करता, अपितु वह एक ऐसी नसेनी है जिसके माध्यम से हम सर्वोदय की ओर पहुँच सकते हैं।

संदर्भ :-

1. सिंह, विजय बहादुर (सं.). (2013). *मेरे साक्षात्कार*. नई दिल्ली: किताबघर प्रकाशन. पृ. 60.
2. मिश्र, भवानीप्रसाद. (2014). *कुछ नीति कुछ राजनीति*. कोलकाता: प्रतिश्रुति प्रकाशन. पृ. 40.
3. मिश्र, भवानीप्रसाद. (2018). *त्रिकाल संध्या*. कोलकाता: प्रतिश्रुति प्रकाशन. पृ. 119.
4. सुजाता (सं.). (2012). *गांधी की नैतिकता*. वाराणसी: सर्व सेवा संघ प्रकाशन. पृ. 2.
5. मिश्र, भवानीप्रसाद. (2018). *त्रिकाल संध्या*. कोलकाता: प्रतिश्रुति प्रकाशन. पृ. 15.
6. मिश्र, भवानीप्रसाद. (2018). *त्रिकाल संध्या*. कोलकाता: प्रतिश्रुति प्रकाशन. पृ. 51.
7. मिश्र, भवानीप्रसाद. (2014). *कुछ नीति कुछ राजनीति*. कोलकाता: प्रतिश्रुति प्रकाशन. पृ. 22.
8. मिश्र, भवानीप्रसाद. (2019). *कालजयी*. कोलकाता: प्रतिश्रुति प्रकाशन. पृ. 23.
9. मिश्र, भवानीप्रसाद. (2019). *कालजयी*. कोलकाता: प्रतिश्रुति प्रकाशन. पृ. 13.
10. मिश्र, भवानीप्रसाद. (1969). *गांधी पंचशती*. नई दिल्ली: सरला प्रकाशन. पृ. 9.
11. *गांधी विचार दोहन*. (2010). नई दिल्ली: सस्ता साहित्य मंडल. पृ. 120.
12. मिश्र, भवानीप्रसाद. (2018). *त्रिकाल संध्या*. कोलकाता: प्रतिश्रुति प्रकाशन. पृ. 39.
13. मिश्र, भवानीप्रसाद. (1969). *गांधी पंचशती*. नई दिल्ली: सरला प्रकाशन. पृ. 15.
14. प्रभु, आर. के. (सं.). (1960). *मोहन-माला*. अहमदाबाद: नवजीवन प्रकाशन मंदिर. पृ. 15.
15. मिश्र, भवानीप्रसाद. (2018). *त्रिकाल संध्या*. कोलकाता: प्रतिश्रुति प्रकाशन. पृ. 91.
16. मिश्र, भवानीप्रसाद. (2019). *कालजयी*. कोलकाता: प्रतिश्रुति प्रकाशन. पृ. 88.

'रेशम' का औद्योगिक स्वरूप

डॉ. शिवाश्री सिन्हा*
shiwashrisinha@gmail.com

सारांश

भारतीय हिंदू संस्कृति में 'अर्थ' पुरुषार्थ का दुसरा महत्वपूर्ण अंग है। जिसका उद्देश्य मानव का इस लौकिक जीवन को जीने के लिए साधन प्रदान कर उसे समृद्ध बनाना है। जिससे ना केवल व्यक्तिगत अपितु पूरा राष्ट्र का भविष्य भी प्रभावित होता है। जिससे विभिन्न उद्योग-धंधे सम्बंधित होते हैं। इस संदर्भ में; भारतीय परिदृश्य में, वस्त्रोद्योग का प्राचीनतम विकसित इतिहास रहा है। जिसमें रेशम उद्योग की विशेष भूमिका रही है। जिसका उद्भव चीन से प्रारंभ होकर सिल्क रुट के माध्यम से वैश्विक पटल पर भारत, रेशम के सभी किस्मों पर एकाधिकार स्थापित करते हुए एक वैश्विक बाजार के साथ द्वितीय उत्पादक एवं निर्यातक बना है। प्राचीन काल से ही इस कौशेय उद्योग का वर्चस्व कुछ इस प्रकार रहा है कि जिसका उपयोग विभिन्न राजवंशों के द्वारा अलौकिक वस्त्र के रूप में औपनिवेशिक भारत तक किया जाता रहा है। जो कि ऐतिहासिक साक्ष्य के द्वारा स्पष्ट होता है। हालांकि औपनिवेशिक भारत में इस उद्योग का ह्रास देखने को मिलता है। परंतु पंचवर्षीय योजनाओं ने इस उद्योग की अस्मिता को वापस लाने का आधार प्रदान किया। वर्तमान भारत में वर्तमान सरकारें इस उद्योग के प्रति विभिन्न योजनाएँ एवं ऑन लाइन बाजार उपलब्धता द्वारा इस उद्योग को महत्वपूर्ण दिशा प्रदान किया है। इस उद्योग के विकासशील अवस्था का प्रमुख प्रदर्शन हमें काशी के "दीन दयाल उपाध्याय हस्तकला संकुल" द्वारा प्राप्त हो जाता है। जो रेशम के प्राचीनतम स्वरूप से लेकर आधुनिकता को प्रदर्शित करता है। आज रेशमद्योग मूल रूप से रेशम उद्योग ही नहीं अपितु इसके अपशिष्टों से विभिन्न उद्योगों को भी संरक्षित करता है। जो भारतीय रेशम उद्योग को अलग दिशा दे रहा है। जो भारतीय औद्योगिक विकास में महत्वपूर्ण हिस्सा बनकर अपनी वृहत भूमिका निभा रहा है।

मुख्य शब्द

रेशम, अर्थ, रेशमद्योग, रेशम उत्पादन, औपनिवेशिक भारत एवं रेशम, चीनान्शुक।

प्रस्तावना

धर्मार्थकाममोक्षाणां यस्यै कोऽपि न विद्यते।

अजागलस्तनस्येव तस्य जन्म निरर्थकम ।।

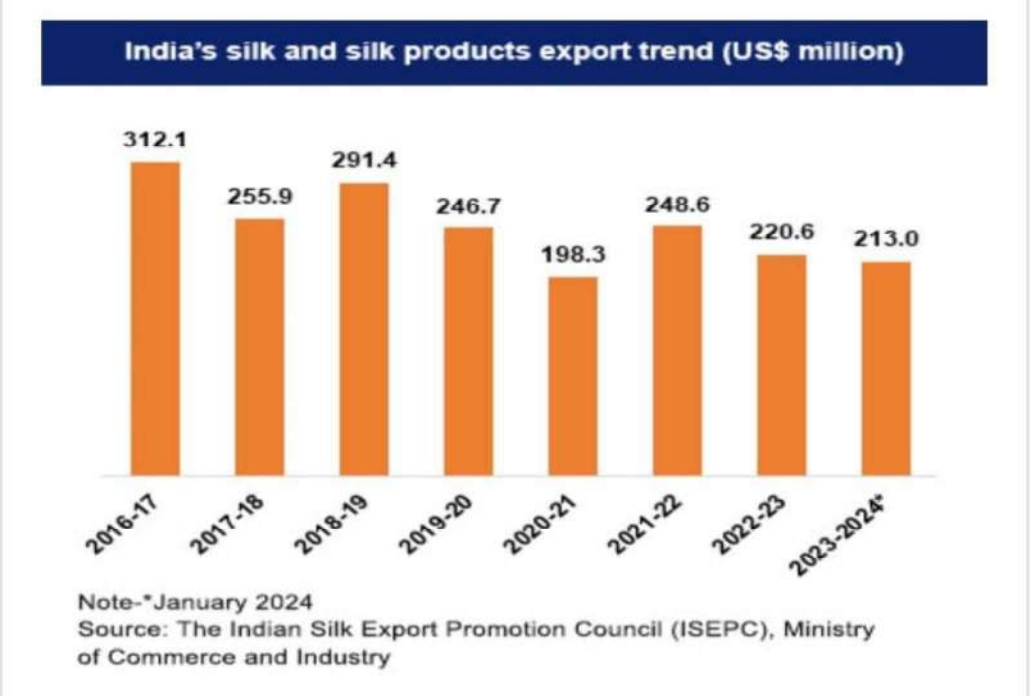
धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों में जिसमें एक भी नहीं होता उसका जन्म बकरी के गले में लटकने वाले स्तन के सामान निरर्थक होता है। भारतीय पुरुषार्थ चतुष्ट्य की संकल्पना में अर्थ एक अत्यंत ही महत्वपूर्ण भाग है। अर्थ जो मानव की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति का एकमात्र साधन है। दण्डी के अनुसार- अखिलकार्यनिमितं वित्तं। वही शासन संबंधी कर्म भी अर्थमूलक ही है। अर्थमूला हि दण्डविशिष्टि कर्मारम्भा। जो इसके वृहत्तर आयाम को प्रदर्शित करती है। इस संदर्भ में अर्थोपार्जन की वृत्तियाँ आदि काल से ही अनेक रूप में दृष्टिगत होती आई है-विद्या, शिल्प, सेवा, व्यापार, शिक्षा, कृषि, तथा उद्योग-धंधें आदि। उद्योग-धंधें किसी भी समय काल के लिए उस राज्य की सम्पन्नता एवं विपन्नता का आधार तय करता है। भारतीय संदर्भ में उद्योग-धंधों का प्राचीनतम स्त्रोत विशेषकर वस्त्रोद्योग, हमें सिंधु धाटी सभ्यता से प्राप्त हो जाता है।

*शिक्षिका, बिहार लोक सेवा आयोग, गया, बिहार

जिसका फैलाव बेबीलोन से लेकर मेसोपोटामिया तक व्याप्त था। या यूँ कहे भारत का औद्योगिक पहलू विशेषकर वस्त्रों में कुछ इस प्रकार विश्व के लिए महत्वपूर्ण एवं विकसित था कि प्राचीन समय में 'भारत' कपास का संक्षिप्त रूप था।

वही रेशम के संदर्भ में भारत का इतिहास कपास अर्थात सूती वस्त्रों के उत्पादन तथा उपभोग से कमतर नहीं रहा है। हालांकि रेशम का प्रादुर्भाव 'चीन' से जुड़ा है। जो कि भारत में सिल्क रुट के माध्यम से तिब्बत के रास्ते, ल्हासा से नाथुला होकर पहुँचता था। जिसका उल्लेख भारतीय प्राचीन ग्रंथों, वेदों, पुराणों, रामायण तथा महाभारत से प्राप्त हो जाता है। जो निश्चित ही रेशम की उत्पत्ति से नहीं परंतु प्रारंभिक विकास को अवश्य ही दर्शाता है। भारत में रेशम के उद्योग-धंधों का विकास का श्रेय सिल्क रुट के माध्यम से, कुषाण वंश को जाता है। भारत के विभिन्न काल/समय में रेशम का उपयोग एवं व्यापार अपनी ही विकास गाथा कहता है। प्राचीन भारत में ऋग्वेद में हिरण्य नाम से जिसमें काशी में निर्मित सुनहरे वस्त्रों की चर्चा है जो कौशेय की ओर इशारा करता है। वही विभिन्न बौद्ध साहित्य महात्मा बुद्ध के महापरिनिर्वाण में इस वस्त्र के द्वारा लपेटे जाने की चर्चा करता है। जैन साहित्यों में इस सुनहरे वस्त्र को 'पट्टशक' नाम से वर्णित किया गया है। ऐतिहासिक साक्ष्य सपष्ट करते हैं कि मिस्त्र में पिरामिड के अंदर रखे जाने वाले मखमल के वस्त्र भारत से निर्यात किए जाते थे। मध्यकालीन भारत में गजनवी के आक्रमण से लेकर दिल्ली सल्तनत तक दिल्ली में शाही रेशमी कारखानों के प्रत्यक्ष प्रमाण प्राप्त होते हैं। जिसमें बैहाकी ने अपनी पुस्तक 'त्वारिखे सुबूक्तीन' में बनारस के वस्त्रोद्योग को समृद्ध एवं विकसित बताया है। वही औपनिवेशिक भारत में रॉल्फ फिच ने काशी में मुगल बादशाहों के लिए पगड़ियाँ एवं मखमली कपडों के निर्माण का वर्णन करता है। जो यह दर्शाता हैं कि, भारत के इतिहास में वस्त्रोंधोग में रेशम उद्योग का अलग ही बाजार एवं औद्योगिक क्षेत्र का विकास हुआ है। आर्थिक इतिहास में "अंगद मेडिसन" की पुस्तक-द वर्ल्ड इकोनॉमी ए मिलेनियर प्रोस्पेक्टिव के अनुसार 17 वीं सदी तक भारत विश्व का सबसे धनी देश था तथा दुनिया की सबसे बडी़ अर्थव्यवस्था थी। कुछ साक्ष्यों क अनुसार, प्रथम ई. में विश्व अर्थव्यवस्था में भारतीय अर्थवयवस्था का हिस्सा 52.9 प्रतिशत था। आचार्य पांडुरंग वामन काणे ने प्राचीनतम भारत के विभिन्न व्यावसायिक संगठनों की विशेषताओं का वर्णन किया है जिसमें व्रात्य, पूग, संघ, गण, निगम, पण श्रेणी का विस्तृत वर्णन ,प्राचीनतम आर्थिक तंत्र की वैज्ञानिकता एवं वैश्विक स्तर पर उन्नत होने का प्रमाण प्रस्तुत करता है। जिसमें वस्त्रोद्योग में विशेषकर रेशम उद्योग महत्वपूर्ण रूप से शामिल था। यही मजबूत आधार कारण रहा हैं कि वर्तमान में वैश्विक स्तर पर भारत रेशम उत्पादन में चीन के बाद द्वितीय एवं उपभोग के आधार पर प्रथम स्थान रखता है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से पंचवर्षीय योजना ने रेशम उद्योग में अपार संभावनाओं को बढ़ाया है।

वर्तमान भारत में रेशम का सबसे अधिक उत्पादन कर्नाटक राज्य के द्वारा किया जाता है जिसमें अब उत्तर-पूर्व राज्यों को इस उद्योग के लिए संरक्षित किया जा रहा है। आज भारत को रेशम के सभी चार किस्मों के उत्पादन का गौरव प्राप्त है। जो है-मलबरी , टसर, एरी तथा मूंगा रेशम। रेशम अपनी अद्वितीय, अद्भुत, प्राकृतिक चमक उच्च अवशोषक, कम वजन के कारण सबसे रमणीय वस्त्र है। इस कारण यह वस्त्रों की रानी भी कही जाती है। भारत में 'काशी' जो प्राचीनतम काल से ही रेशमी कपड़ों विशेषकर रेशमी साड़ियों के लिए वर्तमान समय तक अपनी प्रसिद्धि बनाए रखा है जो कि, भारतीयों के रेशम के प्रति विशेष सांस्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक तौर पर जुड़े रहने का इतिहास भी बतलाता है। औद्योगिक तौर पर नजर डालें तो इस उद्योग का विकास आज इस स्तर पर विस्तृत हुआ है कि FDI के रूप में विदेशी एवं भारतीय हिस्से क्रमशः 49 एवं 51 प्रतिशत का बाजार उपलब्ध करा रहा है। रेशम एवं उनके अपशिष्टों का उपयोग; औद्योगीकरण के इस युग में रेशम की प्रकृति एवं उपयोग में विभिन्न प्रकार के परिवर्तन लाए है। रेशम का उपयोग केवल रेशमी वस्त्रों के निर्माण में ही नहीं बल्कि इसका प्रत्येक विकसित होने वाले चरण एक नए उद्योग को संचारित करने का गुण रखता है। इसमें मुख्य रूप से 75 प्रतिशत फाइब्रिन प्रोटीन तथा 25 प्रतिशत सेरिसिन रहता है जिसका उपयोग जीवणुरोधी गुणों के साथ ट्यूमर उपचार, सर्जिकल टाँके, सौंदर्य प्रसाधनों के लिए किया जाता है। शहतूत का पेड़ रेशम कीट के भोजन के साथ दूध, ईंधन तथा चाय के रूप में भी इस्तेमाल किया जाता है। वही रेशमी कीटों का उपयोग शराब, पोल्ट्री फीड, साबुन, डाई आदि के लिए किया जाता है। साथ ही अनेकों प्रकार के मानव उपयोगी एसिड की उपलब्धता दवाओं के निर्माण में सहायक है। सौंदर्य प्रसाधन उद्योग भी कई स्तर पर रेशम उद्योग द्वारा संचारित किया जा रहा है। रेशम उद्योग आज देश में 9.76 मिलियन लोगों को रोजगार देने वाला उद्योग बन चुका है। रेशम; धागा, वस्त्र, रेडीमेड रेशम वस्त्र तथा अपशिष्टों का बाजार 2023 में 220.58 मिलियन अमेरिकी डॉलर का रहा। जिसमें रेशम अपशिष्ट-19% कच्चा रेशम 1% तथा रेशम कालीन 17% हिस्सों के साथ प्रमुख निर्यातक रहा।



सरकार प्रायोजित पहल

1. रेशम समग्र योजना - इसे केंद्रीय रेशम बोर्ड (CSB) के माध्यम से शुरू किया गया है। इसका उद्देश्य भारत में रेशम उद्योग का पूर्ण विकास करना है जो रेशम की गुणवत्ता और उत्पादकता का सुधार करके रेशम उत्पादन को बढ़ाने में सहायता करेगी।

2. पूर्वोत्तर राज्यों में रेशम उत्पादन विकास (NERTPS) - इसका उद्देश्य राज्य में रेशम उत्पादन को पुर्नजीवित करना, उसका विस्तार करना और उसमें विविधता लाना है जिसमें एरी और मुंगा रेशम पर विशेष ध्यान दिया गया है।

3. भारतीय रेशम निर्यात संवर्धन परिषद (ISEPC) - यह निर्यातक, निर्माताओं और व्यापारियों का शीर्ष निकाय है। परिषद की मुख्य गतिविधियाँ, बाजार की खोज करना, संभावित खरीददारों के साथ संपर्क स्थापित करना, क्रेता-विक्रेता बैठकें, रेशम मेले और प्रदर्शनियाँ आयोजित करना, व्यापार विवादों को सुलझाना और भारतीय रेशम उद्योग और निर्यात को बढ़ावा देना और विकसित करना है।

नीतिगत पहल

1. आयात पर सीमा शुल्क - वर्तमान में कच्चे रेशम पर सीमा शुल्क 10 प्रतिशत - 15 प्रतिशत तक बढ़ाया गया है। तथा रेशम वस्त्रों पर 20 प्रतिशत तक सीमा शुल्क निर्धारित किया गया है।

2. कौशल प्रशिक्षण व उद्यम कार्यक्रम (STEP)- यह प्रशिक्षण कार्यक्रम, सक्षमता संवर्धन प्रशिक्षण कार्यक्रम, अनुशासनिक प्रक्रिया प्रशिक्षण संबंधी कार्य करता है।

3. रेशम उत्पादन संसाधन केंद्र –(SRC की स्थापना) - प्रौद्योगिकी, प्रदर्शन, कुशलता में वृद्धि, रेशम उत्पादन निवेश के लिए एक निश्चित स्थान के रूप में विकसित किया गया है।

4. कैरबो के अनुसंधान एवं विकास संस्थान द्वारा क्षमता विकास एवं प्रशिक्षण - यह रेशम उत्पादन में स्नात्तकोत्तर डिप्लोमा व गहन रेशम उत्पादन प्रशिक्षण तथा कृषकों को प्रशिक्षित करता है।

सूचना प्रौद्योगिकी पहल

इसके तहत एम-किसान, एसएसएस सेवा, सिल्क पोर्टल, वीडियो कांफ्रेंस, कैरेबो बेसाइटस, कृषकों तथा धागाकारों के लिए राष्ट्रीय डाटाबेस जैसी पहल की गई है जिससे इस उद्योग के प्रति नवाचार, विकास, जानकारी को आसानी से जन-जन तक पहुँचाया जा सके।

निष्कर्ष

वस्त्रों की रानी 'रेशम' जिसका आधार भारत में सिर्फ औद्योगिक पूर्णता ही नहीं अपितु सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक स्तर पर भी बहुत ही विशेष है। समय के साथ गिरावट एवं द्वितीय विश्व उत्पादक बनने तक का सफर इसकी ऐतिहासिकता से लेकर आधुनिकता के विभिन्न आयाम विश्व पटल पर प्रदर्शित करती है।

आज रेशम उद्योग, वस्त्रोद्योग के अंतर्गत विभिन्न संभावनाओं के साथ उभर रहा है। जिससे भारतीय रेशमद्योग को विश्वव्यापी बाजार एवं पहचान प्राप्त हुई है। इसमें मौजूद पर्यावरणीय सकारात्मक गुण ज्यादा-से-ज्यादा विश्व स्तर पर उपभोक्ता तैयार कर रहा है। आज सरकार के नीतिगत योजनाओं, प्रशिक्षण कार्यक्रमों ने ना केवल रेशमी कपड़ों अपितु अपशिष्टों को वृहत बाजार प्रदान किया है। हालांकि 'सिंथेटिक रेशम' का बाजार भी फल-फुल रहा है जो प्राकृतिक रेशमद्योग के लिए लगातार चुनौतियाँ पेश कर रहा है। साथ ही पारंपारिक कारीगरों को संरक्षित कर उन्हें नवाचार के साथ जोड़कर इसकी अस्मिता बनाए रखना, विभिन्न चुनौतियों में से एक है; जिसके लिए सुक्ष्मता के साथ प्रयास की आवश्यकता है । हालांकि सरकार की प्रतिबद्धता इस क्षेत्र में हो रहे नवाचार एवं शोध को अलग दिशा प्रदान कर रहा है। आज यह उद्योग, रेशम उत्पादन कार्यक्रम और गतिविधियाँ 2030 के लिए कम-से-कम 7; S.D.G को पूरी करती हुई भी नजर आती है। जो कि भारत के विकसित होने की राह में एक महत्वपूर्ण हिस्सा साबित हो रहा है-

1. निर्धनता उन्मूलन
2. अच्छा स्वास्थ्य और कल्याण
3. लैंगिक समानता
4. सम्मानजनक रोजगार और आर्थिक विकास
5. उद्योग, नवाचार और बुनियादी ढ़ांचा
6. उचित खपत और उत्पादन
7. जलवायु संरक्षण एवं भूमि पर जीवन

अतः आवश्यकता है वर्तमान में उन पारम्परिक एवं गैर-पारम्परिक रूप से जुड़े लोगों को साथ जोड़कर तथा सरकार द्वारा प्रायोजित योजनाओं, प्रशिक्षण कार्यक्रम, आधुनिक नवाचार को समग्र रूप से सभी के पास पहुँचाने की जिससे उत्पादित रेशम को उचित व्यापारिक बाजार प्राप्त हो सकें साथ ही इसके सांस्कृतिक, धार्मिक एवं सामाजिक महत्व के साथ न केवल उपभोक्ता के रूप में वरन् प्रथम उत्पादक के रूप में भी इसे स्थापित किया जा सकें।

संदर्भः-

1. Motichand, M. (1950). *Prachin Vesh Bhusha*. Allahabad: Indian Press.
2. Habib, I. (1963). *The Agrarian System of Mughal India (1556–1707)*. New Delhi: Asia Publishing House.
3. Mehta, R. J. (1960). *Masterpieces of Indian Textiles*. Bombay: D.B. Tarporvala sons.

4. Mehta, R. J. (1960). *Handicrafts and Industrial Arts of India*. Bombay: D.B. Tarporvala sons.

5. Motichand, M. (1962). *Kashi ka Itihas.* Bombay: D.B. Tarporvala sons.

6. Rao, A. V. (1973). *Handloom Industry in India: A Study*. New Delhi: National Co-operative Union of India.

7. Lal, H. (2016). *Geography of India*. New Delhi: Annpurna Publication.
Mominipudi, A. (2016). *Towards a Theory of Innovation in Handloom Weaving in India*. New Delhi: Oxford University Press.

8. Ramana, D. (1987). *Economics of Sericulture and Silk Industry in India*. New Delhi: Deep Publication.

9. कौसल्यायन, भदन्त आनन्द. (2006). *जातक अट्ठकथा* (भाग 1–6). प्रयाग: हिंदी साहित्य सम्मेलन.

10. कश्यप, जगदीश. (1959). *खुद्दक निकाय*. पटना: नालन्दा देवनागरी पालि सीरीज, पालि प्रकाशन बोर्ड.

11. शर्मा, शिवराम. (1957). *रामायण*. वाराणसी: चौखम्भा विद्या भवन.

12. शास्त्री, रामनारायण दत्त. (1995). *महाभारत*. गोरखपुर: गीता प्रेस.

13. शास्त्री, रामचंद्र. (n.d.). *दशबहुचरित* (भाग 1–2). वाराणसी: चौखम्भा विद्या भवन.

14. Whitney, W. D. (1962). *Atharva Veda Samhita* (Vol. 1–2). Varanasi: Motilal Banarasidas.

मोन्पा लोक-साहित्य और बौद्ध धर्म का अन्त:संबंध

सुश्री पेमा छोइकी लामा*
pemachoikey2@gmail.com

डॉ. अभिषेक कुमार यादव†
ykabhishek@gmail.com

शोध-सार :

यह लेख अरुणाचल प्रदेश की एक प्रमुख जनजाति मोन्पा की लोक-कथाओं को आधार बनाकर लिखा गया है। इसमें यह विश्लेषित करने की कोशिश की गई है कि मोन्पा लोक-साहित्य, समाज और संस्कृति तथा बौद्ध धर्म के बीच एक जीवंत आवाजाही मौजूद है। मोन्पा लोक-कथाओं में कई ऐसी कथाएँ मिलती हैं जिनपर बौद्ध दार्शनिक परंपरा, पूजा-पद्धति और महायान मान्यताओं का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। यह कोई एक रेखीय संबंध नहीं है बल्कि बौद्ध धर्म पर भी मोन्पा लोक-विश्वासों और मान्यताओं के प्रभाव को स्पष्ट रूप से लक्षित किया जा सकता है। यही कारण है कि हिमालयी क्षेत्र के बौद्ध धर्म में बहुत सारी स्थानीय विशिष्टताएँ दिखाई देती हैं।

बीज शब्द : *मोन्पा समाज, जनजाति, धर्म, लोक-कथा, अन्त:संबंध, बौद्ध दर्शन, परंपरा, पूजा पद्धति, लामा, पुनर्जन्म, बुराई का अंत, मिथक।*

मूल आलेख :

मोन्पा, अरुणाचल प्रदेश की प्रमुख बौद्ध धर्मावलम्बी जनजाति है। यह अरुणाचल प्रदेश के पश्चिमी हिस्से में तावांग और पश्चिम कामेंग जिले में निवास करती है। अरुणाचल प्रदेश का एक बड़ा हिस्सा बौद्ध धर्म में आस्था रखता है। मोन्पा जनजाति सबसे अधिक जनसंख्या वाली बौद्ध जनजाति है। यहाँ महायान और हीनयान दोनों शाखाओं के मतावलम्बी लोग निवास करते हैं। मोन्पा, बौद्ध धर्म की महायान शाखा में आस्था रखते हैं। मोन्पा के अतिरिक्त शेरदुक्पेन और मेम्बा भी महायान शाखा में आस्था रखते हैं जबकि खामती और सिंगफ़ो हीनयान शाखा में आस्था रखते हैं।

हिमालय के क्षेत्र में बौद्ध धर्म पर यहाँ की स्थानीय लोक-मान्यताओं का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा क्योंकि मूल बौद्ध धर्म में मूर्ति पूजा का प्रावधान नहीं है किन्तु हिमालयी बौद्ध धर्म में बहुत सारे देवताओं की अवधारणा है। यहाँ के बौद्ध गोन्पा में बहुत सारे देवताओं और देवियों की मूर्तियाँ मिलती हैं। असल में हिमालयी क्षेत्र के जनजातीय समाजों में उनकी लोक-कथाओं में, उनके लोक-साहित्य में, उनके लोक-विश्वास में तरह-तरह के देवताओं और देवियों की कल्पना थी। बौद्ध धर्म ने इन देवियों और देवताओं की कल्पना को एक स्तर पर खुद में समाहित कर लिया। इसी प्रकार बौद्ध धर्म का जो मुख्य प्रभाव मोन्पा लोक-साहित्य पर है वह यह कि बौद्ध धर्म के मूल तत्वों और उद्देश्यों के अनुरूप ही मोन्पा लोक-साहित्य में चीजें घटित होती हैं। बुद्ध के प्रभाव के कारण कोई बुरी चीज़, बुरी आदत या बुरा चरित्र ठीक हो जाता है। इस तरह की कहानियां यहाँ के लोक-साहित्य में विकसित हुई।

हिमालय के क्षेत्र में बौद्ध धर्म का विकास आज से करीब एक हज़ार से बारह सौ साल पहले शरू हुआ। हिमालय के कई क्षेत्रों जैसे भूटान, सिक्किम, लद्दाख और नेपाल की धार्मिक कथाएं गुरु पद्मसंभव के चमत्कारों से जुड़ी हैं।[1] गुरु पद्मसंभव के 25 शिष्यों ने उनकी परंपरा को इस क्षेत्र में फैलाया।[2] कालांतर में मुख्य तिब्बत में भले ही उनके मत 'न्यिंगमा' को मानने

***शोधार्थी, हिंदी विभाग, राजीव गाँधी विश्वविद्यालय, रोनो हिल्स, दोईमुख, अरुणाचल प्रदेश**

† सहायक प्रोफ़ेसर, हिंदी विभाग, राजीव गाँधी विश्वविद्यालय, रोनो हिल्स, दोईमुख, अरुणाचल प्रदेश

वाले लोगों का उत्पीड़न हुआ पर यह हिमालय के अन्य क्षेत्रों में जीवित रहा। नेपाल में गुरु पद्मसंभव को उद्यान आचार्य और बाकी हिमालय में गुरु रिन्पोछे नाम से संबोधित किया जाता है। मोन्पा क्षेत्र में महायान बौद्ध धर्म की मुख्य रूप से चार धाराएँ प्रचलित हैं- न्यिंगमा, काग्यू, गेलुग तथा साक्य।[3] मोन इलाकों के लोग मुख्य रूप से न्यिंगमापा तथा गेलुगपा संप्रदाय के अनुयायी हैं। गुरु पद्मसंभव की साधना परंपरा को न्यिंगमा कहा जाता है, जो सबसे पुरानी और अन्य तांत्रिक परम्पराओं की जननी मानी जाती है। मोन्पा क्षेत्र में बौद्ध धर्म का प्रचार-प्रसार विभिन्न गोन्पाओं (बौद्ध मठ) और बुद्ध की प्रतिमाओं के निर्माण से चिन्हित हुआ।[4] गोन्पा, ग्रामवासियों की आध्यात्मिक आस्था का सबसे प्रमुख स्थल होता है। प्रत्येक गाँव में गोन्पा की स्थापना होती है। तवांग जिले का गोन्पा बौद्ध मतावलंबियों (महायान शाखा) की आध्यात्मिक आस्था का सर्वाधिक महत्वपूर्ण केंद्र है। इसे भारत का सबसे बड़ा और विश्व का दूसरा सबसे बड़ा बौद्ध गोन्पा माना जाता है। यह लगभग 400 वर्ष पुराना है। इसकी स्थापना मेराक लामा[5] ने सत्रहवीं शताब्दी में की थी। मोन्पा समाज में लामा (आध्यात्मिक गुरु) विशिष्ट स्थान रखते हैं। लामा इनके समाज के आध्यात्मिक गुरु के साथ-साथ दिशा-निर्देशक भी होते हैं।

मोन्पा समाज का लोक-साहित्य अभी भी मौखिक स्थिति में ही उपलब्ध है। वाचिक परंपरा में बोन मत और बौद्ध मत का सामूहिक रंग देखने को मिलता है। 'लामा काताय्या'[6] नामक एक कहानी में पुनर्जन्म की कथा के माध्यम से इस बात को दिखाया गया है कि मनुष्य अपने कर्मों से जुड़ा रहता है। मूल बौद्ध धर्म में पुनर्जन्म की अवधारणा है। इस कथा में एक बौद्ध लामा के माध्यम से ही पुनर्जन्म को घटित होते हुए दिखाया गया है। ऐसी लोक-कथाएं मोन्पा समाज में प्रचलित हैं जिनके माध्यम से इस समाज के लोक-साहित्य पर बौद्ध धर्म के प्रभाव को विश्लेषित किया जा सकता है। इसी के साथ इन कहानियों के माध्यम से बौद्ध धर्म पर स्थानीय मान्यताओं के प्रभाव को भी देखा जा सकता है।

इसी तरह की एक कहानी है 'दुईलांगदर'[7]। इस कहानी में एक बौद्ध लामा के माध्यम से बुराई को नष्ट होते हुए दिखाया गया है। इसमें दिखाया गया है कि एक समय में बुराई के प्रतीक राजा का बोल-बाला चरमोत्कर्ष पर था और फिर एक झटके में उसकी सच्चाई सारे गांववासियों के सामने प्रकट होते ही उसकी स्थिति एक चूहे के बराबर हो जाती है। एक बच्चे ने यह देख लिया कि उस राजा के सर पर सींग है। यह जानने के बाद सबके मन से उसका सम्मान और भय निकल जाता है। इसके बाद राजा सबसे छुप कर रहना चाहता है और गाँव वालों से बदला लेना चाहता है। यहाँ मैं हिन्दी के महान कवि 'मुक्तिबोध' की एक पंक्ति का जिक्र करना चाहूंगी। 'अंधेरे में' कविता में वे लिखते हैं, "हाय, हाय! मैंने उन्हें देख लिया नंगा, इसकी मुझे और सज़ा मिलेगी"।[8] यहाँ 'नंगा देख लेना' शाब्दिक नहीं, बल्कि प्रतीकात्मक है। इसका अर्थ है- सत्ता, समाज और उसमें निहित भ्रष्टाचार, अमानवीय सच्चाई को पहचान लेना। कवि का मानना है कि जो व्यक्ति व्यवस्था की वास्तविकता को देख लेता है, उसे अपराधी घोषित कर दिया जाता है। सत्य को उजागर करना हमेशा जोखिम भरा होता है क्योंकि व्यवस्था अपने काले कर्मों के पर्दाफाश को सहन नहीं कर पाती। इसीलिए कवि को भय है कि सच देखने और समझने की वजह से उसे और कठोर दंड मिलेगा। इस कहानी में वह बच्चा सबके सामने सच बताने का साहस करता है और उस राजा की सच्चाई सबके सामने आ जाती है। तब उसकी बुरी शक्ति क्षीण हो जाती है, उसका सब अहंकार चूर हो जाता है। कहानी में एक जिक्र है जिसमें "राजा (दुईलांगदार) उस बच्चे से कहता है कि अब हम दोनों एक ही माँ का दूध पिए हैं तो अब हम भाई-भाई हुए। इसलिए मैं तुम्हें नहीं खाऊंगा, मगर तुम गाँव में यह बात किसी से मत कहना कि मेरे सिर पर सींग है"।[9] उस बच्चे के घर लौट आने पर सभी गांववासी उस बच्चे और उसकी माँ पर लांछन लगाने लगते हैं कि "ऐसा कैसे हो सकता है? हमारे बच्चे भी तो गए थे मगर वे वापस नहीं लौटे, तुम झूठी हो, तुम्हारा बच्चा झूठा है, तुम्हारा बच्चा राजा के पास गया ही नहीं"। दोनों को इन सारी बातों का सामना करना पड़ता है। किन्तु बच्चे ने गाँववालों के सामने राजा की सच्चाई बताई कि उसके सिर पर दो सींग निकली हुई है। यह बात सुनते ही सारे गाँव में हाहाकार मच गया। गाँव वालों के साथ-साथ पेड़-पौधे, पहाड़-नदी सारी प्रकृति ही राजा को थू-थू करने लगती है। इससे राजा जो एक समय सबको डरा-धमका कर रखा हुआ था, एक पराजित योद्धा की तरह घर में छिप जाता है। फिर एक दिन बौद्ध लामा द्वारा तीन दिनों के नृत्य का आयोजन किया जाता है जिसमें आखिरी दिन में 'ज्हना'[10] नृत्य प्रदर्शन के दौरान वह राजा का नाश करता है। परन्तु राक्षस तो राक्षस ही था। वह घायल होकर नौ दिनों तक जीवित रहा। उसकी नौ बेटियां थीं। उन नौ बेटियों ने अपने पिता की मौत का प्रतिशोध लेने के लिए मक्खी, चूहे आदि जीव-योनियों में जन्म लेकर मनुष्यों को तंग करने का वचन अपने पिता को दिया। इस तरह एक बौद्ध लामा द्वारा बुराई को नष्ट कर दिया जाता है। बुराई जितनी भी शक्तिशाली क्यों न हो अंत में सच्चाई की ही जीत होती है। परन्तु बुराइयों ने भी अपनी दुष्टता

नहीं छोड़ी। बुराई किसी न किसी रूप में बरक़रार रही और बुराई को एक बौद्ध लामा द्वारा नष्ट करने की परम्परा भी बनी रही। इस कहानी में यह भी देखने को मिलता है कि बौद्ध परंपरा में किसी न किसी रूप में पुनर्जन्म की मान्यता का प्रचलन उपस्थित रहा है।

इस तरह की एक अन्य कहानी भी है जिसमें एक सिंमु[11] (राक्षसी) का अंत एक बौद्ध लामा द्वारा ही होता है। इस कहानी में सिंमु एक खूबसूरत लड़की का वेश धारण करके दो बच्चों के पिता को अपने वश में कर लेती है। दोनों बच्चों को वह खाना चाहती है मगर सिंमु जब इसमें विफल हो जाती है तो अपने ही पति का रक्त दिन-ब-दिन चूसती रहती है क्योंकि बिना रक्त के वह जीवित नहीं रह पाती। इस तरह पति अपनी अंतिम साँसे गिन रहा होता है कि तभी एक बौद्ध लामा वहां से गुजरता है। वहां की परिस्थिति को समझकर लामा द्वारा एक योजना बनायी जाती है। वह सिंमु से कहता है कि तुम्हें तीन दिनों तक गुरु का मंत्र जप करना होगा। तभी तुम्हारा पति ठीक हो पायेगा। सिंमु लामा के कहे अनुसार कार्य करती है। तीसरे दिन सिंमु की झोपड़ी में आग लगा दी जाती है। कुछ दिनों बाद उस जमीन पर एक तम्कु (तंबाकू) का पौधा उगता है। इस तरह कहा जाता है कि तम्बाकू सिंमु से उत्पन्न हुआ। उसका एक रूप तो नष्ट हो जाता है किन्तु दुईलांगदर की ही तरह वह बुराई को किसी न किसी रूप में छोड़ जाती है।

इन बौद्ध जनजातियों के सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन में लामा लोग महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। लामा इस समाज के पथ-प्रदर्शक, आध्यात्मिक गुरु, अभिभावक और दिशा निर्देशक होते हैं। लामाओं की इस महत्वपूर्ण भूमिका को इस आधार पर समझा जा सकता है कि वे धार्मिक संरचना और सामाजिक संरचना के बीच सेतु का कार्य करते हैं। इसीलिए इन लोक-कथाओं में बार-बार लामाओं का जिक्र आता है। इनकी इस भूमिका के कारण ही लोक-साहित्य पर भी इनके प्रभाव को देखा जा सकता है। ऐसी लोक-कथाओं के माध्यम से ही स्पष्ट होता है कि मोन्पा लोक-साहित्य और बौद्ध धर्म का अंतःसंबंध बहुत जीवंत किस्म का है। दोनों ने इसे एक स्तर पर स्वीकार के भाव से विकसित किया है।

संदर्भ :-

[1] द ग्रेट गेम इन द बुद्धिस्ट हिमालयाज: इंडिया एंड चाइनास क्वेस्ट फॉर स्ट्रेटेजिक डोमिनन्स, फुनचोक स्तोब्दन, पेंगुइन रैंडम हाउस इंडिया, पृ- 2

[2]द ग्रेट गेम इन द बुद्धिस्ट हिमालयाज: इंडिया एंड चाइनास क्वेस्ट फॉर स्ट्रेटेजिक डोमिनन्स, फुनचोक स्तोब्दन, पेंगुइन रैंडम हाउस इंडिया, पृ- 2

[3] द ग्रेट गेम इन द बुद्धिस्ट हिमालयाज: इंडिया एंड चाइनास क्वेस्ट फॉर स्ट्रेटेजिक डोमिनन्स, फुनचोक स्तोब्दन, पेंगुइन रैंडम हाउस इंडिया, पृ- 2

[4] द मोन्पास ऑफ़ अरुणाचल प्रदेश, डी.के.दुआरह, डायरेक्टरेट ऑफ़ रिसर्च, ईटानगर, पृ- 16

[5] मेराक लामा लोद्रे ग्यात्सो 17वीं सदी के एक प्रमुख तिब्बती बौद्ध भिक्षु थे जिन्होंने 5वें दलाई लामा की इच्छा पर 1680-1681 में भारत के अरुणाचल प्रदेश में प्रसिद्ध तवांग मठ की स्थापना की। वे गेलुग संप्रदाय से संबंधित थे और उन्हें बौद्ध शिक्षाओं के प्रसार के लिए जाना जाता है।

[6] शोधार्थी द्वारा संकलित लोक-कथा 'लामा कातय्या' [श्री दावा त्सेरिंग लामा, गाँव- डेमाचांग (कलकतांग)], मंगलवार, 17/09/2024, 5:30pm

[7] शोधार्थी द्वारा संकलित लोक-कथा 'दुइलांगदर' [श्रीमती देछिन पेमा, गाँव- डेमाचांग (कलकतांग)], रविवार, 8/12/2024, 7:30pm

[8] चाँद का मुंह टेढ़ा है, गजानन माधव मुक्तिबोध, भारतीय ज्ञानपीठ, 'अँधेरे में' कविता, पृष्ठ- 266

[9] शोधार्थी द्वारा संकलित लोक-कथा 'दुइलांगदर' [श्रीमती देछिन पेमा, गाँव- डेमाचांग (कलकतांग)], रविवार, 8/12/2024, 7:30pm

[10] एक प्रकार का नृत्य जो बुराई को नष्ट करने के लिए किया जाता है और यह नृत्य पूरे बौद्ध समाज में आज भी प्रचलित है।

[11] शोधार्थी द्वारा संकलित लोक-कथा 'दुई-तम्कु' [श्रीमती देछिन पेमा, गाँव- डेमाचांग (कलकतांग)], सोमवार, 9/12/2024, 6:00pm

GRP बनारस डीआईआर केस (1944): औपनिवेशिक सुरक्षा तंत्र और भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की अंतर्धाराएँ

डॉ. आलोक कुमार*
alok.dsmru@gmail.com

अनुज कुमार वर्मा†
anujkumarannu06@gmail.com

सारांश -

1942 के भारत छोड़ो आंदोलन के बाद भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की पृष्ठभूमि में ब्रिटिश प्रशासन में असंतोष और असुरक्षा स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगती है तथा उसे चारों ओर राष्ट्रवादी हस्तक्षेप का आभास होने लगता है; भारतीय रेल भी इससे अछूती नहीं रही। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान भारतीय रेलवे ब्रिटिश साम्राज्य की सैन्य आपूर्ति व्यवस्था की आधारशिला थी, इसलिए रेलवे से जुड़ी किसी भी अनियमितता को औपनिवेशिक राज्य ने साधारण प्रशासनिक चूक न मानकर संभावित राजनीतिक और राष्ट्रवादी साज़िश के रूप में देखा। लेख यह तर्क प्रस्तुत करता है कि यह प्रकरण केवल युद्धकालीन सुरक्षा उल्लंघन नहीं था, बल्कि औपनिवेशिक शासन की संरचनात्मक कमजोरियों, भारतीय कर्मचारियों के प्रति अविश्वास और राष्ट्रवादी चेतना के प्रभाव को उजागर करने वाला एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक उदाहरण था। अध्ययन का उद्देश्य यह दिखाना है कि किस प्रकार GRP, CID और सैन्य अधिकारियों के माध्यम से संचालित औपनिवेशिक जाँच तंत्र ने प्रशासनिक लापरवाही को राजनीतिक अपराध में रूपांतरित किया। साथ ही, यह शोध 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन के बाद ब्रिटिश प्रशासन की बढ़ती असुरक्षा और दमनकारी कानूनों के प्रयोग को समझने में सहायक है।

बीज शब्द:-

औपनिवेशिक शासन, भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन, GRP बनारस डीआईआर केस, रेलवे और युद्धकालीन सुरक्षा, डिफेन्स ऑफ़ इंडिया रूल्स, राष्ट्रवादी चेतना

प्रस्तावना

सन 1944 भारतीय उपमहाद्वीप के इतिहास में असाधारण तनाव और उथल-पुथल का समय था। द्वितीय विश्व युद्ध अपने निर्णायक चरण में पहुँच चुका था और भारत ब्रिटिश साम्राज्य के लिए एक प्रमुख सैन्य एवं रसद केंद्र के रूप में कार्य कर रहा था। बर्मा मोर्चे पर जापानी सेना के विरुद्ध संघर्ष और चीन तक सैन्य सामग्री पहुँचाने के लिए भारतीय रेलवे नेटवर्क पर अत्यधिक दबाव था। इस पूरे तंत्र की रीढ़ रेलवे थी, जिसके माध्यम से हथियार, गोला-बारूद और सैन्य उपकरण हजारों किलोमीटर दूर तक पहुँचाए जाते थे। ऐसे समय में रेलवे की सुरक्षा केवल प्रशासनिक नहीं, बल्कि साम्राज्य की सैन्य रणनीति का केंद्रीय प्रश्न बन चुकी थी[1]। इसी संदर्भ में 1944 का GRP बनारस छावनी डीआईआर (Defence of India Rules) केस विशेष महत्व रखता है। यह मामला पहली दृष्टि में एक प्रशासनिक लापरवाही प्रतीत हो सकता है, किंतु गहराई से देखने पर यह औपनिवेशिक शासन की संरचनात्मक कमजोरियों, भारतीय कर्मचारियों के प्रति अविश्वास और राष्ट्रवादी पृष्ठभूमि में उभरते प्रतिरोध की आशंकाओं को उजागर करता है[2]।

* **सह आचार्य, इतिहास एवं पुरातत्व विभाग, डॉ. शकुंतला मिश्रा राष्ट्रीय पुनर्वास विश्वविद्यालय, लखनऊ**

† **शोधार्थी, इतिहास एवं पुरातत्व विभाग, डॉ. शकुंतला मिश्रा राष्ट्रीय पुनर्वास विश्वविद्यालय, लखनऊ**

भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के इतिहासलेखन में प्रायः बड़े और चर्चित घटनाक्रमों पर ही ध्यान केंद्रित किया गया है, जबकि अपेक्षाकृत छोटे किंतु महत्त्वपूर्ण घटनाओं को अक्सर भुला दिया जाता है। काकोरी ट्रेन षड्यंत्र जैसी घटनाएँ विद्वानों के विशेष ध्यान का विषय रही हैं, परंतु इसके अतिरिक्त भी अनेक ऐसे प्रसंग हैं जिन्होंने स्वतंत्रता संग्राम की दिशा को प्रभावित किया। यह लेख तर्क प्रस्तुत करता है कि GRP बनारस डीआईआर केस (1944) ऐसा ही एक उपेक्षित लेकिन महत्त्वपूर्ण प्रकरण है। यद्यपि यह घटना उतनी नाटकीय या प्रसिद्ध नहीं रही, फिर भी यह औपनिवेशिक दमन की दैनिक कार्यप्रणाली, युद्धकालीन असुरक्षाओं तथा रेलवे जैसे रणनीतिक तंत्रों में व्याप्त राष्ट्रवादी चेतना को स्पष्ट रूप से उजागर करती है। इस प्रकार, GRP बनारस डीआईआर केस भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष की बहुस्तरीय और जटिल प्रकृति को समझने में एक महत्त्वपूर्ण योगदान देता है। इस प्रकरण की जड़ पुणे के निकट स्थित देहू रोड आयुध डिपो से जुड़ी थी, जो ब्रिटिश भारतीय सेना का एक प्रमुख हथियार भंडारगृह था। अक्टूबर 1944 में यहाँ से बनारस छावनी के लिए एक संवेदनशील सैन्य खेप रवाना की गई, जिसमें मोटर स्नेक बमों की दूसरी खेप और पचास पैकेज शेल सम्मिलित थे। इस खेप को 'पीस गुड्स' की श्रेणी में दर्ज किया गया और 4 अक्टूबर 1944 को यह देहू रोड स्टेशन से रवाना हुई। उसी वैन में नवशेरा, रावलपिंडी, परगापुर और जमालपुर जैसे रणनीतिक स्थलों के लिए भी सामग्री लदी हुई थी। प्रारंभिक चरण में यह यात्रा सामान्य प्रतीत होती है। वैन को सीलबंद किया गया और औपचारिक प्रक्रियाओं का पालन किया गया। किंतु हराज जंक्शन पर ट्रांसशिपमेंट के दौरान गंभीर प्रशासनिक चूक हुई। रेलवे कर्मचारियों ने वैन को 'मिसडिक्लेयर्ड' मान लिया और उसमें कुछ नागरिक पैकेज जोड़ दिए। यह केवल तकनीकी गलती नहीं थी, बल्कि सैन्य सुरक्षा मानकों का सीधा उल्लंघन था। इस चूक के कारण वैन इलाहाबाद पहुँची, जहाँ उसे आंशिक रूप से खोला गया और पुनः सीलबंद किया गया[3]।

यहीं से इस मामले की गंभीरता बढ़ने लगती है। मुगलसराय जंक्शन पर अनलोडिंग के समय यह पाया गया कि बमों और शेल्स के कुछ पैकेज क्षतिग्रस्त हो चुके हैं। प्रारंभिक जाँच में संख्या पूरी थी, परंतु गहन निरीक्षण में यह चौंकाने वाला तथ्य सामने आया कि एक पैकेज से प्राइमरी कारतूस निकालकर उसकी जगह एक वाणिज्यिक डिटोनेटर लगाया गया था। यह साधारण लापरवाही नहीं थी; यह स्पष्ट रूप से योजनाबद्ध छेड़छाड़ का संकेत देता था। भारतीय राष्ट्रीय दृष्टिकोण से यह घटना अत्यंत अर्थपूर्ण है। 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन के बाद ब्रिटिश प्रशासन निरंतर असुरक्षा-बोध से ग्रस्त था। रेलवे, डाक और पुलिस तंत्र पर हुए हमलों ने यह स्पष्ट कर दिया था कि औपनिवेशिक शासन केवल राजनीतिक ही नहीं, बल्कि संरचनात्मक संकट में भी है। भले ही 1944 तक आंदोलन की खुली गतिविधियाँ कम हो गई हों, किंतु भूमिगत राष्ट्रवादी और क्रांतिकारी नेटवर्क की आशंका प्रशासन के मानस पर हावी थी[4]।

इस केस की जाँच का दायित्व सरकारी रेलवे पुलिस (GRP) बनारस छावनी, सीआईडी उत्तर प्रदेश, और सीआईडी पुणे को सौंपा गया। सेना ने भी अपने आयुध विशेषज्ञ भेजे। जाँच से यह तो स्पष्ट हो गया कि क्षति सामान्य हैंडलिंग से नहीं हुई थी, किंतु यह निर्धारित नहीं किया जा सका कि छेड़छाड़ कहाँ और किसके द्वारा की गई। यही वह बिंदु है जो इस केस को औपनिवेशिक शासन की विफलता का प्रतीक बनाता है। ब्रिटिश प्रशासन ने इस पूरे मामले को संदेह की दृष्टि से देखा। भारतीय कर्मचारियों की भूमिका पर अप्रत्यक्ष रूप से सवाल उठाए गए। यह आशंका व्यक्त की गई कि कहीं रेलवे कर्मचारी राष्ट्रवादी तत्वों के प्रति सहानुभूति रखते हुए जानबूझकर ढिलाई तो नहीं बरत रहे। भारतीय राष्ट्रीय दृष्टिकोण से यह औपनिवेशिक मानसिकता का परिचायक है, जिसमें हर प्रशासनिक चूक को राजनीतिक साजिश के चश्मे से देखा जाता था, जबकि शासन की संरचनात्मक अक्षमताओं को स्वीकार करने से बचा जाता था। जाँच रिपोर्टों में हराज जंक्शन पर क्लर्क की लापरवाही को मुख्य कड़ी माना गया, किंतु उच्च अधिकारियों की जिम्मेदारी पर कोई ठोस कार्रवाई नहीं हुई। इससे स्पष्ट होता है कि औपनिवेशिक शासन में जवाबदेही का भार प्रायः निचले स्तर के भारतीय कर्मचारियों पर ही डाला जाता था। यह केस एक प्रकार के "सिस्टम फेल्योर" को उजागर करता है, जहाँ सैन्य, रेलवे और पुलिस तंत्र के बीच समन्वय का अभाव था।

भारतीय राष्ट्रवादी दृष्टि से यह घटना केवल एक सुरक्षा चूक नहीं, बल्कि युद्धकालीन औपनिवेशिक शासन की अंतर्विरोधपूर्ण स्थिति का प्रमाण है। एक ओर ब्रिटिश सरकार भारत को साम्राज्य की रक्षा का आधार बना रही थी, दूसरी ओर भारतीय समाज में असंतोष, अविश्वास और स्वतंत्रता की आकांक्षा लगातार बढ़ रही थी। रेलवे जैसे तंत्र, जो साम्राज्य की शक्ति का प्रतीक थे, वही तंत्र उसकी कमजोरी भी उजागर कर रहे थे।

औपनिवेशिक राज्य, दमनकारी जाँच तंत्र और राष्ट्रवादी संदिग्धता

औपनिवेशिक शासन के दौरान रेलवे से संबंधित किसी भी संदिग्ध गतिविधि की जाँच केवल आपराधिक प्रक्रिया नहीं थी, बल्कि वह ब्रिटिश राज्य की राजनीतिक और सामरिक चिंताओं से गहराई से जुड़ी होती थी। प्रस्तुत प्रकरण में प्रारम्भिक जाँच बनारस कैंट रेलवे पुलिस (G.R.P. Banaras Cantt.) द्वारा की गई, किंतु शीघ्र ही यह मामला स्थानीय अपराध की सीमा से बाहर निकलकर औपनिवेशिक सत्ता की सुरक्षा से जुड़ा विषय बन गया। हथियारों और सैन्य गोला-बारूद से संबंधित किसी भी अनियमितता को ब्रिटिश प्रशासन संभावित राष्ट्रवादी षड्यंत्र के रूप में देखने लगा था।

इसी कारण जाँच का दायित्व सीआईडी क्राइम ब्रांच, पूना को सौंपा गया तथा एसपी सीआईडी (यूपी) इन्वेस्टिगेशन ब्रांच द्वारा समानान्तर जाँच की गई। यह बहुस्तरीय जाँच तंत्र औपनिवेशिक राज्य की उस प्रवृत्ति को दर्शाता है, जिसमें सामान्य प्रशासनिक लापरवाही को भी राजनीतिक अपराध में रूपांतरित कर दिया जाता था। रेलवे कर्मचारियों, जैसे लोडिंग क्लर्क, निरीक्षण अधिकारी और अन्य तकनीकी स्टाफ, से कठोर पूछताछ की गई और काग़ज़ी त्रुटियों को जानबूझकर की गई गड़बड़ी के रूप में व्याख्यायित किया गया[5]।

भारतीय राष्ट्रीय दृष्टिकोण से देखें तो यह जाँच प्रक्रिया औपनिवेशिक शासन की असुरक्षा और अविश्वास की मानसिकता को उजागर करती है। युद्धकालीन गोपनीयता (Wartime Secrecy) के नाम पर सूचना को दबाना, प्रेस को नियंत्रित करना और रिपोर्टों को केवल उच्च प्रशासनिक स्तर तक सीमित रखना, दरअसल जनता को सच्चाई से दूर रखने और किसी भी प्रकार के राष्ट्रवादी उभार को कुचलने की रणनीति थी। इस प्रकार, जाँच तंत्र एक निष्पक्ष कानूनी प्रक्रिया न होकर औपनिवेशिक प्रभुत्व बनाए रखने का उपकरण बन गया।

रेलवे, युद्धकालीन सामरिक महत्त्व और औपनिवेशिक कानूनों का राजनीतिक प्रयोग

द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान भारतीय रेलवे ब्रिटिश साम्राज्य की सैन्य आपूर्ति व्यवस्था की जीवनरेखा थी। हथियार, गोला-बारूद और सैन्य रसद का परिवहन रेलवे के माध्यम से ही होता था। ऐसे में मालगाड़ियों से जुड़ी किसी भी अनियमितता को ब्रिटिश सरकार ने केवल प्रशासनिक विफलता नहीं, बल्कि सीधे सामरिक संकट के रूप में देखा। औपनिवेशिक सत्ता को आशंका थी कि इस प्रकार की घटनाएँ भूमिगत राष्ट्रवादी या क्रांतिकारी संगठनों द्वारा की जा रही गतिविधियों का हिस्सा हो सकती हैं[6]।

1942 के भारत छोड़ो आंदोलन के बाद रेलवे ढाँचे पर हमले, पटरियाँ उखाड़ने और ट्रेनों को बाधित करने की घटनाओं ने ब्रिटिश प्रशासन को और अधिक सशंकित बना दिया था। इस पृष्ठभूमि में सैन्य सामग्री से छेड़छाड़ की किसी भी घटना को 'साबोटाज' और 'देशद्रोह' के समकक्ष अपराध माना गया। भारतीय राष्ट्रीय दृष्टिकोण से यह स्पष्ट होता है कि औपनिवेशिक सरकार सुरक्षा के नाम पर असाधारण कानूनों का प्रयोग कर रही थी। कानूनी स्तर पर ऐसे मामलों को सामान्य आपराधिक न्याय व्यवस्था से बाहर रखकर डिफेंस ऑफ़ इंडिया रूल्स, 1939 के अंतर्गत लाया जाता था। इन नियमों ने सरकार को बिना मुकदमे के गिरफ़्तारी, गुप्त सुनवाई और प्रेस सेंसरशिप जैसी असीम शक्तियाँ प्रदान कीं। परिणामस्वरूप, रेलवे कर्मचारी, श्रमिक और आम भारतीय नागरिक औपनिवेशिक कानूनों के दमनकारी शिकंजे में आ गए[7]।

प्रशासनिक दृष्टि से भी यह प्रकरण रेलवे व्यवस्था में व्याप्त संरचनात्मक कमजोरियों को उजागर करता है, किंतु औपनिवेशिक सरकार ने इन कमजोरियों को स्वीकार करने के बजाय दोष व्यक्तिगत कर्मचारियों या कथित राष्ट्रवादी साज़िशों पर मढ़ दिया। भारतीय राष्ट्रीय दृष्टिकोण से यह स्पष्ट है कि रेलवे और युद्धकालीन कानूनों का प्रयोग केवल सैन्य सुरक्षा के लिए नहीं, बल्कि स्वतंत्रता आंदोलन को नियंत्रित करने और भय का वातावरण बनाए रखने के लिए किया गया।

निष्कर्ष:

GRP बनारस डीआईआर केस (1944) को भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के संदर्भ में देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह प्रकरण केवल युद्धकालीन प्रशासनिक चूक या रेलवे से जुड़ा एक आपराधिक मामला नहीं था, बल्कि औपनिवेशिक शासन की गहरी असुरक्षा, संरचनात्मक कमजोरी और राष्ट्रवादी चुनौती के प्रभाव का दर्पण था। द्वितीय विश्वयुद्ध के अंतिम

वर्षों में, जब ब्रिटिश सत्ता भारत को साम्राज्य की सैन्य जीवनरेखा के रूप में उपयोग कर रही थी, उसी समय भारतीय समाज में स्वतंत्रता की चेतना एक अंतर्निहित और व्यापक रूप ले चुकी थी।

इस केस ने यह उजागर किया कि 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन के बाद भले ही खुला जन-आंदोलन कमजोर पड़ा हो, किंतु राष्ट्रवादी प्रभाव प्रशासनिक और औद्योगिक ढाँचों के भीतर गहराई तक प्रवेश कर चुका था। रेलवे, जिसे ब्रिटिश सत्ता अपनी सबसे मज़बूत और नियंत्रित संस्थाओं में से एक मानती थी, उसी तंत्र में अव्यवस्था, अविश्वास और भय स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। औपनिवेशिक राज्य द्वारा हर तकनीकी त्रुटि को संभावित राष्ट्रवादी षड्यंत्र के रूप में देखना इस बात का प्रमाण है कि भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन ने ब्रिटिश शासन की वैधता और आत्मविश्वास दोनों को गंभीर रूप से चुनौती दी थी। भारतीय राष्ट्रीय दृष्टिकोण से यह प्रकरण यह भी दर्शाता है कि औपनिवेशिक प्रशासन अपने ही तंत्र की विफलताओं को स्वीकार करने के बजाय, संदेह और दमन की राजनीति का सहारा ले रहा था। डिफेंस ऑफ़ इंडिया रूल्स जैसे कठोर कानूनों का प्रयोग सुरक्षा से अधिक राजनीतिक नियंत्रण का साधन बन चुका था। भारतीय कर्मचारियों के प्रति अविश्वास और निचले स्तर के कर्मियों पर दोषारोपण यह दर्शाता है कि औपनिवेशिक सत्ता नस्लीय और औपनिवेशिक पूर्वाग्रहों से ग्रस्त थी, जो राष्ट्रीय आंदोलन के प्रभाव से और अधिक तीव्र हो गए थे।

सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि यह केस औपनिवेशिक शासन और भारतीय राष्ट्रवाद के बीच उस मौन टकराव को उजागर करता है, जो युद्धकाल में प्रत्यक्ष विद्रोह के रूप में नहीं, बल्कि प्रशासनिक तंत्र के भीतर तनाव, शंका और विघटन के रूप में प्रकट हुआ। रेलवे जैसे साम्राज्यवादी शक्ति-प्रतीक का अस्थिर होना यह संकेत देता है कि ब्रिटिश शासन केवल राजनीतिक मोर्चे पर ही नहीं, बल्कि संस्थागत और मनोवैज्ञानिक स्तर पर भी कमजोर पड़ चुका था। GRP बनारस डीआईआर केस (1944) भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के प्रभाव को समझने के लिए एक महत्त्वपूर्ण सूक्ष्म ऐतिहासिक उदाहरण प्रस्तुत करता है। यह दिखाता है कि स्वतंत्रता संग्राम केवल जनसभाओं, आंदोलनों या राजनीतिक प्रस्तावों तक सीमित नहीं था, बल्कि उसने औपनिवेशिक शासन की रोज़मर्रा की कार्यप्रणालियों, सुरक्षा संरचनाओं और प्रशासनिक आत्मविश्वास को भीतर से खोखला कर दिया था। इसी प्रकार की अंतर्निहित अस्थिरताओं ने अंततः ब्रिटिश सत्ता के पतन और भारत की स्वतंत्रता की ऐतिहासिक प्रक्रिया को गति प्रदान की।

संदर्भ :

[1] केअर, आई. जे. (1995). *बिल्डिंग द रेलवेज़ ऑफ़ द राज, 1850–1900*. दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ. 214-217.

[2] सरकारी रेलवे पुलिस. (1944). *जीआरपी बनारस डीआईआर केस, 1944* (अपराध संख्या 253, नियम 35 के अंतर्गत, डिफेन्स ऑफ़ इंडिया रूल्स, थाना बनारस छावनी). उप–महानिरीक्षक, सीआईडी क्राइम ब्रांच, पूना को प्रस्तुत रिपोर्ट.

[3] सरकारी रेलवे पुलिस. (1944). *जीआरपी बनारस डीआईआर केस, 1944* (अपराध संख्या 253, नियम 35 के अंतर्गत, डिफेन्स ऑफ़ इंडिया रूल्स, थाना बनारस छावनी). उप–महानिरीक्षक, सीआईडी क्राइम ब्रांच, पूना को प्रस्तुत रिपोर्ट.

[4]टालबॉट, आई., एवं सिंह, जी. (2009). *द पार्टिशन ऑफ़ इंडिया*. कैम्ब्रिज: कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ. 32–35.

[5] सरकारी रेलवे पुलिस. (1944). *जीआरपी बनारस डीआईआर केस, 1944* (अपराध संख्या 253, नियम 35 के अंतर्गत, डिफेन्स ऑफ़ इंडिया रूल्स, थाना बनारस छावनी). उप–महानिरीक्षक, सीआईडी क्राइम ब्रांच, पूना को प्रस्तुत रिपोर्ट.

[6] केअर, आई. जे. (1995). *बिल्डिंग द रेलवेज़ ऑफ़ द राज, 1850–1900*. दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ. 214–217.

[7] टालबॉट, आई., एवं सिंह, जी. (2009). द *पार्टिशन ऑफ़ इंडिया*. कैम्ब्रिज: कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ. 32–35.

अन्य संदर्भ

केअर, आई. जे. (1995). *बिल्डिंग द रेलवेज़ ऑफ़ द राज, 1850–1900.* दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ. 214–217.

टालबॉट, आई., एवं सिंह, जी. (2009). द *पार्टिशन ऑफ़ इंडिया.* कैम्ब्रिज: कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ. 32–35.

सरकारी रेलवे पुलिस. (1944). *जीआरपी बनारस डीआईआर केस, 1944* (अपराध संख्या 253, नियम 35 के अंतर्गत, डिफेन्स ऑफ़ इंडिया रूल्स; थाना बनारस छावनी). उप-महानिरीक्षक, सीआईडी क्राइम ब्रांच, पूना को प्रस्तुत रिपोर्ट. अभिलेखीय अभिलेख.

अर्नोल्ड, डी. (2013). *ब्रिटिश इंडिया एंड द रेलवेज़: पावर, पॉलिटिक्स एंड टेक्नोलॉजी.* नई दिल्ली: स्थायी प्रकाशन.

चक्रवर्ती, एस. (2001). *नेशनलिज़्म, रेलवे एंड कोलोनियल कंट्रोल इन इंडिया.* कोलकाता: के. पी. बागची एंड कंपनी.

ब्राउन, जे. एम. (1994). *मॉडर्न इंडिया: द ओरिजिन्स ऑफ़ एन एशियन डेमोक्रेसी.* ऑक्सफोर्ड: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

पांडे, जी. (1992). द *कंस्ट्रक्शन ऑफ़ कोलोनियल डिस्कोर्स.* दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

भारत सरकार. (1939). *डिफेन्स ऑफ़ इंडिया रूल्स.* नई दिल्ली: गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया प्रेस.

कूर्म पुराण : सांस्कृतिक दृष्टि से एक विश्लेषण

एकता पांडे* **प्रो. अवनीश चन्द्र मिश्रा†**

सारांश

कूर्म पुराण हिन्दू धर्म के अठारह महापुराणों में से एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है, जिसमें विविध पौराणिक, दार्शनिक और सांस्कृतिक कथाएँ समाहित हैं। यह अध्ययन कूर्म पुराण का सांस्कृतिक दृष्टिकोण से विश्लेषण करता है, जिसमें इसके धार्मिक परंपराओं, नैतिक मूल्यों और सामाजिक संरचनाओं में योगदान को समझने का प्रयास किया गया है। यह ग्रंथ धर्म, सृष्टि, और अनुष्ठानों पर महत्वपूर्ण चर्चा प्रस्तुत करता है, जो प्राचीन भारतीय समाज की सामाजिक और धार्मिक संरचना को प्रतिबिंबित करता है। इस शोध में पुराण की कथाओं के माध्यम से सांस्कृतिक पहचान, पारंपरिक मूल्यों, कला, साहित्य और लोककथाओं पर इसके प्रभाव को रेखांकित किया गया है। साथ ही, पौराणिक विषयों और ऐतिहासिक संदर्भों के बीच की अंतर्संबंधता को स्पष्ट किया गया है, जिससे कूर्म पुराण की सांस्कृतिक विरासत में भूमिका को समझा जा सके। इस अध्ययन के माध्यम से ग्रंथ के दार्शनिक और अनुष्ठानिक पहलुओं का व्यापक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है, जिससे इसके सांस्कृतिक महत्व और हिंदू परंपराओं पर इसके स्थायी प्रभाव को उजागर किया जा सके।

संकेत शब्द: *कूर्म पुराण, सांस्कृतिक अध्ययन, हिंदू पौराणिकता, धार्मिक परंपराएँ, सामाजिक संरचना, धर्म, भारतीय विरासत*

परिचय –

इस शोध का मुख्य उद्देश्य *कूर्म पुराण* का सांस्कृतिक दृष्टिकोण से अध्ययन करना है, जिसमें इसके धार्मिक, दार्शनिक एवं सामाजिक पक्षों का विश्लेषण किया जाएगा। *कूर्म पुराण* न केवल हिंदू धर्म के प्रमुख अठारह महापुराणों में से एक है, बल्कि यह भारतीय सांस्कृतिक विरासत का महत्वपूर्ण ग्रंथ भी है। इस शोध के माध्यम से *कूर्म पुराण* में वर्णित धार्मिक उपदेशों, वर्णाश्रम व्यवस्था, योग, पौराणिक कथाओं, तीर्थों की महिमा एवं जीवनशैली से संबंधित शिक्षाओं का अध्ययन किया जाएगा।

कूर्म पुराण का प्रथम उपदेश स्वयं भगवान विष्णु ने अपने *कूर्म अवतार* (कच्छप रूप) में नारद को दिया था। तत्पश्चात नारद ने इसे सूतजी को सुनाया और बाद में सूतजी ने इसे ऋषियों की सभा में प्रस्तुत किया। मूलतः यह पुराण चार संहिताओं—ब्रह्म संहिता, भगवती संहिता, गौरी संहिता और वैष्णवी संहिता में विभाजित था, लेकिन वर्तमान में केवल *ब्रह्म संहिता* ही उपलब्ध है। वर्तमान संस्करण दो भागों में विभाजित है—पूर्व भाग और उत्तर भाग। पूर्व भाग में इंद्रद्युम्न की कथा, *कूर्म पुराण* का वर्णन, वर्णाश्रम व्यवस्था, भौगोलिक संरचना, विभिन्न अवतारों का वर्णन, दैवीय उपदेश, मन्वंतर, हिरण्यकशिपु वध, वामन अवतार, राम और कृष्ण अवतार, चारों युगों (सत्य, त्रेता, द्वापर, कलि) की विशेषताएँ, वाराणसी एवं अन्य तीर्थ स्थलों की महिमा का उल्लेख किया गया है। वहीं, उत्तर भाग में अज्ञेय ज्ञान, तांडव के दौरान रुद्र की उपस्थिति, आध्यात्मिक ज्ञान, अष्टांग योग, ब्रह्मचर्य एवं वानप्रस्थ आश्रम के कर्तव्य, भोजन संबंधी नियम, प्रायश्चित विधियाँ तथा विभिन्न तीर्थों की महिमा का वर्णन मिलता है। इस पुराण में कुल 35 अध्याय हैं।

कूर्म पुराण भारतीय धार्मिक और सांस्कृतिक परंपराओं का एक महत्वपूर्ण स्रोत है। इसमें वर्णाश्रम व्यवस्था, धर्म और आचार संहिता, योग एवं आध्यात्मिक साधना, तथा तीर्थयात्राओं की महत्ता को विशेष रूप से दर्शाया गया है। यह पुराण हिंदू

* **शोधार्थी, इतिहास एवं पुरातत्व विभाग, डॉ. शकुंतला मिश्रा राष्ट्रीय पुनर्वास विश्वविद्यालय, लखनऊ**

† **प्रोफेसर, इतिहास एवं पुरातत्व विभाग, डॉ. शकुंतला मिश्रा राष्ट्रीय पुनर्वास विश्वविद्यालय, लखनऊ**

समाज की जीवनशैली, नैतिकता और धार्मिक अनुष्ठानों को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करता है। इसके साथ ही, यह ग्रंथ भारतीय मिथकों और ऐतिहासिक घटनाओं को भी दर्शाता है, जो तत्कालीन समाज की संरचना और मूल्यों को समझने में सहायक है। अतः यह शोध *कूर्म पुराण* के माध्यम से भारतीय संस्कृति के उन महत्वपूर्ण पहलुओं का अध्ययन करेगा, जो समाज, धर्म, दर्शन और इतिहास की दृष्टि से अत्यंत उपयोगी हैं।

कूर्म पुराण की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि –

कूर्म पुराण हिंदू धर्म के अठारह महापुराणों में से एक है और यह वैष्णव परंपरा से जुड़ा हुआ एक मध्यकालीन ग्रंथ है। इस पुराण का नाम भगवान विष्णु के *कूर्म अवतार* (कच्छप रूप) पर आधारित है। हालाँकि, इस पुराण के विभिन्न संस्करण उपलब्ध हैं और इसकी रचना तथा संकलन की सटीक तिथि को निर्धारित करना कठिन है। इसकी रचना संभवतः 8वीं शताब्दी ईस्वी के प्रारंभ में हुई थी, जिसके बाद यह कई शताब्दियों तक संशोधित होता रहा। अन्य पुराणों की भाँति, यह भी एक संकलित साहित्य है, जिसमें विभिन्न समयों पर नए अध्याय जोड़े गए। विद्वानों का मत है कि इस ग्रंथ का विकास एक ही समय में नहीं हुआ, बल्कि विभिन्न कालखंडों में विभिन्न लेखकों द्वारा इसका विस्तार किया गया। कॉर्नेलिया डिम्मिट और जे.ए.बी. वैन बुइटनन के अनुसार, पुराण साहित्य को एक विशाल ग्रंथालय के रूप में देखा जा सकता है, जिसमें समय-समय पर विभिन्न ऐतिहासिक कालों में नई सामग्री जोड़ी जाती रही। इसी कारण किसी भी पुराण के लिए निश्चित तिथि या लेखक का निर्धारण करना कठिन होता है।

कूर्म पुराण की पांडुलिपियाँ विभिन्न रूपों में आधुनिक युग तक संरक्षित रही हैं, और इसके अध्यायों की संख्या विभिन्न संस्करणों में भिन्न-भिन्न मिलती है। पारंपरिक मान्यता के अनुसार, इस पुराण में लगभग 17,000 श्लोक थे, लेकिन वर्तमान में उपलब्ध प्रतियों में लगभग 6,000 श्लोक ही पाए जाते हैं। इस पुराण में कुल दो भाग होते हैं—पूर्व विभाग और उत्तरीय विभाग। पूर्व विभाग में 51 अध्याय होते हैं, जबकि उत्तरीय विभाग में 44 अध्याय होते हैं। इसके विभिन्न संस्करणों में अध्यायों की संख्या में अंतर पाया जाता है, लेकिन समग्र रूप से इसका विभाजन दो प्रमुख भागों में किया गया है।

यद्यपि *कूर्म पुराण* एक वैष्णव ग्रंथ माना जाता है, परंतु इसमें केवल विष्णु की नहीं, बल्कि शिव और शक्ति की भी समान रूप से महिमा की गई है। इसमें तीर्थों, पौराणिक कथाओं, भूगोल, धर्मशास्त्र, तथा योग आदि का समावेश मिलता है। यह पुराण न केवल धार्मिक उपदेश प्रदान करता है, बल्कि इसमें *ईश्वर गीता* नामक एक दार्शनिक गीता भी समाहित है, जो भगवद गीता के समान ही दर्शन प्रस्तुत करती है। यह गीता *उत्तरीय विभाग* में संकलित है और इसमें शिव को उपदेशक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस गीता में आत्मा (आत्मन्), ब्रह्म, पुरुष, प्रकृति, माया, योग और मोक्ष की विस्तृत व्याख्या की गई है। इसके विचार अद्वैत वेदांत से प्रभावित हैं और यह भक्ति योग के माध्यम से किसी भी वर्ण के व्यक्ति के लिए मोक्ष प्राप्ति को संभव बताती है। *पद्म पुराण* के अनुसार, *कूर्म पुराण* को तामस पुराण की श्रेणी में रखा गया है। हालांकि, विद्वानों का मानना है कि यह सत, रज और तम गुणों के आधार पर पुराणों के वर्गीकरण की एक काल्पनिक अवधारणा है, क्योंकि *कूर्म पुराण* के पाठ में ऐसा कोई विशेष संदर्भ नहीं मिलता, जो इसे तामस पुराण सिद्ध करता हो। यह पुराण वाराणसी के महत्वपूर्ण तीर्थ स्थलों का वर्णन प्रस्तुत करता है, जिसमें मुख्य रूप से *शैव स्थलों* का महत्व दर्शाया गया है। वहीं, पंचरात्र परंपरा के अंतर्गत *विष्णु* को प्रमुख रूप से दर्शाया गया है, लेकिन इसमें *श्री* (लक्ष्मी) को सर्वोच्च शक्ति के रूप में वर्णित किया गया है, जो विष्णु, शिव और ब्रह्मा सहित सभी देवताओं की ऊर्जा का स्रोत है।

अतः *कूर्म पुराण* एक बहुपरतीय और व्यापक ग्रंथ है, जिसमें विभिन्न युगों और परंपराओं के विचारों का समावेश मिलता है। यह पुराण न केवल हिंदू धार्मिक परंपराओं का वर्णन करता है, बल्कि दार्शनिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। इसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को समझते हुए यह स्पष्ट होता है कि इसकी रचना और संकलन विभिन्न समयों में हुआ, और इसके विभिन्न संस्करणों में संरचना में भिन्नता पाई जाती है। यह ग्रंथ धार्मिक, सांस्कृतिक और दार्शनिक अध्ययन के लिए अत्यंत उपयोगी है।

सांस्कृतिक पहलू –

कूर्म पुराण में समाज की संरचना, परंपराओं, रीति-रिवाजों और धार्मिक अनुष्ठानों का विस्तार से वर्णन किया गया है। इसमें वर्ण व्यवस्था, सामाजिक आचार-व्यवहार, धार्मिक विधानों और जीवन के विभिन्न आश्रमों में आचरण के नियमों को

प्रमुखता दी गई है। भारतीय धर्मशास्त्रों के अनुसार, समाज का आधार वर्णाश्रम व्यवस्था थी, जिसमें चारों वर्णों की उत्पत्ति ब्रह्मा से मानी गई है। *कूर्म पुराण* में उल्लेख मिलता है कि पितामह ब्रह्मा ने ब्राह्मणों को अपने मुख से, क्षत्रियों को भुजाओं से, वैश्यों को उरुओं से तथा शूद्रों को चरणों से उत्पन्न किया था—

"ससर्ज ब्राह्माणान् वक्त्रात् क्षत्रियांश्च भुजाद् विभुः।
वैश्यानूरूद्धयाद् देवः पादाच्छूद्रान पितामहः।। (1,2, 24)

इस वर्णन से स्पष्ट होता है कि भारतीय धर्मशास्त्रों ने समाज की उत्पत्ति परम ब्रह्म से स्वीकार की और इसे आदिकालीन तथा दैवीय संरचना माना। इस पुराण में वर्णाश्रम व्यवस्था को सामाजिक स्थिरता और धार्मिक अनुशासन बनाए रखने का आधार बताया गया है।

सृष्टि की उत्पत्ति ब्रह्मा से मानी गई है और सभी जड़-चेतन जीवों में ब्रह्म का अंश समाया हुआ है। इस दृष्टि से यह स्पष्ट होता है कि समस्त प्राणी ब्रह्म के ही अंश हैं और सभी का समान रूप से सम्मान किया जाना चाहिए। इसमें सांख्य योग और वेदांत दर्शन का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है, जो यह कहता है कि—

"विनम्र साधु पुरुष अपने वास्तविक ज्ञान के कारण विद्वान ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता और चांडाल को समान दृष्टि से देखते हैं।"

इस कथन का आशय यह है कि जो व्यक्ति समस्त प्राणियों में आत्मा को समान रूप से देखता है, वही पूर्ण योगी होता है और मोक्ष प्राप्त करता है।

विवाह हिंदू समाज की एक महत्वपूर्ण संस्था रही है, और *कूर्म पुराण* में विवाह के आठ प्रकारों का वर्णन मिलता है। ब्राह्म विवाह को सबसे उत्तम माना गया है, जिसमें कन्या का विवाह योग्य और विद्वान वर से बिना किसी दहेज के किया जाता है। दैव विवाह में कन्या का विवाह यज्ञ करने वाले ऋत्विज पुरोहित से किया जाता था। आर्ष विवाह में वर पक्ष द्वारा दो गायें या अन्य उपहार दिए जाते थे। प्राजापत्य विवाह में कन्या को यह कहकर विवाह में दिया जाता था कि "धर्मपूर्वक साथ रहो"। गांधर्व विवाह प्रेम विवाह के समान होता था, जिसमें युवक और युवती की परस्पर सहमति महत्वपूर्ण होती थी। आसुर विवाह में वर पक्ष कन्या के माता-पिता को धन देकर विवाह करता था। राक्षस विवाह में बलपूर्वक कन्या का हरण कर विवाह किया जाता था। पैशाच विवाह सबसे निंदनीय विवाह माना गया है, जिसमें छल-कपट या नशीली वस्तु खिलाकर विवाह किया जाता था। *कूर्म पुराण* में धार्मिक अनुष्ठानों और रीति-रिवाजों का विशेष उल्लेख मिलता है। इसमें चारों आश्रमों—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास—में जीवनयापन करने के नियमों का विस्तार से वर्णन किया गया है।

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा।

क्रमेणैवाश्रमाः प्रोक्ताः कारणादन्यथा भवेत् ॥ 2

गृहस्थ आश्रम में व्यक्ति को सत्य, धर्म और सदाचार का पालन करना चाहिए, जबकि वानप्रस्थ आश्रम में उसे सांसारिक मोह-माया से दूर होकर तपस्या करनी चाहिए। संन्यास आश्रम में व्यक्ति को आत्मज्ञान और मोक्ष की प्राप्ति के लिए ब्रह्म की उपासना करनी चाहिए।

इस पुराण में *सांख्य योग* के चौबीस तत्वों, सदाचार के नियमों, गायत्री महिमा, गृहस्थ धर्म, सामाजिक नियमों, विविध संस्कारों, श्राद्ध, पिंडदान आदि की विधियों का भी विस्तृत विवेचन किया गया है। यह पुराण धार्मिक अनुष्ठानों में आस्था रखने वाले व्यक्तियों के लिए एक मार्गदर्शक के रूप में कार्य करता है। *कूर्म पुराण* को *शैव पुराणों* की श्रेणी में रखा जाता है, लेकिन इसमें विष्णु की निंदा नहीं की गई है, बल्कि उनके प्रभाव को भी समान रूप से स्वीकार किया गया है। इसमें देवी माहात्म्य का भी व्यापक वर्णन मिलता है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि यह पुराण सगुण और निर्गुण दोनों रूपों में ब्रह्म की उपासना का समर्थन करता है।

कूर्म पुराण में नारी की भूमिका को समाज, धर्म और नैतिकता के संदर्भ में महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। इसमें स्त्रियों को गृहस्थ जीवन की धुरी माना गया है और उनकी गरिमा, पतिव्रत धर्म, सतीत्व और कर्तव्यपरायणता पर विशेष बल दिया गया है। पुराण में वर्णन मिलता है कि स्त्रियाँ समाज की आधारशिला होती हैं, और उनका आचरण परिवार तथा समाज की

समृद्धि में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। गृहस्थ धर्म में स्त्रियों को पति की सहयोगिनी, संतान की संरक्षिका और परिवार की धारण शक्ति के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसके साथ ही, यह भी उल्लेख किया गया है कि एक नारी अपने सद्गुणों, त्याग और सेवा भाव के माध्यम से समाज में सम्मान प्राप्त करती है।

कूर्म पुराण में यह भी बताया गया है कि नारी केवल पारिवारिक दायित्वों तक सीमित नहीं है, बल्कि उसे आध्यात्मिक और धार्मिक कर्तव्यों का पालन भी करना चाहिए। इसमें स्त्री के चारों आश्रमों में कर्तव्यों का उल्लेख है, जहाँ वह गृहस्थ आश्रम में पति के साथ धार्मिक अनुष्ठानों में भाग लेती है और वानप्रस्थ व संन्यास आश्रम में तपस्या और भक्ति मार्ग का अनुसरण करती है। इसके अतिरिक्त, इसमें देवी शक्ति की उपासना का भी विशेष वर्णन मिलता है, जिससे स्पष्ट होता है कि स्त्रियों को केवल पालन-पोषण करने वाली के रूप में नहीं, बल्कि एक सशक्त शक्ति रूप में भी देखा गया है। *कूर्म पुराण* में नारी को पारंपरिक भूमिकाओं के अंतर्गत ही अधिक देखा गया है, लेकिन उसमें यह भी कहा गया है कि नारी में अपार आध्यात्मिक और नैतिक शक्ति होती है। वह परिवार, समाज और धर्म की आधारशिला होते हुए भी भक्ति, ज्ञान और तपस्या के मार्ग पर अग्रसर हो सकती है। इस प्रकार, *कूर्म पुराण* में नारी को शक्ति, त्याग, स्नेह और नैतिकता की मूर्ति के रूप में चित्रित किया गया है, जो समाज में संतुलन बनाए रखने के लिए आवश्यक है।

अतः *कूर्म पुराण* केवल धार्मिक ग्रंथ ही नहीं, बल्कि यह समाज की सांस्कृतिक संरचना, परंपराओं, रीति-रिवाजों और धार्मिक अनुष्ठानों का एक महत्वपूर्ण दर्पण भी है। इसमें सामाजिक व्यवस्था से लेकर आध्यात्मिक ज्ञान तक सभी पहलुओं को समाहित किया गया है, जिससे यह ग्रंथ हिंदू धर्म, संस्कृति और परंपराओं का एक महत्वपूर्ण स्रोत बन जाता है।

नैतिकता एवं नीतिशास्त्र –

कूर्म पुराण भारतीय धार्मिक ग्रंथों में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है, जिसमें धर्म, नीति और नैतिक मूल्यों का गहन विवेचन किया गया है। इस पुराण की विशेषता यह है कि इसमें न केवल ईश्वर भक्ति और उपासना पद्धतियों का वर्णन मिलता है, बल्कि जीवन के चारों आश्रमों, सामाजिक आचार-व्यवहार और नैतिकता से जुड़े सिद्धांतों का भी विस्तृत विश्लेषण किया गया है। भारतीय पुराणकारों की यह विशेषता रही है कि उन्होंने सभी जड़-चेतन स्वरूपों में जीवन का अंश मानकर उनमें परस्पर बंधुत्व की भावना समाहित की है और उन्हें पूजनीय बना दिया है। यह दृष्टिकोण केवल धार्मिक ही नहीं, बल्कि नैतिकता और समरसता की दृष्टि से भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। इस पुराण में *समुद्र मंथन* से उत्पन्न विष्णु की माया या शक्ति के प्रादुर्भाव का प्रसंग मिलता है, जिसमें शक्ति की स्तुति करने की बात कही गई है। तत्पश्चात, विष्णु के नाभिकमल से ब्रह्मा का जन्म, फिर ब्रह्मा के नौ मानस पुत्रों का उत्पत्ति-वृत्तांत, वेदों की महिमा और वर्णाश्रम धर्म का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है। यह बताता है कि नैतिकता और नीति का आधार धार्मिक ग्रंथों में ही समाहित है। इस पुराण में चारों आश्रमों—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास—का उल्लेख किया गया है और उनके दो-दो रूप बताए गए हैं। ब्रह्मचर्य आश्रम में रहने वाले दो प्रकार के ब्रह्मचारी होते हैं—उपकुचणिक ब्रह्मचारी, जो विधिवत वेदों तथा अन्य शास्त्रों का अध्ययन करके गृहस्थ जीवन में प्रवेश करता है, और नैष्टिक ब्रह्मचारी, जो जीवनपर्यंत गुरु के निकट रहकर ब्रह्मज्ञान का सतत अभ्यास करता है।

गृहस्थाश्रम के भी दो भेद बताए गए हैं—साधक गृहस्थ, जो अपने परिवार के भरण-पोषण में संलग्न रहता है, और उदासीन गृहस्थ, जो देवगण, पितृगण और ऋषियों के ऋण से मुक्त होकर निर्लिप्त भाव से जीवन व्यतीत करता है। इसी प्रकार वानप्रस्थ आश्रम को भी दो भागों में विभाजित किया गया है—तापस वानप्रस्थी, जो वन में रहकर हवन, अनुष्ठान तथा स्वाध्याय करता है, और संन्यासिक वानप्रस्थी, जो कठोर तपस्या कर ईश्वर साधना में लीन रहता है।

कूर्म पुराण के अनुसार, नैतिकता और धर्म का मूल आधार आचार-विचार, सदाचार और संयम में निहित है। इसमें यह भी बताया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने सामाजिक और धार्मिक कर्तव्यों का पालन करना चाहिए, ताकि समाज में नैतिक मूल्यों की स्थापना हो सके। इस पुराण में वर्णित *ब्राह्मी संहिता* में धर्मशास्त्रों के सभी लक्षण—सर्ग, प्रतिसर्ग, देवों और ऋषियों के वंश, मन्वंतर, वंशानुचरित, तथा अन्य धार्मिक कथाएँ उपलब्ध हैं। यह पुराण वैष्णव, शैव और शाक्त तीनों संप्रदायों को समन्वयात्मक रूप से प्रस्तुत करता है और सभी को समान मान्यता प्रदान करता है।

सृष्टि की उत्पत्ति संबंधी विचार भी नैतिकता से जुड़े हुए हैं। *कूर्म पुराण* में अन्य पुराणों की भांति सृष्टि की उत्पत्ति ब्रह्मा से मानी गई है और सभी जड़-चेतन स्वरूपों में जीवन का अंश समाहित माना गया है। यह विचार दर्शाता है कि प्रत्येक प्राणी के प्रति समानता और दया का भाव रखना चाहिए, क्योंकि सभी में ब्रह्म का अंश विद्यमान है। उदाहरण के लिए, मेरु पर्वत की दो कन्याएँ *आपति* और *नियति* थीं, जिनका विवाह *धाता* और *विधाता* से हुआ था, और फिर उनकी संतानों का जन्म हुआ। इस प्रकार, जड़ पदार्थों को भी मानवीय रूप देकर पुराणकार ने उन्हें जीवित मनुष्य की तरह प्रस्तुत किया है, जो यह दर्शाता है कि सृष्टि का प्रत्येक अंश पूजनीय और सम्माननीय है।

"जो व्यक्ति समस्त प्राणियों में आत्मा को समान रूप से देखता है, वही पूर्ण योगी होता है और मोक्ष प्राप्त करता है।" अतः *कूर्म पुराण* केवल धार्मिक ग्रंथ ही नहीं, बल्कि नैतिकता और नीति का एक महत्वपूर्ण स्रोत भी है। इसमें धर्म, समाज और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नैतिक आचरण को प्राथमिकता दी गई है। यह ग्रंथ यह सिखाता है कि जीवन में सदाचार, परोपकार, समभाव और संयम का पालन करने से ही व्यक्ति सच्चे अर्थों में धार्मिक और नैतिक बन सकता है।

निष्कर्ष –

कूर्म पुराण भारतीय पुराण-साहित्य का एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है, जिसमें धार्मिक, दार्शनिक, सामाजिक और नैतिक मूल्यों का समन्वयात्मक रूप से वर्णन किया गया है। यह केवल एक वैष्णव ग्रंथ नहीं है, बल्कि इसमें शैव और शाक्त परंपराओं को भी समान स्थान दिया गया है। यह पुराण सृष्टि की उत्पत्ति, वर्णाश्रम धर्म, धार्मिक अनुष्ठान, तीर्थयात्रा, सांख्य योग, नीति और नैतिक मूल्यों का व्यापक विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

इस पुराण में चारों आश्रमों—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास—की महत्ता पर बल दिया गया है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि भारतीय समाज में प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक निश्चित नैतिक और सामाजिक कर्तव्य निर्धारित किया गया था। विवाह के आठ प्रकारों का उल्लेख कर यह पुराण यह दर्शाता है कि विवाह केवल एक सामाजिक अनुबंध नहीं, बल्कि एक धार्मिक और नैतिक कर्तव्य भी है। इसमें ब्राह्म विवाह और प्राजापत्य विवाह को सर्वोत्तम माना गया है, जबकि राक्षस और पैशाच विवाह की निंदा की गई है, जो समाज में नैतिकता और शुचिता बनाए रखने की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इस ग्रंथ में जीवन के विभिन्न पहलुओं को समाहित करते हुए समग्र रूप से धर्म और नैतिकता को स्थापित किया गया है। इसमें उल्लेखित धार्मिक अनुष्ठान, यज्ञ, श्राद्ध, पितृ तर्पण आदि सामाजिक परंपराओं के माध्यम से भारतीय संस्कृति की गहरी जड़ों को दर्शाते हैं। *कूर्म पुराण* की एक अन्य विशेषता यह है कि इसमें भक्ति, योग और ज्ञान मार्ग का समन्वय मिलता है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि भारतीय परंपरा में आध्यात्मिकता और नैतिकता को समान रूप से महत्व दिया गया है।

अतः *कूर्म पुराण* केवल एक पौराणिक ग्रंथ नहीं, बल्कि भारतीय संस्कृति, समाज और धर्म का दार्शनिक और नैतिक प्रतिबिंब भी है। यह ग्रंथ जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में संतुलन और सदाचार का संदेश देता है, जो किसी भी समाज की स्थिरता और प्रगति के लिए आवश्यक है। इसकी शिक्षाएँ आज भी नैतिकता, सामाजिक समरसता और सांस्कृतिक मूल्यों के संरक्षण के लिए अत्यंत प्रासंगिक हैं।

संदर्भ :

1. कूर्म पुराण. (संवत 2074). गीता प्रेस गोरखपुर.
2. काणे, पी.वी. (1941). धर्मशास्त्र का इतिहास (खंड 2, पृष्ठ 1). पूना: भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट.
3. विलियम्स, जी.एम. (2008). हिंदू पौराणिक कथाओं की पुस्तिका. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
4. दलाल, आर. (2010). हिंदू धर्म: एक वर्णमाला गाइड. पेंगुइन बुक्स इंडिया.
5. मालिनार, ए., वॉन स्टीटेनक्रॉन, एच., और गीट्ज़, जी.पी. (1992). महाकाव्य और पौराणिक ग्रंथ सूची: (1985 तक): एनोटेट और अनुक्रमणिका के साथ (खंड 2). हैरासोविट्ज़.
6. रोचर, एल. (1986). पुराण. ओटो हैरासोवित्ज़ वेरलाग.
7. डिमिट, सी., और वैन बुइटेनन, जे.ए.बी. (1978). शास्त्रीय हिंदू पौराणिक कथाएँ: संस्कृत पुराणों में एक पाठक.

षोडश संस्कारों की वैज्ञानिक महत्ता

साकेत तिवारी*
saket.tiwari7214@gmail.com

भूमिका

भारतीय संस्कृति में 'संस्कार' शब्द 'सम्' उपसर्ग और 'कृ' धातु से मिलकर बना है, जिसका अर्थ है— परिष्कार, शुद्धिकरण या संवर्धन। जिस प्रकार एक अशुद्ध धातु को अग्नि में तपाकर कुंदन बनाया जाता है या एक पत्थर को तराश कर मूर्ति का रूप दिया जाता है, ठीक उसी प्रकार संस्कारों के माध्यम से व्यक्ति के दोषों का परिमार्जन कर उसमें गुणों का आधान किया जाता हैभारतीय मनीषियों ने मानव जीवन को केवल जन्म और मृत्यु के बीच की अवधि नहीं माना, बल्कि इसे आत्मिक और शारीरिक परिष्करण की एक निरंतर प्रक्रिया के रूप में देखा है। 'संस्कार' शब्द का अर्थ ही है— 'शुद्धिकरण' या 'पूर्णता प्रदान करना'। प्राचीन हिंदू धर्मशास्त्रों में वर्णित सोलह संस्कार (षोडश संस्कार) गर्भाधान से लेकर अंत्येष्टि तक व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक विकास के मूलाधार हैं।

शोध का संदर्भ

वर्तमान वैज्ञानिक युग में अक्सर प्राचीन परंपराओं को केवल अंधविश्वास मान लिया जाता है। परंतु, जब हम इन संस्कारों का सूक्ष्मता से विश्लेषण करते हैं, तो ज्ञात होता है कि इनके पीछे गहरा मनोवैज्ञानिक, जीव विज्ञानी (और पर्यावरणीय तर्क छिपा है। भारतीय मनीषा ने हज़ारों वर्ष पूर्व यह समझ लिया था कि मानव व्यक्तित्व केवल जैविक नहीं, बल्कि संस्कारजन्य भी होता है। प्राचीन ग्रंथों जैसे मनुस्मृति, गौतम धर्मसूत्र और गृह्यसूत्रों में इन १६ संस्कारों का सविस्तार वर्णन मिलता है। ऐतिहासिक संदर्भ में देखें तो ये संस्कार व्यक्ति को समाज का एक उत्तरदायी अंग बनाने की 'दीक्षा' थे। इस शोध का संदर्भ इसी प्राचीन ज्ञान को आधुनिक तर्कों के साथ जोड़ना है। उदाहरण:-

गर्भाधान पूर्व संदर्भ: शोध का एक प्रमुख संदर्भ यह है कि भारतीय संस्कारों में केवल जन्म के बाद नहीं, बल्कि जन्म से पूर्व माता-पिता के मानसिक और शारीरिक शुद्धिकरण पर बल दिया गया है, ताकि आने वाली संतति उत्कृष्ट हो।

भ्रूण का विकास: 'पुंसवन' और 'सीमन्तोन्नयन' जैसे संस्कारों का संदर्भ गर्भस्थ शिशु के मानसिक स्वास्थ्य और उसकी सीखने की क्षमता से जुड़ा है आदि।

शोध की आवश्यकता

1. वैज्ञानिक भ्रांतियों का निवारण

वर्तमान पीढ़ी वैज्ञानिक और तार्किक सोच रखती है। अक्सर जानकारी के अभाव में प्राचीन संस्कारों को केवल 'कर्मकांड' या 'अंधविश्वास' मान लिया जाता है। इस शोध की प्राथमिक आवश्यकता इन परंपराओं के पीछे छिपे वैज्ञानिक सिद्धांतों को उजागर करना है, ताकि समाज यह समझ सके कि ये क्रियाएं केवल रीति-रिवाज नहीं, बल्कि एक उन्नत जीवन पद्धति हैं।

2. मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य का संरक्षण

आज के युग में तनाव, अवसाद और जीवनशैली से जुड़ी बीमारियां बढ़ रही हैं।

* स्वतंत्र शोधकर्ता, गाँव- तिलैयाटांड, पोस्टल- चंदवा, जिला- लातेहार (झारखंड)

उदाहरण के लिए: 'पुंसवन' और 'सीमन्तोन्नयन' जैसे संस्कार गर्भवती महिला के मानसिक स्वास्थ्य को केंद्र में रखते हैं। इन संस्कारों की वैज्ञानिकता को समझकर हम आधुनिक समाज में मानसिक शांति और बेहतर स्वास्थ्य के मानक स्थापित कर सकते हैं।

3. सांस्कृतिक विरासत का संरक्षण और पुनरुद्धार

भूमंडलीकरण के इस दौर में भारतीय संस्कृति के मूल तत्व विलुप्त हो रहे हैं। यदि इन संस्कारों के वैज्ञानिक महत्व को सिद्ध नहीं किया गया, तो आने वाली पीढ़ियां इन्हें पूरी तरह भुला देंगी। यह शोध हमारी सांस्कृतिक पहचान को तर्क के साथ जीवित रखने के लिए आवश्यक है।

4. चरित्र निर्माण और सामाजिक अनुशासन

अपराध और नैतिक पतन की बढ़ती घटनाओं के बीच, संस्कारों की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाती है। संस्कार व्यक्ति के भीतर अनुशासन, विनय और सामाजिक उत्तरदायित्व के बीज बोते हैं। यह शोध यह स्पष्ट करने के लिए आवश्यक है कि कैसे ये १६ चरण एक व्यक्ति को श्रेष्ठ नागरिक बनाने में सहायक हैं।

5. आधुनिक विज्ञान के साथ सामंजस्य

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान और मनोविज्ञान आज उन्हीं निष्कर्षों पर पहुँच रहे हैं, जिन्हें हमारे ऋषियों ने हजारों साल पहले 'संस्कार' के रूप में प्रतिपादित किया था।

जैसे: 'अन्नप्राशन' का समय वही है जब शिशु का पाचन तंत्र ठोस आहार के लिए तैयार होता है। इस तरह के अंतःविषय अध्ययन की आज भारी आवश्यकता है ताकि आयुर्वेद, जीव विज्ञान और अध्यात्म का एक समन्वित स्वरूप सामने आ सके।

शोध के उद्देश्य

1. सोलह संस्कारों के पारंपरिक स्वरूप और उनकी प्रक्रिया को समझना।
2. प्रत्येक संस्कार के पीछे छिपे वैज्ञानिक और स्वास्थ्य संबंधी कारणों का विश्लेषण करना।
3. आधुनिक चिकित्सा विज्ञान और मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में इन संस्कारों की उपयोगिता सिद्ध करना।
4. नई पीढ़ी को अपनी सांस्कृतिक विरासत के तार्किक पक्ष से परिचित कराना।

१६ संस्कारों का वैज्ञानिक विश्लेषण

इस शोध में १६ संस्कारों को उनकी प्रकृति के आधार पर चार प्रमुख वर्गों में विभाजित किया है:

1. गर्भाधान पूर्व एवं गर्भावस्था के संस्कार
2. शैशवावस्था के संस्कार
3. शिक्षा एवं किशोरावस्था के संस्कार
4. गृहस्थ एवं उत्तर जीवन के संस्कार

1. गर्भाधान संस्कार

यह प्रथम संस्कार है जो केवल शारीरिक मिलन नहीं, बल्कि एक 'नियोजित जीव विज्ञान' है। यह एक स्वस्थ, बुद्धिमान और सुसंस्कृत संतान की नींव रखना।

वैज्ञानिक पक्ष:- आज का विज्ञान मानता है कि गर्भाधान के समय माता-पिता का स्वास्थ्य और मानसिक स्थिति भ्रूण के डीएनए की गुणवत्ता तय करती है। इस संस्कार में माता-पिता को सात्विक भोजन और मानसिक शांति का निर्देश दिया जाता है ताकि शुक्राणु और अंडाणु अपने श्रेष्ठतम स्वरूप में हों। हमारे परिवेश का प्रभाव हमारे जीन्स पर पड़ता है। गर्भाधान पूर्व किए गए मंत्रोच्चार और सकारात्मक वातावरण एक "पॉजिटिव स्ट्रेस-फ्री जोन" बनाते हैं, जो आने वाली संतान की आनुवंशिक संरचना को बेहतर बनाता है। आयुर्वेद के अनुसार, विशिष्ट नक्षत्रों और तिथियों का चयन प्राकृतिक ऊर्जा के साथ शरीर के सामंजस्य को दर्शाता है।

2. पुंसवन संस्कार

यह संस्कार गर्भधारण के दूसरे या तीसरे महीने में किया जाता है, जब गर्भस्थ शिशु की आकृति बनना शुरू होती है। पुंसवन संस्कार का उद्देश्य गर्भ की रक्षा करना और शिशु के शारीरिक व मानसिक विकास को गति देना।

वैज्ञानिक पक्ष:- इस संस्कार में वटवृक्ष की कोपलों या विशेष औषधियों का रस गर्भवती स्त्री की नासिका (नाक) में डाला जाता है। विज्ञान के अनुसार, नाक की श्लेष्मा झिल्ली दवाओं को सीधे मस्तिष्क के पिट्यूटरी ग्लैंड तक पहुँचाने का सबसे तेज मार्ग है। यह प्रक्रिया माँ के शरीर में उन हार्मोन्स को सक्रिय करती है जो भ्रूण के अंगों के विकास और 'मस्तिष्क की बनावट' के लिए उत्तरदायी होते हैं। कई लोग इसे केवल पुत्र प्राप्ति के लिए मानते हैं, लेकिन वास्तव में इसका वैज्ञानिक आधार संतान को 'पुरुषार्थ' प्रदान करना है, जिससे गर्भपात की संभावना न्यूनतम हो जाए।

3. सीमन्तोन्नयन संस्कार

यह संस्कार गर्भावस्था के चौथे, छठे या आठवें महीने में किया जाता है। 'सीमन्त' का अर्थ है मस्तिष्क का 'सीमांकन' या विभाजन। इस संस्कार का उद्देश्य माता को मानसिक रूप से सुदृढ़ रखना और शिशु के मस्तिष्क को शिक्षित करना।

वैज्ञानिक पक्ष:- चौथे महीने के बाद शिशु के कान और संवेदी अंग सक्रिय हो जाते हैं। वह माँ की धड़कन और बाहर की आवाज़ें सुनने लगता है। इस संस्कार में माँ को अच्छे साहित्य, संगीत और सकारात्मक चर्चाओं में व्यस्त रखा जाता है। जब माँ खुश होती है, तो उसके शरीर में 'सेरोटोनिन' और 'डोपामाइन' जैसे हार्मोन बनते हैं। ये प्लेसेंटा के माध्यम से शिशु तक पहुँचते हैं और उसके तंत्रिका तंत्र को शांत और प्रखर बनाते हैं। यह संस्कार माँ के भीतर प्रसव के प्रति व्याप्त डर को दूर करता है। माँ का आत्मविश्वास शिशु के जन्म के समय होने वाली जटिलताओं को कम करने में सहायक होता है।

4. जातकर्म संस्कार

यह संस्कार शिशु के जन्म के तुरंत बाद और गर्भनाल काटने से पहले (या तुरंत बाद) किया जाता है।

वैज्ञानिक महत्व: इस संस्कार में शिशु को सोने की सलाई से शहद और घी चटाया जाता है। शहद एक उत्कृष्ट एंटी-बैक्टीरियल तत्व है, जो शिशु के कच्चे पाचन तंत्र को संक्रमण से बचाता है। सोने को भस्म या घिसकर चटाने का उद्देश्य 'मेधा शक्ति' बढ़ाना है। आधुनिक नैनो-मेडिसिन भी मानती है कि स्वर्ण के सूक्ष्म कण तंत्रिका तंत्र के विकास में सहायक होते हैं।शहद चटाने से शिशु के गले में जमा कफ साफ हो जाता है, जिससे उसकी पहली सांस और रोने की प्रक्रिया सुगम हो जाती है।

5. नामकरण संस्कार

जन्म के 11वें या 12वें दिन यह संस्कार किया जाता है।

वैज्ञानिक महत्व:- प्रत्येक अक्षर की अपनी एक आवृत्ति होती है। भारतीय ज्योतिष और आयुर्वेद के अनुसार, जन्म नक्षत्र के आधार पर नाम रखने से उस नाम की ध्वनि तरंगें शिशु के मस्तिष्क की तरंगों के साथ सामंजस्य बिठाती हैं। एक अर्थपूर्ण नाम व्यक्ति के अवचेतन मन में सकारात्मकता भरता है। जब उसे उस नाम से बार-बार पुकारा जाता है, तो वह विशिष्ट गुण उसके व्यक्तित्व का हिस्सा बनने लगते हैं।

6. निष्क्रमण संस्कार

जन्म के चौथे माह में शिशु को पहली बार घर की सीमा से बाहर निकाल कर सूर्य और चंद्रमा के दर्शन कराए जाते हैं। **वैज्ञानिक महत्व:-** तीन महीने तक शिशु घर के नियंत्रित वातावरण में रहता है। चौथे महीने में उसकी रोग प्रतिरोधक क्षमता इतनी बढ़ जाती है कि वह बाहरी वातावरण का सामना कर सके। सूर्य की रोशनी हड्डियों की मजबूती के लिए अनिवार्य है। साथ ही, खुले आकाश और प्राकृतिक प्रकाश में लाने से शिशु की आंखों की 'फोकस' करने की क्षमता और संवेदी अंगों का विकास होता है।

7. अन्नप्राशन संस्कार

छठे माह में शिशु को पहली बार अनाज (अन्न) खिलाया जाता है।

वैज्ञानिक महत्व:- आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार, जन्म के छह माह तक मां का दूध पर्याप्त होता है। छह माह बाद शिशु के शरीर में 'एमिलेज'जैसे एंजाइम्स का स्राव शुरू होता है, जो कार्बोहाइड्रेट और अनाज को पचाने के लिए आवश्यक हैं। पोषण की मांग: इस समय बढ़ते शरीर को केवल दूध से पूरी ऊर्जा नहीं मिल पाती, इसलिए ठोस आहार की शुरुआत करना जैविक आवश्यकता है।

8. चूड़ाकरण (मुंडन) संस्कार

यह संस्कार आमतौर पर पहले वर्ष के अंत में या तीसरे वर्ष में किया जाता है।

वैज्ञानिक महत्व:- शिशु के सिर की त्वचा बहुत कोमल होती है। बाल हटाने से सूर्य की किरणें सीधे त्वचा के संपर्क में आती हैं, जिससे विटामिन-D का निर्माण तेज होता है और मस्तिष्क की हड्डियाँ मजबूत होती हैं।गर्भ के समय के बाल अशुद्ध होते हैं और उनमें बैक्टीरिया होने की संभावना रहती है। मुंडन करने से सिर की नसों में रक्त का संचार बढ़ता है, जिससे मस्तिष्क की गर्मी बाहर निकलती है और बौद्धिक क्षमता में सुधार होता है। कोशिकाओं का नवीनीकरण: पुराने बाल हटने से रोमछिद्र खुल जाते हैं, जिससे नए और मजबूत बाल आते हैं।

9. कर्णवेध संस्कार

कान के निचले हिस्से को छेदना भारतीय परंपरा का एक अत्यंत महत्वपूर्ण वैज्ञानिक हिस्सा है।

वैज्ञानिक महत्व :- कान का निचला हिस्सा (Lobe) मस्तिष्क के बाएं और दाएं गोलार्द्धों से जुड़ा होता है। यहाँ छेद करने से एक विशिष्ट दबाव बिंदु सक्रिय होता है, जो स्मरण शक्ति बढ़ाने में सहायक है। आयुर्वेद के अनुसार, कान के इस हिस्से से एक नस गुजरती है जो पुरुषों में अंडकोष और महिलाओं में गर्भाशय के स्वास्थ्य को नियंत्रित करती है। यह संस्कार भविष्य में हाइड्रोसील जैसी बीमारियों को रोकने में मदद करता है। विज्ञान मानता है कि कर्णवेध से एकाग्रता बढ़ती है और मानसिक रोगों जैसे हिस्टीरिया के लक्षणों में कमी आती है।

10. विद्यारंभ संस्कार

जब बालक पांच वर्ष का होता है, तब उसे वर्णमाला और अक्षरों का ज्ञान दिया जाता है।

वैज्ञानिक महत्व:- रेत या स्लेट पर उंगलियों से अक्षर बनाना हाथ और मस्तिष्क के बीच समन्वय विकसित करता है। पांच वर्ष की आयु वह समय है जब बच्चे का मस्तिष्क भाषा सीखने के लिए सबसे अधिक संवेदनशील होता है। इस समय अक्षरों का परिचय उसकी तार्किक क्षमता को आधार देता है।

11. उपनयन (यज्ञोपवीत) संस्कार

यह संस्कार 'जनेऊ' धारण करने के नाम से प्रसिद्ध है। यह बालक के 'दूसरे जन्म' (बौद्धिक जन्म) का प्रतीक है।

वैज्ञानिक महत्व:- जनेऊ को कान पर लपेटने का नियम (मल-मूत्र त्याग के समय) बहुत वैज्ञानिक है। कान के पीछे की नसें सीधे मूत्राशय और आंतों से जुड़ी होती हैं। उन पर दबाव पड़ने से कब्ज की समस्या नहीं होती और गुर्दे स्वस्थ रहते हैं।जनेऊ बाएं कंधे से दाएं कमर तक रहता है, जो हृदय के ऊपर से गुजरता है। यह निरंतर हल्का घर्षण हृदय की कार्यप्रणाली और रक्तचाप (Blood Pressure) को नियंत्रित करने में सहायक माना जाता है। यह संस्कार बालक को एक अनुशासित जीवनशैली में बांधता है, जिससे उसकी ऊर्जा का क्षय नहीं होता और एकाग्रता चरम पर रहती है।

12. वेदारंभ संस्कार

उपनयन के बाद बालक गुरु के सानिध्य में वेदों और विशिष्ट विधाओं (जैसे आयुर्वेद, अर्थशास्त्र, धनुर्वेद) का अध्ययन शुरू करता है।

वैज्ञानिक महत्व: - वेदों के सस्वर पाठ (Chanting) में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरों का प्रयोग होता है। इन ध्वनियों का उच्चारण मस्तिष्क के ग्रे मैटर (Grey Matter) को बढ़ाता है और याददाश्त को असाधारण रूप से तेज करता है।इस चरण में बालक को एक कठोर दिनचर्या में रखा जाता है, जो उसके डोपामाइन (Dopamine) स्तर को नियंत्रित कर उसे सीखने के प्रति केंद्रित रखती है।

13. केशान्त संस्कार

यह संस्कार १६वें वर्ष के आसपास होता है, जब किशोर की दाढ़ी-मूंछ आने लगती है। इसमें पहली बार किशोर की दाढ़ी बनाई जाती है।

वैज्ञानिक महत्व:- यह संस्कार किशोर को यह अहसास कराता है कि वह अब बालक नहीं रहा। यह प्यूबर्टी (Puberty) के समय होने वाले मानसिक बदलावों को गरिमा के साथ स्वीकार करने का एक मनोवैज्ञानिक तरीका है। किशोरावस्था में तेल ग्रंथियां अधिक सक्रिय होती हैं। चेहरे और सिर की स्वच्छता बनाए रखना त्वचा रोगों से बचने के लिए आवश्यक है।

14. समावर्तन संस्कार

गुरुकुल की शिक्षा पूरी होने के बाद छात्र का 'स्नान' कराया जाता है और वह पुनः समाज में लौटता है।

वैज्ञानिक महत्व:- मनोवैज्ञानिक आत्मविश्वास: यह आज के 'दीक्षांत समारोह' की तरह है। यह व्यक्ति को यह विश्वास दिलाता है कि वह अब ज्ञान के आधार पर जीविकोपार्जन और गृहस्थ जीवन के संघर्षों के लिए सक्षम है। सामाजिक समायोजन: एकांत गुरुकुल से निकलकर सामाजिक संबंधों में पुन: प्रवेश करने के लिए व्यक्ति को मानसिक रूप से तैयार किया जाता है।

15. विवाह संस्कार

यह हिंदू धर्म का सबसे महत्वपूर्ण संस्कार है, जो केवल दो व्यक्तियों का मिलन नहीं, बल्कि एक आध्यात्मिक और जैविक जिम्मेदारी है।

वैज्ञानिक महत्व:- जैविक संतुलन: प्रकृति ने मानव शरीर को प्रजनन और काम-ऊर्जा के साथ बनाया है। विवाह इस ऊर्जा को मर्यादित और दिशावान बनाता है, जिससे मानसिक और शारीरिक कुंठाएं उत्पन्न नहीं होतीं। विवाह में 'सगोत्र' विवाह का निषेध किया गया है। आधुनिक विज्ञान इसे 'इनब्रीडिंग डिप्रेशन' कहता है। अलग-अलग गोत्रों में विवाह करने से संतान में आनुवंशिक बीमारियाँ कम होती हैं और रोग प्रतिरोधक क्षमता अधिक होती है। अग्नि के फेरे लेना और मंत्रोच्चार करना व्यक्ति के भीतर एक 'संकल्प शक्ति' पैदा करता है, जो परिवार को जोड़े रखने के लिए आवश्यक है।

16. अंत्येष्टि संस्कार

मृत्यु के पश्चात शरीर का अग्नि संस्कार किया जाता है।

वैज्ञानिक महत्व:- पर्यावरण और स्वच्छता: मृत शरीर बैक्टीरिया और संक्रमण का केंद्र बन सकता है। दाह संस्कार शरीर को तुरंत तत्वों में विलीन कर देता है, जिससे संक्रामक रोगों के फैलने का खतरा समाप्त हो जाता है। पंचतत्व विलीनीकरण: मानव शरीर जिन पंच तत्वों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश) से बना है, अग्नि संस्कार उसे वापस प्रकृति को सौंपने की सबसे तीव्र और वैज्ञानिक विधि है। मनोवैज्ञानिक विदाई: यह जीवित परिजनों को 'अलगाव' का बोध कराता है, जिससे शोक की प्रक्रिया को तार्किक अंत मिलता है।

इन १६ संस्कारों का वैज्ञानिक विश्लेषण यह सिद्ध करता है कि भारतीय ऋषियों ने मनुष्य के जन्म से मृत्यु तक के सफर को एक 'बायोलॉजिकल इंजीनियरिंग' के रूप में देखा था। ये संस्कार न केवल व्यक्ति का चरित्र निर्माण करते हैं, बल्कि उसे शारीरिक और मानसिक रूप से एक श्रेष्ठ मानव बनाने का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

उपसंहार

इस शोध के माध्यम से यह स्पष्ट होता है कि भारतीय संस्कृति के 'षोडश संस्कार' केवल धार्मिक अनुष्ठान नहीं हैं, बल्कि वे मानव विकास के सूक्ष्म विज्ञान पर आधारित हैं। गर्भाधान से लेकर अंत्येष्टि तक, प्रत्येक संस्कार का एक निश्चित समय, प्रक्रिया और वैज्ञानिक आधार है, जो व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक और सामाजिक स्वास्थ्य को प्रभावित करता है।

शोध के मुख्य निष्कर्ष:

- वैज्ञानिकता: संस्कार जेनेटिक्स, न्यूरोलॉजी और बाल चिकित्सा के आधुनिक सिद्धांतों के अनुरूप हैं।
- चरित्र निर्माण: ये संस्कार व्यक्ति के अवचेतन मन में अनुशासन और नैतिक मूल्यों को गहराई से स्थापित करते हैं।
- स्वास्थ्य रक्षा: कर्णवेध, चूड़ाकरण और अन्नप्राशन जैसे संस्कार सीधे तौर पर शारीरिक व्याधियों से रक्षा करते हैं।
- प्रासंगिकता: आज के यंत्रवत जीवन में, ये संस्कार मानसिक शांति और पारिवारिक जुड़ाव को बनाए रखने में सक्षम हैं।

अतः, यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यदि इन संस्कारों को उनके मूल वैज्ञानिक रूप में पुनः अपनाया जाए, तो एक उन्नत, स्वस्थ और विचारशील समाज का निर्माण संभव है। यह प्राचीन ज्ञान और आधुनिक विज्ञान का एक ऐसा समन्वय है, जो वैश्विक कल्याण का मार्ग प्रशस्त करता है।

संदर्भ :

१. प्राचीन ग्रंथ

- **मनुस्मृति: महर्षि मनु (संस्कारों के सामाजिक और नैतिक विधान हेतु)।**
- **पारस्कर गृह्यसूत्र: (विशिष्ट संस्कार विधियों और उनके काल के लिए)।**
- **सुश्रुत संहिता: महर्षि सुश्रुत (चिकित्सीय और शारीरिक वैज्ञानिक पक्ष हेतु)।**
- **चरक संहिता: महर्षि चरक (आहार और स्वास्थ्य संबंधी संस्कारों हेतु)।**
- **ऋग्वेद एवं यजुर्वेद: (संस्कारों के मूल मंत्र और आध्यात्मिक आधार हेतु)।**

२. आधुनिक पुस्तकें

- **हिन्दू संस्कार: डॉ. राजबली पाण्डेय (संस्कारों के सामाजिक और सांस्कृतिक अध्ययन हेतु सबसे प्रामाणिक पुस्तक)।**
- **संस्कार विधि: स्वामी दयानंद सरस्वती (वैदिक रीति और वैज्ञानिक व्याख्या हेतु)।**
- **Ancient Indian Education: ए. एस. अल्तेकर (उपनयन और वेदारंभ संस्कारों के लिए)।**
- **The Science of Pregnancy and Childbirth: आधुनिक मेडिकल जर्नल (गर्भाधान और पुंसवन के तुलनात्मक अध्ययन हेतु)।**

३. शोध पत्रिकाएं एवं लेख

- **कल्याण (संस्कार अंक): गीता प्रेस गोरखपुर।**
- **Journal of Ayurveda and Integrative Medicine: (विभिन्न संस्कारों के स्वास्थ्य पर प्रभाव संबंधी लेख)।**

आदर्शवाद से व्यवहार तक: अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में वसुधैव कुटुंबकम की भूमिका

निधि* **nidhi.mudgil7@gmail.com**

प्रो. निवेदिता कुमारी† **niveditamalik002@gmail.com**

सारांश

मौजूदा अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था तेजी से भू-राजनीतिक ध्रुवीकरण, मानवीय संकट, पर्यावरणीय गिरावट और राज्यों के बीच संरचनात्मक असमानताओं से पहचानी जा रही है। अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के पारंपरिक सिद्धांत—खासकर यथार्थवाद—शक्ति, सुरक्षा और राष्ट्रीय हित को प्राथमिकता देते हैं, जिससे अक्सर नैतिक विचारों को हाशिये पर डाल दिया जाता है। इस पृष्ठभूमि में, प्राचीन भारतीय दार्शनिक सिद्धांत वसुधैव कुटुंबकम (''पूरी दुनिया एक परिवार है'') वैश्विक राजनीति पर फिर से सोचने के लिए एक आकर्षक मानक ढांचा प्रदान करता है। यह लेख वसुधैव कुटुंबकम की दार्शनिक उत्पत्ति की जांच करता है, इसे अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के सिद्धांत के भीतर रखता है, और समकालीन अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में नैतिक आदर्शवाद से व्यावहारिक अनुप्रयोग तक इसके क्रमिक परिवर्तन का विश्लेषण करता है, खासकर भारत के राजनयिक आचरण, बहुपक्षीय जुड़ाव और वैश्विक पहलों के माध्यम से। यह अध्ययन तर्क देता है कि वसुधैव कुटुंबकम न केवल एक नैतिक दृष्टिकोण प्रदान करता है, बल्कि अंतर्राष्ट्रीय संबंधों को मानवीय बनाने और वैश्विक शासन में सुधार के लिए एक व्यावहारिक प्रतिमान भी प्रदान करता है।

कीवर्ड: *वसुधैव कुटुंबकम, नैतिक अंतर्राष्ट्रीय संबंध, वैश्विक शासन, भारतीय विदेश नीति, बहुपक्षवाद, मानक शक्ति*

परिचय

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति पर ऐतिहासिक रूप से शक्ति, संप्रभुता और राष्ट्रीय हित की यथार्थवादी समझ का प्रभुत्व रहा है। वेस्टफेलियन राज्य प्रणाली से लेकर शीत युद्ध की द्विध्रुवीयता तक, वैश्विक व्यवस्था मुख्य रूप से नैतिक सहमति के बजाय रणनीतिक प्रतिस्पर्धा से आकार लेती रही है। शीत युद्ध के बाद के युग में भी, एक उदार, नियम-आधारित अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था की उम्मीदें नए सिरे से बड़ी शक्तियों की प्रतिद्वंद्विता, क्षेत्रीय संघर्षों और बहुपक्षीय संस्थानों में घटते विश्वास से कमजोर हुई हैं।

इस संदर्भ में, नैतिक और सभ्यतागत विचारों ने वैश्विक शासन पर बहसो में फिर से प्रवेश किया है। ऐसा ही एक विचार वसुधैव कुटुंबकम है, जो प्राचीन भारतीय दर्शन में निहित एक अवधारणा है जो पूरी दुनिया को एक एकल नैतिक समुदाय के रूप में देखती है। हालांकि इसे अक्सर काल्पनिक या सांस्कृतिक रूप से विशिष्ट कहकर खारिज कर दिया जाता है, लेकिन इस सिद्धांत को समकालीन राजनयिक विमर्श में, विशेष रूप से अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रति भारत के दृष्टिकोण में, तेजी से प्रतिध्वनि मिली है। यह लेख यह जांचने की कोशिश करता है कि क्या वसुधैव कुटुंबकम एक बहुत ही असमान और शक्ति-संचालित अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में नैतिक आदर्शवाद और राजनीतिक व्यवहार के बीच की खाई को सार्थक रूप से पाट सकता है।[1]

वसुधैव कुटुंबकम के दार्शनिक आधार

वसुधैव कुटुंबकम की अवधारणा महा उपनिषद से उत्पन्न हुई है, जिसमें कहा गया है:

"अयं निजः परो वेति गणना लघु-चेतसाम्;

* **रिसर्च स्कॉलर, राजनीति विज्ञान विभाग, चौधरी चरण सिंह विश्वविद्यालय, मेरठ**

† **प्रिंसिपल, रघुनाथ पी. जी. कॉलेज, मेरठ**

उदार-चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।"[2]

यह श्लोक 'अपना' और 'दूसरे' के बीच संकीर्ण सोच वाले भेद की तुलना बुद्धिमान लोगों की व्यापक नैतिक चेतना से करता है, जिनके लिए पूरी दुनिया एक परिवार है। यह दर्शन कोई अलग नैतिक आदेश नहीं है, बल्कि एक व्यापक भारतीय आध्यात्मिक विश्वदृष्टि का हिस्सा है जो एकता, परस्पर निर्भरता और नैतिक जिम्मेदारी पर जोर देता है।

वैदिक कहावत "एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति"[3] इस सार्वभौमिकता को और मजबूत करती है, यह पुष्टि करते हुए कि सत्य एक है, हालांकि इसे कई रूपों में व्यक्त किया जाता है। साथ में, ये विचार एक बहुलवादी नैतिक आधार प्रदान करते हैं जो विविधता को पहचानता है और साथ ही मौलिक एकता की पुष्टि करता है। महत्वपूर्ण बात यह है कि वसुधैव कुटुंबकम नैतिक चिंता को मानवता से आगे बढ़ाकर प्रकृति को भी शामिल करता है, जो समकालीन पारिस्थितिक नैतिकता की भविष्यवाणी करता है।[4]

नैतिक आदर्शवाद और अंतर्राष्ट्रीय संबंध सिद्धांत

मुख्यधारा के अंतर्राष्ट्रीय संबंध सिद्धांत पारंपरिक रूप से नैतिक सार्वभौमिकता के बारे में संदेहवादी रहे हैं। मॉर्गेन्थाऊ जैसे शास्त्रीय यथार्थवादी तर्क देते हैं कि नैतिक सिद्धांतों को सीधे राज्य की कार्रवाई पर लागू नहीं किया जा सकता है, जबकि वाल्ट्ज जैसे नव-यथार्थवादी अंतर्राष्ट्रीय प्रणाली की अराजक संरचना को नैतिकता को काफी हद तक अप्रासंगिक मानते हैं।[5] हालांकि, उदारवादी और रचनावादी दृष्टिकोण, राज्य के व्यवहार को आकार देने में मानदंडों, मूल्यों और संस्थानों की भूमिका को स्वीकार करते हैं। विशेष रूप से, रचनावादी तर्क देते हैं कि पहचान और हित दिए गए नहीं होते, बल्कि सामाजिक रूप से निर्मित होते हैं। इस ढांचे के भीतर, वसुधैव कुटुंबकम को एक मानक विचार के रूप में समझा जा सकता है जो हित और जिम्मेदारी की धारणाओं को फिर से आकार देकर राज्य के आचरण को प्रभावित करने में सक्षम है।[6]

पश्चिमी विश्ववाद के विपरीत, जो अक्सर अमूर्त और संस्थागत रहता है, वसुधैव कुटुंबकम जीवित नैतिक अभ्यास में निहित है। यह राज्यों या संप्रभुता की वास्तविकता से इनकार नहीं करता है, बल्कि उनके प्रयोग को नैतिक रूप से नियंत्रित करने का प्रयास करता है। यह इसे वैश्विक साझा मुद्दों को संबोधित करने के लिए विशेष रूप से प्रासंगिक बनाता है, जहां एकतरफा कार्रवाई अपर्याप्त है।

ऐतिहासिक मिसालें: राज्य-प्रशासन में नैतिकता

भारतीय इतिहास नैतिक सिद्धांतों के राजनीतिक कार्रवाई को आकार देने के उल्लेखनीय उदाहरण प्रदान करता है। कलिंग युद्ध के बाद अशोक का बदलाव शाही शासन में नैतिक संयम के शुरुआती उदाहरणों में से एक है। अशोक की धम्म की नीति ने राज्य चलाने के साधन के तौर पर हिंसा को खारिज कर दिया और कल्याण, सहिष्णुता तथा अंतर-राजनीतिक संवाद[7]पर ज़ोर दिया।

आधुनिक युग में, महात्मा गांधी ने अहिंसा और सत्य के माध्यम से नैतिक सार्वभौमिकता को राजनीतिक व्यवहार में बदला। गांधी का प्रभाव भारत से कहीं आगे तक फैला, जिसने दुनिया भर में न्याय और समानता के आंदोलनों को आकार दिया, जिनमें सबसे खास मार्टिन लूथर किंग जूनियर के नेतृत्व वाला नागरिक अधिकार संघर्ष था।[8] ये ऐतिहासिक उदाहरण दिखाते हैं कि जब नैतिक आदर्शों को नेतृत्व और सामाजिक लामबंदी के माध्यम से संस्थागत बनाया जाता है, तो वे ठोस राजनीतिक प्रभाव डाल सकते हैं।

समकालीन अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में वसुधैव कुटुंबकम

संयुक्त राष्ट्र के साथ भारत की भागीदारी समावेशिता और समानता पर लगातार जोर देती है। संयुक्त राष्ट्र के शांति स्थापना और मानवीय राहत में योगदान को स्वीकार करते हुए, भारत वैश्विक दक्षिण का बेहतर प्रतिनिधित्व करने के लिए संस्थागत सुधारों, विशेष रूप से सुरक्षा परिषद के सुधारों का एक मजबूत समर्थक रहा है।[9]

वसुधैव कुटुंबकम का सिद्धांत कुछ शक्तिशाली राज्यों के प्रभुत्व वाली वैश्विक व्यवस्था की वैधता को चुनौती देता है। यह भू-राजनीतिक विशेषाधिकार के बजाय सामूहिक कल्याण में निहित निर्णय लेने की प्रक्रियाओं का आह्वान करता है, जिससे वैश्विक शासन के लोकतंत्रीकरण के लिए एक नैतिक तर्क मिलता है।

कोविड-19 महामारी ने राज्यों की परस्पर निर्भरता और वैक्सीन राष्ट्रवाद की नैतिक सीमाओं को उजागर किया। भारत की "वैक्सीन मैत्री" पहल, जिसके तहत दर्जनों विकासशील देशों को टीके की आपूर्ति की गई, ने वैश्विक स्वास्थ्य को एक साझा जिम्मेदारी के रूप में प्रतिबद्धता को दर्शाया।[10] इसी तरह, भारत की जलवायु कूटनीति, विशेष रूप से पर्यावरण के लिए जीवन शैली (LiFE) पहल, पर्यावरण संरक्षण को उत्सर्जन लक्ष्यों के मात्र अनुपालन के बजाय स्थायी जीवन पर आधारित एक नैतिक दायित्व के रूप में देखती है।[11] ये पहलें दिखाती हैं कि वसुधैव कुटुंबकम व्यावहारिक नीतिगत विकल्पों को कैसे सूचित कर सकता है।

मानदंड उद्यमिता और G20

2023 में G20 की भारत की अध्यक्षता ने वसुधैव कुटुंबकम की मानक अभिव्यक्ति में एक महत्वपूर्ण क्षण को चिह्नित किया। "एक पृथ्वी, एक परिवार, एक भविष्य" विषय ने स्पष्ट रूप से इस दर्शन का आह्वान किया, एक सभ्यतागत नैतिकता को वैश्विक आर्थिक शासन प्रवचन में एकीकृत किया।[12] विकासशील देशों के लिए ऋण राहत, जलवायु वित्त और डिजिटल सार्वजनिक बुनियादी ढांचे जैसे मुद्दों को सामने लाकर, भारत ने आर्थिक सहयोग को नैतिक जिम्मेदारी के साथ सरेखित करने की मांग की, जिससे अवधारणा को बयानबाजी से संस्थागत जुड़ाव तक ले जाया गया।

संरचनात्मक बाधाएं और महत्वपूर्ण दृष्टिकोण

अपनी अपील के बावजूद, वसुधैव कुटुंबकम को महत्वपूर्ण संरचनात्मक बाधाओं का सामना करना पड़ता है। अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था पदानुक्रमित बनी हुई है, जिसमें गहरी शक्ति विषमताएं हैं जो नैतिक कार्रवाई को सीमित करती हैं। आलोचकों का तर्क है कि नैतिक सार्वभौमिकता को अंतर्निहित भौतिक असमानताओं को बदले बिना सॉफ्ट पावर बयानबाजी के रूप में इस्तेमाल किए जाने का जोखिम है।[13]

इसके अलावा, गंभीर सुरक्षा खतरों वाली स्थितियों में, राज्य नैतिक प्रतिबद्धताओं के बजाय अस्तित्व को प्राथमिकता दे सकते हैं। इसलिए, चुनौती संस्थागत ढांचों के भीतर नैतिक मानदंडों को स्थापित करने में है जो शक्ति को नियंत्रित कर सकें और सहयोग को प्रोत्साहित कर सकें। वसुधैव कुटुंबकम को यथार्थवाद के विकल्प के रूप में नहीं, बल्कि एक मानक सुधार के रूप में देखा जाना चाहिए जो शक्ति को जिम्मेदारी के साथ संतुलित करता है।

निष्कर्ष

इस लेख में यह तर्क दिया गया है कि वसुधैव कुटुंबकम अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में नैतिक आदर्शवाद को राजनीतिक व्यवहार के साथ मिलाने का एक महत्वपूर्ण प्रयास है। प्राचीन दर्शन में निहित होने के बावजूद समकालीन कूटनीति में तेजी से दिखाई देने वाला यह सिद्धांत राष्ट्रीय सीमाओं से परे वैश्विक चुनौतियों का सामना करने के लिए एक नैतिक ढांचा प्रदान करता है। जबकि संरचनात्मक असमानताएं और शक्ति राजनीति इसके पूर्ण साकार होने को सीमित करती रहती हैं, वसुधैव कुटुंबकम वैश्विक शासन की पुनर्कल्पना के लिए एक अनिवार्य नैतिक शब्दावली प्रदान करता है। अंतर्राष्ट्रीय संकटों से चिह्नित युग में, अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का मानवीकरण अब वैकल्पिक नहीं बल्कि आवश्यक है। दुनिया को एक साझा नैतिक समुदाय के रूप में पहचानकर, वसुधैव कुटुंबकम एक अधिक न्यायपूर्ण, सहकारी और टिकाऊ अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था की ओर एक मार्ग प्रदान करता है।

References:

1. Morgenthau, H. J. (1948). *Politics among nations: The struggle for power and peace*. New York, NY: Alfred A. Knopf.

2. Upanishad. (n.d.). *Maha Upanishad* (Chap. 6, Verse 71). Varanasi, India: Chowkhamba Sanskrit Series Office.
3. Vedas. (n.d.). *Rigveda Samhita* (Mandala 1, Sukta 164, Mantra 46). Gorakhpur, India: Gita Press.
4. Radhakrishnan, S. (1951). *Indian philosophy* (Vol. 1). London, UK: George Allen & Unwin.
5. Waltz, K. N. (1979). *Theory of international politics*. New York, NY: McGraw-Hill.
6. Wendt, A. (1992). Anarchy is what states make of it: The social construction of power politics. *International Organization*, 46(2), 391–425.
7. Mukherjee, R. K. (1928). *Ashoka* (2nd ed.). London, UK: Macmillan.
8. King, M. L., Jr. (1958). *Stride toward freedom: The Montgomery story*. New York, NY: Harper & Row.
9. United Nations General Assembly. (2023). *Report of the Open-ended Working Group on the question of equitable representation on and increase in the membership of the Security Council and other matters related to the Security Council* (UN Doc. A/77/CRP.1). New York, NY: United Nations.
10. Press Information Bureau, Government of India. (2021, November 25). *India's shared values and interests that inspired Vaccine Maitri*. New Delhi, India: Government of India.
11. Ministry of Environment, Forest and Climate Change, Government of India. (2022). *Mission LiFE (Lifestyle for Environment) document*. New Delhi, India: Government of India.
12. G20 Secretariat. (2023). *G20 New Delhi leaders' declaration*. New Delhi, India: G20 India Presidency.
13. Cox, R. W. (1981). Social forces, states and world orders: Beyond international relations theory. *Millennium: Journal of International Studies*, 10(2), 126–155.

The Quest for Anonymity and Risk of Erasure: A Study of Eclipse of language in Don DeLillo's *Mao II*

Dr. Nivedita Bhardwaj*
niveditabhardwaj35@gmail.com

Abstract

The present paper analyses the crisis of language in late modernity, where images, spectacle and media dominate the discourse and authors are forced to confront a sad decline of readership and the cultural authority of writers. Bill Gray, the recluse protagonist and an author, represents a paradoxical state of wanting anonymity that functions as resistance to the commercialisation of literature but also acts as a modus operandi for erasure. The paper argues that DeLillo situates this 'anonymity' within the larger theoretical framework of simulation, spectacle and the decline of linguistic authority hence, drawing from the critical insights of Jean Baudrillard and Roland Barthes as well as key DeLillo critics, the paper demonstrates through a rigid textual analysis on how Mao II reveals that anonymity is an unstable response to the rampant capitalisation and technical oversight, exposing how literary texts are sites of limited resistance in a world governed by visibility and not articulation.

Keywords:

Simulation; Spectacle; Baudrillard; Barthes; Capitalisation

Introduction:

Don DeLillo's repertoire exemplifies his longstanding concerns with the postmodern existence. Through his oeuvre, he has critically commented upon the late modernity's cultural condition. In *Mao II*, the author articulates the displacement of language by images and thoroughly implicates how images have become the dominant medium in which the meaning is expressed. DeLillo critiques the same through the statement asserted in his text that, "the novel used to feed our search for meaning," a declaration that is haunted by the elegiac tone (DeLillo 41). Contextualizing this argument, it is seen that the novel and by extension of its virtue the language itself, has lost its privileged role in shaping the collective consciousness. It is thus argued that DeLillo's *Mao II* marks the moment in his journey as an author where his longstanding concerns about literary authority are presented in a self-reflexive narrative style. John N Duvall, the most pertinent DeLillo scholar and critic, reads this novel as a critique of the nexus between television and the images in circulation. He furthers this argument by stating that the visual media functions as an, "unmediated mediation" supplanting the literary discourse (Duvall 560-562).

* **Assistant Professor, DoE & CS, Eternal University, Baru Sahib**

Bill Gray, the recluse author and protagonist from *Mao II* is the central character of this conflict. His anonymity, a sign of his defiance against the culture of capitalism and consumerism, turns futile. Bill's refusal to be an active part of the contemporary media culture can initially be read as a principled resistance to any attempts of commercialisation. He seeks to stay far from the whole idea of becoming a spectacle or existing in an age of constant surveillance. Yet, as the novel progresses, it becomes evident that his anonymity still cannot preserve his authority of language, instead, it is seen that Bill Gray becomes extremely irrelevant in a world where meaning is carefully constructed through images, violence and mass visibility. David Begg, another prominent critic argues how Bill Gray, the protagonist, is a representation of the public intellectual and how the novel discerns the dramatization of the exhaustion of a writer's cultural authority in an era which is dominated by mass media (Begg 260-263).

In the critical discourse centred around DeLillo, it can hence be underscored that the author's *Mao II* is heavily concerned with media, terror and the declining role of authors and the instinct to become anonymous is either a biographical trait of the character or a secondary symptom of media saturation. The present paper thus argues that *Mao II* by Don DeLillo exemplifies 'anonymity' as an ambivalent condition in the contemporary modern period, where it simultaneously acts as a gesture of resistance and also an act of erasure. Positioning this argument within a larger overarching theoretical framework of Baudrillard's concept of simulation and Debord's theory of spectacle and the prominent critiques of authorship in poststructuralist tradition, this paper argues that DeLillo attempts at linking the fate of anonymity to the diminishing force of language in a culture where images dominate the narrative and meaning-making process. Through a close reading of the text and illustrative DeLillo criticism, the paper demonstrates that the novel *Mao II* is DeLillo's ultimate exposé of the limits of literary withdrawal as an ethical and political stance.

Theoretical Framework:

In Guy Debord's *The Society of the Spectacle* published in the year 1994, the critic provides a foundational framework through which DeLillo's novel *Mao II* can be read as a critique of the image culture which is prevalent in the modern era. According to Debord, a spectacle is defined as a social relation which is mediated by images, and where the representation supplants lived experience (Debord 12). This is concurrent with Baudrillard's argument of simulation where the society experiences images as not a reflection of reality but reality itself. Thus, the contemporary reality is constituted of images.

In *Mao II*, the author Don DeLillo, dramatizes this condition through a careful focus on the aspects that are a direct consequence of existing in contemporary times. He highlights the role of crowds, violence that is televised and any photographic representation of what constitutes truth in these unpredictable times. Mark Osteen, a prominent DeLillo critic observes in his, *American Magic and Dread*, published in the year 2000 that DeLillo through his fiction interrogates "the way media images come to dominate not only perception but ethical judgment itself" (138). It can be thus argued that language by contrast requires efforts, duration, interpretation and interiority, all the qualities which are ill-suited to the rapid circulation of images.

Based on Debord's critical arguments on society and spectacle, the novel thus is understood best as a cultural critique. It reflects on how visibility has replaced the discourse as the central locus of power. The modern societies are hence, a congregation of passive minds where representations rather than lived experience is prioritised. Debord thus argues how such societies are organized around these representations as they slowly become the primary mediators of all social relations or hierarchy (Debord 12). Spectacle, therefore, is not a mere collection of images but it becomes a stringent condition of existence in which visibility is equivalent to power.

The novel offers an exaggerated, sensationalized and repeated version of this logic. In the very opening scene of the novel, a mass wedding is taking place at the world renowned Yankee stadium. It is the image in which a collective submission is witnessed, thus signifying, a ritualized spectacle. As the novel progresses, a repetition of these motifs such as, crowd, televising of events and even images of hostages recur. These act as a dominant form of meaning production. On the contrary, language appears increasingly in the periphery. It becomes private, slow and resistant to circulation. Mark Osteen in his seminal text, *American Magic and Dread* published in the year 2000, observes this about the fiction of Don DeLillo, he states that it interrogates "the authority of images in shaping ethical and political response" (138) thus reinforcing how the contemporary society does not reflect reality through images but is composed of these images in dominant discourse.

The predicament of Bill Gray as a recluse and rebellious author can be read through poststructuralist theories of authorship as the novel's treatment of authorship resonates with the critiques deliberated and articulated by Roland Barthes and Michel Foucault. Barthes in particular is prominent as the propounder of dismantling any authorial authority that acts as the stable source of meaning by declaring that there is 'death' of the author, once the text has been disseminated into the world. The same can be concurred in the writings of Michel Foucault whose concept of 'author function' challenges the idea of author as the origin of the meaning. It can be deduced that in the contemporary times, 'author' and 'authorship' have become a component of classification and commercial mechanism rather than any site of actual authority.

In *Mao II*, Bill's anonymity can be discerned as his endeavour to escape this function and according to Foucauldian criticism, this disappearance is not liberating discourse but is conduit of newer forms of control. In the novel anonymity thus does not restore any kind of power to language but it furthers the disengagement and accelerates its marginalization within the larger culture of speactacle. It can thus be argued that discourse in the contemporary postmodern era often becomes vulnerable to the domination of spectacle and in large violence as evident in the novel by Don DeLillo.

Jean Baudrillard, the most affluent postmodern critic in contemporary times, put forward the theory of simulation that can be used to contextualize DeLillo's vision. Baudrillard argues that the signs, in late modernity, have no longer any reference to any reality, but they generate meaning through referring to other signs, producing a suspended state of simulated reality that is symptomatic of what he calls as 'hyperreality' (2) as posited in his pertinent text called as *Simulacra and Simulation* originally published in the year 1981 and later republished in English in the year 1983. Baudrillard

furthers this postulation by underlining how images cease to represent any form of reality and in *Mao II* it can be addressed through the whole image economy where terrorist images exemplify this process as hostage photographs and televised violence become real events in themselves instead of mere documentation of the same. The power behind this emulation lies in the constant repetition as no explanation accompanies them but the images become self-explanatory. Language, which on the contrary, depends largely on interpretation and temporal engagement thus cannot stand against this system of economy that is built on instant visibility. It can hence be argued that Bill Gray's novels, though grounded in interior reflection, are still eclipsed by the violent spectacle that is easily accessible through a medium of televised images in constant circulation.

The Eclipse of Language: An Analysis of *Mao II*

The novel offers a marginal position to language by relegating it to a private space. The recluse protagonist, Bill Gray, writes alone and is rarely seen in public. As an author he speaks sparingly and almost always avoids public discourse altogether. At his prime, the novels of Bill Gray were capable of shaping cultural debate but now the same exist as isolated artifacts. This privatization of language and discourse is what according to the seminal critic Peter Boxall is best described in his analysis of DeLillo's fiction in *Don DeLillo: The Possibility of Fiction* published in the year 2006, as the author's concern with "the shrinking public space of literary language" (Boxall 198), a state in which the standard literary discourse becomes progressively detached from the collective life, thus delineating how language has not lost its expressive potential but has lost its collective efficacy.

Therefore in *Mao II*, protagonist Bill Gray's words no longer create the social buzz and are neither circulated socially. They merely exist as antiquities rather than public interventions, suggesting how the words are no longer required to shape collective narratives but images do. Bill's quiet retreat is not merely empty, it is also ethically charged. The author constantly fears that language, if exposed to mass media even once, will become degraded to the point of almost simplification, sensationalism and finally a cob in the wheel of the machinery of spectacle. Hence, his constant refusal to conduct himself publicly is the author's way of attempting to protect language from contamination. Bill does not want language to be stripped of its nuance and depth, thus the refusal to speak is a moral stance.

Despite the effort, DeLillo in *Mao II* persistently questions whether this protection is possible since silence preserves purity but it also forfeits influence. DeLillo, therefore, presents silence as an uneasy compromise between integrity and irrelevance and not as transcendence and in *Mao II* silence maybe ethically motivated but it fails to challenge the system that marginalize language, allowing the other forces that have risen out of the intersectional complexities of existing in a technologically driven postmodern world such as terrorism, media and spectacle to dominate the whole meaning production.

Bill Gray's anonymity is DeLillo's way of safeguarding the role of authors in the contemporary times as it is a silent rebellion against the culture of commodification of authorship. It is a testament to the author's prowess to align with the tradition of positioning himself as against the spectacle-driven society that has a culture of demanding visibility. Bill Gray mirrors DeLillo's seclusion as

both refuse to appear in public so as to reject the reduction of authors to a mere commercialised image.

John Duvall in his 1999 published research entitled, "The (Super)Marketplace of Images: Television as Unmediated Mediation in DeLillo's *Mao II*" asserts that DeLillo's writers are often reclusive like himself and they often embody "a residual modernist faith in artistic withdrawal as a form of integrity" (164) because anonymity grants them a position of privilege from where they can decide to be a part of this mass production or not. The withdrawal acts as an agency of ethical integrity even when the novel itself questions its effectiveness within the contemporary media systems (Duvall 164-166). The anonymity, therefore, represents the refusal to allow language to be subordinated to spectacle.

However, this withdrawal can also be examined from the lens of Theodore Adorno's claim of how art's critical power lies in its resistance to instrumental logic as the withdrawal also constitutes a form of negative agency because it prioritises refusal over engagement. Yet the conspicuous endeavor at not seeking to compete with images but to stand apart from them in *Mao II* leads to complicate this resistance by illustrating how refusal can slide into impotence. Negative agency may hence preserve moral distance but it does not necessarily produce cultural impact.

The novel also discerns the constant risk of erasure that can be brought along with the choice of remaining anonymous. In *Mao II*, DeLillo makes the most provocative claim of how terrorists have displaced authors as the shapers of collective consciousness. Terrorism in the novel is seen as a modus operandi of not just political violence but it is inferred as a communicative system that exploits the logic rendered by the system of spectacle. As argued by Margaret Scanlan in her 2001 published research article entitled, "Language, Terror, and the Failure of Representation in *Mao II*", DeLillo thus presents 'terror' as a form of representation that "exposes the incapacity of language to compete with the immediacy of violence as image" (Scanlan 512). The photographs of hostages and televised executions that are circulated globally thus produce meaning through shock and repetition rather than any depth in their narrative.

The terrorists, despite their obvious anonymity, generate these highly visible spectacles in which them being anonymous helps in amplification of the event and subsequently their own anonymity rather than diminishing their power, as clearly observed by Bill Gray that, terrorists "make raids on human consciousness" that no writer can any longer (DeLillo 157). This comparative between the two thus highlights the failure of literary anonymity unlike their counterpart, the terrorist anonymity because literary anonymity does not translate into mass visibility. Bill Gray's observation hence outlines how violent spectacles have replaced literary language and discourse as a dominant mode of public address.

The cultural power that is tied with such spectacular violence forces the readers to critically analyse how the contrast between the author and the terrorists reframes the role of the public intellectual. The critic, David Begg argues how Bill Gray is the exemplification of the collapse of the writer's public function. He furthers this notion by portraying how anonymity renders the protagonist author as "structurally incapable of intervention" within contemporary media culture (Begg 265). Bill

Gray's anonymity fails to generate the counter discourse that he aimed at instead, his willingness to remain excluded from the circuit of meaning making confirms the domination of images over literary expression.

The contemporary times which critics posit as the period of late modernity render visibility as synonymous with authority. Critics like Douglas Kellner and Paul Virilio maintain that power operates through speed, circulation and visual saturation instead of deliberative discourse. Bill's anonymity thus becomes synonymous with disappearance and is no longer perceived as a gesture of resistance. The author's most powerful weapon, his language, is thus confined to private manuscripts because it fails to compete with the spectaculars and immediacy of imagery propagated and circulated in media. The circuits of meaning which are primarily dictated by these images are reflective of the dynamic that Baudrillard theorizes as the disappearance of the real behind its representations which further leads to a state of suspended simulation.

The fate of language in this contest between images and literary discourse thus remains obscure. In the novel, the character of Brita Nilsson embodies this ethical ambiguity of image culture. The prominent photographer seeks to click Bill's pictures precisely because his anonymity can be capitalised upon as it is symbolic, and it is absolutely ironic to note how Bill Gray's resistance to being photographed produces its own spectacle. Therefore, pictures or photography as suggested by Don DeLillo and concurred by critics like Mark Osteen offer the illusion of truth because it demands immediate consumption unlike language that requires interpretation for meaning and semblance of reality (Osteen 145). Brita's images hence, participate in the same nexus of economic profit where images marginalize literary discourse. Eventually, it is seen in the novel that the recluse author finally is exposed to the camera underscoring the futility in his silent resistance. His withdrawal thus becomes a form of visibility and thus it can be argued that in *Mao II* DeLillo attempts at proposing how image culture eventually absorbs all opposition and transforms refusal into spectacle.

Conclusion

Mao II by Don DeLillo therefore presents anonymity as an unstable outcome of existence in the contemporary times. It is a direct response to late modernity's spectacle driven culture. Bill Gray's refusal in participation in the commodification of literature and authors is initially seen as a principled resistance to the domination of images but it is ultimately synthesized as the author's inability to preserve cultural authority. Hence, it is evident from the text that anonymity does not preserve the power of language but it exposes the marginalization of the same.

The paper attempted at situating this anonymity within a broader theoretical framework of spectacle, simulation and poststructuralism and underlining how DeLillo has demonstrated that the crisis faced by language, literature and authors in general is systemic in nature and not individual. He demonstrates the limits of literary resistance in a world which is saturated with images. Language, which was once the primal force of collective meaning and shaping culture and civilization, is now seen as struggling to compete with the immediacy and affective power of images. Consequently, the

silence of authors does not restore any authority or preserve any linguistic integrity, instead it leads to the confirmation of marginalization and the eventual risk of erasure.

The novel by Don DeLillo does not offer any epistemic solution to this dilemma but it articulates the problem with a definitive clarity that forces its readers to confront the precariousness of the future of literature in a culture where the dominance of images procures visibility and this visibility governs power. It can also be concluded from this argument that anonymity often oscillates between defiance and disappearance.

REFERENCES

Barthes, Roland. "The Death of the Author." *Image–Music–Text*, translated by Stephen Heath, Hill and Wang, 1977, pp. 142–148.

Baudrillard, Jean. *Simulacra and Simulation*. Translated by Sheila Faria Glaser, University of Michigan Press, 1994.

Begg, David. "Don DeLillo's *Mao II* and the Failure of the Public Intellectual." *Journal of American Studies*, vol. 44, no. 2, 2010, pp. 259–276.

Boxall, Peter. *Don DeLillo: The Possibility of Fiction*. Routledge, 2006.

Debord, Guy. *The Society of the Spectacle*. Translated by Donald Nicholson-Smith, Zone Books, 1994.

DeLillo, Don. *Mao II*. Penguin Books, 1991.

Duvall, John N. "The (Super)Marketplace of Images: Television as Unmediated Mediation in DeLillo's *Mao II*." *Modern Fiction Studies*, vol. 45, no. 3, 1999, pp. 559–581.

Foucault, Michel. "What Is an Author?" *Language, Counter-Memory, Practice*, edited by Donald F. Bouchard, Cornell University Press, 1977, pp. 113–138.

Jameson, Fredric. *Postmodernism, or, The Cultural Logic of Late Capitalism*. Duke University Press, 1991.

Kellner, Douglas. *Media Spectacle*. Routledge, 2003.

LeClair, Tom. *In the Loop: Don DeLillo and the Systems Novel*. University of Illinois Press, 1987.

Osteen, Mark. *American Magic and Dread: Don DeLillo's Dialogue with Culture*. University of Pennsylvania Press, 2000.

Peters, John Durham. *Speaking into the Air: A History of the Idea of Communication*. University of Chicago Press, 1999.

Scanlan, Margaret. "Language, Terror, and the Failure of Representation in *Mao II*." *Contemporary Literature*, vol. 42, no. 3, 2001, pp. 503–529.

Virilio, Paul. *The Information Bomb*. Translated by Chris Turner, Verso, 2000.

भाषा, मन और वास्तविकता : पारस्परिक संबंधों का दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक अध्ययन

डॉ. अम्ब्रीश त्रिपाठी*
ambreesh.tripathi@gmail.com

सार

भाषा, मन और वास्तविकता मानव अनुभव के तीन मूलभूत आयाम हैं, जो परस्पर गहरे रूप से जुड़े हुए हैं। भाषा केवल संप्रेषण का साधन नहीं है, बल्कि यह विचारों के संगठन, अनुभूतियों की अभिव्यक्ति और सामाजिक यथार्थ के निर्माण का महत्वपूर्ण माध्यम भी है। मन वह केंद्र है जहाँ संवेदनाएँ, विचार, स्मृतियाँ और कल्पनाएँ रूप ग्रहण करती हैं, तथा भाषा इन्हें व्यक्त करने का संरचनात्मक उपकरण प्रदान करती है। वास्तविकता, चाहे वह वस्तुनिष्ठ हो या व्यक्तिनिष्ठ, मन के अनुभवों और भाषा की संरचना के माध्यम से ही समझी और व्याख्यायित होती है।

इस शोध-पत्र में भाषा, मन और वास्तविकता के त्रिकोणीय संबंध का विश्लेषण दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक और भाषावैज्ञानिक दृष्टिकोणों से किया गया है। दार्शनिक स्तर पर यह विचार किया गया है कि वास्तविकता का बोध भाषा के माध्यम से ही संभव होता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से संज्ञानात्मक प्रक्रियाएँ, जैसे अवधारणा-निर्माण, स्मृति और प्रतीकात्मक चिंतन, भाषा से गहराई से प्रभावित होती हैं। वहीं भाषावैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में यह स्पष्ट किया गया है कि भाषा न केवल विचारों को व्यक्त करती है, बल्कि उन्हें आकार भी देती है।

विशेष रूप से भाषिक निर्धारणवाद, संज्ञानात्मक मनोविज्ञान और सामाजिक निर्माणवाद के सिद्धांतों का विवेचन करते हुए यह दर्शाया गया है कि भाषा मानव अनुभव की संरचना में सक्रिय भूमिका निभाती है। निष्कर्षतः, भाषा, मन और वास्तविकता के बीच संबंध परस्पर आश्रित, गतिशील और बहुस्तरीय है, जो मानव ज्ञान, संस्कृति और सामाजिक जीवन की समझ के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है।

मुख्य शब्द:
भाषा, मन, वास्तविकता, संज्ञान, अनुभूति, भाषिक निर्धारणवाद

1. प्रस्तावना

मानव सभ्यता के विकास में भाषा की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण और आधारभूत रही है। भाषा केवल संप्रेषण का माध्यम नहीं है, बल्कि यह मानव के विचार-निर्माण, अनुभव-संगठन और ज्ञान-संरचना का प्रमुख उपकरण भी है। मनुष्य भाषा के माध्यम से न केवल अपने भावों और विचारों का आदान-प्रदान करता है, बल्कि वह अपने आसपास की दुनिया को समझने, वर्गीकृत करने और उसकी व्याख्या करने का कार्य भी करता है। इस प्रकार भाषा, मन और वास्तविकता के बीच एक गहरा और जटिल संबंध स्थापित होता है, जो सदियों से दर्शनशास्त्र, मनोविज्ञान और भाषाविज्ञान के चिंतन का केंद्रीय विषय रहा है।

दार्शनिक दृष्टि से यह प्रश्न अत्यंत महत्वपूर्ण माना गया है कि क्या वास्तविकता भाषा से स्वतंत्र अस्तित्व रखती है या भाषा ही वास्तविकता के निर्माण और उसके बोध को प्रभावित करती है। कुछ दार्शनिकों का मत है कि भाषा केवल

* **हिंदी संकाय, इटरनल विश्वविद्यालय, बरु साहिब, सिरमौर, हिमाचल प्रदेश**

वास्तविकता का वर्णन करती है, जबकि अन्य विचारधाराएँ यह मानती हैं कि भाषा वास्तविकता के अनुभव को संरचित और सीमित करती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी भाषा और मन के संबंध पर व्यापक अध्ययन हुआ है। यह विचार प्रमुख रहा है कि मनुष्य की सोच, स्मृति, कल्पना और ज्ञान की संरचना भाषा के साथ गहरे रूप से जुड़ी होती है।

भाषावैज्ञानिक क्षेत्र में भी इस विषय पर महत्वपूर्ण सिद्धांत प्रस्तुत किए गए हैं। एडवर्ड सपीर और बेंजामिन ली व्हॉर्फ ने भाषिक निर्धारणवाद का सिद्धांत प्रस्तुत करते हुए यह प्रतिपादित किया कि भाषा मनुष्य की सोच और विश्व-दृष्टि को प्रभावित करती है। इसके विपरीत, नोम चॉम्स्की ने भाषा को मानव मन की एक जन्मजात क्षमता के रूप में व्याख्यायित किया और सार्वभौमिक व्याकरण की अवधारणा प्रस्तुत की।

इस शोध-पत्र का उद्देश्य भाषा, मन और वास्तविकता के इन तीनों आयामों के पारस्परिक संबंध का समग्र और विश्लेषणात्मक अध्ययन करना है, ताकि यह समझा जा सके कि भाषा किस प्रकार मानव चेतना, विचार-प्रक्रिया और विश्व-बोध को प्रभावित करती है।

2. भाषा की अवधारणा और स्वरूप

2.1 भाषा की परिभाषा

भाषा ध्वनियों या प्रतीकों की एक व्यवस्थित प्रणाली है जिसके माध्यम से मनुष्य अपने विचारों, भावनाओं और अनुभवों को व्यक्त करता है।

2.2 भाषा की विशेषताएँ

सामाजिकता – भाषा मूलतः एक सामाजिक संस्था है, जिसका विकास समाज के भीतर ही होता है। कोई भी व्यक्ति अकेले भाषा का निर्माण नहीं कर सकता, बल्कि यह सामूहिक जीवन, परस्पर संपर्क और सामाजिक आवश्यकताओं के कारण विकसित होती है। भाषा समाज के विचारों, परंपराओं, संस्कृति और मूल्यों को अभिव्यक्त करने का माध्यम होती है। समाज के बदलने के साथ भाषा में भी परिवर्तन होता रहता है, जैसे नए शब्दों का निर्माण और पुराने शब्दों का लुप्त होना। विभिन्न क्षेत्रों, वर्गों और समुदायों में भाषा के भिन्न रूप देखने को मिलते हैं। इस प्रकार भाषा और समाज एक-दूसरे के पूरक हैं।

प्रतीकात्मकता – भाषा की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता उसकी प्रतीकात्मकता है, क्योंकि भाषा शब्दों, ध्वनियों और संकेतों के रूप में प्रतीकों का उपयोग करती है। ये प्रतीक किसी वस्तु, विचार, भावना या क्रिया का प्रतिनिधित्व करते हैं, परंतु उनका उस वस्तु से सीधा संबंध नहीं होता। उदाहरण के लिए "पानी" शब्द स्वयं पानी नहीं है, बल्कि उसका प्रतीक है। भाषा की यही विशेषता मनुष्य को अमूर्त विचारों, कल्पनाओं और जटिल भावनाओं को व्यक्त करने में सक्षम बनाती है। प्रतीकात्मकता के कारण ही भाषा सीमित ध्वनियों से असीम अर्थ व्यक्त कर सकती है।

रचनात्मकता – भाषा की रचनात्मकता का अर्थ है कि भाषा के माध्यम से मनुष्य नए-नए वाक्य, विचार और अभिव्यक्तियाँ उत्पन्न कर सकता है। सीमित शब्दों और नियमों के बावजूद भाषा अनंत संभावनाओं से भरपूर होती है। व्यक्ति अपनी कल्पना, अनुभव और भावनाओं के आधार पर नए अर्थों का निर्माण कर सकता है। साहित्य, कविता, कहानियाँ और वैज्ञानिक विचार इसी रचनात्मकता के उदाहरण हैं। भाषा की यह विशेषता मानव बुद्धि और कल्पना-शक्ति के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है तथा ज्ञान के विस्तार को संभव बनाती है।

परिवर्तनशीलता – भाषा स्थिर नहीं होती, बल्कि समय, स्थान और समाज के अनुसार बदलती रहती है। सामाजिक परिवर्तनों, सांस्कृतिक संपर्क, तकनीकी विकास और पीढ़ियों के अंतर के कारण भाषा में नए शब्द जुड़ते हैं और पुराने शब्दों का प्रयोग कम हो जाता है। उदाहरण के लिए आधुनिक तकनीक के साथ कई नए शब्द प्रचलित हुए हैं। भाषा की परिवर्तनशीलता ही उसे जीवंत बनाए रखती है और समाज की बदलती आवश्यकताओं के अनुरूप ढालती है। यही कारण है कि भाषा निरंतर विकसित होती रहती है और कभी पूर्ण रूप से स्थिर नहीं रहती।

2.3 भाषा का कार्य

संप्रेषण का माध्यम- भाषा का सबसे प्रमुख कार्य संप्रेषण का माध्यम होना है। मनुष्य अपने विचार, भावनाएँ, अनुभव और सूचनाएँ भाषा के माध्यम से दूसरों तक पहुँचाता है। यह संप्रेषण मौखिक, लिखित या सांकेतिक रूप में हो सकता है। भाषा के बिना सामाजिक जीवन की कल्पना संभव नहीं है, क्योंकि यह लोगों के बीच संपर्क स्थापित करती है और आपसी समझ को विकसित करती है। परिवार, शिक्षा, प्रशासन और व्यापार जैसे सभी क्षेत्रों में भाषा की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इस प्रकार भाषा मनुष्य के सामाजिक जीवन को व्यवस्थित और सक्रिय बनाए रखने का प्रमुख साधन है।

विचारों की संरचना- भाषा केवल विचारों को व्यक्त ही नहीं करती, बल्कि उन्हें व्यवस्थित और संरचित भी करती है। मनुष्य अपने मन में उत्पन्न विचारों को भाषा के माध्यम से स्पष्ट रूप देता है। भाषा के बिना जटिल चिंतन, तर्क और विश्लेषण संभव नहीं होते। जब व्यक्ति किसी समस्या पर सोचता है, तो वह शब्दों और वाक्यों के रूप में ही सोचता है। भाषा विचारों को क्रमबद्ध बनाती है और उन्हें समझने योग्य स्वरूप प्रदान करती है। इस प्रकार भाषा मानसिक विकास, तार्किक क्षमता और बौद्धिक प्रगति का महत्वपूर्ण आधार बनती है।

ज्ञान का संरक्षण- भाषा ज्ञान को सुरक्षित रखने और पीढ़ी दर पीढ़ी स्थानांतरित करने का प्रमुख माध्यम है। प्राचीन ग्रंथ, साहित्य, इतिहास और वैज्ञानिक खोजें भाषा के माध्यम से ही संरक्षित की जाती हैं। यदि भाषा न होती, तो मानव सभ्यता का संचित ज्ञान नष्ट हो जाता। शिक्षा प्रणाली भी भाषा पर आधारित है, जिसके द्वारा विद्यार्थी नई जानकारी प्राप्त करते हैं। भाषा के कारण ही अनुभव, परंपराएँ और सांस्कृतिक धरोहर सुरक्षित रहती हैं। इस प्रकार भाषा मानव ज्ञान और संस्कृति की निरंतरता बनाए रखने का महत्वपूर्ण साधन है।

सामाजिक पहचान का निर्माण- भाषा व्यक्ति और समाज की पहचान का महत्वपूर्ण आधार होती है। किसी व्यक्ति की भाषा उसके क्षेत्र, संस्कृति, समुदाय और सामाजिक पृष्ठभूमि को दर्शाती है। विभिन्न भाषाएँ और बोलियाँ अलग-अलग समूहों की सांस्कृतिक विशिष्टता को प्रकट करती हैं। भाषा के माध्यम से व्यक्ति अपने समाज से जुड़ाव महसूस करता है और अपनी पहचान को व्यक्त करता है। यही कारण है कि भाषा केवल संचार का साधन नहीं, बल्कि सांस्कृतिक और सामाजिक एकता का प्रतीक भी है। इस प्रकार भाषा सामाजिक संबंधों को मजबूत बनाती है और सामूहिक पहचान का निर्माण करती है।

इस प्रकार भाषा केवल अभिव्यक्ति का साधन नहीं, बल्कि ज्ञान और संस्कृति का आधार है।

3. मन की अवधारणा

3.1 **मन की परिभाषा**

मन को चेतना, विचार, अनुभूति और स्मृति का केंद्र माना जाता है। यह वह माध्यम है जिसके द्वारा मनुष्य बाह्य जगत का अनुभव करता है।

3.2 **मन के प्रमुख कार्य**-

ज्ञान ग्रहण करना – इंद्रियों के माध्यम से।

स्मृति निर्माण – अनुभवों का संग्रह।

चिंतन – समस्याओं का समाधान।

निर्णय – विकल्पों का चयन।

3.3 **मन और भाषा का संबंध**- मन और भाषा का संबंध अत्यंत घनिष्ठ और परस्पर निर्भर है। भाषा मन की संरचना को व्यवस्थित करती है, क्योंकि मन में उत्पन्न विचार, भावनाएँ और कल्पनाएँ भाषा के माध्यम से स्पष्ट और सुव्यवस्थित रूप प्राप्त करते हैं। मनुष्य जब सोचता है, तो वह प्रायः शब्दों और वाक्यों के रूप में ही सोचता है। भाषा विचारों को दिशा देती है, उन्हें क्रमबद्ध बनाती है और अभिव्यक्ति योग्य बनाती है। दूसरी ओर, मन भाषा को अर्थ प्रदान करता है और अनुभवों के

आधार पर उसे विकसित करता है। इस प्रकार भाषा और मन एक-दूसरे के पूरक हैं और मिलकर ज्ञान एवं चिंतन की प्रक्रिया को संभव बनाते हैं।

4. वास्तविकता की अवधारणा

4.1 **वास्तविकता का अर्थ-**वास्तविकता से तात्पर्य उस अस्तित्व या सत्य से है जो वास्तव में विद्यमान है या जिसे मनुष्य अपने अनुभवों के माध्यम से जानता और महसूस करता है। यह केवल बाहरी भौतिक जगत तक सीमित नहीं होती, बल्कि इसमें मनुष्य की अनुभूतियाँ, विचार, भावनाएँ और विश्वास भी शामिल होते हैं। वास्तविकता का एक पक्ष वस्तुनिष्ठ होता है, जो सभी के लिए समान रहता है, जैसे प्रकृति और भौतिक वस्तुएँ; जबकि दूसरा पक्ष व्यक्तिनिष्ठ होता है, जो व्यक्ति के अनुभव, दृष्टिकोण और मानसिक स्थिति पर निर्भर करता है। इस प्रकार वास्तविकता अनुभव, ज्ञान और व्याख्या का समन्वित रूप है।

4.2 **वास्तविकता के प्रकार**

(1) **वस्तुनिष्ठ वास्तविकता**

वस्तुनिष्ठ वास्तविकता से तात्पर्य उस वास्तविकता से है जो मानव अनुभव, विचार या भावनाओं से स्वतंत्र रूप से अस्तित्व में रहती है। यह सभी व्यक्तियों के लिए समान होती है और व्यक्तिगत दृष्टिकोण से प्रभावित नहीं होती। भौतिक जगत, प्रकृति, पर्वत, नदियाँ, आकाश, ग्रह-नक्षत्र आदि इसके प्रमुख उदाहरण हैं। वैज्ञानिक अध्ययन मुख्यतः इसी प्रकार की वास्तविकता पर आधारित होते हैं, क्योंकि इसे अवलोकन, प्रयोग और प्रमाण के माध्यम से समझा जा सकता है। वस्तुनिष्ठ वास्तविकता स्थिर और सार्वभौमिक मानी जाती है, जो मनुष्य की मान्यताओं या धारणाओं से प्रभावित नहीं होती।

(2) **व्यक्तिनिष्ठ वास्तविकता**

व्यक्तिनिष्ठ वास्तविकता से तात्पर्य उस वास्तविकता से है जो व्यक्ति के अनुभव, दृष्टिकोण, भावनाओं और विश्वासों पर आधारित होती है। यह प्रत्येक व्यक्ति के लिए अलग-अलग हो सकती है, क्योंकि हर व्यक्ति की सोच, परिस्थितियाँ और अनुभव भिन्न होते हैं। उदाहरण के लिए, किसी घटना को एक व्यक्ति सकारात्मक मान सकता है, जबकि दूसरा उसे नकारात्मक रूप में देख सकता है। प्रेम, भय, विश्वास, मूल्य और धारणाएँ व्यक्तिनिष्ठ वास्तविकता के प्रमुख उदाहरण हैं। इस प्रकार यह वास्तविकता मन की व्याख्या और अनुभूति से निर्मित होती है तथा व्यक्तिगत दृष्टिकोण के अनुसार बदलती रहती है।

4.3 **सामाजिक वास्तविकता**

सामाजिक वास्तविकता से तात्पर्य उस वास्तविकता से है जो समाज, भाषा, परंपराओं और सामाजिक संस्थाओं के माध्यम से निर्मित होती है। यह प्राकृतिक रूप से मौजूद नहीं होती, बल्कि लोगों के सामूहिक विश्वास, व्यवहार और पारस्परिक संबंधों के आधार पर विकसित होती है। उदाहरण के लिए, जाति-व्यवस्था, सामाजिक मानदंड, कानून, पद-प्रतिष्ठा और सांस्कृतिक परंपराएँ सामाजिक वास्तविकता के रूप हैं। भाषा इसमें महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है, क्योंकि उसी के माध्यम से सामाजिक नियम, मूल्य और धारणाएँ व्यक्त और संरक्षित होते हैं। इस प्रकार सामाजिक वास्तविकता समाज के सामूहिक अनुभव और सहमति से निर्मित होती है।

5. भाषा और मन का संबंध

5.1 **भाषिक निर्धारणवाद**

भाषिक निर्धारणवाद वह सिद्धांत है जिसके अनुसार भाषा मनुष्य के विचारों और उसकी वास्तविकता की समझ को निर्धारित करती है। इस मत के अनुसार व्यक्ति जिस भाषा का प्रयोग करता है, वही उसकी सोच, अनुभव और दुनिया को देखने के तरीके को प्रभावित करती है। भाषा केवल विचारों की अभिव्यक्ति का साधन नहीं, बल्कि उनके निर्माण का आधार भी

होती है। अलग-अलग भाषाओं के शब्द, संरचनाएँ और अभिव्यक्तियाँ वास्तविकता को समझने के अलग दृष्टिकोण प्रदान करती हैं। इस प्रकार भाषा व्यक्ति की मानसिक संरचना और उसकी विश्व-दृष्टि को आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

5.2 **संज्ञानात्मक दृष्टिकोण**

संज्ञानात्मक दृष्टिकोण के अनुसार भाषा और मन के बीच गहरा और परस्पर प्रभावकारी संबंध होता है। संज्ञानात्मक मनोविज्ञान मानता है कि भाषा विचारों को व्यवस्थित करने और उन्हें स्पष्ट रूप देने का कार्य करती है। मन में उत्पन्न धारणाएँ, अनुभव और अवधारणाएँ भाषा के माध्यम से संरचित होती हैं। दूसरी ओर, मन भाषा को अर्थ प्रदान करता है, क्योंकि शब्दों का सही अर्थ व्यक्ति के अनुभव और ज्ञान पर निर्भर करता है। भाषा मानसिक विकास को भी प्रभावित करती है, क्योंकि सीखने, तर्क करने और समस्याओं का समाधान करने की प्रक्रिया भाषा के सहारे ही संभव होती है। इस प्रकार भाषा और मन एक-दूसरे के पूरक हैं।

प्रमुख बिंदु

भाषा विचारों को संरचना देती है- भाषा विचारों को व्यवस्थित और स्पष्ट रूप प्रदान करने का महत्वपूर्ण साधन है। मन में उत्पन्न धारणाएँ, भावनाएँ और कल्पनाएँ प्रारंभ में अस्पष्ट होती हैं, लेकिन भाषा उन्हें क्रमबद्ध और समझने योग्य बनाती है। जब व्यक्ति किसी विषय पर सोचता है, तो वह शब्दों और वाक्यों के माध्यम से ही अपने विचारों को संगठित करता है। भाषा के कारण जटिल अवधारणाओं को सरल रूप में व्यक्त करना संभव होता है। इस प्रकार भाषा विचार-प्रक्रिया को दिशा देती है और चिंतन को व्यवस्थित बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

मन भाषा को अर्थ प्रदान करता है- भाषा के शब्द और संकेत तभी अर्थपूर्ण होते हैं जब मन उन्हें समझता और व्याख्यायित करता है। एक ही शब्द का अर्थ अलग-अलग व्यक्तियों के लिए भिन्न हो सकता है, क्योंकि उसका संबंध व्यक्ति के अनुभव, ज्ञान और भावनाओं से होता है। मन अपने पूर्व अनुभवों, स्मृतियों और संदर्भों के आधार पर शब्दों को अर्थ देता है। इसलिए भाषा केवल ध्वनियों या संकेतों का समूह नहीं, बल्कि मन की व्याख्या से जीवंत बनती है। इस प्रकार मन भाषा को अर्थपूर्ण और प्रभावी बनाने में केंद्रीय भूमिका निभाता है।

भाषा मानसिक विकास को प्रभावित करती है- भाषा मानसिक विकास का आधार मानी जाती है, क्योंकि सीखने, सोचने और तर्क करने की प्रक्रियाएँ भाषा के माध्यम से ही संभव होती हैं। बाल्यावस्था में जैसे-जैसे भाषा का विकास होता है, वैसे-वैसे बच्चे की सोचने, समझने और समस्या हल करने की क्षमता भी बढ़ती है। भाषा व्यक्ति को ज्ञान अर्जित करने, अनुभव साझा करने और नई अवधारणाओं को समझने में सहायता करती है। शिक्षा प्रणाली भी भाषा पर आधारित होती है, जिससे बौद्धिक विकास संभव होता है। इस प्रकार भाषा मानसिक क्षमता और बौद्धिक प्रगति को सीधे प्रभावित करती है।

6. भाषा और वास्तविकता का संबंध

भाषा और वास्तविकता के बीच अत्यंत घनिष्ठ संबंध होता है। भाषा केवल वास्तविकता का वर्णन करने का साधन नहीं है, बल्कि वह उसे समझने और व्याख्यायित करने का माध्यम भी है। मनुष्य अपने अनुभवों और परिवेश को भाषा के माध्यम से अर्थ देता है और उसी के आधार पर वास्तविकता की धारणा विकसित करता है। अलग-अलग भाषाएँ एक ही वस्तु या घटना को भिन्न दृष्टिकोण से प्रस्तुत कर सकती हैं, जिससे वास्तविकता की समझ भी बदल सकती है। इस प्रकार भाषा वास्तविकता का प्रतिबिंब भी है और सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भों में उसके निर्माण का महत्वपूर्ण साधन भी है।

6.1 भाषा वास्तविकता का प्रतिबिंब- भाषा वास्तविकता का प्रतिबिंब मानी जाती है, क्योंकि इसके माध्यम से मनुष्य अपने आसपास की वस्तुओं, घटनाओं और अनुभवों का वर्णन करता है। भाषा हमें बाहरी संसार को समझने, उसे नाम देने और दूसरों तक पहुँचाने में सहायता करती है। जब हम किसी वस्तु, घटना या स्थिति के बारे में बोलते या लिखते हैं, तो हम

वास्तव में उसी वास्तविकता को भाषा के माध्यम से प्रस्तुत कर रहे होते हैं। इस प्रकार भाषा वास्तविकता को अभिव्यक्त करने का एक दर्पण की तरह कार्य करती है, जो मानव अनुभवों और संसार के स्वरूप को स्पष्ट और संप्रेषणीय बनाती है।

6.2 भाषा वास्तविकता का निर्माण करती है- सामाजिक निर्माणवाद के अनुसार भाषा केवल वास्तविकता का वर्णन नहीं करती, बल्कि उसके निर्माण में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। समाज में प्रचलित शब्द, धारणाएँ और अभिव्यक्तियाँ लोगों की सोच और दृष्टिकोण को प्रभावित करती हैं, जिससे वे किसी घटना या परिस्थिति को विशेष तरीके से समझते हैं। उदाहरण के लिए, किसी व्यक्ति को "आतंकवादी" या "स्वतंत्रता सेनानी" कहना एक ही घटना के प्रति अलग-अलग दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। इस प्रकार भाषा सामाजिक मान्यताओं, मूल्यों और विचारों को आकार देती है और समाज में वास्तविकता की सामूहिक समझ का निर्माण करती है।

7. मन और वास्तविकता का संबंध

मन और वास्तविकता का संबंध अत्यंत गहरा और जटिल है। मन वास्तविकता को सीधे और पूर्ण रूप से ग्रहण नहीं करता, बल्कि वह उसे अपनी अनुभूति, अनुभव और व्याख्या के माध्यम से समझता है। इंद्रियों से प्राप्त सूचनाएँ मन तक पहुँचती हैं, जहाँ उनका अर्थ निर्धारण होता है। व्यक्ति के पूर्व अनुभव, भावनाएँ, विश्वास और मानसिक स्थिति वास्तविकता की समझ को प्रभावित करते हैं। यही कारण है कि एक ही घटना को अलग-अलग व्यक्ति भिन्न रूप में देख सकते हैं। इस प्रकार वास्तविकता की हमारी धारणा मन की व्याख्यात्मक प्रक्रिया पर निर्भर करती है।

प्रमुख बिंदु

मन संवेदनाओं को अर्थ देता है- मनुष्य इंद्रियों के माध्यम से बाहरी जगत से अनेक संवेदनाएँ प्राप्त करता है, जैसे ध्वनि, रंग, गंध और स्पर्श। ये संवेदनाएँ स्वयं में केवल संकेत होती हैं, परंतु मन उन्हें अर्थ प्रदान करता है। उदाहरण के लिए, एक ही ध्वनि किसी व्यक्ति को मधुर लग सकती है और दूसरे को कष्टदायक। मन अपने अनुभव, ज्ञान और संदर्भ के आधार पर इन संवेदनाओं की व्याख्या करता है। इस प्रकार मन संवेदनाओं को अर्थपूर्ण बनाता है और वास्तविकता को समझने योग्य स्वरूप प्रदान करता है।

अनुभव वास्तविकता की धारणा को प्रभावित करते हैं- व्यक्ति के जीवन अनुभव उसकी वास्तविकता की समझ को गहराई से प्रभावित करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने पूर्व अनुभवों, परिस्थितियों और सीख के आधार पर दुनिया को अलग-अलग दृष्टिकोण से देखता है। उदाहरण के लिए, जिसने कठिन परिस्थितियों का सामना किया हो, वह किसी समस्या को अधिक गंभीर रूप में देख सकता है, जबकि अन्य व्यक्ति उसे साधारण मान सकता है। इस प्रकार अनुभव व्यक्ति की सोच, दृष्टिकोण और वास्तविकता की धारणा को आकार देते हैं।

मन की स्थिति वास्तविकता की समझ को बदल सकती है- मन की भावनात्मक और मानसिक स्थिति वास्तविकता को समझने की प्रक्रिया को प्रभावित करती है। जब व्यक्ति प्रसन्न होता है, तो वह परिस्थितियों को सकारात्मक रूप में देखता है, जबकि दुखी या तनावग्रस्त स्थिति में वही परिस्थितियाँ नकारात्मक प्रतीत हो सकती हैं। भय, क्रोध, उत्साह और चिंता जैसी मानसिक अवस्थाएँ वास्तविकता की व्याख्या को बदल देती हैं। इस प्रकार वास्तविकता की समझ केवल बाहरी परिस्थितियों पर निर्भर नहीं होती, बल्कि मन की स्थिति भी उसे प्रभावित करती है।

8. भाषा-मन-वास्तविकता का त्रिकोणीय संबंध

भाषा, मन और वास्तविकता के बीच एक घनिष्ठ एवं गतिशील संबंध पाया जाता है। मन बाहरी जगत की वस्तुओं और घटनाओं को अनुभव करता है तथा इंद्रियों से प्राप्त सूचनाओं को समझकर उनका अर्थ निर्धारित करता है। भाषा इस अनुभव को अभिव्यक्त करने का माध्यम बनती है, जिसके द्वारा व्यक्ति अपने विचार, भावनाएँ और धारणाएँ दूसरों तक पहुँचाता है।

साथ ही भाषा केवल अनुभव को व्यक्त ही नहीं करती, बल्कि नए अर्थों और दृष्टिकोणों के माध्यम से सामाजिक वास्तविकताओं का निर्माण भी करती है। इस प्रकार ये तीनों तत्व एक-दूसरे पर निर्भर रहते हुए मानव ज्ञान और समझ की निरंतर प्रक्रिया को संचालित करते हैं। इस प्रकार यह एक निरंतर चक्र है।

निष्कर्ष

भाषा, मन और वास्तविकता के बीच संबंध अत्यंत गहरा, जटिल और परस्पर निर्भरता पर आधारित है। भाषा केवल विचारों और भावनाओं को व्यक्त करने का माध्यम नहीं है, बल्कि वह उन्हें संरचना प्रदान करती है, उनका संगठन करती है और नई अवधारणाओं के निर्माण में सहायता करती है। मन वास्तविकता को सीधे रूप में ग्रहण नहीं करता, बल्कि इंद्रियों से प्राप्त सूचनाओं, अनुभवों, स्मृतियों और भावनात्मक अवस्थाओं के आधार पर उसकी व्याख्या करता है। यही व्याख्यात्मक प्रक्रिया भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त होती है और सामाजिक स्तर पर साझा की जाती है।

वास्तविकता की हमारी समझ इस बात पर निर्भर करती है कि मन उसे किस प्रकार अनुभव करता है और भाषा उसे किस रूप में प्रस्तुत करती है। विभिन्न भाषाएँ और सांस्कृतिक संदर्भ एक ही वास्तविकता को अलग-अलग दृष्टिकोण से देखने की संभावना उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार भाषा सामाजिक धारणाओं, मूल्यों और सामूहिक चेतना के निर्माण में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

अतः यह स्पष्ट है कि भाषा, मन और वास्तविकता का अध्ययन मानव ज्ञान, संस्कृति, संज्ञानात्मक विकास और सामाजिक संरचनाओं की गहरी समझ के लिए अत्यंत आवश्यक है। इन तीनों के अंतर्संबंध को समझे बिना मानव व्यवहार, विचार-प्रक्रिया और सामाजिक जीवन की पूर्ण व्याख्या संभव नहीं है।

संदर्भ

1. Chomsky, N. (1965). *Aspects of the theory of syntax*. MIT Press.
2. Sapir, E. (1921). *Language: An introduction to the study of speech*. Harcourt, Brace & Company.
3. Whorf, B. L. (1956). *Language, thought, and reality*. MIT Press.
4. Vygotsky, L. S. (1986). *Thought and language*. MIT Press.
5. Berger, P. L., & Luckmann, T. (1966). *The social construction of reality*. Anchor Books.
6. Lakoff, G., & Johnson, M. (1980). *Metaphors we live by*. University of Chicago Press.
7. व्हॉर्फ, बेंजामिन ली. (1975). *भाषा, विचार और वास्तविकता* (अनु. रामनिवास शर्मा). चंडीगढ़: हरियाणा साहित्य अकादमी।

प्राचीन परम्पराओं का वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य

डॉ. निमिषा त्रिपाठी*
tripathinimisha48@gmail.com

संक्षिप्रिका:-

भारत परंपरा, संस्कृति और रीति-रिवाजों से समृद्ध देश है। भारतीय रीति-रिवाज और संस्कृति दुनिया भर में प्रसिद्ध है। भारतीय परम्परा में कई विशेषताएं हैं जो अन्य परम्पराओं से बिल्कुल भिन्न हैं। भारतीय परंपरा इस बात को मानती है कि

ॐ सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया:।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःख भाग्भवेत्।।

यह श्लोक गरुडपुराण 35/55 में से लिया गया है, जिसका अर्थ है कि सब सुखी हों, सब निरोग रहे। सभी मंगलमय परिस्थितियों के साक्षी बनें और किसी को भी दुःख का भागी न बनना पड़े। भारतीय वेदों में प्रमुख कल्याणकारी मन्त्रों में से एक मंत्र जो महोपनिषद अध्याय-4 श्लोक - 71 से लिया गया है कुछ इस प्रकार है;

"अयं निजः परोवेति गणना लघुचेतसाम।

उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥" *(हितोपदेश)*

अर्थात् पूरी दुनिया एक बड़ा परिवार है और यह नहीं है जो व्यक्ति इस तरह की गणना करता है वह संकुचित चित्त वाला समझा जाता है। उदार हृदय वाले लोग तो सम्पूर्ण धरती को ही अपना परिवार मानते हैं। यह दर्शाता है कि भारतीय ज्ञान का भंडार है। भारतीय सभ्यता एक प्राचीन बरगद के पेड़ के समान है, जिसकी गहरी, विस्तृत और दूरगामी शाखाएँ हैं, जो पूरे ग्रह पर फैली हुई है। ऐसा माना जाता है कि यह सबसे पुराना पेड़ है जो सहसाब्दियों से मौन अवस्था में अभी भी मानव उद्यान में जीवित खड़ा है और हमारे बीते सभी मौसमों का गवाह है।

मुख्य शब्द:- *परम्परा , रीति-रिवाज, राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020, हवन, अनुष्ठान। पौराणिक, पंचामृत, धर्म और विज्ञान।*

भारतीय संस्कृति विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों में अग्रणी रही है, जो उदारवादी और लोककल्याणकारी भावना से समन्वित है। वेदों में कहा गया है— **"परोपकाराय सतां विभूतयः"।**

21वीं शताब्दी में आज हम एक ऐसे ज्ञानवान समाज में रहते हैं जहां अधिकांश महत्वपूर्ण विचार और वैचारिक ढांचे पश्चिम से आयात किए गए हैं, और हम अपनी वास्तविकता को समंजित करने के लिए इन सिद्धांतों की केवल नकल करते हैं या अधिक से अधिक अनुकूलित करते हैं।

अतः वर्तमान समय में भारत के लोगों को अपने इतिहास, परम्पराएं और रीति रिवाजों का ज्ञान होना अनिवार्य है। इस बात की पुष्टि करते हुए हाल ही में हमारे देश की राष्ट्रीय शिक्षा नीति (2020), भारतीय ज्ञान प्रणाली और की बात करती है। एन.ई.पी. 2020 के अनुसार भारत की प्राचीन परंपराओं को प्राथमिकता देने, ज्ञान प्रज्ञा और सत्य की खोज को हमेशा भारतीय विचार और दर्शन में सर्वोच्च मानवीय उद्देश्य के रूप में देखा गया है। इस संकल्पना को स्वीकार करते हुए राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 यह मानती है कि किसी भी देश की शिक्षा के स्वरूप में वहां की संस्कृति, प्रकृति एवं प्रगति की झलक होनी चाहिए।

* **असिस्टेन्ट प्रोफेसर, स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग, डोरण्डा महाविद्यालय, राँची**

प्राचीन काल से भारतीयों ने अपने दैनिक जीवन में सुबह से शाम तक कई अनुष्ठानों और परंपराओं का पालन किया है। कुछ वैदिक शास्त्रों में बताए गए हैं और कुछ बाद में ब्राह्मण शास्त्रों के काल में शामिल किए गए थे। भारतीय समाज में इन अनुष्ठानों को अंधविश्वास के साथ जोड़कर धार्मिक रूप से पालन किया जाता था। लेकिन, अब समय आ गया है कि हम यह समझे कि हमारे पूर्वज हमसे कहीं अधिक दूरदर्शी और बुद्धिमान थे। धर्म और विज्ञान का विरोध नहीं है अपितु धर्म में विज्ञान समाहित है और उनके बीच एक मजबूत संबंध है। पौराणिक काल से ही हमारे रीति-रिवाज और धार्मिक विश्वासों के पीछे वैज्ञानिक आधार थे। भारत में पीपल के पेड़ की प्रासंगिकता अधिक थी क्योंकि प्राचीन भारत में लोग इस पेड़ की उपयोगिता के बारे में जानते थे जो कि वेदों में भी देखा जा सकता है। पद्म पुराण के अनुसार, राक्षसों से बचने के लिए विष्णु पीपल के पेड़ में छिप गए।

स्कंद पुराण भी पीपल के वृक्ष को भगवान विष्णु का प्रतीक मानता है। कहा जाता है कि भगवान का जन्म वृक्ष के नीचे हुआ था। वैदिक काल में इसकी लकड़ी का उपयोग घर्षण द्वारा आग बनाने के लिए किया जाता था। पीपल के पेड़ को पवित्र त्रिमूर्ति के रूप में पूजा जाता है और ऐसा माना जाता है कि इस पेड़ पर भगवान ब्रह्मा, भगवान विष्णु और भगवान शिव निवास करते हैं। भगवत्गीता (पाठ 15, श्लोक 1) के अनुसार:

"ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।

छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥"।

नीम का पेड़, एलोवेरा, जरबेरा, तुलसी कुछ अन्य पौधे हैं, जो रात में ऑक्सीजन छोड़ते हैं। यही नहीं, हमारे पूर्वज यह भी जानते थे कि पीपल के पेड़ को अस्थमा और कब्ज का इलाज करने वाले पवित्र पेड़ों में से एक माना जाता है। यह दांतों के उपचार के साथ-साथ मधुमेह नियंत्रक के रूप में भी काम करता है। इसलिए इस पेड़ को बचाने के लिए इसकी अनूठी संपत्ति के कारण पूर्वजों ने पीपल को भगवान और धर्म से जोड़ा। हिंदू धर्म के अलावा बौद्ध धर्म के कुछ नियमों के अनुसार भी यह पेड़ पवित्र है। वैदिक ऋषि तुलसी के लाभों को जानते थे और इसीलिए उन्होंने इसे एक देवी के रूप में प्रतिष्ठित किया।

तुलसी का पौधा बहुत सारे लाभों से भरा हुआ है। यह न केवल एंटीबायोटिक, एंटी-वायरल, एंटी-बैक्टीरियल और एंटी-कार्सिनोजेनिक है, बल्कि यह फाइटोन्यूट्रिएंट्स और आवश्यक तेलों जैसे विटामिन ए और सी से भी भरा हुआ है। तुलसी में ओसीमुमोसाइड्स ए और बी होते हैं, जो न्यूरोट्रांसमीटर सेरोटोनिन और डोपामाइन को संतुलित करते हैं और तनाव को कम करते हैं। तुलसी के ये गुण अनेक बीमारियां जैसे सूजन और रक्तचाप को कम करने में सहायक हैं। धार्मिक संदर्भ में कुछ लोगों का मानना है कि तुलसी के पत्तों को चबाना अपमानजनक है।

इसका एक वैज्ञानिक पक्ष भी है जो बताता है कि तुलसी के पत्तों को चबाने की जगह निगलना सबसे अच्छा होता है। वैज्ञानिक कारण यह था कि तुलसी के पत्तों में उच्च मात्रा में पारा और आयरन होता है जो इन्हें चबाने पर निकलता है। ये खनिज आपके दांतों को नुकसान पहुँचाने और दंत समस्याओं का कारण बन सकते हैं। इसके अलावा तुलसी के पत्ते प्रकृति में थोड़े अम्लीय भी होते हैं और चूँकि हमारे मुँह का वातावरण क्षारीय होता है, इसलिए बहुत अधिक मात्रा में नियमित रूप से सेवन करने पर यह दांतों के इनेमल को खराब कर सकता है। इसीलिए प्राचीन समय में लोग तुलसी के पत्तों को चबाए जाने के बजाय एक गिलास पानी के साथ निगलने की सलाह देते थे।

भारत में मंदिर या घर में देवता की मूर्ति को पंचामृत चढ़ाया जाता है। पंचामृत पांच वस्तुओं से बना प्रसाद के रूप में दिया जाने वाला एक मीठा मिश्रण है, जिसमें कच्चा दूध, दही, शहद, चीनी और घी शामिल है। पंचामृत को देवताओं को चढ़ाया जाता है और पूजा के अंत में इसका सेवन किया जाता है। आयुर्वेद में पंचामृत का उपयोग सामग्री के शुद्धिकरण के लिए किया जाता है और इसे रस कर्म के रूप में समझाया गया है, जो पाचन और धातुओं को बनाने में उपयोग में लाया जाता है। पंचामृत का उपयोग पाचन संबंधी विकारों जैसे एनोरेक्सिया, कमजोर पाचन और अपच के उपचार में किया जाता है; यह मानसिक विकारों, संक्रमणों और मस्तिष्क की शक्ति तथा एकाग्रता में सुधार के लिए भी उपयोगी है।

भारतीय परंपरा में यह माना जाता है कि पूजा को संपूर्ण करने के लिए हवन करना अति आवश्यक होता है, चाहे वह शांति हवन हो या शुद्धि हवन। वैज्ञानिक दृष्टि से हवन एक प्राचीन कर्मकांड है जो वातावरण को शुद्ध करने के लिए किया जाता

है। हवन की मुख्य सामग्री आम की लकड़ी होती है। हवन में मुख्य सामग्री आम की लकड़ी होती है जिसे जलाने पर फॉर्मिक एल्डिहाइड गैस निकलती है, जो हानिकारक जीवाणुओं को मारती है और इस प्रकार वातावरण को शुद्ध करती है। वेदों में गाय के घी को हवन के अत्यंत महत्वपूर्ण घटक और विष नाशक के रूप में वर्णित किया गया है, जिसकी सुगंध से भौतिक वातावरण शुद्ध होता है। हवन की अग्नि में सुगन्धित जड़ी-बूटियाँ जलने पर अपनी सुगन्ध द्वारा वातावरण की दुर्गन्ध को भी दूर करती हैं। वैज्ञानिक रूप से हवन की राख का उपयोग पर्यावरण को कीट-पतंगों से बचाने के लिए किया जाता है।

इसके अलावा, फॉर्मल डिहाइड का छिड़काव दीवारों और छतों को कीटाणु रहित करने के लिए किया जाता है और इसका उपयोग फलों को फॉर्मिक एसिड के रूप में संरक्षित करने के लिए भी किया जाता है, जो आम की लकड़ी और गुड़ को जलाने से उत्पन्न होता है। भारतीय संस्कृति में किसी से मिलने पर हाथ जोड़कर नमस्कार किया जाता है जिसके पीछे एक वैज्ञानिक कारण होता है। दोनों हाथों को मिलाने से सभी अंगुलियों को एक साथ स्पर्श करना सुनिश्चित होता है, जो आँखों, कानों और दिमाग में दबाव बिंदुओं (pressure points) से जुड़े होते हैं। कहा जाता है कि उन्हें एक साथ दबाने से ये सक्रिय हो जाते हैं, जिससे हमें उस व्यक्ति को लंबे समय तक याद रखने में मदद मिलती है। आयुर्वेद का मानना है कि कई बीमारियों का मूल कारण पाचन तंत्र में विषाक्त पदार्थों के संचय के कारण होता है। अतः आयुर्वेद उपवास रखने की सलाह देता है। उपवास करने से पाचन अंगों को आराम मिलता है और शरीर के सभी तंत्रों की सफाई और सुधार होता है। यह दिमाग को रिलैक्स और भौतिक शरीर की सफाई तथा शरीर को डिटॉक्स करता है।

निष्कर्ष :-

भारतीय ज्ञान और परम्पराएँ सूक्ष्म वैज्ञानिक विचारों से पूर्ण हैं। भारतीय संस्कृति में जन्म से मृत्यु तक मानव जीवन को सार्थक बनाने हेतु संस्कारों द्वारा सतत् शोधन तथा आत्मसत्ता के अभिवर्धन की अभिनव व्यवस्था है। प्राचीन काल से भारतीयों ने अपने दैनिक जीवन में सुबह से शाम तक कई अनुष्ठानों और परंपराओं का पालन किया है, जिनमें से कुछ वैदिक शास्त्रों में बताए गए हैं और कुछ बाद में ब्राह्मण शास्त्रों के काल में शामिल किए गए। वैश्वीकरण के इस आधुनिक युग में हमें भारतीय ज्ञान, परंपराओं और विज्ञान को पाटने का निरंतर प्रयास करते रहना चाहिए। हमारा प्राचीन ज्ञान हमारी धरोहर है; जिसे हमें संजोकर रखना है और सभी की उन्नति के लिए सभी के साथ बाँटना है।

संदर्भ -

1. शास्त्री, देवर्षि कलानाथ. (2004). *भारतीय संस्कृति: सिद्धान्त और स्वरूप*. जयपुर: जगदीश संस्कृत पुस्तकालय।
2. सिंह, राजकिशोर. (1985). *भारतीय संस्कृति*. आगरा: विनोद पुस्तक मन्दिर।
3. Gupta, S. (2018). *Scientific terminologies derived from Sanskrit*. https://doi.org/10.13140/RG.2.2.17261.28649
4. History of religions in India. (2008). *IndoHistory*. Retrieved January 1, 2008, from http://www.indohistory.com
5. Shourie, A. (1979). *Hinduism: Essence and consequence: A study of the Upanishads, the Gita, and the Brahma-Sutras*. Sahibabad, Distt. Ghaziabad: Vikas Publishing House.



हिन्दी कथा साहित्य में 'आधी आबादी' : अस्मिता, संघर्ष व प्रतिरोध

प्रवीणा श्रीवास्तव*

samyakpraveen@gmail.com

शोध-सारांश-

प्रस्तुत शोध पत्र हिन्दी कथा साहित्य में आधी आबादी अर्थात् स्त्री समाज की अस्मिता, संघर्ष व प्रतिरोध के विविध रूपों का विश्लेषण करता है साथ ही साथ उसके मनोभावों, द्वन्द्वों को भी उजागर करने का प्रयास करता है। यह न सिर्फ स्त्री के चिर कालीन संघर्षों का चित्रण करता है बल्कि उसकी विकासात्मक यात्रा को भी दर्शाता है। स्त्री कोमलांगी होते हुए भी अद्भुत मनोबल सहनशीलता व सहृदयता के गुणों से परिपूर्ण है। स्त्री में विद्यमान यह गुण उसके सम्बल का प्रतीक है।

बीज शब्दः-

हिन्दी कथा साहित्य, आधी आबादी (महिला), अस्मिता, संघर्ष, प्रतिरोध।

शोध-प्रविधि-

प्रस्तुत शोध आलेख में आगमनात्मक शोध प्रविधि का प्रयोग किया गया है। विषय विश्लेषण के क्रम में विचारात्मक व विश्लेषणात्मक पद्धतियों का प्रयोग किया गया है। संदर्भ ग्रन्थ-सूची में APA शैली का प्रयोग किया गया है।

विषय विश्लेषण-

'आधी आबादी' शब्द विशेष रूप से भारतीय परिवेश में स्त्री की संख्यात्मक उपस्थिति का परिचायक है। समाज में स्त्री का क्या स्थान है यह जानने के लिए उसकी सामाजिक, सांस्कृतिक व वैचारिक स्थिति का आकलन अत्यन्त आवश्यक है। पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री को अपनी अस्मिता व अस्तित्व की रक्षा हेतु निरन्तर प्रयत्नशील रहना पड़ता है। लम्बें समय से स्त्री हाशिये पर रही है। वर्तमान में भी उसे अनेकोनेक संघर्षों से होकर गुजरना पड़ता है। इन संघर्षों का स्तर रूप स्थान व परिस्थिति के अनुसार परिवर्तित होता रहता है। भारतीय संस्कृति में स्त्री के सबला और अबला दोनों ही रूप विद्यमान हैं कहीं उसे शक्तिस्वरूपा कहा गया है तो कहीं-

"नारी जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी,

आँचल में है दूध और आँखों में पानी।।"

कहकर उसके अस्तित्व को सीमित परिधि में समेटा गया। स्त्री के समस्त रूपों, विशेषताओं व स्थितियों का स्पष्ट चित्रांकन हिन्दी कथा साहित्य में प्राप्त होता है। इस हेतु घुमक्कड़ शास्त्री 'राहुल सांकृत्यायन' द्वारा लिखी गई अद्वितीय रचना "वोल्गा से गंगा'' का उल्लेख अत्यन्त सारगर्भित है जो जिसमें लगभग 20 सृजनात्मक कहानियों में 6000 ई.पू. से 1942 तक के काल खण्ड में मानव समाज के ऐतिहासिक, आर्थिक व राजनीतिक परिदृश्य को दर्शाने के साथ ही साथ हमारे सभ्य समाज के शुरुआती युग के मातृसत्तात्मक होने का प्रतिपादन करती है।

19वीं सदी के अन्त में स्त्री-शिक्षा के साथ शुरु हुआ यह सफर वर्तमान में नारी सशक्तिकरण, स्त्री-चेतना, सामाजिक, आर्थिक-स्वावलम्बन और पुरुषवादी मानसिकता को चुनौती देने वाले साहित्य के रूप में परिपक्व हो चुका हैं अपनी पुस्तक

* **पी-एच. डी. शोधार्थी, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली**

'स्त्रियों की पराधीनता'' में 'जॉन स्टुअर्ट मिल' कहते हैं- "प्राचीनकाल में बहुत से स्त्री-पुरुष दास थे। फिर दास-प्रथा के औचित्य पर प्रश्न उठने लगे और धीरे-धीरे यह प्रथा समाप्त हो गई लेकिन स्त्रियों की दासता धीरे-धीरे एक किस्म की निर्भरता में तब्दील हो गई। **जॉन स्टुअर्ट मिल** स्त्रियों की निर्भरता को पुरातन दासता की ही निरन्तरता मानते हैं। जिस पर तमाम सुधारों के रंग-रोगन के बाद भी पुरानी निर्दयता के चिह्न अभी मौजूद हैं और आज भी स्त्री-पुरुष असमानता के मूल में 'ताकत' का वही आदिम नियम है जिसके तहत ताकतवर सब कुछ हथिया लेता है।" (जॉन स्टुअर्ट मिल, स्त्रियों की पराधीनता, पृ. सं. 26)

'साहित्य' वह सशक्त माध्यम है जो समाज में व्याप्त समस्त कार्यव्यावहार, विचार, रूढ़ि व संस्कारों का स्पष्ट चित्रांकन प्रस्तुत कर उसमें आवश्यक परिष्कार का मार्ग प्रशस्त करता है। 19वीं सदी स्त्री-शिक्षा के लिए जागरुकता का समय था। इसी समय में स्त्री-शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए लिए अनेक साहित्य रचे गये। **'पं. गौरीदत्त'** का उपन्यास 'देवरानी जेठानी की कहानी' (1870) इसका एक प्रमुख उदाहरण है। "छोटे लाल इस बात से अपने मन में बड़ा मगन था कि मेरी बहू पढ़ी हुई है और बड़ी चतुर है।" (पं. गौरीदत्त, देवरानी जेठानी की कहानी, पृ. सं. 31)

कालान्तर में हिन्दी कथा साहित्य में स्त्री की भूमिका व अस्तित्व में परिवर्तन दिखाई पड़ता है- अब स्त्री अज्ञानता, मौन व सहनशीलता से आगे बढ़कर आत्मचेतस व प्रतिरोधी स्वर में उपस्थित होती हैं वह अपने कर्तव्यों के साथ-साथ अधिकारों व सम्मान के प्रति भी सजग है।

हिन्दी कथा साहित्य में स्त्री-अस्मिता का स्वर अत्यन्त मुखर रहा हैं जिसमें स्त्री लैंगिक पहचान से इतर स्वतंत्र व्यक्तित्व, निर्णय क्षमता और आत्मसम्मान से परिपूर्ण दिखाई देती है। हिन्दी कथा साहित्य की प्रारम्भ से वर्तमान तक की यात्रा में नारी चित्रण कई रूपों में परिवर्तित होता हुआ एक सशक्त स्वरूप को धारण कर चुका है और यहीं से नारीवाद का जन्म होता है। लेखिका **'मृणाल पाण्डेय'** अपनी कृति 'परिधि पर स्त्री' में लिखती हैं- "नारीवाद पुरुषों का नहीं उनकी मानवीयता घटाने वाले उस छद्म मुखौटे का प्रतिकार करता है, जो मर्दानगी के नाम पर गढ़ा गया है और जिसके पीछे झूठी अहम्मन्यता और उत्पीड़क प्रवृत्ति के अलावा कुछ नहीं है।" लेखिका मृणाल पाण्डेय लिखती हैं-"यह सच है कि नारी ही नहीं किसी दबे हुए को भी पूरी सामर्थ्य एक साथ नहीं बल्कि क्रमश: ही जागती है।" (मृणाल पांडेय, परिधि पर स्त्री, पृ. सं. 11)

19वीं सदी से पूर्व अस्मितावादी रचनाकारों में, जहाँ विशेष रूप से रास सुन्दरी देवी (1810-1999), अक्का महादेवी (12वीं सदी), तोरू दत्त तथा मीराबाई का नाम विशेष महत्त्व रखता है वहीं उन्नीसवीं सदी से वर्तमान समय के रचनाकारों में प्रेमचन्द्र, महादेवी वर्मा, राजकमल चौधरी, राहुल सांकृत्यायन, प्रभा खेतान मैत्रेयी पुष्पा, अमृता प्रीतम, मृणाल पाण्डेय, शिवानी, मन्नू भंडारी, रमणिका गुप्ता आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय हैं इन सभी रचनाकारों ने नारी अस्मिता को अपने-अपने देश, काल, वातावरण के अनुसार भिन्न-भिन्न स्वरों से मुखरित किया है। जहाँ एक ओर प्रेमचन्द्र ने स्त्री को मर्यादा में रखते हुए उसे त्याग, दया, कर्तव्यपरायणता की प्रतिमूर्ति माना तथा साथ ही साथ आत्मसम्मान के नये कलेवर में ढाला। वहीं महादेवी वर्मा स्त्री के आर्थिक उत्थान पर विशेष बल देती हैं। उन्होंने लिखा है- "आज की बदलती हुई परिस्थितियों में स्त्री केवल उन्हीं आदर्शों से संतोष न कर लेगी जिनके सारे रंग उसके आँसुओं में धुल चुके हैं। स्पष्ट है स्त्री अस्तित्व व अधिकार में आर्थिक स्वतंत्रता भी महत्वपूर्ण है।

नई कहानी आन्दोलन के बाद स्त्री अस्मिता को व्यापक पहचान मिली। मुख्यतौर पर 1960 के बाद यह अधिक मुखर हुआ। **मैत्रेयी पुष्पा** ने लिखा है- "नारीवाद ही स्त्री विमर्श है, नारी की यथार्थ स्थिति की चर्चा करना ही स्त्री विमर्श है।" (मैत्रेयी पुष्पा, हंस, अक्टूबर-2017, पृ. सं. 07) स्त्री अस्मिता पर चर्चा करने वाले पुरुष साहित्यकारों के विषय में महादेवी वर्मा कहती हैं- "पुरुष के द्वारा नारी का चित्रण अधिक आदर्श बन सकता है, परन्तु अधिक सत्य नहीं, विकृति के अधिक निकट पहुँच सकता है, परन्तु यथार्थ के समीप नहीं। पुरुष के लिए नारीत्व अनुमान है, परन्तु नारी के लिए अनुभव। अतः अपने जीवन का जैसा सजीव चित्रण वह हमें दे सकेगी वैसा पुरुष बहुत साधना के उपरान्त भी शायद ही दे सकें।" आज स्त्री सम्बन्धों की परिभाषा से इतर स्वयं की पहचान गढ़ने का प्रयास कर रही है।

हिन्दी कथा साहित्य में स्त्री-संघर्ष विविध आयामों में दृष्टिगोचर होता हैं। यह संघर्ष मात्र विपरीत लिंग की देन न होकर समाज, संस्कृति, परम्परा, परिवार यहाँ तक कि स्वयं से भी उपजता है। स्त्री-संघर्ष पर सम्यक् दृष्टि डालने पर पता चलता है कि इसके मूल में कोई एक कारण न होकर सभी का मिला-जुला प्रभाव होता है। **'सिमोन द बोउआर'** ने अपनी प्रसिद्ध

पुस्तक 'द सेकेण्ड सेक्स' (1949 ई.) में लिखा है कि "स्त्री पैदा नहीं होती बल्कि बना दी जाती है।" (सिमोन द बोउआर, द सेकेन्ड सेक्स) बोउआर ने जोर दिया कि स्त्री की पहचान जैविक नहीं, बल्कि सामाजिक-सांस्कृतिक निर्माण है। यही कारण है कि स्त्री-संघर्ष का इतिहास अत्यन्त उतार-चढ़ाव भरा है। जहाँ एक ओर राहुल सांकृत्यायन ने अपनी पुस्तक 'वोल्गा से गंगा' में मातृसत्तात्मक समाज में स्त्री के वर्चस्व का बेजोड़ चित्रण किया है वहीं मन्नू भंडारी अपनी कृति 'यही सच है' में आत्मनिर्भर व स्वावलम्बी स्त्री के मानसिक द्वन्द्व को चित्रांकित करती हैं। ऐसा ही चुनौती पूर्ण संघर्ष का चित्रण **मन्नू भंडारी** ने अपने उपन्यास **'आपका बंटी'** में करते हुए लिखा है- "शकुन के जीवन का सत्य है कि स्त्री की जायज महत्वाकांक्षा और आत्मनिर्भरता पुरुष के लिए चुनौती है- नतीजा दाम्पत्य तनाव उसे अलगाव तक ला छोड़ता है। यह शकुन का नहीं समाज में निरन्तर अपनी जगह बनाती, फैलाती और अपना कद बढ़ाती 'नई स्त्री' का सत्य है।" भंडारी जी आगे लिखती हैं-"शकुन चक्की पीसकर बेटे का जीवन बनाने में अपने-आप को स्वाहा कर देने वाली माँ नहीं थी; बल्कि स्वतन्त्र व्यक्तित्व, आकांक्षाएँ और आजीविका के साधनों से दृप्त माँ थी।" इस नारी और माँ के आपसी द्वन्द्व का अध्ययन ही शकुन को उसका वर्तमान रूप देता है।" (मन्नू भण्डारी, आपका बंटी, भूमिका, पृ.सं. 09)। इसी क्रम में **भीष्म साहनी** का उपन्यास **'बसन्ती'** का उल्लेख करना भी सारगर्भित होगा। 'बसन्ती' एक ऐसा स्त्री चरित्र है जो अनेक कठिनाइयों और संघर्षों के होते हुए भी जिजीविषा से परिपूर्ण है। "बसन्ती की आँखों' में आशा और विश्वास की झलक देखकर श्यामा को वह और भी अधिक दयनीय लगी।" (भीष्म साहनी, बसन्ती, पृ.सं. 103)

प्रतिरोध का स्त्री स्वर वास्तव में समाज में अपने दोयम दर्जे के प्रति आक्रोश का स्वर है। यह पितृसत्तात्मकता के विरूद्ध अपने अस्तित्व की पहचान का स्वर है। यह स्वर सर्वत्र व्याप्त है अपने अलग-अलग रूप में, अपने अलग-अलग ढंग में। स्त्रियों के प्रतिरोधी स्वर पर पाश्चात्य प्रभाव का ठप्पा लगाना वास्तव में भारतीय स्त्रियों की व्याचारिकता पर प्रश्नचिह्न लगाता है। गहराई से अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि यह विरोधी स्वर प्राचीन काल से अपने अलग स्वरूप में व मात्रा में व्याप्त रहा है। इसका उदाहरण उपनिषदों में भी प्राप्त होता है। महात्मा बुद्ध के यहाँ प्रचलित 'थेरी गाथाओं' में भी स्त्रियों ने अपनी कठिनाइयों व संघर्षों का मुखर चित्रण किया है। आधुनिक काल में महादेवी वर्मा का 'श्रृंखला की कड़ियाँ' स्त्री प्रतिरोधी स्वर का प्रथम दस्तावेज माना जा सकता है। भक्तिकाल में भी मीरा व अण्डाला का ओजस्वी स्वर सुनने को मिलता है। मीरा अपने प्रतिरोध को व्यक्त करते हुए कहती हैं-

"राणा रूठ्या जग राख्या।।"

इसी प्रकार अन्यत्र वह और मुखर शब्दों में कहती हैं-

"सिसोदिया म्हारो काई कर लेसी।।

मीरा आधुनिकता का अर्थ नहीं जानती थीं वो स्त्री-विमर्श भी नहीं जानती थीं परन्तु वह स्वअस्तित्व व स्वाधीनता को महसूस करना, प्रकट करना अवश्य जानती थीं। वास्तव में पुरुष-वर्चस्व के विरूद्ध स्त्री-विमर्श की बात करना ही प्रतिरोधी स्वर का संकेत है।

हिन्दी कथा साहित्य में महिला कथाकारों का पदार्पण प्रतिरोधी स्वर को मुखरता प्रदान करता है। अपने लगभग 125 साल पुराने इतिहास में प्रथम महिला कथाकार के रूप में राजेन्द्रबाला घोष (बंग महिला) का नाम उल्लिखित है। 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में 1900 से 1907 के मध्य प्रकाशित होने वाली सूची में 'राजेन्द्र बाला घोष' को हिन्दी कथा साहित्य की प्रथम लेखिका माना है। स्त्री का प्रतिरोध् स्वर मुख्य रूप से संवेदना का स्वर है। आज के आधुनिक और विसंगति पूर्ण समाज में स्त्री को अत्यन्त सीमित दायरे में बांधा गया है। समाज में जिस प्रकार आदर्श स्त्री की अवधारणा पर बल दिया जाता है उस प्रकार आदर्श पुरुष की अवधारणा पर जोर दिखाई नहीं देता। 'प्रेमचन्द्र' ने अपने कालजयी उपन्यास गोदान में इसी भाव को निम्न शब्दों में प्रकट किया है- 'मेहता' के शब्दों में-

"यदि पुरुष में थोड़ा स्त्रीत्व और स्त्री में थोड़ा पुरुषत्व आ जाये तो... संसार में जो कुछ सुन्दर है उसी की प्रतिमा को मैं स्त्री कहता हूँ।"

"मैं ऐसी बीबी नहीं चाहता जिससे मैं ऐंस्टीन के सिद्धान्त पर बहस कर सकूँ, या जो मेरी रचनाओं के प्रूफ करें। मैं ऐसी औरत

चाहता हूँ जो मेरे जीवन को पवित्र और उज्ज्वल बना दे, अपने प्रेम और त्याग से।" (प्रेमचन्द्र, गोदान, पृ. सं. 168, 169)

स्त्री प्रतिरोधी स्वर के विषय में 'मन्नू भण्डारी' कहती हैं कि- "साहित्यों में स्त्रियों के लिए अलग से आरक्षण की कोई जरूरत नहीं, स्त्री होने के नाते मेरी साइकी पुरुषों से भिन्न है पर, मैं लेखक हूँ, स्त्री-लेखक नहीं।"

वास्तव में समकालीन स्त्री कथा लेखन में प्रतिरोध केवल व्यक्तिगत नहीं बल्कि सामाजिक और वैचारिक रूप धारण कर लेता है।

अंततः स्पष्ट है कि हिन्दी कथा साहित्य में आधी आबादी का चित्रण एक लम्बी वैचारिक यात्रा का परिणाम है। आज हर क्षेत्र में स्त्री अपने को स्थापित कर रही है। इसी बदलाव का फल है कि बदलते परिवेश में हमारे संविधान में स्त्री देह की बाध्यताओं का सम्मान करते हुए उसके 'मासिक धर्म' चक्र को स्त्री अस्मिता से जोड़ उसे मौलिक अधिकार के तहत अनुच्छेद 21 (गौरव पूर्ण जीवन जीने का अधिकार) से जोड़ा गया है। यह विकसित और आदर्शवादी समाज का स्पष्ट उदाहरण है।

स्त्री अब कथा साहित्य में केवल सहनशील पात्र नहीं, बल्कि विचारशील, संघर्षशील और प्रतिरोधी चेतना के रूप में स्थापित होती है। आज स्त्री मात्र अबला नहीं है। वह अद्भुत प्रतिभा से परिपूरित व विशेष है-

"मैं विशेष हूँ!
मुझमें देवी, दुर्गा, शक्ति सा बल है।
मैंने धारण किया समस्त चल-अचल है।
मुझमें पलता सम्पूर्ण सृजन है।
सुरभित मुझसे ही धरा और गगन है।
मैंने पाया स्त्री का सुन्दरतम तन और मन है।"

संदर्भ:

1. मिल, जॉन स्टुअर्ट. (1869/2016). *स्त्रियों की पराधीनता* (प्रगति सक्सेना, अनुवादक). नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन.
2. दत्त, गौरी. (1870/2024). *देवरानी जेठानी की कहानी* (छठा संस्करण). दिल्ली: रेमाधव पब्लिकेशन.
3. पाण्डेय, मृणाल. (2017). *परिधि पर स्त्री*. नई दिल्ली: राधाकृष्ण प्रकाशन.
4. पुष्पा, मैत्रेयी. (2017, अक्टूबर). *हंस* (पत्रिका लेख).
5. खेतान, प्रभा (अनु.). (2004). *स्त्री उपेक्षिता* (द सिमोन बोउआर की द *सेकेंड सेक्स* का हिंदी अनुवाद). नई दिल्ली: हिन्द पॉकेट बुक्स.
6. भंडारी, मन्नू. (2025). *आपका बंटी* (8वाँ संस्करण). नई दिल्ली: राधाकृष्ण प्रकाशन.
7. साहनी, भीष्म. (2024). *बसंती* (15वाँ संस्करण). नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन.
8. प्रेमचंद. (2025). *गोदान* (पुनर्संस्करण). नई दिल्ली: फिंगरप्रिंट पब्लिशिंग.
9. Supreme Court of India. (2016, January 31). *Judgment on women's rights* (केस विवरण यदि उपलब्ध हो तो जोड़ा जा सकता है).
10. The Hindu. (2026, February 3). *News report on Supreme Court decision*.

नारद भक्ति सूत्र और आधुनिक संचार नैतिकता: एक तुलनात्मक अध्ययन

सचित्र मिश्र*
sachitramishra@ymail.com

डॉ. सौरभ मालवीय†
malviya.sourabh@gmail.com

शोध सार:

इक्कीसवीं सदी के तीसरे दशक में मानव सभ्यता एक विचित्र विरोधाभास के मुहाने पर खड़ी है। सूचना प्रौद्योगिकी और कृत्रिम बुद्धिमत्ता ने 'वैश्विक ग्राम' की जिस अवधारणा को तकनीकी रूप से साकार किया है, उसी तकनीक ने सामाजिक और मनोवैज्ञानिक स्तर पर 'डिजिटल एकाकीपन' और 'ध्रुवीकरण' की अभूतपूर्व खाइयों को भी जन्म दिया है। संचार, जो कि मानवीय संबंधों और सामाजिक समरसता का आधारभूत तत्व है, आज 'अवधान अर्थव्यवस्था' और 'निगरानी पूंजीवाद' का बंधक बन चुका है। ऐसे समय में, जब एल्गोरिदम मानवीय चेतना को नियंत्रित कर रहे हैं, यह प्रश्न अत्यंत प्रासंगिक और तार्किक हो जाता है कि, क्या प्राचीन भारतीय ज्ञान परंपरा इस आधुनिक संकट का कोई समाधान प्रस्तुत कर सकती है? प्रस्तुत शोध पत्र इस परिकल्पना का परीक्षण करता है कि, देवर्षि नारद द्वारा रचित 'नारद भक्ति सूत्र' केवल एक धार्मिक या उपासना-परक ग्रंथ नहीं है, अपितु यह 'संचार मनोविज्ञान' और 'संबंध प्रबंधन' का एक उत्कृष्ट दस्तावेज है। उपलब्ध साहित्यिक स्रोतों, टीकाओं और विद्वानों की टिप्पणियों के माध्यम से यह शोध पत्र आधुनिक डिजिटल परिवेश में नारद के भक्ति सूत्र की प्रासंगिकता पर चर्चा करता है साथ ही आधुनिक संचार नैतिकता से उसकी तुलना भी प्रस्तुत करता है। ध्यातव्य है कि, यह शोध पत्र अंतर विषयक और व्याख्यात्मक है, अनुभवजन्य नहीं। यह संचार को केवल 'सूचना के प्रसारण' से ऊपर उठाकर 'साधारणीकरण' और 'सहृदयता' के स्तर पर ले जाता है।

बीज शब्द:

नारद भक्ति सूत्र, आधुनिक संचार नैतिकता, डिजिटल मीडिया, अवधान अर्थव्यवस्था, डिजिटल एकाकीपन, वैश्विक ग्राम

प्रस्तावना:

इक्कीसवीं सदी को 'सूचना का युग' कहा जाता है। डिजिटल क्रांति ने संचार के लोकतंत्रीकरण का मार्ग प्रशस्त किया है, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति एक प्रकाशक और प्रसारक है। सोशल मीडिया प्लेटफॉर्म जैसे ट्विटर, फेसबुक, इंस्टाग्राम आदि ने 'वैश्विक ग्राम' की संकल्पना को साकार कर दिया है। परन्तु, इस अति-संयोजन के गर्भ से अभूतपूर्व नैतिक चुनौतियाँ उत्पन्न हुई हैं। 'पोस्ट-ट्रुथ' राजनीति, एल्गोरिद्मिक ध्रुवीकरण, साइबर बुलिंग, और निजता का हनन आज के डिजिटल समाज के विद्रूप सत्य बन चुके हैं। पश्चिमी संचार नैतिकता, जो मुख्यतः उपयोगितावाद और व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर आधारित है, इन समस्याओं को संबोधित करने में आंशिक रूप से ही सफल रही है। 'फ्री स्पीच' और 'हेट स्पीच' के बीच की धुंधली रेखा ने नियामक संस्थाओं को असमंजस में डाल दिया है। ऐसे समय में, भारतीय ज्ञान परंपरा, जो 'धर्म' (कर्तव्य/नैतिकता) और 'आत्म-संयम' पर केंद्रित है, एक वैकल्पिक और अधिक स्थायी समाधान प्रस्तुत करती है। देवर्षि नारद द्वारा रचित 'नारद भक्ति सूत्र' ८४ सूत्रों का एक संक्षिप्त किन्तु गूढ़ दार्शनिक-आध्यात्मिक ग्रंथ है जिसका केन्द्रीय मूल्य भक्ति (निःस्वार्थ प्रेम),

* शोधार्थी, पत्रकारिता एवं जनसंचार विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

† सह आचार्य एवं विभागाध्यक्ष, पत्रकारिता एवं जनसंचार विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

अहंकार का त्याग, सत्यनिष्ठा, करुणा तथा वाणी और आचरण की पवित्रता है। यह अध्ययन यह सिद्ध करने का प्रयास करेगा कि नारद के सूत्र आधुनिक डिजिटल अराजकता जैसे फेक न्यूज, ट्रोलिंग, इको चैंबर्स, और एल्गोरिद्मिक हेरफेर आदि के लिए एक सटीक नैदानिक और उपचारात्मक ढांचा प्रदान करते हैं। प्रस्तुत शोध पत्र में किया गया यह तुलनात्मक अध्ययन कोई 'जबरदस्ती की कल्पना' नहीं, बल्कि एक आवश्यक 'अंतर-विषयी संवाद' है।

शोध का उद्देश्य एवं शोध अंतराल

आधुनिक डिजिटल नागरिकता शिक्षा का मुख्य फोकस 'सुरक्षा' और 'कानूनी अनुपालन' पर होता है जैसे पासवर्ड सुरक्षित रखना या कॉपीराइट का उल्लंघन न करना आदि। यह दृष्टिकोण 'बाह्य नियंत्रण' पर आधारित है। इसके विपरीत, नारद भक्ति सूत्र 'आंतरिक नियंत्रण' की बात करता है। यह शोध इसी अंतराल को संबोधित करता है। इस शोध का मुख्य उद्देश्य वर्तमान मीडिया परिदृश्य में नारद भक्ति सूत्र की प्रासंगिकता का अध्ययन करना है। इसके मुख्य शोध प्रश्न निम्नलिखित हैं:

१. क्या नारद के 'वाद-त्याग' के सिद्धांत को सोशल मीडिया के ध्रुवीकृत वातावरण में लागू किया जा सकता है?

२. वर्तमान मीडिया के संदर्भ में नारद के 'सत्य' और 'शास्त्र-रक्षण' के सिद्धांतों को कैसे ढूंढा जा सकता है?

३. क्या 'साधारणीकरण' मॉडल और नारद के सूत्र मिलकर एक नई 'डिजिटल नैतिकता' को जन्म दे सकते हैं?

शोध प्रविधि

यह शोध एक गुणात्मक और व्याख्यात्मक दृष्टिकोण अपनाता है। इसमें नारद भक्ति सूत्र के संस्कृत श्लोकों का अर्थ और उनकी विभिन्न टीकाओं का अध्ययन किया गया है तथा आधुनिक संचार नैतिकता के सिद्धांतों (निष्पक्षता, सटीकता, सहानुभूति) की तुलना नारद के सिद्धांतों (सत्य, अहिंसा, दया) से की गई है।

संचार का अस्तित्वगत संकट और नारदीय दृष्टि

वर्तमान समय के सूचना परिदृश्य को 'अति-संयोजन' और 'ध्यान के विखंडन' द्वारा परिभाषित किया जा सकता है। पश्चिमी संचार प्रतिमानों ने सूचना के अबाध प्रवाह को लोकतंत्र का आधार माना है तथा वर्तमान डिजिटल पारिस्थितिकी तंत्र ने इसे 'विषाक्त कोलाहल' में परिवर्तित कर दिया है। इस संदर्भ में, 'नारद भक्ति सूत्र' एक क्रांतिकारी संचार मैनुअल के रूप में उभरता है, जो संचार के केंद्र में 'अहंकार' के स्थान पर 'समर्पण' और 'प्रेम' को स्थापित करता है। नारद, जिन्हें भारतीय ज्ञान परंपरा में 'त्रिलोक संचारक' और 'आदि पत्रकार' की संज्ञा दी गई है, संचार का उद्देश्य केवल सूचना का प्रसारण नहीं, बल्कि चेतना का रूपांतरण मानते हैं। नारद सूत्र २ में भक्ति को 'सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा' (वह ईश्वर के प्रति परम प्रेम रूपा है) के रूप में परिभाषित करते हैं । आधुनिक संचार के संदर्भ में, यह 'परम प्रेम' संचारक और श्रोता के बीच एक अद्वैत संबंध की मांग करता है। यदि एक पत्रकार या सोशल मीडिया इन्फ्लुएंसर अपने दर्शकों को 'उपभोक्ता' या 'डेटा पॉइंट' के बजाय 'चेतन सत्ता' के रूप में देखे, तो संचार में निहित शोषण और हेरफेर की संभावना स्वतः समाप्त हो जाती है। यह दृष्टिकोण आधुनिक मीडिया के 'अवधान अर्थव्यवस्था' मॉडल को चुनौती देता है, जो मानवीय भावनाओं के विदोहन पर आधारित है। इसी तरह, नारद संचार की शुद्धता के लिए 'निरोध' की अवधारणा प्रस्तुत करते हैं, जो आधुनिक 'डिजिटल डिटॉक्स' से कहीं अधिक गहरा दार्शनिक सिद्धांत है। सूत्र ७ और ८ में नारद कहते हैं—'सा न कामयमाना निरोधरूपत्वात्' (वह कामना रहित है क्योंकि वह निरोध रूप है) और 'निरोधस्तु लोकवेदव्यापारन्यासः' (निरोध का अर्थ है लौकिक और वैदिक कर्मकांडों का त्याग) । यहाँ 'लौकिक व्यापार' को आज के संदर्भ में सोशल मीडिया पर निरंतर स्वयं को प्रदर्शित करने की व्याकुलता और 'वैदिक व्यापार' को बौद्धिक अहंकार या 'वर्च्यू सिग्नलिंग' के रूप में समझा जा सकता है। नारद का निरोध दमन नहीं, बल्कि निम्नतर आसक्तियों का उच्चतर उद्देश्य के लिए त्याग है। जब संचारक 'लाइक्स', 'रिट्वीट्स' और 'वायरलिटी' की आसक्ति (लौकिक व्यापार) का त्याग कर सत्य के प्रति समर्पित होता है, तभी संचार 'सात्विक' और समाज के लिए कल्याणकारी हो सकता है। यह सिद्धांत आधुनिक पत्रकारिता की उस समस्या का सीधा समाधान है जहाँ टीआरपी और क्लिकबेट के लिए नैतिकता की बलि चढ़ा दी जाती है।

साधारणीकरण मॉडल और डिजिटल सहृदयता

पाश्चात्य संचार मॉडल (जैसे शैनन-वीवर या अरस्तू का मॉडल) मुख्य रूप से संचार को एक रेखीय और यांत्रिक प्रक्रिया के रूप में देखते हैं, जहाँ उद्देश्य संदेश को प्रेषक से प्राप्त कर्ता तक पहुँचाना और अनुनय करना होता है। इसके विपरीत, भारतीय संचार सिद्धांत 'साधारणीकरण' की अवधारणा पर आधारित है जिसका मूल भरतमुनि के नाट्यशास्त्र और भट्टनायक की व्याख्याओं में है। संस्कृत काव्य शास्त्र और नाट्यशास्त्र से उद्भूत 'साधारणीकरण' का अर्थ है 'साधारण हो जाना' या 'समान हो जाना'। जब प्रेषक और प्राप्त कर्ता के बीच का भेद समाप्त हो जाता है और दोनों एक ही भाव-भूमि पर स्थित हो जाते हैं, तब संचार सफल माना जाता है। इस अवस्था को 'सहृदयता' कहते हैं। नारद भक्ति सूत्र इस साधारणीकरण का चरम उत्कर्ष है। यहाँ संचारक (भक्त) और श्रोता (ईश्वर या समाज) के बीच 'अनन्यता' स्थापित होती है। नारद सूत्र ४१ में कहते हैं— 'तस्मिन् तज्जने भेदाभावात्' (उसमें और उसके जनों में भेद नहीं है)। नारद मुनि स्वयं एक आदर्श संचारक हैं। वे तीनों लोकों में निर्बाध विचरण करते हैं, लेकिन उनका संचार 'गपशप' नहीं, बल्कि 'लोक संग्रह' के लिए होता है। आधुनिक पत्रकारिता, जो अक्सर 'ब्रेकिंग न्यूज' की होड़ में संदर्भ और नैतिकता को ताक पर रख देती है, नारद के 'उद्देश्यपूर्ण संचार से बहुत कुछ सीख सकती है। नारद का संचार विखंडन नहीं, बल्कि 'ब्रह्मांडीय सामंजस्य' स्थापित करता है। आधुनिक संचार का संकट यह है कि यहाँ 'माध्यम' ही संदेश बन गया है, और 'संपर्क' को ही 'संबंध' मान लिया गया है। नारद भक्ति सूत्र संचार के 'उद्देश्य' पर प्रश्न चिन्ह लगाता है। यदि संचार का उद्देश्य केवल 'अहंकार की तुष्टि' या 'इंद्रिय भोग' है, तो वह 'संचार' नहीं, बल्कि 'शोर' है।

वाद-त्याग और ध्रुवीकरण का मनोविज्ञान

सोशल मीडिया प्लेटफॉर्म्स का एल्गोरिद्मिक संघर्ष और विवाद को बढ़ावा देने के लिए डिज़ाइन किया गया है, क्योंकि इससे 'एंगेजमेंट' बढ़ता है। शोध बताते हैं कि 'क्रोध' वाली सामग्री (रेज बेट) सोशल मीडिया पर सबसे अधिक वायरल होती है। एल्गोरिदम जानबूझकर ऐसी सामग्री को बढ़ावा देते हैं जो प्रतिक्रियावादी क्रोध भड़काए। व्यक्ति एक ऐसी कृत्रिम दुनिया में कैद हो जाता है जहाँ उसे लगता है कि उसका ही दृष्टिकोण एकमात्र सत्य है। यह 'संज्ञानात्मक पूर्वाग्रह' को सुदृढ़ करता है। समाज में बढ़ते ध्रुवीकरण के इस दौर में नारद का सूत्र ७४ 'वादो नावलम्ब्यः' (वाद-विवाद का सहारा नहीं लेना चाहिए) अत्यंत प्रासंगिक हो जाता है। नारद स्पष्ट करते हैं कि वाद क्यों त्याज्य है: 'बाहुल्यावकाशत्वात् अनियतत्वाच्च' (सूत्र ७५) क्योंकि वाद में विस्तार का कोई अंत नहीं है और यह अनियंत्रित होता है। आधुनिक ट्विटर (X) बहसों का विश्लेषण करने पर नारद का यह मनोवैज्ञानिक विश्लेषण सटीक बैठता है। ऑनलाइन बहसें सत्य की खोज के लिए नहीं, बल्कि अहंकार की तुष्टि और दूसरे को पराजित करने के लिए होती हैं। नारद चेतावनी देते हैं कि तर्क प्रतिष्ठा-विहीन होता है; एक तर्क को दूसरे कुतर्क से काटा जा सकता है, जिससे सत्य कहीं खो जाता है। डिजिटल स्पेस में, जहाँ 'संदर्भ' का अक्सर लोप हो जाता है, वहां वाद-विवाद अंततः द्वेष और वैमनस्य को ही जन्म देता है। इसलिए, नारद एक नैतिक संचारक को सलाह देते हैं कि वह व्यर्थ के वितंडावाद में ऊर्जा नष्ट करने के बजाय 'मौन' या 'रचनात्मक संवाद' का मार्ग चुने। यह 'कैंसिल कल्चर' के विरुद्ध एक सशक्त आध्यात्मिक प्रतिरोध है, जो संवाद को 'युद्ध' के बजाय 'साधना' मानता है।

सत्य, इन्फोडेमिक और वाचिक तप

'पोस्ट-ट्रुथ' युग में, जहाँ भावनाओं और व्यक्तिगत विश्वासों को वस्तुनिष्ठ तथ्यों पर वरीयता दी जाती है, सत्य की परिभाषा धुंधली हो गई है। 'फेक न्यूज' और 'डीपफेक' न केवल राजनीतिक अस्थिरता ला रहे हैं, बल्कि वैज्ञानिक चेतना को भी कुंठित कर रहे हैं। नारद भक्ति सूत्र इस समस्या के मूल कारण (अशुद्ध अंतःकरण) पर प्रहार करता है। सूत्र ७८ में नारद निर्देश देते हैं- 'अहिंसा-सत्य-शौच-दया-आस्तिक्यादि-चारित्र्याणि परिपालनीयानि' (अहिंसा, सत्य, शौच, दया और आस्तिकता आदि चरित्रों का पालन करना चाहिए)। यहाँ 'सत्य' केवल तथ्यात्मक सटीकता तक सीमित नहीं है, बल्कि यह 'ऋत' (ब्रह्मांडीय नैतिक व्यवस्था) के प्रति निष्ठा है। भारतीय परंपरा में 'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्' का विधान है। आधुनिक मीडिया अक्सर 'सत्य' के नाम पर 'सनसनी' परोसता है जो न तो प्रिय होती है और न ही हितकर। नारद द्वारा वर्णित 'शौच' (पवित्रता) का अर्थ डिजिटल संदर्भ में 'सूचनात्मक स्वच्छता' है। बिना सत्यापन के सूचना को फॉरवर्ड करना, या द्वेषपूर्ण

सामग्री का उपभोग करना, बौद्धिक 'अशौच' है। इन्फोडेमिक से लड़ने के लिए नारद 'शास्त्र-रक्षण' (सूत्र १२) और 'दुःसंग-त्याग' (सूत्र ४३) का उपाय बताते हैं।

डिजिटल 'दुस्संग' और एल्गोरिद्मिक कुचक्र

नारद भक्ति सूत्र का एक अत्यंत महत्वपूर्ण और मनोवैज्ञानिक खंड 'संगति' के प्रभाव पर केंद्रित है। नारद जिसे 'दुस्संग' कहते हैं, वह आज के डिजिटल युग में 'इको चैंबर्स' और 'फ़िल्टर बबल्स' के रूप में हमारे सामने है। दुःसंग का अर्थ है उन स्रोतों और समूहों से दूर रहना जो काम, क्रोध और मोह को भड़काते हैं। सूत्र ४३: दुस्संगः सर्वथैव त्याज्यः (अर्थ: बुरी संगति का सर्वथा, हर प्रकार से और हर कीमत पर त्याग कर देना चाहिए।) पारंपरिक रूप से 'दुस्संग' का अर्थ बुरे चरित्र वाले व्यक्तियों का साथ माना जाता था। लेकिन डिजिटल युग में, 'संग' का अर्थ विस्तारित हो गया है। हम किसके साथ 'डिजिटल समय' बिताते हैं, हम कौन सा कंटेंट 'कंज्यूम' करते हैं, और एल्गोरिदम हमें क्या परोस रहा है यह सब 'संग' है। शोध बताते हैं कि आधुनिक सोशल मीडिया प्लेटफॉर्म्स 'होमोफिली' के सिद्धांत पर कार्य करते हैं अर्थात समान विचार वाले लोगों को एक साथ लाना। एली पेरिसर ने इसे 'फ़िल्टर बबल' कहा है, जहाँ एल्गोरिदम उपयोगकर्ता को केवल वही दिखाता है जो वह देखना चाहता है, जिससे वह विरोधी विचारों से पूरी तरह कट जाता है। यह एक प्रकार का 'बौद्धिक दुस्संग' है जो उपयोगकर्ता को सत्य से दूर ले जाता है और 'मोह' में डाल देता है। नारद का "सर्वथैव त्याज्यः" का निर्देश आज 'एल्गोरिद्मिक क्यूरेशन' से बाहर निकलने की सचेत आवश्यकता को रेखांकित करता है।

डिजिटल युग में 'त्याग' और 'अर्पण' की प्रासंगिकता

नारद भक्ति सूत्र का दर्शन केवल निषेधात्मक (क्या न करें) नहीं, बल्कि विधेयात्मक (क्या करें) भी है। सूत्र १९ में वर्णित 'तदर्पितखिलाचारता' (समस्त आचार-विचार ईश्वर को अर्पित करना) डिजिटल व्यवहार के लिए एक शक्तिशाली 'फ़िल्टर' का कार्य कर सकता है। यदि प्रत्येक डिजिटल नागरिक सोशल मीडिया पर पोस्ट करने से पूर्व यह विचार करे कि क्या उसका यह शब्द या चित्र 'सत्य' और 'समष्टि' को अर्पित करने योग्य है, तो साइबर स्पेस की विषाक्तता क्षण भर में समाप्त हो सकती है। इसे हम 'डिजिटल कर्मयोग' कह सकते हैं। इसके अतिरिक्त, नारद 'फल-त्याग' पर जोर देते हैं। आधुनिक मानसिक स्वास्थ्य संकट जो लाइक्स, फॉलोअर्स और वैलिडेशन की भूख से उपजा है, का समाधान नारद के सूत्र 'यल्लाब्धवा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति' (जिसे पाकर मनुष्य सिद्ध, अमर और तृप्त हो जाता है) में निहित है। बाहरी मान्यता के बजाय आंतरिक तृप्ति पर ध्यान केंद्रित करना ही सोशल मीडिया की लत और अवसाद का स्थायी उपचार है। नारद सिखाते हैं कि शांति स्क्रीन के बाहर नहीं, बल्कि अंतःकरण के 'आत्माराम' होने में है (सूत्र ६)

निष्कर्ष

इस तुलनात्मक अध्ययन का निष्कर्ष यह है कि आधुनिक संचार नैतिकता, जो बाह्य नियमों, कानूनों और प्लेटफार्म नीतियों पर निर्भर है, अपर्याप्त सिद्ध हो चुकी है क्योंकि यह मानव स्वभाव की गहराइयों को स्पर्श नहीं करती। तकनीक ने मनुष्य को 'देवताओं' जैसी शक्ति (सर्वव्यापकता और सर्वज्ञता) प्रदान कर दी है, लेकिन विवेक के अभाव में हम 'असुर' बनते जा रहे हैं। नारद भक्ति सूत्र एक 'आंतरिक तकनीक' प्रदान करता है जो बाह्य तकनीक को संतुलित कर सकती है। नारद भक्ति सूत्र कोई पुरातन धार्मिक ग्रंथ मात्र नहीं, अपितु एक कालजयी मनोवैज्ञानिक दस्तावेज है जो २१वीं सदी के सूचना युद्ध के बीच शांति और विवेक का मार्ग प्रशस्त करता है। यह हमें 'कनेक्शन' से 'कम्यूनियन' की ओर ले जाने का सामर्थ्य रखता है, जो संचार का सर्वोच्च लक्ष्य है। नारद के सूत्र ४३-४५ (दुस्संग) और सूत्र ६३ (निषिद्ध श्रवण) आधुनिक डिजिटल व्याधियों जैसे इको चैंबर्स, फ़िल्टर बबल्स, अवधान की कमी, और काम/क्रोध के मुद्रीकरण आदि का सटीक मनोवैज्ञानिक निदान करते हैं। सूत्र ७४ (वाद निषेध) और सूत्र ७८ (सत्य/अहिंसा) ध्रुवीकरण और पोस्ट-ट्रुथ संस्कृति के लिए व्यावहारिक नैतिक दिशानिर्देश प्रदान करते हैं। 'साधारणीकरण' और 'तदर्पिताखिलाचारता' (सूत्र १९) संचार को 'लेन-देन' से उठाकर 'सेवा' और 'समर्पण' के स्तर पर ले जाते हैं। आधुनिक मीडिया अध्ययन और पत्रकारिता के पाठ्यक्रमों में 'नारद भक्ति सूत्र' को केवल धार्मिक पाठ के रूप में नहीं, बल्कि 'संचार नीतिशास्त्र' के एक आधारभूत ग्रंथ के रूप में शामिल किया जाना चाहिए। हमें एक 'सात्विक एल्गोरिदम' की कल्पना करनी होगी जो मनुष्य की कमजोरियों (काम/क्रोध) का शोषण करने के बजाय उसके उच्चतर मूल्यों

(सत्य/दया) को पोषित करें। नारद का संदेश स्पष्ट है कि तकनीक बदल सकती है, माध्यम बदल सकते हैं लेकिन संचार का मूल उद्देश्य 'कल्याण' और 'प्रेम' ही रहना चाहिए। वीणा से वाई-फाई तक के सफर में जब संचार अपने इस उद्देश्य से भटकता है, तो वह 'कोलाहल' बन जाता है; जब वह इस उद्देश्य पर स्थिर रहता है, तो वह 'भक्ति' बन जाता है।

भविष्य के लिए नारदीय सिद्धांतों पर आधारित एक 'डिजिटल धर्म संहिता' प्रस्तावित की जा सकती है, जिसके प्रमुख स्तंभ हैं:

१. डिजिटल सत्य: तथ्यों का सत्यापन और भ्रामक सूचनाओं के प्रसार का पूर्ण निषेध (सूत्र ७८)

२. डिजिटल अहिंसा: वाणी और शब्दों द्वारा किसी को आहत न करना, ट्रोलिंग और साइबर बुलिंग से विरक्ति (सूत्र ७८, ४३)

३. डिजिटल संयम: वाद-विवाद से बचना और ध्यान की अर्थव्यवस्था में अपनी चेतना को सुरक्षित रखना (सूत्र ७४, ७)

४. डिजिटल सहृदयता 'अन्य' को 'स्व' का विस्तार मानना और संचार में एकात्मता का अनुभव करना (साधारणीकरण/सूत्र ४१)

संदर्भ:

अखण्डानन्द सरस्वती, स्वामी. (१९६९). *नारद भक्ति दर्शन*. सत्साहित्य प्रकाशन

इग्नू. (n.d.). *MJM-025: मीडिया नैतिकता और कानून* (खंड 1: मीडिया नैतिकता). इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय.

इग्नू. (n.d.). *MJM-025: मीडिया नैतिकता और कानून* (खंड 2: मीडिया कानून). इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय.

ओशो. (२०२४). *भक्ति सूत्र: महर्षि नारद पर प्रीति-प्रवचन* (भाग 1 और 2). ओशो मीडिया इंटरनेशनल / डायमंड बुक्स.

कल्याण. (n.d.). *सदाचार अंक* (विशेषांक). गीता प्रेस.

कुमार, के. जे. (2017). *भारत में जनसंचार* (हिन्दी संस्करण). जैको पब्लिशिंग हाउस.

गुप्ता, डी. के. (2025, सितम्बर 2). *मीडिया कानून और नैतिकता: एक समकालीन परिप्रेक्ष्य*. जागरण.

चिन्मयानन्द, स्वामी. (2021). *नारद भक्ति सूत्र* (हिन्दी अनुवाद). सेंट्रल चिन्मय मिशन ट्रस्ट.

त्रिवेदी, एस., और शुक्ल, एस. (1996). *जनसम्पर्क: सिद्धांत और व्यवहार*. मध्य प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी.

नारद भक्ति सूत्र एवं शाण्डिल्य भक्ति सूत्र (कोड 385). गीता प्रेस.

पोद्दार, ह. प्र. (2018). *प्रेम दर्शन*. गीता प्रेस.

पोद्दार, ह. प्र. (सं.). (n.d.). *वाणी का तप*. *कल्याण*. गीता प्रेस.

प्रभुपाद, ए. सी. बी. एस. (1998). *नारद भक्ति सूत्र: द सीक्रेट्स ऑफ ट्रांसडेंटल लव*. भक्तिवेदांत बुक ट्रस्ट.

शर्मा, च. प्र. (2010). *संचार और संचार माध्यम*. संजय प्रकाशन.

समावेशी शिक्षा : किन्नर विद्यार्थियों का सामाजिक सशक्तिकरण एवं दिशा- निर्देश

प्रमोद कुमार*
pramodphdedu@gmail.com

प्रो. (डॉ.) भरत कुमार पंडा†
bharat.panda06@gmail.com

सारांश

समावेशी शिक्षा से तात्पर्य ऐसी शिक्षा व्यवस्था से है जिसमें सभी विद्यार्थी चाहे उनकी लैंगिक पहचान, सामाजिक पृष्ठभूमि या शैक्षिक क्षमता किसी भी प्रकार की हो सभी को समान अवसरों एवं समर्थन प्रदान करते हुए शिक्षा प्रदान की जाती है। लिंग से आधारित एक अन्य उपेक्षित वर्ग किन्नर समुदाय भी है जिसे लैंगिक असमानता की अधिकता होने के कारण मूलभूत आवश्यकताओं हेतु अथक संघर्ष करना पड़ा है। इसका प्रमुख आधार यह भी है कि किन्नर समुदाय को स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात जनगणना में स्थान पाने के लिए वर्ष 2011 तक इंतजार करना पड़ा फलस्वरूप यह समुदाय समाज के समक्ष होते हुए भी समाज शून्य ही रहा है। आज भी विद्यालयों में लैंगिक तटस्थ वर्दी, गोपनीय शौचालय व्यवस्था और अभिव्यक्त स्वतंत्रता के अभाव ने समावेशी वातावरण को सीमित कर रखा। अतः प्रस्तुत शोध लेख का मुख्य उद्देश्य समावेशी शिक्षण पद्धतियों के प्रयोग से किन्नर विद्यार्थियों की कक्षा में सामाजिक सहभागिता एवं आत्मसम्मान में होने वाले परिवर्तन का मापन करते हुए शिक्षा विभाग एवं विद्यालय प्रशासन के लिए लैंगिक विविधता-संवेदनशील नीतिगत दिशानिर्देशों का निर्माण करना है नीति-निर्देशों का सशक्त क्रियान्वयन तब तक अधूरा रहेगा जब तक प्रशासन, शिक्षक, परिवार और समुदाय के बीच सहयोग न बन जाए। नलसा के न्यायोचित प्रकाश और किन्नर अधिकार अधिनियम के संवैधानिक आदर्शों को जीवन्त करने के लिए समावेशन इंडेक्स, ऑडिट टीम और स्वतंत्र निगरानी पैनल जैसी संरचनाएँ स्थायी होने चाहिए। तकनीकी नवाचार एआई-आधारित लर्निंग प्लेटफ़ॉर्म, एआर/वीआर संवेदनशीलता सिमुलेशन और 24×7 काउंसलिंग ऐप इन पहलुओं को भाखा की सीमाओं से भी परे ले जाकर किन्नर विद्यार्थियों को निरंतर सहारा देते हैं।

परिभाषिक शब्दावली

समावेशी शिक्षा, किन्नर समुदाय, सामाजिक सशक्तिकरण, नीति-निर्माण, यूनिवर्सल डिज़ाइन फॉर लर्निंग

प्रस्तावना

समावेशी शिक्षा से तात्पर्य ऐसी शिक्षा व्यवस्था से है जिसमें सभी विद्यार्थी चाहे उनकी लैंगिक पहचान, सामाजिक पृष्ठभूमि या शैक्षिक क्षमता किसी भी प्रकार की हो सभी को समान अवसरों एवं समर्थन प्रदान करते हुए शिक्षा प्रदान की जाती है। इसके द्वारा सभी विद्यार्थी सामान रूप से एक साथ मिल कर अधिगम को अधिगमित कर सकने में सक्षम होते है। प्राचीनतम समय से ही भारत देश पितृसत्तामूलक रहा है जहाँ पुरुष के सानिध्य में स्त्रियाँ रहीं है जिसके कारण सबसे पहला भेदभाव प्रत्येक स्तर पर स्त्रियों के रूप में सभी के समक्ष प्रस्तुत हुआ अनेकानेक प्रयास, योजनाबद्ध क्रियान्वयन, जागरूकता स्तर, वृत्तिक सहयोग, सामाजिक स्थान आदि प्रयासों ने वर्तमान में स्त्रियों को सशक्त करने का प्रयास हो रहा है परन्तु लिंग से ही आधारित एक अन्य उपेक्षित वर्ग किन्नर समुदाय भी है जिसे लैंगिक असमानता की अधिकता होने के कारण मूलभूत आवश्यकताओं हेतु अथक संघर्ष करना पड़ा है। इसका प्रमुख आधार यह भी है कि किन्नर समुदाय को स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात जनगणना में स्थान पाने के लिए वर्ष 2011 तक इंतजार करना पड़ा फलस्वरूप यह समुदाय समाज के समक्ष होते हुए भी समाज शून्य ही रहा है क्योंकि भारतीय जनगणना में स्थान नहीं का अर्थ है कि आपके पास कोई पहचान नहीं है, सरकार की किसी भी नीतिगत

* **पी-एच.डी. (शिक्षाशास्त्र), महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा, महाराष्ट्र**

† **प्रोफेसर, शिक्षा विभाग, ओड़िशा केन्द्रीय विश्वविद्यालय, सुनाबेडा, कोरापुट**

योजना का आप लाभ नही ले सकते, अपने पक्ष को समाज के समक्ष नहीं प्रस्तुत कर सकते ना ही आपका कोई प्रतिनिधि हो सकता है। ऐसी दृष्टि में किन्नर समुदाय की शिक्षा तक पहुँच अनेक ऐतिहासिक और सामाजिक बाधाओं से घिरी हुई है। औपनिवेशिक कानूनी ढाँचे तथा पारंपरिक रूढ़िवाद ने उन्हें दशकों तक द्वितीय श्रेणी का नागरिक बनाए रखा, जबकि सुप्रीम कोर्ट के नलसा निर्णय (2014) ने तीसरे लिंग की वैधता और अधिकारों को स्पष्ट किया हुआ है। आज भी विद्यालयों में लैंगिक तटस्थ वर्दी, गोपनीय शौचालय व्यवस्था और अभिव्यक्त स्वतंत्रता के अभाव ने समावेशी वातावरण को सीमित कर रखा। अतः प्रस्तुत शोध लेख का मुख्य उद्देश्य समावेशी शिक्षण पद्धतियों के प्रयोग से किन्नर विद्यार्थियों की कक्षा में सामाजिक सहभागिता एवं आत्मसम्मान में होने वाले परिवर्तन का मापन करते हुए शिक्षा विभाग एवं विद्यालय प्रशासन के लिए लैंगिक विविधता-संवेदनशील नीतिगत दिशानिर्देशों का निर्माण करना है जिसके लिए शोधार्थी द्वारा वर्तमान विद्यालय-स्तरीय समावेशी योजनायें किन्नर विद्यार्थियों की उपस्थिति, भागीदारी और सहयोग को कितना सकारात्मक रूप से प्रभावित कर रही हैं एवं शिक्षक, अभिभावक और सहपाठियों की भूमिकाएँ एवं सहयोग किस प्रकार सुधारात्मक हस्तक्षेप से किन्नर विद्यार्थियोंके आत्मविश्वास एवं मानसिक स्वास्थ्य को सुदृढ़ कर सकते हैं दो शोध प्रश्नों को केंद्र में रखा गया है।

समावेशी शिक्षा का महत्त्व एवं उद्देश्य

समावेशी शिक्षा वह दृष्टिकोण है जिसमें हर विद्यार्थी चाहे उसकी लैंगिक पहचान, सामाजिक पृष्ठभूमि या शैक्षिक क्षमता कैसी भी हो को एक समान शिक्षण वातावरण में सीखने, भाग लेने और सफलता हासिल करने का अवसर मिलता है। इस सिद्धांत की नींव बहुलतावाद, समान भागीदारी और व्यक्तिगत सीखने की विविध आवश्यकताओं की पहचान पर टिकी है। समावेशी कक्षा न केवल भौतिक रूप से सभी के लिए खुली होती है, बल्कि इसमें एक समावेशी मनोवृत्ति विकसित करने के लिए शिक्षक, सहपाठी और प्रशासनिक तत्वों का सहयोग भी निहित होता है। यूनेस्को के अनुसार, समावेशी शिक्षा का उद्देश्य सामाजिक असमानताओं को चुनौती देना और एक ऐसा शिक्षण ढांचा तैयार करना है जहाँ विविध पृष्ठभूमि वाले छात्र अपने सीखने के तरीके और भविष्य पर नियंत्रण महसूस करें।

किन्नर समुदाय की सामाजिक एवं शैक्षिक स्थिति

वैश्विक रूप से लगभग 0.3–0.5% आबादी किन्नर पहचान रखती है, जो सामाजिक एवं शैक्षिक समावेशन के लिए स्पष्ट लक्ष्य रेखांकित करता है। उत्तर अमेरिका में कनाडा ने स्कूल ऑफ़ क्लाइमेट पालिसी लागू कर एलजीबीटीक्यू+ संवेदनशीलता पाठ्यक्रम मानकीकृत किया है, जहाँ शिक्षकों को लाइसेंस नवीनीकरण के समय अनिवार्य ट्रेनिंग पूरी करनी होती है। यूरोप में नेटवर्क ने समावेशी पाठ्यचर्या, रिपोर्टिंग मैकेनिज्म और वार्षिक समावेशन इंडेक्स विकसित किया है, जिससे नीतिगत सुधारों पर डेटा-आधारित निगरानी संभव हुई है। न्यूजीलैंड ने क्वीर टीचर्स ऑफ़ इन्क्वायरी कार्यक्रम के माध्यम से शिक्षकों को लैंगिक विविधता पर शोध-आधारित प्रैक्टिस साझा करने और प्रमाणन प्राप्त करने का अवसर प्रदान किया है। इन पहलों से साबित होता है कि संवेदनशील प्रशिक्षण और नीतिगत मानकीकरण से किन्नर विद्यार्थियों की उपस्थिति, सुरक्षा और अकादमिक प्रदर्शन में सुधार होता है।

वहीं भारत के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य के अनुसार प्राचीन भारतीय ग्रंथों महाभारत और रामायण में तृतीय लिंग व्यक्तियों का उल्लेख मिलता है, पर औपनिवेशिक कानूनों ने उन्हें अपराधीकरण और सामाजिक हाशिए पर धकेल दिया है। स्वतंत्रता के बाद 1970–2000 के दशकों में कई सामाजिक आंदोलनों ने किन्नर अधिकारों की मांग की, किन्तु जाति, वर्ग और लैंगिक रूढ़ियों ने उनकी शिक्षा तक पहुँच को जटिल बनाए रखा है। सुप्रीम कोर्ट का नलसा निर्णय (2014) ने तीसरे लिंग को संवैधानिक मान्यता प्रदान की और किन्नरों हेतु समान अधिकार को भी सुनिश्चित किए। इसके पश्चात् निर्मित ट्रांसजेंडर पर्सन्स (प्रोटेक्शन ऑफ़ राइट्स) एक्ट, 2019 ने किन्नर समुदाय को पहचान प्रमाण-पत्र जारी करने तथा शिक्षा व स्वास्थ्य सेवाओं में गैर-भेदभाव सुनिश्चित करने के लिए प्रावधान प्रदान किये तत्पश्चात भी, व्यवहारिक स्तर पर विद्यालयों, महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालय और कॉलेजों में किन्नर विद्यार्थियों की भागीदारी अभी भी सीमा-बद्ध बनी हुई है।

शहरी केंद्रों में जागरूकता अभियानों और गैर सरकारी संगठन समर्थित संवेदनशीलता वर्कशॉप से सकारात्मक बदलाव दिख रहे हैं, जहां स्कूल-क्लाइमेट नीतियाँ और लैंगिक तटस्थ वर्दी प्रावधान धीरे-धीरे लागू हो रहे हैं। इन पहलों से किन्नर विद्यार्थियों के आत्मविश्वास में वृद्धि और सहयोगी स्कूल संस्कृति का विकास हुआ है। वहीं ग्रामीण तथा पारंपरिक

परिवेश में सुरक्षा की कमी, गोपनीयता का अभाव और पहचान अस्वीकृति की घटनाएँ जारी हैं, जिससे कई छात्र विद्यालय छोड़ने को मजबूर होते हैं। शौचालय, वर्दी और नाम–सर्वनाम चयन में तटस्थता न रहने के कारण असुरक्षा और अवसादग्रस्तता बढ़ रही है, जो शैक्षणिक निरंतरता और मानसिक स्वास्थ्य दोनों पर नकारात्मक प्रभाव डालती है।

यूनिवर्सल डिज़ाइन फॉर लर्निंग

यूनिवर्सल डिज़ाइन फॉर लर्निंग समावेशी शिक्षा को व्यवहारिक रूप से लागू करने का एक प्रभावी मॉडल है। यूनिवर्सल डिज़ाइन फॉर लर्निंग तीन मुख्य स्तंभों पर आधारित है:

- **प्रतिनिधित्व :** ज्ञान और जानकारी को मल्टीमॉडल वीडियो, ऑडियो, टेक्स्ट रूप में प्रस्तुत करना।
- **अभिव्यक्ति :** छात्रों को उनकी शक्ति और रुचि के अनुसार विचार व्यक्त करने के वैकल्पिक माध्यम प्रदान करना, जैसे प्रोजेक्ट, पोर्टफोलियो या मौखिक प्रस्तुति।
- **अभिरुचि :** सीखने की प्रक्रिया में शामिल विभिन्न प्रेरक तत्वों को शामिल करना, ताकि किन्नर छात्र अपनी पहचान के अनुरूप सामग्री से जुड़े रहें।

यूनिवर्सल डिज़ाइन फॉर लर्निंग से किन्नर विद्यार्थियोंको सीखने की चुनौतियों पर नियंत्रण मिलता है और वे आत्मनिहित प्रेरणा विकसित करते हैं। यूनेस्को की रिपोर्ट में उल्लिखित है कि यूनिवर्सल डिज़ाइन फॉर लर्निंग आधारित शिक्षण पद्धतियाँ विस्तारवादी समूहों में सीखने के अनुभव को समृद्ध करती हैं और जनसांख्यिकीय असमानताओं को सीमित कर देती हैं।

सामाजिक समानता, समान अवसर एवं सशक्तिकरण

समावेशी शिक्षा का अंतिम उद्देश्य सामाजिक असमानताओं को कम कर, आत्मविश्वास और निर्णय क्षमता प्रदत्त करना है। जब लाखों किन्नर विद्यार्थियों को लैंगिक तटस्थ वर्दी नियम, सुरक्षित शौचालय प्रावधान और संवेदनशील शिक्षक प्रशिक्षण के माध्यम से समान अधिकार मिलेंगे, तो वे कक्षा में सक्रिय भागीदार बनते हैं और समाज में अपनी उपस्थिति दर्ज कराते हैं। उदाहरण के लिए, भारत में ट्रांसजेंडर पर्सन्स (प्रोटेक्शन ऑफ़ राइट्स) एक्ट, 2019 के तहत शैक्षणिक संस्थानों में गैर-भेदभाव प्रावधानों को लागू करने से छात्रों की सुरक्षा और आत्मसम्मान में सुधार हो सकते है। इसके अतिरिक्त, यूनेस्को का मानना है कि इन नीतिगत सुधारों से न केवल एक समावेशी विद्यालय संस्कृति का विकास होता है, बल्कि अर्थव्यवस्था में उनकी भागीदारी और दीर्घकालीन सामाजिक न्याय भी सुनिश्चित होता है।

किन्नर विद्यार्थियों की विशिष्ट आवश्यकताएँ और बाधाएँ

किन्नर छात्र पहचान की अनदेखी, गलत सर्वनाम एवं अपमानजनक चुटकुलों के कारण गहरी असुरक्षा और अकेलापन महसूस करते हैं, जिससे अवसाद, चिंता विकार और आत्महत्या प्रवृत्ति की घटनाएँ बढ़ जाती हैं।

- स्कूल परिसर में शारीरिक और मौखिक बुलिंग
- सोशल मीडिया पर ट्रोलिंग द्वारा डिजिटल उत्पीड़न
- पहचान अस्वीकार कर गलत सर्वनाम का प्रयोग
- आत्मसम्मान में गिरावट; अवसाद, चिंता के लक्षण

समाधान के उपाय:

- समावेशी काउंसलिंग सर्विस एवं आपातकालीन हेल्पलाइन की उपलब्धता
- "मानसिक स्वास्थ्य दिवस" पर वर्कशॉप एवं समूह समर्थन सत्र आयोजित करना
- नियमित साइकोसोशल स्क्रीनिंग और किन्नर विशेषज्ञ काउंसलर की नियुक्ति

शैक्षिक संस्थानों में पहुँच और उपलब्ध संसाधन

भौतिक अवसंरचना की असामंजस्यता किन्नर विद्यार्थियों को विद्यालय आने से रोकती है। खुले शौचालय, लिंग-आधारित आवास व्यवस्था एवं परिवहन की कमी उनकी रोजमर्रा की सुरक्षा पर प्रश्नचिन्ह लगाती है।

- ❖ लैंगिक तटस्थ शौचालय एवं परिवहन व्यवस्था
- ❖ हॉस्टल में लैंगिक संवेदनशील ब्लॉक का प्रावधान
- ❖ किन्नर छात्रवृत्ति योजनाएँ एवं आपातकालीन "समावेशन फंड" की व्यवस्था
- ❖ पुस्तक, यूनिफॉर्म एवं परिवहन भत्ता सुनिश्चित करना

उपरोक्त संसाधनों के अभाव से उपस्थिति और सीखने की निरंतरता प्रभावित होती है, जबकि इनके समुचित प्रावधान से दोनों में सुधार आता है।

लैंगिक पहचान और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता

शैक्षणिक वातावरण में किन्नर छात्र को स्वयं को प्रामाणिक रूप से अभिव्यक्त करने का अधिकार उनकी आत्म–स्वीकृति एवं आत्म-सम्मान के लिए अनिवार्य है। नाम–सर्वनाम परिवर्तन की स्पष्ट प्रक्रिया, वर्दी चयन की आज़ादी और निजी रिकॉर्ड के लिए गोपनीयता तंत्र आधुनिक समावेशी स्कूल नीति के अविभाज्य अंग हैं।

- ❖ स्पष्ट नाम परिवर्तन प्रोटोकॉल (काउंसलिंग, अभिभावक सहमति, प्रशासनिक अनुमोदन)
- ❖ वर्दी चयन का विकल्प: छात्र अपनी लैंगिक पहचान के अनुसार वर्दी चुन सकें
- ❖ पाठ्यक्रम में लिंग विविधता के मॉड्यूल का समावेश
- ❖ मेडिकल एवं पहचान दस्तावेज़ों के लिए गोपनीयता संरक्षा तंत्र

समावेशी पाठ्यक्रम के लिए एक कार्यान्वयन मार्गदर्शिका

1. पाठ्यक्रम मैपिंग:

सबसे पहले, यह समझना जरूरी है कि वर्तमान पाठ्यक्रम में क्या कमी है। यह एक व्यवस्थित आकलन होगा।

1 **विषय-वार विश्लेषण:**

- ✓ **सामाजिक विज्ञान:** जांचें कि इतिहास, राजनीति विज्ञान और समाजशास्त्र की पुस्तकों में लैंगिक अल्पसंख्यकों का उल्लेख कैसे किया गया है। क्या वे केवल "अध्याय 7: सामाजिक विविधता" तक सीमित हैं या फिर उनके योगदान, संघर्ष और अनुभवों को मुख्यधारा के ऐतिहासिक घटनाक्रमों में बुना गया है?
- ✓ **साहित्य और भाषा:** क्या पाठ्य सूची में केवल द्विआधारी लिंग दृष्टिकोण से लिखी गई रचनाएँ हैं? क्या किन्नर, ट्रांसजेंडर या गैर-द्विआधारी लेखकों या पात्रों वाली रचनाओं को शामिल किया गया है?
- ✓ **विज्ञान और गणित:** क्या विज्ञान की पाठ्यपुस्तकें लिंग को केवल जैविक रूप से समझाती हैं, या वे लिंग पहचान की जटिलताओं और सामाजिक निर्माण पर भी चर्चा करती हैं? गणित की समस्याओं में भी उदाहरणों के माध्यम से विविध परिवार संरचनाओं को दिखाया जा सकता है।

2 **प्रतिनिधित्व का स्तर:** यह आकलन करें कि क्या किन्नर समुदाय को एक 'समस्या' या 'अध्ययन का विषय' मात्र मानकर प्रस्तुत किया गया है, या फिर उनकी एजेंसी और सक्रिय भूमिका को स्वीकार किया गया है।

3 **शिक्षण सामग्री की समीक्षा:** केवल पाठ्यपुस्तकें ही नहीं, बल्कि शिक्षकों द्वारा उपयोग किए जाने वाले उदाहरण, केस स्टडी और दृश्य सामग्री (चित्र, वीडियो) का भी विश्लेषण करें।

2. कंटेंट डेवलपमेंट: जीवन के अनुभवों को शामिल करना

यह चरण केवल जानकारी जोड़ने के बारे में नहीं है, बल्कि सहानुभूति और समझ विकसित करने के बारे में है।

1 **केस स्टडी और जीवनियाँ:** पाठ्यक्रम में उन किन्नर व्यक्तियों की जीवनियाँ और केस स्टडी शामिल करें जिन्होंने समाज के विभिन्न क्षेत्रों - कला, राजनीति, सामाजिक कार्य, व्यवसाय - में योगदान दिया है। *उदाहरण:* शबनम मौसी (सामाजिक कार्यकर्ता), गौरी सावंत (मॉडल), मनाबी बंदोपाध्याय (शिक्षाविद्) जैसी हस्तियों के संघर्ष और सफलता की कहानियाँ।

2 **अनुभवात्मक गतिविधियाँ:** किताबी ज्ञान से हटकर ऐसी गतिविधियाँ डिज़ाइन करें जो छात्रों को दूसरे के नजरिए से दुनिया देखने का मौका दें।

- ❖ **भूमिका निर्वाह :** एक ऐसे परिदृश्य का अभिनय करना जहाँ एक किन्नर व्यक्ति को सरकारी कार्यालय या अस्पताल में भेदभाव का सामना करना पड़ता है। छात्रों को उस व्यक्ति की भूमिका निभाने और फिर कर्मचारी की भूमिका निभाने का अवसर दें।
- ❖ **अतिथि व्याख्यान:** किन्नर समुदाय के सदस्यों या उनके साथ काम करने वाले गैर-सरकारी संगठनों के प्रतिनिधियों को कक्षा में आमंत्रित करके सीधा संवाद कराएँ।
- ❖ **सामुदायिक परियोजनाएँ:** छात्रों को स्थानीय किन्नर समुदाय के साथ मिलकर एक छोटी परियोजना (जैसे उनकी समस्याओं पर एक रिपोर्ट तैयार करना या उनके साथ एक सांस्कृतिक कार्यक्रम आयोजित करना) करने के लिए प्रोत्साहित करें।

3 **बहु-आयामी प्रश्नावली:** परीक्षाओं में ऐसे प्रश्न शामिल करें जो केवर तथ्यात्मक ज्ञान नहीं, बल्कि विश्लेषणात्मक और आलोचनात्मक सोच की माँग करें।

- ➢ "भारत में ट्रांसजेंडर व्यक्तियों के लिए विवाह के अधिकार पर चर्चा करें। यह मुद्दा क्यों महत्वपूर्ण है?"
- ➢ "एक ऐसे विज्ञापन अभियान की कल्पना करें जो किन्नर समुदाय को सम्मान के साथ चित्रित करता हो। उस अभियान के मुख्य संदेश और दृश्य तत्व क्या होंगे?"
- ➢ "एक कहानी या कविता लिखें जिसका मुख्य पात्र एक किन्नर बच्चा है और उसके स्कूली जीवन के अनुभवों को दर्शाया गया हो।"

3. मूल्यांकन

यह सुनिश्चित करना कि मूल्यांकन का तरीका छात्र की सीखने की क्षमता में बाधक न बने, विशेषकर उन छात्रों के लिए जो भाषा या लेखन में कमजोर हो सकते हैं या जिनकी सीखने की शैली अलग है।

- ➢ **प्रोजेक्ट-आधारित मूल्यांकन:** छात्र किसी विषय पर एक विस्तृत परियोजना तैयार कर सकते हैं। "मेरे शहर में किन्नर समुदाय के लिए उपलब्ध स्वास्थ्य सुविधाएँ", "भारतीय सिनेमा में किन्नर पात्रों का बदलता चित्रण", "ट्रांसजेंडर पहचान पर एक लघु वृत्तचित्र बनाना"।
- ➢ **पोर्टफोलियो मूल्यांकन:** पूरे सत्र के दौरान छात्रों द्वारा किए गए कार्यों (निबंध, कला, गतिविधियों के प्रतिबिंब, शोध नोट्स) का एक संग्रह, जो उनकी सीखने की यात्रा को दर्शाता है।
- ➢ **मौखिक मूल्यांकन:** उन छात्रों के लिए जिन्हें लिखित अभिव्यक्ति में कठिनाई होती है, मौखिक प्रस्तुति या शिक्षक के साथ एक-पर-एक बातचीत का विकल्प दिया जा सकता है।
- ➢ **रचनात्मक मूल्यांकन :** केवल अंतिम परीक्षा पर निर्भर न रहकर, नियमित अंतराल पर कक्षा चर्चा, क्विज़ और लघु लेखन कार्यों के माध्यम से समझ का आकलन करना।

4. बहुभाषीय संसाधन:

सीखने की सामग्री को सुलभ बनाना समावेशन की कुंजी है।

- ❖ **वीडियो और ऑडियो:** किन्नर समुदाय के सदस्यों के साक्षात्कार, उनके जीवन पर आधारित लघु फिल्में, या विषय विशेषज्ञों के व्याख्यान रिकॉर्ड करें। इन्हें हिंदी, अंग्रेजी और क्षेत्रीय भाषाओं (जैसे तमिल, तेलुगु, बंगाली, मराठी) में डब या सबटाइटल किया जा सकता है।
- ❖ **इन्फोग्राफिक्स और चित्र:** जटिल अवधारणाओं (जैसे लिंग और यौन अभिविन्यास में अंतर, किन्नर समुदाय का इतिहास, कानूनी अधिकार) को सरल, दृश्यात्मक रूप में प्रस्तुत करें। इनका अनुवाद भी किया जा सकता है।
- ❖ **पाठ्य सामग्री:** महत्वपूर्ण लेखों और अध्यायों के सरलीकृत संस्करण या अनुवाद तैयार कराएँ।
- ❖ **सामुदायिक भागीदारी:** संसाधन निर्माण में स्थानीय कलाकारों, लेखकों और किन्नर समुदाय के सदस्यों को शामिल करें ताकि सामग्री प्रामाणिक और प्रासंगिक बने।

5. सुधार चक्र

कोई भी पाठ्यक्रम एक बार बनाने से पूर्ण नहीं हो जाता। यह एक निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है।

- **समावेशन सर्वे:** प्रत्येक सत्र के अंत में, छात्रों और शिक्षकों से गुमनाम रूप से यह जानने के लिए सर्वे करें कि उन्हें पाठ्यक्रम का कौन सा हिस्सा सबसे अधिक प्रभावशाली लगा, कहाँ उन्हें असहजता महसूस हुई, और किन विषयों पर और अधिक सामग्री की आवश्यकता है।
- **फीडबैक मीटिंग:** शिक्षकों, पाठ्यक्रम डिजाइनरों और किन्नर समुदाय के प्रतिनिधियों के साथ नियमित समीक्षा बैठकें आयोजित करें। सर्वे के परिणामों और कक्षा के अनुभवों पर चर्चा करें।
- **गाइडलाइन अपडेट:** फीडबैक और सामाजिक-कानूनी बदलावों (जैसे नए कानून या सुप्रीम कोर्ट के फैसले) के आधार पर पाठ्यक्रम दिशानिर्देशों और सामग्री को नियमित रूप से अद्यतन करें। यह सुनिश्चित करें कि यह प्रक्रिया पारदर्शी हो और उसमें सभी हितधारकों की भागीदारी हो।

इस पाँच-चरणीय प्रक्रिया को अपनाकर, आप न केवल एक समावेशी पाठ्यक्रम तैयार कर सकते हैं, बल्कि एक ऐसा शैक्षणिक वातावरण भी बना सकते हैं जहाँ प्रत्येक छात्र - चाहे उसका लिंग या पृष्ठभूमि कुछ भी हो - देखा, सुना और सम्मानित महसूस करता है।

शिक्षक प्रशिक्षण और संवेदनशीलता मॉड्यूल

यह मॉड्यूल शिक्षकों को न केवल लैंगिक विविधता के बारे में जानकारी देगा, बल्कि उन्हें कक्षा में एक सुरक्षित और समावेशी स्थान बनाने के लिए आवश्यक कौशल और दृष्टिकोण से भी सुसज्जित करेगा।

चरण 1: आवश्यकता आकलन

किसी भी प्रशिक्षण की शुरुआत यह जानने से होती है कि शिक्षक वर्तमान में कहाँ खड़े हैं। इस चरण का उद्देश्य एक सुरक्षित और गैर-निर्णयात्मक माहौल में शिक्षकों के मौजूदा ज्ञान, दृष्टिकोण और चिंताओं को समझना है।

1 **प्राथमिक सर्वेक्षण:** एक गुमनाम ऑनलाइन या पेपर-आधारित सर्वेक्षण तैयार करें। इसमें शामिल हो सकते हैं:

- **ज्ञान परख:** "क्या आप 'लिंग' और 'यौन अभिविन्यास' के बीच अंतर समझा सकते हैं?" "भारत में ट्रांसजेंडर व्यक्तियों के अधिकारों से संबंधित कोई एक कानून का नाम बताइए।" (GLSEN, 2021 के सर्वेक्षण पद्धति पर आधारित)
- **दृष्टिकोण और धारणाएँ:** "आपके अनुसार, कक्षा में लैंगिक विविधता पर चर्चा करना किस आयु वर्ग के लिए उपयुक्त है?" "यदि कोई छात्र अपने से भिन्न लिंग पहचान के साथ स्कूल आना चाहता है, तो आपकी क्या प्रतिक्रिया होगी?" (लिकर्ट स्केल पर प्रश्न)
- **आत्मविश्वास का स्तर:** "एक ऐसे छात्र का समर्थन करने में आप अपने आपको कितना आत्मविश्वासी महसूस करते हैं जो अपनी लैंगिक पहचान को लेकर संघर्ष कर रहा है?"

2 **केन्द्रित समूह चर्चा:** सर्वेक्षण के बाद, विभिन्न विषयों और अनुभव स्तरों के शिक्षकों के छोटे समूहों के साथ गहन चर्चा आयोजित करें। यह उन विषयों को समझने का अवसर है जो सर्वेक्षण में नहीं उभर पाए, जैसे कि:

- प्रशासन या अभिभावकों से मिलने वाले प्रतिरोध का डर।
- सही भाषा के प्रयोग को लेकर अनिश्चितता।
- व्यक्तिगत या सांस्कृतिक मूल्यों और पेशेवर जिम्मेदारी के बीच संघर्ष।

चरण 2: सैद्धांतिक आधार

आवश्यकताओं की पहचान हो जाने के बाद, एक मजबूत सैद्धांतिक आधार तैयार करना आवश्यक है। यह चरण शिक्षकों को तथ्यों, अवधारणाओं और कानूनी ढाँचे से लैस करेगा।

- **लघु पाठ्यक्रम (शॉर्ट कोर्स) डिजाइन:** यूनेस्को (2020) के दिशा-निर्देशों के अनुरूप, इस हिस्से को इंटरैक्टिव लघु व्याख्यानों, पठन सामग्री और चर्चाओं में बाँटा जा सकता है।

  ❖ **मॉड्यूल 1: लैंगिक अध्ययन का परिचय:** लिंग और सेक्स के बीच अंतर, लैंगिक पहचान (ट्रांसजेंडर, सिस्जेंडर, नॉन-बाइनरी), लैंगिक अभिव्यक्ति और यौन अभिविन्यास की मूलभूत अवधारणाएँ।

  ❖ **मॉड्यूल 2: मानवाधिकार और कानूनी सुरक्षा:** भारतीय संविधान का अनुच्छेद 14, 15, 21; सर्वोच्च न्यायालय के ऐतिहासिक निर्णय (जैसे नलसा बनाम भारत, 2014); ट्रांसजेंडर व्यक्ति (अधिकारों का संरक्षण) अधिनियम, 2019 का परिचय और उसकी आलोचनात्मक समीक्षा।

  ❖ **मॉड्यूल 3: मनोविज्ञान और किशोरावस्था:** किशोरावस्था में लैंगिक पहचान का विकास, अल्पसंख्यक तनाव, स्कूल में बदमाशी और अलगाव का मनोवैज्ञानिक प्रभाव, एक सहायक वयस्क की भूमिका।

चरण 3: व्यावहारिक कार्यशालाएँ

यह प्रशिक्षण का सबसे महत्वपूर्ण हिस्सा है, जहाँ शिक्षक सैद्धांतिक ज्ञान को वास्तविक जीवन की कक्षा स्थितियों में लागू करने का अभ्यास करते हैं।

1 **भूमिका निर्वाह :** वास्तविक जीवन के परिदृश्य तैयार करें।

  ❖ *परिदृश्य 1: एक अभिभावक आपसे शिकायत करते हैं कि आप कक्षा में "लिंग" जैसे 'अनुचित' विषय पढ़ा रहे हैं। आप कैसे जवाब देंगे?*

  ❖ *परिदृश्य 2: कक्षा में एक छात्र दूसरे छात्र का मजाक उड़ाते हुए उसे "हिजड़ा" कहता है। आप तुरंत क्या कार्रवाई करेंगे?*

  ❖ *परिदृश्य 3: आपकी कक्षा का एक छात्र आपसे अकेले में मिलना चाहता है और बताता है कि वह अपने जन्म के समय दिए गए लिंग से सहज नहीं है।*

2 **केस डिस्कशन:** वास्तविक या काल्पनिक केस स्टडी का विश्लेषण करें। (जैसे, एक ऐसे ट्रांसजेंडर छात्र का मामला जिसे स्कूल की यूनिफॉर्म नीति के कारण परेशानी हो रही है।) समूह में मिलकर समाधान निकालें।

3 **भाषा प्रयोग अभ्यास:** शिक्षकों को ऐसे वाक्यांश दिए जाएँ जो अनजाने में भेदभावपूर्ण हो सकते हैं (जैसे, "तुम लड़कों की तरह क्यों रो रहे हो?") और उनसे उनके समावेशी विकल्प सुझाने को कहा जाए। सर्वनाम के सही प्रयोग का अभ्यास कराएँ।

चरण 4: समावेशन समूह

एक साथ प्रशिक्षण पर्याप्त नहीं है। एक स्थायी बदलाव के लिए, विद्यालय में ही ऐसे नेताओं का एक समूह तैयार करना होगा जो इस कार्य को आगे ले जा सकें।

1 **गठन:** प्रशिक्षण के दौरान रुचि दिखाने वाले और सक्रिय रहने वाले 3-5 शिक्षकों को "समावेशन चैंपियंस" के रूप में चुनें। यह समूह विभिन्न विषयों और कक्षा स्तरों का प्रतिनिधित्व करता हो, यह सुनिश्चित करें।

2 **बैठकें और भूमिका:**

  ❖ यह समूह नियमित रूप से (मासिक) मिलकर स्कूल में समावेशन से जुड़े मुद्दों पर चर्चा करेगा।

- ❖ वे नए शिक्षकों के लिए मार्गदर्शक का काम करेंगे।
- ❖ वे प्रशासन को नीतियों में बदलाव (जैसे यूनिफॉर्म नीति, टॉयलेट की सुविधा) के लिए सुझाव दे सकते हैं।
- ❖ वे स्कूल में लैंगिक विविधता जागरूकता कार्यक्रम (जैसे प्रदर्शनी, नुक्कड़ नाटक) आयोजित कर सकते हैं।

चरण 5: मूल्यांकन एवं प्रमाणन

यह सुनिश्चित करने के लिए मूल्यांकन आवश्यक है कि प्रशिक्षण प्रभावी रहा है और शिक्षकों के व्यवहार में बदलाव आया है।

1 **मूल्यांकन उपकरण:**

- ❖ **पुन: सर्वेक्षण:** प्रशिक्षण के बाद, चरण 1 वाला सर्वेक्षण दोबारा कराएँ। ज्ञान और दृष्टिकोण में हुए परिवर्तन को मापें।
- ❖ **समावेशन इंडेक्स रैंकिंग:** एक सरल मैट्रिक्स विकसित करें जिसमें शिक्षकों का मूल्यांकन किया जा सके। इसमें शामिल हो सकते हैं:
  - ➢ कक्षा में समावेशी भाषा का प्रयोग।
  - ➢ पाठ्यक्रम में विविध उदाहरणों को शामिल करना।
  - ➢ भेदभाव की घटनाओं पर त्वरित और उचित प्रतिक्रिया देना।
  - ➢ छात्रों के साथ खुले और सहायक संवाद को बढ़ावा देना।
- ❖ **अवलोकन और प्रतिक्रिया:** चैंपियंस ग्रुप के सदस्य या प्रशिक्षक सहकर्मियों की कक्षाओं का अवलोकन कर सकते हैं और रचनात्मक प्रतिक्रिया दे सकते हैं।

2 **प्रमाणन:** मूल्यांकन के आधार पर, उन शिक्षकों को "समावेशी शिक्षा में प्रशिक्षित" प्रमाणपत्र प्रदान करें जो न्यूनतम मानकों को पूरा करते हैं। उत्कृष्ट प्रदर्शन करने वालों को "समावेशन चैंपियन" के रूप में विशेष रूप से सम्मानित किया जा सकता है। यह प्रमाणन उनके पेशेवर विकास पोर्टफोलियो का हिस्सा बन सकता है।

यह पाँच-चरणीय मॉड्यूल एक सतत चक्र है। एक बैच के प्रशिक्षण के बाद, प्राप्त अनुभवों और फीडबैक के आधार पर चरण 1 (आवश्यकता आकलन) से फिर शुरुआत की जा सकती है, जिससे शिक्षकों की संवेदनशीलता और कौशल में निरंतर सुधार होता रहेगा।

संस्थागत ढाँचा

1. लिखित समावेशन नीति: पारदर्शिता और स्पष्टता

एक लिखित नीति संस्थान की प्रतिबद्धता का दस्तावेजी प्रमाण है। यह सभी हितधारकों (छात्रों, शिक्षकों, कर्मचारियों और अभिभावकों) को स्पष्ट दिशा-निर्देश देती है और किसी भी भ्रम या मनमाने व्यवहार की संभावना को समाप्त करती है।

- ❖ **लैंगिक तटस्थ वर्दी नीति:**
- ➢ **स्पष्ट प्रावधान:** नीति में यह स्पष्ट रूप से लिखा होना चाहिए कि "छात्र अपनी लैंगिक पहचान के अनुरूप वर्दी चुनने के लिए स्वतंत्र हैं।" इसका मतलब है कि जन्म के समय लड़का घोषित किसी छात्र को सलवार-कमीज या स्कर्ट पहनने की अनुमति है, और जन्म के समय लड़की घोषित किसी छात्र को पैंट-शर्ट पहनने की अनुमति है।
- ➢ **विकल्पों की सूची:** वर्दी को 'लड़कों के लिए' और 'लड़कियों के लिए' की श्रेणियों में बाँटने के बजाय, संस्थान एक सूची जारी कर सकता है जिसमें सभी स्वीकृत परिधानों (शर्ट, पैंट, सलवार, कुर्ता, स्कर्ट, टाई, स्वेटर आदि) का उल्लेख हो। छात्र इस सूची में से अपनी सहूलियत और पहचान के अनुसार चयन कर सकते हैं।

- **हेयरस्टाइल और एक्सेसरीज़:** नीति में यह भी स्पष्ट होना चाहिए कि हेयरस्टाइल, जूते और अन्य एक्सेसरीज़ (जैसे बैग) पर कोई लिंग-आधारित प्रतिबंध नहीं होगा।

❖ **शौचालय और सुविधाओं तक पहुँच:**

- **लिंग-तटस्थ शौचालय:** संस्थान में कम से कम एक या अधिक लिंग-तटस्थ शौचालय (जेंडर-न्यूट्रल टॉयलेट) अनिवार्य रूप से होने चाहिए। यह उन सभी छात्रों और कर्मचारियों के लिए एक सुरक्षित विकल्प है जो मौजूदा पुरुष/महिला शौचालयों में असहज महसूस करते हैं।
- **प्रयोग की स्वतंत्रता:** नीति में यह सुनिश्चित किया जाना चाहिए कि किसी भी छात्र को अपनी लैंगिक पहचान के अनुरूप शौचालय का उपयोग करने से नहीं रोका जा सकता। उदाहरण के लिए, एक ट्रांसजेंडर महिला छात्रा को महिला शौचालय का उपयोग करने का पूरा अधिकार होना चाहिए।

❖ **परिवहन नियम:**

- **सीटिंग और व्यवहार:** स्कूल बस या परिवहन में भी वर्दी नीति के समान सिद्धांत लागू होंगे। छात्रों से अपेक्षा की जाएगी कि वे एक-दूसरे का सम्मान करें। बस में सीटिंग लिंग के आधार पर अनिवार्य रूप से अलग नहीं होगी, या यदि है, तो छात्र को उस लिंग के अनुसार सीट चुनने की अनुमति होगी जिसके रूप में वह पहचान रखता है।
- **सुरक्षा प्रोटोकॉल:** यदि पंजीकृत नाम और पहचान में अंतर है, तो परिवहन कर्मचारियों (ड्राइवर, अटेंडेंट) को केवल उतनी ही जानकारी दी जाए, जितनी छात्र की सुरक्षा के लिए आवश्यक हो (जैसे छात्र का पसंदीदा नाम और उसे किस नाम से पुकारा जाना है), उनकी चिकित्सा या लैंगिक पहचान से जुड़ी निजी जानकारी नहीं।

2. गोपनीयता ढाँचा

किसी भी छात्र की लैंगिक पहचान और उससे जुड़े दस्तावेज़ अत्यंत संवेदनशील होते हैं। इनकी सुरक्षा के लिए एक मजबूत और स्पष्ट प्रोटोकॉल आवश्यक है।

1 **डिजिटल प्रोटोकॉल:**

❖ **डेटा वर्गीकरण:** स्कूल डेटाबेस में छात्रों की जानकारी को वर्गीकृत करें। कुछ जानकारी (जैसे पसंदीदा नाम, सर्वनाम) 'सार्वजनिक' या 'आंतरिक' हो सकती है, जबकि जन्म प्रमाण पत्र पर लिंग या किसी चिकित्सा रिपोर्ट जैसी जानकारी को 'अत्यंत गोपनीय' घोषित किया जाए।

❖ **एक्सेस कंट्रोल:** 'अत्यंत गोपनीय' श्रेणी की जानकारी तक पहुँच केवल उन्हीं लोगों को दी जाए, जिनका इसका उपयोग करना बिल्कुल आवश्यक हो (जैसे प्रधानाचार्य, अभिलेख रक्षक, और संभवतः स्कूल काउंसलर)। शिक्षकों या अन्य कर्मचारियों को इस जानकारी तक पहुँच नहीं होनी चाहिए।

❖ **डिजिटल रिकॉर्ड में बदलाव:** स्कूल सॉफ्टवेयर में यह सुविधा होनी चाहिए कि रोस्टर, अटेंडेंस शीट और रिपोर्ट कार्ड पर छात्र का पसंदीदा नाम और लिंग प्रदर्शित हो सके, भले ही आधिकारिक दस्तावेजों में कुछ भी लिखा हो। भारत में, CBSE और कई राज्य बोर्ड अब रिकॉर्ड में नाम और लिंग बदलने की अनुमति देते हैं यदि उचित दस्तावेज (जैसे अधिवक्ता का हलफनामा या डॉक्टर का प्रमाण पत्र) प्रस्तुत किए जाएँ।

2 **भौतिक प्रोटोकॉल:**

❖ **लॉक कीपिंग:** भौतिक दस्तावेजों (जैसे प्रवेश फॉर्म, मेडिकल रिपोर्ट) को हमेशा लॉक की गई अलमारी में रखा जाए।

- ❖ **सूचना का न्यूनतमीकरण:** किसी भी फॉर्म या प्रक्रिया में केवल उतनी ही व्यक्तिगत जानकारी माँगी जाए, जितनी उस उद्देश्य के लिए आवश्यक हो।

- ❖ **संवेदनशीलता प्रशिक्षण:** अभिलेख रखने वाले कर्मचारियों को विशेष रूप से इस बात का प्रशिक्षण दिया जाए कि इस जानकारी को कितनी सावधानी और संवेदनशीलता से संभालना है। उन्हें यह भी बताया जाए कि किन परिस्थितियों में यह जानकारी साझा की जा सकती है (जैसे माता-पिता के साथ, लेकिन छात्र की सहमति के बाद) और कब नहीं।

3. शिकायत निवारण पैनल

भेदभाव, उत्पीड़न या किसी भी प्रकार के अन्याय की स्थिति में, पीड़ित के पास एक सुरक्षित, निष्पक्ष और सशक्त मंच होना चाहिए। यह पैनल स्कूल के आंतरिक मामलों में सर्वोच्च न्यायिक निकाय की तरह काम करता है।

1 **पैनल की संरचना (बहु-हितधारक दृष्टिकोण):**

- ❖ **किन्नर/ट्रांसजेंडर छात्र प्रतिनिधि:** पैनल में एक छात्र सदस्य अवश्य हो, जो किन्नर या ट्रांसजेंडर समुदाय से हो। यह सुनिश्चित करता है कि पीड़ित की आवाज़ को समझने वाला कोई व्यक्ति निर्णय प्रक्रिया का हिस्सा हो।

- ❖ **प्रशिक्षित शिक्षक:** एक या दो शिक्षक जिन्होंने लैंगिक संवेदनशीलता और मानवाधिकारों का विशेष प्रशिक्षण प्राप्त किया हो और जिन पर छात्र भरोसा करते हों।

- ❖ **स्कूल काउंसलर:** काउंसलर पैनल में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है, न केवल न्यायिक दृष्टिकोण से, बल्कि पीड़ित की मानसिक स्थिति को समझने और उसे सहायता प्रदान करने के लिए भी।

- ❖ **अभिभावक प्रतिनिधि:** किसी अभिभावक को शामिल करना (जरूरी नहीं कि वह किन्नर समुदाय से हो, लेकिन समावेशी मूल्यों के प्रति प्रतिबद्ध हो) पैनल को एक व्यापक सामाजिक परिप्रेक्ष्य प्रदान करता है और अभिभावक समुदाय में विश्वास पैदा करता है।

- ❖ **बाह्य विशेषज्ञ (वैकल्पिक):** अत्यधिक संवेदनशील मामलों में, किसी एलजीबीटीक्यू+ अधिकार संगठन के प्रतिनिधि या कानूनी विशेषज्ञ को सलाहकार के रूप में शामिल किया जा सकता है।

2 **पैनल की शक्तियाँ और कार्यप्रणाली:**

- ❖ **स्वतंत्रता:** पैनल पूरी तरह से स्वतंत्र हो और स्कूल प्रशासन के किसी भी दबाव में काम न करे। इसकी सिफारिशें बाध्यकारी (binding) हों।

- ❖ **गोपनीयता:** पैनल की पूरी कार्यवाही पूर्णतः गोपनीय रखी जाए। पीड़ित और आरोपी दोनों की पहचान की रक्षा की जाए।

- ❖ **सरल प्रक्रिया:** शिकायत दर्ज करने की प्रक्रिया सरल, सुलभ और गैर-डराने वाली हो। शिकायत ऑनलाइन या ऑफलाइन, गुमनाम रूप से या खुले तौर पर दर्ज कराने की सुविधा हो।

- ❖ **समयबद्ध सुनवाई:** हर शिकायत पर एक निश्चित समय-सीमा (जैसे 15 या 30 दिन) के भीतर सुनवाई और निर्णय सुनिश्चित किया जाए।

- ❖ **निवारण के उपाय:** पैनल के पास निवारण के विविध उपाय होने चाहिए - दोषी पाए गए व्यक्ति के लिए क्षमा याचना, परामर्श, निलंबन, या गंभीर मामलों में निष्कासन की सिफारिश करना; और पीड़ित के लिए मुआवजा, सुरक्षा प्रदान करना, या मनोवैज्ञानिक सहायता की व्यवस्था करना।

यह त्रिस्तरीय ढाँचा एक स्पष्ट नीति, एक मजबूत गोपनीयता प्रणाली, और एक निष्पक्ष न्याय तंत्र—मिलकर एक ऐसा पारिस्थितिकी तंत्र तैयार करता है जहाँ किन्नर और ट्रांसजेंडर छात्र न केवल पढ़ सकते हैं, बल्कि फल-फूल सकते हैं, और यह जानते हुए कि उनके अधिकार और उनकी गरिमा की रक्षा के लिए एक पूरी प्रणाली तत्पर है।

निष्कर्ष

समावेशी शिक्षा वह उद्यान है जहाँ हर चलचित्त हर पहचान को खिलने का आमंत्रण मिलता है। जब किन्नर छात्र कक्षा के हर कोने में अपनी असली पहचान के साथ आराम से कदम रखते हैं, तो केवल अकादमिक ही नहीं, आत्मसम्मान और मानवीय गरिमा का भी एक नया सूर्योदय होता है। इस शोध-पत्र ने दिखाया कि लैंगिक तटस्थ वर्दी, गोपनीय शौचालय, नाम-सर्वनाम की आज़ादी, गोपनीयता तंत्र और संवेदनशील शिक्षक प्रशिक्षण जैसे छोटे-छोटे बीज मिलकर कैसे समावेशी वातावरण का वृक्ष घना करते हैं।

नीति-निर्देशों का सशक्त क्रियान्वयन तब तक अधूरा रहेगा जब तक प्रशासन, शिक्षक, परिवार और समुदाय के बीच सहयोग न बन जाए। नलसा के न्यायोचित प्रकाश और किन्नर अधिकार अधिनियम के संवैधानिक आदर्शों को जीवन्त करने के लिए समावेशन इंडेक्स, ऑडिट टीम और स्वतंत्र निगरानी पैनल जैसी संरचनाएँ स्थायी होने चाहिए। तकनीकी नवाचार एआई-आधारित लर्निंग प्लेटफ़ॉर्म, एआर/वीआर संवेदनशीलता सिमुलेशन और 24×7 काउंसलिंग ऐप इन पहलुओं को भाखा की सीमाओं से भी परे ले जाकर किन्नर विद्यार्थियों को निरंतर सहारा देते हैं।

भविष्य में दीर्घकालीन ट्रैक-स्टडीज़, नीति-प्रभाव मूल्यांकन और त्रिपक्षीय साझेदारी (शोध–नीति–समुदाय) समावेशी शिक्षा की राह को मंगलमय बनाएंगी। क्योंकि जब शिक्षा की वो रोशनी किन्नर विद्यार्थियोंकी राह रोशन करती है, तभी समाज में वास्तविक न्याय का सूरज उगता है—जहाँ हर छात्र, हर पहचान, पूरे सम्मान के साथ खिल उठती है।

संदर्भ :-

वर्ल्ड हेल्थ ऑर्गनाइजेशन. (2013). मेंटल हेल्थ एक्शन प्लान 2013–2020. जिनेवा: डब्ल्यूएचओ.

यूनेस्को, (2020). इनक्लूजन एंड एजुकेशन: ऑल मीन्स ऑल, पेरिस: यूनेस्को.

यूनेस्को (2017). आईसीटी इन एजुकेशन फॉर इनक्लूसिव लर्निंग. पेरिस: यूनेस्को.

गवर्नमेंट ऑफ इंडिया, मिनिस्ट्री ऑफ लॉ एंड जस्टिस. (2019) द ट्रांसजेंडर पर्सन्स (प्रोटेक्शन ऑफ राइट्स) एक्ट, 2019. नई दिल्ली: गवर्नमेंट ऑफ इंडिया.

मिनिस्ट्री ऑफ एजुकेशन, गवर्नमेंट ऑफ इंडिया. (2021). सर्कुलर ऑन जेंडर-न्यूट्रल यूनिफॉर्म्स, टॉयलेट्स, एंड सेंसिटिविटी ट्रेनिंग इन स्कूल्स. नई दिल्ली: मिनिस्ट्री ऑफ एजुकेशन.

सुप्रीम कोर्ट ऑफ इंडिया. (2014). एनएएलएसए बनाम यूनियन ऑफ इंडिया (रिट पेटिशन (सिविल) नंबर 400 ऑफ 2012). नई दिल्ली: सुप्रीम कोर्ट ऑफ इंडिया.

गवर्नमेंट ऑफ कनाडा, डिपार्टमेंट ऑफ एजुकेशन, (2018). कैनेडियन स्कूल क्लाइमेट पॉलिसी फॉर LGBTQ+ इन्क्लूजन. ओटावा: गवर्नमेंट ऑफ कनाडा.

न्यूजीलैंड मिनिस्ट्री ऑफ एजुकेशन. (2020). क्वीयर टीचर्स ऑफ इन्क्वायरी प्रोग्राम. वेलिंगटन: मिनिस्ट्री ऑफ एजुकेशन.

जीएलएसईएन, (2021). स्कूल क्लाइमेट इन यूरोप: एनुअल इन्क्लूजन इंडेक्स, न्यूयॉर्क: GLSEN.

अमेरिकन साइकोलॉजिकल एसोसिएशन. (2015). गाइडलाइन्स फॉर साइकोलॉजिकल प्रैक्टिस विद ट्रांसजेंडर एंड जेंडर नॉनकन्फॉर्मिंग पीपल. वाशिंगटन, डी.सी.: APA.

फैमिली एक्सेप्टेंस प्रोजेक्ट, (2019). फैमिली एक्सेप्टेंस एंड रिजेक्शन ऑफ LGBTQ यूथ. सैन फ्रांसिस्को: फैमिली एक्सेप्टेंस प्रोजेक्ट.

डिजिटल युग में न्यू मीडिया: संभावनाएँ एवं चुनौतियाँ

डॉ. विजयेन्दु चतुर्वेदी*
vijayendu.chaturvedy@gmail.com

सारांश

डिजिटल युग में संचार के साधनों ने परंपरागत रूप से आगे बढ़ते हुए नई दिशा प्राप्त की है। न्यू मीडिया इंटरनेट और डिजिटल तकनीक पर आधारित ऐसा संचार माध्यम है, जिसने समाज, राजनीति, शिक्षा, व्यवसाय और संस्कृति के हर पहलू को प्रभावित किया है। इसकी प्रमुख विशेषताएँ त्वरित प्रसार, द्विपक्षीय संवाद, वैश्विक पहुँच और सहभागिता हैं। न्यू मीडिया ने शिक्षा में ई-लर्निंग, व्यवसाय में ई-कॉमर्स, राजनीति में डिजिटल प्रचार और समाज में जन-जागरूकता के नए अवसर खोले हैं। हालाँकि, इसके साथ चुनौतियाँ भी कम नहीं हैं। फेक न्यूज, साइबर अपराध, डिजिटल असमानता, मानसिक स्वास्थ्य संबंधी समस्याएँ और विश्वसनीयता का संकट न्यू मीडिया के विकास में प्रमुख बाधाएँ हैं। अतः यह शोध-पत्र न्यू मीडिया के स्वरूप, उसकी संभावनाओं और चुनौतियों का विश्लेषण प्रस्तुत करता है तथा इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि यदि डिजिटल साक्षरता, साइबर सुरक्षा और नैतिक पत्रकारिता को बढ़ावा दिया जाए तो न्यू मीडिया समाज और राष्ट्र के लिए एक सशक्त साधन बन सकता है।

बीज शब्दः *न्यू मीडिया, डिजिटल युग, सोशल मीडिया, फेक न्यूज, साइबर सुरक्षा, डिजिटल डिवाइड, ई-गवर्नेंस, ई-लर्निंग, संभावनाएँ, चुनौतियाँ*

1. परिचय:

मानव सभ्यता के विकास में संचार की भूमिका अत्यंत महत्त्वपूर्ण रही है। प्रारंभ में संचार का स्वरूप मौखिक, परंपरागत और प्रतीकों के माध्यम से हुआ, तत्पश्चात लेखन, मुद्रण, रेडियो और टेलीविजन जैसे पारंपरिक माध्यमों ने समाज को नई दिशा दी। किंतु 21वीं सदी में सूचना प्रौद्योगिकी और इंटरनेट के तीव्र विकास ने संचार जगत में क्रांतिकारी परिवर्तन किए। इस परिवर्तन का आधुनिक स्वरूप न्यू मीडिया या डिजिटल मीडिया के रूप में सामने आया। न्यू मीडिया पारंपरिक मीडिया से भिन्न है क्योंकि यह इंटरनेट आधारित, इंटरएक्टिव (परस्पर संवादात्मक), त्वरित और बहुआयामी है। जहाँ अखबार या टेलीविजन एकतरफा सूचना का आदान-प्रदान करते हैं, वहीं न्यू मीडिया उपयोगकर्ताओं को सामग्री निर्माता और संचारक दोनों बनने का अवसर देता है।

आज न्यू मीडिया केवल समाचार और मनोरंजन तक सीमित नहीं है, बल्कि यह शिक्षा, राजनीति, अर्थव्यवस्था, संस्कृति और सामाजिक जीवन के हर क्षेत्र में गहन प्रभाव डाल रहा है। सोशल मीडिया प्लेटफॉर्म, ब्लॉगिंग, पॉडकास्ट, ओटीटी सेवाएँ और ई-गवर्नेंस इसके प्रमुख उदाहरण हैं।

न्यू मीडिया के कारण लोकतांत्रिक सहभागिता, पारदर्शिता और वैश्विक संवाद को बल मिला है। इसके माध्यम से सूचना का प्रसार तेज, सुलभ और प्रभावशाली हो गया है। साथ ही, यह युवाओं के लिए नए अवसर, व्यवसायों के लिए नए बाजार और शिक्षा के लिए नए मंच लेकर आया है। हालाँकि, इसके समक्ष अनेक चुनौतियाँ भी हैं। फेक न्यूज, साइबर अपराध, डिजिटल असमानता और नैतिक संकट न्यू मीडिया की विश्वसनीयता और प्रभावशीलता को प्रभावित करते हैं। इन्हीं संभावनाओं और चुनौतियों के गहन विश्लेषण का प्रयास इस शोध-पत्र के माध्यम से किया गया है।

* **सहायक आचार्य, जनसंचार एवं पत्रकारिता विभाग, डॉ. राममनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय, अयोध्या**

2. न्यू मीडिया की परिभाषा:

"न्यू मीडिया" शब्द का प्रयोग उन सभी डिजिटल संचार माध्यमों के लिए किया जाता है, जो इंटरनेट और सूचना प्रौद्योगिकी पर आधारित हैं जिनकी विशेषता परस्पर संवाद, त्वरितता और सहभागिता है। न्यू मीडिया के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने परिभाषाएँ दी है-लेव मैनोविच के अनुसार-न्यू मीडिया उन डिजिटल तकनीकों का समूह है जिनमें कंप्यूटर आधारित नेटवर्क, मल्टीमीडिया और इंटरएक्टिव प्लेटफॉर्म सम्मिलित हैं। डेनिस मैकक्वेल के अनुसार-न्यू मीडिया पारंपरिक मीडिया की तुलना में अधिक लचीला, निजीकरण योग्य और उपयोगकर्ता-केंद्रित संचार प्रणाली है। भारतीय संदर्भ में, इसे डिजिटल मीडिया भी कहा गया है, जो इंटरनेट, मोबाइल, सोशल मीडिया और विभिन्न ऑनलाइन प्लेटफॉर्म के माध्यम से संचार की नई संभावनाएँ खोलता है।

3. न्यू मीडिया का स्वरूप:

न्यू मीडिया का स्वरूप पारंपरिक संचार माध्यमों से भिन्न और आधुनिक तकनीकी पर आधारित है। यह केवल सूचना प्रसारण का माध्यम नहीं है, बल्कि संवाद, सहभागिता और सृजनात्मकता का भी साधन है। इसके स्वरूप को निम्नलिखित बिंदुओं में समझा जा सकता है-

- **द्वि-दिशात्मक संचार:** जहाँ पारंपरिक मीडिया (अखबार, रेडियो, टीवी) एकतरफा सूचना प्रसारण करते हैं, वहीं न्यू मीडिया द्विपक्षीय और बहुपक्षीय संवाद को संभव बनाता है। उपयोगकर्ता न केवल सूचना प्राप्त करता है बल्कि अपनी प्रतिक्रिया भी तुरंत साझा कर सकता है।
- **तकनीक-आधारित स्वरूप** : न्यू मीडिया का आधार इंटरनेट, मोबाइल तकनीक, डिजिटल नेटवर्क और सॉफ्टवेयर प्लेटफॉर्म हैं। इसकी कार्यप्रणाली सर्वर, एप्लिकेशन और क्लाउड सिस्टम पर निर्भर करती है।
- **बहुआयामी प्रस्तुति:** न्यू मीडिया का स्वरूप केवल पाठ तक सीमित नहीं है। इसमें टेक्स्ट, ऑडियो, वीडियो, ग्राफिक्स, एनिमेशन और लाइव स्ट्रीमिंग शामिल होते हैं। यह सूचना को और अधिक आकर्षक और प्रभावशाली बनाता है।
- **वैश्विक और स्थानीय स्वरूप:** न्यू मीडिया की पहुँच वैश्विक है कोई भी सामग्री क्षणभर में पूरी दुनिया तक पहुँच सकती है। साथ ही, इसका लोकलाइजेशन भी संभव है, जैसे क्षेत्रीय भाषाओं में समाचार पोर्टल या सोशल मीडिया पेज।
- **तात्कालिकता:** न्यू मीडिया का प्रमुख स्वरूप है इसकी गति और तात्कालिकता। किसी घटना की सूचना सेकंडों में प्रसारित हो जाती है। ट्विटर यानि एक्स और व्हाट्सएप जैसे प्लेटफॉर्म इसका उदाहरण हैं।
- **उपयोगकर्ता:** केंद्रित स्वरूपः न्यू मीडिया में उपयोगकर्ता केवल उपभोक्ता नहीं बल्कि सृजक भी होता है। YouTube, TikTok या ब्लॉगिंग प्लेटफॉर्म इस उपयोगकर्ता-जनित कंटेंट के स्वरूप को स्पष्ट करते हैं
- **लोकतांत्रिक स्वरूप:** न्यू मीडिया सूचना और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को बढ़ावा देता है। यहाँ प्रत्येक व्यक्ति अपनी राय रख सकता है और सार्वजनिक विमर्श का हिस्सा बन सकता है।
- **व्यावसायिक स्वरूप:** न्यू मीडिया अब डिजिटल मार्केटिंग, ई-कॉमर्स, ब्रांड प्रमोशन और ऑनलाइन विज्ञापन का प्रमुख माध्यम बन चुका है। इसका स्वरूप व्यावसायिक संभावनाओं से जुड़ा हुआ है।
- **सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्वरूप:** न्यू मीडिया समाज और संस्कृति में परिवर्तन का वाहक है। यह नई डिजिटल संस्कृति, ट्रेंड्स और मीम कल्चर को जन्म देता है और सामाजिक संबंधों को नई परिभाषा प्रदान करता है।
- न्यू मीडिया का स्वरूप इंटरैक्टिव, वैश्विक, तात्कालिक, बहुआयामी और लोकतांत्रिक है। यह केवल सूचना प्रसारण का माध्यम नहीं, बल्कि संवाद, शिक्षा, व्यापार, राजनीति और सामाजिक परिवर्तन का सशक्त उपकरण है।

4. न्यू मीडिया की विशेषताएँ:

न्यू मीडिया का स्वरूप पारंपरिक मीडिया से बिल्कुल अलग है। इसकी विशेषताएँ इसे आधुनिक संचार का सबसे प्रभावशाली माध्यम बनाती हैं।

- **इंटरैक्टिविटी**: न्यू मीडिया का सबसे बड़ा गुण यह है कि यह द्वि-दिशात्मक संचार की सुविधा प्रदान करता है। उपयोगकर्ता केवल सूचना प्राप्त नहीं करता, बल्कि उस पर टिप्पणी, प्रतिक्रिया, शेयर या सुधार भी कर सकता है। उदाहरण-फेसबुक, ट्विटर (एक्स) और यूट्यूब पर कमेंट और शेयर।
- **तात्कालिकता**: न्यू मीडिया की गति बहुत तेज है। सूचना, समाचार या संदेश सेकंडों में वैश्विक स्तर पर पहुँच जाते हैं। उदाहरण-किसी प्राकृतिक आपदा की लाइव रिपोर्टिंग या ट्वीट।
- **वैश्विक पहुँच**: इंटरनेट से जुड़ा होने के कारण न्यू मीडिया की पहुँच सीमाओं से परे है। यह दुनिया के किसी भी कोने में बैठे व्यक्ति तक सूचना पहुँचा सकता है। उदाहरण-ऑनलाइन न्यूज पोर्टल और सोशल मीडिया नेटवर्क।
- **मल्टीमीडिया स्वरूप**: न्यू मीडिया में टेक्स्ट, ऑडियो, वीडियो, ग्राफिक्स, एनिमेशन और इन्फोग्राफिक्स का संयोजन होता है। यह सूचना को अधिक आकर्षक और प्रभावी बनाता है।
- **उपयोगकर्ता-जनित कंटेंट**: न्यू मीडिया की एक प्रमुख विशेषता है कि इसमें कंटेंट केवल मीडिया संस्थान ही नहीं, बल्कि आम उपयोगकर्ता भी बनाते हैं। उदाहरण-ब्लॉग, व्लॉग, पॉडकास्ट, मीम्स।
- **निजीकरण**: न्यू मीडिया उपयोगकर्ता की रुचि और पसंद के अनुसार कंटेंट को कस्टमाइज करता है। आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस (एआई) और एल्गोरिदम इसके मूल में हैं। उदाहरण-यूट्यूब या नेटफ्लिक्स।
- **लोकतांत्रिक स्वरूप**: न्यू मीडिया ने अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को बढ़ावा दिया है। कोई भी व्यक्ति अपनी राय, विचार और अनुभव को स्वतंत्र रूप से साझा कर सकता है।
- **बहु-आयामी संचार**: यह केवल एकतरफा नहीं बल्कि वन-टू-वन, वन-टू-मैनी और मैनी-टू-मैनी संचार की सुविधा प्रदान करता है।
- **अभिलेखीकरण**: न्यू मीडिया पर प्रकाशित सामग्री को लंबे समय तक सुरक्षित रखा जा सकता है और कभी भी पुनः देखा जा सकता है।
- **व्यावसायिक संभावनाएँ**: न्यू मीडिया डिजिटल विज्ञापन, ई-कॉमर्स और ऑनलाइन सेवाओं के लिए एक विशाल प्लेटफॉर्म है।

न्यू मीडिया की विशेषताएँ इसे तात्कालिक, इंटरैक्टिव, वैश्विक, लोकतांत्रिक और उपयोगकर्ता-केंद्रित माध्यम बनाती हैं। यही कारण है कि 21वीं सदी में सूचना, शिक्षा, राजनीति, मनोरंजन और व्यापार का सबसे सशक्त साधन बनकर उभरा है।

5. डिजिटल युग में न्यू मीडिया की संभावनाएँ:

न्यू मीडिया ने 21वीं सदी के डिजिटल युग में समाज के लगभग हर क्षेत्र में नई संभावनाओं के द्वार खोले हैं। यह केवल सूचना और मनोरंजन तक सीमित नहीं रहा, बल्कि शिक्षा, राजनीति, अर्थव्यवस्था, संस्कृति और सामाजिक जीवन को गहराई से प्रभावित कर रहा है। इसकी प्रमुख संभावनाएँ निम्नलिखित हैं-

- **शिक्षा एवं अधिगम**: ई-लर्निंग, ऑनलाइन कक्षाएँ, वर्चुअल क्लासरूम और डिजिटल लाइब्रेरी ने शिक्षा को अधिक सुलभ बना दिया है। ग्रामीण और शहरी छात्रों के बीच शिक्षा का अंतर कम करने में MOOCs, Massive Open Online Courses और शैक्षणिक YouTube चैनल छात्रों के लिए वैकल्पिक सीखने के मंच प्रदान कर रहे हैं।
- **लोकतंत्र एवं राजनीति**: सोशल मीडिया प्लेटफॉर्म लोकतांत्रिक संवाद और विचारों की स्वतंत्र अभिव्यक्ति को बढ़ावा देते हैं। चुनाव प्रचार, जन-जागरूकता और ई-गवर्नेंस में न्यू मीडिया की भूमिका महत्त्वपूर्ण हो गई है। नागरिकों को नीति-निर्माण और सामाजिक आंदोलनों में सक्रिय भागीदारी का अवसर मिलता है।
- **व्यापार एवं अर्थव्यवस्था**: ई-कॉमर्स प्लेटफॉर्म ने व्यापार के पारंपरिक स्वरूप को बदल दिया है। डिजिटल मार्केटिंग और सोशल मीडिया विज्ञापन छोटे व्यवसायों और स्टार्टअप्स के लिए नए अवसर उपलब्ध कराते हैं। ऑनलाइन भुगतान और डिजिटल वॉलेट ने वित्तीय लेन-देन को सुरक्षित और आसान बनाया है।

- **संस्कृति एवं समाज**: न्यू मीडिया ने सांस्कृतिक विविधता को वैश्विक स्तर पर पहुँचाने का अवसर दिया है। संगीत, नाटक, लोककला और साहित्य अब डिजिटल प्लेटफॉर्म पर भी सुलभ हैं। सामाजिक मुद्दों पर जन-जागरूकता और सामाजिक अभियानों (जैसे MeToo, SwachhBharat) को बल मिला है।
- रोजगार एवं करियर: न्यू मीडिया ने डिजिटल पत्रकारिता, कंटेंट क्रिएशन, इन्फ्लुएंसर मार्केटिंग और फ्रीलांसिंग जैसे नए रोजगार अवसर प्रदान किए हैं।
- **वैश्विक संवाद और संपर्क**: सीमाओं के पार संवाद और सहयोग संभव हुआ है। अंतर्राष्ट्रीय शिक्षा, व्यापार और संस्कृति में साझेदारी बढ़ी है।

इस प्रकार, न्यू मीडिया ने डिजिटल युग में शिक्षा, राजनीति, व्यवसाय, संस्कृति और समाज को नई दिशा और ऊर्जा प्रदान की है। यह केवल सूचना का माध्यम नहीं, बल्कि समाज परिवर्तन का सशक्त औजार बन चुका है।

6. डिजिटल युग में न्यू मीडिया की चुनौतियाँ:

यद्यपि न्यू मीडिया ने मानव समाज को अनेक अवसर और नई संभावनाएँ प्रदान की हैं, किंतु इसके सामने कई गंभीर चुनौतियाँ भी मौजूद हैं। यदि इन चुनौतियों का समाधान नहीं किया गया, तो न्यू मीडिया की विश्वसनीयता और प्रभावशीलता प्रभावित हो सकती है। प्रमुख चुनौतियाँ इस प्रकार हैं-

- **फेक न्यूज और भ्रामक सूचना**: न्यू मीडिया की सबसे बड़ी समस्या फेक न्यूज है, जो समाज में भ्रम और तनाव फैलाती है। बिना सत्यापन के समाचारों का वायरल होना लोकतंत्र और सामाजिक शांति के लिए खतरा है।
- **साइबर अपराध**: डिजिटल युग में हैकिंग, डेटा चोरी, ऑनलाइन ठगी, साइबर बुलिंग जैसी घटनाएँ बढ़ी हैं। व्यक्तिगत गोपनीयता और सुरक्षा गंभीर संकट का विषय है।
- **डिजिटल डिवाइड**: ग्रामीण और शहरी, अमीर और गरीब, तकनीकी जानकार और अशिक्षित लोगों के बीच डिजिटल संसाधनों की असमानता मौजूद है। यह असमानता सामाजिक और आर्थिक विकास में बाधा उत्पन्न करती है।
- **नैतिकता का संकट**: न्यू मीडिया पर अभद्र भाषा, ट्रोलिंग और नकारात्मक प्रवृत्तियों का प्रसार बढ़ रहा है। सनसनीखेज और पक्षपातपूर्ण सामग्री समाज को गुमराह करती है।
- **अत्यधिक निर्भरता और मानसिक स्वास्थ्य**: सोशल मीडिया और डिजिटल प्लेटफॉर्म पर अत्यधिक निर्भरता युवाओं में तनाव, अवसाद और एकाकीपन की समस्या को बढ़ाती है। "डिजिटल एडिक्शन" एक गंभीर मानसिक स्वास्थ्य समस्या बनकर उभर रही है।
- **पारंपरिक मीडिया के लिए चुनौती**: न्यू मीडिया की तेजी और आकर्षण के कारण अखबार, रेडियो और टीवी जैसे पारंपरिक माध्यम अपनी प्रामाणिकता और दर्शकों को खो रहे हैं। इससे पत्रकारिता की गुणवत्ता और गहराई पर भी असर पड़ रहा है।
- **नियमन और नियंत्रण की समस्या**: न्यू मीडिया पर सामग्री का नियमन कठिन है क्योंकि यह वैश्विक और विकेंद्रीकृत है। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और अनुशासन के बीच संतुलन स्थापित करना एक बड़ी चुनौती है।

न्यू मीडिया की चुनौतियाँ इसके विकास और सामाजिक योगदान को सीमित कर सकती हैं। अतः इन समस्याओं के समाधान के लिए नीतिगत प्रयास, डिजिटल साक्षरता और नैतिक मूल्यों को प्रोत्साहित करना आवश्यक है।

निष्कर्ष:

डिजिटल युग में न्यू मीडिया ने संचार, शिक्षा, राजनीति, अर्थव्यवस्था, संस्कृति और समाज को एक नई दिशा प्रदान की है। यह केवल सूचना के आदान-प्रदान का माध्यम नहीं है, बल्कि लोकतांत्रिक भागीदारी, सामाजिक परिवर्तन और वैश्विक संवाद का सशक्त औजार बन चुका है। इसके माध्यम से समाज के हाशिए पर मौजूद वर्गों को भी अपनी आवाज उठाने का

अवसर मिला है। किन्तु, इसके साथ जुड़ी चुनौतियाँ जैसे फेक न्यूज, साइबर अपराध, डिजिटल असमानता, नैतिक संकट और मानसिक स्वास्थ्य संबंधी समस्याएँ गंभीर चिंता का विषय हैं। यदि इनका समाधान नहीं किया गया तो न्यू मीडिया की विश्वसनीयता और प्रभावशीलता पर नकारात्मक प्रभाव पड़ेगा। अतः कहा जा सकता है कि न्यू मीडिया डिजिटल युग का अपरिहार्य अंग है, लेकिन इसका उपयोग तभी सार्थक होगा जब इसे जिम्मेदारी और संतुलन के साथ अपनाया जाए।

संदर्भ :

1. सिंह, रामशंकर. (2018). *नई मीडिया और पत्रकारिता*. दिल्ली: राजकमल प्रकाशन.
2. वर्मा, अरविंद. (2019). *डिजिटल मीडिया: परिदृश्य और संभावनाएँ*. वाराणसी: भारती पब्लिकेशन.
3. McQuail, Denis. (2010). *McQuail's mass communication theory*. London: Sage Publications.
4. जोशी, सुरेश. (2020). *मीडिया और समाज*. भोपाल: पुस्तक भवन.
5. Jenkins, Henry. (2006). *Convergence culture: Where old and new media collide*. New York: New York University Press.
6. कुमारी, संगीता. (2021). *सोशल मीडिया और लोकतंत्र*. पटना: प्रकाशन संस्थान.
7. Castells, Manuel. (2009). *Communication power*. Oxford: Oxford University Press.
8. Livingstone, Sonia. (2004). The challenge of changing audiences: Or what is the audience researcher to do in the age of the internet? *European Journal of Communication, 19*(1), 75–86.
9. राय, संजय. (2020). डिजिटल पत्रकारिता की चुनौतियाँ और संभावनाएँ. *मीडिया विमर्श, 15*(2), 112–125.
10. Mitra, Ananda, & Watts, Eric. (2002). Theorizing cyberspace: The idea of voice applied to the internet discourse. *New Media & Society, 4*(4), 479–498.
11. Choudhury, Bidisha. (2027). New media and its role in democratic participation. *Global Media Journal–Indian Edition, 8*(2).
12. Press Information Bureau Government of India. (2022). *Digital India programme*. Retrieved from https://pib.gov.in
13. Ministry of Electronics and Information Technology. (2021). *Digital transformation in India*. Retrieved from https://meity.gov.in
14. Pew Research Center. (2021). *Social media and news consumption in digital age*. Retrieved from https://pewresearch.org
15. World Economic Forum. (2020). *The global risks report: Digital divide and cybersecurity*. Retrieved from https://weforum.org
16. Internet and Mobile Association of India. (2022). *Digital in India report*. New Delhi: IAMAI.
17. UNESCO. (2019). *Journalism, fake news & disinformation: Handbook for journalism education and training*. Paris: UNESCO.
18. Telecom Regulatory Authority of India. (2021). *Telecom & internet statistics in India*. New Delhi: TRAI.

अनुसूचित जनजातियों के लिए क्षेत्रीय शांति एवं आत्मनिर्भर आजीविका : सोनभद्र जिले का एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

विनय कुमार*

vk83713@gmail.com

सारांशिका

भारत में अनुसूचित जनजातियाँ ऐतिहासिक रूप से वनों, भूमि और प्राकृतिक संसाधनों पर आधारित जीवन पद्धति के माध्यम से आत्मनिर्भर रही हैं किंतु औपनिवेशिक काल से लेकर स्वतंत्रता के पश्चात तक, विशेषकर सोनभद्र जैसे संसाधन-समृद्ध जिलों में, खनन, औद्योगीकरण और विकास परियोजनाओं के कारण जनजातीय समुदायों को विस्थापन, आजीविका संकट तथा सामाजिक असंतोष का सामना करना पड़ा है। इन परिस्थितियों ने क्षेत्रीय शांति को प्रभावित किया है और आत्मनिर्भर आजीविका के पारंपरिक साधनों को कमजोर किया है। पूर्ववर्ती अध्ययनों में जनजातीय विकास, अशांति या आजीविका पर अलग-अलग रूप में चर्चा की गई है, परंतु क्षेत्रीय शांति और आत्मनिर्भर आजीविका के आपसी संबंध पर विशेष रूप से सोनभद्र जिले के संदर्भ में समग्र अध्ययन का अभाव दिखाई देता है। यही शोध-अंतर इस अध्ययन की आवश्यकता को रेखांकित करता है।प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य सोनभद्र जिले की अनुसूचित जनजातियों में क्षेत्रीय शांति की स्थिति तथा आत्मनिर्भर आजीविका के साधनों का विश्लेषण करना है। अध्ययन में प्राथमिक एवं द्वितीयक दोनों प्रकार के आँकड़ों का उपयोग किया गया है। प्राथमिक आँकड़े साक्षात्कार, प्रश्नावली एवं समूह चर्चा के माध्यम से एकत्र किए गए हैं, जबकि द्वितीयक आँकड़ों के स्रोतों में सरकारी रिपोर्टें, जनगणना आँकड़े, शोध पत्र एवं पुस्तकें शामिल हैं।यह शोध भविष्य में जनजातीय नीति-निर्माण, शांति स्थापना तथा आजीविका आधारित विकास कार्यक्रमों के लिए उपयोगी सिद्ध होगा और क्षेत्रीय असंतुलन को समझने में सहायक होगा।

मुख्य शब्द *- अनुसूचित जनजातियाँ, क्षेत्रीय शांति, आत्मनिर्भर आजीविका, सोनभद्र जिला, जनजातीय विकास*

प्रस्तावना

उत्तर प्रदेश के दक्षिण-पूर्वी भाग में स्थित सोनभद्र जिला भौगोलिक, ऐतिहासिक, सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण क्षेत्र है। यह जिला विंध्य और कैमूर पर्वतमालाओं के बीच स्थित है तथा मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, झारखंड और बिहार जैसे राज्यों की सीमाओं से जुड़ा हुआ है। इस भौगोलिक स्थिति ने सोनभद्र को एक संक्रमण क्षेत्र के रूप में विकसित किया है, जहाँ उत्तर भारत, मध्य भारत और पूर्वी भारत की सामाजिक-सांस्कृतिक विशेषताएँ एक साथ देखने को मिलती हैं (**सिंह,** 2014)। जिले का यह भौगोलिक स्वरूप प्राकृतिक संसाधनों से समृद्ध है, किंतु इसके साथ-साथ यहाँ रहने वाली अनुसूचित जनजातियों के लिए अनेक सामाजिक-आर्थिक चुनौतियाँ भी उत्पन्न करता है। भारत की जनगणना 2011 के अनुसार, सोनभद्र जिले की कुल जनसंख्या में अनुसूचित जनजातियों की भागीदारी लगभग 20 प्रतिशत के आसपास है, जो इसे उत्तर प्रदेश के प्रमुख जनजातीय जिलों में शामिल करती है (**गवर्नमेंट ऑफ इंडिया**, 2011)। यहाँ निवास करने वाली प्रमुख जनजातियों में गोंड, खरवार, कोल, पनिका और बैगा सम्मिलित हैं। ये समुदाय ऐतिहासिक रूप से वनों, पहाड़ों, नदियों और कृषि-आधारित संसाधनों पर निर्भर रहे हैं। इनकी सामाजिक संरचना सामुदायिक सहयोग, परंपरागत ज्ञान और आत्मनिर्भर आजीविका पर आधारित रही है, जो क्षेत्रीय शांति की एक मजबूत नींव प्रदान करती थी।सोनभद्र का इतिहास मानव सभ्यता के प्रारंभिक चरणों तक जाता है। रॉबर्ट ब्रूस फुट और जी.आर. शर्मा जैसे पुरातत्वविदों द्वारा किए गए अध्ययनों में इस क्षेत्र से प्राप्त

* **पी-एच. डी. शोधार्थी, गांधी एवं शांति अध्ययन विभाग, महात्मा गांधी केन्द्रीय विश्वविद्यालय, मोतीहारी, बिहार**

प्रागैतिहासिक शैलचित्रों और उपकरणों का उल्लेख मिलता है, जो यह प्रमाणित करते हैं कि यह क्षेत्र आदिम मानव गतिविधियों का प्रमुख केंद्र रहा है (**शर्मा**, 2007)। इन शैलचित्रों में शिकार, सामुदायिक जीवन और प्रकृति-पूजा के दृश्य जनजातीय संस्कृति की प्राचीन जड़ों को दर्शाते हैं।

मध्यकालीन इतिहास में सोनभद्र क्षेत्र अगोरी, विजैगढ़ और विकृतगढ़ जैसे किलों के लिए जाना जाता है। ये किले न केवल राजनीतिक सत्ता के प्रतीक थे, बल्कि जनजातीय समाज की रक्षा, स्वशासन और संसाधन नियंत्रण की व्यवस्थाओं को भी दर्शाते हैं (**सिंह,** 2014)। ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के दौरान वन कानूनों और भू-राजस्व नीतियों ने इन पारंपरिक व्यवस्थाओं को कमजोर किया, जिसके परिणामस्वरूप जनजातीय समाज और राज्य के बीच टकराव की स्थिति उत्पन्न हुई (**फरनेंडस**, 2008)।स्वतंत्रता के पश्चात सोनभद्र जिले को "ऊर्जा राजधानी" के रूप में विकसित किया गया। रिहंद बाँध, ओबरा, अनपरा और शक्तिनगर स्थित ताप विद्युत परियोजनाओं ने राष्ट्रीय ऊर्जा सुरक्षा में महत्वपूर्ण योगदान दिया (**प्लैनिंग कमिशन**, 2013)। किंतु इन परियोजनाओं के कारण बड़े पैमाने पर भूमि अधिग्रहण, विस्थापन और पारंपरिक आजीविका के साधनों का क्षरण हुआ। कई अध्ययनों में यह उल्लेख किया गया है कि विकास परियोजनाओं से प्रभावित जनजातीय समुदायों को समुचित पुनर्वास और आजीविका के विकल्प नहीं मिल पाए, जिससे असंतोष और सामाजिक तनाव की स्थिति बनी रही (**सरनीय, 2000; फरनेनदिस, 2008**)।

सोनभद्र के दुद्धी, म्योरपुर और बभनी जैसे विकासखंड आज भी अनुसूचित जनजातियों की बहुलता वाले क्षेत्र हैं, जहाँ वन-आधारित आजीविका, कृषि और लघु वनोपज प्रमुख साधन हैं। वहीं चोपन, अनपरा और नगवां जैसे क्षेत्रों में औद्योगिक गतिविधियों के कारण सामाजिक संरचना में तीव्र परिवर्तन देखने को मिलता है। यह असमान विकास क्षेत्रीय शांति को प्रभावित करता है और जनजातीय समाज में असुरक्षा की भावना को जन्म देता है।क्षेत्रीय शांति केवल हिंसा की अनुपस्थिति नहीं है, बल्कि सामाजिक न्याय, आर्थिक सुरक्षा और सांस्कृतिक सम्मान की स्थिति को भी दर्शाती है (**गलटूँग**, 1969)। जनजातीय क्षेत्रों में आत्मनिर्भर आजीविका शांति की आधारशिला मानी जा सकती है, क्योंकि जब समुदाय की आजीविका सुरक्षित होती है, तब सामाजिक असंतोष और संघर्ष की संभावनाएँ कम होती हैं। सोनभद्र जिले में पारंपरिक आजीविका के क्षरण और वैकल्पिक रोजगार के अभाव ने इस संतुलन को कमजोर किया है।पूर्ववर्ती अध्ययनों में या तो जनजातीय आजीविका पर या फिर क्षेत्रीय अशांति और उग्रवाद पर ध्यान केंद्रित किया गया है, किंतु इन दोनों के अंतर्संबंध पर केंद्रित अध्ययन सीमित हैं (**कुजुर**, 2019)। यही शोध-अंतर इस अध्ययन की आवश्यकता को रेखांकित करता है। वर्तमान समय में जब भारत सरकार "आत्मनिर्भर भारत", "वन अधिकार अधिनियम, 2006" और "समावेशी विकास" जैसी नीतियों पर बल दे रही है, तब सोनभद्र जैसे जिलों में इनके वास्तविक प्रभावों का अध्ययन अत्यंत प्रासंगिक हो जाता है (**नीति आयोग**, 2020)।

हाल के वर्षों में सोनभद्र जिले में जनजातीय अधिकार, भूमि विवाद और आजीविका से जुड़े मुद्दे राष्ट्रीय स्तर पर चर्चा का विषय बने हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि क्षेत्रीय शांति केवल कानून-व्यवस्था का प्रश्न नहीं है, बल्कि यह विकास, प्रशासन और सामाजिक न्याय से गहराई से जुड़ी हुई है। इस शोध की आवश्यकता इसलिए भी बढ़ जाती है क्योंकि यह नीति-निर्माताओं, प्रशासकों और सामाजिक संगठनों को जमीनी स्तर की वास्तविकताओं से अवगत कराता है।यह अध्ययन बहुआयामी और समग्र दृष्टिकोण अपनाता है, जिसमें ऐतिहासिक विश्लेषण, क्षेत्रीय अध्ययन और सामाजिक-आर्थिक मूल्यांकन सम्मिलित हैं। प्राथमिक आँकड़े साक्षात्कार, प्रश्नावली और समूह चर्चाओं के माध्यम से एकत्र किए गए हैं, जबकि द्वितीयक आँकड़े जनगणना रिपोर्टों, सरकारी दस्तावेजों, शोध पत्रों और पुस्तकों से लिए गए हैं। यह दृष्टिकोण क्षेत्रीय शांति और आत्मनिर्भर आजीविका के बीच संबंधों को समझने में सहायक सिद्ध होगा।भारतीय संदर्भ में यह अध्ययन न केवल सोनभद्र जिले के लिए, बल्कि अन्य जनजातीय बहुल क्षेत्रों के लिए भी एक संदर्भ-बिंदु के रूप में कार्य करेगा। इसके निष्कर्ष जनजातीय नीति-निर्माण, शांति-स्थापना और सतत विकास के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान प्रदान कर सकते हैं।

समस्या कथन

भारत के अनुसूचित जनजाति बहुल क्षेत्रों में शांति और विकास के बीच संतुलन एक दीर्घकालिक और जटिल समस्या रही है, जिसका स्पष्ट प्रतिबिंब उत्तर प्रदेश के सोनभद्र जिले में देखने को मिलता है। यह जिला प्राकृतिक संसाधनों से

अत्यधिक समृद्ध होने के बावजूद सामाजिक-आर्थिक दृष्टि से पिछड़ेपन, असमान विकास और प्रशासनिक उपेक्षा का शिकार रहा है, जिसके कारण यहाँ रहने वाली अनुसूचित जनजातियों की जीवन-स्थितियाँ निरंतर अस्थिर बनी हुई हैं (**जाक्सा**, 2014)। ऐतिहासिक रूप से जनजातीय समाज की शांति उनकी भूमि, वन और पारंपरिक आजीविका पर सामुदायिक नियंत्रण से सुनिश्चित होती रही है, किंतु आधुनिक विकास की प्रक्रिया में इन संसाधनों पर बाहरी हस्तक्षेप बढ़ने से यह संतुलन गंभीर रूप से प्रभावित हुआ है (**बेतेई**, 1998)। सोनभद्र जिले में खनन, ताप विद्युत परियोजनाओं, बाँध निर्माण और औद्योगिक विस्तार के कारण बड़े पैमाने पर भूमि अधिग्रहण हुआ, परंतु इसके अनुपात में न तो स्थायी रोजगार सृजन हुआ और न ही जनजातीय समुदायों के लिए आत्मनिर्भर आजीविका के वैकल्पिक साधन विकसित किए जा सके (**महापात्र**, 2016)। इस स्थिति ने आजीविका असुरक्षा, गरीबी और सामाजिक असंतोष को जन्म दिया, जो क्षेत्रीय शांति के लिए एक गंभीर चुनौती बनकर उभरा है। अनेक अध्ययनों से यह स्पष्ट होता है कि जब विकास प्रक्रियाएँ स्थानीय समुदायों की सहमति, सहभागिता और सांस्कृतिक संदर्भों की अनदेखी करती हैं, तब वे संघर्ष और अविश्वास को जन्म देती हैं (**दास**, 2012)। सोनभद्र में भी जनजातीय समुदायों और राज्य के बीच विश्वास की कमी, वन अधिकारों के सीमित क्रियान्वयन, तथा प्रशासनिक तंत्र की कमजोर पहुँच के कारण शांति की स्थिति सतही और अस्थायी बनी हुई है (**मिनिस्ट्री ऑफ ट्राइबल अफेयर्स**, 2018)। यद्यपि भारत सरकार द्वारा अनुसूचित जनजातियों के लिए विभिन्न कल्याणकारी योजनाएँ और अधिकार-आधारित कानून लागू किए गए हैं, किंतु इनके वास्तविक प्रभावों का क्षेत्रीय स्तर पर समुचित मूल्यांकन नहीं हो पाया है, विशेषकर उन जिलों में जहाँ विकास और विस्थापन साथ-साथ घटित हुए हैं (**सुंदर**, 2016)। उपलब्ध साहित्य में या तो जनजातीय आजीविका, या फिर संघर्ष एवं अशांति पर अलग-अलग अध्ययन किए गए हैं, परंतु क्षेत्रीय शांति और आत्मनिर्भर आजीविका के आपसी, संरचनात्मक और कारणात्मक संबंधों का विश्लेषण विशेष रूप से सोनभद्र जिले के संदर्भ में अत्यंत सीमित है (**पडेल एवं दास**, 2010)। यह शोध-अंतर नीति-निर्माण की प्रक्रिया को कमजोर करता है, क्योंकि बिना ठोस अनुभवजन्य साक्ष्यों के तैयार की गई नीतियाँ अक्सर जनजातीय यथार्थ से मेल नहीं खा पातीं। वर्तमान समय में, जब भारत समावेशी विकास, आत्मनिर्भरता और सामाजिक शांति को राष्ट्रीय प्राथमिकताओं के रूप में प्रस्तुत कर रहा है, तब यह अत्यंत आवश्यक हो जाता है कि सोनभद्र जैसे जिलों में अनुसूचित जनजातियों की शांति की स्थिति को केवल कानून-व्यवस्था के दृष्टिकोण से नहीं, बल्कि आजीविका, संसाधन अधिकार और सामाजिक न्याय के व्यापक संदर्भ में समझा जाए। इस प्रकार, इस शोध की मूल समस्या यह है कि संसाधन-समृद्ध होने के बावजूद सोनभद्र जिले की अनुसूचित जनजातियाँ आज भी स्थायी शांति और आत्मनिर्भर आजीविका से वंचित हैं, और इस विरोधाभास के वास्तविक कारणों का समग्र, विश्लेषणात्मक और क्षेत्र-आधारित अध्ययन अभी तक अपर्याप्त रहा है।

साहित्य समीक्षा

गुप्ता एवं बिलास (2022) का अध्ययन सोनभद्र जिले की अनुसूचित जनजातियों के *सामाजिक-आर्थिक स्थिति* पर केंद्रित है। यह शोध दिखाता है कि जनजातीय समुदायों की साक्षरता दर कम (लगभग 44.2%) है और वे मुख्यधारा की विकास प्रक्रिया से वंचित हैं। शोध में यह भी सामने आया कि अधिकांश लोग *अशिक्षित, अविकसित आजीविका और ऋण-भार* जैसे समस्याओं से जूझ रहे हैं, जिससे सामाजिक विकास में बाधा आ रही है।यह सोनभद्र के जनजातियों की आर्थिक स्थिति और आजीविका चुनौतियों के विश्लेषण के लिये आधार प्रदान करता है।

सरकारी शोध/कार्यक्रम **(2023) STI-हब प्रोजेक्ट** का उद्देश्य है कि ट्राइबल-डोमिनेटेड क्षेत्रों में *खेती, पशुपालन, महिला सशक्तिकरण तथा आजीविका स्रोतों* को वैज्ञानिक तकनीकों से संवर्धित किया जाये। इसका लक्ष्य न केवल आय बढ़ाना है बल्कि *ग्रामीण उत्पादकता, पोषण और आजीविका सुरक्षा* को भी मजबूत करना है। यह परियोजना क्षेत्रीय शांति और आत्मनिर्भर आजीविका दोनों के लिये *प्रायोगिक हस्तक्षेप मॉडल* के रूप में उपयोगी सिद्ध होती है।

भारतीय बागवानी (2019) के लेख में बताया गया है कि सोनभद्र जिला के जनजातीय किसानों के लिये *तकनीकी हस्तक्षेप* (जैसे बेहतर कृषि अभ्यास, फसल विविधीकरण, विपणन सहायता) ने आजीविका और पोषण सुरक्षा में सुधार किया है। इससे किसानों की आमदनी, रोजगार के अवसर तथा सतत कृषि व्यवहार को बढ़ावा मिला।आत्मनिर्भर आजीविका निर्माण के लिये तकनीकी समाधान की भूमिका पर प्रकाश डालता है।

शर्मा (2025) ने भारतीय अनुसूचित जनजातियों की *शैक्षिक स्थिति* और दी जाने वाली सरकारी योजनाओं (छात्रवृत्ति, आश्रम विद्यालय, आरटीई आदि) का विश्लेषण किया है। अध्ययन में पाया गया कि शिक्षा की कमी सामाजिक असमानता और आजीविका अवसरों में बाधा उत्पन्न करती है। शिक्षा सामाजिक समरसता और आजीविका सशक्तिकरण से जुड़ी है, जो शोध विषय के क्षेत्रीय शांति और आत्मनिर्भर आजीविका पहलुओं को मजबूत बनाती है।

सोनम कुमारी एवं एस. के. गुप्ता (2021) का अध्ययन आदिवासी महिलाओं के *शैक्षिक और सामाजिक सशक्तिकरण* पर केंद्रित है। यह दर्शाता है कि शिक्षा, जागरूकता और सामाजिक सहभागिता महिलाओं के आत्मनिर्भर बनने में महत्वपूर्ण भूमिका रखती है।आत्मनिर्भर आजीविका के लिये महिलाओं की भूमिका और उसका प्रभाव महत्वपूर्ण है।

अजीम प्रेम जी कनेक्ट (2020) शिक्षा-केन्द्रित अध्ययन **सुकमा, छत्तीसगढ़** में अनुसूचित जनजातियों को मुख्यधारा से जोड़ने में शिक्षा के महत्व को रेखांकित करता है, विशेषकर उन क्षेत्रों में जहाँ सामाजिक अस्थिरता और संघर्ष स्थितियाँ हैं।यह शांति एवं विकास के लिये शिक्षा को एक औजार के रूप में प्रस्तुत करता है, जिसका समीकरण सोनभद्र जैसे पिछड़े क्षेत्रों में भी लागू होता है।

संवैधानिक अध्ययन स्रोत (2023) बताता है कि भारत के संविधान में अनुसूचित जनजातियों को *राजनीतिक प्रतिनिधित्व, भूमि सुरक्षा और विकास योजनाओं* के रूप में संरक्षित किया गया है। यह सामाजिक समरसता और न्याय की दिशा में काम करता है।यह क्षेत्रीय शांति बनाने में संवैधानिक ढांचे की भूमिका को संदर्भित करता है।

अलग-अलग जिलों (जैसे सीधी) में अनुसूचित जनजातियों के ***सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टिकोण* और *शैक्षिक स्थिति*** पर किए गए शोध **(2022)** दिखाते हैं कि समुदायों के सांस्कृतिक दृष्टिकोण, साक्षरता स्तर और सामाजिक गतिशीलता से उनकी आजीविका संभावनाएँ प्रभावित होती हैं

सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य

अनुसूचित जनजातियों के लिए क्षेत्रीय शांति और आत्मनिर्भर आजीविका का प्रश्न केवल आर्थिक उन्नति का विषय नहीं है, बल्कि यह सामाजिक न्याय, संसाधनों की उपलब्धता, सांस्कृतिक पहचान तथा राज्य की नीतिगत संरचनाओं से गहराई से जुड़ा हुआ है। इस अध्ययन का सैद्धांतिक आधार मुख्यतः सतत आजीविका दृष्टिकोण, मानव विकास सिद्धांत, तथा सामाजिक बहिष्करण–समावेशन की अवधारणाओं पर निर्मित है।

सतत आजीविका दृष्टिकोण को **चेंबर्स** और **कॉनवे** (1992) ने स्पष्ट करते हुए कहा कि किसी भी समुदाय की आजीविका उसकी क्षमताओं, परिसंपत्तियों और गतिविधियों के उस समूह से बनती है जो जीवन-यापन को संभव बनाता है और भविष्य के संकटों का सामना करने में सक्षम होता है। **इसकोनिस** (1998) ने इसमें प्राकृतिक, मानवीय, सामाजिक, भौतिक और वित्तीय पूंजी की भूमिका को रेखांकित किया। जनजातीय समुदायों के संदर्भ में भूमि, वन और जल जैसे संसाधन, पारंपरिक ज्ञान तथा सामुदायिक नेटवर्क उनकी आजीविका की रीढ़ होते हैं। यदि इन संसाधनों तक सुरक्षित और न्यायसंगत पहुँच होती है, तो आत्मनिर्भरता की संभावना बढ़ती है, जो आगे चलकर क्षेत्रीय स्थिरता और शांति को सुदृढ़ करती है।

मानव विकास सिद्धांत के अंतर्गत **अमर्त्य सेन** (1999) ने यह प्रतिपादित किया कि विकास का सही अर्थ आय में वृद्धि नहीं, बल्कि लोगों की क्षमताओं और विकल्पों का विस्तार है। शिक्षा, स्वास्थ्य, कौशल और सामाजिक सुरक्षा व्यक्ति को बेहतर जीवन के अवसर प्रदान करते हैं। जब जनजातीय समूह इन मूलभूत सुविधाओं से वंचित रहते हैं, तो हाशियाकरण, बेरोज़गारी और असंतोष की स्थितियाँ जन्म लेती हैं। **ड्रेज** और **सेन** (2013) ने भी इस बात पर बल दिया कि राज्य की कल्याणकारी नीतियाँ तभी प्रभावी होती हैं जब वे स्थानीय स्तर पर वास्तविक पहुँच और उपयोग में परिवर्तित हों। इस दृष्टि से आत्मनिर्भर आजीविका, मानव क्षमताओं के विस्तार का परिणाम मानी जा सकती है।

साथ ही, **सामाजिक बहिष्करण** का सिद्धांत (**थोरंटन और यंग**, 2006) बताता है कि ऐतिहासिक, भौगोलिक और सांस्कृतिक कारणों से कई समुदाय मुख्यधारा के विकास से बाहर रह जाते हैं। भारत में अनुसूचित जनजातियों की स्थिति इसी प्रकार की रही है। **जाक्सा** (2001) ने जनजातीय समुदायों के विकास में पहचान, अधिकार और भागीदारी को अनिवार्य

तत्व माना है। जब तक निर्णय-निर्माण, शिक्षा, बाजार और प्रशासनिक प्रक्रियाओं में उनकी सहभागिता नहीं बढ़ेगी, तब तक समावेशी विकास और स्थायी शांति संभव नहीं है।

उपरोक्त सिद्धांतों के आलोक में यह अध्ययन सोनभद्र जिले की परिस्थितियों का विश्लेषण करता है, जहाँ प्राकृतिक संसाधनों की प्रचुरता के बावजूद जनजातीय समुदाय गरीबी और सीमित अवसरों से जूझ रहे हैं। यह समझने का प्रयास किया जाएगा कि संसाधनों की उपलब्धता, नीतिगत हस्तक्षेप, शिक्षा और कौशल विकास किस प्रकार आजीविका को प्रभावित करते हैं, और आर्थिक सशक्तिकरण किस हद तक सामाजिक समरसता को बढ़ावा देता है। इस प्रकार, विकास को केवल आय वृद्धि के बजाय गरिमा, सुरक्षा और सामुदायिक संतुलन की प्रक्रिया के रूप में देखा गया है।

शोध उद्देश्य

1. अनुसूचित जनजातियों के लिए शांति और आत्मनिर्भर आजीविका के समक्ष चुनौतियों का अध्ययन।

शोध प्रश्न

1. अनुसूचित जनजातीय समुदायों में शांति एवं सामाजिक स्थिरता को प्रभावित करने वाली मुख्य चुनौतियाँ क्या हैं ?
2. आत्मनिर्भर आजीविका प्राप्त करने में अनुसूचित जनजातियों को किन आर्थिक, शैक्षिक एवं संरचनात्मक बाधाओं का सामना करना पड़ रहा है ?
3. सरकारी योजनाएँ, स्थानीय संस्थाएँ एवं सामुदायिक प्रयास शांति और आत्मनिर्भरता बढ़ाने में कितने प्रभावी हैं ?

शोध प्रविधि

किसी भी सामाजिक शोध की विश्वसनीयता उसके अनुसंधान पद्धति की स्पष्टता और व्यवस्थितता पर निर्भर करती है। प्रस्तुत अध्ययन, *"अनुसूचित जनजातियों के लिए क्षेत्रीय शांति एवं आत्मनिर्भर आजीविका: सोनभद्र जिले का एक विश्लेषणात्मक अध्ययन"*, में अनुसंधान की रूपरेखा इस प्रकार तैयार की गई कि वह अध्ययन क्षेत्र की वास्तविक परिस्थितियों को समग्र रूप से समझने में सहायक हो सके। इस अध्याय में अनुसंधान ब्रह्मांड, शोध रूपरेखा, नमूना चयन, तथा आंकड़ों के संकलन की विधियों का विवरण प्रस्तुत किया गया है।

अनुसंधान समग्र

इस अध्ययन का अनुसंधान ब्रह्मांड उत्तर प्रदेश के सोनभद्र जनपद की चोपन तहसील के खण्ड पाथर क्षेत्र में निवास करने वाले अनुसूचित जनजातीय समुदाय के **18 से 70 वर्ष आयु वर्ग** के पुरुष एवं महिलाएँ हैं। इस आयु समूह को इसलिए चुना गया क्योंकि यह वर्ग आर्थिक गतिविधियों, पारिवारिक निर्णयों, सामाजिक सहभागिता तथा आजीविका से सीधे जुड़ा होता है। साथ ही इस समूह के लोग सरकारी योजनाओं और विकास कार्यक्रमों के वास्तविक प्रभाव का अनुभव कर सकते हैं।

अनुसंधान रूपरेखा

प्रस्तुत अध्ययन गुणात्मक एवं मात्रात्मक दोनों प्रकार की पद्धतियों का सम्मिलित उपयोग करता है। यह शोध प्रकृति में अन्वेषणात्मक भी है, क्योंकि इसका उद्देश्य जनजातीय समुदायों के सामने मौजूद समस्याओं, चुनौतियों और संभावनाओं को गहराई से समझना है। साथ ही यह वर्णनात्मक भी है, क्योंकि इसमें प्राप्त आंकड़ों के आधार पर सामाजिक-आर्थिक स्थितियों और शांति की परिस्थितियों का व्यवस्थित चित्र प्रस्तुत किया गया है। गुणात्मक दृष्टिकोण से उत्तरदाताओं के अनुभव, धारणाएँ और स्थानीय संदर्भों को समझा गया, जबकि मात्रात्मक पद्धति के माध्यम से प्रतिशत और अनुपात के आधार पर निष्कर्ष निकाले गए। इस मिश्रित पद्धति ने अध्ययन को अधिक संतुलित और प्रमाणिक बनाया।

नमूना चयन

अध्ययन में उद्देश्यपूर्ण नमूना चयन विधि का प्रयोग किया गया। इस पद्धति के अंतर्गत उन व्यक्तियों का चयन किया गया जो अनुसंधान विषय से सीधे रूप से जुड़े थे तथा जिनसे प्रासंगिक और विश्वसनीय जानकारी प्राप्त हो सकती थी। कुल 84 उत्तरदाताओं को नमूने के रूप में शामिल किया गया। इसमें पुरुषों, महिलाओं, युवाओं तथा विभिन्न आर्थिक पृष्ठभूमि के लोगों को सम्मिलित करने का प्रयास किया गया, ताकि विविध दृष्टिकोण सामने आ सकें।

आंकड़ा संकलन के स्रोत

इस अध्ययन में प्राथमिक और द्वितीयक दोनों प्रकार के स्रोतों से जानकारी प्राप्त की गई-

प्राथमिक स्रोत

प्राथमिक आंकड़े सीधे उत्तरदाताओं से एकत्र किए गए। इसके लिए निम्न विधियों का उपयोग किया गया—

- साक्षात्कार : चयनित व्यक्तियों से व्यक्तिगत बातचीत के माध्यम से उनकी आजीविका, समस्याओं, योजनाओं से लाभ, और शांति से जुड़े अनुभवों की जानकारी ली गई।
- अनौपचारिक समूह चर्चा : सामुदायिक स्तर पर समूह वार्ताओं के माध्यम से सामूहिक धारणाएँ, स्थानीय मुद्दे और पारंपरिक व्यवस्थाओं को समझा गया।

इन विधियों से प्राप्त जानकारी ने समुदाय की वास्तविक स्थिति, भावनाओं और अपेक्षाओं को समझने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

द्वितीयक स्रोत

द्वितीयक आंकड़ों के अंतर्गत विषय से संबंधित उपलब्ध साहित्य, पत्र-पत्रिकाएँ, समाचार पत्र, सरकारी रिपोर्टें, तथा पूर्व प्रकाशित शोध का अध्ययन किया गया। इन स्रोतों से ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, नीतिगत संदर्भ और तुलनात्मक दृष्टिकोण प्राप्त हुआ, जिससे प्राथमिक आंकड़ों की व्याख्या अधिक सटीक हो सकी।

आंकड़ों का विश्लेषण

संकलित आंकड़ों को व्यवस्थित कर श्रेणियों में विभाजित किया गया। मात्रात्मक आंकड़ों को प्रतिशत के रूप में प्रस्तुत किया गया, जबकि गुणात्मक सूचनाओं को वर्णनात्मक शैली में विश्लेषित किया गया। इस प्रक्रिया से यह समझने में सहायता मिली कि आर्थिक आत्मनिर्भरता और क्षेत्रीय शांति के बीच क्या संबंध स्थापित होता है।

क्षेत्रीय शांति एवं सामाजिक स्थिरता के समक्ष प्रमुख चुनौतियाँ

सोनभद्र जनपद की चोपन तहसील के खण्ड पाथर क्षेत्र में निवास करने वाले अनुसूचित जनजातीय समुदायों के बीच क्षेत्रीय शांति और सामाजिक स्थिरता का प्रश्न बहुआयामी है। यह केवल कानून-व्यवस्था या संघर्ष की अनुपस्थिति से संबंधित नहीं है, बल्कि आजीविका सुरक्षा, संसाधनों तक पहुँच, सामाजिक न्याय, सांस्कृतिक सम्मान तथा राज्य की नीतिगत उपस्थिति जैसे कारकों से गहराई से जुड़ा हुआ है। गलटूँग (1969) ने शांति को केवल प्रत्यक्ष हिंसा की अनुपस्थिति नहीं, बल्कि संरचनात्मक असमानताओं के निवारण से जोड़ा। इस दृष्टिकोण से देखा जाए तो यदि समुदाय के बड़े हिस्से को अवसरों से वंचित रखा जाता है, तो यह स्थिति अप्रत्यक्ष रूप से अशांति को जन्म देती है।

अध्ययन के अंतर्गत कुल 84 उत्तरदाताओं से प्राप्त आंकड़ों के अनुसार 58 उत्तरदाता (लगभग 69%) का मत था कि उनके क्षेत्र में बेरोज़गारी, विकास संसाधनों की कमी, वन एवं भूमि पर असुरक्षित अधिकार, तथा प्रशासनिक उपेक्षा जैसी समस्याएँ सामाजिक तनाव को बढ़ाती हैं। वहीं 26 उत्तरदाता (31%) ने माना कि पारंपरिक सामाजिक संबंध, सामुदायिक

सहयोग और आपसी समझ अभी भी शांति बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।यह परिणाम हमें विकास और शांति के संबंध को समझने वाले विद्वानों की ओर ले जाता है। **स्टीवर्ट** (2002) ने 'हॉरिजॉन्टल इनेकुआलिटीस' की अवधारणा देते हुए बताया कि जब विशेष सामाजिक समूह शिक्षा, रोजगार और राजनीतिक प्रतिनिधित्व में लगातार पीछे रह जाते हैं, तो उनमें असंतोष की भावना विकसित होती है। सोनभद्र के संदर्भ में भी यही प्रवृत्ति दिखाई देती है। उत्तरदाताओं ने बार-बार इस बात को दोहराया कि बुनियादी सुविधाओं - जैसे सड़क, स्वास्थ्य, शिक्षा और बाज़ार-की सीमित उपलब्धता उन्हें मुख्यधारा से दूर रखती है।

भूमि और वन संसाधनों का प्रश्न भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। **जाक्सा** (2001) ने कहा है कि भारतीय जनजातीय समाज का आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन प्राकृतिक संसाधनों से गहराई से जुड़ा है। जब इन पर उनका नियंत्रण कमजोर होता है, तो उनकी सामाजिक सुरक्षा भी कमजोर हो जाती है। खण्ड पाथर क्षेत्र में कई उत्तरदाताओं ने व्यक्त किया कि वन उपज पर निर्भरता के बावजूद उन्हें विपणन के उचित साधन नहीं मिलते, जिससे आय कम होती है और असुरक्षा बढ़ती है। यह आर्थिक दबाव अप्रत्यक्ष रूप से सामाजिक तनाव को जन्म देता है। इसके अतिरिक्त, **सरनीय** (1997) द्वारा प्रतिपादित विस्थापन और पुनर्वास का सिद्धांत बताता है कि जब विकास परियोजनाओं के कारण स्थानीय लोगों की पारंपरिक आजीविका टूटती है, तो वे सामाजिक विघटन और पहचान संकट का सामना करते हैं। सोनभद्र जैसे खनन और औद्योगिक गतिविधियों वाले क्षेत्र में यह चिंता कई उत्तरदाताओं के वक्तव्यों में स्पष्ट दिखाई दी। लोगों ने भविष्य के विस्थापन, रोजगार अस्थिरता और पर्यावरणीय बदलावों को लेकर चिंता व्यक्त की।

हालाँकि तस्वीर का दूसरा पक्ष भी सामने आता है। जिन 31% उत्तरदाताओं ने स्थिति को अपेक्षाकृत शांतिपूर्ण बताया, उन्होंने समुदाय के भीतर मौजूद पारंपरिक संस्थाओं, पारिवारिक नेटवर्क, और सामूहिक निर्णय प्रणाली को इसका आधार माना। **पुटनाम** (1993) ने इसे सोशल कैपिटल की संज्ञा दी, जहाँ आपसी विश्वास और सहयोग सामुदायिक स्थिरता को मजबूत करते हैं। कई ग्रामों में विवादों का समाधान स्थानीय स्तर पर ही कर लिया जाता है, जिससे बाहरी हस्तक्षेप की आवश्यकता कम पड़ती है।फिर भी, सामाजिक पूंजी की यह शक्ति आर्थिक अवसरों के अभाव की भरपाई पूरी तरह नहीं कर पाती। **सेन** (1999) के कैपबिलटी अप्रोच के अनुसार यदि लोगों के पास अपने जीवन को बेहतर बनाने के वास्तविक अवसर नहीं हैं, तो वे स्वतंत्र रूप से विकास की दिशा में आगे नहीं बढ़ सकते। खण्ड पाथर में युवाओं ने रोजगार और कौशल प्रशिक्षण की कमी को अपनी सबसे बड़ी समस्या बताया। उनका मानना है कि यदि उन्हें स्थानीय स्तर पर सम्मानजनक रोजगार मिले, तो प्रवासन और असंतोष दोनों कम होंगे।

अध्ययन से यह भी स्पष्ट हुआ कि सरकारी योजनाओं की जानकारी और उन तक पहुँच में असमानता है। जिन परिवारों तक योजनाएँ पहुँची हैं, उनमें अपेक्षाकृत संतोष अधिक है, जबकि वंचित परिवारों में निराशा देखी गई। **ड्रेजे एण्ड सेन** (2013) ने इसी समस्या की ओर संकेत करते हुए कहा था कि नीति की घोषणा और उसके वास्तविक क्रियान्वयन के बीच की दूरी विकास को प्रभावित करती है।इस प्रकार, क्षेत्रीय शांति को समझने के लिए हमें केवल सांस्कृतिक कारकों को नहीं, बल्कि आर्थिक संरचना, प्रशासनिक पहुँच और ऐतिहासिक वंचनाओं को भी ध्यान में रखना होगा। सर्वेक्षण के आंकड़े और उत्तरदाताओं के अनुभव यह संकेत देते हैं कि यदि आजीविका के स्थिर अवसर, शिक्षा, और संसाधनों पर सुरक्षित अधिकार सुनिश्चित किए जाएँ, तो सामाजिक स्थिरता को मजबूत किया जा सकता है।अंततः, यह कहा जा सकता है कि खण्ड पाथर क्षेत्र में शांति और अशांति के तत्व साथ-साथ मौजूद हैं। एक ओर पारंपरिक सामुदायिक एकता है, तो दूसरी ओर आधुनिक विकास प्रक्रियाओं से उत्पन्न असमानताएँ। इन दोनों के बीच संतुलन स्थापित करना ही नीतिगत चुनौती है। आर्थिक सशक्तिकरण, सहभागी शासन और सांस्कृतिक सम्मान के माध्यम से ही स्थायी शांति की दिशा में आगे बढ़ा जा सकता है।

आत्मनिर्भर आजीविका में आर्थिक, शैक्षिक एवं संरचनात्मक बाधाएँ

अनुसूचित जनजातीय समुदायों के लिए आत्मनिर्भर आजीविका का अर्थ केवल आय अर्जित करना नहीं है, बल्कि स्थायी, सम्मानजनक और सुरक्षित जीवन के साधनों की उपलब्धता है। यह स्थिति तब बनती है जब व्यक्ति या समुदाय के पास पर्याप्त संसाधन, कौशल, अवसर और संस्थागत समर्थन मौजूद हो। खण्ड पाथर, चोपन (सोनभद्र) में किए गए सर्वेक्षण से

स्पष्ट हुआ कि इन तत्वों की कमी आत्मनिर्भरता की राह में गंभीर बाधा बन रही है।अध्ययन के अंतर्गत **84 उत्तरदाताओं** में से **63 (लगभग 75%)** ने माना कि स्थायी रोजगार, आधुनिक कौशल, वित्तीय संसाधन और बाज़ार तक पहुँच की कमी उनके आर्थिक सशक्तिकरण में प्रमुख रुकावट है। केवल **21 उत्तरदाता (25%)** ने वर्तमान परिस्थितियों को किसी हद तक संतोषजनक बताया। यह अनुपात दर्शाता है कि बहुसंख्यक समुदाय आज भी आजीविका असुरक्षा से जूझ रहा है। सतत आजीविका की चर्चा करते हुए **चेंबर्स और कॉनवे** (1992) ने कहा कि आजीविका तभी टिकाऊ मानी जाएगी जब वह झटकों और संकटों का सामना कर सके तथा भविष्य में भी अपनी उत्पादकता बनाए रखे। सोनभद्र के संदर्भ में अधिकांश परिवार दिहाड़ी मजदूरी, वर्षा आधारित लघु कृषि, और वन उपज संग्रह पर निर्भर हैं। इन साधनों में अनिश्चितता अधिक है; मौसम, बाज़ार मूल्य और बिचौलियों की भूमिका आय को अस्थिर बनाती है। परिणामस्वरूप परिवार नियमित बचत या निवेश नहीं कर पाते। **सूकेनेस** (1998) ने आजीविका को पाँच प्रकार की पूंजी- प्राकृतिक, मानवीय, सामाजिक, भौतिक और वित्तीय- से जोड़कर देखा। यदि हम इस ढाँचे को खण्ड पाथर क्षेत्र पर लागू करें, तो पाएँगे कि प्राकृतिक पूंजी (वन, भूमि) तो मौजूद है, लेकिन उस पर सुरक्षित अधिकार और विपणन तंत्र कमजोर है। भौतिक पूंजी जैसे सड़क, परिवहन, सिंचाई और संचार सुविधाएँ सीमित हैं। वित्तीय पूंजी तक पहुँच, विशेषकर बैंकिंग और ऋण सुविधाएँ, कम है। इन कमियों का संयुक्त प्रभाव आत्मनिर्भरता को बाधित करता है। शिक्षा और कौशल का प्रश्न भी उतना ही महत्वपूर्ण है। **सेन** (1999) ने विकास को क्षमताओं के विस्तार से जोड़ा और बताया कि शिक्षा व्यक्ति को बेहतर विकल्प चुनने की स्वतंत्रता देती है। सर्वेक्षण में बड़ी संख्या में उत्तरदाताओं ने स्वीकार किया कि निम्न साक्षरता और तकनीकी ज्ञान की कमी के कारण वे बेहतर रोजगार अवसर प्राप्त नहीं कर पाते। युवा वर्ग ने विशेष रूप से कहा कि यदि उन्हें प्रशिक्षण, कंप्यूटर शिक्षा या उद्यमिता का मार्गदर्शन मिले, तो वे पारंपरिक मजदूरी से आगे बढ़ सकते हैं। **ड्रेज** और **सेन** (2013) ने यह भी रेखांकित किया कि सार्वजनिक सेवाओं की गुणवत्ता में सुधार के बिना मानव विकास संभव नहीं है। खण्ड पाथर में विद्यालयों की दूरी, शिक्षकों की अनुपलब्धता और उच्च शिक्षा के सीमित अवसर कई परिवारों को जल्दी काम में लग जाने के लिए मजबूर करते हैं। इससे दीर्घकालिक आर्थिक उन्नति प्रभावित होती है।

आर्थिक बाधाओं में एक महत्वपूर्ण पहलू बाज़ार तक पहुँच का है। जनजातीय उत्पादों- जैसे लघु वनोपज, कृषि उत्पाद या हस्तशिल्प-का उचित मूल्य नहीं मिल पाता। बिचौलियों पर निर्भरता आय का बड़ा हिस्सा कम कर देती है। **बर्धन** (1984) ने ग्रामीण अर्थव्यवस्था में शक्ति असमानताओं को रेखांकित करते हुए बताया कि कमजोर समूह अक्सर बाजार संरचनाओं में शोषण का सामना करते हैं। उत्तरदाताओं के अनुभव इस बात की पुष्टि करते हैं।महिलाओं की स्थिति भी आत्मनिर्भरता के संदर्भ में महत्वपूर्ण है। कई महिला उत्तरदाताओं ने कहा कि वे स्वयं सहायता समूहों के माध्यम से कुछ आर्थिक गतिविधियाँ कर रही हैं, परंतु पूंजी, प्रशिक्षण और विपणन समर्थन के बिना विस्तार संभव नहीं है। **कबीर** (1999) के अनुसार सशक्तिकरण केवल संसाधन उपलब्ध कराने से नहीं, बल्कि निर्णय लेने की क्षमता बढ़ाने से होता है। यदि महिलाओं को आर्थिक गतिविधियों में वास्तविक भागीदारी मिले, तो परिवार की आय और सामाजिक स्थिति दोनों में सुधार हो सकता है। संरचनात्मक बाधाओं में प्रशासनिक प्रक्रियाओं की जटिलता भी सामने आई। कई उत्तरदाताओं ने बताया कि योजनाओं का लाभ लेने के लिए आवश्यक दस्तावेज़, जानकारी और कार्यालयों तक पहुँच उनके लिए कठिन है। इससे योजनाएँ कागज़ पर तो मौजूद रहती हैं, परंतु ज़मीनी स्तर पर अपेक्षित परिवर्तन नहीं ला पातीं। फिर भी, कुछ सकारात्मक संकेत भी मिले। जिन **25% उत्तरदाताओं** ने संतोष व्यक्त किया, उन्होंने मनरेगा, सार्वजनिक वितरण प्रणाली या स्वयं सहायता समूहों से प्राप्त लाभ को कारण बताया। इससे स्पष्ट होता है कि यदि योजनाओं का प्रभावी क्रियान्वयन हो, तो वे आजीविका स्थिरता ला सकती हैं। यह निष्कर्ष नीति-निर्माताओं के लिए महत्वपूर्ण है।

समग्र रूप से देखा जाए तो आत्मनिर्भर आजीविका के मार्ग में बाधाएँ परस्पर जुड़ी हुई हैं- आर्थिक कमजोरी शिक्षा को प्रभावित करती है, शिक्षा की कमी बेहतर रोजगार को सीमित करती है, और कमजोर आय सामाजिक सुरक्षा को घटाती है। इस दुष्चक्र को तोड़ने के लिए बहुआयामी हस्तक्षेप आवश्यक है। अंततः, अध्ययन यह दर्शाता है कि खाण्ड पाथर क्षेत्र में आत्मनिर्भरता की आकांक्षा मजबूत है, परंतु संसाधनों और अवसरों की संरचनात्मक सीमाएँ इसे पूर्ण रूप से साकार नहीं होने देतीं। यदि कौशल विकास, बाजार संपर्क, वित्तीय समावेशन और शिक्षा पर समन्वित रूप से कार्य किया जाए, तो समुदाय अपनी आजीविका को स्थिर और सम्मानजनक बना सकता है।

सरकारी योजनाओं एवं सामुदायिक प्रयासों की प्रभावशीलता

अनुसूचित जनजातीय समुदायों के लिए क्षेत्रीय शांति और आत्मनिर्भर आजीविका सुनिश्चित करने में सरकारी योजनाओं, स्थानीय संस्थाओं और सामुदायिक प्रयासों की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण मानी जाती है। राज्य की कल्याणकारी नीतियाँ, यदि प्रभावी रूप से लागू हों, तो वे आर्थिक असुरक्षा को कम कर सकती हैं, अवसरों का विस्तार कर सकती हैं और सामाजिक स्थिरता को मजबूत बना सकती हैं। परंतु नीति की उपलब्धता और उसके वास्तविक लाभ के बीच का अंतर अक्सर चुनौती बना रहता है। खण्ड पाथर, चोपन (सोनभद्र) में किए गए इस अध्ययन ने इसी अंतर को समझने का प्रयास किया।

सर्वेक्षण में शामिल **84 उत्तरदाताओं** में से **49 (लगभग 58%)** ने माना कि सरकारी योजनाएँ संभावनाशील हैं और यदि सही ढंग से लागू हों तो वे आजीविका और शांति दोनों को मजबूत कर सकती हैं। वहीं **35 उत्तरदाता (42%)** ने कहा कि उन्हें योजनाओं से अपेक्षित लाभ नहीं मिला या वे प्रक्रियागत बाधाओं के कारण वंचित रह गए। यह विभाजित प्रतिक्रिया नीति क्रियान्वयन की जटिलताओं को उजागर करती है। **ड्रेजे** और **सेन** (2013) ने भारतीय कल्याणकारी कार्यक्रमों का विश्लेषण करते हुए कहा कि योजनाएँ तभी प्रभावी बनती हैं जब वे लोगों तक वास्तविक रूप से पहुँचें और पारदर्शिता तथा जवाबदेही सुनिश्चित हो। खण्ड पाथर क्षेत्र में भी यही स्थिति दिखाई देती है। कई उत्तरदाताओं ने पेंशन, राशन, आवास, छात्रवृत्ति और मनरेगा जैसी योजनाओं का नाम लिया, परंतु लाभ की अनियमितता और सूचना की कमी को प्रमुख समस्या बताया। आजीविका सुरक्षा में **मनरेगा** जैसी योजना का विशेष महत्व है क्योंकि यह न्यूनतम रोजगार की गारंटी देती है। जिन परिवारों को नियमित काम मिला, उन्होंने माना कि इससे आय में स्थिरता आई और संकट के समय सहारा मिला। **डेनिनगेर** और **लिउ** (2013) ने ग्रामीण रोजगार कार्यक्रमों को सामाजिक सुरक्षा जाल के रूप में देखा है, जो गरीब परिवारों को अत्यधिक जोखिम से बचाते हैं। हालांकि, जिन लोगों को काम नहीं मिला या भुगतान में देरी हुई, उनमें निराशा भी पाई गई। सामुदायिक स्तर पर **स्वयं सहायता समूह (SHGs)** और स्थानीय संगठनों की भूमिका भी उभरकर सामने आई। कई महिला उत्तरदाताओं ने बताया कि समूहों के माध्यम से बचत और ऋण की सुविधा मिली, जिससे छोटे व्यवसाय शुरू करने में मदद मिली। **कबीर** (1999) के अनुसार, ऐसे सामूहिक मंच महिलाओं की निर्णय क्षमता और सामाजिक पहचान को मजबूत करते हैं। इससे न केवल आर्थिक स्थिति सुधरती है, बल्कि परिवार और समुदाय में उनका सम्मान भी बढ़ता है, जो सामाजिक समरसता के लिए सकारात्मक है।

फिर भी, इन पहलों की पहुँच अभी सीमित है। कई परिवार समूहों से जुड़े नहीं हैं या उन्हें प्रशिक्षण की पर्याप्त सुविधा नहीं मिली। **अपहोफ्फ** (1992) ने स्थानीय संस्थाओं की प्रभावशीलता को सहभागिता पर निर्भर बताया है। यदि समुदाय के सभी वर्गों की भागीदारी सुनिश्चित न हो, तो योजनाओं का लाभ असमान रूप से वितरित होता है। वनाधिकार, भूमि और प्राकृतिक संसाधनों से संबंधित नीतियाँ भी जनजातीय आजीविका के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। **जाक्सा** (2001) ने कहा कि अधिकार आधारित दृष्टिकोण के बिना जनजातीय विकास अधूरा है। अध्ययन क्षेत्र में कई उत्तरदाताओं ने माना कि यदि उन्हें संसाधनों पर अधिक सुरक्षित अधिकार मिलें, तो वे दीर्घकालिक निवेश करने के लिए प्रेरित होंगे। अधिकारों की अनिश्चितता भविष्य की योजना बनाने में बाधा बनती है। **पुटनाम** (1993) की सोशल कैपिटल अवधारणा के अनुसार जब समुदाय में विश्वास, सहयोग और नेटवर्क मजबूत होते हैं, तो विकास कार्यक्रमों की सफलता की संभावना बढ़ जाती है। खण्ड पाथर में कुछ ग्रामों में यह देखा गया कि जहाँ स्थानीय नेतृत्व सक्रिय था, वहाँ योजनाओं का लाभ अपेक्षाकृत अधिक लोगों तक पहुँचा। इससे यह संकेत मिलता है कि प्रशासन और समुदाय के बीच सहयोग शांति निर्माण में सहायक हो सकता है। इसके विपरीत, जहाँ सूचना का अभाव या नेतृत्व कमजोर था, वहाँ लोगों में अविश्वास की भावना पाई गई। कई उत्तरदाताओं ने कहा कि उन्हें योजना की पात्रता, आवेदन प्रक्रिया या अधिकारों के बारे में स्पष्ट जानकारी नहीं है। यह स्थिति राज्य और नागरिकों के बीच दूरी को बढ़ाती है, जो दीर्घकाल में असंतोष का कारण बन सकती है।**सेन** (1999) के कैपबिलटी अप्रोच के अनुसार योजनाओं का अंतिम उद्देश्य लोगों की स्वतंत्रता और विकल्पों का विस्तार होना चाहिए। यदि योजनाएँ केवल कागज़ी लाभ तक सीमित रह जाएँ और लोगों के जीवन में वास्तविक परिवर्तन न लाएँ, तो वे अपने लक्ष्य को पूरा नहीं कर पातीं। इसलिए क्रियान्वयन की गुणवत्ता, निगरानी और स्थानीय जरूरतों के अनुरूप अनुकूलन आवश्यक है। समग्र रूप से देखा जाए तो अध्ययन क्षेत्र में सरकारी योजनाओं के प्रति **आशा और आलोचना दोनों** मौजूद हैं। लाभान्वित परिवारों ने आय में सुधार,

खाद्य सुरक्षा और आवास जैसी सुविधाओं से संतोष व्यक्त किया, जिससे उनके जीवन में स्थिरता आई। वहीं वंचित समूहों ने प्रक्रिया की जटिलता, जानकारी की कमी और अनियमितता को लेकर चिंता जताई।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि योजनाओं में क्षमता है कि वे आत्मनिर्भर आजीविका को मजबूत कर सकें और सामाजिक तनाव को कम कर सकें, परंतु इसके लिए **समावेशी पहुँच, पारदर्शिता और समुदाय की सक्रिय भागीदारी** अनिवार्य है। जब नीति और स्थानीय जरूरतों के बीच संतुलन स्थापित होता है, तभी स्थायी शांति की दिशा में वास्तविक प्रगति संभव होती है।

निष्कर्ष

यह अध्ययन उत्तर प्रदेश के सोनभद्र जनपद की चोपन तहसील के खाण्ड पाथर क्षेत्र में निवास करने वाले अनुसूचित जनजातीय समुदायों के संदर्भ में क्षेत्रीय शांति और आत्मनिर्भर आजीविका के परस्पर संबंधों को समझने का प्रयास करता है। शोध का मुख्य उद्देश्य यह जानना था कि सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियाँ, संरचनात्मक बाधाएँ और सरकारी योजनाएँ किस प्रकार जनजातीय जीवन, स्थिरता और विकास को प्रभावित करती हैं। 84 उत्तरदाताओं से प्राप्त आंकड़ों तथा सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य के आधार पर कुछ महत्वपूर्ण निष्कर्ष सामने आए। अध्ययन से स्पष्ट हुआ कि क्षेत्रीय शांति केवल संघर्ष की अनुपस्थिति नहीं है, बल्कि यह रोजगार, संसाधनों तक न्यायपूर्ण पहुँच, शिक्षा और सामाजिक सुरक्षा जैसे तत्वों से निर्मित होती है। सर्वेक्षण में बड़ी संख्या में उत्तरदाताओं ने बेरोज़गारी, आय की अनिश्चितता, वन और भूमि से जुड़े अधिकारों की असुरक्षा तथा विकास सुविधाओं की कमी को तनाव के प्रमुख कारणों के रूप में चिन्हित किया। जब जीवनयापन के साधन कमजोर होते हैं, तो भविष्य के प्रति असुरक्षा की भावना बढ़ती है, जो सामाजिक असंतोष को जन्म दे सकती है। इसके विपरीत, जहाँ लोगों को स्थिर आय या योजनाओं का लाभ मिला, वहाँ अपेक्षाकृत संतोष और विश्वास का स्तर अधिक पाया गया।आत्मनिर्भर आजीविका के संदर्भ में आर्थिक, शैक्षिक और संरचनात्मक बाधाएँ प्रमुख रूप से उभरकर सामने आईं। अधिकांश परिवार पारंपरिक मजदूरी, सीमित कृषि और वन उपज पर निर्भर हैं, जो नियमित आय की गारंटी नहीं देते। शिक्षा और कौशल की कमी बेहतर अवसरों को सीमित करती है, विशेषकर युवाओं के लिए। महिलाओं ने भी यह स्वीकार किया कि यदि उन्हें प्रशिक्षण, ऋण और बाजार तक पहुँच मिले, तो वे परिवार की आय बढ़ाने में महत्वपूर्ण योगदान दे सकती हैं। इससे स्पष्ट है कि आत्मनिर्भरता की दिशा में संभावनाएँ मौजूद हैं, परंतु उन्हें सशक्त करने के लिए संस्थागत सहयोग आवश्यक है।

सरकारी योजनाओं की प्रभावशीलता के मामले में मिश्रित स्थिति देखने को मिली। कुछ उत्तरदाताओं ने मनरेगा, राशन, पेंशन और आवास योजनाओं से लाभ मिलने की बात कही, जिससे जीवन में आंशिक स्थिरता आई। परंतु बड़ी संख्या में लोगों ने जानकारी की कमी, प्रक्रियागत जटिलता और लाभ वितरण में अनियमितता को बाधा बताया। इससे यह संकेत मिलता है कि नीति की मंशा सकारात्मक होने के बावजूद उसका प्रभाव क्रियान्वयन की गुणवत्ता पर निर्भर करता है। अध्ययन ने यह भी उजागर किया कि पारंपरिक सामाजिक संबंध और सामुदायिक सहयोग अभी भी शांति बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। आपसी विश्वास, स्थानीय समाधान की परंपरा और सामूहिकता सामाजिक पूंजी का निर्माण करती है, जो कठिन परिस्थितियों में सहारा देती है। हालांकि, यह शक्ति तब और प्रभावी हो सकती है जब इसे आधुनिक विकास संसाधनों और प्रशासनिक समर्थन से जोड़ा जाए।

समग्र रूप से यह निष्कर्ष निकलता है कि क्षेत्रीय शांति और आत्मनिर्भर आजीविका एक-दूसरे के पूरक हैं। आर्थिक अवसरों का विस्तार, शिक्षा और कौशल विकास, संसाधनों पर सुरक्षित अधिकार, तथा योजनाओं की पारदर्शी पहुँच सामाजिक समरसता को मजबूत कर सकते हैं। यदि इन आयामों पर समन्वित प्रयास किए जाएँ, तो खण्ड पाथर जैसे क्षेत्रों में स्थायी विकास और शांति की मजबूत नींव रखी जा सकती है।इस प्रकार, यह अध्ययन नीति-निर्माताओं, प्रशासन और स्थानीय संगठनों के लिए यह संदेश देता है कि जनजातीय विकास को केवल आर्थिक कार्यक्रमों तक सीमित न रखकर, उसे सामाजिक न्याय और सहभागी शासन के व्यापक ढाँचे में देखना आवश्यक है। तभी वास्तविक आत्मनिर्भरता और दीर्घकालिक शांति संभव हो सकेगी।

संदर्भ :

अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय प्रैक्टिस कनेक्ट. (2020). *जनजातीय संघर्ष क्षेत्रों में शिक्षा और शांति निर्माण: बस्तर और सुकमा से सीख*. अज़ीम प्रेमजी यूनिवर्सिटी प्रेस. https://practiceconnect.azimpremjiuniversity.edu.in/education-and-conflict-zones

उपहॉफ, एन. (1992). *लोकल इंस्टीट्यूशन्स एंड पार्टिसिपेशन फॉर सस्टेनेबल डेवलपमेंट*. इंटरनेशनल इंस्टीट्यूट फॉर एनवायरनमेंट एंड डेवलपमेंट.

ऑल स्टडी जर्नल. (2022). *जनजातीय समुदायों की सामाजिक-सांस्कृतिक गतिशीलता: मध्य भारत का तुलनात्मक अध्ययन*. ऑल स्टडी जर्नल ऑफ सोशल साइंसेज, 4(2), 75–89. https://www.allstudyjournal.com/archives/2022.v4.i2.B.775

कबीयर, एन. (1999). *रिसोर्सेज, एजेंसी, अचीवमेंट्स: रिफ्लेक्शंस ऑन द मेज़रमेंट ऑफ वीमेंस एम्पावरमेंट*. डेवलपमेंट एंड चेंज, 30(3), 435–464.

कुमारी, एस., एवं गुप्ता, एस. के. (2021). *शिक्षा एवं सामाजिक-आर्थिक सहभागिता के माध्यम से जनजातीय महिलाओं का सशक्तिकरण*. जर्नल ऑफ एडवांसेज इन सोशल रिसर्च एंड एजुकेशन, 3(4), 45–60. https://ignited.in/index.php/jasrae/article/view/16170

कूजुर, आर. (2019).भारत में जनजातीय विकास और संघर्ष. *जर्नल ऑफ सोशल एंड इकोनॉमिक डेवलपमेंट*, 21(2), 345–360.

गलटूँग, जे. (1969).हिंसा, शांति और शांति अनुसंधान. *जर्नल ऑफ पीस रिसर्च*, 6(3), 167–191.

गवर्नमेंट ऑफ इंडिया. (2011).*भारत की जनगणना 2011: प्राथमिक जनगणना सारणी*. नई दिल्ली: भारत सरकार, रजिस्ट्रार जनरल एवं जनगणना आयुक्त कार्यालय.

गुप्ता, आर., एवं बिलास, एस. (2022). *सोनभद्र जनपद में अनुसूचित जनजातियों की सामाजिक-आर्थिक स्थितियाँ: एक विश्लेषणात्मक प्रतिवेदन*. नेशनल जियोग्राफिकल जर्नल ऑफ इंडिया, 68(3), 234–245. https://ngji.in/index.php/ngji/article/view/395

चेम्बर्स, आर., एवं कॉनवे, जी. (1992). *सस्टेनेबल रूरल लाइवलीहुड्स: प्रैक्टिकल कॉन्सेप्ट्स फॉर द 21st सेंचुरी*. इंस्टीट्यूट ऑफ डेवलपमेंट स्टडीज़.

ज़ाक्सा, वी. (2001). *ट्राइबल्स एंड द डेवलपमेंट डिबेट: कॉन्टिन्युइटीज़ एंड चेंज*. इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, 36(51), 4591–4594.

जाक्सा, वी . (2014). *राज्य, समाज और जनजातियाँ*. नई दिल्ली: पियरसन एजुकेशन.

डीनिंगर, के., एवं लियू, वाई. (2013). *इकोनॉमिक एंड सोशल इम्पैक्ट्स ऑफ एन एम्प्लॉयमेंट गारंटी स्कीम*. जर्नल ऑफ डेवलपमेंट स्टडीज़, 49(10), 1–15.

थॉर्नटन, पी., एवं यंग, टी. (2006). *सोशल एक्सक्लूज़न एंड इंक्लूज़न: अ रिव्यू ऑफ द लिटरेचर*. यूनिवर्सिटी प्रेस.

दास, वी. (2012). *सामाजिक पीड़ा और राजनीतिक हिंसा*. बर्कले: यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफ़ोर्निया प्रेस.

द्रेज़, जे., एवं सेन, ए. (2013). *एन अनसर्टेन ग्लोरी: इंडिया एंड इट्स कॉन्ट्राडिक्शंस*. प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस.

नीति आयोग. (2020). *समावेशी विकास की रणनीति*. नई दिल्ली: नीति आयोग, भारत सरकार.

पडेल, एफ. एण्ड दास, एस. (2010). *इस धरती से बाहर: पूर्वी भारत के आदिवासी और एल्युमिनियम कार्टेल*. नई दिल्ली: ओरिएंट ब्लैक्सवान.

पुटनम, आर. डी. (1993). *मेकिंग डेमोक्रेसी वर्क: सिविक ट्रेडिशंस इन मॉडर्न इटली*. प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस.

फेरनेनडिस, डब्ल्यू. (2008).*भारत में जबरन विस्थापन: नीतियाँ और व्यवहार*. नई दिल्ली: इंडियन सोशल इंस्टिट्यूट.

बार्धन, पी. (1984). *लैंड, लेबर एंड रूरल पॉवर्टी: एसेज़ इन डेवलपमेंट इकोनॉमिक्स*. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

बेतेई, ए . (1998). *भारत में जनजातियाँ, कृषक और सामाजिक परिवर्तन*. नई दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

भारत सरकार, जनजातीय कार्य मंत्रालय. (2018). *वार्षिक प्रतिवेदन*. नई दिल्ली: भारत सरकार.

भारत सरकार, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विभाग. (2023). *जनजातीय आजीविका के लिए एसटीआई-हब हस्तक्षेप मॉडल*. विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी मंत्रालय. https://www.indiascienceandtechnology.gov.in/node/170648

भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद. (2019). *जनजातीय आजीविका सुधार में तकनीकी हस्तक्षेप की भूमिका: एक केस अध्ययन*. इंडियन हॉर्टिकल्चर, 56(7), 78–87. https://epubs.icar.org.in/ejournal/index.php/IndHort/article/view/88433

महापात्र, आर . (2016). विकास, विस्थापन और जनजातीय आजीविका. *सोशल चेंज, 46*(3), 353–370.

योजना आयोग. (2013).*जनजातीय विकास पर कार्य समूह की रिपोर्ट*. नई दिल्ली: योजना आयोग, भारत सरकार.

शर्मा, पी. (2025). *भारत में अनुसूचित जनजातियों की शैक्षिक स्थिति एवं चुनौतियाँ*. एनसीईआरटी एजुकेशन जर्नल, 14(1), 12–29. https://ejournals.ncert.gov.in/index.php/bas/article/view/3137

शर्मा, जी.आर. (2007).*विंध्य क्षेत्र की प्रागैतिहासिक शैलकला*. इलाहाबाद: विश्वविद्यालय प्रकाशन.

शोध उत्कर्ष प्रकाशन. (2023). *भारत में अनुसूचित जनजातियों के संवैधानिक संरक्षण: एक विधिक परिप्रेक्ष्य*. इंटरनेशनल जर्नल ऑफ ट्राइबल स्टडीज़, 1(3), 110–128. https://shodhutkarsh.com/wp-content/uploads/2023/10/3rd-Edition-Vol.-01-No.-03.pdf

सरनिया, एम. एम.(2000).विस्थापन और पुनर्वास: जोखिम, सुरक्षा उपाय और पुनर्निर्माण का मॉडल. *इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली*, 35(41), 3659–3678

सिंह, के.एस. (2014).*भारत में जनजातीय समाज*. नई दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

सुंदर, एन . (2016). *जलता हुआ वन: माओवादियों के विरुद्ध भारत का युद्ध*. नई दिल्ली: जगरनॉट बुक्स.

सेन, ए. (1999). *डेवलपमेंट ऐज़ फ्रीडम*. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

सेरनिया, एम. (1997). *द रिस्क एंड रिकंस्ट्रक्शन मॉडल फॉर रिसेटलिंग डिस्प्लेस्ड पॉपुलेशंस*. वर्ल्ड डेवलपमेंट, 25(10), 1569–1587.

स्कून्स, आई. (1998). *सस्टेनेबल रूरल लाइवलीहुड्स: ए फ्रेमवर्क फॉर एनालिसिस*. इंस्टीट्यूट ऑफ डेवलपमेंट स्टडीज़, वर्किंग पेपर 72.

स्टीवर्ट, एफ. (2002). *हॉरिजॉन्टल इनइक्वैलिटीज: अ नेग्लेक्टेड डाइमेंशन ऑफ डेवलपमेंट*. वर्किंग पेपर, क्वीन एलिज़ाबेथ हाउस, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी.

आयुर्वेदिक चिकित्सा परंपरा में अष्टांगसंग्रह का शास्त्रीय योग

The Classical Contribution of the Ashtanga Sangraha in the Ayurvedic Medical Tradition.

मयंक त्रिपाठी*
india.mayanktripathi@gmail.com

डॉ. प्रीतम कुमार†
dr.preetam.kumar@gmail.com

सार

आयुर्वेद भारत की सबसे पुरानी और जीवन्त चिकित्सा परंपराओं में से एक है। इसके विकास में अनेक ग्रंथों की भूमिका रही है, लेकिन जिन ग्रंथों ने इस परंपरा को सबसे गहराई से प्रभावित किया, उनमें आचार्य वाग्भट रचित अष्टांगसंग्रह का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। इस ग्रंथ की सबसे बड़ी विशेषता यह है, कि वाग्भट ने चरक और सुश्रुत जैसे पूर्ववर्ती आचार्यों की बातों को तो सहेजा ही, लेकिन कई जगह अपनी तरफ से बिलकुल नई बातें भी जोड़ीं हैं। कफ के भेदों का नामकरण हो, शस्त्रों की नई गणना हो, स्वर्णभस्म के प्रयोग का पहला विधान हो, या ऋतुसन्धि में रोग उत्पत्ति की बात हो, ऐसी अनेक बातें हैं जो वाग्भट से पहले कहीं नहीं मिलतीं। इस शोध लेख में अष्टांगसंग्रह के इन्हीं मौलिक योगदानों को विस्तार से परखने का प्रयास किया गया है, ताकि इस ग्रंथ की असली शास्त्रीय मूल्य को ठीक से समझा जा सके।

बीजशब्द (Keywords)-

अष्टांगसंग्रह, वाग्भट, आयुर्वेद, शास्त्रीय योगदान, चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता, दोष-धातुसिद्धान्त, कफभेद, औषधि वर्गीकरण, तन्त्रयुक्ति, रसायन, शल्यशास्त्र, ऋतुसन्धि, रोगपरीक्षा, स्वर्णभस्म, पारद, शिवागुटिका

भूमिका

आयुर्वेद की शास्त्रीय परंपरा को समझना हो तो उन ग्रंथों को देखना जरूरी है जिन्होंने इस विद्या को ढाँचा प्रदान किया। आमतौर पर आयुर्वेद के ग्रंथों को बृहत्त्रयी और लघुत्रयी में रखा जाता है। बृहत्त्रयी में चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता और अष्टांगहृदय गिने जाते हैं, और लघुत्रयी में माधवनिदान, शारंगधरसंहिता तथा भावप्रकाश। अष्टांगसंग्रह को कुछ विद्वान बृहत्त्रयी के बराबर का दर्जा देते हैं, क्योंकि इसका फलक बहुत विस्तृत है और विषयवस्तु किसी भी बड़े ग्रंथ से कम नहीं। इस ग्रंथ को लिखने वाले आचार्य वाग्भट हैं। उनके ठीक-ठीक काल को लेकर विद्वानों में मतभेद रहा है, पर अधिकतर लोग उन्हें छठी-सातवीं शताब्दी ईस्वी के आसपास मानते हैं। वाग्भट ने अपनी रचना में गद्य और पद्य दोनों का मिलाजुला प्रयोग किया है। यह चरकसंहिता की गद्य प्रधानता और अष्टांगहृदय की पद्यप्रधानता दोनों से अलग है। ग्रंथ में छह स्थान हैं, जिसमे सूत्रस्थान, शारीरस्थान, निदानस्थान, चिकित्सास्थान, कल्पस्थान और उत्तरतन्त्र है। इसमें आयुर्वेद के आठों अंगों को समेटा गया है। इसमें 150 अध्याय और लगभग 13000 श्लोक हैं, जो गद्य पद्यात्मक रूप में है। इसके प्रथम स्थान में चिकित्साशास्त्र की विधि के साथ विद्यार्थियों को अध्ययन के तरीके पर चर्चा, दिन और ऋतु प्रभाव की जानकारी, नाना प्रकार की भोजन

* **शोधार्थी, प्राचीन इतिहास विभाग, के. एन. पी. जी. कॉलेज ज्ञानपुर भदोही**
सम्बद्ध- महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ वाराणसी

† **सहायक प्राध्यापक, प्राचीन इतिहास विभाग, के. एन. पी. जी. कॉलेज ज्ञानपुर भदोही**
सम्बद्ध- महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ वाराणसी

सम्बन्धी जानकारी, विषमय भोजन की चर्चा के साथ राजाओं को ऐसे भोजन से सचेत रहने का निर्देश है, द्वितीय स्थान में मानव शरीर रचना, गर्भवती स्त्री को होने वाले रोगों की जानकारी, तृतीय स्थान में ज्वर, मधुमेह, स्नायुरोग आदि के वर्णन, चतुर्थ स्थान में अर्श, अश्मरी, पथ्यापथ्य व्यवस्था, पंचम भाग में पंचकर्म चिकित्सा विधि का विशेष वर्णन है, अंतिम भाग में शल्य तंत्र, शालाक्य तंत्र, योनिव्यापद, बाजीकरण का विस्तार से व्याख्या है। वाग्भट की सबसे बड़ी विशेषता यह रही कि उन्होंने पुराने आचार्यों का सम्मान करते हुए भी अपनी बात कहने में कोई संकोच नहीं किया। जहाँ उन्हें लगा कि कोई बात अधूरी है या कुछ नया जोड़ा जा सकता है, वहाँ उन्होंने खुलकर अपना मत रखा। यही चीज इस ग्रंथ को एक साधारण संकलन से ऊपर उठाकर एक मौलिक शास्त्रीय कृति बना देती है। इस शोध लेख पर अध्ययन के पीछे एक खास वजह है। आम तौर पर देखा जाता है, कि वाग्भट के दोनों ग्रंथों में से अष्टांगहृदय को ज्यादा पढ़ा और पढ़ाया जाता है, क्योंकि वह संक्षिप्त है, और पद्यबद्ध होने के कारण याद रखने में आसान है। इसकी लोकप्रियता के चलते अष्टांगसंग्रह कुछ हाशिये पर चला गया है, और उसके मौलिक योगदानों पर उतना ध्यान नहीं दिया गया जितना दिया जाना चाहिए। जबकि सच्चाई यह है कि अष्टांगसंग्रह की रचना बहुत सरल और स्पष्ट भाषा में हुई है, गद्य-पद्य के मिले-जुले प्रयोग ने इसे इतना सुबोध बना दिया है, कि इसे समझने के लिए किसी अलग टीका की जरूरत नहीं पड़ती। ग्रंथ अपने आप में इतना साफ है कि पढ़ने वाला सीधे मूल पाठ से ही अर्थ ग्रहण कर सकता है।

इस शोध लेख का उद्देश्य यह है, कि अष्टांगसंग्रह के उन शास्त्रीय योगदानों को सामने लाया जाए जो अष्टांगहृदय के लोकप्रियता की छाया में दब गए हैं, ताकि इस ग्रंथ के उपादेय का न्यायोचित मूल्यांकन हो सके।

साहित्य समीक्षा

अष्टांग ग्रंथो के प्रणयन के पूर्व आयुर्वेद का सबसे प्राचीन ग्रंथ चरकसंहिता है। इसमें कायचिकित्सा को केंद्र में रखकर रोगों के कारण, पहचान और इलाज की लम्बी-चौड़ी चर्चा है। मूल रचना अग्निवेश की थी, जिसे चरक ने प्रतिसंस्करित किया, बाद में दृढ़बल ने इसके कुछ अपूर्ण हिस्सों को पूरा किया। दूसरा बड़ा ग्रंथ सुश्रुतसंहिता है, जो शल्यचिकित्सा का बुनियादी आधार माना जाता है। सुश्रुत ने इसमें चीरफाड़, शस्त्रकर्म और क्षारकर्म पर बहुत गम्भीर बातें लिखीं। इनके अलावा भेलसंहिता, काश्यपसंहिता और हारीतसंहिता जैसे ग्रंथ भी हैं, हालाँकि ये पूरे नहीं मिलते। इन सारे ग्रंथों को पढ़कर, उनसे सीखकर वाग्भट ने अष्टांगसंग्रह की रचना की। इस ग्रन्थ के निरीक्षण से पता लगता है, कि वाग्भट ने पूर्ववर्ती संहिताकारो की जानकारियों का सिर्फ संकलन नहीं अपितु उन्हें जहाँ जरूरत लगी, अपनी समझ और अनुभव से नई बातें भी डालीं। यह बात तन्त्रयुक्तियों के प्रसंग से भी साफ होती है। सुश्रुतसंहिता और कौटिल्य के अर्थशास्त्र में 32 तन्त्रयुक्तियाँ मिलती हैं, लेकिन चरकसंहिता के दृढ़बलपूरित भाग में और अष्टांगसंग्रह में दोनों जगह 36 तन्त्रयुक्तियाँ गिनाई गई हैं। इससे एक बात यह भी पता चलती है, कि वाग्भट का समयकाल दृढ़बल के बाद का रहा होगा। कुल मिलाकर अष्टांगसंग्रह सिर्फ एक संकलन नहीं है, बल्कि यह एक ऐसे आचार्य की रचना है, जिसने पूर्व ज्ञान की परिधि से आगे बढ़कर नवीनता का समावेश किया है।

अष्टांगसंग्रह का शास्त्रीय योगदान

अष्टांगसंग्रह में प्राचीन आर्ष-संहिताओं चरक और सुश्रुत का अनुसरण तो किया गया है, लेकिन इसके बावजूद इस ग्रंथ में वाग्भट के अपने बहुत से मौलिक तथ्य और विचार साफ तौर पर झलकते हैं। इन योगदानों का विस्तार काफी बड़ा है, और ये आयुर्वेद की लगभग हर शाखा को छूते हैं। सबसे पहले रोगों के वर्णन पर ध्यान दे तो यह अष्टांगसंग्रह में खासा विस्तार से है, और उनका वर्गीकरण भी विशिष्ट ढंग का है। रोग की पहचान के लिए वाग्भट ने चार साधन बताए, जिसमे आगम (यानी शास्त्र का उपदेश), प्रत्यक्ष (खुद देखना), प्रश्न (रोगी से पूछना) और अनुमान (तर्क से निकालना) है।[1] शल्यशास्त्र में वाग्भट ने सुश्रुत की बस नकल नहीं की। सुश्रुत ने जहाँ केवल 10 शस्त्रों की गिनती की थी, वाग्भट ने 26 शस्त्रों का नाम लिया।[2] यानी 16 शस्त्र ऐसे हैं जो वाग्भट ने अपनी तरफ से जोड़े, यह शल्यविद्या के विकास की दृष्टि से बहुत मायने रखता है। ऐसे ही औषधि विज्ञान में भी वाग्भट ने कई नई बातें कहीं। औषधियों का वर्गीकरण उन्होंने अनेक दृष्टिकोणों से किया और इसे बहुत विस्तार से लिखा।[3] हींग के गुणों का जैसा बारीक वर्णन अष्टांगसंग्रह में मिलता है, वह ध्यान खींचता है। वाग्भट ने वोष्काण के नाम से बुखारा को संबोधित किया, और बताया कि ईरान और तुर्किस्तान की तरफ की हींग सबसे अच्छी मानी जाती है।[4] गुग्गुल की बात करें तो इसे रसायन के तौर पर इस्तेमाल करने की बात पहले से चली आ रही थी, पर वाग्भट ने पहली बार यह चेतावनी

दी कि गुग्गुल का जरूरत से ज्यादा सेवन करने पर नपुंसकता हो सकती है।[5] यह जानकारी पुराने किसी ग्रंथ में नहीं है। दोष-धातु सिद्धान्त की बात करें तो वाग्भट ने एक बिलकुल नई दृष्टि दी। उन्होंने धातुओं की वृद्धि के लक्षणों को सम्बन्धित दोषों के लक्षणों के साथ जोड़कर देखा। मसलन, जब रस धातु बढ़ती है तो श्लेष्मविकार पैदा होते हैं, और जब रक्त धातु बढ़ती है तो पित्तविकार दिखाई देते हैं। वाग्भट ने इस बात को भी स्पष्टता से बताया कि हर धातु में कोई खास दोष स्थायी रूप से बसता है। वायु अस्थिधातु में रहता है, पित्त रक्त और स्वेद में रहता है, और बाकी धातुओं में श्लेष्मा की प्रधानता है।[6] इसके आगे वाग्भट ने यह भी समझाया कि दोषों के बढ़ने-घटने का सीधा असर धातुओं पर पड़ता है। दोष बढ़ें तो उनके उलटे गुण वाली धातुएँ घटती हैं, और दोष घटें तो उनसे जुड़ी धातुएँ भी कमजोर पड़ती हैं। पुरीष जैसे मलों का जब शरीर में अत्यधिक जमाव (रुकावट) होता है तो उनकी वृद्धि होती है, और जब वे शरीर से बाहर निकल जाते हैं (उत्सर्ग) तो उनका क्षय होता है।[7] इसी क्रम में आगे वाग्भट ने कहा कि धात्वाग्नि की मन्दता से धातुओं की वृद्धि और तीक्ष्णता से धातुओं का क्षय को स्पष्ट किया।[8] वाग्भट ने कफ के पाँच भेदों का नामकरण का मौलिक विवेचन प्रस्तुत किया है। उनके पूर्ववर्ती सुश्रुत ने पित्त के पाँच भेदों को नाम दिए थे, ठीक उसी तर्ज पर वाग्भट ने कफ के पाँच भेदों के नाम तय किए और उनके शरीर में स्थान भी निर्धारित किए। यह बात इससे पहले किसी संहिता में इस तरह नहीं मिलती, इसलिए इसे वाग्भट का मौलिक योगदान मानना चाहिए। सुश्रुत ने जो पञ्चमूल बताए थे, उनके ऊपर वाग्भट ने जीवनीय और मध्यम पञ्चमूल भी जोड़े और इस तरह कुल मिलाकर सात पञ्चमूलों का वर्णन किया। गणप्रकरण में उन्होंने वत्सकादि नाम से एक नया गण जोड़ा। कुछ पुराने गणों के नाम भी बदले, जैसे अश्वनादि को पथकादि कहा। ऋतुसन्धि का वर्णन करते हुए वाग्भट ने कहा कि रोग सम्भवतः ऋतुसन्धि के समय ही उत्पन्न होते हैं और इस तरह ऋतुसन्धि को काल-विभाग की दृष्टि से समझाना उनकी मौलिक देन है। इक्षुवर्ग के प्रसंग में वाग्भट ने बताया कि काश, शर और दर्भ के पत्तों से भी शर्करा तैयार होती है।[9] यह शर्करा गुणों में सामान्य शर्करा जैसी तो होती है, लेकिन इसमें कुछ खास बात है, इसमें तिक्त, मधुर और हल्का कषाय रस भी मिलता है। ऐसी शर्करा दाह, प्यास, उल्टी, मूर्च्छा, रक्तविकार और पित्तविकार को ठीक करने में काम आती है। मद्यवर्ग में द्राक्षासव का सबसे पहला उल्लेख वाग्भट ने ही किया है, यह भी उनकी मौलिक देन है। बौद्ध-सम्प्रदाय के सिद्ध योगों में से सर्वार्थसिद्ध नाम के अञ्जन का वर्णन भी अष्टांगसंग्रह में मिलता है, और यह आयुर्वेद-जगत के लिए इनका अपना योगदान है।

अन्न-प्रकरण में वाग्भट ने सविष अन्नों की जाँच के लिए कई तरीके बताए है, जिनमे अग्निपरीक्षण, स्वरूप-परीक्षण, धूम-परीक्षण, जान्तव-परीक्षण आदि हैं। एक बहुत अहम बात यह भी है, कि गरविष में स्वर्णभस्म का प्रयोग करने का विधान पहली बार अष्टांगसंग्रह में ही दिया गया जो रसशास्त्र के नजरिये से यह एक बड़ी बात है। भोजन के पचने को लेकर वाग्भट ने एक सीधी और व्यावहारिक बात लिखी कि सामान्य भोजन का पाचन चार याम यानी करीब बारह घंटे में होता है, जबकि औषध का पाचन दो याम यानी करीब छह घंटे में पूरा हो जाता है।[10] यह जानकारी चिकित्सा करने वालों के लिए बेहद उपयोगी है। उत्तरतन्त्र के 38वें और 39वें अध्यायों में स्त्री और पुरुष दोनों के यौन विकारों को वाग्भट ने स्वतन्त्र और विस्तारपूर्वक लिखा है। कर्णस्राव के बारे में वाग्भट ने लिखा कि कान से जो स्राव बहता है, वह शाव अर्थात पूय (मवाद) है, और जहाँ-जहाँ यह लगता है वहाँ-वहाँ पक जाता है, इस तरह की बारीक टिप्पणी से पता चलता है, कि वाग्भट की रुचि संकलन के साथ नए अन्वेषण में थी।[11] 'दिव्यावदान' नाम के बौद्ध ग्रन्थ में सम्राट अशोक को एक ऐसा गुदा रोग होने की बात आती है, जिसकी वजह से उनके मुँह से बदबू आती थी।[12] वाग्भट ने भी ऊर्ध्वगुदा रोग का उल्लेख अपने ग्रंथ में किया है।[13] बालचिकित्सा के प्रसंग में काश्यपसंहिता और सुश्रुतसंहिता में 9 बालग्रहों का जिक्र मिलता है, पर वाग्भट ने 12 बालग्रह गिनाए। जो तीन ग्रह अतिरिक्त हैं, वे वाग्भट के अपने बताए हुए हैं, यह उनकी मौलिक देन है। वाग्भट ने 36 तन्त्रयुक्तियों का वर्णन किया। सुश्रुतसंहिता और कौटिल्य के अर्थशास्त्र में 32 तन्त्रयुक्तियाँ हैं, जबकि चरकसंहिता के दृढ़बलपूरित अंश में भी 36 तन्त्रयुक्तियाँ मिलती हैं। इससे यह भी पता चलता है कि वाग्भट का काल दृढ़बल के बाद रहा होगा। चिकित्सा-प्रकरण में चिकित्सा-विधान का विशद वर्णन है। वाग्भट ने पित्त को रक्त का ही विकार माना है, उनके अनुसार 'पित्तं रक्तस्य विकृते' तथा 'प्रभवत्यसृजः स्थानात् प्लीहतो यकृतश्च तत्'।[14] कामला रोग के बारे में भी एक नई बात यह कही कि, कामला बिना पाण्डु रोग के भी हो सकता है, यह चिकित्सा की दृष्टि से एक अलग समझ है। नेत्र रोगों की बात करें तो वाग्भट ने 94 नेत्र रोगों की गणना की, जो पहले की संहिताओं से ज्यादा है।[15] कई औषधियों के नाम भल्लातक, लशुन, पलाण्डु, गुग्गुल, शिलाजीत, स्वर्णमाक्षिक, पिप्पली, सोमराजी रसायन द्रव्यों के रूप में उल्लेखित हैं। शिवा-गुटिका अष्टांगसंग्रह का अपना योग है, जो किसी पहले के ग्रंथ में नहीं मिलता। पारद के अन्तःप्रयोग का विधान भी इसी ग्रंथ से शुरू हुआ, जो आगे चलकर रसशास्त्र की

एक पूरी अलग विधा बन गया।[16] अष्टांगसंग्रह में कौटिल्य के अर्थशास्त्र से कुछ योगों को भी उद्धृत किया गया है। अगदतन्त्र में हरताल-विष और धतूर-विष का उल्लेख भी है। अनेक आचार्यों के मत इसमें दिए गए हैं। खास बात यह है कि विषों का चिकित्सा के काम में उपयोग करने की बात सबसे पहले वाग्भट ने ही लिखी और यह उनकी एक बड़ी मौलिक देन है।[17] रसायन और वाजीकरण का वर्णन भी अष्टांगसंग्रह में बहुत विशद है। सिद्ध-सम्प्रदाय और बौद्ध-सम्प्रदाय के अनुसार पादतोपादि का भी उल्लेख मिलता है।[18] एक ऐसी सम्भावना है, कि गुप्तकाल की विलासिता और ऐश्वर्य की जीवन शैली के कारण काश्यप ने बाजार, इमारतगर, क्रीडाभूमि, शातुराल्य जैसी सुख-सुविधाओं से जुड़ी जगहों से उत्पन्न होने वाले रोगों का निर्देश किया था, और वाग्भट ने भी इस दृष्टिकोण को अपने ग्रंथ में जगह दी।

अंततः समष्टिगत अन्वेषण के उपरांत प्राप्त तथ्य यह है, कि वाग्भट ने केवल अपने पूर्ववर्ती आचार्यों चरक और सुश्रुत का अनुसरण नहीं किया, बल्कि अपने मौलिक विचारों को भी यथोचित ढंग से विश्लेषित किया है। यही बात अष्टांगसंग्रह को एक संकलन ग्रंथ से ऊपर उठाकर एक स्वतन्त्र शास्त्रीय कृति का दर्जा देती है।

निष्कर्ष

इस शोध लेख में अष्टांगसंग्रह के शास्त्रीय योगदान को जितना विस्तार से देखा गया, उससे एक बात बिलकुल साफ हो जाती है, वाग्भट सिर्फ संकलनकर्ता नहीं थे, वे एक स्वतन्त्र और मौलिक सोच रखने वाले शास्त्रकार थे। उन्होंने आयुर्वेद की लगभग हर शाखा में कुछ न कुछ नया जोड़ा। कफ के पाँच भेदों का नामकरण, 26 शस्त्रों की गणना, स्वर्णभस्म प्रयोग का पहला विधान, शिवा-गुटिका जैसा नया योग, गुग्गुल के अधिक सेवन से होने वाले नुकसान की पहली चेतावनी, ऋतुसन्धि में रोगोत्पत्ति की बात, द्राक्षासव का सर्वप्रथम उल्लेख, 12 बालग्रहों की गणना, विषों का चिकित्सा में उपयोग, पारद का अन्तःप्रयोग, और 36 तन्त्रयुक्तियों का वर्णन आदि ये सारी बातें वाग्भट की ऐसी देन हैं, जो उन्हें एक मौलिक शास्त्रकार के रूप में स्थापित करती हैं। इस ग्रंथ का महत्त्व इसलिए भी ज्यादा है, क्योंकि इसने चरक और सुश्रुत के बीच जो विषयगत फासला था, उसे पाटने का काम किया। वाग्भट ने दोनों धाराओं को एक ही ग्रंथ में मिलाकर आयुर्वेद के अध्ययन को ज्यादा पूर्ण और सुगम बनाया। आज जब आयुर्वेद को दुनिया के सामने प्रस्तुत करने की बात हो रही है, तब अष्टांगसंग्रह जैसे ग्रंथों पर गहराई से काम करना और भी जरूरी हो जाता है। भोजन-पाचन का समय, औषध-पाचन का समय, रोग-परीक्षा के चार प्रमाण इत्यादि ये ऐसी व्यावहारिक बातें हैं, जो आज के चिकित्साकर्म में भी उतनी ही उपयोगी हैं जितनी तब थीं।

आखिर में यह कहना ठीक होगा कि, अष्टांगसंग्रह आयुर्वेद के इतिहास में वह कड़ी है, जिसने पुराने ज्ञान को सँभालते हुए कई नई दिशाएँ दिखाईं। इस ग्रंथ पर आगे और शोध होना चाहिए, ताकि वाग्भट के मौलिक योगदानों को वह पहचान मिले जिसके वे हकदार हैं, और आयुर्वेद की यह गहरी परंपरा आने वाली पीढ़ियों तक बनी रहे।

फुटनोट (Footnotes)

1. अष्टांगसंग्रह, सूत्रस्थान 22.17
2. अष्टांगसंग्रह, सूत्रस्थान 34.22
3. अष्टांगसंग्रह, सूत्रस्थान 12.3-11
4. अष्टांगसंग्रह, सूत्रस्थान 12.66-67
5. अष्टांगसंग्रह, उत्तरस्थान 49.178
6. अष्टांगसंग्रह, सूत्रस्थान 19.6-12, 13
7. अष्टांगसंग्रह, सूत्रस्थान 19.6-12, 13

8. अष्टांगसंग्रह, सूत्रस्थान 19.16
9. अष्टांगसंग्रह, सूत्रस्थान 6.89
10. अष्टांगसंग्रह, सूत्रस्थान 11.61
11. अष्टांगसंग्रह, उत्तरतन्त्र 21.3
12. Charles Allen, *Ashoka: The Search for India's Lost Emperor* (New York: Overlook Press, 2013), 193.
13. अष्टांगसंग्रह, उत्तरस्थान 25.62
14. अष्टांगसंग्रह, निदानस्थान 3.5-6
15. अष्टांगसंग्रह, उत्तरस्थान 21|3
16. अष्टांगसंग्रह, उत्तरस्थान 49|245
17. अष्टांगसंग्रह, उत्तरस्थान 48
18. अष्टांगसंग्रह, उत्तरस्थान 50|66-67

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची (References)

1. वाग्भट. (2021). अष्टांगसंग्रह (हिन्दी व्याख्या सहित) (कविराज अत्रिदेव गुप्त, संप.). वाराणसी: चौखम्बा कृष्णदास अकादमी.
2. चरक संहिता. (2013). (वैद्य जदवजी त्रिकमजी आचार्य, संप.). वाराणसी: चौखम्बा ओरिएण्टालिया प्रकाशन.
3. चरक संहिता. (2016). (पं. हरिशचन्द्र कुशवाहा, संप.) (2 खण्ड). वाराणसी: चौखम्बा ओरिएण्टालिया प्रकाशन.
4. सुश्रुत संहिता. (2017). (के. के. ठकराल, संप.) (3 खण्ड). वाराणसी: चौखम्बा ओरिएण्टालिया.
5. अष्टांग हृदयम्. (2017). (ब्रह्मानन्द त्रिपाठी, व्याख्याकार). वाराणसी: चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन.
6. अष्टांग हृदयम्. (2016). (कविराज अत्रिदेव गुप्त, संप.). वाराणसी: चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन.
7. शर्मा, पी. वि. (2017). आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास. वाराणसी: चौखम्बा ओरिएण्टालिया.
8. म्यूलनबेल्ड, गेरिट जान. (1999–2002). भारतीय चिकित्सा साहित्य का इतिहास (खण्ड प्रथम–द्वितीय). लेइडेन: ब्रिल.
9. शर्मा, हेमराज (संप.). (2008). काश्यपसंहिता (वृद्धजीवकीय तन्त्र). वाराणसी: चौखम्बा संस्कृत संस्थान.
10. तिवारी, श्यामलेश कुमार. (2017). कौटिल्य अर्थशास्त्र. वाराणसी: चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन.
11. Neil, R. A., & Cowell, E. B. (2021). The Divyavadana: A collection of early Buddhist legends (Sanskrit ed.). ग्यान पब्लिकेशन.
12. गुप्ता, भगवत राम. (2015). आयुर्वेद का प्रामाणिक इतिहास. वाराणसी: चौखम्बा संस्कृत सीरीज प्रकाशन.
13. Allen, C. (2013). Ashoka: The search for India's lost emperor. New York, NY: Overlook Press.

IMPORTANT BUDDHIST MONASTERIES IN LADAKH

DR. NEERU CHOUDHARY*
drneeruchoudhary777@gmail.com

Ladakh ("Land of High Passes") is a region in the Indian state of Jammu and Kashmir that currently extends from the Glacier in the Karakoram range to the main Great Himalayas to the south, inhabited by people of Indo-Aryan and Tibetan[1].

It is one of the most lightly populated regions in Jammu and Kashmir and its culture and history are closely related to that of Tibet. Ladakh is renowned for its remote mountain beauty and culture. Ladakh is a harsh land; its bleak mountains offer few physical comforts to the traveller.[2] In winter all is white; on a grey day the earth melts into the sky above, but on a sunny day the stunning quality of the untouched snow standing totally against the deep blue sky is unforgettable. In summer the trees come apart into life and greenery abounds, but the mountains are still royal in their power and spirituality. *Ladakh is also known as Little Tibet because of its religious, cultural and architectural resemblance to Tibet.*

Ladakh is an important Buddhist Centre. During the ancient Kushan Empire, Buddhism came to Ladakh from Kashmir. Ladakh not only remained Buddhist but also spread Buddhism to Tibet. The 77% population of Ladakh is Buddhist.

The entire valley of Ladakh has many famous monasteries which constitute the main tourist attraction[3]. The monasteries in Leh contain rich collections of Buddhist artefacts like thankas, murals, sculptures and scriptures. The most exiting aspect of these monasteries is their locations. Most of the monasteries are located on the hill tops in isolation surrounded by the natural landscape while overlooking the settlements below.

A monastery is a building or complex of buildings comprising the domestic quarters and workplaces of monastics, monks or nuns, whether living in communities or alone (hermits).[4] A monastery generally includes a place reserved for prayer which may be a chapel, church, or temple, and may also serve as an oratory. Buddhist monasteries are known as viharas in Pali. There are so many beautiful Buddhist monasteries in Ladakh with high altitude. These monasteries in Ladakh are truly a living heritage of the Buddha. The most important monasteries in Ladakh are Alchi monastery, Thiksey monastery, Hemis Gompa, Likir monastery, Shey monastery, Spituk monastery, Lamayuru monastery, and so on.

ALCHI MONASTERY:

Alchi monastery is the oldest Buddhist learning centre; it is one of the commendably built monastery in Ladakh, located 70 kilometres from the west of Leh on the banks of the Indus River, it

* **Asst. Professor (contractual), Department of Buddhist Studies, University of Jammu, Jammu-6**

is also the largest and most famous of the gompas built by Tibetan translator Rinchen Zangpo[5] in the middle of the 12th century. With the lack of a kingdom, he appointed four families to look after the monastery till the 15th century when it was taken over by the Likir Monastery.

Different from other monasteries, it is built on flat ground instead of on a hilltop. It has three main structures. The Du-Khang is the assembly hall and the largest part; the Sum-tsek is a three-storied structure with a four-armed statue of the Bodhisattva occupying two storeys with figures of Maitreya Buddha, Avalokiteshvara and Manjushri on the ground floor; the third structure is Jampe Lhakhang, a temple of Manjushri. This temple also has a sculpture and painting of Rinchen Tsangpo.

Decorated with bright colours and intricately made statues of Lord Buddha, it takes approximately two hours to completely admire the beauty of these monasteries in Ladakh. An interesting and fun fact is that parts of Bollywood hit like Dil Se and Tashan were shot here at Alchi.

HEMIS MONASTERY:

The Hemis Monastery located around 45 km towards the south-east of the main city of Leh. It is one of the largest and most famous monasteries belonging to the Drukpa or Dragon order. The monastery houses an amazing collection of the age-old relics such as the idol of Lord Buddha made up of copper gilt, gold and silver stupas and holy thangkas (religious painting), making it one of the richest monasteries in Ladakh.

The monastery founded by the first manifestation Stagsang Raspa Nawang Gyatso in 1630, and when it was named Changchub Samling, the small Buddhist community was born here. This monastery has amazing collections of the age-old relics such as the idol of Lord Buddha made of copper gilt, gold and silver stupas. Being such a majestic monastery, it attracts visitors from various corners of the world,[6] especially during its annual festival known as the Hemis Festival.

In this festival there is a holy celebration of birth anniversary of Guru Padmasambhava held on the 9th and 10th day of the 5th month of the Tibetan calendar. In the celebrations of this festival monks put up dance performances wearing colourful dresses and clearly the enchanting sacred mask dance. It is held on the 9th and 10th day of the 5th month of the Tibetan calendar.

THIKSEY MONASTERY:

The Thiksey monastery is one of the most beautiful monastery in Ladakh and belongs to the Gelukpa order of Buddhism. It is located about 17 kilometres south of Leh.The monastery was first built at Stakmo by Sherab Zangpo[7]. Later the nephew of Sherab Zangpo, Paldan Sherab, founded the Thiksey Gompa on a hilltop to the north of the Indus River in the year 1430 A.D.

There are many holy shrines inside the monastery of which the famous one is the Lakhang Nyerma, dedicated to the Goddess Dorje Chenmo. When the shrine was constructed, it was one of the biggest of its time, but now only its relics can be seen in the premises of the monastery.

The monastery is now referred to as 'Mini Potala' of India as it resembles Potala Palace in Lhasa, Tibet. There are 10 temples in this 12 storied monastery with the main prayer hall housing a 40-foot statue of Maitreya Buddha (future Buddha) seated on a lotus; it covers almost two floors of the monastery. Many precious and extraordinary statues, mini stupas and swords are on display inside the monastery.

The Thiksey Gustor Festival is held here during the 10th month of the Tibetan calendar during the months of October - November when the holy mask or Cham dances are performed by resident monks and nuns as a part of a ritual. Around 80 Monks resides here at present, spreading the aura of peace and deep Buddhism beliefs to the locals there.

LIKIR MONASTERY:

Likir monastery is known as Klu-Kkhyil gompa,[8] The name Likir means "The Naga - Encircled", representing the bodies of the two great serpent spirits, the Naga-rajas, Nanda and Taksako. It presumably, originally belonged to the early Kadampa order of Tibetan Buddhism. Likir Monastery was ordered to built by the 5th king of Ladakh Lhachen Gyalpo and was thus founded by Lama Duwang Chosje in 1065. The monastery is of the Gelugpa sect or Yellow Hat Sect of Tibetan Buddhism. Even today, Buddhist teachings and the three basic Pratimoksha disciplines are preached on the site. The monastery has two assembly halls, known as Dukhangs and the older one is located on the right of the central courtyard with six rows of seats for the lamas and a throne for the Head Lama of Likir. The Dukhangs contain statues of Bodhisattva, Amitabha, three large statues of Sakyamuni, Maitreya and Tsong Khapa, founder of the yellow-hat sect. The verandah has thangka paintings of the Guardians of the Four Directions and wheel of life mandala held by Yama and the courtyard has a large Jupiter tree, a rare species. The Dukhang contains glass-fronted bookcases holding the Kandshur and the Thandshur and two rolled-up thangkas hang from the beams close to entrance containing pictures of Sakyamuni and Likir's guardian divinity. The monastery is also a repository of old manuscripts, has a notable thangka collection and old costumes and earthen pots. Sitting on the roof is a 23-metre (75 ft) high gilded gold statue of Maitreya (the future) Buddha. It was completed in 1999

The monastery got its name as it is believed two serpent spirits, Nanda and Taksako guard it. The monastery also host to the annual festival held in the 12th month of the Tibetan Calendar from the 27th to the 29th of the month and this festival is celebrated with great pomp. The locals put up religious dance performances along with the monks who perform sacred rituals on these auspicious days

SHEY MONASTERY:

Shey being originally the capital of Ladakh was built in 1655 by Deldon Namgyal, the king of Ladakh. Located in the premises of the Shey Palace, it is believed to be the summer retreat of the royal family of Ladakh. Situated 16 km from the city of Leh, it is en route Thiksey and Hemis Monastery in Ladakh.

Currently, the palace now a monastery houses the largest Buddha statue made of gilded copper known as Shakyamuni Buddha[9], covering three floors of the building. In front of the statue

there is a large wax bowl with a flame that is continuously lit for a year after which it is replaced. The objective of burning the flame is to highlight the importance of integrity and spirituality to the tourists visiting the monastery

With beautiful murals and paintings adorning the walls, it's lower chapel has a library which is believed to have the largest collection of thangkas in Ladakh. As you walk up to the monastery, you'll also come across five Buddhas carved out of rock along the roadside. Close to the monastery is also the Druk Padma Karpo Institute, now renamed Rancho School after its feature in the Hindi movie 3 Idiots.

There are two festivals held at this monastery in Ladakh every year; Shey Stubla on the 30th day of the 1st months and Shey Ru-lo on the 10th day of the 7th month.

SPITUK MONASTERY:

Spituk monastery in Ladakh is located 8 km away from the main city of Leh, overlooking the gorgeous Indus River; this monastery in Ladakh was built and founded in the 11th century by Od-de, the older brother of Lha Lama Changchub[10]. Initially, the gompa used to run on the principals of the Kadampa school (Red Hat sect) but it later came into the fold of Gelugpa order (Yellow Hat sect).

Today, it is home to 100 monks as well as a huge statue of goddess Kali, which is shown to the public during the yearly Spituk festival. The most iconic feature of the monastery is the icons of Buddha and 5 thangkas sharing space with sculptures and mini chortens. There is a iunique collection of ancient masks, traditional arms and fine thangkas are found in this monastery.

In the modest upper of the hill there is a temple of Goddess Vajrabhairva. The statue of the goddess is kept covered and is unveiled only once during the Spituk Festival. The monastery plays host to the annual Spituk or Gustor Festival held in the 11th month of the Tibetan calendar, where the monks perform masked dances representing well over evil and stories depicting the life of Buddha.

LAMAYURU MONASTERY:

Lamayuru monastery is one of the oldest and largest monastery in Ladakh. It is sometimes pronounced by the old name-'Yung-Drung-Gompa' or the monastery of the 'mystic cross'. It was built at the same time as Alchi Monastery built [11]. It is located approximately 127 km from Leh on a steep mountain between Bodh Kharbu and Kha-La-Che. The monastery belongs to Red-Hat Sect of Buddhism. At its peak, the monastery housed 400 monks but nowadays there are only 50 inmates. About 150 monks reside in Lamayuru village.

This monastery was founded by Mahasiddha Acharya Naropa in the 11th century who came to the place for meditation. There are many legends associated with the construction of the monastery, one such predicted that the lake would be dried and a monastery would be constructed at its place. When the lake dried, Naropa found a dead lion there and chose to construct the first temple of Singhe Ghang (Lion Mound). The founder then constructed five buildings but only one exists today.

The monastery is famous for its rich wall paintings, a collection of thangkas, murals, scriptures and statues of different forms of Buddha and other deities. Every year on the 17th and the 18th day of the 5th month of the Tibetan lunar calendar, a holy masked dance is performed by the monks of the monastery.

CONCLUSION:

To conclude, it can be said that Ladakh is a land of magical mystery where glorious peaks reach up to the heavens, and the depth of religious passion in its spiritual monasteries is profound. The Indus Valley around Leh [12] in Ladakh has perhaps one of the greatest concentrations of monasteries anywhere in the world. *Monasteries* are the unique beauty of *Ladakh*. The Monasteries are historically and religiously important and hold the Buddhist heritage alive. The Monasteries are also known as Gompas, they run as educational and religious centres. The monasteries are world-renowned and attended by the both local and international travellers. The monasteries delight the visitors with the beautiful interior, incredible architecture - that is a mix of Buddhist and Tibetan styles. They also have a wonderful view as it is surrounded by snow-capped mountains, cold deserts, lakes, dreamlike glaciers, mountain passes and peaceful environment that offer religious prayer to attain peace of mind and purify one's soul.

REFERENCES:

1 Arora, R.C. *Kashmir, Ladakh and Gilgit*. Jay Kay Book House, 1940, pp. 156-157.

2 Sharma, Vidya Sagar. *Ladakh and Himalayas*. Anmol Publications Pvt. Ltd., 2001, p. 13.

3 Arora, R.C. *Kashmir, Ladakh and Gilgit*. Jay Kay Book House, 1940, p. 176.

4 Bapat, P.V. *2500 Years of Buddhism*. Ministry of Information and Broadcasting, Government of India, 1956, p. 162.

5 Gibbons, Bob, and Sian Pritchard-Jones. *Ladakh... Land of Magical Monasteries*. Pilgrims Publishing, 2006, p. 158.

6 Sharma, Vidya Sagar. *Ladakh and Himalayas*. Anmol Publications Pvt. Ltd., 2001, pp. 175-177.

7 Sharma, Vidya Sagar. *Ladakh and Himalayas*. Anmol Publications Pvt. Ltd., 2001, pp. 79-82.

8 Gibbons, Bob, and Sian Pritchard-Jones. *Ladakh... Land of Magical Monasteries*. Pilgrims Publishing, 2006, pp. 164, 167.

9 Gibbons, Bob, and Sian Pritchard-Jones. *Ladakh... Land of Magical Monasteries*. Pilgrims Publishing, 2006, p. 77.

10 Sharma, Vidya Sagar. *Ladakh and Himalayas*. Anmol Publications Pvt. Ltd., 2001, pp. 178-180.

11 Sharma, Vidya Sagar. *Ladakh and Himalayas*. Anmol Publications Pvt. Ltd., 2001, p. 174.

12 Shakspo, Nawang Tsering. *A Cultural History of Ladakh*. Centre of Research on Ladakh, 2012, p. 112.

नीरजा माधव की संवेदना दृष्टि : कोरोना उपन्यास के परिप्रेक्ष्य में

रुबी मौर्या*

rubimaurya637@gmail.com

सारांश:-

साहित्य संवेदनाओं का दर्पण है। यह केवल मनोरंजन ही नहीं करता, बल्कि सोचने और महसूस करने पर मजबूर भी करता है। 'कोरोना' उपन्यास एक ऐसी स्थिति को दर्शाता है जब पूरा समाज महामारी की चपेट में था उस समय न केवल स्वास्थ्य संकट ही, बल्कि आर्थिक, सामाजिक और मानसिक संकट भी बढ़ गया था। नीरजा माधव ने इस उपन्यास में महामारी के दौरान लोगों की संवेदनशीलता, परस्पर सहयोग, भय, अकेलापन और संघर्ष को बहुत यथार्थपारक ढंग से प्रस्तुत किया है। नीरजा माधव की संवेदना दृष्टि में मानवीय पहलू सबसे प्रमुख है। उन्होंने केवल बीमारी या डर का चित्रण ही नहीं किया, बल्कि यह दिखाया कि संकट के समय लोग अपने घर- परिवार, पड़ोसी और समाज के प्रति कितने जिम्मेदार और सहानुभूति पूर्ण बन सकते हैं। उदाहरण के लिए उपन्यास की पात्र मधुविद्या जो अपने निजी डर के बावजूद भी ऑफिस जाकर लोगों की मदद करती है। नीरजा माधव की संवेदना दृष्टि में समाज के प्रति हर वर्ग के लिए संवेदना है चाहे वह प्रवासी मजदूर हो या बच्चे, वृद्धओं, स्त्रियां या फिर पशु हो या जनता की रक्षा करने वाले कर्मचारी हो,सब के प्रति संवेदना प्रकट किया गया है। कोरोना के समय गरीब और मजदूर वर्ग को जो संकट झेलना पड़ा वह इस उपन्यास में बहुत संवेदन शील दृष्टि में प्रस्तुत किया गया है।

प्रस्तावना:-

मनुष्य मुलत: एक भावनात्मक प्राणी है उसकी सोच, व्यवहार और जीवन की दिशा उसकी संवेदनाओं से प्रभावित होती है। जब मनुष्य अपने भीतर के अनुभव विचारों और भावनाओं को शब्दों में व्यक्त करता है तो वही साहित्य बन जाता है। संवेदना साहित्य की आत्मा है। बिना संवेदना के साहित्य केवल शब्दों का समूह बनाकर रह जाता है। ऐसा ही नीरजा माधव का उपन्यास कोरोना है। जिसमें समाज के हर वर्ग के प्रति संवेदना व्यक्त हुई है।

कोरोना उपन्यास का प्रकाशन सन् 2020, 2021 में ए०बी०एस पब्लिकेशन, आशापुर, सारनाथ, वाराणसी-07 से हुआ। जैसा कि कहा जाता है संवेदना ही साहित्य को जीवंत बनती है। "साहित्य में इस शब्द का प्रयोग इस सीमित अर्थ में नहीं किया गया है। विशेषतः जब हम मानवीय संवेदना की बात कहते हैं तो उसका आशय मात्र ज्ञानेंद्रिय का अनुभव न रहकर मानव मन की अतल गहराइयों में छपी करुणा, दया एवं सहानुभूति की उदात्त वृत्तियां तक हो जाता है। अपने व्यापक अर्थ में संवेदना 'अनुभूति" का भी व्यंजन है"।[1]

लेखिका की संवेदना दृष्टि ने यह दिखाया कि कैसे समाज का कमजोर वर्ग मजदूर, रिक्शाचालक, घरेलू कामगार, दिहाड़ी मजदूर सबसे अधिक प्रभावित हुए, उनकी पीड़ा लेखिका के शब्दों में झलकता है। जब गांव से शहरों में गए प्रवासी मजदूर खाने -पीने के लिए मजबूर होकर अपने गांव की तरफ पैदल ही निकल पड़े थे, तब रास्ते में भूख- प्यास थकान पीड़ा का चित्रण करुणा से भरा हुआ है। यही नीरजा माधव की संवेदना दृष्टि का प्रमाण है। महामारी ने परिवारों को मानसिक रूप से भी झकझोर दिया था। उपन्यास में कई ऐसे प्रसंग है जहां माता-पिता अपने बच्चों की सुरक्षा को लेकर चिंतित हैं और बच्चे वृद्ध अभिभावकों के स्वास्थ्य के लिए परेशान रहते हैं। यह भावनात्मक जुड़ाव समाज की संवेदनशीलता का प्रमाण है। कोरोना महामारी का सबसे बड़ा आघात गरीबों और मजदूरों पर पड़ा। नीरजा माधव ने उनके संघर्षों को बहुत ही सूक्ष्म दृष्टि से देखा है। उनकी यंत्रणा का असहायता का यथार्थपूर्ण चित्रण किया है। लेखिका इन परिस्थितियों के माध्यम से यह बताती है कि समाज

* **विभाग हिंदी, रघुनाथ गर्ल्स पोस्ट ग्रेजुएट कॉलेज, मेरठ**

संबद्ध-चौधरी चरण सिंह विश्वविद्यालय मेरठ, उत्तर प्रदेश

की आर्थिक असमानता संकट के समय और अधिक उजागर हो जाती है। लेकिन इन सबके बीच भी आपसी सहयोग और दया की भावना जीवित है। यह संवेदना का वास्तविक रूप है। 'कोरोना' उपन्यास में स्वास्थ्य कर्मियों, नर्सों और डॉक्टरों की भूमिका को बहुत ही भावनात्मक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। वह स्वयं संक्रमित होने के डर के बावजूद अपनी जिम्मेदारी निभाते रहे। उनके भीतर का डर और सेवा की भावना दोनों को नीरजा माधव ने अत्यंत संवेदनशीलता के साथ दिखाया है। यह करुणा ही है, जो उपन्यास की आत्मा बन जाती है। जब मनुष्य अपने कर्तव्य को निभाने के लिए अपने जीवन को भी दाव पर लगा देता है, तो वही सच्ची संवेदना होती है।

मूल आलेख:-

'कोरोना' उपन्यास में महामारी के दौरान अलग-अलग लोगों की भावनाओं और मानसिक परिस्थितियों को दिखाया गया है। लेखिका ने अपनी संवेदना दृष्टि को अपने पात्रों की रोजमर्रा की जिंदगी के जरिए प्रस्तुत किया है। अब यहां 'कोरोना' उपन्यास में किस प्रकार लेखिका ने संवेदना को कितना सूझ-बूझ के साथ उजागर किया है इसका विवरण इस प्रकार है -कोरोना महामारी ने सबसे पहले बच्चों की दिनचर्या को प्रभावित किया। वे स्कूल नहीं जा सके, अपने दोस्तों से नहीं मिल सके, खेल के मैदान खाली हो गए और वे बच्चे जिनके माता-पिता सरकारी कर्मचारियों के रूप में लोगों की सेवा कर रहे थे, वे बच्चे अपने माता-पिता के गोद में खेलने के लिए तरस जाते क्योंकि उनके माता-पिता डरते थे की कहीं उनके बच्चे इस चपेट में ना आ जाए। ऐसे ही मधुविद्या जो कि मीडिया में नौकरी करती थी उसका बेटा भूमा जो की छ: महीने का था वह अपनी मां के बिना कैसे छटपटाता था-"क्योंकि मेरा भी तो मां अपने नन्हें भूमा के लिए तड़पता है कैसे रहता होगा पूरे दिन अपनी मां के बिना"।[2] इस तरह भूमा के माध्यम से नीरजा जी बच्चों के प्रति संवेदनशीलता प्रकट करती हैं। नीरजा माधव बच्चों की कोमलमनोभाव पर मधुविद्या के माध्यम से विचार करती हैं कि-"कभी-कभी सोचती हूं नारी ने स्वयं को सशक्त और आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनाने के चक्कर में बहुत कुछ नैसर्गिक सुख को खो दिया है। अपने बच्चों का बचपन देखने की फुर्सत नहीं है उसके पास। जिसके पास सहयोग करने के लिए अपना परिवार है, वहां तो बच्चे ठीक से पल भी जाते हैं पर जहां स्त्री- पुरुष दोनों नौकरी पेशा में है और अकेले हैं, वहां नन्हे बच्चों की मुसीबत है। दाई के भरोसे या शिशु गृह में पलने वाले बच्चों का मन कितना कुम्हला जाता है, शायद इसकी कल्पना भी हम नहीं कर पाते। ×××× परिणाम धीरे-धीरे सामने आ रहा है। बच्चे कम उम्र में ही उग्र, जिद्दी या परिपक्व बनने का आचरण करने लगे हैं बचपन खो रहा है उनका"।[3] इस तरह हम देखते हैं कि नीरजा माधव ने बच्चों के अंतर्मन को कितनी गहराई से पढ़ा है। यह एक लेखक के संवेदन ग्रहण क्षमता को दर्शाता है। नीरजा जी बच्चों की परवरिश को लेकर चिंतित हैं कि हमारी आने वाली पीढ़ी किस तरह की होगी-"तो यह हाल लगभग सभी बहुराष्ट्रीय कंपनियों में नौकरी करने वाले युवाओं का है। उनका इकलौता बच्चा दाई या डे-केयर होम में पलता है। शाम को वापस आते हुए बच्चे को वहां से उठा ले आते हैं।××××शायद भविष्य में इनकी इन इकलौती संतानों को यह भी ना पता हो कि भैया, दीदी, भाभी, जीजा जी आदि किसे कहते हैं"।[4] इस तरह नीरजा जी आने वाली पीढ़ी के लिए चिंतित दिखाई देती है। यह लेखिका की संवेदन दृष्टि की सबसे बड़ी विशेषता है वह बच्चों की पीड़ा के साथ-साथ उनके भविष्य और उनके माता-पिता को इसका क्या परिणाम भोगना पड़ता है इसको दिखाती हैं। इस उपन्यास में बाल एवं शोषण के मुद्दे को भी उठाया गया है इस उपन्यास में बाल यौन शोषण के मुद्दे को भी उठाया गया है- "ज्योतिर्मय बता रहे थे कि इस कोरोना महामारी के आड़ में बच्चों के यौन शोषण घटनाओं में आश्चर्यजनक ढंग से तेजी आई है। आईसीपीएफ एशिया की सबसे बड़े बाल संरक्षण संगठनों में से प्रमुख एक है, जो बच्चों की ट्रैफिकिंग और यौन शोषण के उन्मूलन के लिए काम करता है। इस संगठन ने भारत के 100 प्रमुख शहरों में इस कोरोना काल में एक शोध किया है जिसमें भारत में बाल यौन शोषण सामग्री के बारे में एक रपट दी है। इस शोध के अनुसार दिसंबर 2019 के दौरान छोटे शहरों में बाल यौन शोषण सामग्री की कुल मांग लगभग 50 लाख प्रतिमाह थी जो इस लॉकडाउन में बढ़कर 200% तक हो गई है"।[5] इस उपन्यास में नीरजा जी बाल यौन शोषण पर संवेदना व्यक्ति करती हैं। इस उपन्यास में बच्चों के प्रति नीरजा जी की संवेदना अत्यंत गहरी और सजीव है उन्होंने बच्चों को केवल महामारी के शिकार के रूप में नहीं बल्कि, जीवन की सबसे पवित्र और कोमल संवेदना के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया है। महामारी का डर सबको लग रहा था, लेकिन बुजुर्गों के मन में डर कई गुना ज्यादा था जैसे कि जोशी जी ज्योतिर्मय से कहते हैं- "अब बच्चे शहर में बस गए हैं तो इस घर को मेंटेन करना एक मुश्किल काम होगा हम पति-पत्नी के लिए। कभी लान के लिए माली ढूंढो

तो कभी लाइट चली जाने पर जनरेटर चलाने के लिए मजबूत हाथ ढूंढो"।[6] जोशी जी जैसे कितने वृद्धों की समस्या है यह,बच्चे वहां जाकर अपनी शादी कर लेते हैं और अपना परिवार वहां बसा कर रहने लगते हैं और मां-बाप अकेले रहते हैं ऐसी स्थिति में कोरोना जैसी महामारी का आ जाना कितना दर्द भार था। ऐसे में उन्हें कितना घुटन बेचैनी थी, इस उपन्यास में बड़े सरल तरीके से सामने आता है। उपन्यास का एक महत्वपूर्ण पहलू यह भी है, प्रवासी मजदूरों के जीवन में पीड़ा, असुरक्षा और संघर्ष के प्रति गहरी मानवीय संवेदना व्यक्त हुई है। मधु विद्या ज्योतिर्मय से कहती है कि आज मैं एक इंटरव्यू लेने गई थी-"हां ज्योतिर्मय। किसी- किसी के पैर में तो टूटी चप्पले भी नहीं थी। एक बूढ़ा कामगार तो अपने दोनों पैरों की तलवे में पानी की बोतल पिचका कर उसे पतली रस्सी से बांधकर चल रहा था। पूछने पर बताया कि जो चप्पल पहन कर वह महाराष्ट्र से चला था वह इतनी दूर आते-आते टूट गई। दुकान खुली नहीं थी। गर्मी पड़ने के कारण सड़क पर पैर जलता है इसलिए ऐसे काम चलाना पड़ा। वह फुसफुसा कर बोला मेरा तो कलेजा मुंह को आ गया"।[7] इस तरह देश-विदेश से कितने प्रवासी लॉकडाउन के दौरान शहरों से गांव की ओर पलायन करते लाखों मजदूर देश की सामूहिक स्मृति में एक दुखद चित्र की तरह दर्ज हुए हैं। उपन्यास में यह यात्रा सिर्फ भौतिक दूरी नहीं, बल्कि एक दर्दनाक अनुभव के रूप में चित्रित है। छोटे-छोटे बच्चे भूख से रोते हैं। महिलाएं थकान से रुक-रुक कर चलती है। पुरुष गर्मी और असुरक्षा के बीच भी परिवार को बचाने की कोशिश में आगे बढ़ते रहते हैं। यह यात्रा पाठक के भीतर करुणा जागती है। नीरजा माधव इन प्रसंगों को बहुत ही सूक्ष्मता से दिखाती हैं। किसी बच्चे का आधे पेट भूखे रह जाना, किसी बूढ़े व्यक्ति का चल ना पाना, किसी युवती का बदहवास हाल में सड़क किनारे बैठ जाना, यह दृश्य पाठक को भीतर तक छू जाती है। अचानक लगाए गए लॉकडाउन मजदूरों को बीच रास्ते में छोड़ दिया। कोई व्यवस्था नहीं। कोई परिवहन नहीं। कोई योजना नहीं। उपन्यास सीधे आलोचना नहीं करता, पर घटनाओं के माध्यम से यह स्पष्ट कर देता है-"बेचारी मजदूर भूखे प्यासे ट्रैकों, ट्राला, ट्राली,बसों में चार गुना अधिक किराया देकर भी बोरों की तरह एक के ऊपर एक लदकर जा रहे हैं। यदि इनमें कोई कोरोना पॉजिटिव भी होंगे तो कौन पहचान कर पाएगा? बड़ी चिन्तनीय स्थिति हो गई"।[8] गांव पहुंच जाना मजदूरों के लिए पहली राहत थी, लेकिन समाधान नहीं। वे अपनी मिट्टी में सुरक्षित महसूस करते हैं परिवार मिल जाता है, खाना मिल जाता है, लोग अपना लेते हैं फिर भी उनके मन में डर और अनिश्चितता बनी रहती है। कि आगे का जीवन कैसे चलेगा। नीरजा माधव ने जिस मानवीय संवेदना से चित्रित किया है वह इस उपन्यास का महामारी के इतिहास का महत्वपूर्ण दस्तावेज है। इस महामारी ने पूरे समाज को प्रभावित किया। इस उपन्यास में नीरजा जी ने स्त्रियों की सुरक्षा पर भी खेद व्यक्त किया है उन्होंने एक घटना के माध्यम से पूरे समाज से या प्रश्न किया है कि- "निर्भया जैसी दुष्कर्म की घटनाएं यहां हर रोज किसी खेत,सीवान,गली, मोहल्ले में हो रही है।××××निर्भया की मां का स्टेटमेंट आ रहा था मेरी बेटी को न्याय मिला.....जिस समय मीडिया कर्मी यह सब बातें सजीव प्रसारण करते हुए यह सब बता रहे थे ठीक उसी समय किसी गांव के खेत में शौच के लिए गई एक छोटी सी बच्ची के साथ चार सिरफिरे लड़के दुष्कर्म की घटना को अन्जाम दे रहे थे। मैं सोचती हूं क्या फांसी की सजा से डर पैदा हुआ?"।[9] इस तरह नीरज जी स्त्री के विभिन्न पक्षों पर विचार की हैं पर इस शोध पत्र में जो मुख्य विषय लगा उसका जिक्र हमने किया है। कोरोना उपन्यास में कई जगह इस बात का जिक्र किया गया है कि कुछ लोग कोरोना महामारी को बड़ी बीमारी ही नहीं मानते थे। वह कहते थे यह सब भारत सरकार की राजनीति है और वह लोग ना तो एक दूसरे से दूरी बनाते थे ना मास्क लगते थे और ना इस महामारी से बचने के लिए कोई उपाय ही करते थे वे लोग कहते थे- "अल्लाह ही जिंदगी देता है वही ले लेता है यह मुसलमान को मस्जिद ना आने आपस में प्यार मोहब्बत से ना रहने देने के लिए भारत सरकार की साजिश है उसने माक्स हटाकर दीवार के पास जानबूझकर थूक दिया था"।[10] इस तरह इस उपन्यास में समाज के सारे ताने-बाने बहुत ही सूक्ष्म और संवेदनशीलता के साथ दिखाया गया है।

निष्कर्ष:-

कोरोना उपन्यास महामारी जैसे कठिन समय में मानवीय संवेदना का सशक्त दस्तावेज है। उन्होंने कोरोना को केवल एक बीमारी के रूप में नहीं देखा, बल्कि उसे समाज की वास्तविक स्थिति को उजागर करने वाले अनुभव के रूप में प्रस्तुत किया है। वह बच्चे जो भय असुरक्षा और अकेलेपन के बीच जीने को मजबूर हैं नीरजा माधव बच्चों की मासूम संवेदना को बहुत सहज ढंग से सामने लाती है। नीरजा जी ने स्त्रियों के बारे में भी बताया चाहे वह घर में काम करने वाली स्त्री हो या ऑफिस में डॉक्टर नर्स के रूप में काम करने वाली हो सबको कोरोना ने किस तरह प्रभावित किया। और जनता की रक्षा करने वाले कर्मचारी- जैसे डॉक्टर, नर्स, सफाईकर्मी, पुलिस आदि- उपन्यास की संवेदना का महत्वपूर्ण पक्ष लेखिका उनके संघर्ष, डर और कर्तव्यनिष्ठा

को सम्मान के साथ प्रस्तुत करती हैं। इसके साथ-साथ वह लोग भी उपन्यास में सामने आते हैं जो कोरोना महामारी को नहीं मानते थे या उसे हल्के में लेते थे। ऐसे पात्रों के माध्यम से लेखिका सामाजिक लापरवाही अज्ञानता और गैर जिम्मेदार व्यवहार पर संवेदनात्मक टिप्पणी करती है। समग्र रूप से देखा जाए तो कोरोना उपन्यास में नीरजा माधव की संवेदना दृष्टि मानवीय, सामाजिक और नैतिक स्तर पर अत्यंत सशक्त है। वे पीड़ा को दिखाते हुए भी निराशा नहीं फैलाती, बल्कि मनुष्यता, सहानुभूति और जिम्मेदारी की भावना को मजबूत करती हैं। यही कारण है कि यह उपन्यास कोरोना काल का केवल साहित्यिक दस्तावेज नहीं, बल्कि उस समय की मानवीय अनुभूतियों का जीवन चित्र बन जाता है।

संदर्भ :

1. यादव, डॉ. उषा. (1999) हिंदी की महिला उपन्यासकारों की मानवीय संवेदना. नई दिल्ली: राधाकृष्ण प्रकाशन. पृ. 11
2. माधव, नीरजा. (2020). *कोरोना. वाराणसी: एबीएस प्रकाशन*. पृ. 8
3. माधव, नीरजा. (2020). *कोरोना. वाराणसी: एबीएस प्रकाशन*. पृ. 14
4. माधव, नीरजा. (2020). *कोरोना. वाराणसी: एबीएस प्रकाशन*. पृ. 132
5. माधव, नीरजा. (2020). *कोरोना. वाराणसी: एबीएस प्रकाशन*. पृ. 182
6. माधव, नीरजा. (2020). *कोरोना. वाराणसी: एबीएस प्रकाशन*. पृ. 135
7. माधव, नीरजा. (2020). *कोरोना. वाराणसी: एबीएस प्रकाशन*. पृ. 167
8. माधव, नीरजा. (2020). *कोरोना. वाराणसी: एबीएस प्रकाशन*. पृ. 192
9. माधव, नीरजा. (2020). *कोरोना. वाराणसी: एबीएस प्रकाशन*. पृ. 42
10. माधव, नीरजा. (2020). *कोरोना. वाराणसी: एबीएस प्रकाशन*.

Received: 10.12.2025 | Accepted: 15.12.2025 | Published: 30.12.2025

श्रीरामचरितमानस में निहित शिक्षा-दर्शन की राष्ट्र-निर्माण में उपादेयता

अनुराग मिश्रा*
amishradsc@gmail.com

डॉ. रवेन्द्र राजपूत†
ravendrarajput@gmail.com

सारांश

*भारतीय शिक्षा-दर्शन की परंपरा में जहाँ ज्ञान का उद्देश्य केवल बौद्धिक प्रगति नहीं, बल्कि आत्म-विकास, चरित्र-निर्माण और सामाजिक समरसता की स्थापना रहा है, वहीं श्रीरामचरितमानस एक ऐसे ग्रंथ के रूप में स्थापित है जो आध्यात्मिकता, नैतिकता और लोकमंगल की चेतना को समन्वित करता है। समकालीन समय में मूल्य-संकट, सांस्कृतिक विच्छिन्नता और सामाजिक विखंडन की चुनौतियों के बीच राष्ट्र-निर्माण की अवधारणा को पुनः मूल्य-आधारित शिक्षा से सम्बद्ध करना अत्यंत आवश्यक हो गया है। इस पृष्ठभूमि में प्रस्तुत अध्ययन श्रीरामचरितमानस में निहित शिक्षा-दर्शन को राष्ट्र-निर्माण की दृष्टि से पुनर्पाठित किया गया है। प्रस्तुत शोध का मुख्य उद्देश्य श्रीरामचरितमानस में निहित तत्वमीमांसात्मक, मूल्य-मीमांसात्मक एवं ज्ञान-मीमांसात्मक आधारों का विश्लेषण करते हुए यह स्पष्ट करना है कि यह ग्रंथश्री किस प्रकार आदर्श मानव-निर्माण, नैतिक नागरिकता और सांस्कृतिक एकात्मता का मार्ग प्रशस्त करता है। दूसरा उद्देश्य यह है कि रामराज्य, कर्मसिद्धांत, भक्ति, समन्वयवाद और समावेशी दृष्टि जैसे तत्वों की राष्ट्र-निर्माण में व्यावहारिक प्रासंगिकता को रेखांकित किया जाए। अनुसंधान-पद्धति के रूप में इस अध्ययन में गुणात्मक एवं दार्शनिक-विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण अपनाया गया है। ग्रंथ के मूल पाठ का व्याख्यात्मक विश्लेषण करते हुए उसमें निहित शैक्षिक तत्वों का विवेचन किया गया है। साथ ही, भारतीय शिक्षा-दर्शन, सांस्कृतिक राष्ट्रवाद और आधुनिक शिक्षा-नीति के संदर्भों में तुलनात्मक दृष्टि भी अपनाई गई है। शोध के प्रमुख निष्कर्ष यह संकेत करते हैं कि श्रीरामचरितमानस में निहित शिक्षा-दर्शन एक सुसंगठित नैतिक-सांस्कृतिक ढाँचा प्रस्तुत किया गया है, जो सत्य, करुणा, कर्तव्यनिष्ठा, समरसता और लोककल्याण जैसे मूल्यों पर आधारित आदर्श नागरिक का निर्माण करता है। इसमें प्रतिपादित समन्वयवादी दृष्टिकोण सामाजिक विभेदों को समाप्त करने और राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ करने की क्षमता रखता है। शोध में यह प्रतिपादित किया गया है कि श्रीरामचरितमानस में वर्णित श्रीराम का आचरण जिसमें करुणा, न्याय, त्याग, समता, संवादशीलता तथा लोकमंगल की भावना निहित है मानव व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास का आदर्श प्रस्तुत करता है। अध्ययन के माध्यम से यह स्थापित किया गया है कि श्रीरामचरितमानस में निहित शैक्षिक मूल्य आधुनिक **मूल्य-आधारित शिक्षा**, नैतिक नेतृत्व तथा सुदृढ़ राष्ट्र-निर्माण के लिए एक सशक्त और प्रासंगिक वैचारिक ढाँचा प्रदान करते हैं। निष्कर्ष रूप में श्रीरामचरितमानस में निहित शैक्षिक विचार राष्ट्र-निर्माण के लिए एक सशक्त वैचारिक आधार प्रदान करते हैं।*

मुख्य शब्द:

श्रीरामचरितमानस, शैक्षिक-विचार, शिक्षा-दर्शन, मूल्य-आधारित शिक्षा, रामराज्य, नैतिक नेतृत्व, सांस्कृतिक चेतना, आध्यात्मिक मानववाद, आदर्श मानव, समावेशी समाज, राष्ट्र-निर्माण

---

* **असिस्टेंट प्रोफेसर, शिक्षक-शिक्षा विभाग धर्म समाज कॉलेज, अलीगढ़**

† **एसोसिएट प्रोफेसर, शिक्षक-शिक्षा विभाग श्री वार्ष्णेय कॉलेज, अलीगढ़**

1. प्रस्तावना

वर्तमान वैश्विक परिदृश्य में शिक्षा ज्ञानार्जन के साधन के साथ-साथ मानव-मूल्यों, सांस्कृतिक चेतना और सामाजिक उत्तरदायित्व के निर्माण का माध्यम है। जब समाज नैतिक संकट, सांस्कृतिक विखंडन और मूल्य-शून्यता की चुनौतियों से जूझ रहा हो, तब भारतीय परंपरा के उन ग्रंथों की पुनर्व्याख्या आवश्यक हो जाती है, जो मनुष्य और समाज दोनों के समग्र विकास का मार्ग प्रशस्त करते हैं। श्रीरामचरितमानस ऐसा ही महाकाव्य है, जो आध्यात्मिकता, नैतिकता और लोकमंगल को समन्वित करते हुए शिक्षा को जीवन-दर्शन से जोड़ता है। तुलसीदास जी द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक विचारधारा की दृष्टि केवल आध्यात्मिक अनुभव नहीं, बल्कि सामाजिक एकात्मता का भी आधार है। भारतीय चिंतन परंपरा में शिक्षा का उद्देश्य केवल बौद्धिक विकास नहीं, बल्कि आदर्श मानव का निर्माण रहा है। गोस्वामी तुलसीदास जी कृत श्रीरामचरितमानस इसी व्यापक शैक्षिक दृष्टि को मूर्त रूप देता है। इसमें श्रीराम को मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में प्रस्तुत किया गया है, जिनका जीवन-व्यवहार सत्य, धर्म, करुणा और सामाजिक उत्तरदायित्व पर आधारित है। रामकथा भारतीय समाज की नैतिक एवं राजनीतिक कल्पना को गहराई से प्रभावित करती है। इसी संदर्भ में श्रीरामचरितमानस को मूल्य-आधारित शिक्षा और राष्ट्र-निर्माण का मूल ग्रंथ माना जाता है (Pollock, 1993)। वर्तमान परिदृश्य में राष्ट्र-निर्माण का प्रश्न केवल राजनीतिक या आर्थिक प्रगति तक सीमित नहीं है; यह सांस्कृतिक एकता, नैतिक नागरिकता और सामाजिक समरसता से गहराई से जुड़ा हुआ है। ऐसे समय में **"करम प्रधान बिस्व करि राखा।" (श्रीरामचरितमानस, 2.219.2)** के माध्यम से नागरिक उत्तरदायित्व और कर्मनिष्ठा का सशक्त संदेश प्रदान किया गया है। इस दृष्टि से श्रीरामचरितमानस में निहित शिक्षा-दर्शन आधुनिक भारत में मूल्य-आधारित राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया को सुदृढ़ करने में अत्यंत प्रासंगिक सिद्ध होता है।

1.1. भारतीय शिक्षा-दर्शन की परंपरा

भारतीय शिक्षा-दर्शन का मूलाधार आत्मविद्या और ब्रह्मविद्या रहा है। उपनिषदों में उद्घोषित-

"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्।
सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति॥"
(*तैत्तिरीयोपनिषद्*, ब्रह्मानन्दवल्ली, 2.1.1),
"तत्कर्म यन्न बन्धाय सा विद्या या विमुक्तये।
आयासायापरं कर्म विद्यान्या शिल्पनैपुणम्॥"
(विष्णुपुराण, 1.19.41)

उपर्युक्त श्लोकों से स्पष्ट होता है कि शिक्षा का उद्देश्य मात्र सूचना-संग्रह नहीं, बल्कि आत्म-मुक्ति और सत्य की प्राप्ति है। गुरुकुल परंपरा में शिक्षा का केंद्र चरित्र-निर्माण, अनुशासन, सेवा और समर्पण रहा है।

श्रीरामचरितमानस भारतीय दार्शनिक परंपरा का लोकभाषीय रूपांतरण है। तुलसीदास जी ने दार्शनिक सत्य को सरल भाषा में प्रस्तुत कर शिक्षा को लोकजीवन से जोड़ा। "ईश्वर अंश जीव अविनाशी" के माध्यम से उन्होंने आत्मा की दिव्यता का बोध कराया, जो भारतीय शिक्षा-दर्शन की केन्द्रीय अवधारणा है। यहाँ ज्ञान, भक्ति और कर्म का समन्वय शिक्षा को समग्रता प्रदान करता है।

1.2. राष्ट्र-निर्माण की संकल्पना

भारतीय चिंतन में 'राष्ट्र' शब्द का आशय केवल भौगोलिक सीमाओं से युक्त राज्य नहीं, बल्कि सांस्कृतिक, आध्यात्मिक और नैतिक एकता से संपन्न जीवंत सामूहिक सत्ता से है। वैदिक वाङ्मय में राष्ट्र की संकल्पना जन, भूमि और शासन के समन्वित रूप में मिलती है। **संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।** (ऋग्वेद, **10.191.2-4)** में सामूहिक एकता, समविचार और संगठित जीवन की कामना की गई है "समानी व आकूतिः" इत्यादि जो राष्ट्र की सांस्कृतिक-मानसिक एकता को रेखांकित करती है। इसी प्रकार **"माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः" (अथर्ववेद, 12.1.12)** भूमि सूक्त में मातृभूमि के प्रति श्रद्धा और संरक्षण-बोध व्यक्त है जो राष्ट्र को मातृरूप में प्रतिष्ठित करता है। महाकाव्यीय परंपरा में वर्णित प्रसिद्ध वाक्य **"जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी"** (वाल्मीकि रामायण, **अयोध्याकाण्ड 109.26)** राष्ट्र-भावना की सांस्कृतिक-

नैतिक ऊँचाई को प्रकट करता है। आधुनिक भारतीय विचार में श्री अरविन्द (1918/1997) ने राष्ट्र को एक आध्यात्मिक सत्ता माना एक ऐसी 'राष्ट्रीय आत्मा' जो इतिहास और संस्कृति में व्यक्त होती है जबकि गाँधी जी (1909/2009) ने 'स्वराज' को नैतिक आत्मशासन और जन-शक्ति पर आधारित राष्ट्र-जीवन के रूप में प्रतिपादित किया। भारतीय व्याख्या में राष्ट्र वह सांस्कृतिक-आध्यात्मिक समुदाय है जो साझा स्मृति, परंपरा, मूल्यों और कर्तव्य-चेतना से संगठित होता है। इस आधार पर राष्ट्र-निर्माण का अर्थ ऐसे चरित्रवान नागरिकों, समरस सामाजिक संरचनाओं, न्यायपूर्ण शासन और सुदृढ़ सांस्कृतिक चेतना का विकास करना है जो राष्ट्र की एकता, अखंडता और सतत उन्नति सुनिश्चित करें। परिभाषात्मक रूप में कहा जा सकता है कि राष्ट्र-निर्माण शिक्षा, नैतिकता, संस्कृति, आर्थिक सशक्तीकरण और सामाजिक न्याय के माध्यम से राष्ट्रीय जीवन-शक्ति के समन्वित संवर्धन की सतत प्रक्रिया है।

राष्ट्र-निर्माण का तात्पर्य केवल भौगोलिक या राजनीतिक संरचना से नहीं, बल्कि सांस्कृतिक एकता, नैतिक अनुशासन और नागरिक चेतना के विकास से है। श्रीरामचरितमानस में वर्णित रामराज्य का स्वरूप में एक ऐसे समाज की कल्पना की गयी है जहाँ समस्त प्रकार के दुःखों का शमन हो और समता की स्थापना हो। राम जी के व्यक्तित्व में आदर्श नेतृत्व, त्याग, सत्यनिष्ठा और कर्तव्यपरायणता के गुण निहित हैं, जो राष्ट्र-निर्माण के लिए अनिवार्य हैं। भरत की भ्रातृभक्ति, सीता की मर्यादा, हनुमान की सेवा-भावना और निषादराज की समता ये सभी चरित्र सामाजिक समरसता और राष्ट्रीय एकात्मता के प्रतीक हैं। इस प्रकार श्रीरामचरितमानस में राष्ट्र को नैतिकता और आध्यात्मिकता के सूत्र में बाँधने का आदर्श प्रस्तुत किया गया है।

1.2.1. सांस्कृतिक राष्ट्रवाद एवं आध्यात्मिक मानववाद

सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की अवधारणा में राष्ट्र को केवल राजनीतिक सत्ता या भौगोलिक सीमा के रूप में नहीं, बल्कि साझा सांस्कृतिक स्मृतियों, जीवन-मूल्यों, परंपराओं और नैतिक आदर्शों की एक सजीव चेतना के रूप में देखा जाता है। भारतीय परिप्रेक्ष्य में यह विचार वेद, उपनिषद, रामायण, महाभारत तथा लोक-साहित्य की निरंतर परंपरा से पोषित हुआ है। *श्रीरामचरितमानस* इस सांस्कृतिक निरंतरता का सशक्त प्रतीक है, जिसने लोकभाषा में दार्शनिक सत्य को अभिव्यक्त कर सांस्कृतिक एकात्मता को सुदृढ़ किया। श्रीरामचरितमानस की दृष्टि विविधताओं में अंतर्निहित एकत्व को प्रतिष्ठित करती है, जो सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का मूलाधार है। यहाँ राष्ट्र किसी संकीर्ण आग्रह का परिणाम नहीं, बल्कि साझा आध्यात्मिक-सांस्कृतिक चेतना का विस्तार है। रामराज्य की संकल्पना सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को नैतिक आयाम प्रदान करती है इसमें एक ऐसे समाज की कल्पना की गई है, जहाँ न्याय, समता और लोककल्याण की स्थापना हो। यह आदर्श राजनीतिक प्रभुत्व नहीं, बल्कि नैतिक नेतृत्व और सामाजिक संतुलन पर आधारित है। इस प्रकार सांस्कृतिक राष्ट्रवाद श्रीरामचरितमानस में समरसता, सहिष्णुता और कर्तव्यपरायण नागरिकता के रूप में प्रतिफलित होता है।

आध्यात्मिक मानववाद की संकल्पना प्रत्येक मानव में निहित दिव्यता की स्वीकृति पर आधारित है एवं यह उद्घोषित किया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति परमात्मा का अंश है, अतः उसकी गरिमा और सम्मान सार्वभौमिक हैं। यह दृष्टिकोण मनुष्य को जाति, वर्ग, लिंग अथवा सामाजिक विभाजन से ऊपर उठाकर उसकी आध्यात्मिक पहचान से जोड़ता है। आध्यात्मिक मानववाद में मानव-मूल्य केवल सामाजिक अनुबंध का परिणाम नहीं, बल्कि आध्यात्मिक सत्य की अभिव्यक्ति हैं। श्रीरामचरितमानस में निषादराज, शबरी और हनुमान आदि आदर्श पात्रों के माध्यम से यह प्रतिपादित किया गया है कि भक्ति और आचरण की श्रेष्ठता जन्म या पद से अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह दृष्टि सामाजिक समावेशन और मानवीय समानता की पुष्टि करती है। इस प्रकार सांस्कृतिक राष्ट्रवाद और आध्यात्मिक मानववाद परस्पर पूरक सिद्ध होते हैं एक राष्ट्र को सांस्कृतिक आधार प्रदान करता है, तो दूसरा मानव-गरिमा को उसका नैतिक केंद्र बनाता है। दोनों मिलकर ऐसी राष्ट्रीय चेतना का निर्माण करते हैं, जो मूल्य-आधारित, समावेशी और आध्यात्मिक दृष्टि से समृद्ध हो।

1.3. श्रीरामचरितमानस का सांस्कृतिक एवं शैक्षिक महत्व

श्रीरामचरितमानस भारतीय संस्कृति का जीवंत ग्रंथश्री है। यह सामाजिक, नैतिक और सांस्कृतिक मूल्यों का विश्वकोश है। तुलसीदास जी ने लोकभाषा अवधी में इसकी रचना कर शिक्षा को जन-जन तक पहुँचाया, जिससे सांस्कृतिक एकता को बल मिला। शैक्षिक दृष्टि से यह ग्रंथ आदर्श मानव-निर्माण का मॉडल प्रस्तुत करता है। गुरु-शिष्य परंपरा, पारिवारिक

मर्यादा, सामाजिक उत्तरदायित्व और आध्यात्मिक साधना इन सभी आयामों को कथा के माध्यम से जीवंत बनाया गया है। शिक्षा यहाँ व्यावहारिक है, जो जीवन के प्रत्येक संबंध को नैतिक आधार प्रदान करती है।

2. शोध की आवश्यकता एवं औचित्य

यद्यपि श्रीरामचरितमानस पर व्यापक साहित्य उपलब्ध है, तथापि इसे राष्ट्र-निर्माण के शैक्षिक परिप्रेक्ष्य में समग्र रूप से विश्लेषित करने वाले अध्ययन अपेक्षाकृत सीमित हैं। वर्तमान शिक्षा-नीतियों में मूल्य-आधारित और समावेशी शिक्षा पर बल दिया जा रहा है, परंतु उसके दार्शनिक आधार की पुनर्स्थापना आवश्यक है। इस संदर्भ में श्रीरामचरितमानस के शिक्षा-दर्शन का पुनर्पाठ समय की मांग है। यह शोध इसलिए भी औचित्यपूर्ण है क्योंकि यह ग्रंथ भारतीय समाज की सांस्कृतिक स्मृति का अभिन्न अंग है। इसके माध्यम से शिक्षा को केवल कौशल-केन्द्रित न रखकर नैतिक और आध्यात्मिक आयामों से संपन्न किया जा सकता है। अतः इस अध्ययन का उद्देश्य श्रीरामचरितमानस के शैक्षिक विचारों को राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया से जोड़कर एक समग्र वैचारिक ढाँचा प्रस्तुत करना है, जो समकालीन भारत के लिए मार्गदर्शक सिद्ध हो सके।

3. शोध के उद्देश्य

1. श्रीरामचरितमानस में निहित शैक्षिक तत्वों का विश्लेषण करना।
2. श्रीरामचरितमानस में नहित मूल्य-आधारित शिक्षा-दर्शन को स्पष्ट करना।
3. राष्ट्र-निर्माण के संदर्भ में इन शैक्षिक विचारों की उपादेयता का मूल्यांकन करना।
4. राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 के संदर्भ में इसकी प्रासंगिकता का परीक्षण करना।

4. साहित्य समीक्षा

पूर्ववर्ती अध्ययनों में विद्वानों ने श्रीरामचरितमानस को सामाजिक-नैतिक ग्रंथ के रूप में स्वीकार किया है। लुटगेनडॉर्फ (1991) ने इसे उत्तर भारतीय समाज में लोकधर्म और नैतिक चेतना का आधार बताया है। सिरस्वाल (2017) भारतीय समाज में नैतिक मूल्यों के क्षरण की ओर संकेत करते हुए मूल्य-आधारित ग्रंथों की आवश्यकता को रेखांकित करते हैं। राणा (2021) आधुनिक शिक्षा में नैतिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों के समावेशन को अनिवार्य मानती हैं। हाल के अध्ययनों में रामराज्य को आदर्श शासन और सामाजिक समरसता का मॉडल सिद्ध किया है। शिक्षा को लेकर निवेदिता तिवारी (2024) ने रामचरितमानस की वर्तमान में प्रासंगिकता, गोविन्द शरण शर्मा (2023) ने रामचरितमानस में सामाजिक सांस्कृतिक जीवन, गरिमा जैन (2022) ने आजादी का अमृत महोत्सव और श्रीरामचरितमानस की राष्ट्रीय चेतना, ज्योति कुन्तल (2021) ने गोस्वामी तुलसीदास का शिक्षा दर्शन, पीयूष किरण माथुर (2020) ने श्रीरामचरितमानस में निहित शैक्षिक मूल्यों की प्रासंगिकता, अजय कुमार शर्मा (2019) रामचरितमानस में निहित शिक्षा के लक्ष्य, एवं बालकृष्ण अवस्थी (2006) ने श्रीरामचरितमानस में निहित शैक्षिक मूल्यों का अध्ययन विषयों पर शोध कार्य किए। तथापि, अधिकांश शोध या तो नैतिक मूल्यों तक सीमित रहे हैं या राजनीतिक दृष्टि पर केंद्रित हैं; शैक्षिक विचारों के माध्यम से आदर्श मानव, समावेशी समाज और राष्ट्र-निर्माण को जोड़ने वाला समग्र अध्ययन अपेक्षाकृत सीमित है, जिसे यह शोध-पत्र संबोधित करता है।

5. शोध-पद्धति

प्रस्तुत शोध में गुणात्मक, तथा व्याख्यात्मक शोध-पद्धति को अपनाया गया है, जिसका उद्देश्य श्रीरामचरितमानस में निहित शैक्षिक विचारों की पहचान और विश्लेषण करना, एवं इन शैक्षिक विचारों की राष्ट्र-निर्माण में उपादेयता का अध्ययन करना है जिन पर परंपरागत अध्ययनों में अपेक्षाकृत कम ध्यान दिया गया है। यह शोध श्रीरामचरितमानस एवं अन्य शास्त्रीय ग्रंथों के गहन पाठ-विश्लेषण पर आधारित है, साथ ही समकालीन बौद्धिक अनुशासनों के सिद्धांतों के आलोक में उनके नैतिक और सामाजिक आयामों को भी उजागर करता है। इस पद्धति के अंतर्गत पाठ्यात्मक विश्लेषण जो हरमेन्युटिक पद्धति पर आधारित होता है, जिसमें पाठ को उसके ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और दार्शनिक संदर्भों में समझा गया है। किसी भी शास्त्रीय पाठ का अर्थ पाठ और पाठक के संवाद से निर्मित होता है (Gadamer, 2004)। दूसरा समकालीन प्रासंगिकता का मूल्यांकन

जिसमें समकालीन वैश्विक चुनौतियों जैसे नैतिकता, नेतृत्व की विश्वसनीयता, सामाजिक समावेशन, पर्यावरणीय असंतुलन और संघर्ष के संदर्भ में श्रीरामचरितमानस में निहित शैक्षिक विचारों की प्रासंगिकता का मूल्यांकन किया गया है।

6. श्रीरामचरितमानस में निहित शिक्षा-दर्शन

श्रीरामचरितमानस में निहित शिक्षा-दर्शन मानव-निर्माण की समग्र अवधारणा पर आधारित है। यहाँ शिक्षा का लक्ष्य केवल बौद्धिक दक्षता नहीं, बल्कि आत्मबोध, नैतिक परिष्कार और सामाजिक उत्तरदायित्व का विकास है। यह प्रतिपादित करता है कि प्रत्येक मनुष्य में दिव्यता निहित है; अतः शिक्षा का कार्य उस सुप्त चेतना को जाग्रत करना है। श्रीरामचरितमानस में शिक्षा जीवन-सापेक्ष है वह व्यवहार, संबंध और कर्तव्य के माध्यम से अभिव्यक्त होती है। आदर्श व्यक्तित्व के रूप में राम मर्यादा, सत्यनिष्ठा और कर्तव्यपरायणता के प्रतीक हैं; सीता धैर्य, पवित्रता और त्याग की मूर्ति हैं; भरत भ्रातृभक्ति और निःस्वार्थ नेतृत्व के आदर्श हैं; हनुमान सेवा, समर्पण और विनय के प्रतीक हैं। ये चरित्र केवल धार्मिक प्रतीक नहीं, बल्कि शैक्षिक प्रतिमान हैं, जो आदर्श नागरिक और सशक्त राष्ट्र के निर्माण में मार्गदर्शक सिद्ध होते हैं। चरित्र-निर्माण और आत्मानुशासन श्रीरामचरितमानस के शिक्षा-दर्शन का केंद्रीय तत्व है। राम का वनगमन और प्रतिकूल परिस्थितियों में भी धर्मपालन यह सिखाता है कि शिक्षा व्यक्ति को आत्मसंयम और धैर्य की क्षमता प्रदान करे। इस प्रकार श्रीरामचरितमानस का शिक्षा-दर्शन अनुशासन, विवेक और आत्म-नियंत्रण के माध्यम से संतुलित व्यक्तित्व के विकास की प्रेरणा देता है। श्रीरामचरितमानस में निहित शिक्षा-दर्शन की मीमांसा इस प्रकार है-

6.1. श्रीरामचरितमानस में निहित शिक्षा-दर्शन की मीमांसा

6.1.1. तत्व-मीमांसा

श्रीरामचरितमानस में निहित शिक्षा-दर्शन का तत्वमीमांसात्मक आधार अस्तित्व की आध्यात्मिक एकता पर प्रतिष्ठित है। इसमें परम सत्ता को अनंत, सर्वव्यापक और आनंदस्वरूप ब्रह्म के रूप में स्वीकार करते हुए समस्त सृष्टि को उसी की अभिव्यक्ति माना गया है। राम जी को परब्रह्म के रूप में प्रतिष्ठित कर तुलसीदास जी निर्गुण और सगुण के मध्य अद्भुत सेतु निर्मित करते हैं, जहाँ निराकार सत्य भक्तिभाव से साकार अनुभव बन जाता है।

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी।। (श्रीरामचरितमानस, 7.117.1)

जैसे सूत्र जीव और ईश्वर के अभिन्न संबंध को उद्घाटित करते हैं, जबकि माया को ईश्वरीय शक्ति मानकर संसार को पूर्णतः अस्वीकार नहीं किया गया, अपितु उसे 'सियाराममय' दृष्टि से देखने की प्रेरणा दी गई है। इस प्रकार शिक्षा का आधार आध्यात्मिक आत्मबोध है, जो विविधता में एकत्व की अनुभूति कराता है और मनुष्य को अपनी दिव्य सत्ता से परिचित कराता है।

6.1.2. ज्ञान-मीमांसा

ज्ञान-मीमांसात्मक परिप्रेक्ष्य में श्रीरामचरितमानस ज्ञान को मात्र बौद्धिक संचय न मानकर आत्मानुभूति की प्रक्रिया के रूप में देखता है। प्रत्यक्ष और अनुमान के साथ-साथ गुरु, शास्त्र, संतवचन, व सत्संगति को प्रमाणस्वरूप स्वीकार करते हुए यह ग्रंथ ज्ञान की परंपरागत तथा अनुभवसिद्ध प्रकृति को रेखांकित करता है-

बिनु गुर होइ कि ग्यान ग्यान कि होइ बिराग बिनु।
गावहिं बेद पुरान सुख कि लहिअ हरि भगति बिनु।।

(श्रीरामचरितमानस, 7. 89-क)

सत्संगति को तुलसीदास ने विद्यार्थी के नैतिक और बौद्धिक विकास का महत्वपूर्ण साधन माना है। श्रीरामचरितमानस में स्पष्ट रूप से कहा गया है-

मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहिं जतन जहाँ जेहिं पाई।।
सो जानब सतसंग प्रभाऊ। लोकहुँ बेद न आन उपाऊ।।
बिनु सतसंग बिबेक न होई। राम कृपा बिनु सुलभ न सोई।।
सतसंगत मुद मंगल मूला। सोइ फल सिधि सब साधन फूला।।

सठ सुधरहिं सतसंगति पाई। पारस परस कुधात सुहाई।।
बिधि बस सुजन कुसंगत परहीं। फनि मनि सम निज गुन अनुसरहीं।।

(श्रीरामचरितमानस, 1.3.3-5)

यहाँ सच्चा ज्ञान वह है जो अहंकार का क्षय कर आत्मचेतना का उद्भव करे और जीव को उसके वास्तविक स्वरूप से अवगत कराए। सत्संग और विवेक को ज्ञानप्राप्ति के अनिवार्य साधन के रूप में प्रतिष्ठित कर नैतिकता, आध्यात्मिकता और तत्वबोध को एकात्म कर दिया गया है। इस प्रकार श्रीरामचरितमानस का शिक्षा-दर्शन मनुष्य को समग्र रूप से परिष्कृत करते हुए उसे नैतिक, आध्यात्मिक और सामाजिक उत्कर्ष की दिशा में उन्मुख करता है।

6.1.3. मूल्य-मीमांसा

मूल्य-मीमांसात्मक स्तर पर श्रीरामचरितमानस में जीवन को धर्माधारित नैतिक अनुशासन से संयोजित किया गया है। यहाँ धर्म जड़ नियमों का समूह न होकर विवेकपूर्ण आचरण का जीवंत मानदंड है, जिसका मूर्त रूप श्रीराम के चरित्र में दृष्टिगोचर होता है एवं मानव को कर्मनिष्ठ उत्तरदायित्व से जोड़ा गया है, जिससे नैतिकता दैववादी निष्क्रियता नहीं, बल्कि सजग कर्तव्यपरायणता बन जाती है-

ब्रह्मचर्ज ब्रत संजम नाना। धीरज धरम ग्यान बिग्याना।।
सदाचार जप जोग बिरागा। सभय बिबेक कटकु सब भागा।।

(श्रीरामचरितमानस, 1.84.4)

श्रीरामचरितमानस में सत्य, करुणा, त्याग और सेवा को जीवन-मूल्यों के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है एवं सत्य के प्रति अटूट प्रतिबद्धता का संदेश निहित है। करुणा और सेवा की भावना शबरी, निषादराज और हनुमान के चरित्रों में स्पष्ट दिखाई देती है। ये मूल्य सामाजिक समरसता और परस्पर विश्वास की आधारभूमि निर्मित करते हैं एवंम उत्तरदायी नागरिकता की स्थापना करते हैं। निहित विचार व्यक्ति को अपने कर्मों के प्रति सजग बनाने का मार्ग प्रशस्त करते हैं और उसे भाग्यवाद से मुक्त कर सक्रिय राष्ट्र-निर्माण में सहभागी बनाते हैं। कर्म और उत्तरदायित्व का यह समन्वय आधुनिक लोकतांत्रिक मूल्यों से भी साम्य रखता है। सामाजिक समरसता और नैतिक अनुशासन राष्ट्र की स्थिरता के लिए अनिवार्य हैं। श्रीरामचरितमानस में धर्म को कठोर नियम नहीं, बल्कि विवेकयुक्त आचरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। भक्ति को सर्वोच्च मूल्य के रूप में स्वीकार कर तुलसीदास जी आध्यात्मिक समानता का प्रतिपादन करते हैं, जहाँ जाति, लिंग या बौद्धिक विभाजन अप्रासंगिक हो जाते हैं और हृदय की निर्मलता ही शिक्षा का अंतिम मानदंड बनती है। इस प्रकार मूल्य-आधारित शिक्षा नागरिकों में अनुशासन, सह-अस्तित्व और लोककल्याण की चेतना विकसित करती है।

श्रीरामचरितमानस में निहित शिक्षा-दर्शन तुलसीदास जी के युग की सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों का गहन और यथार्थ प्रतिबिंब प्रस्तुत करता है। वे मध्ययुगीन भारत के ऐसे मनीषी कवि हैं, जिनका चिंतन केवल आध्यात्मिक न होकर लोकमंगल और सामाजिक पुनर्निर्माण से भी जुड़ा हुआ है। तुलसीदास जी भारतीय समाज और संस्कृति के समर्थक होने के साथ-साथ लोकहितकारी दृष्टि से प्रेरित विचारक थे। उन्होंने अपने साहित्य के माध्यम से समाज में व्याप्त जातिगत विभेद, वर्ग विभेद, नैतिक पतन और सामाजिक विघटन जैसी बुराइयों पर प्रहार किया तथा एक आदर्श, समरस और मूल्यनिष्ठ समाज की परिकल्पना प्रस्तुत की। मुग़लकालीन शासन के भय, आतंक और राजनीतिक अस्थिरता के कारण जनमानस में व्याप्त निराशा और असुरक्षा की भावना का निराकरण तुलसीदास जी ने *श्रीरामचरितमानस* और *विनयपत्रिका* के माध्यम से किया, जिससे जनसाधारण को नैतिक बल, सांस्कृतिक चेतना और आध्यात्मिक आश्रय प्राप्त हुआ (शुक्ल, 2019)।

मध्ययुगीन भारतीय शिक्षा प्रणाली मूलतः वैदिक परंपरा पर आधारित थी, जिसमें गुरुकुलों और आश्रमों का केंद्रीय स्थान था। तुलसीदास जी ने इसी परंपरा को स्वीकार करते हुए गुरु को शिक्षा-प्रक्रिया का सर्वोच्च आधार माना। उनके अनुसार शिक्षा केवल पुस्तकीय ज्ञान तक सीमित न होकर जीवन-मूल्यों, अनुशासन और चरित्र निर्माण की प्रक्रिया है, जिसका

वास्तविक विकास गुरु के सान्निध्य में ही संभव है। श्री*रामचरितमानस* में श्रीराम के गुरुकुल-गमन का उल्लेख करते हुए तुलसीदास जी गुरु-आश्रम की महत्ता को प्रतिपादित करते हैं-

गुरगृहँ गए पढ़न रघुराई। अलप काल बिद्या सब आई।। (श्रीरामचरितमानस, 1.204.2)

जिससे यह स्पष्ट होता है कि गुरु की कृपा और मार्गदर्शन से अल्प समय में भी समग्र ज्ञान की प्राप्ति संभव है। श्रीरामचरितमानस में निहित शिक्षा-दर्शन में गुरु-शिष्य संबंध श्रद्धा, समर्पण और नैतिक अनुशासन पर आधारित एक अटूट संबंध है। साथ ही, वे बालक के सर्वांगीण विकास में माता-पिता की भूमिका को भी अत्यंत महत्वपूर्ण मानते हैं और उन्हें शिक्षा-प्रक्रिया का अनिवार्य घटक स्वीकार करते हैं (मिश्र, 2017)।

7. श्रीरामचरितमानस के शिक्षा दर्शन की राष्ट्र-निर्माण में उपादेयता

रामराज्य की अवधारणा न्याय, पारदर्शिता और लोककल्याण पर आधारित है। इसके माध्यम से आधुनिक शासन के लिए नैतिक नेतृत्व और सहभागी लोकतंत्र का आदर्श प्रस्तुत किया गया है । श्रीराम का शासन-दर्शन सबका हित, सबका न्याय राष्ट्र-निर्माण की आधारशिला है। गांधीजी ने भी रामराज्य को नैतिक और समतामूलक समाज की संकल्पना माना है (गांधी, 2011)। भारतीय सांस्कृतिक चेतना के अक्षय स्रोतों में श्रीरामचरितमानस का स्थान अत्यंत विशिष्ट है, जिसमें व्यक्ति, समाज और शासन तीनों के परस्पर संबंधों की सूक्ष्म व्याख्या मिलती है। राष्ट्र-निर्माण की अवधारणा केवल भौगोलिक एकता तक सीमित नहीं होती, बल्कि वह सांस्कृतिक सातत्य, नैतिक अनुशासन, लोककल्याण की प्रतिबद्धता तथा सामूहिक उत्तरदायित्व की चेतना से निर्मित होती है। इस परिप्रेक्ष्य में श्रीरामचरितमानस के माध्यम से भारतीय मानस को ऐसा मूल्य-आधारित दृष्टिकोण प्रदान किया गया है, जो राष्ट्रीय जीवन के लिए दिशा-सूचक सिद्ध हो सकता है। अतः राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया में इसकी उपादेयता का विवेचन समकालीन संदर्भों में अत्यंत समीचीन प्रतीत होता है।

श्रीरामचरितमानस में प्रतिपादित मर्यादा, धर्मपालन और लोकहित की अवधारणा राष्ट्रीय जीवन के नैतिक आधार को सुदृढ़ करती है। श्रीराम का व्यक्तित्व शासन-संचालन में न्यायप्रियता, दायित्वनिष्ठा और समदर्शिता का प्रतिमान प्रस्तुत करता है। उनके आचरण में निजी स्वार्थ का अभाव और प्रजावत्सलता की प्रधानता दिखाई देती है, जो सुशासन के आदर्श को परिभाषित करती है। इस प्रकार श्रीरामचरितमानस शासन-तंत्र को केवल अधिकार-केन्द्रित न मानकर दायित्व-प्रधान मानवीय व्यवस्था के रूप में स्थापित करता है। यह ग्रंथ सामाजिक समरसता और सांस्कृतिक एकात्मता का भी सशक्त पोषक है। विभिन्न समुदायों, वंचित वर्गों तथा विविध प्रकृतियों के पात्रों के साथ श्रीराम का संवाद भारतीय समाज की बहुलतावादी संरचना को स्वीकार करता है। इससे यह संदेश मिलता है कि राष्ट्रीय एकता विविधताओं के सम्मान और पारस्परिक आदर से ही संभव है। इस प्रकार श्रीरामचरितमानस में सामाजिक विखंडन के स्थान पर समन्वयात्मक दृष्टि को प्रतिष्ठित किया गया है। श्रीरामचरितमानस में निहित शैक्षिक विचारों के माध्यम से नागरिक जीवन में कर्तव्य-बोध, त्यागशीलता और अनुशासन की प्रेरणा प्राप्त होती है। राष्ट्र की प्रगति केवल संसाधनों से नहीं, अपितु चारित्रिक ऊँचाई और नैतिक दृढ़ता से संभव होती है। श्रीरामचरितमानस का शिक्षार्थ यही है कि जब व्यक्ति अपने व्यवहार में सत्य, करुणा और संयम को प्रतिष्ठित करता है, तब वही प्रवृत्ति व्यापक सामाजिक संरचना को सुदृढ़ बनाती है। इस प्रकार यह ग्रंथ राष्ट्रीय पुनर्निर्माण की सांस्कृतिक अधिष्ठान-शिला के रूप में प्रतिष्ठित होता है। श्रीरामचरितमानस राष्ट्र-निर्माण के लिए नैतिक-शैक्षिक दिशासूचक ग्रंथ सिद्ध होता है।

7.1. नैतिकता, समावेशन और राष्ट्र-निर्माण

नैतिकता, समावेशन और राष्ट्र-निर्माण समकालीन शैक्षिक विमर्श के ऐसे केंद्रीय आयाम हैं, जिनके बिना किसी भी समाज की सतत प्रगति की परिकल्पना अधूरी मानी जाती है। शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य केवल बौद्धिक दक्षता का विकास नहीं, बल्कि ऐसे मूल्यनिष्ठ और उत्तरदायी नागरिकों का निर्माण है जो विविधताओं से युक्त समाज में सामंजस्य स्थापित कर सकें। भारतीय सांस्कृतिक परंपरा में यह दृष्टि विशेष रूप से धार्मिक-आध्यात्मिक ग्रंथों के माध्यम से अभिव्यक्त हुई है, जहाँ नैतिक अनुशासन, सामाजिक समरसता और लोकमंगल को जीवन का आधार माना गया है। **श्रीरामचरितमानस** इसी परंपरा का एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है, जिसकी शैक्षिक दृष्टि व्यक्ति और समाज के मध्य संतुलन स्थापित करते हुए समावेशी एवं मूल्याधारित राष्ट्र-चेतना के निर्माण की संभावनाओं को उद्घाटित करती है।

7.2. माता-पिता की आज्ञा और राष्ट्र के नैतिक आधार

भारतीय संस्कृति में माता-पिता को देवतुल्य स्थान प्राप्त है। **तैत्तिरीय उपनिषद्, शिक्षावल्ली, के 11 वें अनुवाक में** वर्णित है, जहाँ आचार्य द्वारा दीक्षित छात्र को दीक्षांत उपदेश दिया जाता है- "**मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव।।" (तैत्तिरीय उपनिषद्, 1.11.2)** यह सिद्धांत पारिवारिक और सामाजिक जीवन की नींव है।

अस जियँ जानि सुनहु सिख भाई। करहु मातु पितु पद सेवकाई।।

(श्रीरामचरितमानस, 2.71.1)

तुलसीदास जी ने श्रीरामचरितमानस में श्रीराम के चरित्र के माध्यम से माता-पिता की आज्ञा को सर्वोच्च धर्म के रूप में प्रतिष्ठित किया है। श्रीराम द्वारा राज्य, सुख और वैभव का त्याग कर वनगमन स्वीकार करना केवल व्यक्तिगत त्याग नहीं, बल्कि राष्ट्र के नैतिक अनुशासन का आदर्श है। ऐसा चरित्र यह संदेश देता है कि जब नागरिक कर्तव्यनिष्ठ, आज्ञाकारी और संयमी होते हैं, तभी राष्ट्र की नींव सुदृढ़ होती है। माता-पिता के प्रति सम्मान सामाजिक स्थिरता, पारिवारिक एकता और नैतिक नागरिकता को जन्म देता है, जो राष्ट्र-निर्माण की प्रथम शर्त है।

7.3. गुरु-आज्ञा और नेतृत्व निर्माण

जिस प्रकार श्रीराम ने माता-पिता की आज्ञा को धर्म माना, उसी प्रकार गुरु वशिष्ठ की आज्ञा को भी उन्होंने शिरोधार्य किया। चाहे वह ताड़का-वध हो, विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा हो या शिवधनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाने का कार्य हर स्थिति में गुरु का आदेश सर्वोपरि रहा-

उठहु राम भंजहु भवचापा। मेटहु तात जनक परितापा।।
सुनि गुरु बचन चरन सिरु नावा। हरषु बिषादु न कछु उर आवा।।

(श्रीरामचरितमानस, 1.254.3-4)

यह परंपरा अनुशासन, आज्ञाकारिता और नेतृत्व-विकास की शिक्षा देती है। राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया में ऐसे नागरिकों की आवश्यकता होती है जो ज्ञान, अनुशासन और मार्गदर्शन को स्वीकार करना जानते हों। गुरु-शिष्य परंपरा भारत की बौद्धिक और नैतिक शक्ति का मूल आधार रही है (मिश्र, 2017)।

7.4. भ्रातृ-प्रेम और सामाजिक समरसता

भ्रातृ-प्रेम राष्ट्र-निर्माण का सामाजिक आधार है। लक्ष्मण का त्याग यहाँ तक कि वनवास के दौरान निद्रा जैसी प्राकृतिक आवश्यकता का परित्याग भ्रातृ-निष्ठा की चरम अवस्था को दर्शाता है। वहीं कुंभकरण का उदाहरण यह सिद्ध करता है कि पारिवारिक निष्ठा केवल धर्मपक्ष तक सीमित नहीं, बल्कि विरोधी पक्ष में भी मानवीय मूल्य विद्यमान हो सकते हैं। भरत द्वारा श्रीराम की चरण-पादुका को सिंहासन पर विराजित करना सत्ता-त्याग और कर्तव्य-निष्ठा का अप्रतिम उदाहरण है। ऐसे प्रसंग राष्ट्र को यह शिक्षा देते हैं कि पारस्परिक प्रेम, त्याग और सहयोग के बिना सामाजिक एकता संभव नहीं है (द्विवेदी, 2018)।

7.5. मानवीय गुण और सांस्कृतिक राष्ट्रवाद

भारतीय राष्ट्र-चेतना प्रेम, करुणा, त्याग, समर्पण और शांति जैसे मानवीय मूल्यों पर आधारित है। श्रीरामचरितमानस में बार-बार यह प्रतिपादित किया गया है कि शांति सृजन करती है और युद्ध विनाश। यह दृष्टि राष्ट्र-निर्माण को शक्ति-प्रदर्शन से नहीं, बल्कि नैतिक श्रेष्ठता से जोड़ती है। यदि समाज केवल मानस में वर्णित मानवीय गुणों एकता, संयम, सद्भाव और त्याग को भी आत्मसात कर ले, तो सामाजिक संघर्ष स्वतः समाप्त हो सकते हैं। यह दृष्टिकोण भारतीय सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की आत्मा है (शुक्ल, 2019)।

7.6. पर्यावरण संरक्षण और सतत राष्ट्र-निर्माण

श्रीरामचरितमानस में प्रकृति-प्रेम और पर्यावरण-संरक्षण का भाव अत्यंत सशक्त है। पंचवटी, दण्डकारण्य और अशोक-वाटिका के वर्णन केवल सौंदर्य चित्रण नहीं, बल्कि प्रकृति के साथ सहअस्तित्व का संदेश हैं-

पुनि प्रभु गए सरोबर तीरा। पंपा नाम सुभग गंभीरा।।
संत हृदय जस निर्मल बारी। बाँधे घाट मनोहर चारी।।
(श्रीरामचरितमानस, 3.39.3)

जटायु, सुग्रीव, हनुमान और जामवंत जैसे पात्र यह सिद्ध करते हैं कि राष्ट्र केवल मनुष्यों का नहीं, बल्कि समस्त जीव-जगत का सामूहिक उत्तरदायित्व है। आधुनिक राष्ट्र-निर्माण में सतत विकास और पर्यावरणीय संतुलन के लिए यह दृष्टि अत्यंत प्रासंगिक है (शर्मा, 2020)।

7.7. वचन-पालन और संवैधानिक नैतिकता

भारतीय संस्कृति में वचन को प्राणों से भी अधिक महत्व दिया गया है-

रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाहुँ बरु बचनु न जाई।। (श्रीरामचरितमानस, 2.28.2)

राजा दशरथ द्वारा प्राणोत्सर्ग और श्रीराम द्वारा प्रसन्नतापूर्वक चौदह वर्ष का वनवास स्वीकार करना वचन-निष्ठा का चरम आदर्श है। यह गुण राष्ट्र-निर्माण में कानून-पालन, संवैधानिक नैतिकता और उत्तरदायी शासन की भावना को पुष्ट करता है। जब शासक और नागरिक अपने वचनों पर अडिग रहते हैं, तभी राष्ट्र में विश्वास और स्थिरता का निर्माण होता है।

7.8. सांस्कृतिक चेतना और राष्ट्रीय एकता

श्रीरामचरितमानस भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों का जीवंत संवाहक है। लोकभाषा में रचित यह ग्रंथ सांस्कृतिक एकात्मता का माध्यम बना। तुलसीदास जी ने दार्शनिक तत्वों को सरल भाषा में प्रस्तुत कर जन-जन को सांस्कृतिक धरोहर से जोड़ा। हरि-हर समन्वय और निर्गुण-सगुण का संतुलन धार्मिक सहिष्णुता का संदेश देता है-

अगुन सगुन गुन मंदिर सुंदर। भ्रम तम प्रबल प्रताप दिवाकर।। (श्रीरामचरितमानस, 6.115.2)

जैसी अभिव्यक्ति भारतीय उदारवाद और समन्वयवादी दृष्टि का प्रतीक है। यह दृष्टि राष्ट्र को संकीर्णता से मुक्त कर व्यापक सांस्कृतिक एकता की ओर अग्रसर करती है।

7.9. नेतृत्व एवं सुशासन की अवधारणा

श्रीरामचरितमानस में निहित रामराज्य का आदर्श सुशासन की उत्कृष्ट संकल्पना प्रस्तुत करता है-

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृपु अवसि नरक अधिकारी।। (श्रीरामचरितमानस, 2.71.3)

"दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहि ब्यापा।।
सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती।।"

(श्रीरामचरितमानस, 7.121.1)

यह आदर्श न्याय, समानता और लोककल्याण पर आधारित है। राम जी का नेतृत्व नैतिकता, परामर्श और लोकहित पर आधारित है। वे सत्ता को सेवा का माध्यम मानते हैं, न कि प्रभुत्व का साधन। यह शिक्षा आधुनिक प्रशासन और शासन-व्यवस्था के लिए प्रेरणास्रोत है। उत्तरदायी शासन और नैतिक नेतृत्व राष्ट्र-निर्माण के स्तंभ हैं। श्रीरामचरितमानस में वर्णित शासन-व्यवस्था यह संकेत देती है कि नेतृत्व में सत्यनिष्ठा, करुणा और उत्तरदायित्व अनिवार्य हैं।

8. समकालीन शिक्षा-नीति के संदर्भ में प्रासंगिकता

समकालीन शिक्षा-नीति, **राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020**, शिक्षा को समग्र, बहुविषयक और मूल्य-आधारित बनाने पर बल देती है, जिससे विद्यार्थियों का बौद्धिक, नैतिक, सामाजिक एवं भावनात्मक विकास सुनिश्चित हो सके (Ministry of Education, 2020)।

यह नीति शिक्षा को केवल सूचना-प्रदान की प्रक्रिया न मानकर चरित्र-निर्माण, सृजनात्मक चिंतन और उत्तरदायी नागरिकता के विकास का माध्यम स्वीकार करती है (Ministry of Education, 2020)। श्रीरामचरितमानस का शिक्षा-दर्शन

भी बौद्धिक, नैतिक और आध्यात्मिक विकास के संतुलन को महत्त्व देता है। चरित्र-निर्माण और नागरिक चेतना **राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020** के प्रमुख लक्ष्य हैं। श्रीरामचरितमानस में प्रतिपादित आदर्श चरित्र नागरिकता के मूल गुणों कर्तव्य, अनुशासन और सह-अस्तित्व को पुष्ट करते हैं। तुलनात्मक दृष्टि से स्पष्ट होता है कि श्रीरामचरितमानस भारतीय ज्ञान-परंपरा को आधुनिक शिक्षा के साथ जोड़ने का सशक्त आधार प्रदान करता है। इस प्रकार यह ग्रंथ राष्ट्र-निर्माण की समकालीन प्रक्रिया में मूल्य-आधारित और सांस्कृतिक रूप से संवेदनशील शिक्षा का मार्गदर्शन करता है।

9. विश्लेषण एवं निष्कर्ष

प्रस्तुत शोध के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि *श्रीरामचरितमानस* एक सुव्यवस्थित शिक्षा-दर्शन का प्रामाणिक स्रोत है। इसके तत्वमीमांसात्मक आधार में मानव की दिव्यता की स्वीकृति निहित है, जो शिक्षा को आत्मबोध और आंतरिक परिष्कार की प्रक्रिया के रूप में स्थापित करता है। ज्ञान-मीमांसा के स्तर पर गुरु, सत्संग और विवेक की महत्ता शिक्षा को अनुभवात्मक और रूपांतरणकारी आयाम प्रदान करती है। मूल्य-मीमांसा के स्तर पर सत्य, करुणा, त्याग, सेवा और कर्तव्यपरायणता जैसे तत्व व्यक्ति और समाज के नैतिक संतुलन का आधार बनते हैं। कर्म और उत्तरदायित्व की जो स्थापना की गई है, वह नागरिक चेतना को सक्रिय और सजग बनाती है। इन सभी तर्कों का समेकन यह दर्शाता है कि श्रीरामचरितमानस का शिक्षा-दर्शन समग्र, समन्वयवादी और जीवन-सापेक्ष है।

राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया में शिक्षा की भूमिका निर्णायक होती है, क्योंकि वही नागरिक के चरित्र, दृष्टिकोण और कर्तव्य-बोध को निर्मित करती है। रामराज्य की संकल्पना एक ऐसे आदर्श समाज की परिकल्पना करती है जहाँ न्याय, समता और लोककल्याण का संतुलन हो। ज्ञान-मीमांसा के स्तर पर गुरु, सत्संग और विवेक की महत्ता शिक्षा को अनुभवात्मक और रूपांतरणकारी आयाम प्रदान करती है। श्रीरामचरितमानस में प्रस्तुत आदर्श चरित्र राम की मर्यादा, भरत की निःस्वार्थता, सीता का धैर्य और हनुमान की सेवा राष्ट्र-निर्माण के लिए आवश्यक नैतिक नेतृत्व और समर्पित नागरिकता के प्रतिमान हैं। इस प्रकार शिक्षा द्वारा यदि इन मूल्यों को आत्मसात किया जाए, तो वह केवल दक्ष जनशक्ति नहीं, बल्कि उत्तरदायी और संवेदनशील नागरिक तैयार कर सकती है। आधुनिक समाज के लिए श्रीरामचरितमानस का संदेश अत्यंत सारगर्भित है। वैश्वीकरण, उपभोक्तावाद और नैतिक विचलन के युग में यह ग्रंथ सांस्कृतिक चेतना, आध्यात्मिक मानववाद और सामाजिक समरसता का मार्ग सुझाता है। "**सीय राममय सब जग जानी**।" **(श्रीरामचरितमानस, 1.8.1)** का दृष्टिकोण विविधताओं में एकत्व का बोध कराता है, जो समावेशी समाज की आधारभूमि है। श्रीरामचरितमानस में निहित शिक्षा-दर्शन से यह प्रतिपादित किया गया है कि राष्ट्र की सुदृढ़ता केवल आर्थिक विकास से नहीं, बल्कि नैतिकता, सह-अस्तित्व और सांस्कृतिक एकात्मता से सुनिश्चित होती है। अतः यह कहा जा सकता है कि श्रीरामचरितमानस आधुनिक भारत के लिए मूल्य-आधारित, समावेशी और आध्यात्मिक दृष्टि से सशक्त राष्ट्र-निर्माण का स्थायी मार्गदर्शक सिद्ध हो सकता है।

10. सुझाव

श्रीरामचरितमानस में निहित शैक्षिक विचारों की राष्ट्र-निर्माण में उपादेयता को दृष्टिगत रखते हुए यह आवश्यक है कि पाठ्यक्रम में मूल्य-आधारित साहित्य का समुचित समावेश किया जाए। वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में विषय-कौशल और व्यावसायिक दक्षता पर पर्याप्त बल दिया जाता है, किंतु नैतिक एवं सांस्कृतिक परिपक्वता की उपेक्षा प्रायः दिखाई देती है। यदि पाठ्यक्रम में ऐसे साहित्यिक एवं दार्शनिक ग्रंथों के चयनित अंश सम्मिलित किए जाएँ, जो सत्य, करुणा, त्याग, सेवा, समता और उत्तरदायित्व जैसे मूल्यों को सजीव रूप में प्रस्तुत करते हों, तो विद्यार्थियों में नैतिक संवेदनशीलता और सामाजिक चेतना का विकास संभव है। यह समावेश किसी संकीर्ण धार्मिक आग्रह के रूप में नहीं, बल्कि भारतीय ज्ञान-परंपरा के सांस्कृतिक एवं मानवीय आयामों के रूप में किया जाना चाहिए।

द्वितीय, शिक्षक-प्रशिक्षण कार्यक्रमों में सांस्कृतिक शिक्षा को विशेष स्थान प्रदान किया जाना चाहिए। शिक्षक केवल ज्ञान-प्रदाता नहीं, बल्कि मूल्य-संप्रेषक और आदर्श व्यक्तित्व के रूप में विद्यार्थियों के समक्ष उपस्थित होते हैं। अतः प्रशिक्षण के दौरान भारतीय शिक्षा-दर्शन, सांस्कृतिक विरासत और नैतिक नेतृत्व के सिद्धांतों का सम्यक् अध्ययन कराया जाना

आवश्यक है। यदि शिक्षक स्वयं सांस्कृतिक चेतना और आध्यात्मिक मानववाद से परिचित होंगे, तो वे कक्षा-कक्ष में समावेशी दृष्टि, सहिष्णुता और संवेदनशीलता का वातावरण निर्मित कर सकेंगे। इस प्रकार शिक्षक-प्रशिक्षण राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया का मूलाधार बन सकता है।

तृतीय, शिक्षण-प्रक्रिया को चरित्र-निर्माण केंद्रित मॉडल की ओर उन्मुख किया जाना चाहिए। शिक्षा का उद्देश्य केवल परीक्षा-उत्तीर्णता या रोजगार-सृजन तक सीमित न रहकर व्यक्तित्व के नैतिक और सामाजिक विकास से संबद्ध होना चाहिए। परियोजना-आधारित अधिगम, सामुदायिक सेवा, संवाद-आधारित शिक्षण और मूल्य-चिंतन सत्रों के माध्यम से विद्यार्थियों में आत्मानुशासन, नेतृत्व-क्षमता और नागरिक उत्तरदायित्व का विकास किया जा सकता है। यदि शिक्षण मॉडल में व्यवहारिक नैतिकता और सामाजिक सहभागिता को स्थान दिया जाए, तो शिक्षा वास्तव में राष्ट्र-निर्माण का प्रभावी साधन सिद्ध हो सकती है।

संदर्भ:

1. *अथर्ववेद, (*2017/ वि. सं. २०७४). काण्ड 12, सूक्त 1, मन्त्र 12, गीता प्रेस, गोरखपुर.
2. अरविन्द, श्री. (1997). *भारतीय संस्कृति की आधारशिलाएँ* (मूल कृति प्रकाशित 1918). पुदुच्चेरी: श्री अरविन्द आश्रम.
3. अरविन्द, श्री. (1998). *मानव चक्र* (मूल कृति प्रकाशित 1949). पुदुच्चेरी: श्री अरविन्द आश्रम.
4. अवस्थी, बालकृष्ण (2006). रामचरितमानस में निहित शैक्षिक मूल्यों का अध्ययन.
5. *ऋग्वेद, (*2019/ वि. सं. २०७६). मण्डल 10, सूक्त 191, मन्त्र 2-4, गीता प्रेस, गोरखपुर.
6. कुन्तल, ज्योति (2021). गोस्वामी तुलसीदास का शिक्षा-दर्शन, वर्ल्ड लैब पब्लिकेशन, गाजियाबाद, ISSN :978-93-90734-32-0.
7. गांधी, मोहनदास करमचन्द (2009). *हिन्द स्वराज अथवा भारतीय स्वराज*. अहमदाबाद: नवजीवन प्रकाशन गृह.
8. गांधी, मोहनदास करमचन्द. (2011). *हिन्द स्वराज*. अहमदाबाद: नवजीवन प्रकाशन गृह. https://www.mkgandhi.org/hind_swaraj.htm
9. *तैत्तिरीयोपनिषद्* (2018 /वि. सं. २०७५). ब्रह्मानन्दवल्ली 2.1.1, गीता प्रेस, गोरखपुर.
10. *तैत्तिरीयोपनिषद्* (2018 /वि. सं. २०७५). शिक्षावल्ली 1.11.2, गीता प्रेस, गोरखपुर.
11. **राणा, वी.** (2021). *वर्तमान परिप्रेक्ष्य में मूल्य-आधारित शिक्षा की आवश्यकता: एक अवलोकन*. **इंटरनेशनल जर्नल ऑफ मल्टीडिसिप्लिनरी एजुकेशन एंड रिसर्च**, 6(3), 28–33
12. *वाल्मीकि रामायण, (*2018/ वि. सं. २०७५). अयोध्याकाण्ड, सर्ग 109, श्लोक 26, गीता प्रेस, गोरखपुर.
13. *विष्णुपुराण* (2016/ वि. सं. २०७३). 1.19.41, गीता प्रेस, गोरखपुर.
14. **सिरस्वाल, डी. आर.** (2017). *भारतीय समाज में नैतिक मूल्यों की आवश्यकता*, **परमिता**, 8(8), 88–91. https://philarchive.org/rec/SIR-15
15. शर्मा, गोविन्द शरण (2023). रामचरितमानस में सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन एक विश्लेषणात्मक अवलोकन. एंथोलोजी द रिसर्च VOL. 7, ISSUE 10, ISSN : 2456-4397.

16. शर्मा, अजय कुमार (2019). रामचरितमानस में निहित शिक्षा के लक्ष्य, IRJMSH, ISSN:2277-9809 वॉल्यूम-10, इशू-5, पृष्ठ-413.

17. तिवारी, निवेदिता (2024). वर्तमान सन्दर्भ में श्रीरामचरितमानस की प्रासंगिकता, ऋषिहुड विश्वविद्यालय, सोनीपत, हरियाणा. https://rishihood.edu.in/ramcharitmanas/

18. जैन, गरिमा (2020). आजादी का अमृत महोत्सव और रामचरितमानस की राष्ट्रीय चेतना, गगनांचल, स्पेस फॉर बिजनेस सोल्युशंस प्रा. लि., दिल्ली, आई.एस.बी.एन. 0971-1430 पृष्ठ-7-1. https://www.iccr.gov.in/publication/gagananchal

19. द्विवेदी, हजारीप्रसाद. (2018). *तुलसीदास*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन.

20. माथुर, पीयूष किरण (2020). श्रीरामचरितमानस में निहित शैक्षिक मूल्यों की वर्तमान परिपेक्ष्य में प्रासंगिकता. International Journal of Creative Research and Innovation IJCRI Vol&5, Issue-8, ISSN : 2581&6829.

21. मिश्र, शिवकुमार. (2017). *भारतीय शिक्षा-दर्शन*. वाराणसी: चौखम्बा विद्याभवन.

22. शुक्ल, रामचन्द्र. (2019). *हिंदी साहित्य का इतिहास*. प्रयागराज: लोकभारती प्रकाशन.

23. *हनुमान प्रसाद पोद्दार (2024/* वि. सं. २०८०*). तुलसीदासकृत श्रीरामचरितमानस, गीताप्रेस, गोरखपुर छिहत्तरवाँ पुनर्मुद्रण.*

24. Lutgendorf, P. (1991). *The life of a text: Performing the Rāmcaritmānas of Tulsidas*. University of California Press.

25. Mishra, B. K. (2025). Ramrajya: A vision of ideal governance and social harmony. *Journal of Rural & Behavioural Science, 5*(1). https://doi.org/10.3126/jrbc.v5i1.78060

26. Ministry of Education. (2020). *National Education Policy 2020*. Government of India. https://www.education.gov.in/sites/upload_files/mhrd/files/NEP_Final_English_0.pdf

27. Pollock, S. (1993). Ramayana and political imagination in India. *The Journal of Asian Studies, 52*(2), 261–297. https://www.jstor.org/stable/2059648

28. Putnam, R. D. (2007). E pluribus unum: Diversity and community in the twenty-first century. *Scandinavian Political Studies, 30*(2), 137–174. https://doi.org/10.1111/j.1467-9477.2007.00176.x

29. Radhakrishnan, S. (1948). *The Bhagavadgita*. George Allen & Unwin.

30. Radhakrishnan, S. (1953). *The principal Upanishads*. Harper & Brothers.

Received: 10.12.2025 | Accepted: 15.12.2025 | Published: 30.12.2025

डॉ. भीमराव अंबेडकर का आर्थिक दर्शन और वर्तमान भारत में उसकी प्रासंगिकता

प्रो. विवेकानंद तिवारी*

vivek_tiwari1097@rediffmail.com

शोध सारांश

डॉ. अंबेडकर अर्थशास्त्र के क्षेत्र में पीएचडी की उपाधि प्राप्त करने वाले पहले व्यक्ति और दक्षिण एशिया में इसी क्षेत्र में दोहरी डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त करने वाले पहले व्यक्ति हैं। वे 1923 से 1956 के दौरान देश की आर्थिक समस्याओं के समाधान और प्रबंधन में एक कुशल अर्थशास्त्री थे। आश्चर्यजनक रूप से, डॉ. अंबेडकर ने 1923 में ही वैश्वीकरण, विकास और निजीकरण जैसी मुक्त अर्थव्यवस्था नीति की सिफारिश की थी। इसके बाद, भारतीय सरकार ने सितंबर 1991 में इस नीति को लागू किया। उन्होंने इस बात पर जोर दिया था कि मुक्त अर्थव्यवस्था नीति को सफलतापूर्वक लागू करने के बावजूद रुपये का मूल्य स्थिर रखा जाना चाहिए। उन्होंने 'ढांचा प्रणाली' की विशालता और आवश्यकता पर बल दिया, जो आज भी प्रभावी ढंग से काम कर रही है। वे श्रम विभाजन के अग्रदूत हैं क्योंकि उन्होंने गतिशील ढांचे को परिभाषित किया और इस क्षेत्र के लिए कुशल व्यवस्था की, जिसके परिणामस्वरूप कई डिजाइनरों को अच्छा प्रशिक्षण मिला। आजकल, बिजली विशेषज्ञ प्रशिक्षण के लिए विदेशों में जा रहे हैं, जिसका श्रेय डॉ. अंबेडकर को जाता है। द्वितीय विश्व युद्ध के अंत में भारत को व्यापार, कृषि, गरीबी आदि से संबंधित कई समस्याओं का सामना करना पड़ा। उनकी रणनीति ने इस विपत्ति से उबरने में मदद की और पूरे देश में उद्यमों को विकसित करने, कृषि में सुधार करने, रोजगार सृजित करने और अर्थव्यवस्था को मजबूत करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। भारतीय सरकार द्वारा मनोरंजन समिति परिषद (आरसीसी) की स्थापना की गई थी और डॉ. अंबेडकर आरसीसी के सदस्य थे। वे सिंचाई और बिजली के लिए नीति सलाहकार समिति के अध्यक्ष थे। संविधान में प्रतिवर्ष वित्त आयोग की व्यवस्था शुरू करने वाले व्यक्ति डॉ. अंबेडकर ही थे। वे स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व के सिद्धांत में विश्वास रखते थे, जो श्रम सहित समाज के सभी क्षेत्रों में व्याप्त था। डॉ. अंबेडकर विकास के प्रति तत्पर थे। स्वतंत्रता से पहले ही देश के तीव्र आर्थिक विकास के लिए जल संसाधनों के महत्व पर जोर दिया गया था। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि जल प्रबंधन देश का एक अभिन्न अंग होना चाहिए। उन्होंने अमेरिका के टेनेसी वैली अथॉरिटी की तर्ज पर 'दामोदर घाटी योजना' (कोलकाता, 3 जनवरी 1945) की रूपरेखा प्रस्तुत की। उन्होंने कहा, 'दामोदर नदी परियोजना प्रमुख परियोजना है और यह बहुउद्देशीय परियोजना होगी। इस परियोजना का मुख्य उद्देश्य केवल जनता को बाढ़ से बचाना ही नहीं था, बल्कि इसमें जल व्यवस्था, परिवहन, बिजली उत्पादन और देश के जरूरतमंद लोगों के लिए जीवन स्तर की आधारभूत संरचना स्थापित करना भी शामिल था।' इस शोधपत्र का मुख्य उद्देश्य अर्थशास्त्र के क्षेत्र में डॉ. अंबेडकर के योगदान का विश्लेषण करना है। यह विश्लेषण उनके विचारों, दृष्टिकोणों, आकलन और सुझावों के अनुरूप समकालीन समय में आर्थिक क्षेत्र में व्यावहारिक सुधार लाने की संभावनाओं को समझने में सहायक होगा। यह लेख डॉ. अंबेडकर के विचारों पर आधारित संभावनाओं का अध्ययन करने में भी उपयोगी होगा।

डॉ. बी.आर. अंबेडकर को भारत और विश्व के कई देशों में भारतीय संविधान के सुधारक के रूप में जाना जाता है। उन्हें अर्थशास्त्र और राजनीतिक चिंतन का गहरा ज्ञान था। दलित वर्गों के हित में नियमों और विनियमों में परिवर्तन करने और उन्हें आधुनिक विश्वदृष्टि से शिक्षित करने में उनका महत्वपूर्ण योगदान रहा। प्रारंभिक चरण में स्कूली शिक्षा के दौरान उन्हें कई बाधाओं का सामना करना पड़ा, जैसे कि छुआछीटी, विभिन्न सांप्रदायिक और सामाजिक मुद्दे। ब्रिटिश शासन के दौरान उन्होंने समानता, बंधुत्व और न्याय के लिए संघर्ष किया। 1916 में उन्होंने लंदन स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स में दाखिला लिया और "रुपये की समस्या: इसकी उत्पत्ति और इसका समाधान" शीर्षक से अपने डॉक्टरेट शोध प्रबंध पर काम शुरू किया।

* **अध्यक्ष, बी. आर. आम्बेडकर पीठ एचपीयू, शिमला**

1927 में उन्होंने अर्थशास्त्र में पीएचडी की उपाधि प्राप्त की। जून 1927 में उन्हें कोलंबिया विश्वविद्यालय द्वारा डॉक्टरेट की उपाधि से सम्मानित किया गया। भारतीय रुपये पर डॉ. बी.आर. अंबेडकर के शोध प्रबंध ने बहुत महत्व प्राप्त किया, क्योंकि उन्होंने रुपये की उस समस्या को समझाने का प्रयास किया जो अन्य मुद्राओं के साथ प्रतिस्पर्धा करने में असमर्थ थी। उन्होंने जे.एम. कीन्स के उस सुझाव का विरोध किया कि भारत को स्वर्ण विनिमय मानक अपनाना चाहिए, क्योंकि उनके अनुसार स्वर्ण विनिमय मानक मुद्रा जारीकर्ता को मुद्रा आपूर्ति में हेरफेर करने की अधिक स्वतंत्रता देता है।

बीज शब्दः

आर्थिक दर्शन, आर्थिक समता, सामाजिक न्याय, श्रमिक अधिकार, आर्थिक शोषण, समावेशी विकास, बेरोजगारी. वित्तीय विकास, जल प्रबंधन, जरूरतमंदता, आधारभूत संरचना, आधुनिक विकास

शोध विस्तार

डॉ. भीमराव रामजी अंबेडकर, जो एक प्रख्यात भारतीय समाज सुधारक, न्यायविद, अर्थशास्त्री और भारतीय संविधान के प्रमुख निर्माता थे, ने भारत के आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन के लिए एक दूरदर्शी दृष्टिकोण रखा था। उनके आर्थिक विचार, हालांकि मुख्यधारा के आर्थिक विमर्श में व्यापक रूप से मान्यता प्राप्त नहीं हैं, भारत में सतत विकास की वर्तमान चुनौतियों के लिए अत्यंत प्रासंगिक हैं। यह शोधपत्र डॉ. अंबेडकर के आर्थिक विचारों का गहन अध्ययन करता है और भारत में गरीबी उन्मूलन, सामाजिक न्याय, आर्थिक समानता और सतत विकास जैसे मुद्दों के संदर्भ में उनकी प्रासंगिकता का पता लगाता है। डॉ. बी.आर. अंबेडकर के आर्थिक विचार औपनिवेशिक काल के बाद के भारत की सामाजिक-आर्थिक चुनौतियों का समाधान करने के अपने प्रयास में दूरदर्शी थे। आर्थिक लोकतंत्र, सामाजिक न्याय, भूमि सुधार और श्रमिकों के अधिकारों पर उनके जोर ने एक अधिक न्यायसंगत समाज की नींव रखी। अंबेडकर के विचार आज भी अत्यंत प्रासंगिक हैं, विशेष रूप से तब जब भारत गरीबी, असमानता और सामाजिक बहिष्कार के मुद्दों से जूझ रहा है। डॉ. अंबेडकर के आर्थिक विचार सामाजिक न्याय के लिए उनके संघर्ष में निहित थे, लेकिन उन्होंने भारत के आर्थिक विकास के लिए व्यावहारिक समाधान भी प्रस्तुत किए। आर्थिक रूप से न्यायपूर्ण भारत का उनका दृष्टिकोण, जहाँ हाशिए पर पड़े लोगों को सशक्त बनाया जाए, नीति निर्माताओं, सामाजिक कार्यकर्ताओं और अर्थशास्त्रियों को एक अधिक समावेशी और टिकाऊ समाज के निर्माण के प्रयासों में प्रेरित करता रहता है। डॉ. अंबेडकर का आर्थिक दर्शन सामाजिक न्याय के प्रति उनकी प्रतिबद्धता से गहराई से जुड़ा हुआ था। उनका मानना था कि आर्थिक असमानता सामाजिक भेदभाव का मूल कारण है, विशेषकर दलितों के लिए। उनके आर्थिक चिंतन का केंद्र एक समतावादी समाज का निर्माण करना था जहाँ संसाधनों और धन का वितरण आवश्यकता के आधार पर हो, न कि सामाजिक स्थिति या जाति के आधार पर।

डॉ. भीमराव अंबेडकर का आर्थिक चिंतन केवल अर्थव्यवस्था की तकनीकी समझ तक सीमित नहीं था, बल्कि यह भारतीय समाज की गहरी सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना और उसमें व्याप्त असमानताओं की गंभीर पड़ताल पर आधारित था। उन्होंने आर्थिक विचारों को सामाजिक न्याय, मानवीय गरिमा और शोषण से मुक्ति के माध्यम के रूप में देखा। उनका आर्थिक चिंतन मुख्य रूप से उन वंचित वर्गों के हित में केंद्रित था, जो सदियों से जातीय, सामाजिक और आर्थिक शोषण का शिकार रहे-जैसे दलित, मजदूर, किसान और महिलाएं। उनका स्पष्ट मानना था कि जब तक समाज के सबसे कमजोर वर्गों को आर्थिक स्वतंत्रता और समान अवसर नहीं मिलते, तब तक कोई भी समाज सच्ची प्रगति नहीं कर सकता। डॉ. अंबेडकर ने अपनी उच्च शिक्षा कोलंबिया विश्वविद्यालय (अमेरिका) और लंदन स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स (इंग्लैंड) से प्राप्त की, जहाँ उन्होंने अर्थशास्त्र में एम. ए. पीएच. डी. और डी. एससी. की उपाधियाँ अर्जित कीं। उनकी पीएचडी थीसिस "ब्रिटिश भारत में प्रांतीय वित्त का विकास" ब्रिटिश शासनकाल में भारतीय वित्तीय ढांचे की आलोचनात्मक व्याख्या थी। उनकी डी. एससी. थीसिस "रुपये की समस्याः इसकी उत्पत्ति और उसका समाधान" में उन्होंने भारतीय मुद्रा की समस्याओं और समाधान का विस्तृत विश्लेषण किया। (1)

इन शोधों से यह स्पष्ट होता है कि अंबेडकर की आर्थिक दृष्टि केवल सैद्धांतिक नहीं, बल्कि व्यावहारिक और समावेशी थी। डॉ. अंबेडकर ने समाज के आर्थिक ढांचे को एक ऐसे उपकरण के रूप में देखा, जो समाज के सभी वर्गों को सशक्त बनाने में सक्षम हो। उन्होंने बार-बार यह दोहराया कि केवल सामाजिक और राजनीतिक समानता पर्याप्त नहीं, बल्कि

आर्थिक समानता भी उतनी ही आवश्यक है। वे मानते थे कि जब तक श्रमिकों, किसानों और गरीब वर्गों को उनके श्रम का उचित मूल्य नहीं मिलेगा और उनकी मेहनत का शोषण होता रहेगा, तब तक समाज न्यायसंगत नहीं हो सकता। 3। इसके लिए उन्होंने राज्य की भूमिका को अत्यंत महत्वपूर्ण बताया। अंबेडकर का मानना था कि केवल राज्य ही समाज में व्याप्त आर्थिक विषमता को दूर करने में निर्णायक भूमिका निभा सकता है। उनका यह स्पष्ट मत था कि राज्य को केवल कानून और व्यवस्था बनाए रखने तक सीमित नहीं रहना चाहिए, बल्कि उसे समाज के वंचित वर्गों तक संसाधनों का समान वितरण सुनिश्चित करना चाहिए। वे 'सामाजिक नियंत्रण वाली अर्थव्यवस्था' के समर्थक थे, जहाँ राज्य उत्पादन, वितरण और श्रम के मूल्य निर्धारण में निर्णायक भूमिका निभाए। ।

अंबेडकर ने मुक्त बाजार अर्थव्यवस्था की आलोचना की, क्योंकि उनके अनुसार यह व्यवस्था केवल कुछ गिने-चुने पूंजीपतियों और कॉर्पोरेट संस्थाओं को ही लाभ पहुंचाती है, जबकि गरीब और मजदूर वर्ग लगातार शोषण का शिकार होता है। उन्होंने एक ऐसी आर्थिक प्रणाली की आवश्यकता बताई, जिसमें राज्य हस्तक्षेप करे और यह सुनिश्चित करे कि आर्थिक संसाधनों का लाभ हर वर्ग तक पहुँचे, विशेषतः वे वर्ग जो परंपरागत रूप से उपेक्षित और उत्पीड़ित रहे हैं। वे इस बात के प्रबल पक्षधर थे कि जब तक राज्य की सक्रिय भागीदारी नहीं होगी, तब तक कोई भी आर्थिक विकास न्यायपूर्ण और समावेशी नहीं हो सकता । (6) डॉ. अंबेडकर का भूमि और कृषि पर दृष्टिकोण भी उनके आर्थिक चिंतन का एक अत्यंत महत्वपूर्ण आयाम है। उन्होंने भारत की ग्रामीण अर्थव्यवस्था में व्याप्त गहरी असमानता, भूमि के असमान वितरण और जमींदारी प्रथा को सामाजिक-आर्थिक शोषण का प्रमुख कारण माना। उन्होंने यह स्पष्ट रूप से कहा कि भूमि केवल निजी संपत्ति नहीं होनी चाहिए, । बल्कि उसे समाज का साझा संसाधन समझा जाना चाहिए। अंबेडकर ने भूमि के राष्ट्रीयकरण का सुझाव दिया, ताकि उसका न्यायसंगत और समान वितरण सुनिश्चित हो सके। उनका मानना था कि भूमि का असमान वितरण केवल आर्थिक शोषण ही नहीं, बल्कि सामाजिक असमानता का भी मूल कारण है, और जब तक यह समस्या हल नहीं होती, तब तक समतामूलक समाज की कल्पना अधूरी रहेगी। [8]

डॉ. अंबेडकर ने सहकारी खेती को भी प्रोत्साहित किया। उनका मानना था कि छोटे और सीमांत किसानों को एकजुट होकर सहकारी समितियाँ बनानी चाहिए, जिससे संसाधनों का साझा उपयोग हो सके, और उत्पादन क्षमता बढ़े। उन्होंने यह भी प्रस्तावित किया कि राज्य को किसानों को सस्ते ऋण, तकनीकी सहायता, और कृषि उपकरणों की सुविधाएं प्रदान करनी चाहिए, ताकि उनकी उत्पादकता में सुधार हो सके और वे आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बन सकें। उनके अनुसार, कृषि क्षेत्र में सुधार केवल आर्थिक सुधार नहीं था, बल्कि यह सामाजिक न्याय की दिशा में एक अनिवार्य कदम था। । महिलाओं की आर्थिक स्थिति पर भी डॉ. अंबेडकर का विशेष ध्यान था। वे मानते थे कि जब तक महिलाओं को समान कार्य के लिए समान वेतन, कामकाजी अधिकार और आर्थिक अवसर नहीं मिलते, तब तक समाज की आधी आबादी प्रगति से वंचित रहेगी। उन्होंने महिलाओं को केवल सामाजिक अधिकार ही नहीं, बल्कि आर्थिक अधिकार भी दिलाने की ज़रूरत पर बल दिया। उन्होंने महिलाओं के श्रम को भी पुरुषों के समान महत्व देने की वकालत की। (10)

वर्तमान समय में जब भारत बढ़ती बेरोजगारी, आय असमानता, श्रमिक असुरक्षा और नवउदारवादी नीतियों से जूझ रहा है, डॉ. अंबेडकर के आर्थिक विचार और अधिक प्रासंगिक हो गए हैं। उनका दृष्टिकोण यह दर्शाता है कि केवल जीडीपी की वृद्धि, औद्योगीकरण या निजीकरण से कोई समाज समृद्ध नहीं बनता, जब तक कि उस समृद्धि में समाज के सभी वर्गों की भागीदारी सुनिश्चित न हो । अंबेडकर का आर्थिक चिंतन आज भी यह सिखाता है कि सच्ची प्रगति तभी संभव है जब वह न्यायपूर्ण, समावेशी और मानवीय मूल्यों पर आधारित हो। (12) इस प्रकार, डॉ. अंबेडकर का आर्थिक दृष्टिकोण भारतीय समाज के सामाजिक और आर्थिक उत्थान की नींव है। उन्होंने आर्थिक शोषण और सामाजिक अन्याय को परस्पर जुड़ा हुआ माना और इसे दूर करने के लिए एक मजबूत, न्यायसंगत और समाजोपयोगी राज्य की अवधारणा प्रस्तुत की। उनका यह विचार कि "जब तक समाज के सबसे कमजोर वर्ग को उसकी मेहनत का पूरा मूल्य नहीं मिलेगा, तब तक कोई भी समाज न तो नैतिक हो सकता है और न ही प्रगतिशील" आज भी नीति-निर्माताओं, शिक्षाविदों और सामाजिक आंदोलनों के लिए प्रेरणा है। [13]

डॉ. भीमराव अंबेडकर न केवल एक समाज सुधारक और विधिवेत्ता थे, बल्कि एक कुशल आर्थिक विचारक और श्रमिकों के अधिकारों के सशक्त संरक्षक भी थे । श्रमिकों के लिए सामाजिक सुरक्षा, मानवीय कार्यदशा, तथा न्यायसंगत वेतन की व्यवस्था के लिए उन्होंने कई ऐतिहासिक कदम उठाएं। (14) ब्रिटिश शासन के दौरान, जब वे वायसराय की कार्यकारी

परिषद (1942-1946) में श्रम मंत्री बने, तब उन्होंने भारत की श्रम नीति को एक नई दिशा दी, जिसकी छाया आज भी देश की औद्योगिक नीतियों पर दिखाई देती है। डॉ. अंबेडकर ने भारत में श्रमिकों के लिए 8 घंटे का कार्यदिवस लागू करवाने का श्रेय प्राप्त किया। उस समय जब श्रमिकों से 12-14 घंटे काम करवाया जाता था, उन्होंने 1942 में यह नियम लागू करवाया कि किसी भी श्रमिक से 8 घंटे से अधिक कार्य नहीं लिया जा सकता । यह निर्णय न केवल श्रमिकों के स्वास्थ्य और जीवन की गुणवत्ता में सुधार लाया, बल्कि उनके आत्मसम्मान को भी बढ़ावा देने वाला सिद्ध हुआ ।[15] उन्होंने महिला श्रमिकों के अधिकारों की सुरक्षा के लिए विशेष कानूनों की पैरवी की। महिला श्रमिकों के लिए मातृत्व अवकाश, सुरक्षित कार्यस्थल, और रात्रिकालीन कार्य पर प्रतिबंध जैसे सुधारात्मक कदम अंबेडकर की नीतियों का हिस्सा थे। साथ ही, उन्होंने बाल श्रमिकों की संख्या में कमी लाने और उनके लिए शिक्षा व संरक्षण की वकालत की। [16]

अंबेडकर ने श्रमिकों के लिए सामाजिक सुरक्षा को अनिवार्य समझा। उन्होंने "कर्मचारी राज्य बीमा योजना" की नींव रखी, जो बीमारियों, मातृत्व, दुर्घटनाओं, और मृत्यु के बाद परिवार के लिए सहायता प्रदान करता है। साथ ही उन्होंने की स्थापना की, जिससे श्रमिकों के भविष्य को सुरक्षित किया जा सके। औद्योगिक विवादों के समाधान के लिए न्यायसंगत व्यवस्था बनाई। उनके प्रयासों से "इंडस्ट्रियल डिस्प्यूट्स एक्ट" जैसे विधानों का विकास हुआ जिससे मालिक और श्रमिकों के बीच संतुलन कायम किया जा सके। उन्होंने श्रमिक संघों के अधिकारों को भी मान्यता दिलाई और श्रमिकों को संगठन बनाने की स्वतंत्रता दी। अंबेडकर ने अंतरराष्ट्रीय मंचों पर भी भारतीय श्रमिकों की आवाज को मजबूती से प्रस्तुत किया। वे 1945 में अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की जिनेवा बैठक में भारतीय प्रतिनिधिमंडल का नेतृत्व कर चुके हैं। इस मंच पर उन्होंने श्रमिकों के लिए समान अधिकार, सुरक्षा और वेतन संरचना जैसे मुद्दों को वैश्विक स्तर पर उठाया। [18]

डॉ. अंबेडकर की श्रमिक नीति और औद्योगिक दृष्टिकोण आधुनिक भारत के श्रम कानूनों की बुनियाद माने जाते हैं। उनका उद्देश्य था कि हर श्रमिक को गरिमामयी जीवन, सुरक्षित कार्य परिवेश और न्यायपूर्ण वेतन मिले। उनकी दूरदर्शिता ने न केवल तत्कालीन औद्योगिक व्यवस्था में सुधार किया, बल्कि आज के श्रम सुधारों की दिशा भी तय की। उनका योगदान आज भी श्रम कल्याण बोर्ड, कर्मचारी राज्य बीमा निगम, और राष्ट्रीय श्रमिक आयोग जैसी संस्थाओं के माध्यम से जीवंत है। (19) डॉ. भीमराव अंबेडकर का दृष्टिकोण आरक्षण के विषय में केवल सामाजिक प्रतिनिधित्व तक सीमित नहीं था, बल्कि वे इसे एक व्यापक आर्थिक और सामाजिक सुधार का साधन मानते थे। उनके अनुसार, भारतीय समाज में सदियों से चली आ रही जातिगत असमानता ने न केवल सामाजिक स्तर पर बल्कि आर्थिक ढांचे पर भी गहरा प्रभाव डाला है। [20] उच्च जातियों द्वारा संसाधनों और अवसरों पर एकाधिकार ने वंचित वर्गों को शिक्षा, रोजगार, और संपत्ति से दूर कर दिया, जिससे सामाजिक भेदभाव के साथ-साथ आर्थिक असमानता भी गहराती चली गई। अंबेडकर का मानना था कि जब तक दलितों, पिछड़ों और आदिवासियों को शिक्षा, नौकरी और संसाधनों तक समान पहुँच नहीं मिलेगी, तब तक भारत में वास्तविक आर्थिक न्याय की स्थापना संभव नहीं है। उन्होंने आरक्षण व्यवस्था को इस सामाजिक और आर्थिक असंतुलन को संतुलित करने का एक प्रभावी उपाय माना। यह केवल एक अस्थायी विशेषाधिकार नहीं था, बल्कि एक ऐतिहासिक अन्याय के प्रतिकूल में न्यायपूर्ण हस्तक्षेप था।

डॉ. भीमराव अंबेडकर का आर्थिक दृष्टिकोण केवल वंचित वर्गों को राजनीतिक प्रतिनिधित्व देने तक सीमित नहीं था, बल्कि वे सामाजिक न्याय की स्थापना के लिए आर्थिक ढांचे में मूलभूत परिवर्तन को आवश्यक मानते थे। उन्होंने इस बात पर स्पष्ट बल दिया कि आरक्षण व्यवस्था को सामाजिक प्रतिनिधित्व का माध्यम मात्र नहीं समझा जाना चाहिए, बल्कि इसे आर्थिक पुनर्वितरण और वंचितों के ॥सशक्तिकरण की प्रक्रिया का एक नैतिक और संवैधानिक उपाय माना जाना चाहिए । डॉ. अंबेडकर के अनुसार, यदि केवल आरक्षण के माध्यम से कुछ प्रतिशत लोगों को नौकरी या शिक्षा में स्थान मिल भी जाए, तो इससे व्यापक सामाजिक-आर्थिक असमानता स्वतः समाप्त नहीं होती। इसके लिए उन्होंने बार-बार राज्य द्वारा आर्थिक नीतियों में हस्तक्षेप की आवश्यकता पर ज़ोर दिया। [22] उन्होंने मांग की कि राज्य को सहायता प्राप्त उद्योगों की स्थापना, न्यूनतम मजदूरी की कानूनी गारंटी, बेरोजगारी भत्ता, और सामाजिक सुरक्षा योजनाएँ लागू करनी चाहिए ताकि हाशिये पर खड़े लोगों को बुनियादी आर्थिक स्थायित्व मिल सके ।

अंबेडकर का दृष्टिकोण विशेष रूप से शिक्षा पर भी केन्द्रित था। उन्होंने माना कि समान अवसर की अवधारणा तब तक साकार नहीं हो सकती जब तक कि शिक्षा को सभी वर्गों के लिए सुलभ, सस्ती, और व्यावसायिक रूप से उपयोगी न बनाया जाए। उनके अनुसार शिक्षा न केवल सामाजिक गतिशीलता का साधन है, बल्कि यह आर्थिक आत्मनिर्भरता की नींव

भी रखती है। उनका आर्थिक चिंतन मार्क्सवादी सिद्धांतों से प्रभावित अवश्य था, परंतु उन्होंने उसे भारतीय सामाजिक संदर्भ के अनुरूप व्यावहारिक रूप देने की कोशिश की। वे क्रांति के बजाय संवैधानिक और संस्थागत सुधारों के पक्षधर थे। डॉ. अंबेडकर ने यह विश्वास प्रकट किया कि भारत जैसे विविधतापूर्ण समाज में केवल आर्थिक ढांचा बदलने से सामाजिक समरसता नहीं लाई जा सकती इसके लिए समान अवसर, आत्मसम्मान, और सामाजिक भागीदारी भी अनिवार्य हैं। 123। उन्होंने राज्य को एक कल्याणकारी संस्था के रूप में परिभाषित किया, जो केवल कानून और व्यवस्था बनाए रखने तक सीमित न होकर, आर्थिक और सामाजिक न्याय की दिशा में सक्रिय भूमिका निभाए। वे मानते थे कि जब तक संसाधनों, अवसरों, और सेवाओं का न्यायसंगत वितरण नहीं होगा, तब तक संविधान द्वारा प्रदत्त अधिकार भी अव्यवहारिक रहेंगे। इस प्रकार, डॉ. अंबेडकर की आरक्षण नीति महज़ प्रतीकात्मक या अस्थायी समाधान नहीं थी, बल्कि वह एक गहन सामाजिक-आर्थिक पुनर्निर्माण की प्रक्रिया का हिस्सा थी। उन्होंने इसे भारत के लोकतंत्र को समावेशी, टिकाऊ और न्यायपूर्ण बनाने की दिशा में एक क्रांतिकारी कदम के रूप में प्रस्तुत किया। यह दृष्टिकोण आज भी भारत में नीतियों के निर्माण में मार्गदर्शक सिद्धांत के रूप में देखा जा सकता है। (24)

डॉ. भीमराव अंबेडकर ने भारतीय मुद्रा व्यवस्था, वित्तीय नीति, और मौद्रिक स्थिरता पर गंभीर चिंतन किया। उनकी प्रसिद्ध पुस्तक "रुपये की समस्याः इसका उद्भव और समाधान" पहली बार 1923 में प्रकाशित हुई थी । इस पुस्तक में अंबेडकर ने भारतीय मुद्रा प्रणाली के ऐतिहासिक विकास और उससे उत्पन्न समस्याओं का विस्तार से विश्लेषण किया। उन्होंने बताया कि किस प्रकार भारत की मुद्रा नीति ब्रिटिश साम्राज्य की हितसाधक नीति का हिस्सा रही है, (25) जिसमे भारतीय अर्थव्यवस्था को स्थायित्व और संतुलन से वंचित किया। अंबेडकर का मानना था कि भारत के लिए एक स्वतंत्र और सुसंगत मौद्रिक नीति अत्यंत आवश्यक है, जो देश की आंतरिक आवश्यकताओं और आर्थिक वास्तविकताओं पर आधारित हो, न कि केवल औपनिवेशिक आवश्यकताओं के अनुरूप । उन्होंने "गोल्ड स्टैंडर्ड" प्रणाली की आलोचना करते हुए फिएट मनी की वकालत की, जिसमें मुद्रा का मूल्य सरकार के आदेश और आर्थिक नियंत्रण द्वारा निर्धारित किया जाता है, न कि केवल उसके स्वर्ण भंडार से। (26)

उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा कि यदि भारत को आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त करनी है, तो उसे मुद्रा स्फीति, विदेशी विनिमय दरों, और केंद्रीय बैंक की भूमिका को वैज्ञानिक और भारतीय संदर्भ में परिभाषित करना होगा। उनका सुझाव था कि एक मजबूत और स्वायत्त केंद्रीय बैंक, जैसे भारतीय रिज़र्व बैंक, मुद्रा की स्थिरता सुनिश्चित कर सकता है। 1271 उन्होंने केंद्रीय बैंक की भूमिका केवल मुद्रा छापने तक सीमित नहीं रखी, बल्कि उसे एक नियामक संस्था के रूप में देखा, जो क्रेडिट कंट्रोल, बैंकिंग निगरानी और मौद्रिक संतुलन बनाए रखने का कार्य करे। उनकी यह दृष्टि आधुनिक भारत की मौद्रिक नीति के विकास की आधारशिला बनी और बाद में भारतीय रिज़र्व बैंक (1935) की स्थापना के पीछे उनके विचारों की स्पष्ट छाया देखी जा सकती है। सारांशतः, डॉ. अंबेडकर ने मुद्रा नीति को केवल आर्थिक तंत्र नहीं, बल्कि सामाजिक न्याय और राष्ट्रीय स्वावलंबन के औजार के रूप में देखा। उनके अनुसार, एक सशक्त मुद्रा नीति ही गरीबों और शोषित वर्गों को आर्थिक असमानताओं से मुक्ति दिला सकती है। [28]

डॉ. भीमराव अंबेडकर ने भारत की स्वतंत्रता के उपरांत सामाजिक और आर्थिक पुनर्रचना को केवल राजनीतिक स्वतंत्रता तक सीमित न मानते हुए, योजनाबद्ध आर्थिक विकास को उसका आवश्यक हिस्सा माना। उनका मानना था कि यदि भारत को एक समतामूलक, न्यायसंगत और आधुनिक राष्ट्र के रूप में विकसित करना है, तो उसे एक सशक्त और उद्देश्यपूर्ण राज्य की भूमिका को अपनाना होगा। उन्होंने कहा कि यदि योजनाबद्ध विकास के माध्यम से संसाधनों का समान वितरण, उत्पादन के साधनों पर समाज का अधिकार, और वंचित वर्गों की भागीदारी सुनिश्चित नहीं की गई, तो स्वतंत्रता का वास्तविक अर्थ अधूरा रहेगा। 1291 डॉ. अंबेडकर ने "जन योजना" जैसी योजनाओं के माध्यम से यह स्पष्ट किया कि विकास का उद्देश्य केवल आर्थिक वृद्धि नहीं है, बल्कि सामाजिक न्याय, समान अवसर और गरीबी उन्मूलन भी होना चाहिए। उन्होंने यह तर्क दिया कि निजी पूंजी का स्वभाव मूलतः लाभ आधारित होता है, जिससे समाज में असमानता और शोषण को बल मिलता है। अतः राज्य को आर्थिक योजनाओं के निर्माण, संसाधनों के प्रबंधन और वितरण की केंद्रीय भूमिका निभानी चाहिए। उन्होंने आर्थिक विकास को समाज के सबसे कमजोर वर्गों तक पहुंचाने को प्राथमिकता दी। [30]

उनके 'राज्य और अल्पसंख्यक' दस्तावेज में यह सुझाव स्पष्ट रूप से मिलता है कि राज्य को प्रमुख उद्योगों, कृषि, खनिज संसाधनों, परिवहन, बिजली उत्पादन आदि क्षेत्रों का स्वामित्व रखना चाहिए। उन्होंने भूमि सुधारों पर बल देते हुए

सामूहिक खेती, निजी जमींदारी उन्मूलन, और भूमिहीनों को भूमि आवंटन जैसी नीतियों की वकालत की, जिससे ग्रामीण गरीबी का अंत किया जा सके। उनका यह दृष्टिकोण इस विचारधारा पर आधारित था कि समाज में आर्थिक संसाधनों की विषमता सामाजिक विषमता को भी जन्म देती है। अंबेडकर की योजनाबद्ध अर्थव्यवस्था की अवधारणा केवल सामाजिकवाद की नकल नहीं थी, बल्कि वह भारतीय संदर्भों के अनुसार नवीन समाजवाद की एक व्यावहारिक अभिव्यक्ति थी। उनका मत था कि भारत जैसे विविधता भरे और जाति आधारित समाज में केवल बाजार की ताकतों पर भरोसा करके विकास की प्रक्रिया को समावेशी नहीं बनाया जा सकता। (32) उन्होंने शिक्षा, स्वास्थ्य, श्रम सुरक्षा और महिलाओं के आर्थिक सशक्तिकरण को भी नियोजन के केंद्र में रखने की बात कही, जिससे राज्य की भूमिका एक कल्याणकारी संरचना के रूप में उभरती है। इस प्रकार, डॉ. अंबेडकर का योजनाबद्ध विकास का दृष्टिकोण न केवल आर्थिक रणनीति थी, बल्कि सामाजिक न्याय, राजनीतिक समानता, और संवैधानिक मूल्यों को आर्थिक ढांचे में ढालने का एक सशक्त प्रयास था। उनकी यह विचारधारा आज भी भारत के नीति-निर्माण में एक प्रेरणास्रोत है, जहाँ "जनकल्याण", "समता" और "समान अवसर" जैसे आदर्श नीति और योजना निर्माण की नींव बने हुए हैं। [33]

आज का भारत एक ओर आर्थिक विकास की नई ऊँचाइयों को छू रहा है, तो दूसरी ओर सामाजिक और आर्थिक असमानता की खाई दिन-प्रतिदिन और गहरी होती जा रही है। एक हालिया रिपोर्ट के अनुसार, देश की शीर्ष 1% आबादी सम्पत्ति के एक अत्यधिक बड़े हिस्से पर अधिकार रखती है, जबकि शेष 99% जनता में से बड़ी संख्या अब भी गरीबी, बेरोजगारी, शिक्षा की असमानता, भूमिहीनता, और श्रमिक असुरक्षा जैसी समस्याओं से जूझ रही है। [34] इस संदर्भमें डॉ. भीमराव अंबेडकर का आर्थिक चिंतन न केवल प्रासंगिक है, बल्कि नीतिगत मार्गदर्शन का एक सशक्त आधार भी बनता है। डॉ. अंबेडकर ने आर्थिक विकास को सामाजिक न्याय के परिप्रेक्ष्य में देखा। उनका मानना था कि यदि आर्थिक विकास का लाभ समाज के सबसे वंचित वर्गों जैसे दलितों, आदिवासियों, श्रमिकों, भूमिहीनों और महिलाओं तक नहीं पहुँचता, तो वह विकास अधूरा, असंतुलित और अन्यायपूर्ण होगा। उनका आर्थिक दृष्टिकोण केवल पूँजीवादी लाभ-केन्द्रित मॉडल पर आधारित नहीं था, बल्कि उसमें मानव गरिमा, समान अवसर, और संविधान प्रदत्त मूल अधिकारों की रक्षा को आर्थिक संरचना का मूल उद्देश्य माना गया। [35] अंबेडकर ने अपने विचारों को "स्टेट सोशलिज़्म" (राज्य समाजवाद) की अवधारणा के तहत प्रस्तुत किया, जिसमें उन्होंने यह स्पष्ट रूप से कहा कि भूमि, जल, वन, खनिज, बीमा, कृषि और उद्योग जैसे उत्पादन के प्रमुख साधनों पर राज्य का स्वामित्व और नियंत्रण होना चाहिए। उन्होंने यह विचार 1945 में "राज्य और अल्पसंख्यक" नामक दस्तावेज़ में स्पष्ट रूप से रखा, जिसमें उन्होंने राज्य को सकल उत्पादन, वितरण और रोजगार सृजन की नियोजक और निष्पादक इकाई के रूप में प्रस्तुत किया। उनके अनुसार, यह राज्य की संवैधानिक जिम्मेदारी है कि वह नागरिकों को न्यूनतम जीवन स्तर, रोजगार, शिक्षा, स्वास्थ्य, और आवास जैसी बुनियादी सुविधाएँ उपलब्ध कराए। [36]

डॉ. अंबेडकर द्वारा प्रतिपादित "जन योजना" इस बात का प्रमाण है कि वे नियोजित आर्थिक विकास में विश्वास रखते थे, जो समावेशी, समानतावादी और समाजोन्मुखी हो। उन्होंने इस योजना के माध्यम से यह दृष्टिकोण रखा कि राज्य केवल एक तटस्थ प्रशासक नहीं, बल्कि जनकल्याणकारी शक्ति के रूप में कार्य करे, जो संविधान में वर्णित सामाजिक-आर्थिक अधिकारों की पूर्ति करे । आज जब नवउदारवाद, निजीकरण, और वैश्वीकरण की नीतियों के कारण सार्वजनिक क्षेत्र की भूमिका सीमित हो रही है, और सामाजिक सुरक्षा योजनाओं में कटौती की जा रही है, तब अंबेडकर का यह चिंतन और अधिक प्रासंगिक हो जाता है। [37] सामाजिक सुरक्षा, शिक्षा, रोजगार और समान अवसर जैसे जिन विषयों को उन्होंने 20वीं शताब्दी में उठाया था, वे आज 21 वीं शताब्दी में और अधिक ज्वलंत हो उठे हैं। उनकी यह चेतावनी कि "राजनीतिक लोकतंत्र तभी सार्थक होगा जब उसके साथ सामाजिक और आर्थिक लोकतंत्र जुड़े हों", आज के संदर्भमें अत्यंत महत्वपूर्ण प्रतीत होती है। डॉ. अंबेडकर की यह दृष्टि हमें यह सिखाती है कि लोकतंत्र केवल चुनाव, वोट और संवैधानिक अधिकारों तक सीमित नहीं होना चाहिए, बल्कि उसमें समान आर्थिक अवसर, संसाधनों तक पहुँच, और गरिमामय जीवन की गारंटी भी निहित होनी चाहिए। उनके विचार आज की नीति निर्माण प्रक्रिया को अधिक सर्वसमावेशी, न्यायसंगत और उत्तरदायी बनाने के लिए प्रेरित करते हैं। यदि हम एक समतामूलक, टिकाऊ और न्यायपूर्ण समाज का निर्माण करना चाहते हैं, तो अंबेडकर के आर्थिक विचारों को नीतिगत मूलाधार बनाना न केवल आवश्यक है, बल्कि अनिवार्य है। उनका चिंतन हमें संवैधानिक आदर्शों को सामाजिक यथार्थ में परिवर्तित करने की प्रेरणा देता है जहाँ विकास का लाभ हर नागरिक तक पहुँचे, न कि कुछ चुने हुए लोगों तक सीमित रह जाए। [38]

निष्कर्ष :

डॉ. भीमराव अंबेडकर का आर्थिक दर्शन भारत की सामाजिक और आर्थिक असमानताओं की गहराई से पड़ताल करता है और उनके समाधान के लिए ठोस नीतिगत सुझाव प्रस्तुत करता है। उनका चिंतन केवल आर्थिक सिद्धांतों तक सीमित नहीं था, बल्कि वह समाज में व्याप्त भेदभाव, जातीय असमानता, भूमिहीनता और श्रमिकों के शोषण जैसे गहन मुद्दों से भी जुड़ा था। उन्होंने अर्थव्यवस्था में वंचित वर्गों की भागीदारी को अनिवार्य माना और राज्य की भूमिका को सामाजिक न्याय के संवाहक के रूप में देखा। डॉ. अंबेडकर ने ज़ोर दिया कि केवल पूँजीगत विकास से सामाजिक समानता नहीं लाई जा सकती जब तक कि संसाधनों का समान वितरण न हो और सामाजिक संरचनाओं में बदलाव न आए। उनके अनुसार, आर्थिक स्वतंत्रता सामाजिक स्वतंत्रता से जुड़ी हुई है और दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। उन्होंने 'राज्य समाजवाद' की अवधारणा का समर्थन किया, जिसमें सार्वजनिक क्षेत्र की प्रधानता, भूमि का राष्ट्रीयकरण, और योजनाबद्ध अर्थव्यवस्था जैसे तत्व शामिल थे। उन्होंने संविधान में 'न्याय', 'समानता' और 'अवसरों की समानता' को सुनिश्चित करने वाले प्रावधानों के माध्यम से इन सिद्धांतों को मूर्त रूप देने का प्रयास किया। "राज्य और अल्पसंख्यक" जैसे दस्तावेज़ में उन्होंने स्पष्ट रूप से बताया कि सामाजिक और - आर्थिक लोकतंत्र के बिना राजनीतिक लोकतंत्र खोखला होगा। यही कारण है कि उन्होंने आर्थिक अधिकारों को मौलिक अधिकारों की श्रेणी में रखने की मांग की थी। आज के भारत में, जहाँ आर्थिक असमानता, बेरोजगारी, श्रमिकों का शोषण और जातीय भेदभाव जैसे प्रश्न अब भी मौजूद हैं, डॉ. अंबेडकर का आर्थिक चिंतन और अधिक प्रासंगिक हो गया है। उनका सपना एक ऐसे समावेशी भारत का था, जहाँ हर नागरिक को अवसर, सम्मान और संसाधनों तक समान पहुँच प्राप्त हो। डॉ. अंबेडकर का आर्थिक दर्शन केवल एक बौद्धिक विमर्श नहीं, बल्कि यह आज भी नीति निर्माताओं, शिक्षाविदों और सामाजिक कार्यकर्ताओं के लिए मार्गदर्शक सिद्धांत के रूप में कार्य करता है। उनका यह दर्शन भारत के सामाजिक-आर्थिक ढांचे को न्यायोचित और समतामूलक बनाने की दिशा में एक ठोस वैचारिक आधार प्रदान करता है।

संदर्भः

1. अंबेडकर, भीमराव रामजी. (1944). *जाति उन्मूलन*. मुंबई. पृ. 65.
2. अंबेडकर, भीमराव रामजी. (1948). *भाषाई राज्यों पर विचार*. मुंबई. पृ. 27.
3. अंबेडकर, भीमराव रामजी. (1923). *रुपये की समस्या: इसकी उत्पत्ति और समाधान*. लंदन. पृ. 68.
4. अंबेडकर, भीमराव रामजी. (1925). *ब्रिटिश भारत में प्रांतीय वित्त का विकास*. लंदन. पृ. 73.
5. अंबेडकर, भीमराव रामजी. (1948). *अछूत—वे कौन थे और क्यों बने*. मुंबई. पृ. 89.
6. अंबेडकर, भीमराव रामजी. (1989). *डॉ. बी. आर. अंबेडकर की रचनाएँ और भाषण*. दिल्ली. पृ. 133.
7. अंबेडकर, भीमराव रामजी. (1989). *डॉ. बी. आर. अंबेडकर की रचनाएँ और भाषण*. दिल्ली. पृ. 65.
8. अंबेडकर, भीमराव रामजी. (1989). *डॉ. बी. आर. अंबेडकर की रचनाएँ और भाषण*. दिल्ली. पृ. 78.
9. अंबेडकर, भीमराव रामजी. (1989). *डॉ. बी. आर. अंबेडकर की रचनाएँ और भाषण*. दिल्ली. पृ. 76.
10. अंबेडकर, भीमराव रामजी. (1923). *रुपये की समस्या: इसकी उत्पत्ति और समाधान*. लंदन. पृ. 57.
11. अंबेडकर, भीमराव रामजी. (1947). *आर्थिक इतिहास भारत का*. दिल्ली. पृ. 45–47.
12. अंबेडकर, भीमराव रामजी. (1945). *भूमि सुधार पर विचार*. मुंबई. पृ. 10–12.
13. अंबेडकर, भीमराव रामजी. (1945). *भूमि सुधार पर विचार*. मुंबई. पृ. 112.
14. अंबेडकर, भीमराव रामजी. (1925). *ब्रिटिश भारत में प्रांतीय वित्त का विकास*. कलकत्ता. पृ. 134.
15. अंबेडकर, भीमराव रामजी. (1942). *पेंशन प्रणाली का पुनरीक्षण*. दिल्ली. पृ. 78.
16. अंबेडकर, भीमराव रामजी. (1943). *औद्योगिक विवाद अधिनियम पर विचार*. बंबई. पृ. 91.
17. अंबेडकर, भीमराव रामजी. (1944). *कर्मचारी राज्य बीमा योजना पर टिप्पणी*. नागपुर. पृ. 105.
18. अंबेडकर, भीमराव रामजी. (1944). *कर्मचारी राज्य बीमा योजना पर टिप्पणी*. नागपुर. पृ. 65.
19. अंबेडकर, भीमराव रामजी. (1944). *कर्मचारी राज्य बीमा योजना पर टिप्पणी*. नागपुर. पृ. 69.

20. अंबेडकर, भीमराव रामजी. (1943). *श्रमिकों का भविष्य*. नागपुर. पृ. 32–34.
21. अंबेडकर, भीमराव रामजी. (1946). *भारत में जातियाँ: उनका तंत्र, उत्पत्ति और विकास*. नई दिल्ली. पृ. 75–76.
22. ओमवेट, गेल. (2004). *डॉ. अंबेडकर: नये भारत का निर्माणकर्ता*. नई दिल्ली. पृ. 112–114.
23. कांबले, टी. आर. (1999). *डॉ. अंबेडकर का सामाजिक न्याय दर्शन*. पुणे. पृ. 89–91.
24. संदीप, शेखर. (2010). *अंबेडकर और भारतीय संविधान में सामाजिक न्याय*. इलाहाबाद. पृ. 45–47.
25. अंबेडकर, भीमराव रामजी. (1948). *अछूत—वे कौन थे और क्यों बने*. मुंबई. पृ. 55–57.
26. केलकर, विजय. (2010). *Ambedkar and Economic Thought*. नई दिल्ली. पृ. 102–106.
27. देसाई, आशीष. (2015). *भारतीय अर्थनीति में डॉ. अंबेडकर का योगदान*. पुणे. पृ. 67–70.
28. कुमार, विकास. (2018). *Ambedkar and the Modern Indian Financial System*. कोलकाता. पृ. 115–122.
29. अंबेडकर, भीमराव रामजी. (1955). *Thoughts on Linguistic States*. मुंबई. पृ. 52–60.
30. अंबेडकर, भीमराव रामजी. (1947). *States and Minorities*. दिल्ली. पृ. 14–15.
31. राम, जगपाल. (2012). *डॉ. अंबेडकर और भारत की आर्थिक नीति*. नई दिल्ली. पृ. 78.
32. लोखंडे, जयसिंह. (2004). *Dr. Babasaheb Ambedkar: The Architect of Modern India*. हैदराबाद. पृ. 115.
33. जाफर, एस. एम. (1999). *Ambedkar and Socialist Thought*. अलीगढ़. पृ. 68.
34. अंबेडकर, भीमराव रामजी. (2013). *राज्य और अल्पसंख्यक*. दिल्ली. पृ. 17.
35. ओमवेट, गेल. (2005). *अंबेडकर: एक समकालीन चिन्तक*. नई दिल्ली. पृ. 89.
36. धानराज, बालिराजा. (2014). *अर्थनीति और अंबेडकर*. पुणे. पृ. 55.
37. चौधरी, बद्री नारायण. (2016). *दलित दृष्टिकोण और आधुनिक भारत*. नई दिल्ली. पृ. 103.
38. जाटव, सूरज. (2010). *अंबेडकर का समाजवादी दृष्टिकोण*. जयपुर. पृ. 70.

Received: 10.12.2025 | Accepted: 15.12.2025 | Published: 30.12.2025

A COMPARATIVE ANALYSIS OF DRINKING WATER RIGHTS AND LAWS WITH SPECIAL REFERENCE TO INDIA AND SRI LANKA

Dr. Anuja Mishra[*]
anujamishra@cusb.ac.in.

Dr. Ajay Kumar Barnwal[†]
ajaybarnwal@bhu.ac.in

ABSTRACT

Water resources and their uses are one of the main issues in this new century for environmental and social equilibrium. Though in the ancient period, it has been an unlimited resource now it has become a commodity with many restrictions. It becomes a serious concern when we talk about drinking water. Developing and under developed countries are the worst affected by scarcity, pollution and violation of drinking water rights. At International level, though it has been addressed in sustainable development goals and millennium development goals, effective implementation and solutions to the problem are still far away. This paper tries to address some important issues at legal and policy level which are affecting the drinking water rights of the common people in two developing countries, which are India and Sri Lanka. Both the countries are facing some common drinking water problems like depletion and degradation of water resources due to various reasons. Further, this paper shall review the constitutional and legal status of the right to safe drinking water, various governmental programmes and policies for protection and promotion of the right to safe drinking water in India and Sri Lanka. The researcher has utilized doctrinal methods of research. This paper has compressively reviewed the constitutional status of the right to safe drinking water, problems in implementation of the right at governmental and administrative level in India and Sri Lanka and provides some workable suggestions.

Keywords: *Human Right, Water Laws, Water Policy, Sri Lanka, India.*

INTRODUCTION

"Water, like religion and ideology, has the power to move millions of people. Since the very birth of human civilization, people have moved to settle close to it. People move when there is too little of it. People move when there is too much of it. People journey down it. People write, sing and dance about it. People fight over it. And all people, everywhere and every day, need it."[1]

Water is the essence of life and a limited natural resource. Life of human cannot be imagined without water on the Earth. Still, it has got various shades of danger on its availability, accessibility

[*]**Assistant Professor, Depart. of Law & Governance, Central University of South Bihar, Gaya.**

[†] **Assistant professor, Faculty of Law, Banaras Hindu University, Varanasi-221005 (U.P.).**

and purity in most parts of the world just due to the irresponsible activities of human beings. It becomes more considerable when we talk about the situation of developing countries (most of the Asian countries).[2] The situation is very complex in these countries between uses and users. Overuse of water by some people creates a disastrous situation for large masses. Users have a tendency of extracting water, polluting and degrading its quality without thinking about others who are also using this water for different purposes. Consequently, there is a shortage in supply of safe water, pollution of water at large scale, which creates danger to health and life especially to those who are deprived and economically weak and inefficient. This is the basic problem in almost all Asian countries.[3]

Globally, the phrase 'water scarcity' is the most discussed issue which is based on some sour and unbelievable realities.[4]On the earth, available fresh water is only 2.5 % out of which almost 1% is ready to access.[5] The Earth planet has only 0.07% fresh water which is portable for use by human beings. A recent fact estimated by United Nations expressed that around 2.8 billion people will be troubled due to non-availability of freshwater by[6] 2025.[7] Sustainable water resources of "Western Asia and Northern Africa" have already been consumed.[8]

Globally, around 2.2 billion of the of the population do not have access to improved sources of safe drinking.[9] Around 4,85,000 people drink polluted water with various contaminations and they die every year due to diarrhea. It is estimated that, by 2025, almost half of the world's population will be living in a water-stressed areas.[10] These numbers of deprived and victimized people just shed light on painful conditions while the reality is the worst.[11]This equation is almost the same around the world.

For a healthy and peaceful life, minimum quantity of clean water is necessarily required. It should be the main agenda of the government to remove the difficulties in the implementation of the right at ground level. However important development challenge issues remain and efficient supply of clean drinking water specially among the poorer townships is vital to sustain the pace of development. As in other parts of the world, access to clean water has been observed as a fundamental human right and is therefore seen as a serious political issue. In comparison to India, the Sri lankan government is very cognizant of the importance of the issues and is intent to provide safe and clean drinking water to its citizens.[12] Poverty, inequality, unequal power relationships, social and environmental challenges, rampant urbanization, climate change, increasing pollution and over exploitation of water resources are basic hurdles in actualization of the right.[13]

RESEARCH METHODS:

In this research paper researcher has used doctrinal methods of research. Both primary and secondary sources of research have been explored to analyse this research paper. Text Books, Original cases, laws, acts and legal provisions related to the right to water have been used. Other than this, legal websites have been analysed to complete the requirement of research.

This paper presents a comprehensive analysis of evolution and formal establishment of Human Right to water at international level and its essential components. The paper presents a comprehensive assessment of origin, development, legal status and judicial approach towards the right to safe drinking water in Sri Lanka and India. The status of the right in two countries is compared in terms of equal availability, accessibility and quality of the water and what are the

issues for implementation of the right in both countries which is the basic problem of this research paper. As India and Sri Lanka both are the developing countries and climate conditions of Sri Lanka and Southern Indian States are almost similar, it would be interesting to know what are the similarities and disparities in both the countries regarding various aspects of the right to water, specifically potable drinking water. Finally, the paper gives some recommendations and draws out a conclusion.

EVOLUTION AND ESTABLISHMENT OF HUMAN RIGHT TO WATER AT INTERNATIONAL LEVEL

The right to clean drinking water has been discussed various international treaties and customary rules. This right is found in both expressly and impliedly. There are several international treaties and conventions which show its existence in both forms. Some of these conventions and treaties have binding effects some have non-binding effects on the states which oblige the signatory states towards right to water of their citizens. The right to water was brought in existence in 1977 through Mar del Plata action plan which was initiated by the international community t establish public ownership of water. This action plan stated that water legislations should define the rules of public ownership of water projects. Rights, obligations and responsibilities should emphasize on the role of public bodies and authorities at proper level for control of quality and quantity of water. Administrative procedures, which are necessary for equitable and coordinated control of all aspects of water and land use problems efficiently, should also be spelled out in the legislation.[14] Water is mentioned in three treaties: Article 14 (2) of the 1979 Convention on the Elimination of All Forms of Discrimination against Women (CEDAW) [11], article 24 (C) of the 1989 Convention on the Rights of the Child (CRC) states that, "state parties are required to pursue full implementation and should take appropriate measures in relation to clean drinking water and hygiene facilities." Right to safe drinking water has not been mentioned in any other convention. Existing treaties do not not recognize an independent and separate right. This recognition does not yet find mention in the International Covenant on Economic, Social and Cultural Rights (ICESCR). Beyond treaties, a number of soft law instruments confirm the existence of the right. In 2007 a report of the UN High Commissioner for Human Rights stated that 'the debate is still open as to whether access to safe drinking water and sanitation is a human right', questioning in particular its nature as a derived or self-standing right [14]. Subsequently, the UN General Assembly resolution in 2010 emphasized the separate identity of the right to water [15]. This resolution is in the form of a political declaration. The clearest definition of the Human right to potable water has been issued by the United Nations Committee on Economic, Social and Cultural Rights [16].

Human right to safe drinking water and sanitation was recognized in 2010 by a vote of all member nations of the "United Nations General Assembly" to pass a resolution A/RES/64/292.[15] Later on, UNHRC adopted a new resolution A/HRC/15/L.14

To make it legally binding. .[16] It can be said that this resolution makes it obligatory to observe the right to water and sanitation as a fundamental human right and a legitimate right. The United Nations Committee on Economic, Social and Cultural Rights adopted General Comment 15 in 2002 and defined the right to water in a new way.[17] Four years later, "United Nations sub commission" adopted new guidelines to protect and promote this right.

The Committee on Economic, social and cultural rights has defined the right to water within some stipulated boundaries which may create doubt and obstacles in its implementation effectively. A better study is required to understand about the origin and legal status of the right, the way and agency through which the right may be made functional. If the water is a right then what should be guaranteed through this right and in what manner. A global level regulation of this resource is required. Some social, cultural, economic and environmental issues may convert into conflicts.[18]Water rights are a quintessential condition in the international sphere for the successful enjoyment of the right to an adequate standard of living and health.

In this reference, United Nations has been taking its initiatives towards the issues of water resources in developing countries. Over the last decade, United nations has paid a great attention to these countries and helped them in easy accessibility of potable water for around 1.3 billion people who meant for this consumption. Some International meetings like United Nations Water Conference (1977), the International Drinking Water Supply and Sanitation Decade (1981-1990), the International Conference on Water and the Environment (1992) and the Earth Summit (1992), are worth mentioning as the work focus of these meetings had been on the way to make the access to water easier at global level.[19] In 2010 U.N. General Assembly and Human Rights Council resolutions notified something specific i.e., water as a right. Water has been described in two ways, **"it should be sufficient, safe, acceptable, physically accessible and affordable for domestic and personal uses."** There are three essential components of the human right to water such as:

(1) **Availability-** In real sense water can be said to be available only if safe and clean water is available for drinking, domestic and sanitation purposes. This also includes sufficient quantity and reliable services.

(2) **Quality-** Quality of water should be of that standard that it should be free from all toxic or chemical contaminations.

(3) **Accessibility-** Water can be said accessible only if it is accessible to every person even if they are men, women and children. Distance of water resources also matters. It should be within the reach of the people without any difficulty.

WATER RESOURCES AND HISTORICAL WATER GOVERNANCE IN SRI LANKA

In the mythical literature of the Indian Sub-continent, the Island of Sri Lanka holds a great place.[20]It is believed that the origin of Indo- Aryans settlements in Sri Lanka was 5th Century BC and initially they were located on the banks of famous rivers on the west-central coast. They carry 2500 years old hydraulic civilization of Sri Lanka and constructed great irrigation systems in dry zones.[21] They have a scientific vision of integrated water resources management.[22] They did a lot in the fields of drinking water supply and other adjacent issues.[23] Several written and epigraphic sources elaborate about the 2000 years old water harvesting and management systems in Sri Lanka.[24] Since 1948-2000 intensive programmes have been running for the development of irrigation infrastructure as Sri Lanka gained independence in the year of 1948. In 1950 a reservoir named Senanayake was built, which was the largest one. There was a large water resources development project, named Mahaweli Development Project. These technologies have played a great role in the history of Sri Lanka.[25] In the present times rainfall is quite wide in Sri Lanka which is 2,200 and 1,900 mm, annually amounts to around 132 billion cubic meters (BCM) while approximately 50 BCM water runoff every year.

According to an estimate, the annually renewable water supply capacity is 43.2 BCM while 8.7 BCM water is withdrawn every year.[26] It shows that there is no scarcity of water supply on the Island. Still insufficient accessibility of safe drinking water is a common issue.[27] Even a majority of rural areas of the Capital city of Colombo is facing scarcity of water which has different faces like scarcity of drinking water, water for agricultural purposes, and inaccessibility of safe drinking water and incapacity of common rural people to buy purified water. Though there is enough sufficient supply of rainwater in the island, it is not the same in all areas which cause a lack of safe drinking water. Most of the Sri Lankan population fulfills their requirement of drinking water from wells, tube wells, hand pump, canals, and rainwater harvesting tanks, irrigation tanks, streams and water supply schemes. More than 160 companies which provide packaged drinking water are working in Sri Lanka facilitated by the government under the Food Act no. 26 of 1980 for utilization of various water resources, basically water streams and groundwater resources. But the government did not consider that it has a concealed risk of exploitation of ground water against the correlative rights of neighboring land holders.[28] Poor conditions of water resources and ground water also additions to the lack of purified drinking water. Consequently, these factors contribute to a greater extent to insufficient drinking water to the population.

PRESENT NATIONAL LEGAL STANDARDS OF THE RIGHT TO SAFE DRINKING WATER AND WATER GOVERNANCE IN SRI LANKA

In Sri Lanka, there are a series of governing laws which are around 52 statutes and nearly 41 institutions which are working as coordinating bodies for management of water resources in Sri Lanka. Every law and institution have its individual agenda and they are attempting to carry out their assigned duties within the sphere of law. But in Sri Lanka, the right to water is recognized neither in Constitution 1978 nor there is any specific legislation governing the right separately. Though under the National Water Supply and Drainage Board Law No.2 which was enacted in 1974, a Board has been established which governs the water supply matters in Sri Lanka. Section 16 (1) of this specific law provides that,

"It shall be the duty of the Board to develop, provide and operate and control an efficient, coordinated water supply and to distribute water for public, domestic and industrial purposes." Thus, the main responsibility of development and maintenance of drinking water is on the National Water Supply and Drainage Board.[29] Section 270 of the Sri Lankan Penal Code Ordinance provides for the penal provision for intentionally fouling the water of a spring and reservoir.[30]

The prevailing legislations have been amended from time to time which include National Water Supply and Drainage Board Amendment Act No. 13 of 1992 and Water Resource Board (Amendment) Act No. 42 of 1999, though many of these implications could not be brought into effect. There are many specific and commanding specialties of the Water Resource Board Act of 1964 which include making plans and policies for the prevention of pollution, conservation and utilization of water sector, integrated planning and coordinating on various activities on water resources and giving advice to the minister who is in-charge of the related department.

Various National agencies decide about the water allocation to different users with their mutual consent to meet the demands of different users.[31] Historically or through legislation the responsibility of water allocation has been vested upon National institutions. Generally, water is

allocated on the basis of necessity as the priorities for water allocation are not declared. Water Resource Board (WRB), Mahaweli Authority of Sri Lanka (MASL), National Water Supply & Drainage Board (NWSDB), Irrigation Department (ID) and Ceylon Electricity Board (CEB) are some leading institutions for water resource management in Sri Lanka. These agencies are working independently and working under different ministries.[32]

EVOLUTION OF DRINKING WATER POLICY IN SRI LANKA

There are some National Water Policies established by the Sri Lankan government. Sri Lankan National Environmental Policy also explores the right. In 2002 a National Water Policy on Water Supply and Sanitation was introduced which has a vision of improving the standard of living, promoting economic prosperity and preserving the environment by providing drinking water facilities to the people of Sri Lanka.[33] This Policy gives a major directive that, "The right to water will be granted through water entitlement. There were some objectives behind bringing this policy. These goals were to provide safe drinking water to the 85% people of Sri Lanka by 2010 and to extend it up to 100% till 2025, so the policy defines the objective of recognition of safe drinking water as basic right and to provide safe drinking water to the whole population of the country. Here are some particular principles to be followed.

(a)- There should be a people centred participatory approach for the Planning and development of water supply.

(b)- Role of government should be as custodian for managing water resources considering the needs of present and future generations.

Implementation of the policy should be in rural and urban both kinds of water supply. The government has established guidelines for assurance of proper use of water resources and adopted principles of transparency, accountability and equality so that the right to access safe drinking water for all citizens can be ensured. In the year of 2003 one more National Policy had been set up by the Ministry of Environment which provided that there should be national level planning for water resource management. According to the First Principle of the policy,

"To meet the national need of water an adequate and uninterrupted supply of clean water should be maintained."

Other than this, there are 12 more principles with a vision of protection of reservoirs and ensuring the potable drinking water to the whole population of the country. It is generally considered that policies are the soft laws because they are not binding in nature and there will not be any liability if the introduced goals are not achieved. In the famous case of ***Ravindra Gunawardena Kariyawasam v Central Environment Authority and Others***[34,] the Sri Lankan Supreme court applied the *'Polluter pays principle'* against the company at fault. The court held that the thermal power plant has been operated by the respondent company which has polluted the ground water of Chunnakam area where the thermal power station is being run. The thermal plant has made the groundwater of the area unfit for use by human beings. Justice Prasanna applied the polluter pays principle and made the respondent company liable and imposed a fine of 20 million among the people who reside within 1.5 km. radius of the area where the plant is being run and whose wells were polluted and contaminated with oil and grease. Thus, this case was a landmark which

emphasizes and protects, "the right to clean drinking water of the people." It shows that the Supreme Court of Sri Lanka has also contributed a lot in the development assurance and promotion of the right to safe drinking water.

RECOGNITION OF DRINKING WATER RIGHTS IN INDIA

India has various resources for getting clean drinking water. An average rain is 1,170 millimeters per year; sometimes it is 4,000 cubic kilometers. Fresh water availability per capita was 1816 and 1545 cubic meters in the years of 2001 and 2011 which is going to be reduced to 1486 and 1367 cubic meters respectively by the years of 2021 and 2031. Growing population of India is a very important factor creating water stress in the country. Today India has the world's largest population.

A plethora of legal instruments and provisions describe the necessity of water and mandates that it should be distributed compulsorily among common people through various resources. Indian Constitution does not recognize Right to safe drinking water expressly, but the Indian judiciary has worked hard not only in establishing this right but also confirming its existence repeatedly. Failure of the legislature in giving appropriate content to the right to safe drinking water has resulted in an important gap in existing legal framework. Water rights in India are a little complex. Laws and practices involving these rights have been evolving fast since the late 20th century.[35]

RIGHT TO WATER AND EFFORTS OF INDIAN JUDICIARY

Though various attempts have been made by the state in the development and implementation of Right to safe drinking water, they are not yet sufficient. The Supreme Court as well as several High Courts in States in India upheld the citizens' right to have access to clean drinking water as a fundamental right as per Article 21. In ***Subhash Kumar v State of Bihar***[36], the Supreme court held that the right to live 'includes the right of enjoyment of pollution free water and air for full enjoyment of life. In ***M.C. Mehta v Kamalnath***[37], the Supreme Court categorically ruled that the State is not only bound to regulate water supply, but should also help realize the right to healthy water and prevent health hazards. The principle of Roman law *'salus populi est suprema lex* (welfare of the people is paramount law) was applied.

In State of ***Karnataka v State of Andhra Pradesh***[38], the Court held that the right to water is a right to life, and thus a fundamental right. In ***Narmada Bachao Andolan v Union of India***[39], it was held that 'water is the basic need for the survival of human beings and is part of the right to life and human rights. The A.P. High Court, while citing several of the abovementioned rulings of the Court, reiterated the responsibility of the State in providing clean drinking water to the citizens in ***P. R. Subhash Chandran v Government of Andhra Pradesh & Others***.[40]

Apart from expanding the content of the right to life as including the right to water, the court has in the context of water pollution, mandated the cleaning up of the water resources including rivers in ***M.C. Mehta v. Union of India***[41] and even tanks and wells in ***Hinch Lal Tiwari v. Kamala Devi.***[42] In ***Vishala Kochi Kudivella Samarkshana Samiti v. State of Kerala***[43], the court specifically provided that the government is bound to provide 'drinking water to the public' and that this should be the foremost duty of the government. Thought the Indian Courts have worked hard and shown their zeal to make this right alive still they failed to provide an effective framework which underlines the fundamental rights.

INDIAN LEGISLATIVE FRAMEWORK OF THE WATER RIGHTS

In India, the case laws on the right to water are supplemented by a variety of legal instruments that give some additional content to the right. Most of these instruments are at the state level. The constitutional authority is bestowed upon the State governments by virtue of entry 17 of the State List entry 56 in the Union List and also one must not forget Article 262 of the Constitution. The plain reading of Article 262 of the Indian Constitution provides that Parliament may by law provide for the adjudication of any dispute or complaint with respect to the use, distribution or control of the waters of, or in, any Inter- State River or river valley.

Besides this, the parliament also has exclusive power to make any law with respect to any matter not enumerated in the Concurrent List or State List which is otherwise known as "Residuary Powers" of the Parliament. Thus, wide ranges of law-making powers have been conferred upon the Union government with respect to the regulations and governance of water management and rights in India. But it is unfortunate to note that right to water has not been included within the ambit of "Fundamental Rights" but it is an extension of Article 21 of the Indian Constitution. Additionally, Article 39 (b) of the directive principles of state policy (DPSP), which the Constitution declares to be non-justifiable, recognizes the principle of equal access to the material resources of the community.

Other than this, the government has done something praising in this reference like Accelerated Rural Water Supply Programme (ARWSP) which was introduced in 1972-73 by the Government of India to assist the States and Union Territories (UTs) to accelerate the pace of coverage of drinking water supply. In 2009, a completely new policy framework, now known as the National Rural Drinking Water Programme (NRDWP) was adopted. It has built a new policy framework regarding Swajaldhara Guidelines from 2003 onwards. The striking feature of this programme is that it ignores the existence of human right to water. Rural Drinking Water, Strategic Plan (2011–2022) reverts to a per capita measure. It tells about the goal to achieve 70 lpcd by 2022.

Other than this in the year 1987 India adopted a National Water Policy which was later on reformulated in 2002.These two national policies talk about development of groundwater rules, meeting drinking water needs, developing irrigation facilities, encouraging the participation of stakeholders in water management, monitoring water quality, promoting conservation consciousness, developing a flood control and management system. The national policy has been supplemented by state water policies.

Water act, 1974[44] is a specific law which talks about prevention of water pollution. The act is very relevant from this aspect because it seeks to maintain and restore "wholesomeness of water". The object of the act states pollution of water in rivers and streams has assumed a considerable and important place. In the act it has been tried to ensure that domestic and industrial effluents should not be allowed to be discharged until treated adequately. The act covers various types of waters within its ambit. The Act provides for the penal provisions for all in case of water pollution by individuals, companies, industries and government employees.[45]

Though the water act is the only law which talks about water or more or less water rights but it also has many flaws which sometimes seem to help the polluters. Some provisions required

immediate amendments for the better protection of the water rights of the common citizens. Punishment is also meager which sometimes makes a mockery of the water rights.

RECENT EFFORTS OF INDIAN GOVERNMENT FOR BETTER AVAILABILITY AND ACCESSIBILITY OF SAFE DRINKING WATER

(i) **SWAJAL SCHEME :** On February 18th 2018, the Ministry of Jal Shakti initiated a project called 'Swajal Scheme' under the National Rural Drinking Water programme itself. This scheme has been designed to provide sustainable access to safe drinking water to the people of rural areas. Initially this scheme was launched as a pilot scheme in six states of Bihar, Madhya Pradesh, Maharashtra, Rajasthan, Uttar Pradesh, Uttarakhand. Later on, it was extended to 117 aspirational districts of 28 states. These districts have only 25% water supply of piped water in comparison to the national average of 44%.[46] It will have an outlay of 700 crore through flexi funds under (NRDWP) budget. Thus, this scheme has a good scope of extension of piped water supply in these districts.[47]

(ii) JAL JEEVAN MISSION (RURAL)

Vision of the Programme- The most recent significant government program to ensure safe drinking water in India is the "Jal Jeevan Mission (JJM)" which aims to provide a functional household tap connection (FHTC) with safe and adequate drinking water to every rural household essentially focusing on "Har Ghar Jal" (water in every house). This programme has been started considering rural communities. This programme has a vision that every household in rural areas have an adequate drinking water supply with prescribed quality standards on a regular basis for a long period of time for uplifting the standard of living of the rural people. An affordable service delivery charge will be imposed for these services.

Objectives of the Programme- Some broad objectives of the mission are-

(a)-To provide a working FHTC[48] to every household in rural areas.

(b)-To place in priority for FHTC to those areas which are quality affected, drought prone or villages of Sansad Adarsh Gram Yojana (SAGY). Also provide a functional tap connection to the schools, Anganwadi Centers, GP buildings, wellness centers, Health Centers, and community buildings.

(c)- Monitoring of functionality of tap connections. Promoting voluntary ownership among the local rural communities in the form of cash, labour or voluntary labour.

(d)-To bring awareness regarding various aspects of safe drinking water and to empower human resources involved in the sector to make the water everyone's business.

(e)- Providing assistance to ensure sustainability of the water supply system.[49]

(iii) JAL JEEVAN MISSION PROGRAMME (URBAN)

Other than rural Jal Jeevan Mission is a flagship programme of Government of India which also provides safe and adequate drinking water supply to around 4000 towns which have less than 100,000 population.[50] Over a period of next five years with an outlay of 287,000 crore over a period of five years that is, from April 2021 to March 31, 2026. Around 120 million people households

lack access to clean water, which is the highest in the world, according to the UN water. Through this programme clean water will be provided to 28.6 million urban households.[51] Similar to rural, urban Jal Jeeven Mission will also go with the line of 'Har Ghar Jal.'[52]

OBSERVATIONS AND RECOMMENDATIONS BASED ON COMPARATIVE ANALYSIS OF BOTH COUNTRIES

Above discussed laws, policies, evolution of rights and duties related to human right to safe drinking water have made the picture clear that above mentions are not sufficient for protection of the right to safe drinking water in a certain way.

1- In Sri Lanka and India both countries, it is not only a result of the flaws of the present process but also that most of the laws do not have alignment with the practical solutions for demands of the water at national level through a practical and appropriate planning.

2- In Sri Lanka, a board has been established to see the matters of water supply under national Water Policy and Drainage Board Law No.2 of 1974. But Both countries do not have any mention of a fundamental right to safe drinking water.

3- In Sri Lanka the government cannot violate or acquire rights associated with private property thus bound to protect. In this way rights and property-based ownership is protected by the constitution while this is not the same in the Indian constitution. Government can acquire private property of any person for public welfare works.

4- In India Article 21 has got an expansion in the form of an essential ingredient of right to life through the judicial activism of the Indian judiciary. The Supreme Court of Sri Lanka also seems to protect the right but not in that form which connects it to the right to life.

5- Practical implementation of laws is a great problem in both the countries. It happens that there is a great difference in laws in theory and their practicability.

6- In India there are also complexities like caste, religion and the degraded situation of women. Indian society is divided in a caste system which has higher and lower castes. Lower caste people have to face lots of discrimination and insults. They do not equally share the accessibility of water resources. In case of shortage of water and water resources situated at distant places, then the women have to arrange it.

7- Availability of water resources is not the same in all Indian states. It differs due to different weather conditions and ground water availability. In Sri Lanka there is an absolute scarcity of water in Northern, North Western, North Central, Eastern Provinces and Hambanthota Districts. The same situation is found in most of the districts and villages of the state of Rajasthan in India.

8- Excessive Exploitation of ground water through taps is a common problem in both the countries for agricultural and domestic purposes.

9- In both developing countries law implementing agencies are corrupt at all levels from down to up. In India the problem of corruption is excessively dangerous. Though the Indian Water act,

1974 is more or less specific but its implementation is not satisfactory. The nature of the laws is archaic and anti-people. These laws seem like to be enacted to disempower common people rather than empowering communities which are mostly used to terrorize in place of assisting them. Big fishes easily manage to flee out because of faulty provisions of these water laws.

There are some recommendations which may prove helpful in better accessibility of the right to safe drinking water-

1- The *policy* front is required to be worked on, Indian legal framework ties water rights to land rights, reinforcing the perception that water is free and lending to overuse. An integrated legal framework for surface and groundwater governance needed to be established, which puts all water rights in the national trust.

2- Water storage *infrastructure* is inadequate. Decentralized water infrastructure development approaches should be encouraged wherever possible by involving user communities.

3- There is little incentive for responsible *behaviors*. Raising awareness and changing perceptions on water will require investments in behavior change communication initiatives to internal and external stakeholders.

4- Fourthly our water *data* systems are under- developed. Weak data and analytics contribute to insufficient allocations and incorrectly priced water and discourage innovation. Recent innovations in data and analytics (e.g. Use of smart chips and remote sensors in canals and pipes to uncover leakages, plan maintenance and repairs) should be leveraged.

5- Development of a well- spread and functioning network of treatment plants and piping infrastructure for treatment of municipal wastewater in order to recycle it for agriculture and even for drinking purposes. Israel, for example, meets 50% of its irrigation needs through treated municipal wastewater.

6- Policy- makers should encourage researchers to provide them new information. Policy- makers have a large sphere of influence which plays a greater role in manipulation of policies. In this regard particular efforts need to be addressed to meet the problem of safe drinking water.

CONCLUSION

Human right to safe drinking water has been established with great efforts at international level but multiple challenges are curtailing implementation of this right. Steady growth in population and the poor management of water resources practices is going to create the situation dangerous. India and Sri Lanka both countries have agreed with the international community community to protect the right to safe drinking water. Both countries are protecting the right either at government level or at court level but efforts are still insufficient. Though the right to water has not been denied at any level, mere recognition of the right will not work as a **silver bullet** to address the water crisis automatically. Collective efforts must be done by the international agencies, governments, non-governmental organizations and local communities. Governments should actively work to recognize the right at the constitutional level which will pay for a better future for the present and future generations. A nominal tax may be levied so that there will be a break on wastage of water.

Establishment of novel institutional arrangement will be a great solution for both the countries. It should be kept in mind that, they may be a great facilitator but for this it has to be in active motion, truly effective and it should also consider the desire of the people always.

Further, much progress has been made in the sphere of increasing "access to safe drinking water for most of the citizens" still stronger steps are required to be taken "to build a better future by establishing a socio-economic and political order. As the water scarcity is not a problem of a single place or a country, instead it is a global issue. Other than International, national laws and policies should ensure the right to safe drinking water and water rights of common people. Applicable propaganda for the promotion of both rights and sustainable means should be used. This world will come into a state of confrontation of huge scarcity of water which requires a prompt common solution as early as possible.

Reference: -

[1]"Tim Gopi Singh, Trin. & Tobago Minister of Educ., Address by the Minister of Education at the launch of WASA's 2nd National Secondary Schools' Quiz Competition (Jan. 16, 2012) (transcript available at http://www.news.gov.tt/index.php?news=10305) (quoting Mikhail Gorbachev)."

[2]Water Matters, Water Scarcity in Sri Lanka: Fact or Fiction, News of IWMI, s Research in Sri Lanka, Issue-2.

[3]Francois Molle, *Defining water rights: By prescription or negotiation?* 6 WAT'R POL'Y. 207-224 (2004).

[4]WATER MATTERS, *supra note 4.*

[5] W.H.O. *Water Health and Ecosystems*, https://www.who.int/heli/risks/water/water/en.

[6]"When sources are not sufficient for satisfaction of long-term requirements, then scarcity of water occurs It refers to long-term water imbalances, combining low water availability with a level of water demand exceeding the supply capacity of the natural system."

[7] Agency, E. E. T. (2008). "Water Scarcity" Water Facts.

[8] Secretary-General, U. N. (2011). The Millennium Development Goals Report 2011. Jenewa, United Nations. 52.

[9]United Nations (UN Water) "UN World Water Development Report 2020 'Water and Climate Change'" available at: https://www.unwater.org/world-water-development-report-2020-water-and-climate-change updated on 21st march 2021.

[10]WHO Report on Drinking Water, 2019.

[11] Organization, W. H. (2004). Guidelines for drinking-water quality, World Health Organization.

[12] Devlaeminck, D. (2013). The Human Right to Water and the Responsibility to Protect. Philosophy. Hamilton, Ontario, University of Guelph Hamilton, Ontario. Masters of Arts: 125.

[13] Basingstoke, U. K. a. P. M. (2006). United Nations Development Programme, Human Development Report 2006.

[14]Major D P Aluthge, "Pursuing a Better National Water Policy Endowed with Substantial Rights on Water: Case Study of Sri Lanka"11th International Research Conference of General Sir John Kotelawala Defence University, Sri Lanka.

[15] (2010). The Future We Want (The Human Right to Water and Sanitation). International Document. **Section** 1**:** 53.

[16] International Covenant on Economic, Social and Cultural Rights.

[17] "Right of everyone "to sufficient, safe, acceptable, physically accessible and affordable water for personal and domestic uses."

[18] Salman, S. M. A. (2007). " Convention and the Berlin Rules: Perspectives on International Water Law Water Resources Development. "The Helsinki Rules, the UN Watercourses, U.S.A. **23** (4): 625-640.

[19] U.N. (2012). Water for life. Geneva, United Nations.

[20]Fernando, A. (1980). Major Ancient Irrigation Works of Sri Lanka. *Journal of the Sri Lanka Branch of the Royal Asiatic Society, 22*, new series, 1-24. Retrieved April 22, 2023, from http://www.jstor.org/stable/45277707

[21]S.S.K. Chandrasekara and E.R.N. Gunawardena, "Effectiveness of Existing Laws and Regulations to Prevent Encroachments of Stream Reservations", Tropical Agricultural Research Vol. 22 (2): 134 - 143 (2011).

[22]Francois Molle, "Defining Water Rights" Water Policy 6 (2004) 207–227.

[23]K. A. U. S. Imbulana, N. T. S. Wijesekera, B. R. Neupane, "Sri Lanka National Water Development Report", April 2006.UNESCO and Ministry of Agriculture, Irrigation and Mahaweli Development ISBN 955 - 8395 - 01 - 3

[24]Abeywardana, N., Pitawala, H.M.T.G.A., Schütt, B. *et al.* Evolution of the dry zone water harvesting and management systems in Sri Lanka during the Anuradhapura Kingdom; a study based on ancient chronicles and lithic inscriptions. *Water Hist* **11,** 75–103 (2019). https://doi.org/10.1007/s12685-019-00230-7

[25]Book Chapter-Andrew M. Bauer,Kathleen D. Morrison, "Water Management and Reservoirs in India and Sri Lanka" Encyclopedia of the History of Science and Technology and Medicine in North Western Culture, Healine Selin, Edition 2nd , 2008.

[26]Website- Harindrini Corea, "Access to Drinking Water and Water Resource Management" Page No2, https://www.newsfirst.lk/2019/09/20/access-to-drinking-water-and-water-resource-management, Last updated on- 20/09/2019 at: 11:36 am.

[27]International Water Management Institute, "Water Matters" Issue-2 "Water Scarcity in Sri Lanka: Fact or Fiction" 2007.

[28]M.Wickramage, "Meeting Basic Needs: Domestic Water Supply", Sri Lankan Case Study Ruhuna Basin Sri Lanka, IWMI.

[29]S Hirimuthugoda and VP Liyanage, "Right to water in a Humanitarian Perspective: A comparative Legal Analysis between Sri Lanka and South Africa" *Proceedings of 12th International Research Conference 2019, KDU, Page- 813 -818.*

[30]"Laws of Sri Lanka Consolidated and Annotated", Blackhill Publishing, available at- https://www.srilankalaw.lk/Volume-VI/penal-code-ordinance.html

[31]De Silva, T. M. & Hornberger, G. M. (2019). Assessing water management alternatives in multipurpose reservoir cascade system in Sri Lanka. Journal of Hydrology: Regional Studies 25, 100624.

[32]Seneviratne, L. W., (2000), "Challenges to Urban Water Management in Sri Lanka" International Journal of Water Resources Development, 16 (1).

[33]Arachchi, 2017, 'Right to Water and Sanitation of Slum-Dwellers in Sri Lanka', Proceedings of Academics era 9th International Conference, http://www.worldresearchlibrary.org/up_proc/pdf/1133-15115072081-5.pdf.

[34]SC FR Application No.141/2015.

[35] Ralph et. el, "The human right to water: the importance of domestic and productive water right" Available at- https://pubmed.ncbi.nlm.nih.gov/24337891/ Last visited-14/12/2023.

[36] (1998) 8 SCC 714.

[37] (1997) 1 SCC 388.

[38] Original Suit No. 5 of 2003.

[39] 1995 (3) SCC 42.

[40] 2001 (5) ALD 771, 2001 (6) ALT 133.

[41] 1987 4 SCC 463.

[42] AIR 2001 SC 3215, JT 2001 (6) SC 88, 2001 (4) SCALE 670.

[43] 2006 (1) KLT 919.

[44] Water (Prevention and Control of Pollution) Act, 1974.

[45] Shastri, P. S. C. (2017). Environmental Law. Lucknow, Eastern Book Company.

[46]Swajal Scheme, "Government of India Scheme", available at-http://vikaspedia.in. last visited- 5th November, 2023.

[47]India Today Web Desk, (June18, 2018), "Government Launches Swajal scheme to provide clean drinking water to 115 rural districts", available at- https://www.indiatoday.in, , New Delhi, last Updated- June 18th, 2018, Last Visited- 5th October 2023.

[48]FHTC means- Functional Household Tap Connection.

[49]Department of Drinking Water & Sanitation, Ministrey of Jalshakti, (2nd october, 2020), "Jal Jeevan Mission (A government of India Programme)" Available at-https://jalshakti-ddws.gov.in https://jaljeevanmission.gov.in. Last visited-6th June 2023.

[50]Moushumi Das Gupra, (5th November, 2020), "After rural Government now plans mega scheme to extend tap water facility to urban homes", The Print, available at-https://theprint.in, Last visited- 6th November ,2023.

[51]HT Correspondent, (2nd Feb,2023, "₹2.87L-cr Jal Jeevan Mission aims to take tap water to 28.6m homes", Hindustan Times, New Delhi, Available at-https://www.hindustantimes.com last visited- 6th November, 2023.

[52]Nidhi Sharma, (June 13th, 2023), "Government Scheme to Piped Water to all Households in Small Towns", available at- https://economictimes.indiatimes.com ,

Received: 12.11.2025 | Accepted: 05.12.2025 | Published: 30.12.2025

महिला सशक्तिकरण: गाँधी-आम्बेडकर दृष्टि

सुशील कुमार*
susheel8894282347@gmail.com

शोध सारांश

भारत अपने इतिहास और संस्कृति की वजह से पूरे विश्व में एक विशेष स्थान रखता है। हमारा यह देश सांस्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक, सैन्य शक्ति आदि में विश्व के बेहतरीन देशों में शामिल है। वैसे तो आजादी के बाद देश की इन स्थितियों में सुधार की पहल हुई लेकिन हालिया समय में इस क्षेत्रों में पहल तेज हुई है। इसके लिए समाज के मानव संसाधन को लगातार बेहतर, मजबूत व सशक्त किया जा रहा है और समाज की आधी आबादी स्त्रियों की है, इस बाबत उनके लिए विशेष प्रयास किए जा रहे हैं। डॉ. अंबेडकर ने कहा था कि यदि किसी समाज की प्रगति के बारे में सही-सही जानना है तो उस समाज की स्त्रियों की स्थिति के बारे में जानो। कोई समाज कितना मजबूत हो सकता है, इसका अंदाजा इस बात से इसलिए लगाया जा सकता है क्योंकि स्त्रियाँ किसी भी समाज की आधी आबादी हैं। बिना इन्हें साथ लिए कोई भी समाज अपनी संपूर्णता में बेहतर नहीं कर सकता है। समाज की आदिम संरचना से सत्ता की लालसा ने शोषण को जन्म दिया है। स्त्रियों को दोयम दर्जे के रूप में देखने की कवायद इसी कड़ी का एक महत्वपूर्ण पहलू है।

भारत में विभिन्न संस्कृतियों का संगम है। स्त्री हर संस्कृति के केंद्र में होकर भी केंद्र से दूर है। सिमोन द बोउवार का कथन है, ''स्त्री पैदा नहीं होती, बनाई जाती है।'' समाज अपनी आवश्यकता के अनुसार स्त्री को ढालता आया है। उसके सोचने से लेकर उसके जीवन जीने के ढंग को पुरुष अभी तक नियंत्रित करता आया है और आज भी करने की कोशिश करता रहता है। पितृसत्तात्मक समाज ने वह सब अपने अनुसार तय किया है। जब-जब सशक्तिकरण का सवाल उठता है तब-तब समाज ही कठघरे में खड़ा होता है। समाज में लगातार बदलावों के लिए संघर्ष चलता रहता है।

भारत में राजनीतिक गतिविधियों में महिलाओं की भागीदारी में महात्मा गांधी ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। गांधी जी महिलाओं के अधिकारों के मामले में अडिग रहे। उनके अनुसार, स्त्री पुरुष की सहचर है और उसे स्वतंत्रता और आजादी के समान अधिकार प्राप्त हैं। स्त्री मानवता की श्रेष्ठ भुजा है, कमजोर नहीं। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी पहले व्यक्ति थे जिन्होंने राजनीति में महिलाओं की भागीदारी को प्रोत्साहित किया। भारत का संविधान मतदाताओं और नागरिकों के रूप में पुरुषों और महिलाओं को समान अधिकार प्रदान करता है। वर्तमान में भारत में महिला सांसदों की संख्या बहुत कम है। इससे पता चलता है कि महिलाओं और राजनीतिक जीवन में उनकी भूमिका के बारे में गांधी जी के विचार 20वीं सदी के सुधारकों के विचारों से भिन्न थे। 21वीं सदी में यह स्पष्ट है कि राजनीति में महिलाओं के लिए निर्धारित कोटा से समानता की उच्चतर गारंटी नहीं मिली है। लोकतंत्र की सफलता के लिए महिलाओं की सक्रिय भागीदारी आवश्यक है। इस शोधपत्र में मेरा ध्यान भारत में राजनीति में महिलाओं की भागीदारी और महात्मा गांधी द्वारा बड़ी संख्या में महिलाओं को मुख्यधारा की राजनीति में प्रेरित करने में निभाई गई भूमिका पर केंद्रित है। आधुनिक सिद्धांत के अनुसार, पुरुष और महिला दोनों ही राज्य की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था के अभिन्न अंग हैं। इस पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए, यह शोधपत्र भारत की चुनावी प्रक्रिया में महिलाओं की भागीदारी पर ध्यान केंद्रित करने का प्रयास करता है।

बीज मंत्र

नारी का वैदिक स्वरूप, महिला सशक्तिकरण, महात्मा गॉधी, डॉ. बी.आर. अंबेडकर, भारतीय समाज, अंधविश्वास, भ्रामक रीति-रिवाज, समानता, संविधान, कानून, भेदभाव, शोषण

* **शोधार्थी, अंत:विषय अध्ययन विभाग, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, समर हिल, शिमला (हि.प्र.)**

शोध विस्तार

गांधीजी ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के एकमात्र प्रतिनिधि के रूप में द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में भाग लिया। भारत से अन्य सभी प्रतिनिधि वायसराय लॉर्ड इरविन द्वारा नामित किए गए थे। हालांकि, महिलाओं के अधिकारों के लिए संघर्ष करते हुए, गांधीजी चाहते थे कि भारत की महिलाएं पश्चिम की नकल न करें, बल्कि "भारतीय प्रतिभा और भारतीय वातावरण के अनुकूल तरीकों" को अपनाएं।

17 सितंबर, 1931 को आरटीसी की संघीय संरचना समिति की बैठक में गांधीजी ने स्पष्ट किया कि यद्यपि कांग्रेस अल्पसंख्यकों को पर्याप्त प्रतिनिधित्व देने के लिए विधायी निकायों में सदस्यों को मनोनीत करने की किसी भी योजना के पक्ष में नहीं थी, फिर भी राष्ट्रीय संगठन का यह कर्तव्य था कि वह अल्पसंख्यकों, जिनमें महिलाओं जैसे विशेष मामले भी शामिल थे, को उचित प्रतिनिधित्व देने वाले उम्मीदवारों का समर्थन करे। यदि उन्हें प्रतिनिधित्व नहीं मिला, तो वे संविधान में एक ऐसा प्रावधान जोड़ेंगे जिससे निर्वाचित विधानमंडल उन लोगों को चुन सके जिन्हें चुना जाना चाहिए था, लेकिन जिन्हें नहीं चुना गया या जिन्हें मतदाताओं ने अन्यायपूर्वक छोड़ दिया।

सरोजिनी नायडू मनोनीत प्रतिनिधि थीं। गांधीजी ने राहत की एक हास्यपूर्ण आह भरते हुए कहा, "भगवान का शुक्र है! वहां की महिलाओं ने न तो अलग निर्वाचक मंडल की मांग की और न ही विधानसभाओं में विशिष्ट संख्या में सीटों के आरक्षण की!" (1940 में शांतिनिकेतन में महिलाओं को गांधीजी का संबोधन)।

योग्यता के आधार पर महिलाओं की भागीदारी:

गांधीजी ने लिखा, "मैं समानता या ऐसे मामलों में किसी अन्य अनुपात का मोह नहीं रखता। योग्यता ही एकमात्र कसौटी होनी चाहिए। हालांकि, यह देखते हुए कि महिलाओं को नीचा दिखाने की प्रथा रही है, इसके विपरीत प्रथा यह होनी चाहिए कि योग्यता समान होने पर भी महिलाओं को पुरुषों से अधिक प्राथमिकता दी जाए, भले ही इस प्राथमिकता के परिणामस्वरूप पुरुषों को पूरी तरह से महिलाओं द्वारा विस्थापित कर दिया जाए। केवल लिंग के आधार पर सदस्यता पर जोर देना खतरनाक होगा। महिलाओं और किसी भी समूह को संरक्षण का तिरस्कार करना चाहिए। उन्हें न्याय की तलाश करनी चाहिए, पक्षपात की नहीं। इसलिए उचित यह है कि महिलाएं, और वास्तव में पुरुष भी, अपने बीच अंग्रेजी या पश्चिमी शिक्षा का प्रसार न करें, बल्कि ऐसी सामान्य शिक्षा को बढ़ावा दें जो उन्हें उनकी प्रांतीय भाषाओं के माध्यम से नागरिकता के अनेक कर्तव्यों के लिए तैयार करे। इस अत्यंत आवश्यक सुधार में पुरुषों का नेतृत्व करना पक्षपात का मामला नहीं होगा, बल्कि महिलाओं के प्रति विलंबित न्याय का एक सरल कार्य होगा।" (हरिजन, 7 अप्रैल, 1946)।

पंचायत को मजबूत बनाने के लिए महिलाओं की भागीदारी:

गांधीजी ने कहा, "मेरी राय में, यह पुरुष और स्त्री दोनों के लिए अपमानजनक है कि महिलाओं को घर छोड़कर घर की रक्षा के लिए हथियार उठाने के लिए कहा जाए या प्रेरित किया जाए। यह बर्बरता की ओर वापसी और अंत की शुरुआत है।" 27 जनवरी, 1946 को मद्रास में रचनात्मक कार्यकर्ता सम्मेलन में गांधीजी ने महिलाओं से जनसेवा के उद्देश्य से विधानसभा में प्रवेश करने का आह्वान किया, न कि दलगत राजनीति करने का। लेकिन उन्होंने पूछा कि इनमें से कितनी महिलाएं सेवा भाव से विधानसभा में प्रवेश कर पाएंगी और पंचायत आधार को मजबूत कर पाएंगी? उनका उद्देश्य नीचे से निर्माण करना होना चाहिए ताकि पंचायत की नींव मजबूत हो और ढांचा अच्छा हो। यदि नीचे से निर्माण करते समय कोई गलती हो जाए, तो उसे तुरंत सुधारा जा सकता है और नुकसान ज्यादा नहीं होगा। (7 अप्रैल, 1947 को नई दिल्ली में उनसे मिलने आई कुछ लड़कियों को संबोधित करते हुए)।

महिलाओं की राजनीतिक भागीदारी में महात्मा गांधी की भूमिका:

1930 के दशक में स्वतंत्रता संग्राम के दौरान, गांधीजी ने महिलाओं को पुरुषों के समान सत्याग्रह आंदोलन में भाग लेने के लिए प्रोत्साहित किया। नमक सत्याग्रह के दौरान गिरफ्तार किए गए लगभग 30,000 लोगों में से 17,000 महिला स्वयंसेवक थीं, जो महात्मा गांधी के नेतृत्व में उनकी समान भूमिका का एक स्पष्ट उदाहरण है।

गांधी जी ने भारत की महिलाओं को जो संदेश दिया, वह ऐसा था कि उन्होंने उस पर अभूतपूर्व प्रतिक्रिया दी। "उनके सविनय अवज्ञा आंदोलन ने नाटकीय ढंग से भारत के सार्वजनिक जीवन में बड़ी संख्या में महिलाओं के प्रवेश को संभव बनाया। ये हमारे देश में महिलाओं की मुक्ति के आरंभिक बिंदु बने।" (बोस: 74)

इससे पता चलता है कि गांधीजी के रचनात्मक कार्यक्रम में महिलाओं के उत्थान को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया था। उनकी आह्वानित शक्ति को सुनकर महिलाएं बड़ी संख्या में अपने एकांत और सुरक्षित जीवन को त्यागकर राष्ट्रीय आंदोलन में शामिल हुईं। कुलीन वर्ग की महिलाओं ने अपने कीमती वस्त्र और आभूषण त्याग दिए और खुरदुरे हाथ से बुने खादी के वस्त्र और चप्पल पहनकर खुशी-खुशी जेल की ओर प्रस्थान किया। कमला नेहरू, सरोजिनी नायडू, अनुसूया साराभाई, सुशीला नायर और मीराबेन गांधीवादी आंदोलन से जुड़ी कुछ प्रख्यात महिलाएं हैं। भारतीय महिला की मुक्ति का श्रेय काफी हद तक राष्ट्रीय जीवन के सभी क्षेत्रों में राजनीतिक जागृति को दिया जा सकता है। 1930 के दशक में शराब, अफीम और विदेशी कपड़ों की दुकानों के सामने धरना प्रदर्शन लगभग पूरी तरह से महिलाओं द्वारा ही किया गया था।

गांधी जी ने महिलाओं को स्वतंत्रता आंदोलन और राजनीति में भाग लेने के लिए प्रेरित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। महिलाओं और राजनीतिक जीवन में उनकी भूमिका के बारे में गांधी जी के विचार 20वीं सदी के अन्य सुधारकों से भिन्न थे। उन्होंने महिलाओं को एक नई सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था के निर्माण के संघर्ष में एक संभावित शक्ति के रूप में देखा। उन्होंने महिलाओं को स्वतंत्रता संग्राम में शामिल करने के लिए निजी और सार्वजनिक जीवन के बीच संबंधों को स्पष्ट करने का सचेत प्रयास किया। हालांकि, वे इस तथ्य को स्वीकार करने में विफल रहे कि उत्पीड़न कोई नैतिक स्थिति नहीं बल्कि उत्पादन संबंधों से संबंधित एक सामाजिक और ऐतिहासिक अनुभव है। दूसरी ओर, यह जोर देते हुए भी कि एक महिला का वास्तविक कार्यक्षेत्र घर है, उन्होंने ऐसी परिस्थितियाँ बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई जिससे महिलाओं को घरेलू बंधनों से मुक्त होने में मदद मिल सके।

भारत में महिलाओं की भागीदारी की वर्तमान स्थिति:

हाल के वर्षों में, भारतीय आंकड़ों से पता चलता है कि महिला मतदाताओं के प्रतिशत में वृद्धि हुई है। यह वृद्धि राजनीतिक दलों, गैर सरकारी संगठनों, एक्शन ग्रुपों और समाज में व्याप्त जागरूकता द्वारा महिलाओं के मताधिकार के महत्व को फैलाने के लिए किए गए प्रयासों का परिणाम है। लेकिन हम यह नहीं भूल सकते कि इसका श्रेय महात्मा गांधी को भी जाता है। क्योंकि वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने महिलाओं को भारत के राजनीतिक आंदोलन में भाग लेने के लिए प्रेरित किया।

एक बार फिर, सावधानी बरतने की आवश्यकता है; यह मान लेना उचित नहीं होगा कि राजनीतिक भागीदारी हमेशा महिला मतदाता की राजनीतिक जागरूकता का संकेत देती है। हालांकि, आमतौर पर, जिन देशों में नियमित चुनाव होते हैं, वहां महिलाओं को एक राजनीतिक वर्ग के रूप में बेहतर मान्यता मिलती है और पार्टियां और उम्मीदवार महिला-समर्थक रुख अपनाते हैं और विशेष रूप से चुनाव के समय महिलाओं के वोटों को आकर्षित करने का प्रयास करते हैं। भारत में लगातार हुए चुनावों को देखने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है, जहां राजनीतिक दलों के चुनावी घोषणापत्रों में महिला मतदाताओं को लुभाने और उनकी जरूरतों और मुद्दों पर ध्यान देने की आवश्यकता के प्रति जागरूकता बढ़ रही है।

डॉ. अंबेडकर द्वारा दिए गए दिशा-निर्देशों, अनुशंसाओं, सुझावों और कानूनों को ध्यान में रखते हुए, भारत सरकार और अन्य राज्य सरकारों ने भारत में महिलाओं के सशक्तिकरण के लिए बड़ी संख्या में योजनाएं लागू की हैं। डॉ. अंबेडकर के निधन पर, संसद में शोक संदेश में तत्कालीन प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने कहा था, "बाबासाहेब डॉ. अंबेडकर हिंदू समाज की सभी दमनकारी विशेषताओं के विरुद्ध विद्रोह के प्रतीक थे।" लैंगिक समानता पर आधारित समाज का उनका सपना अभी साकार होना बाकी है और इसलिए महिलाओं के सशक्तिकरण को बढ़ावा देने वाले सामाजिक पुनर्निर्माण के लिए उनके विचार महत्वपूर्ण हैं।

नारीवादी नेताओं में अग्रणी थे।1

जिस समय इनका जन्म हुआ भारतवर्ष अग्रेजी सरकार का उपनिवेष बन चूका था साथ ही कई विदेशी आक्रमणों व विदेशी शासन का दंश भी झेल चुका था। इन विदेशी आक्रमणों का प्रभाव भारत की सामाजिक व्यवस्था पर गहरा व विपरीत

परिणाम लाने वाला सिद्ध हुआ। भारत की गौरवशाली संस्कृति का पतन हो चुका था साथ ही अनेक कुप्रथायें घर कर चुकी थी जो न केवल अमानवीय थी वरन् समाज को बाँटने का कारक भी बनी परिणामस्वरूप बाल-विवाह, देवदासी प्रथा, छुआ-छूत, बहुविवाह, विधवा विवाह निषेध, जात-पात, ऊँच-नीच, व शिक्षा का परिसीमन जैसी अनेक कुप्रथाएं भारतीय समाज का अंग बन गयी थी। जिससे भारतीय समाज कई वर्गों में बंट गया था निचली जाति, अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, पिछड़ी जाति व दलित जाति की स्थित समाज में बहुत ही अधिक पिछड चूकी थी समाज के अन्य उच्च वर्गों द्वारा इनका शोषण किया जाता था उन्हें समाज में किसी भी प्रकार का सम्मान व अधिकार प्राप्त नहीं थे न ही उन्हें किसी प्रकार से सार्वजनिक स्थानों पर आने जाने का अधिकार, ग्रहण करने का अधिकार एवं उपयोग करने का अधिकार नहीं था। इन सभी पिछड़े वर्गों की महिलाओं की स्थित तो और भी अधिक बुरी थी उनका शोषण सामाजिक व पारिवारिक स्तर पर बहुत अधिक किया जाता था उन्हें केवल पुरूषों की आज्ञा पालन करना होता था जिस कारण तथा संतान उत्पन्न करने ही होता था। जिस कारण उन्हें तो कहीं-कहीं मानव होने जैसी स्थिति भी प्राप्त नहीं थी वह केवल घर के कार्य करने के क्षेत्र तक सीमित हो चुकी थी। महिलाएं अत्यधिक सामाजिक शोषण का शिकार बन रही थी एवं इसे अपनी नियति मान कर बिना किसी विरोध के जीवन जीने की आदि हो चुकी थी।[2]

भारतीय समाज में महिलाओं विशेषकर पिछड़ी, दलित, अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति की महिलाओं के साथ सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, पारिवारिक व शैक्षिक क्षेत्र में भाग लेने पर कठोर निषेध व नियंत्रण था। महिलाएं पूर्णरूप से पुरूषों पर आश्रित हो चुकी थी उन्हें अपने निजी जीवन के विषय में सोचने, कार्य करने, व निर्णय लेने की भी अनुमति नहीं थी। इस समय पर अम्बेडकर जी ने महिलाओं को जागरूक करने व उनकी दशा में सुधार लाने, सम्मान दिलाने तथा पुरूषों के समान समानता के स्तर पर लाने हेतु कार्य करने का संकल्प लिया उन्होनें हर सभंव प्रयास व कार्य किया जिससे नारीवादी आन्दोलन को आगे बढ़ाया जा सकें।[3]

नारीवादी आन्दोलनकर्ता के रूप में अम्बेडकर ने कई कार्य किये। उन्होने साप्ताहिक पत्रिका 'मूकनायक' व 'बाहिष्कृत भारत' का प्रकाशन प्रारम्भ किया जिसके माध्यम से महिला सशक्तिकरण पर अपने विचारों को फैलाया।[4] भारतीय समाज की दुदर्शा का एक महत्वपूर्ण कारण उन्होनें वर्ण व्यवस्था को माना जिससे सभ्य समाज को चार वर्णों में विभाजित कर न केवल बांटा वरन् असमानता उत्पन्न की जिससे ऊँची जातियों को निम्न व दलित जातियों के साथ अमानवीय व्यवहार व शोषण करने का पूर्ण अधिकार प्राप्त हो गया निश्चित रूप से इससे महिलाएं अधिक प्रभावित हुई परिणामस्वरूप महिलाएँ दूसरे निम्न स्तर की प्राणी मात्र बनकर रह गयी।

अम्बेडकर जी ने सभी लोगों से आग्रह किया कि वे परिवार की महिलाओं व बालिकाओं को शिक्षित बनायें, क्योंकि शिक्षा ही वह माध्यम है जो महिलाओं को इन सामाजिक वर्ण व्यवस्था को तोड़ने की शक्ति प्रदान करा सकती हैं। अम्बेडकर जी ने महिलाओं से कहा कि वे न केवल शिक्षा ग्रहण करें साथ ही सवर्ण जाति की महिलाओं के समान वस्त्र पहने व सम्मानपूर्वक जीवन भी जीना शुरू करें। जिससे समाज में उन्हें भी समानता व सम्मान का पात्र समझा जायेगा। शिक्षा उन्हें वह अवसर उपलब्ध करायेगी जिससे वह अब तक वंचित थी। उन्होनें महिलाओं से कहा 'हमें अपने स्वाभिमान की बलि दिये बगैर गरीबी में सही तरीके से और इज्जत से जीना चाहिए'।[5]

1928 में वह बाम्बे परिषद के सदस्य मनोनीत किये गये तब उन्होंने महिलाओं के लिए मातृत्व अवकाश देने की माँग की जिससे महिलाओं को स्वास्थ्य की देख-रेख का समय मिल सकें।[6]

अम्बेडकर जी द्वारा 1928 महिला समिति की स्थापना की गयी जिसकी अध्यक्षा रमाबाई अम्बेडकर जी की पत्नी थी यह एक ऐसा मंच था जो महिलाओं के अधिकारों के लिये बनाया गया था। बड़ी संख्या में महिलाएं इस मंच का भाग बनी।[7]

1932 में अम्बेडकर जी ने गोलमेज सम्मेलन में भाग लिया सम्मेलन में भी उन्होनें महिलाओं के लिए समानता का अधिकार देने पर जोर दिया, जब वह सम्मेलन से वापस देश लौटे तो उन्होनें हजारों की संख्या में महिलाओं को सम्बोधित किया और उन्हे समान अधिकार देने की बात कही। निश्चित रूप से जब अम्बेडकर जी ने भारत का संविधान लिखा तो उसमें देश के सभी नागरिकों को बिना किसी भेद-भाव के समान नागरिक अधिकार प्रदान किये।[8]

अम्बेडकर जी ने वर्षो से चली आ रही देवदासी प्रथा तथा मन्दिरों में महिलाओं के साथ होने वाले यौन शोषण के विरूद्ध कार्य किया। इसके लिए उन्होनें महिलाओं से कहा कि वह स्वयं आगे बढ़े और इन अमानवीय प्रथाओं का विरोध कर स्वयं को इस प्रकार देवदासी बनने व समुदाय विशेष के लिए उपस्थित होने से मना करें।[9]

महिलाएं भी अपने अधिकारों के लिए जागरूक हुई और इन प्रथाओं का विरोध करने लगी। अम्बेडकर जी ने भारतीय समाज में सभी वर्गों से सम्बधित महिलाओं के लिए कार्य किया ऐसे में उन्होनें वैश्यावृत्ति कर जीवनयापन करने वाली महिलाओं के लिए भी कार्य किया यह कार्य बहुत ही सहासिक था। 19 जून 1936 में बम्बई के देवदास ठक्कर हॉल में अम्बेडकर जी ने बडी संख्या में वैश्याओं को सम्बोधित कर कहा कि वह वैश्यावृत्ति का त्याग कर साधारण महिलाओं के समान जीवन जीना प्रारम्भ करें, विवाह भी करे एवं घर बसा कर समाज में सम्मानपूर्वक जीवन जिये। उनके ओजपूर्ण भाषण का सकारात्मक प्रभाव इन महिलाओं पर पडा परिणामस्वरूप कई महिलाओं ने वैश्यावृत्ति का त्याग कर साधारण महिलाओं के समान जीवन जीना प्रारम्भ किया।[10]

10 नवम्बर 1938 में बंबई विधानसभा में परिवार नियोजन के उपाय अपनाने के लिए अम्बेडकर जी ने सभी से कहा और अपने विचारों को सभी से समक्ष रखा उन्होनें महिलाओं से कहा कि केवल अधिक संताने उत्पन्न कर वंश को आगे बढ़ाना उनका एकमात्र कार्य नहीं हैं वह मानते थे कि गर्भावस्था धारण करना महिलाओं के लिए एक विकल्प हैं जिसे वह अपनी सुविधानुसार स्वयं को ध्यान में रखकर चुन सकती हैं साथ ही अम्बेडकर जी ने महिलाओं को जन्म नियंत्रण की सुविधा देने की मांग की।[11]

20 जुलाई 1942 में अम्बेडकर जी श्रम सदस्य बने तब उन्होनें श्रमिक महिलाओं की कार्य करने की स्थिति को स्वयं देखा और यह माना कि कार्यस्थल पर महिलाओं को लिए बहुत अधिक सुविधाओं की कमी है जिन्हें उपलब्ध कराने के लिए बहुत से कार्य उनके द्वारा किये गये। सर्वप्रथम उन्होने कार्य के घन्टों को कम कराया एवं जिससे महिलाओं को स्वयं के लिए समय मिल सके। साथ श्रमिक महिलाओं के छोटे बच्चों की देख भाल के लिए भी विश्राम स्थल कि व्यवस्था करायी जिससे वह अपने बच्चों की चिंता से मुक्त हो कर कार्य कर सकें। महिलाओं के लिए अवकाश की मांग कि साथ ही प्रसव काल में सवेतन अवकाश की सुविधा की मांग की और तर्क दिया कि जब नियोक्ता को महिला श्रमिक से लाभ मिलता है तो उन्हें भी आंशिक रूप से महिलाओं का समर्थन करना चाहिऐ। अम्बेडकर जी ने कहा कि शेष धनराशि सरकार को महिला श्रमिक को देनी चाहिए क्योंकि महिलाएं जब बच्चे को जन्म देती है तो वह देश के लिए आने वाली संतान देती है अतः उन्हें मातृत्व अवकाश की सुविधा देनी चाहिए। उन्होंने महिलाओं को पुरूष श्रमिक के समान ही वेतन देने को पूर्ण समर्थन किया।[12]

अम्बेडकर जी ने हिन्दू धर्म के कुछ ग्रन्थों का विरोध किया विशेषकर मनुस्मृति का विरोध किया क्योंकि मनुस्मृति में कुछ ऐसे श्लोक लिखे गये हैं जो पूर्ण रूप से हिन्दू महिलाओं को पुरूषों की अधीनता स्वीकार करने पर बाध्य करते हैं साथ ही महिलाओं के विकास के मार्ग में बाधां उत्पन्न करते थे अतः अम्बेडकर जी ने महिलाओं को एकत्र कर बहुत सारी मनुस्मृति की प्रतियों को जला दिया था और यह स्पष्ट संदेश दिया कि जो भी पुस्तक, धर्म, संस्कार, प्रथा महिलाओं के विरूद्ध होगी तथा महिलाओं के जीवन का हास करेगी वह उसका विरोध करेंगें।[13]

अम्बेडकर जी द्वारा विरोध करने की जो युक्ति अपनायी गयी आज भी लोगों के द्वारा अपना विरोध प्रकट करने का माध्यम बनी हुई हैं। अम्बेडकर जी ने महिलाओं के उत्थान के लिए अन्तिम विकल्प के रूप में एक मार्ग यह चुना कि हिन्दू धर्म का त्याग कर दिया जाये वह मानते थें कि महिलाओं के जीवन में आयी इस दुदर्शा का प्रमुख कारण स्वयं हिन्दू धर्म हैं। तत्कालीन समय में हिन्दू धर्म में इतनी अधिक कुप्रथाएं व संस्कार आ चुके थे कि उन्हें समाप्त कर पाना संभव नहीं था अतः एक कर्मयोगी नारीवादी आन्दोलनकर्ता का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए अम्बेडकर जी ने यह उचित समझा कि हिन्दू धर्म का त्याग करें जिससे महिलाओं और समाज को हिन्दू धर्म के अमानवीय पक्षपात से सदा के लिए मुक्त कर दिया जाये। अतः अम्बेडकर जी ने स्वयं बौद्ध धर्म अपनाया और उन्हीं के साथ 50000 व्यक्यिों ने भी हिन्दू धर्म का त्याग कर बौद्ध धर्म अपना

लिया जिसमें हजारों की संख्या में महिलाओं ने भी हिन्दू धर्म का त्याग कर बौद्ध धर्म अपना लिया और सदा के लिए स्वयं को हिन्दू धर्म में अपनायी जाने वाली कुप्रथाओं से मुक्त हो गयी।

महिला सशक्तिकरण के संवैधानिक दायित्व को पूरा करने के लिए संसद द्वारा अधिनियमित कुछ विशिष्ट कानूनों की सूची इस प्रकार है: • समान पारिश्रमिक अधिनियम, 1976 • दहेज निषेध अधिनियम, 1961 • अनैतिक व्यापार (रोकथाम) अधिनियम, 1956 • मातृत्व लाभ अधिनियम, 1961 • चिकित्सकीय गर्भपात अधिनियम, 1971 • सती प्रथा (रोकथाम) अधिनियम, 1987 • बाल विवाह निषेध अधिनियम, 2006 • गर्भाधान पूर्व एवं प्रसवपूर्व निदान तकनीक (विनियमन एवं दुरुपयोग की रोकथाम) अधिनियम, 1994

महिला सशक्तिकरण के लिए सरकारी योजनाएँ

भारत में महिला विकास के लिए सरकारी कार्यक्रम 1954 में ही शुरू हो गए थे, लेकिन वास्तविक भागीदारी 1974 में ही शुरू हुई। वर्तमान में, भारत सरकार के पास विभिन्न विभागों और मंत्रालयों द्वारा संचालित महिलाओं के लिए 34 से अधिक योजनाएं हैं। संविधान के विभिन्न अनुच्छेदों को ध्यान में रखते हुए, पिछली और वर्तमान सरकार द्वारा सशक्तिकरण के लिए कई योजनाएं शुरू की गई हैं। जैसे- बेटी बचाओ बेटी पढ़ाओ योजना, वन स्टॉप सेंटर योजना, महिला हेल्पलाइन योजना, उज्ज्वला: मानव तस्करी की रोकथाम और तस्करी एवं व्यावसायिक यौन शोषण के पीड़ितों के पुनर्वास एवं पुनर्एकीकरण के लिए एक व्यापक योजना, कामकाजी महिलाओं के लिए छात्रावास, कामकाजी माताओं के बच्चों के लिए राजीव गांधी राष्ट्रीय क्रेच योजना, मंत्रालय द्वारा उज्ज्वला योजना के तहत नई परियोजनाओं को मंजूरी देना और मौजूदा परियोजनाओं को जारी रखना, स्वधार गृह (कठिन परिस्थितियों में महिलाओं के लिए एक योजना), बारहवीं पंचवर्षीय योजना में राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम, 2013 के अनुसार आईजीएमएसवाई के तहत संशोधन, महिलाओं के लिए प्रशिक्षण और रोजगार कार्यक्रम (एसटीईपी) को सहायता, नारी शक्ति पुरस्कार, स्त्री शक्ति पुरस्कार, 2014 के पुरस्कार विजेता और नारी शक्ति पुरस्कार विजेता, राज्य महिला सम्मान और जिला महिला सम्मान के पुरस्कार विजेता, इंदिरा गांधी मातृत्व सहयोग योजना (आईजीएमएसवाई) - एक सशर्त मातृत्व लाभ योजना, महिला पुलिस स्वयंसेवक। सरकार और उसकी विभिन्न एजेंसियों के प्रयासों को गैर-सरकारी संगठनों का भी भरपूर सहयोग प्राप्त है, जो महिला सशक्तिकरण को बढ़ावा देने में समान रूप से महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। सरकारों और गैर-सरकारी संगठनों के समन्वित प्रयासों के बावजूद कुछ कमियां अभी भी मौजूद हैं। बेशक हमने महिला सशक्तिकरण में काफी प्रगति की है, लेकिन भविष्य का सफर कठिन और चुनौतीपूर्ण है।

संवैधानिक प्रावधान

भारत के संविधान में विभिन्न प्रावधान हैं, जो पुरुषों और महिलाओं दोनों के लिए समान अधिकार और अवसर प्रदान करते हैं। प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार हैं:- 1. अनुच्छेद 14 यह गारंटी देता है कि राज्य कानून के समक्ष समानता और कानूनों के समान संरक्षण से वंचित नहीं करेगा; 2. अनुच्छेद 15 लिंग के आधार पर किसी भी नागरिक के साथ भेदभाव को प्रतिबंधित करता है; 3. अनुच्छेद 15 (3) राज्य को महिलाओं और बच्चों के पक्ष में सकारात्मक भेदभाव करने का अधिकार देता है; 4. अनुच्छेद 16 सार्वजनिक रोजगार के मामलों में अवसर की समानता का प्रावधान करता है; 6. अनुच्छेद 39 (क) और (घ) राज्य को आजीविका के समान साधन और समान काम के लिए समान वेतन प्रदान करने का आदेश देता है; 7. अनुच्छेद 42 राज्य को काम की न्यायसंगत और मानवीय परिस्थितियों को सुनिश्चित करने और मातृत्व राहत के लिए प्रावधान करने का आदेश देता है; 8. अनुच्छेद 51ए (ङ) प्रत्येक नागरिक पर महिलाओं की गरिमा को ठेस पहुंचाने वाली प्रथाओं का त्याग करने का मौलिक कर्तव्य लगाता है। 9. अनुच्छेद 243D (3) में यह प्रावधान है कि प्रत्येक पंचायत में प्रत्यक्ष चुनाव द्वारा भरी जाने वाली कुल सीटों में से कम से कम 1/3 सीटें महिलाओं के लिए आरक्षित होंगी और ऐसी सीटें पंचायत के विभिन्न निर्वाचन क्षेत्रों में बारी-बारी से आवंटित की जाएंगी; 10. अनुच्छेद 243T (3) में यह प्रावधान है कि प्रत्येक नगरपालिका में प्रत्यक्ष चुनाव द्वारा भरी जाने वाली कुल सीटों में से कम से कम 1/3 सीटें महिलाओं के लिए आरक्षित होंगी और ऐसी सीटें नगरपालिका के विभिन्न निर्वाचन क्षेत्रों में बारी-बारी से आवंटित की जाएंगी; 11. अनुच्छेद 243T (4) में नगरपालिकाओं में अध्यक्ष के पदों के लिए अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति और महिलाओं के लिए आरक्षण का प्रावधान है, जैसा कि राज्य का विधानमंडल कानून द्वारा निर्धारित करे; उपरोक्त संवैधानिक प्रावधानों के अनुसरण में,

महिलाओं के हितों की रक्षा, संरक्षण और संवर्धन के लिए विभिन्न विधायी अधिनियम बनाए गए हैं। इनमें से कई विधायी अधिनियम श्रम कानूनों के क्षेत्र में महिला श्रमिकों की कार्य स्थितियों में सुधार लाने के लिए बनाए गए हैं।

गहरी जड़ें जमा चुकी सांस्कृतिक मान्यताओं को मिटाना या भेदभाव को बढ़ावा देने वाली परंपराओं को बदलना आसान नहीं है। बाबासाहेब डॉ. बी.आर. अंबेडकर ने अपना पूरा जीवन समाज के वंचित वर्गों के उत्थान, अधिकारों और न्याय के लिए समर्पित कर दिया। उन्होंने भारत के संविधान में ऐसे प्रावधान और अनुच्छेद शामिल किए जिनसे आम आदमी को अन्याय के खिलाफ लड़ने में मदद मिली। वैदिक काल और उसके बाद प्रचलित हिंदू संस्कृति में स्त्री को भोग-विलास का साधन माना जाता था और पुरुष उसका शोषण करते थे, क्योंकि उस समय समाज मनुस्मृति के अनुसार चलता था। अंबेडकरवादी सुधारों और अंबेडकरवाद के कारण महिलाओं को स्वतंत्रता मिली और उन्होंने सम्मान और गौरव के साथ जीना सीखा। आत्मविश्वास के साथ, महिलाओं ने शिक्षा और रोजगार प्राप्त करना शुरू किया और पुरुषों की तरह समाज का हिस्सा बनीं। बाबासाहेब के प्रयासों और योगदान के कारण ही आज महिलाएं आत्मनिर्भर हैं और सरकार ने उनके सशक्तिकरण के लिए कई योजनाएं शुरू की हैं और कई कानून लागू किए हैं। (डॉ. अंबेडकर की मृत्यु पर) संसद में प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने कहा, "बाबासाहेब डॉ. अंबेडकर हिंदू समाज की सभी दमनकारी विशेषताओं के खिलाफ विद्रोह के प्रतीक थे।" लैंगिक समानता पर आधारित समाज का उनका सपना अभी साकार होना बाकी है, इसलिए महिलाओं के सशक्तिकरण को बढ़ावा देने वाले सामाजिक पुनर्निर्माण के लिए उनके विचार महत्वपूर्ण हैं। डॉ. बाबासाहेब ने सभी महिलाओं के जीवन की स्थिति पर अपने विचार व्यक्त किए। उन्होंने कहा कि महिलाओं के साथ समान व्यवहार किया जाना चाहिए और उन्हें समान सम्मान दिया जाना चाहिए। उन्होंने विधानसभा में हिंदू संहिता विधेयक पर जोर दिया और इसमें मूलभूत सुधारों और संशोधनों का सुझाव दिया। उन्होंने सभी संसदीय सदस्यों से विधेयक को संसद में पारित कराने में मदद करने का आग्रह किया। अंततः, उन्होंने इसी कारण से इस्तीफा दे दिया। डॉ. अंबेडकर की शिक्षाएं और विचार न केवल महिलाओं के लिए बल्कि आज भी सभी भारतीयों के लिए उपयोगी हैं। महिलाओं के सर्वांगीण विकास के प्रति उनकी गहरी चिंता और भावना उनके अधिकांश भाषणों में व्यक्त होती है। भारतीय संसद में अपने अंतिम भाषण में हम महिलाओं के प्रति उनकी भावनाओं और सम्मान को देख सकते हैं। उन्होंने आयरिश देशभक्त डैनियल ओ'कॉनल के प्रसिद्ध कथन को उद्धृत किया, "कोई भी पुरुष अपने सम्मान की कीमत पर कृतज्ञ नहीं हो सकता, कोई भी स्त्री अपनी पवित्रता की कीमत पर कृतज्ञ नहीं हो सकती।" और कोई भी राष्ट्र उनकी स्वतंत्रता की कीमत पर कृतज्ञ नहीं हो सकता। बाबासाहेब का सभी महिलाओं के प्रति, चाहे उनका धर्म, जाति या वर्ग कुछ भी हो, एक विशेष मानवतावादी दृष्टिकोण था। उन्होंने महिलाओं के प्रति हर प्रकार के अन्याय के खिलाफ अक्सर आवाज उठाई। बाबासाहेब के सपनों को साकार करने के लिए कामकाजी महिलाओं के लिए सहायता प्रणाली में सुधार करना आवश्यक है।

निष्कर्ष:

आज के समाज में राजनीति मुख्य रूप से कौशल-नियंत्रित क्षेत्र है। वातावरण को नियंत्रित करने में सक्षम व्यक्ति निश्चित रूप से राजनीति में सक्रिय होते हैं। इसलिए राजनीतिक दक्षता और व्यक्तिगत नियंत्रण आपस में घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए हैं। व्यक्तिगत नियंत्रण रखने वाले व्यक्ति राजनीतिक व्यवस्था को अपने सामाजिक, आर्थिक और अन्य व्यक्तिगत लक्ष्यों पर व्यापक प्रभाव डालने वाला मानते हैं। उनके लिए राजनीतिक व्यवस्था ही एकमात्र ऐसा स्रोत है जिससे उन्हें कुछ लाभ मिल सकते हैं; राजनीतिक व्यवस्था के निर्णय उनके विभिन्न लक्ष्यों में हस्तक्षेप के रूप में भी देखे जा सकते हैं; और राजनीतिक प्रक्रिया में रुचि रखना उनका कर्तव्य है।

इसलिए, तुलनात्मक विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि राजनीति में महिलाओं के लिए कोटा लागू करने से समानता में कोई खास वृद्धि नहीं हुई है। किसी देश में राजनीति में महिलाओं की स्थिति पर सामाजिक और सांस्कृतिक प्रभावों की कोई सरल व्याख्या नहीं है। कुछ देशों में कोटा ने महिलाओं के लिए समानता सुनिश्चित करने में अपना योगदान दिया है। वहीं कुछ ऐसे देश भी हैं जिन्होंने राष्ट्रीय राजनीति में बिना आरक्षण के महिलाओं को अधिक प्रतिनिधित्व दिलाया है। भारत में स्थानीय सरकारों में महिलाओं के लिए संवैधानिक कोटा लागू किया गया था। इन कोटा का प्रभाव अभी भी भारत की राज्य और राष्ट्रीय सरकारों में दिखाई नहीं दे रहा है। पहले आम चुनाव में 5% महिला प्रतिनिधियों से लेकर पंद्रहवीं लोकसभा में 11% महिला प्रतिनिधियों तक; आने वाले राष्ट्रीय चुनावों में हम कितना बेहतर कर सकते हैं?

आम चुनावों के लिए राजनीतिक दलों द्वारा टिकट जारी करने के साथ ही महिलाओं के कम प्रतिनिधित्व का मुद्दा एक बार फिर उठाया जाएगा, क्योंकि महिला आरक्षण विधेयक वर्षों से संसद में अधर में लटका हुआ है।

संदर्भ :-

1. हिन्दी विकिपीडिया. *डॉ. भीमराव अंबेडकर*. प्राप्त.
2. चन्द्र, बिपिन, एवं अन्य. (2009, जुलाई). *आधुनिक भारत*. दिल्ली: हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय. पृ. 2.
3. भाटी, नीषु. (2018). *वर्तमान परिप्रेक्ष्य में डॉ. अम्बेडकर के विचारों की प्रासंगिकता*. नई दिल्ली: प्रगतिशील प्रकाशन. पृ. 29.
4. वर्मा, हेमलता. (2018). *वर्तमान परिप्रेक्ष्य में डॉ. अम्बेडकर के विचारों की प्रासंगिकता*. नई दिल्ली: प्रगतिशील प्रकाशन. पृ. 41.
5. चन्द्र, मनीष. (2015). *महिला सशक्तिकरण में डॉ. भीमराव अम्बेडकर का योगदान*. नई दिल्ली: टाइम्स पब्लिकेशन. पृ. 283.
6. कुमार, प्रभात, एवं शर्मा, दीपाक्षी. (2018). *आधुनिक युग का मनु: डॉ. भीमराव अम्बेडकर*. नई दिल्ली: प्रगतिशील प्रकाशन. पृ. 63.
7. चन्द्र, मनीष. (2015). *महिला सशक्तिकरण में डॉ. भीमराव अम्बेडकर का योगदान*. नई दिल्ली: टाइम्स पब्लिकेशन. पृ. 284.
8. Legal Services India.
9. The Quint – Ambedkar, Feminism and Women's Rights.
10. चन्द्र, मनीष. (2015). *महिला सशक्तिकरण में डॉ. भीमराव अम्बेडकर का योगदान*. नई दिल्ली: टाइम्स पब्लिकेशन. पृ. 285.
11. Gauri Lankesh News – Babasaheb Ambedkar: Champion of Women's Rights.
12. चन्द्र, मनीष. (2015). *महिला सशक्तिकरण में डॉ. भीमराव अम्बेडकर का योगदान*. नई दिल्ली: टाइम्स पब्लिकेशन. पृ. 289.
13. Gauri Lankesh News – Babasaheb Ambedkar: Champion of Women's Rights.
14. *अंतर्राष्ट्रीय सामाजिक विज्ञान विश्वकोश* (खंड 1). (1968). न्यूयॉर्क. पृ. 225.
15. देवी, लक्ष्मी. (1998). *महिला विकास और परिवार कल्याण का विश्वकोश*. नई दिल्ली: अनमोल पब्लिकेशन्स.
16. बोस, निर्मल कुमार. *गांधीवाद पर व्याख्यान*.
17. दत्ता, डी. एम. *महात्मा गांधी का दर्शन*.
18. फिशर, लुई. *महात्मा गांधी का जीवन*.
19. गांधी, मोहनदास करमचंद. *महात्मा गांधी के एकत्रित कार्य* (Collected Works of Mahatma Gandhi, Vol. XXI, p. 105).
20. राधाकृष्णन, एस. (स म्पा.). (1969). *महात्मा गांधी: 100 वर्ष*.

Received: 13.11.2025 | Accepted: 05.12.2025 | Published: 30.12.2025

शैक्षिक एवं कौशल विकास में एआई तकनीक की भूमिका

डॉ. राम मनोहर मिश्र*
hindi.adc@gmail.com

सारांश (Abstract)

यह शोध पत्र शिक्षा एवं कौशल विकास के क्षेत्र में कृत्रिम बुद्धिमत्ता (Artificial Intelligence-AI) की भूमिका, उपयोगिता, संभावनाओं तथा चुनौतियों का विश्लेषण करता है। वर्तमान वैश्विक परिदृश्य में आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस (AI) शिक्षा, अनुसंधान, स्वास्थ्य, उद्योग तथा प्रशासन सहित अनेक क्षेत्रों में परिवर्तनकारी तकनीक के रूप में उभरी है। शिक्षा के क्षेत्र में एआई आधारित उपकरण विद्यार्थियों की अधिगम प्रक्रिया को व्यक्तिगत, प्रभावी तथा कौशलोन्मुख बनाने में सहायक सिद्ध हो रहे हैं। मशीन लर्निंग, डीप लर्निंग, प्राकृतिक भाषा प्रसंस्करण तथा जेनरेटिव एआई जैसे उपकरण शिक्षण सामग्री निर्माण, मूल्यांकन, शोध, परियोजना कार्य तथा शैक्षिक प्रबंधन को अधिक दक्ष एवं गुणवत्तापूर्ण बना रहे हैं। इसके साथ ही शोध पत्र में एआई के दुष्प्रभावों, जैसे तथ्यहीन सामग्री, तर्कशक्ति में कमी, सामाजिक असमानता, नैतिक संकट, डिजिटल अपराध तथा मानवीय मूल्यों के क्षरण पर भी गंभीर विचार किया गया है। शोध का निष्कर्ष है कि शिक्षा में एआई का उपयोग संतुलित, उत्तरदायी एवं नैतिक दृष्टिकोण के साथ किया जाना चाहिए तथा इसके प्रभावी क्रियान्वयन हेतु स्पष्ट नीतियाँ, प्रशिक्षण एवं तकनीकी दक्षता विकसित करना समय की आवश्यकता है।

मुख्य शब्द (Keywords)

कृत्रिम बुद्धिमत्ता (AI), कौशल विकास, शिक्षा, जेनरेटिव एआई, मशीन लर्निंग, डिजिटल शिक्षा, शिक्षण-अधिगम, तकनीकी नवाचार, नैतिकता, शैक्षिक गुणवत्ता।

प्रस्तावना

21वीं शती में विश्व समुदाय की यात्रा ज्ञान, सूचना, तकनीक, प्रौद्योगिकी और नेतृत्व की सक्षमता और संभावनाओं पर केंद्रित रही है जिसमें वैज्ञानिक उन्नति और तकनीकी संसाधनों की उपलब्धता और प्रयोग प्रमुख रहे हैं। ए आई तकनीकी प्रयोगों का नवीनतम और सर्वाधिक उन्नत संस्करण है। ए आई मानव मस्तिष्क की विचार, तर्क और निर्णय करने की शक्ति को मशीनी माध्यमों में पुनर्स्थापित करने का प्रयास करती है। ए आई की मशीन लर्निंग, डीप लर्निंग और नेचुरल लैंग्वेज प्रोसेसिंग जैसी शाखाएँ इसी पद्धति से कार्य करती हैं। इनका उद्देश्य मनुष्य की बौद्धिक क्षमताओं- तर्क, निर्णय, स्मृति और सृजन- को मशीनों में स्थापित करना है। चैटबाट्स, वाइस रिकार्डिंग, स्वचालित अनुवाद, स्मार्ट रोबोट, स्वचालित निर्णय प्रणाली ए आई के प्रमुख उदाहरण हैं। ए आई की वैज्ञानिक संकल्पना की शुरुआत २०वीं सदी के मध्य में एलन ट्यूरिंग द्वारा 'कम्पुटिंग मशीनरी एंड इंटीलिजेंस' (1950) लेख में उठाए गए प्रश्न – 'क्या मशीनें मनुष्य की तरह सोच सकती हैं ?' - से मानी जाती है। जिसे 1956 में डार्कमाउथ सम्मेलन में व्यापक स्वीकृति मिलती है। जहाँ जॉन मैकार्थी, मार्विन मिस्की, एलन न्यूल और हर्बर्ट साइमन जैसे वैज्ञानिक ए आई को स्वतंत्र अनुशासन के रूप में परिभाषित करते हैं। यहीं से इस धारणा को बल मिलता है कि मानव बुद्धिमत्ता के तत्त्वों- जैसे, विचार करना, तर्क करना, विवेचन-विशलेषण करना, भाषा प्रयोग और निर्णय करना आदि-

* सहायक आचार्य, हिंदी विभाग, अकबरपुर महाविद्यालय, अकबरपुर, कानपुर देहात

को मशीनी उपकरणों में लाया जा सकता है। ए आई के क्षेत्र में हुए प्रयोग और बदलाव के आधार पर इसके विकासक्रम को तीन चरणों में विभक्त किया जाता है। प्रथम चरण में नियम आधारित प्रणाली विकसित हुई जो पूर्व निर्धारित निर्देशों पर कार्य करती थी। द्वितीय चरण में मशीन लर्निंग और सांख्यकीय मॉडल सामने आए, जिनमें डेटा से पैटर्न सीखने की क्षमता थी। वर्तमान की तीसरी पीढ़ी के ए आई मॉडल जैसे डीप लर्निंग, प्राकृतिक भाषा प्रसंस्करण (NLP), जेनरेटिव ए आई अधिक जटिल कार्यों को मानवीय बुद्धिमत्ता के साथ करने में सक्षम हो गए हैं।

शोध उद्देश्य (Objectives)

1. शिक्षा एवं कौशल विकास के क्षेत्र में कृत्रिम बुद्धिमत्ता (AI) की भूमिका, उपयोगिता एवं संभावनाओं का अध्ययन करना।

2. शिक्षण-अधिगम, अनुसंधान, मूल्यांकन तथा शैक्षिक प्रबंधन में एआई तकनीक के प्रभाव एवं योगदान का विश्लेषण करना।

3. शिक्षा में एआई के उपयोग से उत्पन्न नैतिक, सामाजिक एवं तकनीकी चुनौतियों का विवेचन करते हुए उसके प्रभावी एवं उत्तरदायी उपयोग हेतु सुझाव प्रस्तुत करना।

शोध प्रविधि (Research Methodology)

प्रस्तुत शोध पत्र में गुणात्मक (Qualitative) एवं विश्लेषणात्मक (Analytical) शोध प्रविधि का प्रयोग किया गया है। अध्ययन मुख्यतः द्वितीयक स्रोतों पर आधारित है, जिनमें पुस्तकों, शोध-पत्रों, समाचार-पत्रों, सरकारी नीतियों, डिजिटल स्रोतों तथा एआई संबंधी उपलब्ध साहित्य का अध्ययन एवं विश्लेषण किया गया है। विषयवस्तु का विवेचन वर्णनात्मक एवं समीक्षात्मक दृष्टिकोण से करते हुए शिक्षा एवं कौशल विकास में कृत्रिम बुद्धिमत्ता की उपयोगिता, संभावनाओं, चुनौतियों तथा प्रभावों का समग्र मूल्यांकन प्रस्तुत किया गया है।

सभ्यतागत निर्माण और भौतिक विकास में विज्ञान और तकनीक की बढ़ती भूमिका ने मानव जीवन, मूल्य और संवेदनाओं को गहरे प्रभावित किया है। जीवन की कठिनाइयाँ कम हुई हैं। सुख सुविधा बढ़ी है। नई खोजों से नित नए विकल्प सामने आ रहे हैं। शिक्षा इसका अपवाद नहीं है। इसलिए वैज्ञानिक खोजों और तकनीकी दक्षता के लिए विद्यार्थियों के शैक्षणिक और कौशल विकास में आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस (AI) का सही उपयोग अत्यंत आवश्य है। परंपरागत ढंग से पाठशाला और पुस्तकों से पढ़ने, करके सीखने, प्रत्यक्ष संपर्क-संवाद की जगह अब शिक्षा क्षेत्र में मशीन आधारित ई-लर्निंग का प्रसार बढ़ा है। आज शिक्षा सहित ज्ञान-विज्ञान, व्यवहार, व्यवस्था, व्यवसाय सहित ज्ञानानुशासनों के सभी क्षेत्रों में जेनरेटिव आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस (आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस (AI)) यानी कृत्रिम बुद्धिमत्ता का बढ़ता प्रयोग इसका उदाहरण है। यह आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस की एक शाखा है जो नया कंटेंट बनाने में मददगार बन रही है। तकनीकी उपकरणों में ओपन एआई के चैट जीपीटी, गूगल जेमिनी और मेटा एआई, माइक्रोसॉफ्ट कोपायलट, एक्स का एआई ग्रोक प्रमुख रुप से सार्वजनिक प्रयोग के लिए उपलब्ध हैं।

एआई ने शिक्षा क्षेत्र में अल्प समय में जितने आकर्षण के साथ प्रयोग, बदलाव और रचनात्मक परिणाम की उम्मीद जगाई है वह पहले के शैक्षिक प्रयोगों से अधिक परिष्कृत और सटीक तथ्यों से युक्त है। आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस (AI) का शिक्षा और कौशल विकास में सही उपयोग तभी संभव है जब इसके प्रयोग करने वालों को सही उपयोग और उचित तथ्यों वाली सामग्री से युक्त आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस (AI) का प्रशिक्षण दिया गया हो | आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस (AI) का प्रयोग किन - किन माध्यमों में, किस सीमा तक और कहाँ करें इसका सरकारों द्वारा स्पष्ट दिशा निर्देश जारी हो। जिससे वैश्विक इंटरनेट और तकनीक के युग में भ्रामक और दुष्प्रभाव से युक्त सामग्रियों को दूर किया जा सके । विद्यार्थियों को कौशल संपन्न बनाकर नैतिक मूल्यों पर आधारित संस्कृति युक्त शिक्षा से सभ्य और विकसित भारत की यात्रा में तेजी लाई जा सके और राष्ट्र के पुनर्निर्माण की यात्रा को गतिमान रख सकें। वर्तमान प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने लेक्स फ्रीडमैन के साथ एक पॉडकास्ट में ए आई के क्षेत्र में भारत की भूमिका को स्पष्ट करते हुए कहा कि- "दुनिया चाहे ए आई को और विकसित करने के लिए कुछ भी कर ले, लेकिन भारत के सहयोग के बिना वह अधूरा रहेगा। इंसानी दिमाग के बिना एआई स्थायी रूप से प्रगति नहीं कर सकता। मेरा मानना है कि एआई विकास मूलतः एक सहयोग है। इसमें शामिल सभी लोग साझा अनुभवों और सीख के जरिए एक-

दूसरे का समर्थन करते हैं। भारत सिर्फ इसका मॉडल नहीं बना रहा, बल्कि इसके विशेष उपयोग के मामलों के हिसाब से एआई आधारित अप्लिकेशन भी विकसित कर रहा है।" (हिंदुस्तान, 17 मार्च, 2025, कानपुर संस्करण)। भारत में एआई के उपयोग और विकास में युवा पीढ़ी की मुख्य भूमिका है अतः एआई के विकास के साथ शैक्षिक अधिगम परिणाम और गुणवत्ता अवश्य प्रभावित होगी। कृत्रिम बुद्धिमत्ता(AI) तकनीकी उपकरणों के माध्यम से उन व्यवहारों और कार्यों को संभव बना रही है जो मूलतः मानवीय क्षमताओं का परिणाम होते हैं और मानवीय आधार पर फैसला लेते हैं। एआई की सहायता से शैक्षिक समस्याओं को कम समय में हल किया जा रहा है और गुणवत्ता भी बढ़ रही है। चिकित्सा क्षेत्र में बैकवर्ड चेनिंग और बैकप्रोपेगेशन के परिणाम इसका उदाहरण है। एआई टूल 'को – साइंटिस्ट' ने दो दिनों में 'सुपरबग' के रहस्य को सुलझाकर वैज्ञानिकों को आश्चर्यचकित कर दिया है। ब्रिटेन के इम्पीरियल कॉलेज के प्रो.जोस पेनाडेस व टीम पिछले एक दशक से अधिक समय से यह पता कर रहे थे कि सुपरबग एंटीबायोटिक दवाओं से क्यों प्रतिरक्षित हैं ? प्रश्न का इस एआई टूल ने पहला उत्तर दिया कि – 'सुपरबग विभिन्न वायरस को लेकर एक 'टेल' का निर्माण कर लेता है'। एआई के निष्कर्ष वैज्ञानिक प्रयोग के परिणाम से पूरी तरह मिलते हैं। (हिंदुस्तान। 31 मार्च, 2025, कानपुर संस्करण)। शिक्षा क्षेत्र में एआई और उस पर आधारित उपकरण चार प्रकार की भूमिका निभा सकते हैं- पहले छात्र सहायक के रूप में, दूसरे शिक्षक सहायक के रूप में, तीसरे छात्रों के लिए शिक्षक के रूप में और चौथा शैक्षिक प्रबंधन संबंधी कार्यों में सहायक के रूप में।

आज एआई तकनीक पढ़ने, लिखने, सीखने, निर्माण और उत्पाद से संबंधित नवाचार में सहायक बन रही है। इसके माध्यम से लेख लिखना, चित्र बनाना, उत्पादों की डिजाइन, शोध कार्य, स्वास्थ्य परीक्षण, चिकित्सा सेवा, अंतरिक्ष विज्ञान, पर्यावरणीय अध्ययन, मनोवैज्ञानिक अध्ययन, वित्तीय प्रबंधन, ऑडियो-वीडियो बनाने, कोडिंग करने, पाठ्य सामग्री तैयार करने, संगीत, खेल आदि सभी क्षेत्रों में काम करना आसान हुआ है। शिक्षा में एआई के प्रयोग से सूचना (डाटा) संग्रह, विश्लेषण और प्रसार के साथ कार्य क्षेत्र में स्वायत्तता बढ़ी है, शोध क्षेत्र में अनुसंधान की नई राहें बन रही हैं। उपलब्ध सामग्री को आकर्षक बनाकर प्रभावी रूप में प्रस्तुत करना आसान हुआ है। कंटेंट निर्माण, खोज और संग्रह में लगने वाले समय, श्रम और धन की बचत हो रही है। भूमंडलीकरण की बयार में शिक्षा रोजगार और बाजार के दबाव में ऐसे मोड़ पर पहुंच गई है जहाँ एआई को कामयाबी और आधुनिक तकनीक का मूलमंत्र समझा जा रहा है। हरेक वस्तु, हर तकनीक, हर प्रक्रिया और हर व्यवस्था में एआई के प्रयोग के रास्ते तलाशे जाने लगे हैं। एआई के उपयोग से सभी क्षेत्रों में समस्याओं के समाधान और सुगमता से परिणाम के अनुमान लगाए जा रहे हैं। जिससे वर्तमान पीढ़ी और शिक्षा व्यवस्था व्यापक रूप से प्रभावित और परवर्तित हो रही है। देश - दुनिया की अग्रणी कंपनियों सहित बेंगलुरू, गुरुग्राम और नोएडा में एआई की सफलता की आश्वस्ति पर बड़ी संख्या में स्टार्टअप शुरू किए गए हैं। वर्ल्ड इकोनॉमिक फोरम के अनुसार अगले एक वर्ष में परंपरागत नौकरियों की तुलना में एआई और मशीन लर्निंग के क्षेत्र में 9.7 करोड़ नई नौकरियां बनेंगी। सभी क्षेत्रों में एआई रिसर्च साइंटिस्ट, मशीन लर्निंग इंजीनियर, क्रिएटिव एआई डेवलपर्स की उपलब्धियां गौरवान्वित करती हैं। कक्षा शिक्षण में एआई के प्रयोग से सहायक शिक्षण सामग्री के रूप में दृश्य-श्रव्य सामग्री का निर्माण, पावर प्वाइंट प्रस्तुतिकरण, नवीनतम शोध सामग्री के उपयोग और प्रसार के अवसर बढ़े हैं। छात्रों को प्रश्नों के उत्तर लिखने, गृहकार्य पूरा करने, प्रोजेक्ट बनाने, प्रयोगशाला में कार्य करने आदि में एआई सहयोगी की भूमिका में नजर आ रही है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति -2020 लागू होने के बाद सतत मूल्यांकन की क्रियाओं, गतिविधियों और एसाइनमेंट तैयार करने में एआई का सहयोग लिया जा रहा है।

इस तरह शिक्षा में आई के उपयोग की संभावनाएं तो स्पष्ट है फिर भी शिक्षा में इसका प्रयोग बहुत ही सावधानी से करना होगा। ए आई आधारित रोबोटिक सिस्टम के प्रभाव से उभरी चुनौतियाँ इसके प्रमुख कारण हैं, जैसे - खोखलापन, जटिल परिवेश, तर्कशक्ति का क्षरण, फॉर्म फैक्टर अर्थात स्वरुप निर्धारण, सामूहिकता रहित होना, सामाजिकता का अभाव, अस्वाभाविक नियंत्रण, असमान विस्तार, मानवीय मूल्यों की उपेक्षा आदि। इन बिंदुओं पर गौर करने से हमें शिक्षा क्षेत्र में एआई के संभावित खतरों और नकारात्मक परिणाम के संकेत स्पष्ट रूप में दिखाई पड़ रहे हैं। शिक्षा में एआई का प्रयोग मौजूदा कक्षा जैसे परिवेश को कम करना होगा। साथ ही संवाद, सहकार और संवेदनात्मक विकास और परिपक्वता में भी बाधा आएगी। विद्यार्थियों के सर्वांगीण विकास और चरित्र निर्माण की संकल्पना असफल होगी। शिक्षा में आई के प्रयोग से असमानता बढ़ेगी क्योंकि शिक्षा में इसके प्रयोग का कोई भी लाभ अलग-अलग तरह से अमीरों के हिस्से में जाएगा और इसका प्रतिकूल परिणाम सबसे पहले व सामान्य तौर पर वंचितों को ही भुगतना होगा जिसके बाद पूरी मानवता को। क्या हमें शिक्षा को ऐसी किसी तकनीक के हवाले करना चाहिए जो भले ही इंसानों जैसी लगे लेकिन इंसान न हो और उससे अधिक

ताकतवर हो जो छात्रों के दिमाग को खोखला कर दे और हमें नियंत्रित करने की स्थिति में हो, जो असमानता व संघर्ष को बढ़ावा दे ?

यहाँ एआई के प्रयोग को लेकर आशंका यह है कि छात्रों द्वारा एआई की सहायता से जो तथ्य संग्रह किए गए हैं वे कितने प्रमाणिक हैं? सूचना का स्रोत क्या है ? क्या सभी विद्यार्थी समान अवसर और कुशलता के साथ इसका उपयोग कर सकते हैं ? क्या सभी के पास पर्याप्त संसाधन उपलब्ध हैं? एआई द्वारा जनरेट सामग्री से विद्यार्थी कितना सीखते हैं, इसके मापन एवं मूल्यांकन की विधियाँ क्या हैं ? एआई के उपयोग के लिए शिक्षक और छात्रों का प्रशिक्षण न होना ? आदि ऐसे प्रश्न हैं जिसके कारण शिक्षा क्षेत्र में एआई का रचनात्मक उपयोग बहुत सीमित है और बहुसंख्यक लोग गुणात्मक परिणाम को लेकर आशंकित हैं। डिजिटल फ्राड, क्राइम, ऑनलाइन ठगी, कैटफिशिंग (नकली चेहरा, फर्जी नाम, बनावटी कहानी) हुडफिशिंग (गलत लोकेशन) आदि के द्वारा झूठ के माध्यम आर्थिक, मानसिक, भावनात्मक रूप से होने वाली समस्याएं और मानवीय जीवन एवं समाज पर नकारात्मक परिणाम भी इसके उदाहरण हैं। जिस तरह एआई के द्वारा रचित दोस्त की शक्ल में आने वाले अजनबी की पहचान जटिल है। उसी तरह एआई द्वारा निर्मित तथ्यहीन, सारहीन और भ्रामक सामग्री के उपयोग से विद्यार्थियों को बचाना चुनौतीपूर्ण है। इनसे स्वयं बचने और दूसरों को बचाने के लिए बहुत ही सूझ-बूझ, प्रशिक्षण और कुशलता की आवश्यकता है।

निष्कर्ष :-

इस तरह हम कह सकते हैं कि वर्तमान समय में शिक्षा क्षेत्र में कौशल विकास और गुणात्मक सुधार के लिए आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस (AI) की रचनात्मक भूमिका महत्त्वपूर्ण है। साथ ही बदलते दौर की चुनौतियों से निपटने के लिए शिक्षा पद्धति और शिक्षण संस्थानों के आधुनिकीकरण की आवश्यकता है। शैक्षिक पाठ्यचर्या को प्रभावी बनाने और विद्यार्थियों के सर्वांगीण विकास के लिए शिक्षण-अधिगम में नवाचार और तकनीक का प्रयोग आवश्यक है। अतः शैक्षिक गतिविधियों में एआई के समग्र प्रभाव का आकलन कर आवश्यक नीति-निर्धारण किया जाए और दिशा-निर्देशों के व्यावहारिक क्रियान्वयन के लिए ठोस पहल की जाए। जिससे गुणवत्तापूर्ण शिक्षा, तकनीकी दक्षता और कौशल विकास के साथ युवाओं की उर्जा का राष्ट्र और समाज के उत्थान में रचनात्मक उपयोग सुनिश्चित हो सके।

संदर्भ :

1. स्कालिफस्ट, पी., माइकेलस्टेन, डी., & तेजिन्स, व. (n.d.). *कृत्रिम बुद्धिमत्ता: चौथी औद्योगिक क्रांति*. कैम्ब्रिज स्टैनफोर्ड बुक्स.
2. तेजिन्स, व. (n.d.). *आर्टिफिशियल जनरल इंटेलिजेंस*. कैम्ब्रिज स्टैनफोर्ड बुक्स.
3. हरजिंदर. (2025, मार्च 26). ए आई इंसानी मिजाज न बने मुसीबत. *हिंदुस्तान*, पृ. 12.
4. बेहर, अनुराग. (2025, नवंबर 6). ड्रग्स से भी ज्यादा खतरनाक शिक्षा में ए आई का इस्तेमाल. *हिंदुस्तान*.
5. बेहर, अनुराग. (2025, सितंबर 25). ए आई टेक्नोलोजी शिक्षकों की जगह नहीं ले सकती. *हिंदुस्तान*.
6. *अमर उजाला*. (2025). कानपुर संस्करण.
7. *जनसत्ता*. (2025). लखनऊ संस्करण.
8. *Google Scholar*. Retrieved June 24, 2025, from https://scholar.google.com

Received: 14.11.2025 | Accepted: 05.12.2025 | Published: 30.12.2025

उरांव जनजाति में धुमकुड़िया व्यवस्था: एक समाजशास्त्रीय अध्ययन

संजीव कुशवाहा*

sanjusanjeev4734@gmail.com

सारांश

उराँव जनजाति भारत की सांस्कृतिक दृष्टि से समृद्ध जनजातियों में से एक है, जो भारत के झारखंड, छत्तीसगढ़, उड़ीसा, पश्चिम बंगाल तथा मध्य प्रदेश राज्यों में मुख्यता पायी जाती है उरांव समाज की प्रमुख सामाजिक सांस्कृतिक संस्थाओं में धूमकुड़िया का महत्वपूर्ण स्थान है धूम कुड़िया उरांव जनजाति की पारंपरिक सामुदायिक युवा संस्था के रूप में जानी जाती है जहां किशोर एवं युवा सामुदायिक जीवन, सामाजिक नियम, सांस्कृतिक परंपराएं, लोकगीत, लोक नृत्य, कृषि,नैतिक शिक्षा तथा नेतृत्व का प्रशिक्षण प्राप्त करते थे धूम कुड़ियां केवल युवाओं के रहने का स्थान नहीं था बल्कि यह सामाजिक शिक्षा, सांस्कृतिक परंपराओं के संरक्षण, सामुदायिक एकता को सुधरी करने तथा सामाजिक अनुशासन बनाए रखने का एक महत्वपूर्ण केंद्र था इसके माध्यम से युवाओं में संस्कार, रीती रिवाज, नैतिक मूल्य और सामुदायिक उत्तरदायित्व की भावना विकसित की जाती थी आधुनिक शिक्षा के प्रसार, नगरीकरण, औद्योगिकरण, धार्मिक परिवर्तनों, रोजगार की तलाश में बढ़ते पलायन तथा वैश्वीकरण के प्रभाव के कारण धूमकुड़ियां व्यवस्था का पारंपरिक स्वरूप धीरे-धीरे कमजोर होता गया है इसके बावजूद यह संस्था उराँव समाज की सांस्कृतिक पहचान और सामाजिक संगठन का महत्वपूर्ण प्रतीक बनी हुई है प्रस्तुत शो-पत्र में धूमकुड़ियां का समाजशास्त्रीय अध्ययन संरचनात्मक - कार्यात्मक दृष्टिकोण समाजीकरण सिद्धांत तथा सांस्कृतिक संरक्षण के परिपेक्ष में किया गया है साथ ही इसके समक्ष उपस्थित चुनौतियों तथा संरक्षण के उपायों पर भी विचार किया गया है।

मुख्य शब्द

उरांव, कुड़ुख़, धूमकुड़िया, समाजशास्त्र,जनजाति, संस्कृति, समाजीकरण, युवा गृह

भूमिका

भारत की जनजातीय संस्कृति अत्यंत समृद्ध और विकसित है सभी जनजाति ने अपनी विशिष्ट सामाजिक संस्थाओं और सांस्कृतिक परंपराओं का विकास किया है उरांव जनजाति की सामाजिक व्यवस्था में धूमकुड़ियां एक अत्यंत महत्वपूर्ण संस्था रही है यह संस्था युवाओं के व्यक्तित्व विकास, सामाजिक शिक्षा सांस्कृतिक संरक्षण और सामुदायिक जीवन के प्रशिक्षण का केंद्र थी समाजशास्त्रीय दृष्टि से धूमकुड़िया एक पारंपरिक, अनौपचारिक शैक्षणिक एवं सामाजिक संस्था है, जो जनजातीय समाज के युवाओं के व्यक्तित्व निर्माण, समाजीकरण, सांस्कृतिक संरक्षण तथा सामुदायिक मूल्य के संवहन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

वर्तमान समय में आधुनिकीकरण शिक्षा के प्रसार, शहरीकरण, तकनीकी विकास तथा आर्थिक परिवर्तनों के कारण धूमकुड़िया व्यवस्था का पारंपरिक स्वरूप संचालित हुआ है।वर्तमान समय में धूमकुडिया समाज आज आधुनिकीकरण शहरीकरण पलायन संस्कृत क्षरण युवाओं की घटती भागीदारी पारंपरिक मूल्यों के ह्रास तथा सरकारी संरक्षण के अभाव जैसी गंभीर समस्याओं का सामना कर रहा है, तो उरांव समाज की अमूल्य सांस्कृतिक धरोहर का एक महत्वपूर्ण अध्याय समाप्त हो सकता है।

* **भूतपूर्व अतिथि व्याख्याता समाजशास्त्र**

शासकीय संत रामेश्वर गहिरा गुरुजी महाविद्यालय बगीचा, जिला जशपुर, छत्तीसगढ़

अध्ययन के उद्देश्य -

1. उरांव जनजाति की धूमकुड़िया व्यवस्था का ऐतिहासिक विश्लेषण।
2. धूमकुड़िया की सामाजिक संरचना एवं कार्यों का विश्लेषण करना।
3. सामाजिक कारण एवं सांस्कृतिक संरक्षण में इसकी भूमिका का अध्ययन करना।
4. आधुनिक के परिवर्तनों के प्रभाव का मूल्यांकन करना।
5. संरक्षण एवं पुनर्जीवन के व्यावहारिक उपाय सुझाना।

साहित्य समीक्षा

धूमकुडिया उरांव जनजाति की पारंपरिक युवा संस्था है, जो सामाजिक की कारण सांस्कृतिक संरक्षण तथा नैतिक शिक्षा का महत्वपूर्ण माध्यम रही है, इस विषय पर अनेक समाजशास्त्रियों, मानवशास्त्रों एवं इतिहासकारों ने अध्ययन किए हैं।

शरद चंद्र राय (sarat chandra Roy 1915) ने The oraons of chota Nakpur मैं उरांव समाज के सामाजिक संरचना, धर्म,संस्कृति तथा धूमकुडिया व्यवस्था का विस्तृत वर्णन किया है। उन्होंने इसे युवाओं के समाजीकरण तथा संस्कृत शिक्षा का प्रमुख केंद्र माना है।

वेरियर एल्विन (verrier Elwin,1947) ने भारतीय जनजातीय समाजों का अध्ययन करते हुए युवा गृहों को आदिवासी संस्कृति के संरक्षण का महत्वपूर्ण माध्यम बताया। उनके अनुसार यह संस्थाएं सामुदायिक जीवन अनुशासन और नैतिक शिक्षा की आधारशिला है।

एल.पी. विद्यार्थी(L. P. Vidyathi) ने बिहार एवं झारखंड की जनजातियों के अध्ययन में धूमकुडिया को सामाजिक संगठन तथा सामुदायिक नेतृत्व निर्माण की प्रभावी संस्था बताया है।

एस. सी. दुबे (S. C. Dube) ने जनजातीय समाजों में पारंपरिक संस्थाओं की भूमिका का विश्लेषण करते हुए कहा कि ऐसी संस्थाएं सामाजिक नियंत्रण तथा सांस्कृतिक निरंतरता बनाए रखने में महत्वपूर्ण योगदान देती हैं।

नवीनतम शोधों से यह स्पष्ट हुआ है कि आधुनिक शिक्षा नगरीकरण धार्मिक रूपांतरण तथा वैश्वीकरण के प्रभाव स्वरूप धूमकुडिया व्यवस्था का पारंपरिक ढांचा भले ही शिथिल हुआ है, तथापि यह आज भी उरांव समाज की सांस्कृतिक अस्मिता का एक सुदृढ़ और अनिवार्य प्रतीक बनी हुई है।

अनुसंधान पद्धति (Research Methodology)

प्रस्तुत अध्ययन गुणात्मक (Qualitative) एवं वर्णनात्मक-विश्लेषणात्मक (Descriptive-Analytical) प्रकृति का है, जिसमें उरांव समुदाय के सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से अध्ययन किया गया है। अध्ययन का उद्देश्य उपलब्ध तथ्यों का विश्लेषण करते हुए समुदाय की परंपराओं, सामाजिक संरचना तथा सांस्कृतिक विशेषताओं को समझना है। शोध में प्राथमिक एवं द्वितीयक दोनों प्रकार के स्रोतों का उपयोग किया गया है। प्राथमिक स्रोतों के अंतर्गत (जहाँ क्षेत्रीय अध्ययन किया गया हो) उरांव समुदाय के बुजुर्गों एवं पारंपरिक मुखियाओं तथा पुजारियों से साक्षात्कार, उनके साथ चर्चा तथा प्रतिभागी अवलोकन (Participant Observation) की विधि अपनाई गई है। वहीं द्वितीयक स्रोतों के रूप में पुस्तकों, शोध-पत्रों, शोध-प्रबंधों, जनजातीय शोध संस्थानों की रिपोर्टों, सरकारी प्रकाशनों तथा जनगणना संबंधी रिपोर्टों का अध्ययन किया गया है। संकलित तथ्यों का विश्लेषण समाजशास्त्रीय सिद्धांतों, विशेषतः संरचनात्मक-कार्यात्मक दृष्टिकोण (Structural Functional Approach) तथा सामाजीकरण सिद्धांत (Socialization Theory) के आधार पर किया गया है, जिससे उरांव समुदाय की सामाजिक संरचना, सांस्कृतिक परंपराओं तथा सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया का सम्यक् मूल्यांकन किया जा सके।

उरांव जनजाति का परिचय-

उरांव भारत की प्रमुख अनुसूचित जनजातियों में से एक है। यह स्वयं को कुड़ुख कहते हैं तथा उनकी भाषा कुड़ुख द्रविड़ भाषा परिवार से संबंधित है। इनका निवास मुख्यता झारखंड, छत्तीसगढ़, उड़ीसा, पश्चिम बंगाल, बिहार तथा मध्य प्रदेश में है। छत्तीसगढ़ के जशपुर,सरगुजा, बलरामपुर, रायगढ़ एवं कोरिया जिलों में उराँव समुदाय की उल्लेखनीय उपस्थिति है।

प्रमुख विशेषताएं

भाषा- कुड़ुख

प्रमुख त्योहार- सरहुल,करमा, सोहराय, नवाखानी

प्रमुख व्यवसाय- कृषि, वनोउपज संग्रह एवं पशुपालन

सामाजिक संगठन- परिवार, गोत्र, ग्राम पंचायत तथा पड़हा व्यवस्था

धार्मिक आस्था - सरना धर्म (प्राकृतिक पूजा)

उरांव समाज सामुदायिक जीवन, श्रम विभाजन, पारस्परिक सहयोग तथा प्रकृति के प्रति सम्मान की भावना के लिए जाना जाता है।

धूमकुड़िया की अवधारणा -

धूमकुड़िया हमारे समाज की एक प्राचीन और पारंपरिक युवा संस्था रही है। यह गांव का एक विशेष केंद्र हुआ करता था, जहां अविवाहित युवक-युवतियां इकट्ठा होकर अपने सामाजिक दायित्वों और सांस्कृतिक परंपराओं का प्रशिक्षण प्राप्त करते थे, ताकि वे जीवन की जिम्मेदारियों के लिए तैयार हो सकें।कुरुख परंपरा के अनुसार, लड़कों के युवा-गृह को 'जोंख एड़पा' और लड़कियों के युवा-गृह को 'पेल्लो एड़पा' कहते हैं। इन दोनों संस्थाओं को चलाने में गाँव के अनुभवी बुजुर्ग अहम भूमिका निभाते हैं।

धूमकुड़िया केवल एक शिक्षा केंद्र नहीं था, बल्कि युवाओं के संपूर्ण विकास का मंच था। इसका मुख्य उद्देश्य युवाओं को ऐसा इंसान बनाना था जो अपने समाज के प्रति जिम्मेदार हों, खेती-किसानी में माहिर हों, कला में निपुण हों और अनुशासन का पालन करते हुए भविष्य में अपने समाज का कुशल नेतृत्व कर सकें। धूमकुड़िया उरांव जनजाति की एक बेहद महत्वपूर्ण और पारंपरिक संस्था है, जो उनके समाज को एकजुट रखने और उनकी संस्कृति को जीवित रखने का मुख्य स्तंभ रही है। इसे उरांव समाज की सांस्कृतिक निरंतरता और सामुदायिक एकता का सबसे बड़ा आधार माना जाता है।इस संस्था में युवाओं को जीवन के हर पहलू से जुड़े निम्नलिखित कार्यों का व्यावहारिक प्रशिक्षण दिया जाता था:

सांस्कृतिक कलाएँ: लोकगीत, लोकनृत्य और मंदार (पारंपरिक वाद्य यंत्र) बजाने की कला।

आजीविका और कौशल: कृषि कार्य, शिकार और विभिन्न प्रकार की हस्तकलाएँ।

सामाजिक और नैतिक मूल्य: सामुदायिक सेवा, नैतिक शिक्षा और समाज के प्रति अपनी जिम्मेदारियों व उत्तरदायित्वों को समझना।

धूमकुड़िया की संरचना एवं संगठन

धूमकुड़िया उराँव समाज में प्रचलित सामाजिक प्रशिक्षण संस्था होती थी, यह सामान्यतः गांव के मध्य या अखड़ा (सामुदायिक नृत्य स्थल) के निकट स्थित होती थी। यहां युवाओं को सांस्कृतिक जीवन और सामाजिक जीवन का विशेष प्रशिक्षण दिया जाता था। यह प्रशिक्षण वरिष्ठ सदस्यों द्वारा दिया जाता था। साथी इस संस्था का संचालन वरिष्ठ सदस्यों द्वारा किया जाता था। यह प्रशिक्षण संस्था सिर्फ युवाओं के लिए होती थी। यहां लड़के लड़कियों को प्रशिक्षण अलग-अलग दिया जाता था। लड़कों के प्रशिक्षण संस्था को जोंख एड़पा तथा लड़कियों के प्रशिक्षण संस्था को पेल्लो एड़पा कहां जाता था। इन संस्थाओं का मुख्य उद्देश्य युवाओं को विशेष प्रशिक्षण देकर उनके सर्वांगीण विकास करना था।

धूमकुड़िया के प्रमुख कार्य

(क) सामाजिकरण (socialization) - धूमकुड़िया में सामाजिकरण का विशेष स्थान था। यहां युवाओं को सामाजिक नियम, सामूहिक जीवन, सहयोग, बुजुर्गों का सम्मान, विवाह संबंधी मान्यताएं तथा सामाजिक कर्तव्यों की शिक्षा दी जाती थी। समाजीकरण के द्वारा युवाओं को परिवार में प्राप्त शिक्षा को और अधिक सुदृढ़ किया जाता था।

(ख) सांस्कृतिक संरक्षण - धूमकुड़िया ऐसी संस्था थी जहां सांस्कृतिक मूल्यों की शिक्षा भी दी जाती थी। लोकगीत, सरहुल, करमा, नृत्य, सोहराय, मांदर वंदना, लोक कथाएं, पारंपरिक वेशभूषा तथा धार्मिक अनुष्ठान की शिक्षा यही दी जाती थी। अतः धूम कुड़िया और संस्कृति की जीवंत केंद्र थी।

(ग) नैतिक एवं चारित्रिक शिक्षा - युवाओं को सामाजिक एवं नैतिक मूल्यों की शिक्षा दी जाती थी। जैसे- अनुशासन, ईमानदारी, सत्यनिष्ठा, परिश्रम, सामूहिकता तथा सामाजिक उत्तरदायित्व का प्रशिक्षण दिया जाता था। इससे सामाजिक संतुलन बना रहता था।

(घ) आर्थिक प्रशिक्षण - धूमकुड़िया में युवाओं को सामाजिक एवं नैतिक मूल्यों के साथ-साथ आर्थिक प्रशिक्षण भी दिया जाता था जैसे- कृषि, वनोंपज, संग्रह, शिकार, पशुपालन, मछली पकड़ना तथा श्रम विभाजन की जानकारी दी जाती थी। इससे युवा युवा आर्थिक रूप से सुदृढ होते थे।

(ङ) नेतृत्व निर्माण - सामुदायिक निर्णय, ग्राम पंचायत तथा पहड़ा व्यवस्था में युवाओं की भागीदारी सुनिश्चित करने के लिए नेतृत्व क्षमता विकसित की जाती थी। सामुदायिक कार्यों में निरंतर भागीदारी से उनमें संगठन क्षमता विकसित होती थी।

समाजशास्त्रीय विश्लेषण

(अ) संरचनात्मक- कार्यात्मक दृष्टिकोण - संरचनात्मक कार्यात्मक दृष्टिकोण से समाज अनेक संस्थाओं से मिलकर बना होता है और सामाजिक व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने में प्रत्येक व्यवस्था की अहम भूमिका होती है। इस दृष्टिकोण से देखा जाए तो धूमकुडिया उरांव समाज की एक ऐसी संस्था थी जो समाज में संतुलन बनाए रखने का कार्य करती थी। यह सामाजिक एकता संस्कृत निरंतर सामाजिक नियंत्रण तथा मूल्य प्रेषण का कार्य करती थी।

(ब) सामाजीकरण का सिद्धांत - समाजीकरण वह निरंतर चलने वाली सामाजिक प्रक्रिया है, जिसके द्वारा व्यक्ति समाज के तौर- तरीकों मूल्य नियमों और संस्कृति को सीखता है धूमकुड़िया इस प्रक्रिया की विशेष मध्य थी। यह घर परिवार के बाद युवाओं के व्यक्तित्व निर्माण में अहम भूमिका निभाती थी।

(स) सामाजिक नियंत्रण - धमकुडिया सामाजिक नियंत्रण का प्रभावशाली माध्यम था। जो युवाओं को सामाजिक और नैतिक मूल्यों की शिक्षा देती थी। नियमों के उल्लंघन पर कार्यवाही भी की जाती थी।

(द) संस्कृत पुनरूपादन - सांस्कृतिक परंपराओं को एक पीढ़ी से दूसरे पीढ़ी तक हस्तांतरण करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती थी साथी धार्मिक विश्वास, लोक ज्ञान, लोक कला, पारंपरिक जीवन पद्धति तथा कृषि संबंधी ज्ञान नहीं पीढ़ी तक पहुंचने में अहम भूमिका निभाती थी। इस प्रकार यह सांस्कृतिक मूल्यों के संरक्षण की विशेष संस्था थी।

धूमकुडिया का सामाजिक महत्व –

उरांव समाज में धूमकुड़िया केवल प्रशिक्षण का केंद्र ही नहीं बल्कि सामाजिक पहचान का आधार भी थी। प्रमुख सामाजिक महत्व निम्नलिखित है-

1. युवाओं में अनुशासन नेतृत्व और उत्तरदायित्व की भावना विकसित करना।
2. सांस्कृतिक परंपराओं का संरक्षण करना विवाह एवं गोत्र संबंधी नियमों का जानकारी देना।
3. सामाजिक समस्याओं को कम करना।
4. सहयोग की भावना विकसित करना एवं सामूहिक श्रम को बढ़ावा देना।
5. पंचायत एवं पद व्यवस्था को मजबूत करना।
6. सामाजिक कठिनाइयों को कम करना।
7. सामुदायिक सामंजस्य को मजबूत करना।

समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से धुमकुड़िया उरांव समाज की ऐसी संस्था थी जिसे उराव समाज की सामाजिक संरचना को सदियों से पीढ़ी दर पीढ़ी सुव्यवस्थित, अनुसूचित, संगठित एवं सांस्कृतिक परंपराओं को संरक्षित एवं समृद्ध बनाए रखा।

धूमकुड़िया व्यवस्था पर आधुनिक परिवर्तनों का प्रभाव-

आधुनिकता, औपचारिक शिक्षा, नगरीकरण, औद्योगिकरण, संचार क्रांति तथा वैश्वीकरण ने उरांव समाज की पारंपरिक संस्थाओं को पूरी तरह से बदल कर रख दिया है। धूमकुडिया भी इससे बच नहीं सकी पहले यह संस्था सामाजिक जीवन का मूल केंद्र था, वही आज आधुनिकता के कारण कई ग्रामीण क्षेत्रों में इसका अस्तित्व समाप्त हो चुका है।

(क) औपचारिक शिक्षा का प्रभाव- विद्यालय एवं महाविद्यालय के बढ़ने से युवाओं की शिक्षा का तरीका ही बदल गया है। पहले के समय में युवाओं को अपने समाज के तौर- तरीके, रीति - रिवाज संस्कृति और काम धंधे सीखने के लिए धूमकुड़ियां जैसी पारंपरिक जगह होती थी, लेकिन आज के समय में यह सब सीखने का काम आधुनिक स्कूलों कॉलेजों और शिक्षण संस्थाओं ने ले लिया है। यद्यपि विद्यालय औपचारिक शिक्षा देते हैं, लेकिन वह स्थानीय सांस्कृतिक परंपराओं का पूरी तरह से बचाव नहीं कर पाते हैं।

(ख) नगरीकरण एवं पलायन- नौकरी अच्छी शिक्षा और बेहतर जीवन यापन की खोज में कई युवा शहरों की ओर बढ़ रहे हैं। जिससे धूमकुड़िया में युवाओं ने भाग लेना कम कर दिया और पारंपरिक ज्ञान की बदलने की प्रक्रिया कमजोर हो गई।

(ग) धार्मिक परिवर्तन- ईसाई मिशनरियों तथा अन्य धार्मिक प्रभावों के कारण कई क्षेत्रों में सरना धार्मिक रीति-रिवाज और धूमकुडिया जैसी संस्थाओं की लोकप्रियता कम हुई है। इसके बावजूद भी अनेक उरांव परिवार आज भी अपनी रीति - रिवाज सांस्कृतिक परंपराओं को संरक्षित करने में जुटे हुए हैं।

(घ) वैश्वीकरण और डिजिटल संस्कृति - मोबाइल, फोन, इंटरनेट और स्पेशल मीडिया ने युवाओं के जीवन को बदल दिया है, उनके जीने के तौर- तरीका और सांस्कृतिक रुचियां को भी पूरी तरह से बदल कर रख दिया है। इसके कारण पूरी समाज बदल गई है लोकगीत लोक नृत्य और पारंपरिक प्रशिक्षण की जगह आधुनिक मनोरंजन ने ले ली है, जिससे धूमकुड़िया की सामाजिक भूमिका धीरे-धीरे समाप्त होती जा रही है।

धूमकुड़िया व्यवस्था की वर्तमान प्रासंगिकता-

हालांकि धूम कुड़िया का पारंपरिक स्वरूप कमजोर हुआ है, आज फिर भी इसकी मूल अवधारणा बेहद प्रासंगिक है। यह जनजातीय सांस्कृतिक पहचान का चिन्ह है। युवाओं में सामाजिक उत्तरदायित्व एवं नेतृत्व क्षमता को बढ़ा सकती है। लोक कला लोकगीत और लोक नृत्य हमारी संस्कृति को बच्चा बचाने के बेहतरीन माध्यम है। यह व्यवस्था समुदाय आधारित शिक्षा संस्कृत प्रशिक्षण का एक बेहतरीन मॉडल सामने लाती है। नई पीढ़ी आज के युवाओं को अपनी सांस्कृतिक मूल्यों से जोड़ने में मदद कर सकती है।

संरक्षण एवं पुनर्जीवन के सुझाव-

1. धूमकुड़िया परंपरा को व्यवस्थित रूप से लिखकर सुरक्षित किया जाए।
2. विद्यालय एवं महाविद्यालय के पाठ्यक्रम में स्थानीय जनजातीय संस्कृति को भी जोड़ा जाना चाहिए।
3. राज्य सरकार एवं आदिवासी विभाग इनको बचाने के लिए नई योजनाएं शुरू की जाए।
4. गांव में पारंपरिक अखाड़ा एवं धूमकुडिया जगह का बचाव किया जाए।
5. युवा महोत्सव कर्म एवं सरहुल जैसे सांस्कृतिक कार्यक्रमों को बढ़ावा दिया जाए। विश्वविद्यालय में पूरा संस्कृति एवं धूमकुडिया से जुड़े शोध कार्यों को विशेष प्रोत्साहन दिया जाए।
6. स्थानीय लोग, बुद्धिजीवियों और सामाजिक संगठनों को सक्रिय रूप से शामिल किया जाए।

निष्कर्ष -

उरांव समुदाय की सामाजिक सांस्कृतिक संरचना में धूमकुडिया एक अत्यंत महत्वपूर्ण और आधारभूत संस्था है। यह न केवल युवाओं का निवास स्थान है बल्कि समाजीकरण, संस्कृतिक, संरक्षण, नैतिक शिक्षा, नेतृत्व निर्माण, सामाजिक नियंत्रण तथा सामुदायिक जीवन का प्रशिक्षण केंद्र था। इस संस्था ने उराव समाज को एकजुट रखने उनकी संस्कृति को बनाए रखने और लोगों में जागरूकता बढ़ाने में बहुत मदद करती है।

आधुनिकता, नगरीकरण, औपचारिक शिक्षा, और वैश्वीकरण के कारण इसका पारंपरिक संरचना का स्वरूप बहुत ही कमजोर होता गया है लेकिन इसका ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक महत्व आज भी बरकरार है। यदि समुदाय शिक्षण संस्थाएं तथा सरकार मिलकर इस बचाने का प्रयास करें तो धूमकुडिया की विरासत को दोबारा पुनर्जीवित किया जा सकता है। यह न केवल पूरा समाज का की अमूल्य धरोहर है, बल्कि भारत की समृद्ध जनजातीय सांस्कृतिक विरासत का एक अभिन्न अंग है।

संदर्भ

Kujur, M. (2015). *Oraon Tribe: Society and Culture*. New Delhi.

Ministry of Tribal Affairs. *Annual Report*. Government of India.

Minz, D. (2000). *Oraon Culture and Tradition*. Ranchi

People of India: Chhattisgarh. (Ed.). (2008). *Anthropological Survey of India*.

State, Society and Tribes. (2008). New Delhi: Pearson Education.

The Oraons of Chota Nagpur. (1915). *The Oraons of Chota Nagpur*. Ranchi: Catholic Press.

The Tribal Culture of India. (1976). New Delhi: Concept Publishing Company.

Tribal Heritage of India. (1977). New Delhi: Vikas Publishing House.

Received: 15.11.2025 | Accepted: 10.12.2025 | Published: 30.12.2025

दुष्यंत कुमार के काव्य में व्यवस्था-विरोध और रचनात्मक प्रतिरोध की अवधारणा

डॉ. सौरभ सिंह*
souravbhu1916@gmail.com

शोध-सार

प्रस्तुत शोध-पत्र में दुष्यंत कुमार के काव्य में निहित व्यवस्था-विरोध और रचनात्मक प्रतिरोध की अवधारणा का अध्ययन किया गया है। स्वातंत्र्योत्तर भारत के सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक परिवेश ने हिंदी साहित्य को नई वैचारिक दिशा प्रदान की। इसी परिवेश में दुष्यंत कुमार का काव्य जनजीवन की वास्तविकताओं, लोकतांत्रिक चुनौतियों तथा सामाजिक परिवर्तन की आकांक्षाओं का सशक्त माध्यम बनकर सामने आता है। इस अध्ययन में व्यवस्था की अवधारणा, व्यवस्था-विरोध का साहित्यिक स्वरूप तथा प्रतिरोध साहित्य की परंपरा का विवेचन करते हुए दुष्यंत कुमार की ग़ज़लों और कविताओं का विश्लेषण किया गया है। उनके काव्य में राजनीतिक व्यवस्था की विसंगतियाँ, लोकतंत्र की चुनौतियाँ, सत्ता की संवेदनहीनता, सामान्य नागरिक की पीड़ा तथा सामाजिक और आर्थिक असमानताओं का यथार्थ चित्रण प्राप्त होता है। साथ ही उनके रचना-संसार में प्रतिरोध संघर्ष, आशा, जन-जागरण, परिवर्तन की चेतना तथा लोकतांत्रिक मूल्यों की स्थापना से जुड़कर विकसित होता है। अध्ययन से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि दुष्यंत कुमार का व्यवस्था-विरोध नकारात्मक दृष्टिकोण का परिचायक नहीं है। उनके काव्य में सामाजिक उत्तरदायित्व, जनसरोकार, मानवीय गरिमा तथा लोकतांत्रिक चेतना के पक्ष में स्पष्ट वैचारिक प्रतिबद्धता दिखाई देती है। व्यंग्य, प्रतीक, बिम्ब, जनभाषा तथा संवादधर्मिता जैसे काव्यगत उपकरण उनकी अभिव्यक्ति को प्रभावशाली बनाते हैं।

मुख्य शब्द-

व्यवस्था-विरोध, रचनात्मक प्रतिरोध, प्रतिरोध साहित्य, सत्ता-विमर्श, जनचेतना, सामाजिक न्याय।

प्रस्तावना

साहित्य समाज की चेतना, अनुभव और ऐतिहासिक परिस्थितियों का सजीव दस्तावेज माना जाता है। प्रत्येक युग का साहित्य अपने समय की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक स्थितियों के साथ गहरा संबंध स्थापित करता है। जब समाज में अन्याय, असमानता, भ्रष्टाचार, शोषण तथा जनविरोधी प्रवृत्तियाँ बढ़ती हैं, तब साहित्य इन परिस्थितियों को अभिव्यक्ति प्रदान करते हुए परिवर्तन की दिशा में वैचारिक हस्तक्षेप करता है। इसी संदर्भ में व्यवस्था-विरोध और रचनात्मक प्रतिरोध जैसी अवधारणाएँ हिंदी साहित्य में विशिष्ट स्थान रखती हैं। स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य में दुष्यंत कुमार ऐसे रचनाकार के रूप में प्रतिष्ठित हैं, जिन्होंने अपने काव्य के माध्यम से लोकतांत्रिक व्यवस्था की विसंगतियों, सामाजिक असमानताओं, आर्थिक विषमताओं तथा सामान्य नागरिक के संघर्ष को प्रभावशाली स्वर दिया। उनकी ग़ज़लों और कविताओं में व्यवस्था के प्रति असंतोष के साथ सामाजिक परिवर्तन की आकांक्षा भी निरंतर व्यक्त होती है। दुष्यंत कुमार ने जनभाषा, व्यंग्य, प्रतीक तथा सशक्त बिम्बों के माध्यम से समकालीन समाज की वास्तविकताओं को व्यापक रूप से अभिव्यक्त किया। उनके काव्य में सामान्य नागरिक की पीड़ा, लोकतांत्रिक संस्थाओं की चुनौतियाँ, सत्ता की संवेदनहीनता तथा सामाजिक परिवर्तन की आकांक्षा परस्पर संबद्ध रूप में उपस्थित हैं। यही कारण है कि उनकी रचनाएँ वर्तमान सामाजिक और राजनीतिक संदर्भों में भी व्यापक प्रासंगिकता रखती हैं। प्रस्तुत शोध-पत्र का उद्देश्य दुष्यंत कुमार के काव्य में व्यवस्था-विरोध और रचनात्मक प्रतिरोध की अवधारणा का अध्ययन करना है। इस अध्ययन के अंतर्गत व्यवस्था-विरोध की वैचारिक पृष्ठभूमि, प्रतिरोध की रचनात्मक दिशा, काव्यगत विशेषताएँ तथा समकालीन संदर्भों में उनकी रचनाओं की प्रासंगिकता का विश्लेषण किया गया है। यह

* **सहायक प्राध्यापक, श्री रामाश्रय जगदम्बा ग्रामीण स्नातकोत्तर महाविद्यालय, आजमगढ़**

अध्ययन दुष्यंत कुमार के काव्य में निहित जनपक्षधर दृष्टि, लोकतांत्रिक चेतना तथा सामाजिक परिवर्तन के वैचारिक आधार को समझने की दिशा में उपयोगी सिद्ध होता है।

दुष्यंत कुमार के काव्य में व्यवस्था-विरोध

दुष्यंत कुमार का काव्य स्वातंत्र्योत्तर भारत की सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक परिस्थितियों का प्रामाणिक दस्तावेज़ है। उनके रचना-संसार में स्वतंत्रता के बाद निर्मित लोकतांत्रिक व्यवस्था, शासन-तंत्र, राजनीतिक नेतृत्व तथा सामाजिक असमानताओं के प्रति गहरा असंतोष व्यक्त हुआ है। उनकी ग़ज़लों और कविताओं में व्यवस्था-विरोध किसी आकस्मिक प्रतिक्रिया का परिणाम नहीं है, अपितु जनजीवन के यथार्थ अनुभवों से निर्मित वैचारिक अभिव्यक्ति है। कवि ने लोकतांत्रिक मूल्यों और जन-अपेक्षाओं के मध्य उपस्थित दूरी को स्पष्ट करते हुए परिवर्तन की आवश्यकता पर बल दिया है।

राजनीतिक व्यवस्था

दुष्यंत कुमार ने राजनीतिक व्यवस्था के उस स्वरूप को अभिव्यक्त किया है जिसमें सत्ता जनता से दूर होती दिखाई देती है। स्वतंत्रता के पश्चात जिस जनकल्याणकारी शासन की कल्पना की गई थी, वह व्यवहार में जनसाधारण की आकांक्षाओं को पूरा नहीं कर सका। इस स्थिति को कवि प्रसिद्ध ग़ज़ल के शेर में व्यक्त करते हैं-

"कहाँ तो तय था चरागाँ हर एक घर के लिए,

कहाँ चराग मयस्सर नहीं शहर के लिए।"

यह शेर स्वतंत्रता के समय किए गए वायदों और वास्तविक सामाजिक परिस्थितियों के मध्य उपस्थित अंतर को उद्घाटित करता है। यहाँ राजनीतिक व्यवस्था की कार्यप्रणाली जनविश्वास को संतुष्ट करने में असफल दिखाई देती है।

लोकतंत्र की विफलता

दुष्यंत कुमार के काव्य में लोकतंत्र का व्यावहारिक संकट अधिक उभरकर सामने आता है। लोकतंत्र का उद्देश्य जनभागीदारी और समान अवसर प्रदान करना था, किंतु सत्ता और प्रशासन की कार्यशैली ने अनेक स्तरों पर निराशा उत्पन्न की। इसी संदर्भ में कवि लिखते हैं-

"इस सड़क पर इस कदर कीचड़ बिछी है,
हर किसी का पाँव घुटनों तक सना है।"

यहाँ "कीचड़" व्यवस्था की जटिलताओं, भ्रष्टाचार तथा प्रशासनिक अव्यवस्था का प्रतीक है। लोकतांत्रिक संस्थाओं के संचालन में उत्पन्न विकृतियाँ सामाजिक जीवन को प्रभावित करती हुई दिखाई देती हैं। यह चित्र लोकतंत्र की व्यावहारिक चुनौतियों को रेखांकित करता है।

सत्ता की आलोचना

दुष्यंत कुमार की ग़ज़लों में सत्ता के प्रति प्रश्नाकुल दृष्टि दिखाई देती है। कवि सत्ता की निरंकुश प्रवृत्तियों, जनविरोधी निर्णयों तथा संवेदनहीन प्रशासन की ओर संकेत करता है। उनकी प्रसिद्ध पंक्तियाँ हैं-

"मत कहो आकाश में कुहरा घना है,
यह किसी की व्यक्तिगत आलोचना है।"

इन पंक्तियों में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर पड़ने वाले दबाव तथा सत्ता की असहिष्णु मानसिकता का संकेत मिलता है। सामाजिक यथार्थ को व्यक्त करना भी सत्ता के लिए असुविधाजनक प्रतीत होता है। इस प्रकार कवि लोकतांत्रिक व्यवस्था में विचार-स्वातंत्र्य के प्रश्न को सामने लाते हैं।

सत्ता की निष्क्रियता और जनजीवन से उसके विच्छेद को व्यक्त करते हुए कवि लिखते हैं-

"हो गई है पीर पर्वत-सी, पिघलनी चाहिए,

इस हिमालय से कोई गंगा निकलनी चाहिए।"

इन पंक्तियों में परिवर्तन की आकांक्षा व्यक्त हुई है। कवि चाहता है कि शासन व्यवस्था जनहितकारी कार्यों की दिशा में सक्रिय हो तथा सामाजिक पीड़ा का समाधान प्रस्तुत करे।

आम आदमी की पीड़ा

दुष्यंत कुमार के काव्य का केंद्र सामान्य नागरिक है। बेरोज़गारी, अभाव, उपेक्षा, अन्याय तथा जीवन-संघर्ष उनके काव्य के प्रमुख विषय हैं। कवि लिखते हैं-

"न हो कमीज़ तो पाँवों से पेट ढँक लेंगे,
ये लोग कितने मुनासिब हैं इस सफ़र के लिए।"

यह शेर आर्थिक अभाव से जूझते जनजीवन का मार्मिक चित्र प्रस्तुत करता है। आम नागरिक विपरीत परिस्थितियों में भी जीवन-यात्रा जारी रखता है। यहाँ व्यवस्था की विफलता के कारण उत्पन्न आर्थिक संकट स्पष्ट दिखाई देता है। जनजीवन में व्याप्त असहायता का एक अन्य चित्र इस शेर में मिलता है-

"दुकानदार तो मेले में लुट गए यारो,
तमाशबीन दुकानें लगा के बैठ गए।"

यहाँ सामाजिक संवेदनहीनता तथा अवसरवादी प्रवृत्ति का चित्र उपस्थित है। व्यवस्था की निष्क्रियता के कारण पीड़ित व्यक्ति सहायता से वंचित रह जाता है।

सामाजिक एवं आर्थिक विसंगतियाँ

दुष्यंत कुमार ने सामाजिक विषमता, आर्थिक असंतुलन तथा वर्गीय अंतर को अनेक ग़ज़लों में अभिव्यक्ति दी है। समाज का एक वर्ग विकास और संसाधनों का लाभ प्राप्त करता है, जबकि दूसरा वर्ग अभाव, भूख और असुरक्षा से संघर्ष करता रहता है। इस विरोधाभास को कवि निम्न पंक्तियों में व्यक्त करते हैं-

"वे मुतमइन हैं कि पत्थर पिघल नहीं सकता,

मैं बेकरार हूँ आवाज़ में असर के लिए।"

यहाँ "पत्थर" जड़ हो चुकी व्यवस्था का प्रतीक है तथा "आवाज़" जनचेतना का संकेत देती है। कवि सामाजिक परिवर्तन की संभावना को जीवित रखता है।

इसी प्रकार एक अन्य शेर-

"कैसे आकाश में सुराख नहीं हो सकता,

एक पत्थर तो तबीयत से उछालो यारो।"

यह शेर प्रतिरोध की सक्रिय चेतना का प्रतीक है। कवि सामाजिक परिवर्तन को जनसहभागिता से जोड़ता है तथा अन्यायपूर्ण परिस्थितियों के विरुद्ध संघर्ष की प्रेरणा देता है। इस प्रकार दुष्यंत कुमार का काव्य व्यवस्था-विरोध को व्यापक सामाजिक संदर्भ में प्रस्तुत करता है। राजनीतिक विसंगतियाँ, लोकतांत्रिक संकट, सत्ता की संवेदनहीनता, सामान्य नागरिक का संघर्ष तथा आर्थिक असमानता उनके रचना-संसार के प्रमुख आयाम हैं। उनकी ग़ज़लों में व्यक्त प्रतिरोध न्यायपूर्ण, उत्तरदायी और जनोन्मुख सामाजिक व्यवस्था की आकांक्षा से जुड़ा हुआ है। यही कारण है कि उनका काव्य आज भी सामाजिक चेतना और लोकतांत्रिक विमर्श में प्रासंगिक बना हुआ है।

रचनात्मक प्रतिरोध की अवधारणा

दुष्यंत कुमार का काव्य व्यवस्था की विसंगतियों का चित्रण करने के साथ-साथ परिवर्तन की दिशा भी प्रस्तुत करता है। उनके यहाँ प्रतिरोध सामाजिक चेतना, जनसहभागिता और लोकतांत्रिक मूल्यों के पुनर्निर्माण की ओर अग्रसर दिखाई देता

है। उनके रचना-संसार में संघर्ष के साथ आशा, निराशा के साथ विश्वास तथा यथार्थ के साथ परिवर्तन की आकांक्षा निरंतर विद्यमान रहती है। यही कारण है कि उनका प्रतिरोध रचनात्मक स्वर ग्रहण करता है और पाठक को सामाजिक उत्तरदायित्व का बोध कराता है।

प्रतिरोध का सकारात्मक स्वर

दुष्यंत कुमार के काव्य में प्रतिरोध का स्वर विध्वंस की मानसिकता से प्रेरित नहीं है। उनकी दृष्टि समाज में व्याप्त अन्याय और असमानता को दूर कर जनहितकारी व्यवस्था की स्थापना की ओर उन्मुख रहती है। इस भाव को उनकी प्रसिद्ध पंक्तियाँ स्पष्ट करती हैं-

"हो गई है पीर पर्वत-सी, पिघलनी चाहिए,
इस हिमालय से कोई गंगा निकलनी चाहिए।"

इन पंक्तियों में सामाजिक पीड़ा को समाप्त करने की आकांक्षा व्यक्त हुई है। "गंगा" परिवर्तन, नवचेतना और जनकल्याण का प्रतीक बनकर सामने आती है। यहाँ प्रतिरोध समाधान की दिशा में विकसित होता है।

परिवर्तन की चेतना

दुष्यंत कुमार परिवर्तन को सामाजिक विकास का आधार मानते हैं। वे जड़ता, निष्क्रियता और भय से मुक्त होकर सक्रिय जनभागीदारी का समर्थन करते हैं। इस विचार को निम्न शेर में देखा जा सकता है-

"कैसे आकाश में सुराख नहीं हो सकता,
एक पत्थर तो तबीयत से उछालो यारो।"

यह शेर परिवर्तन की सामूहिक चेतना को अभिव्यक्त करता है। कवि यह संकेत देता है कि सामाजिक बदलाव जनसंकल्प और सक्रिय प्रयासों से संभव होता है। परिवर्तन का यह स्वर लोकतांत्रिक सहभागिता को सुदृढ़ करता है।

जन-जागरण

दुष्यंत कुमार की ग़ज़लों का एक प्रमुख उद्देश्य जनचेतना का विस्तार है। वे नागरिकों को सामाजिक यथार्थ से परिचित कराते हैं तथा उन्हें निष्क्रिय दर्शक बनने के स्थान पर सक्रिय भूमिका निभाने की प्रेरणा देते हैं। उनकी प्रसिद्ध पंक्तियाँ हैं-

"सिर्फ़ हंगामा खड़ा करना मेरा मक़सद नहीं,

मेरी कोशिश है कि ये सूरत बदलनी चाहिए।"

यहाँ कवि स्पष्ट करता है कि प्रतिरोध का उद्देश्य सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को गति देना है। यह दृष्टि रचनात्मक प्रतिरोध की आधारशिला का निर्माण करती है।

संघर्ष और आशा

दुष्यंत कुमार के काव्य में संघर्ष के साथ आशा का स्वर निरंतर उपस्थित है। कठिन परिस्थितियों के बीच भी वे परिवर्तन की संभावना को जीवित रखते हैं। इस भाव को निम्न शेर में देखा जा सकता है—

"वे मुतमइन हैं कि पत्थर पिघल नहीं सकता,
मैं बेकरार हूँ आवाज़ में असर के लिए।"

इन पंक्तियों में कवि जनशक्ति और विचार की सामर्थ्य पर विश्वास व्यक्त करता है। "पत्थर" जड़ व्यवस्था का प्रतीक है, जबकि "आवाज़" जनचेतना और संघर्ष का संकेत देती है। यह विश्वास रचनात्मक प्रतिरोध को सकारात्मक दिशा प्रदान करता है। इसी प्रकार उनकी एक अन्य पंक्ति

"मेरे सीने में नहीं तो तेरे सीने में सही,
हो कहीं भी आग, लेकिन आग जलनी चाहिए।"

यहाँ "आग" परिवर्तन की चेतना, सामाजिक उत्तरदायित्व तथा अन्याय के विरुद्ध सक्रिय भावना का प्रतीक है। कवि संघर्ष को व्यापक सामाजिक चेतना से जोड़ता है।

लोकतांत्रिक मूल्यों की पुनर्स्थापना

दुष्यंत कुमार लोकतंत्र को जनकल्याण, समानता और उत्तरदायित्व की व्यवस्था के रूप में देखते हैं। जब लोकतांत्रिक संस्थाएँ अपने उद्देश्य से दूर होती हैं, तब कवि उन्हें पुनः जनोन्मुख बनाने की आवश्यकता पर बल देता है। उनकी प्रसिद्ध ग़ज़ल का यह शेर इस संदर्भ में उल्लेखनीय है-

"कहाँ तो तय था चरागाँ हर एक घर के लिए,
कहाँ चराग मयस्सर नहीं शहर के लिए।"

यह शेर लोकतांत्रिक व्यवस्था और जनअपेक्षाओं के मध्य उपस्थित दूरी को उद्घाटित करता है। इसके माध्यम से कवि ऐसी व्यवस्था की अपेक्षा करता है जिसमें विकास, न्याय और अवसर समाज के प्रत्येक वर्ग तक पहुँचें। लोकतांत्रिक चेतना का एक अन्य स्वर निम्न पंक्तियों में दृष्टिगोचर होता है-

"मत कहो आकाश में कुहरा घना है,
यह किसी की व्यक्तिगत आलोचना है।"

इन पंक्तियों में विचार-स्वातंत्र्य, अभिव्यक्ति के अधिकार तथा लोकतांत्रिक संवाद की आवश्यकता को रेखांकित किया गया है। सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति लोकतांत्रिक जीवन का आधार है। जब नागरिक निर्भय होकर अपनी बात रख सकते हैं, तभी लोकतांत्रिक व्यवस्था सशक्त बनती है। इस प्रकार दुष्यंत कुमार का रचनात्मक प्रतिरोध सामाजिक परिवर्तन, जन-जागरण, संघर्षशील चेतना तथा लोकतांत्रिक मूल्यों के पुनर्निर्माण से जुड़ा हुआ है। उनकी ग़ज़लों और कविताओं में प्रतिरोध जनहित, सामाजिक न्याय, उत्तरदायित्व और मानवीय गरिमा की स्थापना की दिशा में सक्रिय वैचारिक हस्तक्षेप के रूप में विकसित होता है। यही विशेषता उनके काव्य को समकालीन सामाजिक विमर्श में स्थायी प्रासंगिकता प्रदान करती है।

काव्यगत विशेषताएँ

दुष्यंत कुमार के काव्य की संरचना सामाजिक यथार्थ, जनजीवन और लोकतांत्रिक चेतना से निर्मित होती है। उनकी रचनाओं में अभिव्यक्ति का ऐसा स्वर विकसित हुआ है जो समकालीन समाज की विसंगतियों को प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करता है। काव्यगत दृष्टि से व्यंग्य, प्रतीक, बिम्ब, जनभाषा तथा संवादधर्मिता उनके रचना-संसार के प्रमुख तत्त्व हैं। दुष्यंत कुमार के व्यंग्य में सामाजिक और राजनीतिक विडंबनाओं का सशक्त चित्रण मिलता है। उनका व्यंग्य किसी व्यक्ति पर केंद्रित न होकर व्यवस्था, सत्ता और सामाजिक विकृतियों की ओर संकेत करता है। इसी कारण उनके व्यंग्य में यथार्थ का गहरा बोध दिखाई देता है। उनके काव्य में प्रतीकों का प्रयोग अर्थ की व्यापकता को विकसित करता है। "चराग", "हिमालय", "गंगा", "आग", "पत्थर" और "कुहरा" जैसे प्रतीक सामाजिक परिवर्तन, जनचेतना, संघर्ष तथा व्यवस्था की जड़ता को अभिव्यक्त करते हैं। इन प्रतीकों के माध्यम से कवि जटिल सामाजिक स्थितियों को सहज रूप में प्रस्तुत करता है। बिम्ब-विधान भी उनके काव्य की विशिष्ट विशेषता है। दैनिक जीवन, प्रकृति, सड़क, घर, गाँव, शहर तथा सामान्य जनजीवन से जुड़े बिम्ब पाठक के सामने सजीव दृश्य उपस्थित करते हैं। इन बिम्बों के कारण काव्य में यथार्थ की विश्वसनीयता और संवेदनात्मक प्रभाव बढ़ता है। दुष्यंत कुमार की भाषा जनभाषा के निकट है। बोलचाल के शब्द, सहज अभिव्यक्ति तथा लोकप्रचलित मुहावरों के प्रयोग से उनका काव्य व्यापक पाठक-वर्ग तक पहुँचता है। इसी भाषा के माध्यम से सामाजिक अनुभवों की स्वाभाविक अभिव्यक्ति संभव होती है। संवादधर्मिता उनके काव्य का एक प्रमुख गुण है। उनकी ग़ज़लों और कविताओं में पाठक, समाज तथा व्यवस्था के साथ प्रत्यक्ष संवाद का स्वर उपस्थित रहता है। प्रश्न, संबोधन, आग्रह और आत्मीय कथन-शैली उनके काव्य को जीवंत बनाती है तथा जनचेतना को सक्रिय करने में सहायक सिद्ध होती है।

समकालीन प्रासंगिकता

दुष्यंत कुमार का काव्य आज भी भारतीय सामाजिक और राजनीतिक परिदृश्य में अत्यंत प्रासंगिक दिखाई देता है। लोकतांत्रिक व्यवस्था, प्रशासनिक पारदर्शिता, सामाजिक असमानता, आर्थिक विषमता, भ्रष्टाचार तथा अभिव्यक्ति की

स्वतंत्रता जैसे प्रश्न वर्तमान समय में भी सार्वजनिक विमर्श के केंद्र में हैं। ऐसे परिवेश में उनकी ग़ज़लें और कविताएँ जनचेतना को नई दृष्टि प्रदान करती हैं। उनके काव्य में व्यक्त व्यवस्था-विरोध लोकतांत्रिक मूल्यों के संरक्षण तथा जनउत्तरदायित्व की भावना से जुड़ा हुआ है। दुष्यंत कुमार ने सामान्य नागरिक की आकांक्षाओं, संघर्षों और अधिकारों को साहित्यिक अभिव्यक्ति प्रदान की। उनके काव्य में सत्ता और समाज के मध्य उपस्थित दूरी का यथार्थ चित्रण मिलता है, जो आज भी अनेक संदर्भों में अनुभव किया जा सकता है। उनके प्रतीक, व्यंग्य और जनभाषा समकालीन पाठक के साथ सहज संवाद स्थापित करते हैं। सामाजिक परिवर्तन, नागरिक सहभागिता तथा लोकतांत्रिक चेतना से संबंधित उनके विचार वर्तमान समय में भी प्रेरणास्रोत बने हुए हैं। इसी कारण दुष्यंत कुमार का काव्य समकालीन हिंदी साहित्य तथा सामाजिक चिंतन में निरंतर प्रासंगिक बना हुआ है।

निष्कर्ष

प्रस्तुत अध्ययन से स्पष्ट होता है कि दुष्यंत कुमार का काव्य स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज की राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों का प्रामाणिक चित्र प्रस्तुत करता है। उनके रचना-संसार में व्यवस्था की विसंगतियों, लोकतांत्रिक चुनौतियों, सामाजिक असमानताओं तथा सामान्य नागरिक के संघर्ष का व्यापक चित्रण मिलता है। यह अध्ययन दर्शाता है कि उनका व्यवस्था-विरोध सामाजिक उत्तरदायित्व, जनचेतना और लोकतांत्रिक मूल्यों की स्थापना की दिशा में विकसित होता है। दुष्यंत कुमार के काव्य में व्यवस्था-विरोध और रचनात्मक प्रतिरोध परस्पर जुड़े हुए आयाम हैं। एक ओर वे सत्ता, भ्रष्टाचार, अन्याय तथा जनविरोधी प्रवृत्तियों की पहचान करते हैं, दूसरी ओर परिवर्तन, संघर्ष, आशा, जन-जागरण और लोकतांत्रिक पुनर्निर्माण की दिशा भी प्रस्तुत करते हैं। उनके यहाँ प्रतिरोध समाज में सकारात्मक परिवर्तन की प्रक्रिया को गति देने वाला वैचारिक माध्यम बनकर उभरता है। हिंदी साहित्य में दुष्यंत कुमार का योगदान उनकी जनपक्षधर दृष्टि, प्रभावशाली व्यंग्य, सशक्त प्रतीक-योजना, जनभाषा तथा सामाजिक प्रतिबद्धता के कारण विशिष्ट स्थान प्राप्त करता है। उनकी ग़ज़लों और कविताओं ने हिंदी साहित्य को नई वैचारिक ऊर्जा प्रदान की तथा साहित्य और समाज के मध्य सक्रिय संबंध को सुदृढ़ किया। इसी आधार पर उनका काव्य आज भी सामाजिक चेतना, लोकतांत्रिक संवाद और साहित्यिक विमर्श का प्रेरक स्रोत बना हुआ है।

संदर्भ

चतुर्वेदी, रामस्वरूप. (2016). हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास. लोकभारती प्रकाशन.

नामवर सिंह. (2018). कविता के नए प्रतिमान. राजकमल प्रकाशन.

मुक्तिबोध, गजानन माधव. (2017). नई कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध. राजकमल प्रकाशन.

अरोड़ा, ललिता. (2010). नई कविता का अनुशीलन. साहित्य भवन.

दुष्यंत कुमार. (2014). साये में धूप. राजकमल प्रकाशन.

दुष्यंत कुमार. (2016). एक कंठ विषपायी. राजकमल प्रकाशन.

सिंह, विजय बहादुर (सं.). (2014). दुष्यंत कुमार रचनावली (भाग 1). राजकमल प्रकाशन.

सिंह, विजय बहादुर (सं.). (2014). दुष्यंत कुमार रचनावली (भाग 2). राजकमल प्रकाशन.

यू.जी.सी. के नवीन दिशा-निर्देशों के अनुरूप प्रकाशित Impact Factor (IIFS): 6.875

Received: 16.11.2025 | Accepted: 10.12.2025 | Published: 30.12.2025

बिशन सिंह 'दर्दी' हुं'दी गज़लगोई : 'सोचें दे सागर' दे संदर्भै च

अतुल शर्मा*

asharmam9@gmail.com

सारांश

प्रस्तुत शोध-पत्र च डोगरी दे मश्हूर गज़लकार बिशन सिंह 'दर्दी' हुं'दे ग़ज़ल-संग्रह 'सोचें दा सागर' दा समीक्षात्मक अध्ययन कीता गेदा ऐ। इस संग्रैह् च संकलत ग़ज़लें दे माध्यम कन्नै कवि ने समकालीन समाज च फैली दियें विसंगतियें, मानवीय मुल्लें, सामाजिक चेतना, राजनीतिक विडंबनाएं, धार्मिक आस्था, देशप्रेम, हिरख, भाशा-प्रेम ते प्रकृति-सौंदर्यै जनेह् बक्ख बक्ख बिशे गी प्रभावशाली ढंगै कन्नै अभिव्यक्त कीते दा ऐ। जित्थै उं'दी गज़लें च समाज च बधा करदे सुआर्थ, भ्रष्टाचार ते नैतिक मुल्लें दे पतन जनेह् विशे उप्पर सार्थक व्यंग्य मिलदा ऐ, उत्थै गै प्रेम, करुणा, ईमानदारी, ते मानवता जनेह् जीवन-मुल्लें दी महत्तव गी बी रेखांकित कीता गेदा ऐ

कुंजी शब्द:

डोगरी साहित्य, डोगरी ग़ज़ल, सामाजिक यथार्थ, मानवीय मुल्लें, राजनीतिक चेतना,

डोगरी भाशा आधुनिक भाशाएं चा इक ऐ जिसदे साहित्य दा इतिहास मता पराना नेईं ऐ। जित्थें तगर इसदे साहित्य दी गल्ल ऐ तां बक्ख-बक्ख विद्वानें आस्सेआ डोगरी साहित्य दे इतिहास बारै लिखे दे लेखें गी पढ़ियै पता लगदा ऐ जे देश अज़ाद होने दे लाग्गे-दलागै डोगरी साहित्य दा मुंढ पेई गेदा हा। बशक्क उसले साहित्य छपा नेहा करदा पर दीनूभाई पंत, वेदपाल दीप, रामनाथ शास्त्री, शम्भुनाथ शर्मा बगैरा–बगैरा कवतां लिखदे हे ते कुतै मुशायरें- गोशिठयें च पढ़दे हे। उसलै अज़ादी दी लैह्र ही ते कवि लोक सभनें लोकें गी अपने हक्क हासल करने लेई प्रेरित करने आस्तै कवताएं दा स्हारा लैंदे हे। जित्थें तगर डोगरी साहित्य च गज़ल विधा दी गल्ल ऐ तां जितेन्द्र उधमपुरी हुं'दे इक "डोगरी गज़ल च नमें रुझान नांS दे लेख च लिखे दा ऐ जे डोगरी च गज़ल दा मुंढ सन् 1956-57 दे लागै-दलागै पेई चुके दा हा"। जि'यां के एह् गल्ल साफ ऐ जे डोगरी गज़ल दी तसीर उर्दू- फारसी राहें गै फुट्टी ऐ पर डोगरी भाशा ने गज़ल विधा गी बड़े गै मकबूल-तरीन तरीकें राहें अपनाया ऐ। औम गोस्वामी होरें "डोगरी गज़ल : मुंढला सफर ते होर पैह्लू" नांS दे इक लेख च लिखे दा ऐ जे "शुरु दे दौर च जिस'लै गज़ला कुतै मुशायरें च पढ़ियां जंदियां हियां ते कुतै बी एह् नेईं बझोआ जे एह् इक नमीं विधा ऐ जिसी डोगरी ने कुसै दूई भाशा थमां प्रभावत होइयै अपनाया ऐ"। डोगरी भाशा च गज़ल विधा इ'यां रची-पची गेदी ऐ जे कोई एह् नेईं आक्खी सकदा जे गज़ल डोगरी दी अपनी विधा नेईं ऐ। बक्ख-बक्ख लखारियें दे लेख पढ़ने मगरां पता लगदा ऐ जे गज़ल विधा च सभनै थमां पैह्लै पैर धरने आह्लें च किशन स्मैलपुरी, वेदपाल दीप, रामनाथ शास्त्री, शम्भुनाथ शर्मा, अश्विनी मंगोत्रा, ते मोहन लाल सपोलिया आदि नांS बखूबी लैते जाई सकदे न। इ'नें शायरें गी गज़लगोई च मती सराह्ना हासल होई। जिस'लै एह् गोश्ठियें जां मुशायरें च गज़ला पढ़दे हे इं'दी गज़लें गी मता सराह्या गेआ ते इ'नेंगी मती वाहो –वाही थ्होई। बल्लें –बल्लें इं'दे थमां प्रेरित होइयै अग्गे औने आह्लें कवियें बी डोगरी च गज़ला लिखना शुरु कीतियां, जिंदे च नरसिंह देव जम्वाल, शिवराम दीप, रामलाल शर्मा, बिश्न सिंह दर्दी, टी.आर मंगोत्रा, जितेन्द्र उधमपुरी, नसीब सिंह मन्हास, सुशील बेगान्ना आदि गज़लगो शायरें दा नांS लैता जाई सकदा ऐ। अज्ज दिक्खने गी एह् आवा करदा ऐ जे बल्लें-बल्लें डोगरी च शायरें दी गिनतरी बदधी जा करदी ऐ ते गज़ल दे इस गुलदस्ते च होर-होर नमें शायर आइयै रलदे जा करदे न। हून डोगरी च गज़लकारें दी खासी भरमार ऐ। अज्ज दे दौर च नमीं युवा पीढ़ी दे गज़लगो शायर जिं'दे च सुरजीत होश बड़साली , डॉ. यश रैणा, अशोक अम्बर, कुलदीप किप्पी, धीरज केसर 'निक्का', ब्रहम दत्त मंगोत्रा, विजया ठाकुर, बिशन सिंह 'दर्दी' आदि शायर शामल न। इ'नें शायरें बी डोगरी गज़ल च अपना इक चेचा थाह्र बनाई लैते दा ऐ। नमें सखेतरु बी इस काफले च आइयै र'ला करदे न ते अपने लेखन दी शुरुआत गज़ल राहें गै करा करदे न।

* **शोधकर्ता, डोगरी विभाग यूनिवर्सिटी ऑफ जम्मू**

जित्थै तगर गल्ल ऐ गज़लकार बिशन सिंह 'दर्दी' हुं'दी ते इं'दा नांs डोगरी साहित्य च बडे आदर कन्नै लैता जंदा ऐ । इ'नें अपनियें कविताएं, गज़लें, गीतें ते बाल-साहित्य राएं डोगरी भाशा ते संस्कृति गी समृद्ध बनाने च महत्तवपूर्ण योगदान दित्ता ऐ ते देआ बी करदे न। बिशन सिंह 'दर्दी' होरें सिर्फ साहित्य सिरजना गै नेई कीती बल्कि इ'नें डोगरी फिल्में, धारावाहिकें ते केईं ऑडियो-वीडियो एलबमें आस्तै बी गीतें दी रचना कीती। इं'दे गीतें च डुग्गर दी संस्कृति दी झलक लभदी ऐ। दर्दी होरें डोगरी साहित्य दी बक्ख बक्ख विधाएं च मता योगदान दिता, पर डोगरी गज़ल साहित्य च उं'दा इक टोकह्दा थाह्र ऐ। उं'दी गज़लें च समकालीन समाज, मानवीय संवेदना, प्रेम, व्यंग, सामाजिक विंसगतियां ते आम जन-जीवन दी झलक नजरी औंदी ऐ। इस्सै चाल्ली बिशन सिंह दर्दी हुं'दी साहित्यिक साधना दा इक सशक्त प्रमाण उं'दा गज़ल-संग्रैह् 'सोचें दा सागर' ऐ। एह् गज़ल संग्रैह् 2023 च प्रकाशत होआ ते डोगरी साहित्य दे विकास च कवि दी एह् दसमीं प्रकाशत कताब ऐ। इस संग्रैह् च 100 गज़ला सकंलत न। हर गज़ल अपने आप च बक्खरी ते जीवन दे बक्ख-बक्ख पक्खें गी बड़े प्रभावशाली ढंगै कन्नै ब्यान करदी ऐ। इ'नें गज़लें च समकालीन समाज दी वास्तविकता, मानवीय रिश्तें, प्रेम, पीड़ा, सामाजिक असमानता, भ्रष्टाचार, नैतिक मुल्लें दा कमी, आम लोकें दियें समस्याएं ते जीवन-दर्शन जनेह् नेकां विशे गी कवि ने संजीदगी कन्नै उभारेदा ऐ।

दर्दी होर समाज दी सच्ची तस्बीर पेश करदे न, ओह् सिर्फ समाज च सामने लभनें आह्लियें समस्याएं दी गल्ल नेईं करदा बल्कि समाज दी वास्तविक स्थिति गी सामने आह्नदा ऐ। कवि ने समाज च बध्दे सुआर्थ, दखावे, भ्रस्टाचार ते मानवीय मुल्लें दे पतन जनेह् विशे उप्पर चैतां बुज्झी दी ऐ। कवि दा मन्नना ऐ जे समाज च फैली दी समस्यां कुसै इक माह्नू दी गै नेईं होंदी बल्के ओह् पूरे समाज दी समस्यां होंदी ऐ जेह्ड़ी बल्लें- बल्लें हर माह्नू गी अपनी लपेटै च लेई लैंदी ऐ इ'यां गै कवि अपनी गज़ल च ब्यान करदा ऐ जे जिसलै समाज च स्वार्थ, रिशते च बनौटीपन ते छल बद्धा ऐ ते उस कन्नै कोई इक माह्नू नेईं बल्कि पूरी सामाजिक संरचना प्रभावित होंदी ऐ। जिसदा मूह् बोलदा उदाहरण पेश करदा ऐ इं'दा एह् शेsर-

"बड़े-बड़े खुदगर्जी लोक।
करदे अपनी मर्जी लोक।।
मनै दे अंदर कपट भरोचे।
हिरख जतांदे फर्जी लोक"।।
जां
अपने –अपने सुआर्थ मूजब ।
करै सियासत हर इन्सान ।।

जित्थै कवि समाज दे सुआर्थी, बाह्रा भलेमानस लभनें आह्ले लोकें जिंदे अंदर छल-कपट होंदा ऐ जेह्ड़े म्हेशां पैह्ले अपने सुआर्थ गी प्रथामिकता दिंदे न इ'नें लोकें उप्पर ब्यंग करदे न उत्थै गै दूई बक्खी कवि दखावे दे दोह्रे चरित्र आह्ले लोकें पर बी कटाश करदे होई गलांदे न जे समाज च नेकां लोकें इमानदारी दा नकली मखोटा लाए दा ऐ असल च ओह् सब लालची ते बेईमान न। शायर गलांदा ऐ-

"बाह्रैं बेशक्क गज़नी भमैं सकंदर हे ।

असली चोर लुटेरे डाकू अंदर हे"।।

समाज च बधा करदे भ्रस्टाचार गी लेइयै बी कवि ने अपनी गज़लें च चैतां बुज्झी दी ऐ भ्रस्टाचार हून समाज दियें जड़े-जड़े तगर फैली गेदा ऐ जिसदी लपेट च हर माह्नू फसा करदा ऐ। इ'यां गै शायर ने अपने इक शेSर च पटवारी दा हवाला दिंदे होई उ'नें लोकें पर करारा प्रहार कीते दा ऐ जेह्ड़े गरीब-गुरबें लोकें दा ल्हू चूसदे न। कवि दी एह् सोच गज़लें च बार बार उभरदी नज़री औंदी ऐ। जिसदा प्रमाण दिंदा ऐ दर्दी हुंदा एह् शेSर

"मन करदा बनियै पटवारी।
नापी लैं एह् धरती सारी।।
बे दोसें दी रत्त नचोड़ै ।
निंगली जां एह् भ्रस्टाचारी"।।

दर्दी होरें अपनियें गज़लें च मनुक्खी मुल्लें गी बड़े गै प्रभावशाली ढंगै कन्नै प्रस्तुत कीते दा ऐ । ओह् माह्नू गी सिर्फ सामाजिक प्राणी दे रुपै च नेईं दिक्खदा बल्कि ओह्दे अंदर बसदे प्रेम, करुणा, विशवास, साहनुभूति, त्याग, इमानदारी ते

इंसानियत जनेह् गुणें गी जीवन दा असली सरमाया मित्था दा ऐ। कवि दे मताबक समाज दी वास्तविक उन्नति भौतिक साधनें कन्नै नेईं, बल्कि उच्चें मानवीय मुल्लें कन्नै ऐ। इयै कारण ऐ जे संग्रैह् दियां नेकां गज़ला पाठक गी आत्ममंथन करने ते बेह्तर इंसान बनने दी सिक्ख दिंदियां न। इंदी मती सारियें गज़लें च मानवीय मुल्लें दा संजीव चित्रण मिलदा ऐ। कवि दे अनुसार माह्नू दी पंछान धर्म, जाति जां समुदाय नेईं, बल्कि ओह्दी पवित्र सोच, नेक चरित्र ते इंसानियत ऐ। रचनाकार गलांदे न जे जिस माह्नू दा दिल साफ ओह्दे अंदर गै सारे तीर्थ वसदे न। इसदी तस्दीक करदियां न एह् सतरां-

"जिसदा नेईं कोई दीन इमान।

नां हिन्दू नां मुसलमान ॥
हिरदा पाक पवित्र जिसदा।
उसदै अंदर चारै धाम"॥

इ'यां गै इक शेऽर च कवि चंगे कर्में दे महत्तव गी प्रधानता दिंदे होई आक्खदा ऐ जे माह्नू अपने जीवन च सुख -शांति चाह्दां ऐ, ते उसने दुऐं दा भला करना चाहिदा ऐ। शेऽर दिक्खो-

"दना भरोसा करियै दिक्ख।
बिंदक जरियै धरियै दिक्ख॥
अपना भला तूं चांह्ना जे।
भला कुसै दा करियै दिक्ख" ॥

इ'यां गै इक बक्खी जित्थै शायर चंगें कर्में करने लेई प्रेरदे न उत्थै गै दूई बक्खी ओह् दुऐं गी दुक्ख तखलीफ पजाने आह्ले प्रवृति दे लोकें दा विरोध करदा ऐ करदे होई गलांदे न-

"तंग करै जो ढण्डा जालै
मत कोई ऐसा सुखना पालै॥
मलम जेह्ड़ा कोई लाई नीं सकदा।
हक्क नीं बनदा पीड़ दखालै॥
केह् करना उन्न भला कुसै दा।
विसलियां सोचां अंदर पालै" ॥

बिशन सिंह 'दर्दी' हुंदे ग़ज़ल-संग्रैह् 'सोचें दा सागर' च राजनीतिक चेतना दे सुर बी प्रभल होंदे न। जिसलै सियासत च लीडर लोक-सेवा करने दे बजाय निजी सुआर्थ, ते सत्ता-लालच गी अपनाई लैंदे न ते फ्ही उ'नेंगी आम भलोकी जनता दी कोई परवाह् नेईं रौंह्दी जिनें उ'नेंगी जताइयै अपनें नुमायंदगे दे रूपै च चुने दा होंदा ऐ। तां गै गज़लगो शायर इस पर त्रिक्खा व्यंग करदे होई आखदे न-

"ओह् स्यासी ऐ स्यासत जानदा ऐ।
बदली-बदली ऐ मरक्खे लारदा ऐ" ॥

इ'यां गै इक शेऽर च रचनाकार दा आक्खना ऐ जे अज्ज दी सत्ता उस व्यक्ति दे हत्थ रौंह्दी ऐ जिस कोल शक्ति जां राजनीतिक पकड़ होंदी ऐ। नेतां लोक अपने कम्में दे बड्डे-बड्डे दावे करदे न, लेकिन सच्चाई किश होर गै होंदी ऐ। उं'दा मुक्ख उद्देश्य जनता दी सेवा नेईं, बल्कि कुसै बी चाल्ली अपनी कुर्सी बचाइयै रखना ते अपनी राजनीतिक छवि चमकाना होंदा ऐ। उदाहरण-

"सत्तैं बीहैं सौ ओह्दा डौलैं जिदै जोर ऐ।
पुच्छी दिक्खो स्हाब कि'या दसदे गनाइयै॥

कुर्सी बचाने दियां सारियां सबीलां न।
रखदे न लोक इसी कन्नै चमकाई ऐ" ॥

रचनाकार लीड़रे बारे आक्खदे न जे एह् सब इक्के होंदे न बस आम भोली जनता गी पागल बनांदे न लोकें सामने इक दोऐ दी मकालफ़त करदे न पर शामीं सारे किट्ठे मैह्फिल लांदे न पर भोले-भाले लोकें गी छड़ा भरमांदे न तो जनता इं'दियें गल्लें च आई जंदे न। संग्रैह् दा इक शेऽर इसदी तस्दीक करदा ऐ-

"इक होंदे एह् लोक स्यासी
अपूं चैं सब जीजे-साले"

गज़लें च जित्थें सयासी सुर नजरी औंदे न उत्थें गै ईश्वर बक्खी आस्था ते भक्ति भाव दे सुर बी बांदे होंदे न। दर्दी हुंदियें गज़लें च ईशवर भक्ति दे मते भाव मुखरत होंदे न जित्थै ओह् मन्नदे न जे असल सुख ईश्वर भक्ति च गै ऐ दुनियाबी सुक्ख ते पैसा–तेला इक अस्थायी सुख ऐ। इयै नेही सोच गज़लकार दी मतियें गज़लें च मिलदी ऐ जिसदा प्रमाण गज़ले दे एह् किस शेऽर दिंदे लभदे न-

"उस मालक दी रचना, उस दियां खेड़्ड़ां न।
मोह् माया पैसें दियां थब्बियां कैह्दे लेई" ॥
जां
"एह् पूरा भरमंड प्रभू दी माया ऐ।
सच पुच्छो तां उसदा बनज न्यारा ऐ" ॥
जां
"करने आह्ला आपूं करदा।
मैं केह् करना, तूं केह् करना" ॥
जां
"मंदर- मंदर फिरां मसीतैं –गुरुद्वारैं।
भड़के दा मन लेइयै फिरना थाह्रैं –थाह्रैं" ॥
जां
"ओह् सब्भनें दे खट्टन खट्टै।
जिसनै नीली छतरी तानी" ॥

इ'नें पंक्तियें राहें ग़ज़लकार एह् स्नेहा दिंदा ऐ जे माह्नू गी म्हेशा चंगे कर्म करने चाहिदे ते कुसै बी जीव गी कष्ट नेईं पजाना चाहिदा। उ'दें मताबक सच्ची भक्ति सिर्फ मंदिर, मसीतें जां गुरुद्वारें च जाने कन्नै नेईं, बल्कि मानवता, दया, करुणा ते सत्कर्मों च निहित ऐ। जे मनुक्ख निष्काम भाव कन्नै शैल कर्म करदा ऐ ते परमात्मा पर विश्वास रखदा ऐ, तां ईश्वर आपूं उसदे जीवन दी सारी मुश्कलातें गी दूर करदा ऐ। इसकरियै माह्नू गी फल दी चैंता कीते बगैर अपने कर्तब्बें दा मानदारी कन्नै पालन करना चाहिदा, कि जे ईश्वर हर इक प्राणी दे कर्में दे स्हाबें उसगी उचित फल दिंदा ऐ।

बिशन सिंह 'दर्दी' दे हंदे इस संग्रैह् च देशप्रेम दी भावना बी बड़े गतिशील ते प्रेरणादायक रूप च व्यक्त होई दी लभदी ऐ। ग़ज़लकार दे मताबक सच्चा देशप्रेम सिर्फ शब्दें जां नारें तक सीमित नेईं, बल्कि अपने देश प्रति अटूट निष्ठा, कर्तव्य भाव ते बलिदान दी भावना च निहित ऐ। कवि मनदा ऐ जे हर देस-वासी दा पैह्ला फर्ज अपने देश दी रक्षा, सम्मान ते उन्नति लेई समर्पित रौह्ना ऐ। शेऽर दिक्खो-

"देश दी खातर जान तली पर।
फ्ही फांसी दा फंदा केह् ऐ" ॥

इ'नें पंक्तियें च ग़ज़लकार देशभक्ति दी सर्वोच्च भावना गी व्यक्त करदा ऐ। कवि दे अनुसार जिसलै मातृभूमि दी रक्षा दा सुआल होऐ, तां अपने प्राणें दी अहूती देना बी इक निक्का नेहा बलिदान बझोंदा ऐ। "फांसी दा फंदा" इत्थें देशै लेई सर्वोच्च त्याग दा प्रतीक ऐ। एह् शेऽर पाठक दे मनै च राष्ट्रप्रेम, साहस ते बलिदान दी भावना जागृत करदा ऐ।

इ'यां गै इक शेऽर राहें ग़ज़लकार दा आक्खना ऐ जे मनुक्ख दी पंछान, अस्तित्व ते व्यक्तित्व उसदे अपने देश, अपने शैह्र, अपने ग्रांऽ ते अपनी धरती कन्नै होंदी ऐ। इसकरियै हर माह्नू दा नैतिक फर्ज बनदा ऐ जे ओह् अपने देश दी प्रगति,

एकता ते सम्मान लेई अपना योगदान देए। इत्थे कवि देशप्रेम गी सिर्फ बार्डर दी रक्खा तकर गै सीमित नेईं रखदा, बल्कि अपने समाज, अपनी संस्कृति ते अपनी मिट्टी कन्नै प्रेम करना बी सच्ची देशभक्ति मनदा ऐ।

"देश मेरा ऐ, शैह्र ग्रांs ते बस्ती ऐ।
जिसदै कारण में आं, मेरी हस्ती ऐ" ॥

'दर्दी' हुं'दी ग़ज़लें च जित्थै देशप्रेम, सामाजिक चेतना, धार्मिक भावना, मानवीय मूल्ल ते होर केईं सामाजिक विशें दा सुंदर चित्रण मिलदा ऐ, उत्थै गै श्रृंगार रस दे भाव वी प्रभावशाली ढंगै कन्नै व्यक्त होए दे न। रचनाकार कुतै प्रेम च वियोग दी पीड़ा, बिछोड़े ते इंतज़ार दी वेदना गी उजागर करदा ऐ, ते कुतै संयोग दे माध्यम कन्नै सच्चे, पवित्र ते आत्मीय प्रेम दी खुशी दा चित्रण करदा ऐ। इस चाल्ली ग़ज़लें च प्रेम दे संयोग ते वियोग दोनें पक्खें गी बड़े सहज, मार्मिक ते भावपूर्ण ढंग कन्नै प्रस्तुत कीते दा ऐ। हिरख च प्रेमी-प्रेमिका जिसलै इक दुऐ कोला दूर होंदे न ते प्रेमी दे मन दी वेदना किश इस चाल्ली होई जंदी ऐ-

"सारी-सारी रात जागदे रौंह्दे न।
लोक तेरी बस्ती दे कुसलै सौंदे न ॥
तन लीरां मन लीरां करियै मजनूं जन।
तेरी मस्ती च मस्ताने रौंह्दे न ॥
फामे होइयै अक्ख कदैं जे लगदी ऐ।
बस इक यारा तेरे सुखने औंदे न ॥
हून होठैं पर रेहियां ओह् मुस्कानां नेईं।
बड़ा रुआंदे चेते उठदे बौंह्दे न" ॥

इ'यां गै रचनाकार गलांदा ऐ जे जिसनें कदें सच्चा प्यार कीता गै नेईं ओह् केह् जाने जे सच्चे प्यार च बछोड़े दी पीड़ केह् होंदी ऐ, जेह्ड़े इस सच्चे-सुच्चे हिरखै दी बत्तै पर चलदे न उयै समझी सकदे न इस बछोड़े दी पीड़ गी केह् होंदी ऐ। कवि प्रेमी गी प्रेमिका थमां धोखा थ्होने उप्पर उस दे मनै च जेह्ड़े भाव उठदे-मठोंदे न उं'दा जिकर करदे होई गलांदे न जे-

तां लब्भना एह् हिरख बछोड़ा केह् होंदा ऐ।
जाऔ दना पोटें शा नैंह् खंडाई आह्नो हां ॥
जां
"बिस्सरे कौल करार तुसैं सब उमरीं साथ नभाने दे।
अज्ज मेरे हिरखै दी क्हानी खंड पतासा होई गेई ऐ"॥

जित्थै शायर इक पास्सै वियोग च प्रेमी-प्रेमिका दे मनै दी पीड़ ते बिछोड़े दी वेदना गी उजागर करदा ऐ, उत्थै दुए पास्से संयोग दे प्रसंगें च दोनें दे आपसी प्रेम, विश्वास, कौल-करार ते जीवनभर साथ निभाने दी भावना दा सुंदर चित्रण मिलदा ऐ। कवि अपनी गज़लें राहें सच्चे ते सुच्चे प्रेम दी मठास गी प्रभावशाली ढंगै कन्नै पेश करदा ऐ -

"जिसलै बंडदा हिरख सगातां।
दिल नी दिखदा शक्लां जातां ॥
होर ते अजकल सुजदा किश नीं
तेरियां गल्लां, तेरियां बातां" ॥
जां
"दुएं शा किश हटियै करियै।
हिरख जे करगी डटियै करेआं" ॥

जां

"जिंदगी च इक्कै तेरा साथ मंगेआ।
दुआ कोई रक्खेआ नी मोह् सज्जना "॥

दर्दी हुंदी गज़लें च अपनी मात्तरी भाशा प्रति हिरख सरबंधी सुर बी मुखरत होंदे न जिंदे च ओह् भाशा दे फलने-मठोने पर खुशी बी जाहर करदा ऐ। शेऽर ऐ

डोगरी गी जि'नैं लोकैं मानता दुआई ऐ।
साढ़े होंदी लक्ख लक्ख उनेगी बधाई ऐ॥

जां

जित्थै शायर भाशा गी मानतां दुआने पर लोकें गी बधाई दिंदा ऐ उत्थै गै कुतै-कुतै उसगी अपने किश लोकें ते लीडरें थमां नराजगी बी ऐ जेह्ड़े अपनी भाशा गी ओह् थाह्र नेईं दिंदे जिसदी ओह् हकदार ऐ किश इक सतरें च कवि दा रोह् रोस्सा सामने झलकदा ऐ-

"भोले लोक न मिशरी मिट्ठी भाशा मेरी।
उज्जन गै नी दित्ता इसगी दल्लैं-दल्लैं" ॥

जां

"अपना विरसा अपनी भाशा।
लोकैं छोड़ी बसारी की ऐ" ॥

बिशन सिंह 'दर्दी' होंदी ग़ज़लें च समाज, देशप्रेम, भाशा-प्रेम, मानवीय मुल्लें ते हिरख-प्यार दे कन्नै- कन्नै प्रकृति-प्रेम दा रंग बड़े प्रभावशाली ढंगै कन्नै मिलदा ऐ। ग़ज़लकार प्रकृति गी मनुक्ख दे जीवन दा अभिन्न हिस्सा मन्नदा ऐ। प्रकृति दे बदलदे रूप—बरखा, हरियाली, ऋतुएं ते धरती दी सुंदरता दे माध्यम कन्नै ओह् जीवन च नमेंपन, उल्लास ते आशा दा संचार करदा ऐ। शेऽर ऐ :-

"कनियैं-कनियैं बरदी बरखा।
हरा-भरा सब करदी बरखा" ॥

इ'यां गै ग़ज़लकार अज्ज दे आधुनिक समाज दी इक गंभीर सामाजिक समस्या गी बी उजागर करदा ऐ। विज्ञान ते विकास दे इस युग च बी दाज जनेही कुरीतियां समाज च अंदर तक फैली दियां न। इस मजूब धियें दे मां-प्यो गी रिश्ते करदे बेल्लै नेकां मुश्किलें दा सामना करना पौंदा ऐ। केईं बारी ब्याह थमां बाद बी कुड़ी गी दाज दी मंग ते मानसिक जां शारीरिक उत्पीड़ना सैह्नियां पौंदियां न। ग़ज़लकार इस सोच दा विरोध करदा ऐ ते समाज गी इस बुराई थमां मुक्त होने दा स्नेहा दिन्दे होई आखदा ऐ-

"बड़े औखे लभदे न धियें दे रिशते।
मुल्लें गै पौंदे न जोके जोआई" ॥

निश्कर्श-

बिशन सिंह 'दर्दी' हुं'दा ग़ज़ल-संग्रैह् 'सोचें दा सागर' डोगरी ग़ज़ल साहित्य दी इक उल्लेखनीय कृति ऐ। इस संग्रैह् दियां ग़ज़लां जीवन दे नेकां पैह्लुएं गी बड़े सहज ते प्रभावशाली ढंगै कन्नै पेश करदियां न। ग़ज़लकार अपने अनुभवें, गैह्री सोच ते संवेदनशील द्रश्टि दे माध्यम कन्नै पाठक गी जीवन दी वास्तविकता कन्नै रू-ब-रू करांदा ऐ। उं'दी भाशा सरल ते आम लोकें दे जीवन कन्नै जुड़ी दी ऐ, जिस कारण ग़ज़लां सिद्धे पाठक दे मन उप्पर असर करदियां न। इस आधार उप्पर आक्खेआ जाई सकदा ऐ जे 'सोचें दा सागर' गज़ल संग्रैह् डोगरी ग़ज़ल साहित्य गी समृद्ध बनाने आह्ली बक्खी इक महत्त्वपूर्ण ते सार्थक कृति ऐ, जिसदी साहित्यिक महत्ता लम्में समें तगर बनी दी रोह्ग।

ग्रंथ सूची :

1.बिशन सिंह दर्दी, सोचें दा सागर [डोगरी गज़ल संग्रैह्]- 2023

2. डा. रोहिताशव अस्थाना, हिंदी गज़ल उद्भव ते विकास-1987

3. शीराज़ा डोगरी, गज़ल अंक – 147, 262, ते 272

Received: 17.11.2025 | Accepted: 10.12.2025 | Published: 30.12.2025

ऑनलाइन शिक्षण के युग में पारंपरिक कक्षा-कक्ष शिक्षण: बढ़ती चुनौतियाँ और समाधान

डॉ० आर्या अग्निहोत्री*

सारांश:

प्रस्तुत शोध-पत्र का उद्देश्य समकालीन शिक्षा प्रणाली में ऑनलाइन शिक्षण (Online learning) और पारंपरिक कक्षा-कक्ष अधिगम (Traditional classroom learning) के प्रभावों, लाभों और चुनौतियों का तुलनात्मक विश्लेषण करना है। यह अध्ययन यह समझने का प्रयास करता है कि दोनों विधियाँ छात्र की सीखने की क्षमता, संलग्नता एवं शैक्षणिक परिणामों को किस प्रकार प्रभावित करती हैं। कोविड-19 महामारी ने वैश्विक शिक्षा प्रणाली को डिजिटल प्लेटफार्म की ओर तेजी से स्थानांतरित किया। हालाँकि ऑनलाइन शिक्षण ने शिक्षा की निरंतरता सुनिश्चित की, लेकिन इसने पारंपरिक कक्षा-कक्ष के महत्व और प्रभावशीलता पर गंभीर प्रश्न खड़े कर दिए हैं। यह शोध-पत्र उन चुनौतियों का विश्लेषण करता है जो ऑनलाइन शिक्षा के विस्तार के कारण प्रत्यक्ष कक्षा-कक्ष शिक्षण समक्ष उत्पन्न हुई हैं। यह शोध अध्ययन इस तुलनात्मक विश्लेषण से यह समझने का प्रयास करता है कि दोनों विधियाँ छात्र की सीखने की क्षमता, संलग्नता एवं शैक्षणिक परिणामों को किस प्रकार प्रभावित करती हैं।

मुख्य शब्द (Keywords):
ऑनलाइन शिक्षण, पारंपरिक कक्षा-कक्ष शिक्षण, अधिगम हानि (Learning Loss), डिजिटल डिवाइड, हाइब्रिड शिक्षण

प्रस्तावना:-

शिक्षा का पारंपरिक स्वरूप शिक्षक एवं छात्र के मध्य मानवीय अंतःक्रिया (भ्नउंद प्दजमतंबजपवद) पर आधारित है। तकनीकी क्रांति के युग में, शिक्षा के स्वरूप में आमूलचूल परिवर्तन आया है। पारंपरिक शिक्षा में जहाँ शिक्षक एवं छात्र एक भौतिक स्थान (कक्षा) में उपस्थित थे, अब डिजिटल प्लेटफार्मों के साथ साझा कर रही है। डिजिटल युग में ''ऑनलाइन शिक्षण'' एक पूरक के रूप में उभरा था, लेकिन अब यह एक मुख्यधारा बन गया है। इस परिवर्तन ने शिक्षा के मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, और शैक्षणिक वातावरण को पूरी तरह से बदल दिया है।

शोध के उद्देश्य (Objectives of the Study)

1. ऑनलाइन शिक्षण एवं पारंपरिक कक्षा-कक्ष शिक्षण के प्रभावों, विशेषताओं तथा सीमाओं का तुलनात्मक विश्लेषण करना।
2. कोविड-19 के पश्चात् पारंपरिक कक्षा-कक्ष शिक्षण के समक्ष उत्पन्न प्रमुख चुनौतियों—जैसे अधिगम हानि, एकाग्रता में कमी, डिजिटल डिवाइड, मनोवैज्ञानिक प्रभाव तथा शिक्षकों के डिजिटल बर्नआउट—का अध्ययन करना।
3. पारंपरिक एवं ऑनलाइन शिक्षण के समन्वित (Hybrid) मॉडल के माध्यम से प्रभावी, समावेशी एवं गुणवत्तापूर्ण शिक्षण के लिए व्यावहारिक समाधान एवं सुझाव प्रस्तुत करना।

* **प्राचार्या, मनोहरलाल डिग्री कॉलेज फॉर टीचर ऐजुकेशन सरौसी, उन्नाव**

शोध प्रविधि (Research Methodology)

शोध की प्रकृति: प्रस्तुत अध्ययन वर्णनात्मक (Descriptive) एवं विश्लेषणात्मक (Analytical) प्रकृति का है। यह एक साहित्य-आधारित (Literature-based) एवं वैचारिक (Conceptual) अध्ययन है, जिसका उद्देश्य ऑनलाइन शिक्षण के युग में पारंपरिक कक्षा-कक्ष शिक्षण के समक्ष उत्पन्न चुनौतियों तथा उनके संभावित समाधानों का विश्लेषण करना है।

शोध अभिकल्प (Research Design): इस अध्ययन में वर्णनात्मक शोध अभिकल्प (Descriptive Research Design) का उपयोग किया गया है। ऑनलाइन एवं पारंपरिक शिक्षण प्रणालियों से संबंधित उपलब्ध साहित्य, राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय रिपोर्टों तथा शैक्षिक अध्ययनों का तुलनात्मक विश्लेषण किया गया है।

अध्ययन का क्षेत्र (Area of Study): अध्ययन का क्षेत्र ऑनलाइन शिक्षण, पारंपरिक कक्षा-कक्ष शिक्षण, अधिगम हानि (Learning Loss), डिजिटल डिवाइड, विद्यार्थियों की सहभागिता, मनोवैज्ञानिक प्रभाव, शिक्षकों का डिजिटल बर्नआउट तथा हाइब्रिड शिक्षण मॉडल तक सीमित है।

आँकड़ों का स्रोत (Sources of Data): प्रस्तुत अध्ययन पूर्णतः द्वितीयक आँकड़ों (Secondary Data) पर आधारित है। आवश्यक जानकारी UNESCO, OECD, World Bank, WHO, ASER Report 2024, NFHS-5, NSS 78th Round, NCERT की रिपोर्टों, शोध-पत्रों, पुस्तकों, ई-पुस्तकों तथा अन्य प्रामाणिक राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय स्रोतों से प्राप्त की गई है।

प्रतिदर्श (Sampling): चूँकि यह अध्ययन साहित्य-आधारित है, अतः इसमें किसी उत्तरदाता का चयन नहीं किया गया है। उद्देश्यपूर्ण प्रतिदर्श (Purposive Sampling) पद्धति के अंतर्गत वर्ष **2020–2024** के मध्य प्रकाशित प्रासंगिक शोध-पत्रों, सरकारी रिपोर्टों, नीति दस्तावेजों एवं अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं के प्रकाशनों का चयन किया गया है।

डेटा विश्लेषण की विधि (Method of Data Analysis): संग्रहित द्वितीयक आँकड़ों का विश्लेषण गुणात्मक विषयवस्तु विश्लेषण (Qualitative Content Analysis), तुलनात्मक विश्लेषण (Comparative Analysis) तथा वर्णनात्मक विश्लेषण (Descriptive Analysis) के माध्यम से किया गया है। विभिन्न शोध अध्ययनों एवं नीतिगत दस्तावेजों की समीक्षा के आधार पर ऑनलाइन शिक्षण एवं पारंपरिक कक्षा-कक्ष शिक्षण की चुनौतियों, प्रभावों तथा संभावित समाधानों का समग्र विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

कक्षा-कक्ष शिक्षण के समक्ष मुख्य चुनौतियाँ

1. छात्रों का ध्यान एवं अनुशासन (Attention and Engagement) : कोविड-19 के दौरान ऑनलाइन शिक्षण के व्यापक उपयोग के बाद विद्यार्थियों की सीखने की आदतों में उल्लेखनीय परिवर्तन देखा गया है। डिजिटल माध्यम पर अल्प अवधि की सामग्री (Short-form Content) देखने की प्रवृत्ति के कारण विद्यार्थियों की एकाग्रता, सतत ध्यान तथा कक्षा में सक्रिय सहभागिता प्रभावित हुई है। पारंपरिक व्याख्यान-आधारित शिक्षण पद्धति में विद्यार्थियों की रुचि बनाए रखना शिक्षकों के लिए अधिक चुनौतीपूर्ण हो गया है।

विश्लेषण:

यूनेस्को (2021) तथा OECD (2023) के अनुसार महामारी के दौरान लंबे समय तक स्क्रीन-आधारित शिक्षण ने विद्यार्थियों की सहभागिता, ध्यान एवं कक्षा-अनुशासन पर प्रतिकूल प्रभाव डाला। इसलिए वर्तमान समय में शिक्षकों को गतिविधि-आधारित, सहभागितापूर्ण तथा मिश्रित (Blended) शिक्षण रणनीतियाँ अपनानी पड़ रही हैं (UNESCO, 2021; OECD, 2023)।

2. शैक्षणिक प्रदर्शन में गिरावट (Learning Loss): महामारी के दौरान विद्यालयों के लंबे समय तक बंद रहने के कारण विद्यार्थियों में अधिगम हानि (Learning Loss) व्यापक रूप से दर्ज की गई। विशेषकर भाषा एवं गणित जैसे आधारभूत विषयों में सीखने का स्तर प्रभावित हुआ।

विश्लेषण:

विश्व बैंक, यूनेस्को एवं यूनिसेफ (2022) ने स्पष्ट किया है कि कोविड-19 के कारण वैश्विक स्तर पर सीखने की गंभीर हानि हुई। भारत में ASER Report 2024 के अनुसार आधारभूत पठन एवं गणितीय दक्षताओं में सुधार प्रारम्भ हुआ है, किन्तु महामारी के प्रभावों की भरपाई अभी भी एक चुनौती बनी हुई है (ASER Centre, 2024; World Bank et al., 2022)।

3. डिजिटल डिवाइड एवं सामाजिक-आर्थिक असमानता : ऑनलाइन शिक्षा के दौरान डिजिटल संसाधनों की असमान उपलब्धता ने शैक्षिक विषमता को और अधिक स्पष्ट किया। ग्रामीण क्षेत्रों, आर्थिक रूप से कमजोर परिवारों तथा वंचित वर्गों के विद्यार्थियों को गुणवत्तापूर्ण ऑनलाइन शिक्षा प्राप्त करने में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

विश्लेषण:

NFHS-5 (2019–21) तथा NSS 78th Round (2020–21) के अनुसार भारत में इंटरनेट एवं डिजिटल उपकरणों की उपलब्धता में ग्रामीण-शहरी तथा आय-आधारित स्पष्ट असमानताएँ हैं। परिणामस्वरूप वर्तमान कक्षाओं में विद्यार्थियों की अधिगम क्षमता एवं डिजिटल दक्षता में पर्याप्त अंतर दिखाई देता है।

4 मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक अलगाव : विद्यालय केवल ज्ञानार्जन का स्थान नहीं, बल्कि सामाजिक एवं भावनात्मक विकास का भी प्रमुख केन्द्र है। लंबे समय तक ऑनलाइन शिक्षा के कारण विद्यार्थियों के सामाजिक संपर्क, समूह-अधिगम तथा सहयोगात्मक व्यवहार में कमी देखी गई।

विश्लेषण:

विश्व स्वास्थ्य संगठन (WHO, 2022) ने महामारी के बाद बच्चों एवं किशोरों में चिंता (Anxiety), अवसाद (Depression) तथा मानसिक स्वास्थ्य संबंधी समस्याओं में उल्लेखनीय वृद्धि की पुष्टि की है। इसी कारण कक्षा में विद्यार्थियों की सहभागिता, आत्मविश्वास तथा समूह-चर्चाओं में सक्रियता प्रभावित हुई है।

5 शिक्षकों पर डिजिटल कार्यभार एवं बर्नआउट : महामारी के बाद शिक्षकों की भूमिका केवल अध्यापन तक सीमित नहीं रही। उन्हें डिजिटल सामग्री तैयार करने, ऑनलाइन एवं ऑफलाइन दोनों माध्यमों में शिक्षण करने तथा नई तकनीकों को अपनाने की अतिरिक्त जिम्मेदारियाँ निभानी पड़ रही हैं।

विश्लेषण:

यूनेस्को (2023) तथा OECD (2023) के अनुसार महामारी के बाद शिक्षकों के कार्यभार, मानसिक तनाव तथा व्यावसायिक बर्नआउट में वृद्धि हुई है। प्रभावी कक्षा शिक्षण के लिए शिक्षकों को निरंतर डिजिटल प्रशिक्षण एवं संस्थागत सहयोग की आवश्यकता है।

प्रमुख चुनौतियों का सारांश

क्र.	चुनौती का क्षेत्र	प्रमुख समस्या	प्रमाणित निष्कर्ष
1	अधिगम स्तर	Learning Loss	महामारी के कारण भाषा एवं गणितीय दक्षताओं में कमी (World Bank et al., 2022; ASER, 2024)
2	एकाग्रता	स्क्रीन-आधारित सीखने का प्रभाव	कक्षा में ध्यान एवं सहभागिता में कमी (UNESCO, 2021; OECD, 2023)

क्र.	चुनौती का क्षेत्र	प्रमुख समस्या	प्रमाणित निष्कर्ष
3	सामाजिक कौशल	संवाद एवं सहयोग में कमी	मानसिक एवं सामाजिक विकास प्रभावित (WHO, 2022)
4	डिजिटल असमानता	संसाधनों की विषमता	ग्रामीण-शहरी एवं आर्थिक अंतर स्पष्ट (NFHS-5; NSS 78th Round)
5	शिक्षकों का कार्यभार	डिजिटल बर्नआउट	कार्यभार एवं मानसिक तनाव में वृद्धि (UNESCO, 2023; OECD, 2023)

निष्कर्ष एवं सुझाव:-

डेटा स्पष्ट रूप से इंगित करता है कि ऑनलाइन शिक्षा ने शिक्षा की पहुँच तो बढ़ाई है, लचीलापन भी दिया है लेकिन शिक्षा की गहराई को प्रभावित किया है (और कक्षा-कक्ष शिक्षण का विकल्प नहीं बन पाया है)। कक्षा-कक्ष शिक्षण की चुनौती अब केवल विषय पढ़ाने की नहीं, बल्कि मनोवैज्ञानिक पुनर्रचना (Psychological Rebuilding) और सीखने के अंतराल (Learning Gap) को भरने की है।

चुनौतियों को कम करने के लिए यह आवश्यक है कि पूरी तरह ऑनलाइन या पूरी तरह ऑफलाइन के बजाय एक संतुलित हाइब्रिड मॉडल अपनाया जाय और सक्रिय शिक्षण पद्धतियाँ जैसे समूह-चर्चा, समूह परियोजनाओं और खेल-आधारित विधियों को बढ़ावा दिया जाय। शिक्षकों के लिए परामर्श सत्रों (counselling sessions) के आयोजन किये जायें ताकि शिक्षक डिजिटल थकान से बाहर निकल सकें।

संदर्भ :-

ASER Centre. (2024). *Annual Status of Education Report (Rural) 2024*. New Delhi: ASER Centre.

Boettcher, J. V., & Conrad, R. M. *The online teaching survival guide* (2nd ed.).

Horton, W. K. *Teaching online: A practical guide*.

International Institute for Population Sciences (IIPS) & ICF. (2021). *National Family Health Survey (NFHS-5), 2019–21*. Mumbai: IIPS.

National Council of Educational Research and Training. *NCERT reports & surveys*.

National Statistical Office. (2022). *Multiple Indicator Survey on Household Social Consumption: Education (NSS 78th Round)*. Ministry of Statistics and Programme Implementation, Government of India.

OECD. (2023). *Education at a Glance 2023: OECD Indicators*. Paris: OECD Publishing.

Sutton, C. (2017). *The role of the online instructor*.

UNESCO. (2021). *Education: From Disruption to Recovery*. Paris: UNESCO.

UNESCO. (2023). *Global Education Monitoring Report 2023*. Paris: UNESCO.

World Bank, UNESCO & UNICEF. (2022). *The State of Global Learning Poverty: 2022 Update*. Washington, DC: World Bank.

World Health Organization. (2022). *Mental Health and COVID-19: Early Evidence of the Pandemic's Impact*. Geneva: WHO.

कुमार, रविन्द्र. *शैक्षिक प्रौद्योगिकी और आई.सी.टी.*

Received: 18.11.2025 | Accepted: 10.12.2025 | Published: 30.12.2025

गीता के कर्मयोग सिद्धांत पर गाँधी-बिनोवा और तिलक के विचार की प्रासंगिकता

डॉ० देवदत्त शुक्ला*
deodshukla@gmail.com

सारांश

प्रस्तुत शोध-पत्र में श्रीमद्भगवद्गीता के कर्मयोग सिद्धांत की व्याख्या करते हुए लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, महात्मा गाँधी तथा आचार्य विनोबा भावे के विचारों की समकालीन प्रासंगिकता का विश्लेषण किया गया है। अध्ययन में स्पष्ट किया गया है कि तीनों विचारकों ने गीता के निष्काम कर्म, लोकसंग्रह तथा कर्तव्यपरायणता के सिद्धांत को अपने जीवन और सामाजिक कार्यों का आधार बनाया। तिलक ने कर्मयोग को राष्ट्रीय जागरण एवं स्वराज्य प्राप्ति का आधार माना, गाँधी ने इसे सत्य, अहिंसा एवं लोकसेवा से जोड़ा तथा विनोबा भावे ने भूदान, ग्रामदान एवं सर्वोदय आंदोलन के माध्यम से कर्मयोग को व्यवहारिक स्वरूप प्रदान किया। वर्तमान सामाजिक, नैतिक एवं राष्ट्रीय चुनौतियों के संदर्भ में गीता का कर्मयोग सिद्धांत आज भी मानवीय मूल्यों, उत्तरदायित्व एवं लोककल्याण के लिए अत्यंत प्रासंगिक है।

मुख्य शब्द:

श्रीमद्भगवद्गीता, कर्मयोग, महात्मा गाँधी, विनोबा भावे, लोकमान्य तिलक, निष्काम कर्म, सर्वोदय

प्रस्तावना

श्रीमद्भगवद्गीता भारतीय दार्शनिक परंपरा का एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है, जिसमें कर्म, ज्ञान और भक्ति का समन्वित दर्शन प्रस्तुत किया गया है। गीता का कर्मयोग सिद्धांत मनुष्य को फल की आसक्ति का त्याग करते हुए कर्तव्यनिष्ठ एवं लोककल्याणकारी कर्म करने की प्रेरणा देता है। भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के अनेक नेताओं ने इस सिद्धांत को अपने जीवन एवं सार्वजनिक कार्यों का आधार बनाया। इनमें लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, महात्मा गाँधी तथा आचार्य विनोबा भावे विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। तिलक ने गीता रहस्य के माध्यम से कर्मप्रधान जीवन का प्रतिपादन किया, गाँधी ने अनासक्ति योग के रूप में गीता की व्याख्या करते हुए सत्य, अहिंसा एवं सेवा को कर्मयोग का आधार माना तथा विनोबा भावे ने गीता प्रवचन के माध्यम से कर्मयोग को सर्वोदय एवं सामाजिक पुनर्निर्माण से जोड़ा। वर्तमान समय में नैतिक संकट, सामाजिक असमानता तथा उत्तरदायित्वहीनता के बढ़ते परिदृश्य में इन तीनों विचारकों द्वारा प्रतिपादित कर्मयोग की अवधारणा अत्यंत प्रासंगिक प्रतीत होती है।

शोध के उद्देश्य

1. श्रीमद्भगवद्गीता के कर्मयोग सिद्धांत का वैचारिक अध्ययन करना।
2. लोकमान्य तिलक, महात्मा गाँधी एवं आचार्य विनोबा भावे द्वारा प्रतिपादित कर्मयोग संबंधी विचारों का तुलनात्मक विश्लेषण करना।
3. समकालीन सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन में गीता के कर्मयोग सिद्धांत की प्रासंगिकता का मूल्यांकन करना।

शोध प्रविधि

शोध की प्रकृति: प्रस्तुत अध्ययन वर्णनात्मक (Descriptive) एवं विश्लेषणात्मक (Analytical) प्रकृति का है। यह एक वैचारिक एवं साहित्य-आधारित अध्ययन है, जिसमें श्रीमद्भगवद्गीता के कर्मयोग सिद्धांत तथा गाँधी, तिलक एवं विनोबा भावे के विचारों का विश्लेषण किया गया है।

* **चित्रकूट धाम, उत्तर प्रदेश**

शोध अभिकल्प: अध्ययन में वर्णनात्मक शोध अभिकल्प (Descriptive Research Design) का उपयोग किया गया है। उपलब्ध साहित्य, मूल ग्रंथों एवं संबंधित शोध अध्ययनों के आधार पर तुलनात्मक एवं व्याख्यात्मक विश्लेषण किया गया है।

आँकड़ों का स्रोत: यह अध्ययन पूर्णतः द्वितीयक स्रोतों पर आधारित है। अध्ययन हेतु श्रीमद्भगवद्गीता, गीता रहस्य, अनासक्ति योग, गीता प्रवचन, संबंधित पुस्तकों, शोध-पत्रों तथा अन्य प्रामाणिक साहित्य का उपयोग किया गया है।

प्रतिदर्श: चूँकि यह साहित्य-आधारित अध्ययन है, इसलिए किसी प्रत्यक्ष उत्तरदाता का चयन नहीं किया गया है। उद्देश्यपूर्ण प्रतिदर्श (Purposive Sampling) के अंतर्गत विषय से संबंधित प्रमुख ग्रंथों एवं प्रामाणिक संदर्भों का चयन किया गया है।

डेटा विश्लेषण की विधि: संग्रहित द्वितीयक सामग्री का विश्लेषण गुणात्मक विषयवस्तु विश्लेषण (Qualitative Content Analysis) तथा तुलनात्मक विश्लेषण (Comparative Analysis) के माध्यम से किया गया है।

साहित्य समीक्षा

श्रीमद्भगवद्गीता के कर्मयोग सिद्धांत पर अनेक विद्वानों एवं चिंतकों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से विचार प्रस्तुत किए हैं। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने अपनी प्रसिद्ध कृति श्रीमद्भगवद्गीता रहस्य अथवा कर्मयोगशास्त्र में गीता को मूलतः कर्मप्रधान ग्रंथ सिद्ध करते हुए निष्काम कर्मयोग को मानव जीवन का सर्वोच्च आदर्श माना। उनके अनुसार गीता का केंद्रीय संदेश कर्म का परित्याग नहीं, बल्कि लोकसंग्रह और राष्ट्रहित के लिए अनासक्त भाव से कर्म करना है (तिलक, 2018)। रामधारी सिंह 'दिनकर' ने भी तिलक की व्याख्या का समर्थन करते हुए लिखा कि तिलक ने गीता के कर्मयोग को भारतीय राष्ट्रीय चेतना का आधार बनाया और उसकी मौलिक व्याख्या प्रस्तुत की (दिनकर, 2011)।

महात्मा गाँधी के लिए श्रीमद्भगवत गीता एक जीवन रक्षक किताब थी उन्होंने गीता के कर्मयोग को अपने जीवन और स्वतंत्रता संग्राम का मुख्य आधार बनाया। गाँधी जी ने गीता के युद्ध के मैदान वाले हिस्से को दिल की बुराईयों से लड़ने का रूप दिया। उनके लिए कर्मयोग का मतलब बिना किसी हिंसा के समाज की भलाई करना था।

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।" जैसा आप्त-मन्त्र श्रीमद्भगवत गीता का वास्तविक निहितार्थ एवं मूल सिद्धान्त है। उक्त आप्त मन्त्र को आत्मसात करते हुए तिलक-गाँधी-बिनोवा जैसे संतो ने देश के स्वतंत्रता आन्दोलन को दिशा दी तथा स्वयं गीतामय जीवन की ओर अग्रसर हुए। सन् 1908 से 1914 तक के छःवर्षीय एकान्त कारावास में बाल गंगाधर तिलक ने गीता रहस्य की रचना की। तिलक जी ने श्रीमद् भगवत गीता की व्याख्या करते हुए निवृत्ति के स्थान पर प्रवृत्ति के मार्ग को अपनाने का सन्देश दिया है। राष्ट्रीय आन्दोलन पर टीका करते हुए दिनकर ने लिखा है कि- "हिन्दुत्व के भीतर प्रविष्ट जिस कालकूट (निवृत्ति के विष) को किसी भी तत्वचिन्तक की दृष्टि नहीं देख सकी थी, उसे तिलक की आँखों ने देख लिया। तिलक ने उसे देखा ही नहीं प्रत्युत अपनी प्रखर बुद्धि से उसे दूर भी कर दिया। इसलिये हमारा मत है कि गीता एक बार तो भगवान श्रीकृष्ण के मुख से कही गयी थी और दूसरी बार उसका सच्चा आख्यान लोकमान्य ने किया है। इन दोनों के बीच की सारी टीकाएँ और आख्याएँ गीता के सत्य पर केवल बादल बनकर छाती रही है।"

आचार्य बिनोवाभावे के अनुसार- "इस जमाने के अनेक श्रेष्ठ लोगों ने गीता पर लिखा है उनमें मुख्य है- लोकमान्य तिलक, महात्मा गाँधी एवं श्री अरविन्द। तीनों ने गीता पर अपना जीवन सर्वस्व समझकर लिखा, तीनों के जीवन को गीता ने एक नया आकार दिया, और तीनों ने कहा कि यह ग्रन्थ देश के उत्थान के लिए अत्यन्त उपयुक्त है।"

लोकमान्य तिलक ने स्वतंत्रता आन्दोलन के समय स्वराज्य प्राप्ति का नारा दिया था, जिसके लिए गीता ने कर्मयोग के संदेश के अनुसार उन्होंने प्रचण्ड पुरुषार्थ किया, एवं फल की इच्छा न करते हुए केवल कर्मयोग पर बल दिया।

जहाँ तक महात्मा गाँधी के कर्मवाद का सन्दर्भ है तो उन्होंने धर्माधारित राजनीति की हिमाकत की है। उन्होंने स्वयं लिखा भी है कि- "मेरी सत्यनिष्ठा ही मुझे राजनीति के प्रांगण में उतारा है और मैं तनिक भी संकोच किये बिना, परन्तु पूर्ण विनम्रता के साथ, कह सकता हूँ- जो यह कहते है कि धर्म का राजनीति से कोई सरोकार नहीं है, वे वस्तुतः धर्म का अर्थ ही नहीं जानते।" वे श्रीमद् भगवत गीता के योगः कर्मषु कौशलम् आधार बनाते हुए 1920 में तिलक जी के देहावसान के बाद

स्वराज्य आन्दोलन का नेतृत्व स्वयं सम्भालते हुए, असहयोग आन्दोलन, सविनय अवज्ञा आन्दोलन एवं भारत छोड़ो आन्दोलन को सफल परिणति तक पहुँचाते हुए भारत को आजादी दिलायी।

गाँधी जी के कर्मयोग का एक अन्य सन्दर्भ बाबा विनोबा के शब्दों में- सन् 1916 में मैं बापू के पास पहुँचा तब 21 साल का लड़का था। वे सब्जी काट रहे थे। मेरे लिए यह भी एक नया ही दृश्य था। यह कार्य भी राष्ट्र नेता करते हैं, यह मैंने कभी नहीं सुना था। उन्होंने एक चाकू मेरे हाथ में भी दे दिया। मेरी यह प्रथम दीक्षा थी और मुझे श्रम का पाठ मिला। इस प्रकार हम देखते हैं कि गाँधी जी विशुद्ध राजनीतिक विचारक ही नहीं, अपितु सच्चे कर्मयोगी थे।

गीता के कर्मयोग की प्रेरणास्पद कड़ी में एक नाम आचार्य विनोबाभावे का भी जुड़ा है-

सन् 1932 में विनोबा जी जब धुलिया जेल में थे उसी समय जेलर सहित अन्य कैदियों के अनुनय-विनय पर उन्होंने गीता पर अट्ठारह प्रवचन दिये, जिसे साने गुरु ने लिपिबद्ध कर लिया, वही ग्रन्थ गीता प्रवचन के नाम से घर-घर में सरल भाषा में सन्देश सुना रहे है।

जहाँ तक श्रीमद् भगवत गीता की बात है तो आचार्य विनोबा ने गीता को माँ का स्थान देते हुए गीता माता कहा है उन्होंने गीता प्रवचन के प्रथम अध्याय में लिखा है कि- मेरा शरीर माँ के दूध पर जितना पला है उससे कही अधिक मेरे हृदय एवं बुद्धि का पोषण गीता के दूध पर हुआ है। जहाँ हार्दिक सम्बन्ध होता है वहाँ तर्क की गुंजाइश नहीं रहती। तर्क को काटकर श्रद्धा एवं प्रयोग इन दो पंखों से ही मैं गीता-गगन में यथाशक्ति उड़ान भरता रहता हूँ, मैं प्रायः गीता के ही वातावरण में रहता हूँ, क्योंकि गीता ही मेरा प्राणतत्व है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वे गीता के कर्मयोग से अतिशय प्रभावित थे। अपनी जीवन यात्रा में कर्मयोग के आदर्शों को संजोकर भूदान, ग्रामदान, धनदान, श्रमदान आदि के माध्यम से भारत भूमि सहित सम्पूर्ण विश्व जन मानस को कर्मशील रहने का कालजयी संदेश दिया है।

निष्कर्ष

अध्ययन से स्पष्ट होता है कि श्रीमद्भगवद्गीता का कर्मयोग सिद्धांत केवल आध्यात्मिक साधना तक सीमित नहीं है, बल्कि सक्रिय सामाजिक, राष्ट्रीय एवं मानवीय उत्तरदायित्व का भी आधार है। लोकमान्य तिलक ने कर्मयोग को राष्ट्रीय जागरण एवं स्वराज्य प्राप्ति का प्रेरक सिद्धांत माना, महात्मा गाँधी ने इसे सत्य, अहिंसा एवं निष्काम लोकसेवा के साथ जोड़कर स्वतंत्रता आंदोलन का नैतिक आधार बनाया तथा आचार्य विनोबा भावे ने भूदान, ग्रामदान एवं सर्वोदय आंदोलन के माध्यम से कर्मयोग को सामाजिक परिवर्तन का साधन बनाया। वर्तमान समय में जब समाज नैतिक मूल्यों के संकट, सामाजिक विषमता तथा उत्तरदायित्वहीनता जैसी चुनौतियों का सामना कर रहा है, तब गीता का कर्मयोग सिद्धांत तथा इन तीनों विचारकों की व्याख्याएँ अधिक प्रासंगिक हो जाती हैं। निष्काम कर्म, लोककल्याण, आत्मानुशासन एवं सेवा की भावना आज भी एक न्यायपूर्ण एवं मानवीय समाज के निर्माण में मार्गदर्शक सिद्ध हो सकती है।

सन्दर्भ:-

1. गाँधी, मोहनदास करमचंद. (1984). *अनासक्ति योग (भगवद्गीता का गुजराती अनुवाद एवं व्याख्या)*. अहमदाबाद: नवजीवन प्रकाशन.
2. तिलक, बाल गंगाधर. (2018). *श्रीमद्भगवद्गीता रहस्य अथवा कर्मयोग शास्त्र*. नई दिल्ली: प्रभात प्रकाशन.
3. भावे, विनोबा. (2010). *गीता प्रवचन*. पवनार, वर्धा: परमधाम प्रकाशन.
4. जैन, पुखराज. (2003). *राजनीति विज्ञान*. आगरा: साहित्य भवन पब्लिकेशन्स.
5. दिनकर, रामधारी सिंह. (2011). *संस्कृति के चार अध्याय*. नई दिल्ली: लोकभारती प्रकाशन.

Received: 19.11.2025 | Accepted: 10.12.2025 | Published: 30.12.2025

ELECTRONIC RESOURCES IN ACADEMIC LIBRARIES: CONCEPTS, TECHNOLOGIES, AND IMPLICATIONS FOR HIGHER EDUCATION IN EASTERN UTTAR PRADESH

VED PRAKASH MISHRA*
vpmishra12265@gmail.com

ABSTRACT

The emergence of electronic resources as the dominant mode of scholarly information dissemination has fundamentally transformed the conceptual foundations, operational practices, and service delivery models of academic libraries worldwide. This paper presents a comprehensive conceptual and analytical examination of electronic resources — their definitions, typologies, technological underpinnings, institutional frameworks, and implications for library and information services in the context of higher education in Eastern Uttar Pradesh. Drawing upon an extensive review of the relevant literature in library and information science, the paper traces the historical evolution of electronic publishing, examines the role of institutional frameworks — particularly the University Grants Commission (UGC), the Information and Library Network (INFLIBNET), and the UGC Infonet E-Journal Consortium — and analyzes the evolving dynamics of scholarly communication. The study concludes that the effective integration of electronic resources into the academic library environment requires not only technological investment but also institutional commitment, professional capacity building, and a deliberate orientation toward equity of access.

Keywords*: Electronic resources, digital libraries, e-journals, UGC Infonet, INFLIBNET, ICT, academic libraries, scholarly communication, Eastern Uttar Pradesh*

1. INTRODUCTION

1.1 The Age of Electronic Information

The twenty-first century has been aptly characterized by the futurist Alvin Toffler as the age of computers and information — a period in which the growth of human knowledge has not merely increased but is itself accelerating at an unprecedented rate (Toffler, as cited in Sharma, 2005). The phenomenon known as information explosion — the exponential multiplication of information stored, transmitted, and accessed in digital forms — has reshaped the landscape of knowledge production, dissemination, and consumption across all academic and professional domains. Scientific knowledge, it has been estimated, doubles approximately every ten years, generating

* **Research scholar, Department of library and information science**

Shri Jagdishprasad Jhabaremal Tibrewala University, Jhunjhunu, Rajasthan

continuously new forms of information that require new systems of organization, retrieval, and management (Bhartia, 2001).

Electronic information — also termed digital information — represents the contemporary instantiation of this informational revolution. Unlike its print predecessor, electronic information is an invisible yet pervasive resource that penetrates and reshapes all forms of teaching, learning, and research activity (Reitz, 2006). It encompasses a vast and heterogeneous range of information objects and delivery systems, including Compact Disc Read-Only Memory (CD-ROM), online databases, videotext and teletext systems, DVD-ROM, electronic mail, videocassette recordings, motion pictures, microforms, Internet-based resources, and electronic publications such as e-journals and e-books (Natrajan, 2007).

The etymological roots of the word information lie in two Latin terms — format and forma — conveying the meaning of "giving shape to something" and "forming a model" (The Chambers Dictionary, 1993). This etymology illuminates the essential function of information as a structuring and meaning-making force in human intellectual and social life. Similarly, the term resource acquires specific significance in the context of library and information science. According to Webster's Encyclopaedia Unabridged Dictionary (1994), a resource denotes "a source of supply or support" — something mobilized to meet a need or resolve a problem confronting an individual, a community, or a nation. A material, entity, or system thus becomes a resource when it is deployed to address a specific informational challenge, whether in conditions of urgency or in the ordinary course of academic and professional activity (Elliot, 2001).

1.2 Objectives of the Paper

This paper pursues the following specific objectives: to define and conceptualize electronic resources within the broader framework of library and information science; to present a systematic typology of electronic resource formats and categories; to examine the technological foundations underpinning electronic information systems; to analyze the national institutional frameworks — particularly UGC, INFLIBNET, and UGC Infonet — shaping e-resource access in Indian higher education; to assess the characteristics, functions, advantages, and challenges of digital libraries; and to examine the evolving dynamics of scholarly communication in the context of the tension between commercial publishing and open-access imperatives.

2. COLLEGE LIBRARIES: FUNCTIONS, OBJECTIVES, AND INFORMATION TECHNOLOGY

2.1 The Role of College Libraries

A well-resourced and effectively managed library is indispensable to the academic health and intellectual vitality of any educational institution. Functioning as the "throbbing heart" of academic life (Barman, 2012), the college library serves multiple essential functions: rendering information support to students, faculty, and administrative staff; serving as a resource base for the broader scholarly community; and performing an important cultural function by enabling students to develop informed and critical perspectives on reality. The University Grants Commission (UGC) of India has historically provided substantial funding to college libraries for the purchase of reference books, textbooks, and construction of library infrastructure, recognizing the library's indispensable

role in supplementing classroom teaching with independent scholarly inquiry (Arora & Trivedi, 2010).

The objectives of the college library encompass a range of academic and social functions: supporting the ongoing development of human awareness and keeping the academic community current with emerging information needs; reminding faculty members of opportunities to integrate library resources into their teaching; facilitating practical guidance for students in effective information-seeking behavior; providing necessary resources to all staff and student groups; assisting teaching staff in organizing innovative methods of instruction; and creating an environment that stimulates intellectual development, self-awareness, and personal growth.

2.2 Information Technology in College Libraries

Government college libraries across Eastern Uttar Pradesh have been progressively adopting computerization and IT applications in the management of their services and collections. The application of IT to library functions has significantly enhanced their effectiveness and resourcefulness, expanded the technical competencies of library professionals, and improved the quality of services available to users (Girish Kumar, Vasant, & Praveen, 2005). College libraries are increasingly digitizing their catalogues and creating full-text databases online. The development of CD-ROM technology, barcode systems, and digital library services has contributed substantially to the enhancement of information storage and collection management. The explosive growth of the Internet and the diffusion of networking technologies have made it possible, in principle, for any user to access any type of information from anywhere in the world (Kamala Vijayan, 1998). College libraries can further enhance the effectiveness of their IT resources by subscribing to INFLIBNET services, thereby providing enhanced support to teachers and students in their research and learning activities (Qureshi & Hasnain, 2000).

2.3 Skills of Library Professionals in the Electronic Environment

Information technology has unlimited potential for transforming the contours of library science in India, and this transformation is most clearly visible in the evolving skill profiles of library professionals. The most important challenge facing IT services in academic institutions is the "just-in-time" delivery of information to users — that is, the provision of precisely the information that users need, at the moment they need it, in the format most appropriate for their purposes. Library professionals responsible for the operation of IT systems must combine IT competencies with professional library and information science knowledge, skills, and judgment.

The skills required by contemporary library professionals in the electronic environment may be organized into several levels. At the foundational level, library professionals must acquire competencies in the use of information technology tools — including operating systems, software applications, physical management of hardware, database management systems (DBMS), folder management, desktop publishing (DTP), word processing, and information generation. At the intermediate level, professionals require skills for applying IT to service management and information processing — including the organization and conversion of library collections into electronic form, indexing techniques, source selection and evaluation, cataloguing, and content updating. At the advanced level, professionals must develop information retrieval skills for online

searching and querying of CD-ROM databases, including competencies in search formulation and query analysis (Sharma, 2005).

3. ELECTRONIC RESOURCES: TYPOLOGY AND CHARACTERISTICS

3.1 Typology of Electronic Resources

Electronic resources in academic library settings may be classified according to several complementary frameworks. By access mode, they are divided into online e-resources (e-books, e-journals, online databases, websites) and offline physical-medium resources (CD-ROMs, DVDs, diskettes) (Kaur, 2007). A more analytically refined typology, however, classifies e-resources according to the level of information processing they represent.

Primary electronic resources comprise original, unmediated scholarly and creative works in electronic form, including manuscripts, diaries, journals, newspaper articles, speeches, interviews, memoirs, government-generated documents, photographs, audio-visual recordings, research data, and other original materials in digital format (Elliot, 2001). Secondary electronic resources are documents that describe, analyze, synthesize, or provide access to primary resources. They include bibliographies, reviews, treatises, and major abstracting services — such as Chemical Abstracts, Psychological Abstracts, Library and Information Science Abstracts (LISA), and Sociological Abstracts — as well as indexes including the British Humanities Index, Biological and Agriculture Index Plus, Indian Science Index, Applied Science and Technology Index, Current Index to Journals in Education (CIJE), Humanities Index, New York Times Index, and Social Science Index. Secondary resources further encompass reference works including dictionaries, encyclopedias, biographical and geographical sources, yearbooks, almanacs, and statistical sources. Tertiary electronic resources represent a further level of distillation and synthesis, combining and summarizing primary and secondary sources, and include encyclopedias, textbooks, literature guides, and bibliographies of bibliographies (Natrajan, 2007).

The following table presents a comprehensive typology of electronic resource types in academic library settings:

Type of E-Resource	Description
E-Book	**Available in multiple formats:** Adobe PDF, Microsoft Reader, ePub, Mobipocket, Kindle, iPad
E-Journal	Digital periodical delivered via Internet or CD-ROM/DVD
E-Newspaper	Online newspaper accessible through the World Wide Web
E-Magazine	Digital magazine publications for library reference collections
Indexing & Abstracting Databases	Bibliographic information and abstracts of journal articles
Full-Text Database	Organized collections of full-text articles, free or subscription-based
Reference Database	Electronic dictionaries, encyclopedias, and almanacs
Statistical Database	Numerical and statistical data for research communities
Image Collections	Digitized image databases for visual resource access

E-Thesis	Databases of PhD theses and dissertations in electronic format
E-Clippings	Electronic news-clipping collections for comprehensive news analysis
E-Patents	Electronic records of government-granted patent rights
E-Standards	Electronic records of official definitions, rules, and standards

3.2 Characteristics of Electronic Resources

Electronic resources possess a number of distinctive characteristics that differentiate them from their print equivalents and have significant implications for library service design. These include: universal accessibility, meaning documents can potentially be accessed by anyone from any location; faster retrieval than is possible with print resources; link-oriented navigation supporting non-linear reading and cross-referential access; ease of text browsing and full-text searching; availability in a wide variety of media formats; a reduced emphasis on ownership in favor of access-based models; more frequent and intensive interaction between librarians and users in the electronic environment; and the absence of a predefined or restricted user group (Bhat, 2009).

3.3 Electronic Information Services

The changing nature of information services in the digital age has generated a range of specialized e-information services integral to the operations of modern academic libraries. The most significant are: Current Awareness Service (CAS); Selective Dissemination of Information (SDI); E-Document Delivery Services (EDDS); Online Public Access Catalogue (OPAC); and Mobile Libraries (M-Libraries). These services collectively represent a comprehensive infrastructure for meeting the diverse and evolving information needs of the academic community.

4. TECHNOLOGICAL FOUNDATIONS OF ELECTRONIC INFORMATION SYSTEMS

4.1 Information and Communication Technology

Information and Communication Technology (ICT) constitutes the foundational infrastructure upon which all contemporary electronic information systems are built. ICT may be defined as any system designed to collect, process, or distribute information — more specifically, as the discipline and practice of transferring electronic information from one location to another and from one person to another (Bhartia, 2001). Communication is among the most fundamental of human social processes, and information-laden communication has the capacity to alter the recipient's conception of knowledge and reality. ICT has proven to be among the most consequential inventions in human history, enabling access to vast quantities of information — including published, unpublished, and yet-to-be-published data — and facilitating communication between individuals anywhere in the world without discrimination of status or location.

4.2 The Internet

The Internet — most simply described as "a network of networks" — represents the defining information infrastructure of the contemporary era. The Encyclopedia of Library and Information Science (1997) defines it as "a system of linked computer networks, worldwide in scope, that facilitates data communication services such as remote login, file transfer, electronic mail, and newsgroups." As the largest source of global connectivity, the Internet links millions of

private, commercial, governmental, and educational organizations in a vast and continuously expanding information ecosystem. Popularly described as the "information superhighway," it provides access to millions of articles, databases, and other information resources (Kamala Vijayan, 1998). A range of Internet tools and services — including electronic mail (e-mail), the World Wide Web (WWW), File Transfer Protocol (FTP), Telnet, and newsgroups — provide diverse pathways for information access and scholarly communication.

4.3 Historical Perspective on Electronic Publishing

The concept of electronic publishing (EP) dates back approximately four decades. The first electronic book was published in Germany in 1985, initiating a period of steady growth in the quantity and diversity of electronic publications (Amudavally, 1997). As electronic networks matured, serial publications began to be distributed through these networks in the form of electronic journals. Electronic publishing involves the online dissemination of information and seeks to economize the use of electronic space by compressing information into the minimum feasible volume. EP encompasses the electronic production and distribution of typeset-quality documents containing text, graphics, film, and tabular data. The use of EP technology has stimulated the communicative and informational potential of ICT systems, enhancing their capabilities for accessing, manipulating, retrieving, storing, and transmitting information among distributed users. The convergence of computer networking and satellite communication has dramatically expanded the radius of the information universe, enabling multiple users to access the same information from different locations simultaneously.

4.4 Hypertext, Hypermedia, and the World Wide Web

Hypertext — a term coined by Ted Nelson in 1965 — refers to an electronic document that contains links to related pieces of information, enabling non-linear, associative navigation through large bodies of text. Unlike a traditional linear text, a hypertext document allows the reader to follow links from one section or document to another, providing a system of generalized, electronically implemented cross-references that closely mirrors the associative patterns of human cognition. Hypermedia extends the hypertext concept to encompass multimedia content — enabling users to follow associative links between text, images, audio, video, and other media types by clicking on designated "hot spots." Web-delivered documents represent the most familiar contemporary manifestation of hypermedia and constitute the dominant interface paradigm for electronic information access worldwide. The World Wide Web has enabled a revolution in electronic information resources, transforming available information into a genuinely multimedia phenomenon encompassing texts, images, videos, and other media types more appropriately conceptualized as "information objects" rather than "documents" (Reitz, 2006).

5. ELECTRONIC AND DIGITAL LIBRARIES

5.1 Conceptual Framework

The invention and convergence of computers, digital communication tools, CD-ROMs, multimedia systems, processor networks, and the Internet have collectively enabled the development of electronic publishing and have fundamentally transformed the functions of the conventional library. Electronic libraries — also termed digital libraries — are defined as global networked

virtual library systems in which all holdings are maintained in machine-readable form, accessible through computer and network interfaces to users regardless of their physical location (Reitz, 2006). The digitization of library collections is increasingly recognized as an institutional imperative for academic libraries seeking to provide instant, comprehensive information services in the context of the rapidly expanding universe of scholarly information.

5.2 Functions and Characteristics of Digital Libraries

The key functions of the electronic library include: management of large quantities of digital and electronic content including bibliographic records, audio clips, images, and multimedia materials; enabling searches that are not practicable by manual means in print-based environments; management of content from multiple distributed locations; preservation of unique and fragile collections through digitization; facilitation of enhanced and equitable access to information; support for both formal and informal learning environments; protection of intellectual property rights; reduction of distribution and storage overhead costs; enhancement of user effectiveness and research productivity; and maintenance of interoperability standards for information exchange between systems (Sharma, 2005).

Electronic libraries are distinguished from their conventional counterparts by a range of defining characteristics: operation within a widespread networked environment; universal accessibility from any location — home, school, workplace, or travel; consumer-responsive user interfaces; advanced search and retrieval capabilities including full-text searching and Boolean operators; support for rich multimedia content; provision of access to vastly larger information collections than are feasible in physical library settings; extended hours of availability unrestricted by physical opening times; and user interfaces optimized for comprehensive information retrieval systems.

5.3 Digital Information Services

Electronic libraries are capable of providing a comprehensive range of digital and electronic information services, including: Online Public Access Catalogue (OPAC); CD-ROM Network Service; online circulation transaction management; e-mail service; bulletin board facilities; Current Awareness Service (CAS); Selective Dissemination of Information (SDI); indexing and abstracting services; content page services; intranet and Internet services; and bibliographic reference and demand services. These services collectively represent a transformation in the capacity of academic libraries to meet the diverse and evolving information needs of their user communities.

5.4 Advantages of Electronic Libraries

The principal advantages of electronic library systems over conventional print-based libraries include: capacity to store enormous quantities of data while occupying minimal physical space; capability for continuous real-time updating; single-entry bibliographic data input with multi-point retrieval; highly effective multi-perspective search capabilities; support for Boolean search logic; easy integration with document acquisition and circulation management systems; continuous availability of information with simultaneous multi-user access; provision of electronic clipping and reference services; and ease of content copying, printing, and reproduction (Girish Kumar et al., 2005).

5.5 Challenges in Developing Electronic Libraries

The development and management of electronic library systems is associated with significant challenges. These include: the high cost and complexity of digitizing physical collections; the requirement for specialized hardware and software that may become obsolete rapidly, particularly in developing-country contexts where new versions are frequently released before existing systems have been fully implemented; difficulties associated with managing semantic and technical interoperability; challenges in collection development decision-making in a rapidly evolving information environment; complexities of user training and behavioral adaptation; library economics — particularly the tension between rising subscription costs and constrained institutional budgets; and the need for continuous staff skills development. The conversion of paper documents into digital forms is both expensive and time-consuming; certain types of objects, such as photographs, audio, and video, are more readily digitized, while books, journals, and maps present greater technical challenges (Okello-Obura, 2010).

6. NATIONAL FRAMEWORKS FOR E-RESOURCE ACCESS IN INDIA

6.1 UGC Infonet Programme

The University Grants Commission (UGC) of India has established the UGC Infonet programme to provide universities across India with enhanced electronic access to scholarly publications in all disciplines. Fully funded by the UGC and administered by the Director of the Information and Library Network (INFLIBNET) Centre at Ahmedabad — an autonomous institution under the aegis of the UGC — the programme initiated access to e-journals on January 1, 2004. The consortium encompasses all UGC-affiliated universities across India, with progressive extension to affiliated colleges. The major structural and operational features of UGC Infonet include: a scalable architecture designed for expansion to affiliated colleges; a nationwide backbone fiber optic link infrastructure; an integrated satellite Wide Area Network (WAN) providing broadband and SCPC VSAT connectivity; a comprehensive network operating system for complete network monitoring; data and virus protection systems utilizing firewalls and intrusion detection technologies; a dedicated data centre for web hosting and e-journal distribution; mirror sites for distributed content hosting; and broadband multimedia channels for distance learning applications.

6.2 UGC E-Journal Consortium

The UGC Infonet E-Journal Consortium represents the cornerstone of the UGC Infonet effort, directly addressing the electronic information needs of teaching, learning, and research in Indian universities. Inaugurated on December 28, 2003, through the cooperative engagement of the UGC, the Education and Research Network (ERNET), the Inter-University Centre for Astronomy and Astrophysics (IUCAA), INFLIBNET, and the Consortium for Educational Communication (CEC) — in partnership with national and international publishers — the consortium provides access to electronic resources from major databases including the American Chemical Society, American Institute of Physics, American Physical Society, Cambridge University Press, Encyclopædia Britannica, Nature Publishing Group, Springer, Emerald Full Text, ScienceDirect (Elsevier), JSTOR, Taylor and Francis, and Royal Society of Chemistry, among others. Members of the consortium have access not only to current issues but also to retrospective content extending 7–8 years in many cases, and to the full back file from Volume 1 for select publishers. The consortium

enables researchers, faculty members, and students to search, download, and print significant scholarly articles in support of their academic work. All subscribed databases and journals are available simultaneously to all users across member institutions — a capability impossible with print-only access. The INFLIBNET Centre also maintains single print copies of subscribed journals as a national collection, which can be consulted by the research community across the country (UGC, 2004).

6.3 INFLIBNET: Information and Library Network

The Information and Library Network (INFLIBNET) was established in 1991 as a project under the Inter-University Centre for Astronomy and Astrophysics (IUCAA), becoming the 38th Independent Inter-University Centre of the UGC in 1996, with its headquarters at Ahmedabad. INFLIBNET's primary mission is to interconnect all university and college libraries within a shared network infrastructure enabling information sharing and transfer at a single click. Over the past decade, INFLIBNET has played a pivotal role in the computerization of university libraries across India. Its contributions have included: promoting an IT culture in university environments; providing hardware and software support for library computerization; delivering professional training workshops and capacity-building programs for library personnel; developing the library management software SOUL (Software for University Libraries); creating a union database of university library holdings; and maintaining a publicly accessible website (http://www.inflibnet.ac.in). INFLIBNET is expanding its network rapidly and can be expected to bring all universities within its ambit in the near future (Qureshi & Hasnain, 2000).

6.4 Edusat: Educational Satellite

Edusat — India's first exclusive education satellite — represents a landmark achievement in the application of space technology to the advancement of educational access. Specifically configured to support interactive satellite-based remote learning through audio-visual media, Edusat was launched on September 20, 2004, by the Indian Space Research Organization (ISRO) from the Satish Dhawan Space Centre, Sriharikota. Edusat provides the technological infrastructure for direct-to-home (DTH) broadcasting and interactive communication, enabling the delivery of high-quality educational content to institutions across India, including those in rural and semi-urban areas that lack conventional campus-based infrastructure. The principal aims of Edusat are: to popularize quality education and make it accessible to underserved communities; to link all educational institutions in a unified national communication network; to disseminate new educational methods and research findings to the general population; to provide guidance and mentoring support in educational contexts; and to facilitate interactive communication between students and subject experts.

In Uttar Pradesh, the Edusat service was inaugurated by President Dr. A. P. J. Abdul Kalam. Adopting the VICTERS (Virtual Classroom Technology on Edusat for Rural Schools) model, sixteen Satellite Interactive Terminals (SITs) were established across each district of the state. Given the geographical extent and high student population of Varanasi district, two SIT centres were designated there. Classes are conducted simultaneously at all centres, enabling interactive engagement between students and expert faculty through the Edusat platform — a development with significant implications for the quality and reach of educational services in the region.

7. SCHOLARLY COMMUNICATION AND THE DYNAMICS OF ELECTRONIC PUBLISHING

7.1 Key Actors in the Scholarly Communication Ecosystem

The transition to electronic publishing has generated a complex and contested reconfiguration of the scholarly communication ecosystem, involving four principal categories of actors: scholars and researchers, universities and libraries, commercial publishers, and national and international consortia. Each actor pursues distinct interests and operates under distinct constraints in relation to the production, dissemination, and control of scholarly knowledge.

The relative ease of distributing documents via the Internet has created, in principle, the capacity for scholars to bypass commercial publishers entirely, disseminating their research directly through open-access channels (Hayes, as cited in the source material). Through self-archiving on institutional repositories and subject archives, scholars can make their work immediately and freely available. The Los Alamos National Laboratory Preprints Archive — initiated by Paul Ginsberg in 1991 — represents one of the foundational models of this approach.

Universities are strategically positioned to play a key role in reclaiming scholars' control over the communication of their research (Burnett, as cited in the source material). University presses and libraries can help scholars regain control over their research, positioning the library as both publisher and archivist of institutional scholarship (Quinn, as cited in the source material). Four important university-library publishing initiatives merit specific mention: High Wire Press (Stanford University), Project Muse (Johns Hopkins University), the Journal of Insect Science (University of Arizona), and SPARC — the Scholarly Publishing and Academic Resources Coalition of the Association of Research Libraries.

Commercial publishers continue to perform essential functions in the scholarly communication system — filtering and selecting authors and works, copy-editing texts, adding metadata for enhanced discoverability, maintaining publication schedules, and distributing finished products through established channels (Anon, as cited in the source material). However, commercial publishers must innovate in adopting new media. The electronic environment provides opportunities for publishers to incorporate multimedia features, improve journal functionality, and use the Internet as a distribution vehicle. However, their pricing strategies — whether based on "publisher's price plus" models or bundled product offerings — are systematically oriented toward overall profit maximization, often at the expense of library budgets (Anon, as cited in the source material).

7.2 The Conflict Environment and Its Resolution

The transition to electronic publishing has generated a structural conflict among stakeholders in the scholarly communication ecosystem, arising from the fundamental tension between the profit-maximization objectives of commercial publishers and the open-access imperatives of the academic community. Scholars are institutionally compelled to publish in high-impact, internationally circulated journals to advance their careers and secure recognition (Garfield, as cited in the source material) — a compulsion that reinforces the leverage of commercial publishers. Digital publication offers the promise of significantly lower publication costs relative to

print (Odlyzko, as cited in the source material), but the realization of this promise requires a fundamental restructuring of the incentive systems and power relations governing scholarly communication.

At the international level, organizations including SPARC, High Wire Press, and the OCLC Model Press are working to develop alternative publication models. At the Indian level, comparable initiatives include the INDEST Consortium, the UGC Infonet E-Journal Consortium, the CSIR Consortium, and the FORSA Consortium. From this analysis, two fundamental conclusions emerge: first, that scholars will continue to require effective means for disseminating their ideas to the academic community; and second, that there will be a growing and irreversible reliance on digital means to achieve this purpose.

8. DISCUSSION: IMPLICATIONS FOR ACADEMIC LIBRARIES IN EASTERN UTTAR PRADESH

The foregoing analysis has significant implications for the development and management of academic library services in Eastern Uttar Pradesh. Government college libraries in the region operate within a challenging institutional environment characterized by constrained budgets, limited digital infrastructure, uneven internet connectivity, and significant disparities in the digital literacy of both library staff and student users. At the same time, the region's large and growing student population — combined with the progressive extension of UGC Infonet access to affiliated colleges and the development of Edusat-based educational infrastructure — presents genuine opportunities for transformative improvement in e-resource access and utilization.

The most significant implication of the analysis is that the effective integration of electronic resources into academic library services cannot be achieved through technological investment alone. It requires a multi-dimensional institutional response: sustained investment in digital infrastructure, including reliable broadband connectivity across all campuses; continuous professional development for library personnel in e-resource management, database administration, and digital literacy instruction; systematic user education programs that build the information literacy competencies of students and faculty; evidence-based collection management informed by systematic usage monitoring; and a deliberate policy commitment to bridging the digital divide that continues to limit equitable access to electronic information among the most marginalized members of the academic community.

The role of INFLIBNET and the UGC Infonet Consortium is particularly critical in this context. By providing consortium-based access to major international databases and e-journal collections at substantially reduced cost, these national frameworks offer government college libraries in Eastern Uttar Pradesh access to scholarly resources that would be entirely beyond their reach if procured independently. The progressive extension of UGC Infonet services to colleges currently holding College with Potential for Excellence (CPE) status represents an important first step in this direction, but a broader and more ambitious program of inclusion is required to reach the full population of government college libraries in the region.

CONCLUSION

This paper has presented a comprehensive conceptual and analytical account of electronic resources and their implications for academic library and information services, with particular reference to the institutional context of higher education in Eastern Uttar Pradesh. The analysis has demonstrated that electronic resources represent not merely a technological enhancement of conventional library services but a fundamental paradigm shift in the production, organization, dissemination, and consumption of scholarly knowledge.

Several key conclusions emerge from the foregoing analysis. First, the typological diversity of electronic resources — encompassing primary, secondary, and tertiary formats delivered through a range of online and offline media — requires academic libraries to develop sophisticated and nuanced approaches to collection development, resource management, and user services. Second, the institutional frameworks established by the UGC, INFLIBNET, and the UGC Infonet E-Journal Consortium have substantially enhanced the accessibility of high-quality electronic resources in Indian universities, and their progressive extension to affiliated colleges represents a critical opportunity for improving scholarly information access in Eastern Uttar Pradesh. Third, the conflict between commercial publishing interests and open-access imperatives in the scholarly communication ecosystem poses fundamental challenges for the sustainability and equity of e-resource access — challenges that require the concerted engagement of scholars, universities, libraries, governments, and international organizations.

Finally, as Dr. S. R. Ranganathan memorably observed, "a library is a growing organism" — a knowledge centre, not merely a storehouse of books. In the twenty-first century, the realization of this vision requires that academic libraries in Eastern Uttar Pradesh develop the capacity not only to acquire electronic resources but to ensure that these resources are actively used, effectively understood, and equitably accessible to all members of their user communities. A library that merely acquires electronic resources without ensuring their effective utilization has fulfilled only the first and most elementary of its responsibilities. The deeper challenge — and the more important one — is to build the institutional, professional, and pedagogical infrastructure through which electronic resources can truly fulfil their transformative potential for academic life in the region.

REFERENCES

Amudavally, S. (1997). Electronic journals: Trends and developments. DESIDOC Bulletin of Information Technology, 17(3), 3–12.

Arora, J., & Trivedi, K. (2010). INDEST-AICTE Consortium: Present services and future endeavours. DESIDOC Journal of Library & Information Technology, 30(2), 79–91.

Barman, B. (2012). Library and information science: UGC NET guide (pp. 125–126). DVS Publishers.

Bhartia, R. K. (2001). Information and communication technology: Concepts and applications. Rawat Publications.

Bhat, I. (2009). Increasing the discovery and use of e-resources in university libraries. Paper presented at the 7th International CALIBER-2009, Pondicherry University, India.

The Chambers Dictionary. (1993). Allied Chambers India.

Elliot, J. (2001). Oxford dictionary and thesaurus (3rd ed., p. 544). Oxford University Press.

Encyclopedia of Library and Information Science. (1997). Encyclopedia of library and information science (Vol. 59). Marcel Dekker.

Girish Kumar, H., Vasant, R., & Praveen, J. K. (2005). Use of electronic resources by research scholars in CFTRI, Mysore: A study. ILA Bulletin, 41(3), 16–20.

Kamala Vijayan, K. (1998). Internet: An overview. DESIDOC Bulletin of Information Technology, 18(3), 3–10.

Kaur, N. (2007). E-resources and collection development: Emerging issues for the academic libraries. Paper presented at CALIBER 2007, Chandigarh, India.

Natrajan, M. (2007). Access in learning objects. In R. Sankara Reddy & H. Kumar (Eds.), E-libraries: Problems and perspectives. Allied Publishers.

Okello-Obura, C. (2010). Assessment of the problems LIS postgraduate students face in accessing e-resources in Makerere University, Uganda. Collection Building, 29(3), 98–105.

Qureshi, M. A., & Hasnain, S. I. (2000). INFLIBNET and its relevance for college libraries. University News, 38(12), 4–8.

Reitz, J. M. (2006). Dictionary for library and information science (p. 1958). Libraries Unlimited.

Sharma, C. K. (2005). Electronic information resources: Management and services. Ess Ess Publications.

University Grants Commission. (2004). UGC Infonet e-journal consortium: Programme guidelines. UGC-INFLIBNET Centre. http://www.inflibnet.ac.in

Webster's encyclopaedia unabridged dictionary of the English language. (1994). Gramercy Books.

Received: 20.11.2025 | Accepted: 15.12.2025 | Published: 30.12.2025

छायावाद में विद्रोह और व्यक्ति-स्वातंत्रय

डॉ. हेमराज डोगरा*

hemrajdogra122@gmail.com

आधुनिक हिंदी कविता के इतिहास में छायावादी कवियों के जीवन-दर्शन और स्वच्छंद दृष्टिकोण को यथार्थ जीवन से अलग करके समझा समझाया जाता है, जिसे इस काल की कविता की एक आलोचकीय विडंबना ही कहा जा सकता है। पंत, प्रसाद और निराला का काव्य इस धारणा का मुखर प्रतिवाद प्रस्तुत करता है। ये कवि सांस्कृतिक और प्राकृतिक यथार्थ को अपनी नित्य नवीन जीवन-दृष्टि के सहारे चित्रित और रूपायित कर रहे थे, ऐसा करके ये कवि छायावादी कविता के विरोधियों को यह बता रहे थे कि यथार्थोन्मुखी मूल्य-चेतना और जीवन-दृष्टि किसी बने-बनाए साँचे में ढली हुई वस्तु नहीं है। काव्य में सांस्कृतिक, प्राकृतिक और आध्यात्मिक अर्थ छवियों और प्रतीकों का प्रयोग करके छायावादी रचनाकार एक ओर तो हर प्रकार की रूढ़ियों का विरोध कर रहे थे, दूसरी ओर वे पराधीन भारत में रहते हुए ब्रिटिश तंत्र की साम्राज्यवादी नीतियों की आलोचना कर रहे थे। उस दौर के इन स्वच्छंदतावादी कवियों के अतिरिक्त और बहुत से कवि अपने काव्य में राष्ट्रीय और सांस्कृतिक भावधारा को जन-जन के बीच प्रसारित कर रहे थे, जिसमें बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', रामनरेश त्रिपाठी, मैथलीशरण गुप्त, सुभद्रा कुमारी चौहान और माखनलाल चतुर्वेदी का नाम उल्लेखनीय है। इन कवियों ने अपनी ओजपूर्ण वक्त्रित्व-कला के सहारे राष्ट्रीय चेतना का प्रसार अत्यंत सहज और सरस रूप में किया तथा स्वाधीनता संग्राम की पृष्ठभूमि में खड़ीबोली को व्यापक जन जागरण की काव्य-भाषा के रूप में प्रतिष्ठित किया। पराधीन भारत में सामाजिक-सांस्कृतिक और राष्ट्रीय स्वाधीनता की भाव-वस्तु को लेकर इन कवियों ने लोगों को जागरण का संदेश देते हुए संगठित सामाजिक शक्ति का महत्व समझाया, किंतु उस समय के स्वच्छंदतावादी कवि वैयक्तिक स्वातंत्रय के लिए अधिक आग्रहशील दिखाई देते हैं। वस्तुतः समूचा छायावादी काव्य वैयक्तिक विद्रोह की भावना से अनुप्राणित है, जिसमें कवि जीवन के प्रत्येक धरातल पर स्वतंत्रता प्राप्ति की अपनी तीव्र उत्कंठा व्यक्त करता है। वह स्वयं को हर प्रकार की सामाजिक-सांस्कृतिक, धार्मिक, साहित्यिक और नैतिक रूढ़ियों की जकड़न में जकड़ा हुआ पाता है। इसके अतिरिक्त उसकी एक परेशानी यह भी है कि वह स्वयं को अंग्रेजी राज के साम्राज्यवादी औपनिवेशिक विस्तार को देखने के लिए विवश है। वह भारत को गुलाम बनाए रखने वाली ब्रिटिश तंत्र की हर प्रकार की शोषणकारी और दमनकारी नीतियों के विरुद्ध है, लेकिन वह हर तरफ से चलने वाले इस अनवरत संघर्ष में खुद को नितांत असहाय और अकेला पाता है। छायावादी रचनाकार अपने वैयक्तिक स्वातंत्रय को विस्तार देने की कामना के उद्देश्य से प्राकृतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक प्रतीकों का सार्थक प्रयोग करते हुए अपने लिए एक नया संसार रचता है, जहां उसे वास्तविक सुख और आनंद की प्रतीति हो सके, जहां उसे अपने वैयक्तिक स्वातंत्रय के व्यापक विस्तार की भावना का सुखद अनुभव प्राप्त हो सके। प्रसाद, महादेवी, पंत और निराला अपने-अपने ढंग से वेदना, संत्रास और घुटन का अनुभव अत्यंत व्यापक स्तर पर करते हैं। प्रसाद इस वेदना का अनुभव करते हुए अपने प्रारंभिक खंड-काव्य 'आँसू' में स्पष्ट लिखते हैं-

"जो घनीभूत पीड़ा थी,
मस्तक में स्मृति-सी छाई
दुर्दिन में आँसू बन कर,
वह आज बरसने आयी।"[1]

वे अपने प्रारंभिक काव्य में अपनी वैयक्तिक प्रणय वेदना को सार्वभौमिक रूप में प्रतिष्ठित करके उसकी व्यापकता का दर्शन पहले ही करा चुके थे। सन् 1936-37 में 'कामायनी' के प्रकाशन तक प्रसाद दुःख, विरह और प्रेम की विभिन्न प्रतीतियों और अवस्थाओं को मानवीय भावना के स्तर पर प्रतिष्ठित करके उन सबकी दार्शनिक रूप योजना में अपनी ठोस मान्यताओं का प्रतिपादन कर चुके थे। हर प्रकार से परतंत्रता और वेदना की बेड़ियों में जकड़ा हुआ मनु का मन अपने निजी स्वातंत्रय और ममत्व की प्राप्ति के लिए तीव्र विद्रोह करने लगता है। प्रसाद उसकी अंतर्व्यथा का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक अंकन करते हुए लिखते हैं-

* **सहायक प्रोफ़ेसर, हिंदी एवं आधुनिक भारतीय भाषा विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज**

"यह जलन नहीं सह सकता मैं,
चाहिए मुझे मेरा ममत्व,
इस पंचभूत की रचना में
मैं रमण करूँ बन एक तत्व।"[2]

इसी प्रकार कवि श्री सुमित्रानंदन पंत अपनी पुस्तक 'छायावाद एक पुनर्मूल्यांकन' में छायावादी काव्य को 'नए युग मानस' की अभिव्यक्ति का काव्य बतलाते हैं, जिसका सीधा आशय यही निकलता है कि जीवन और काव्य के प्रत्येक विषय में इन कवियों की चिंताएं पहले के कवियों की तुलना में नितांत मौलिक और नई थी। यह नवीनता और मौलिकता इस बात में देखी जा सकती है कि उस युग का प्रत्येक स्वच्छंदतावादी कवि प्रकृति, प्रेम, नारी, समाज, मानवीय जीवन और काव्य के विषय में अपने विशिष्ट जीवन-बोध से परिचालित होता है। उसका इन सभी पहलुओं और आयामों को देखने समझने का नज़रिया ही एकदम नया है, जो उसे किसी भी प्रकार की रूढ़ परंपरा को स्वीकार करने से रोकता है तथा उसे विवेकसम्मत जीवन-दृष्टि प्रदान करता है।

छायावादी कवि मूलतः स्वच्छंद चेतना के कवि कहे जाते हैं, स्वच्छंदता और स्वतंत्रता के लिए निरंतर प्रयत्नशील मनुष्य स्वभावतः विद्रोही प्रकृति से बंधा होता है। फलतः विद्रोहमूलकता इन कवियों की अपनी विशिष्ट प्रकृति है, जिसे काव्य के क्षेत्र में भावात्मक जीवन-दर्शन का व्यापक आधार मिल जाता है। यहां जिस जीवन-बोध और दृष्टिकोण की बात हो रही है, उसका मूल स्रोत जीवन की भावात्मक प्रतिक्रियाओं में देखा जा सकता है। छायावादी काव्य भावात्मक जीवन-दर्शन से अनुप्रेरित है, विद्रोहमूलकता जिसकी पहली और अंतिम अनिवार्यता है। कवि अपने छोटे-से 'मैं' को व्यापकता प्रदान करने के लिए प्राकृतिक प्रतीकों और शब्द-चित्रों का प्रयोग करता है। वन, उपवन, नदी-नाले, पहाड़, पशु-पक्षी, वृक्ष, खेत-खलिहान, धरती-आकाश, और तरह-तरह के ऋतु-चित्र कवि के 'मैं' के दायरे को विस्तार देने के लिए ही समूचे छायावादी काव्य में प्रयुक्त हुए हैं। शायद ही किसी काल में ऐसी कविता लिखी गई हो, जिसमें प्रकृति, प्रेम या नारी के प्रति कवि की प्रतिक्रिया अभिव्यक्त न हुई हो। फिर छायावादी कवियों ने इन सबको अपने काव्य-सृजन के मूल में प्रतिष्ठित किया तो इसमें आश्चर्य की ऐसी कौन-सी बात है? तब इसमें ऐसा क्या है जिसे नया भी कहा जाए और मौलिक भी? वस्तुतः नवीनता और मौलिकता इस बात में नहीं है कि छायावादी कवियों ने प्रकृति, प्रेम और नारी संबंधी काव्य की रचना की है, अपितु वह इन कवियों के मानवीय दृष्टिकोण तथा विशिष्ट काव्य-बोध में अंतर्निहित है। महत्व इस बात में है कि इन कवियों ने इन सबको उस प्रकार से तो बिलकुल नहीं देखा, जिस प्रकार से पहले के कवि देखते-समझते रहे हैं।

छायावादी कवियों का यह वैयक्तिक विद्रोह अकारण नहीं है, उसमें केवल विद्रोह के लिए विद्रोह की भावना अंतर्निहित हो, ऐसा भी नहीं है। जब कवि अनंत-असीम के प्रति आकर्षित होकर अपनी जिज्ञासाओं और सहज अभिलाषाओं को अभिव्यक्ति प्रदान करता है, तब वह अपने वैयक्तिक स्वातंत्र्य को व्यापक और सार्वभौमिक बनाने की कोशिश कर रहा होता है। इस युग की कविता में वेदना, करुणा, संत्रास, विक्षोभ आदि भावनाओं के आधिक्य का आरोप प्रायः लगाया जाता है, किंतु कवि-व्यक्तित्व के भीतर इन सबकी भावात्मक प्रतिक्रियाओं का होना अपने-आप में पूर्णतः स्वाभाविक है। छायावादी कवि बड़े-बड़े घटना-चक्रों और जोखिमों को अपने रचनात्मक व्यक्तित्व में समेट सकने का पूरा सामर्थ्य रखता है, यह उसके कवि-व्यक्तित्व का अत्यंत व्यापक गम्भीर और उदारचेता होने का प्रमाण है। आधुनिक काल में सामंतवाद के स्तंभ टूट-टूटकर धराशाही होने लगे, उसकी जड़ें धीरे-धीरे निर्जीव और निष्प्राण होने लगी, तब पूंजीवादी सभ्यता ने उसके बचे-कुचे ध्वंसावशेषों को पूर्णतः अपदस्त करके अपनी औपनिवेशिक और साम्राज्यवादी वर्चस्व भावना का प्रसार किया। यह एक नई संस्कृति और सभ्यता थी, जिसने पहले-पहल अनेक पश्चिमी देशों में विविध प्रकार से स्वयं को प्रतिष्ठित और विस्तारित किया। इसके बाद भारत में 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध और 20वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में अपनी-अपनी अंतर्राष्ट्रीय सोद्देश्यता और शक्ति-सामर्थ्य के विस्तार की भावना से इस लोकतांत्रिक तथा औद्योगिक मानवीय सभ्यता ने समूचे भारत को अपने प्रभाव-वृत्त में खींच लिया। पूंजीवाद ने समूह या समुदाय के स्थान पर व्यक्ति और उसकी निजी इच्छाओं, संबंधों और समस्याओं को केंद्रीय प्रतिष्ठा प्रदान की। परिणामतः व्यक्ति स्वयं को जानने-समझने और पहचानने के लिए अत्यंत उत्सुक और व्यग्र हो उठा। वह अपनी पहचान और अस्तित्व-बोध को अर्जित करने के लिए अपने भीतर नई-नई जिज्ञासाओं तथा अंतःप्रेरणाओं का स्फुरण अनुभव करने लगा। वह प्रकृति की विभिन्न प्रकार की गतिविधियों और क्रियात्मक संचरणों में अपनी ओर खींच लेने वाला एक सुखद रहस्यमयी सम्मोहन अनुभव करने लगा। कवि श्री सुमित्रानंदन पंत को 'पल्लव', 'ग्रंथी', 'वीणा' की

प्रारंभिक कविताओं में इस प्रकार की भाव-तन्मयता, रहस्यमयता, प्रश्नाकुलता तथा सहज आकर्षण-वृत्ति के मनोहारी चित्र सर्वाधिक दिखाई देते हैं। जैसे-

"प्रथम रश्मि का आना रंगिणी! तूने कैसे पहचाना?
कहाँ-कहाँ हे बाल विहंगिनी! पाया तूने यह गाना?"

तो उनकी कविता का बहुउद्धृत काव्य-कथन है। इस संदर्भ में उनकी प्रसिद्ध कविता 'मौन-निमंत्रण' का एक पद दिया जा रहा है-

"स्तब्ध ज्योत्स्ना में जब संसार,
चकित रहता शिशु-सा नादान,
विश्व की पलकों पर सुकुमार
विचरते हैं जब स्वप्न अजान,
न जाने नक्षत्रों से कौन
निमंत्रण देता मुझको मौन?
सघन मेघों का भीमाकाश
गरजता है जब तमसाकार,
दीर्घ भरता समीर निःश्वाँस
प्रखर झरती जब पावस धार,
न जाने तपक तड़ित में कौन
मुझे इंगित करता तब मौन?"[3]

इसी प्रकार प्रसाद के 'झरना', 'प्रेम पथिक' और 'लहर' के दर्जनों गीत प्रकृति और जीवन में दिखाई पड़ने वाली स्पंदनशील जीवंत चेतना के प्रति अपने अंतर्मन में उठने वाली रहस्यात्मक प्रेरणाओं, लालसाओं और तरह-तरह की जिज्ञासाओं को अभिव्यक्त करते हुए उसकी व्यापक सौंदर्यसत्ता में अपनी आस्था व्यक्त करते हैं। उनके 'लहर' काव्य-संग्रह की पहली कविता 'उठ उठ री लघु लघु लोल लहर' का आरंभ ही प्रकृति के प्रति होने वाली सहज आकर्षण भावना से होता है। वे प्रकृति की हलचलों को अंतर्मन की हलचलों से अभिन्न मानकर उनमें आंतरिक आह्लाद तथा भावनात्मक अनुरक्ति का अनुभव करते हैं। यथा—

"उठ-उठ गिर-गिर फिर-फिर आती,
नर्तित पद चिन्ह बना जाती,
सिक्ता की रेखाएं उभार-
भर जाती अपनी तरल-सिंहर!"[4]

इसी प्रकार अपने इसी गीत-संग्रह में वे एक स्थान पर लिखते हैं—

"ले चल वहां भुलावा देकर,
मेरे नाविक! धीरे-धीरे।
जिस निर्जन में सागर लहरी,
अम्बर के कानों में गहरी-
निश्छल प्रेम कथा कहती हो,
तज कोलाहल की अवनि रे!"[5]

प्रसाद तथा उनके अन्य समकालीन कवियों की इस तरह की कविताओं के साथ हिंदी आलोचना में न्याय नहीं हो सका। छायावाद के विरोधी साहित्य समीक्षकों ने इस ढंग की कविताओं पर तरह-तरह के मनमाने आरोप लगाए, जिसका परिणाम यह हुआ कि छायावाद रहस्य, रोमांस, आदर्श, पलायन तथा काल्पनिक वाग्विलास का काव्य होकर रह गया, और साथ ही उसकी गतिशील साहित्यिक और सांस्कृतिक प्रवृत्तियों के प्रगतिशील पहलुओं की उपेक्षा हो गई। इसे हिंदी आलोचना की अत्यंत विकृत और अस्वस्थ वृत्ति का परिचायक माना जाना चाहिए, जो आगे चलकर प्रयोगवाद और नई कविता के काल में अधिकाधिक विस्तार पाती गई है। उपरोक्त उद्धरण में निर्जन, निश्छल और कोलाहल जैसे शब्द अनायास ही हमारा ध्यान खींच लेते हैं। इनसे कविता के परिपार्श्वगत सामाजिक संदर्भ तो उद्घाटित होते ही हैं, अपितु कवि के अंतर्मन में उठने वाली तीव्र उत्कंठा तथा नए सौंदर्य लोक की कामना का रहस्य भी उजागर होने लगता है। कवि जिस परिवेश में यह

आकांक्षा व्यक्त करता है, वह परिवेश पूर्णतः जनाकीर्ण, भीड़भाड़ और घुटन से भरा हुआ है। उस परिवेश में छल-कपट, धोखा, अन्याय और अत्याचार अंतर्व्याप्त है। वह कोलाहलयुक्त दमघोटू परिवेश है, जिससे पूर्णतः खीझकर और उक्ताकर कवि उस निर्जन में जाना चाहता है, जहां वह समुद्र की उठती-गिरती हुई लहरियों का आसमान से होने वाला निश्छल प्रेम संवाद सुन सके। यह प्रकृति के माध्यम से मनुष्य-मनुष्य के बीच होने वाले स्वाभाविक प्रेम की प्रतिष्ठा का प्रयास है, जहां पहुँचकर प्रेम को उसका व्यापक और उद्दात्त गम्भीर रूप प्राप्त होता है। निराला ने तो अपनी कविता 'जूही की कली' 1916 से लेकर अपने स्वतंत्र काव्य-संग्रहों में प्रकाशित होने वाली कविताओं तक ऐसी अनेक भावनाओं को व्यक्त किया है। उनके 'अनामिका' और 'परिमल' काव्य-संग्रहों में ऐसी कविताएं बहुतायत रूप में हैं। उदाहरण के तौर पर उनकी छः पद्य-खंडों वाली कविता 'बादल राग' को देखा जा सकता है। वे बादल को संबोधित करते हुए अपनी व्याकुलता तथा सहज आकर्षण वृत्ति को इस तरह व्यक्त करते हैं-

"झूम-झूम मृदु गरज-गरज घनघोर;
राग अमर अम्बर में भर निज रोर।
अरे! वर्ष के हर्ष,
बरस तू बरस-बरस रसधार,
पार ले चल तू मुझको,
बहा, दिखा मुझको भी निज गर्जन गौरव संसार।
उथल-पुथल कर हृदय, मचा हलचल
चल रे चल मेरे पागल बादल!
धँसता है दल दल, हँसता है नद खलखल,
बहता कहता कुल-कुल कल-कल,
देख-देख नाचता हृदय, बहने को महाविकल बेकल,
इस मरोर से इसी शोर से सघन घोर गुरु गहन रोर से
मुझे गगन का दिखा सघन वह छोर,
राग अमर अम्बर में भर निज रोर।"[6]

निष्कर्ष :-

इसी प्रकार महादेवी वर्मा वसंत-रजनी का आह्वान करती हुई कहती हैं कि 'धीरे-धीरे उतर क्षितिज से आ वसंत रजनी'। यहां वसंत के संदर्भ में निराला के उस अभिकथन का स्मरण हो आता है, जिसमें वे स्वयं को 'वसंत का अग्रदूत' कहते हैं। छायावाद निश्चय ही नए युग-मानस की अभिव्यक्ति का काव्य है, जिसमें प्राकृतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक यथार्थ का अंकन पूरी सहृदयता और संवेदनशीलता के साथ हुआ है। पूंजीवाद से उत्पन्न वैयक्तिक स्वातंत्र्य की भावना ने इस काव्य आंदोलन की मूल वृत्ति विद्रोहमूलकता को जन्म दिया है। फलतः यह सामाजिक संगठन की नहीं, अपितु वैयक्तिक विद्रोह की अभिव्यक्ति का काव्य है। यह विद्रोह काव्य में भावात्मक अंतर्दृष्टि का आधार लेकर विकसित हुआ है, जिसमें व्यक्ति की संपूर्ण अस्तित्वगत सत्ता स्वीकार की गई है। कवि अपने छोटे-से 'मैं' को अनंत तथा सीमातीत विस्तार देने की आकांक्षा से प्रेरित होता हुआ दीख पड़ता है। प्रकृति, प्रेम, नारी चित्रण, रहस्योद्घाटन, आदर्श-भावना, राष्ट्रीय चेतना, चित्रमयता, काल्पनिकता, बिम्बात्मकता, गेयता, नाद-सौंदर्यप्रियता आदि इस काव्य की आनुशंगिक प्रवृत्तियों के तौर पर विकसित हुई हैं, जिनका मुख्य प्रयोजन व्यक्ति-स्वातंत्र्य की प्रबल कामना से उद्भूत विद्रोहात्मक चेतना को गति प्रदान करना है।

संदर्भ:-

[1] जयशंकर प्रसाद ग्रंथावली भाग-2- सं ओमप्रकाश सिंह, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2014, पृ. 7
[2] जयशंकर प्रसाद ग्रंथावली भाग-2- सं ओमप्रकाश सिंह, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2014, पृ. 167
[3] पल्लव- सुमित्रानंदन पंत, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 9वां संस्करण 1993, आवृत्ति-2011, पृ. 85
[4] जयशंकर प्रसाद ग्रंथावली भाग-1- सं ओमप्रकाश सिंह, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2014, पृ. 290
[5] जयशंकर प्रसाद ग्रंथावली भाग-1- सं ओमप्रकाश सिंह, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2014, पृ. 298
[6] राग विराग, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'- सं रामविलास शर्मा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2011, पृ. 54

Received: 21.11.2025 | Accepted: 15.12.2025 | Published: 30.12.2025

जयशंकर प्रसाद के साहित्य में राष्ट्रीयता और सांस्कृतिक चेतना: एक ऐतिहासिक अनुशीलन

कुणाल कुमार*
Kunal7456@gmail.com

प्रो. (डॉ.) राजेश कुमार नायक†
शोध-निर्देशक

शोध-सार (Abstract)

प्रस्तुत शोध-पत्र आधुनिक हिंदी साहित्य और छायावादी काव्य-धारा के प्रमुख स्तंभ जयशंकर प्रसाद (1889–1937) के संपूर्ण साहित्य में अंतर्निहित राष्ट्रीयता तथा सांस्कृतिक चेतना का एक ऐतिहासिक एवं विश्लेषणात्मक अनुशीलन प्रस्तुत करता है। बीसवीं शताब्दी के प्रथम तीन दशकों में, जब भारत ब्रिटिश औपनिवेशिक सत्ता के विरुद्ध अपने स्वतंत्रता संग्राम के एक निर्णायक और संक्रमणकालीन दौर से गुजर रहा था, तब जयशंकर प्रसाद ने साहित्य को राष्ट्रीय पुनर्जागरण का सशक्त माध्यम बनाया। प्रसाद जी की राष्ट्रीयता का स्वरूप केवल तात्कालिक राजनीतिक नारों तक सीमित न होकर, भारत की कालजयी सांस्कृतिक जड़ों, दार्शनिक मान्यताओं तथा ऐतिहासिक औदात्य से सिंचित है।

इस शोध-पत्र में ऐतिहासिक पद्धति और पाठ-विश्लेषण का उपयोग करते हुए यह प्रतिपादित किया गया है कि प्रसाद जी ने मौर्य, गुप्त और वर्धन काल के स्वर्णिम इतिहास को माध्यम बनाकर वर्तमान की पराधीनता, हताशा और हीनता-बोध को नष्ट करने का युगीन कार्य किया। उनके नाटकों ('चंद्रगुप्त', 'स्कंदगुप्त', 'ध्रुवस्वामिनी'), महाकाव्य ('कामायनी'), और कविताओं ('लहर', 'आँसू') में अभिव्यक्त राष्ट्र-प्रेम संकुचित राष्ट्रवाद से परे 'वसुधैव कुटुंबकम्' और मानवतावादी आनंदवाद पर आधारित है।

बीज शब्द (Keywords): *जयशंकर प्रसाद, राष्ट्रीयता, सांस्कृतिक चेतना, ऐतिहासिक अनुशीलन, छायावाद, पुनर्जागरण, कामायनी, चंद्रगुप्त, प्रत्यभिज्ञा दर्शन।*

प्रस्तावना (Introduction)

हिंदी साहित्य के आधुनिक काल में छायावाद केवल शिल्प या शैलीगत परिवर्तन का नाम नहीं था, बल्कि वह मूलतः भारत के द्वितीय सांस्कृतिक पुनर्जागरण की काव्यात्मक और साहित्यिक अभिव्यक्ति था। बीसवीं सदी के आरंभिक दशकों में एक तरफ ब्रिटिश साम्राज्यवाद का राजनीतिक व आर्थिक शोषण अपने चरम पर था, तो दूसरी तरफ पश्चिमी औपनिवेशिक शिक्षा-नीति के प्रभाव से भारतीय मानस में सांस्कृतिक हीनता-बोध गहराई से रोपा जा रहा था। ऐसे संकटपूर्ण ऐतिहासिक मोड़ पर जयशंकर प्रसाद का प्रादुर्भाव एक युगप्रवर्तक घटना के रूप में हुआ। प्रसाद जी केवल एक भावुक कवि ही नहीं थे, अपितु वे एक प्रखर इतिहासकार, दार्शनिक, नाटककार और निबंधकार थे। काशी की समृद्ध साहित्यिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में पले-बढ़े प्रसाद जी ने अपनी रचनाओं के माध्यम से पराधीन भारत को उसकी खोई हुई सांस्कृतिक चेतना और स्वाभिमान का अहसास कराया। उनका साहित्य तात्कालिक राजनीतिक समस्याओं के समाधान के साथ-साथ भारतीय राष्ट्र के स्थायी सांस्कृतिक ढाँचे की पुनर्रचना करता है।

प्रसाद के साहित्य में राष्ट्रीयता और संस्कृति दो अलग-अलग घटक नहीं हैं; वे एक-दूसरे के पूरक हैं। उनकी राष्ट्रीयता सांस्कृतिक बोध से शक्ति प्राप्त करती है और उनकी सांस्कृतिक चेतना अंततः एक मजबूत, स्वाभिमानी और विश्व-

* शोधार्थी, इतिहास विभाग, जयप्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा

† शोध-निर्देशक, इतिहास विभाग, जयप्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा

बंधुत्व की भावना से युक्त राष्ट्र के निर्माण की ओर अग्रसर होती है। प्रस्तुत अध्ययन का मुख्य उद्देश्य प्रसाद साहित्य में निहित इन्हीं दो प्रमुख धाराओं का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में विषद और विशद अनुशीलन करना है।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और युगीन संदर्भ

किसी भी साहित्यकार के चिंतन को उसके युग की ऐतिहासिक और सामाजिक परिस्थितियों से अलग करके नहीं समझा जा सकता। जयशंकर प्रसाद का रचना-काल (1909 से 1937) भारतीय इतिहास का अत्यंत उद्वेलित करने वाला कालखंड था। प्रसाद जी ने यह गहराई से समझा कि यदि किसी जाति को अपनी स्वाधीनता की लड़ाई जीतनी है, तो उसे सबसे पहले अपने इतिहास और संस्कृति पर गर्व करना सीखना होगा। उन्होंने महसूस किया कि वर्तमान की निराशा को दूर करने के लिए अतीत के प्रदीप्त अध्यायों का पुनराख्यान आवश्यक है। इसीलिए उन्होंने अपने नाटकों और काव्यों के लिए भारत के उस इतिहास को चुना जब देश ने बाह्य आक्रांताओं (यवन, शक, हूण) को परास्त किया था और सांस्कृतिक रूप से अपने चरमोत्कर्ष पर था।[1]

अतः उपरोक्त प्रकार की परिस्थितियां जयशंकर प्रसाद के जीवन के समानांतर भी विद्यमान थी। जब उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध और बीसवीं सदी के प्रारंभ में ब्रिटिश शासन ने भारत पर अपनी पकड़ मजबूत करने के लिए न केवल राजनीतिक और प्रशासनिक नियंत्रण स्थापित किया, बल्कि भारतीय इतिहास और संस्कृति का विकृतीकरण भी किया। मैकाले की शिक्षा-नीति और औपनिवेशिक इतिहासकारों के लेखन का मुख्य उद्देश्य यह साबित करना था कि भारत कभी एक एकीकृत राष्ट्र नहीं रहा और यहाँ के निवासियों में शासन करने या स्वयं की रक्षा करने की क्षमता नहीं है।[2]

इसी कालखंड में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नेतृत्व में स्वतंत्रता आंदोलन विभिन्न चरणों—उदारवादी, उग्रवादी, असहयोग आंदोलन (1920-22), और सविनय अवज्ञा आंदोलन (1930)—से गुजर रहा था।[3] स्वामी विवेकानंद, दयानंद सरस्वती, बाल गंगाधर तिलक और महात्मा गांधी के विचारों ने संपूर्ण देश को आंदोलित कर रखा था। प्रसाद जी इस राजनैतिक और सामाजिक उथल-पुथल से भली-भाँति परिचित थे।

प्रसाद के साहित्य में राष्ट्रीयता का स्वरूप एवं आयाम

जयशंकर प्रसाद के साहित्य में राष्ट्रीयता का जो रूप उभरकर आता है, वह अत्यंत व्यापक, बहुआयामी और विशद है। उन्होंने राष्ट्र को केवल एक राजनीतिक या भौगोलिक इकाई नहीं माना, बल्कि उसे एक सजीव, सांस्कृतिक और नैतिक सत्ता के रूप में देखा।

अतीत का गौरवगान और आत्म-स्वाभिमान: प्रसाद जी की राष्ट्रीयता की पहली और सबसे प्रमुख विशेषता है—अतीत का पुनरुत्थान। लेकिन यह अतीत-प्रेम केवल पलायनवाद नहीं है। वे अतीत में शरण लेने के लिए नहीं, बल्कि वर्तमान के संघर्षों के लिए ऊर्जा और प्रेरणा प्राप्त करने के लिए इतिहास की ओर लौटते हैं।[4]

इतिहास का चयन: प्रसाद जी ने मौर्य काल (चंद्रगुप्त), गुप्त काल (स्कंदगुप्त, ध्रुवस्वामिनी) और वर्धन काल (राज्यश्री) को अपने नाटकों का केंद्र बनाया। ये कालखंड भारतीय इतिहास में राजनीतिक एकीकरण और सांस्कृतिक पुनर्जागरण के प्रतीक थे।

वर्तमान को संदेश: जब वे स्कंदगुप्त में हूणों के आक्रमण से देश की रक्षा का वर्णन करते हैं, तो वास्तव में वे अपने समय के भारतीयों को ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ एकजुट होने का संदेश दे रहे होते हैं। जयशंकर प्रसाद की रचनाओं में मातृभूमि के प्रति अनन्य अनुराग एवं राष्ट्र प्रेम की झलक दिखाई देती है। प्रसाद के नाटकों में बिखरे हुए राष्ट्रीय गीत भारतीय साहित्य की अमूल्य निधि हैं। ये गीत केवल कविताएँ नहीं हैं, बल्कि राष्ट्र-भक्ति के महामंत्र हैं।

'चंद्रगुप्त' नाटक का सुप्रसिद्ध गीत: यूनानी राजकुमारी कर्नेलिया के मुख से प्रसाद जी भारत की प्राकृतिक और सांस्कृतिक सुषमा का वर्णन जिस रूप में करवाते हैं, वह अद्वितीय है:

"अरुण यह मधुमय देश हमारा।
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा"

यह गीत भारत को एक ऐसे देश के रूप में चित्रित करता है जो विश्व भर के आश्रयहीनों को शरण देता है। यहाँ राष्ट्रीयता सीमाओं में बंधी हुई नहीं है, बल्कि उसमें करुणा और उदारता का समावेश है।

स्वाधीनता का आह्वान और क्रांति-चेतना: प्रसाद के नाटकों के राष्ट्रीय पात्र ओजस्वी भाषणों और प्रयाण-गीतों के माध्यम से देशवासियों में स्वतंत्रता की ज्वाला प्रज्ज्वलित करते हैं।[5] **'हिमाद्रि तुंग शृंग से...'** शीर्षक से गया जाने वाला गीत एक प्रयाण गीत है। चंद्रगुप्त नाटक में अलका द्वारा गाया जाने वाला यह गीत भारतीय स्वाधीनता संग्राम का राष्ट्रगान बन गया था :

हिमाद्रि तुंग शृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती
स्वयं प्रभा समुज्ज्वला स्वतंत्रता पुकारती
अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़ प्रतिज्ञ सोच लो,
प्रशस्त पुण्य पंथ है, बढ़े चलो, बढ़े चलो"[6]

सांस्कृतिक चेतना के दार्शनिक एवं सामाजिक आयाम

जयशंकर प्रसाद की सांस्कृतिक चेतना का धरातल अत्यंत गहरा है। वे भारतीय दर्शन, धर्म, कला और जीवन-मूल्यों के निष्णात अध्येता थे।[7] उनकी रचनाओं में संपूर्ण भारत का प्रतिनिधित्व परिलक्षित होता है। वे कश्मीर के शैव दर्शन और समस्तावादी आनंदवाद पर भी अपनी अंतर्दृष्टि प्रदान करते हैं। क्योंकि उन पर उपनिषदों, वेदांत और विशेष रूप से कश्मीर के 'प्रत्यभिज्ञा दर्शन' (शैव दर्शन) का गहरा प्रभाव था। उनके महाकाव्य 'कामायनी' में यह दर्शन अपने पूर्ण परिपक्व स्वरुप में प्रकट हुआ है।

ज्ञान, इच्छा और क्रिया का समन्वय: कामायनी में मनु (मन), श्रद्धा (हृदय/भावना) और इड़ा (बुद्धि/तर्क) के द्वंद्व के माध्यम से प्रसाद जी ने दिखाया है कि जब तक मानव जीवन में ज्ञान, इच्छा और क्रिया का सामंजस्य नहीं होगा, तब तक शांति और आनंद की प्राप्ति असंभव है। इस बात की झलक उनकी निम्न अंकित पंक्तियों में दिखाई देती है -

"ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है, इच्छा क्यों पूरी हो मन की।
एक दूसरे से न मिल सके, यह विडंबना है जीवन की"

सर्वाकल्याण और 'वसुधैव कुटुंबकम्' की भावना : प्रसाद जी की राष्ट्रीयता कभी भी उग्र या अन्य राष्ट्रों के प्रति विद्वेष फैलाने वाली नहीं रही। उनकी सांस्कृतिक चेतना का अंतिम लक्ष्य 'विश्व-मानवतावाद' है।[8]

'कामायनी' में संदेश: श्रद्धा मनु को केवल अपने स्वार्थ या अपने परिवार तक सीमित न रहकर संपूर्ण सृष्टि के कल्याण में रत होने का उपदेश देती है। प्रसाद जी के इस सन्देश को उनके द्वारा लिखी गयी निम्नलिखित पंक्तियों के माध्यम से समझा जा सकता है -

"औरों को हँसते देखो मनु, हँसो और सुख पाओ।
अपने सुख को विस्तृत कर लो, सब को सुखी बनाओ"[9]

नारी-चेतना और मानवीय गरिमा का पुरुत्थान : भारतीय संस्कृति में नारी के प्रति गरिमामय और पूज्य दृष्टिकोण रहा है, जिसे मध्यकाल में सामंती और बर्बर प्रवृत्तियों ने आघात पहुँचाया। प्रसाद जी ने अपने काव्य और नाटकों में नारी को शक्ति, त्याग, करुणा और प्रेरणा की प्रतिमूर्ति के रूप में पुनर्स्थापित किया। 'कामायनी' में रचित श्रद्धा का स्वरूप है -

"नारी! तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास-रजत-नग-पग-तल में।
पीयूष-स्रोती सी बहा करो, जीवन के सुंदर समतल में"[10]

'ध्रुवस्वामिनी' में नारी-मुक्ति का प्रश्न: अपने ऐतिहासिक नाटक ध्रुवस्वामिनी में प्रसाद जी ने नारी के आत्मसम्मान, कायर पति से तलाक/मुक्ति और पुनर्विवाह के मुद्दे को उठाकर तत्कालीन कट्टरपंथी सामाजिक मर्यादाओं को चुनौती दी।

नाट्य-साहित्य में ऐतिहासिक अनुशीलन

जयशंकर प्रसाद के नाटक केवल रंगमंचीय कृतियाँ नहीं हैं, बल्कि वे भारतीय इतिहास के माध्यम से रचे गए राष्ट्रीय-सांस्कृतिक पुनर्निर्माण के दस्तावेज हैं। इन नाटकों के माध्यम से हम उसके इतिहास पृष्ठभूमि और उसके द्वारा दिए जा रहे मूल राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक संदेशों को एक संदर्भ सहित देखेंगे।

- चंद्रगुप्त नाटक में सिकंदर के आक्रमण और मौर्य साम्राज्य की स्थापना के कालखंड को चित्रित किया गया है। साथ ही नाटक चंद्रगुप्त के माध्यम से मौर्य काल के अंतर्गत जब सिकंदर व सेल्यूकस का आक्रमण हुआ तो बाह्य आक्रांताओं से रक्षा की गई। साथ ही भारत का राजनीतिक एकीकरण हुआ एवं चाणक्य नीति का प्रदुर्भाव भी हुआ। इसमे चाणक्य के चरित्र का पता चलता है कि चाणक्य केवल प्रतिशोध लेने वाला ब्राह्मण नहीं है, बल्कि वह एक ऐसा राष्ट्र-निर्माता है जो छोटे-छोटे राज्यों में बँटे भारत को एक केंद्रीय शक्ति के नीचे संगठित करना चाहता है।[11]

- नाटक स्कंद गुप्त के माध्यम से यह दिखाया गया है कि जब हूणों का बर्बर आक्रमण हुआ तो स्कन्दगुप्त द्वारा हूणों के आक्रमण से देश की रक्षा हुई। स्कंदगुप्त में आंतरिक गृह-कलह और बाहरी हूण आक्रमणों के बीच जूझते हुए एक राष्ट्र-नायक की त्रासदी और उसके शौर्य को दर्शाया गया है। अतः स्कंदगुप्त का जीवन त्याग का पर्याय है। वह कहता है—"अधिकार-सुख कितना मादक और सारहीन होता है। " साथ ही इसमें आत्मत्याग, निष्काम कर्तव्य और राष्ट्रप्रेम का प्रदर्शन किया गया।[12]

- नाटक ध्रुवस्वामिनी में गुप्तोत्तर काल के अंतर्गत राम गुप्त व शकराज का संघर्ष दिखाया गया। यह नाटक गुप्त वंश के रामगुप्त और चंद्रगुप्त के कालखंड पर आधारित है। रामगुप्त जैसा क्लीव (कायर) और विलासी शासक अपनी रक्षा के लिए अपनी पत्नी ध्रुवस्वामिनी को शकराज को सौंपने के लिए तैयार हो जाता है। इसमें नारी-स्वाभिमान, कायर शासन का विरोध, राजनीतिक पुनर्गठन और सामाजिक क्रांति का प्रदर्शन किया गया।

- नाटक अजातशत्रु के माध्यम से मगध कौशल का प्राचीन इतिहास बोध दिखाई देता है और वैदिक संस्कृति का समन्वय तथा अहिंसा, करुणा तथा शांति का संदेश भी प्राप्त होता है। इसी प्रकार एक नाटक में पर्णदत्त का कथन भी काफी प्रसिद्धयाँ प्राप्त करता है। वास्तव में यह कथन तत्कालीन सोए हुए भारतीयों के लिए चेतावनी था—"देश की दुर्दशा देखते हुए भी जिसे नींद आए, वह पुरुष नहीं है।"

राजनीतिक चेतना: प्रसाद जी यहाँ यह स्पष्ट करते हैं कि जो राजा अपनी प्रजा और राष्ट्र के सम्मान की रक्षा नहीं कर सकता, उसे पद पर बने रहने का कोई अधिकार नहीं है।[13] प्रसाद जी का राजनीतिक दृष्टिकोण अतीत से प्रेरणा प्राप्त कर वर्तमान को मार्गदर्शन प्रदान करने का कार्य करता है।

काव्य-साहित्य में राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक चेतना

प्रसाद जी का काव्य उनके गहन दार्शनिक और सांस्कृतिक अनुभवों का निचोड़ है। 'लहर' की ऐतिहासिक और राष्ट्रीय कविताओं में प्रसाद जी की कुछ अत्यंत प्रभावशाली राष्ट्रीय कविताएँ संकलित हैं। 'पेशोला की प्रति ध्वनि' जयशंकर प्रसाद द्वारा रचित एक प्रख्यात काव्य है। उदयपुर की पिछोला झील की पृष्ठभूमि में रचित यह कविता महाराणा प्रताप के शौर्य का स्मरण दिलाती है और तत्कालीन पराधीन भारत से प्रश्न करती है:-

"कौन लेगा भार यह?
कौन खींचेगा तीर?
इस विषम समर में..."[14]

'कामायनी',भारतीय सांस्कृतिक चेतना का आधुनिक महाकाव्य: कामायनी आधुनिक हिंदी साहित्य का सर्वोत्कृष्ट महाकाव्य है। इसमे औद्योगिक सभ्यता की आलोचना मिलती है। जिसके तहत कहा गया है कि 'सारस्वत् प्रदेश' में इड़ा के नेतृत्व में विकसित होने वाली सभ्यता आधुनिक यांत्रिक, भौतिकवादी और शोषक सभ्यता का प्रतीक है। प्रसाद जी दिखाते हैं कि केवल बुद्धिवाद और विज्ञान पर आधारित सभ्यता का अंत वर्ग-संघर्ष और विनाश में होता है।

आनंदवाद की स्थापना: कामायनी का अंतिम सर्ग 'आनंद' भारतीय संस्कृति के उस चिरंतन सत्य की प्रतिष्ठा करता है जहाँ व्यक्ति और समाज, ज्ञान और कर्म, भौतिकता और अध्यात्म का सुंदर सामंजस्य होता है।

प्रसाद की राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक चेतना का मूल्यांकन एवं प्रासंगिकता

जयशंकर प्रसाद की राष्ट्रीयता और सांस्कृतिक चेतना का मूल्यांकन करते समय निम्नलिखित तथ्य उभरकर सामने आते हैं:

इतिहास-दृष्टि का वैज्ञानिकता से मेल: प्रसाद जी ने इतिहास को केवल बीती हुई कहानियों के रूप में नहीं देखा। उन्होंने इतिहास की पुनर्व्याख्या की और उसमें से उन तत्त्वों को चुना जो आधुनिक भारत के निर्माण में सहायक हो सकते थे।[15]

संस्कृति और राजनीति का समन्वय: वे जानते थे कि केवल राजनीतिक स्वराज्य पर्याप्त नहीं है; जब तक देश अपनी सांस्कृतिक पहचान नहीं प्राप्त कर लेता, तब तक सच्ची स्वतंत्रता संभव नहीं है।

साम्यवाद और पूंजीवाद से परे मध्य मार्ग: कामायनी में प्रसाद जी ने जिस समरसता का सिद्धांत दिया, वह आज के उपभोक्तावादी और अति-भौतिकवादी युग में भी उतना ही प्रासंगिक है।

विश्व-मानवतावाद: उनकी राष्ट्रीयता संकीर्ण राष्ट्रवाद से मुक्त थी। वह भारत को समृद्ध देखना चाहते थे ताकि भारत पूरे विश्व को शांति, अहिंसा और प्रेम का मार्ग दिखा सके।

निष्कर्ष (Conclusion)

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि जयशंकर प्रसाद का साहित्य बीसवीं सदी के भारतीय राष्ट्रीय पुनर्जागरण का सबसे प्रामाणिक, भव्य और दार्शनिक आख्यान है। ब्रिटिश औपनिवेशिक काल के उस दुर्दांत दौर में, जब भारतीय जनमानस अपनी पहचान खो रहा था, प्रसाद जी ने अपने नाटकों, काव्यों और विचारों के माध्यम से समाज में स्वाभिमान, देशभक्ति और सांस्कृतिक गौरव की नई चेतना का संचार किया। प्रसाद की राष्ट्रीयता का आधार केवल सीमाओं की रक्षा तक सीमित नहीं था; उसका आधार भारतीय दर्शन का 'प्रत्यभिज्ञा दर्शन', उपनिषदों का 'सर्वजन हिताय', और इतिहास का 'वीरतापूर्ण औदात्य' था। उन्होंने अतीत के मलबे से ऐसे शाश्वत जीवन-मूल्य निकाले जो वर्तमान की पराधीनता को काटने और भविष्य के स्वतंत्र भारत को दिशा देने में सक्षम थे। आज के इक्कीसवीं सदी के दौर में, जब वैश्वीकरण और पश्चिमीकरण के कारण सांस्कृतिक पहचान का संकट पुनः गहरा रहा है, जयशंकर प्रसाद का साहित्य और उनकी सांस्कृतिक-राष्ट्रीय दृष्टि पहले से कहीं अधिक प्रासंगिक और मार्गदर्शक सिद्ध होती है। वे केवल अपने काल के कवि या नाटककार नहीं थे, बल्कि वे आधुनिक भारत के एक महान युगीन दार्शनिक और सांस्कृतिक राष्ट्र-निर्माता थे।

संदर्भ

1. शुक्ल, रामचंद्र, *हिंदी साहित्य का इतिहास,* नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, 1940, पृ. 338–350.
2. शर्मा, रामविलास, *परंपरा का मूल्यांकन,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1968, पृ. 78–98.
3. द्विवेदी, हजारीप्रसाद, *हिंदी साहित्य उद्भव और विकास,* राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1952, पृ. 165–178.
4. चतुर्वेदी, रामस्वरूप, *हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास,* लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1986, पृ. 120–142.
5. नगेंद्र, डॉ. (संपादक), *हिंदी साहित्य का इतिहास,* नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1973, पृ. 505–525.
6. प्रसाद, जयशंकर, *चन्द्रगुप्त*, प्रसाद संस्थान, वाराणसी,1931 पृ. 20.
7. मिश्र, विद्यानिवास, *भारतीय संस्कृति के आधार स्तंभ,* नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, 1990, पृ. 88–105.
8. नामवर सिंह, *छायावाद,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1971, पृ. 58.
9. प्रसाद, जयशंकर, *कामायनी,* प्रसाद संस्थान, वाराणसी, 1935, पृ. 45.
10. वर्मा, महादेवी, *साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबंध,* भारती भंडार, इलाहाबाद, 1956, पृ. 68–88.
11. राय, रामरतन, *जयशंकर प्रसाद का नाट्य साहित्य सांस्कृतिक अध्ययन,* अध्ययन वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1995, पृ. 70.
12. प्रसाद, जयशंकर, *स्कन्दगुप्त*, प्रसाद संस्थान, वाराणसी, 1928 पृ. 10-12
13. प्रसाद जयशंकर, *ध्रुवस्वामिनी* प्रसाद संस्थान वाराणसी 1933 पृ. 15–65.
14. प्रसाद जयशंकर, *लहर,* प्रसाद संस्थान वाराणसी, 1933, पृ.18.
15. पांडेय, मैनेजर, *साहित्य और इतिहास दृष्टि,* पीपल बुक्स, नई दिल्ली, 1989, पृ. 40–65.

Received: 22.11.2025 | Accepted: 15.12.2025 | Published: 30.12.2025

बिहारी मुस्लिमों के शैक्षिक और सांस्कृतिक जागरण में देवबंद और अलीगढ़ की भूमिका (1871ई.–1947ई.): एक ऐतिहासिक अध्ययन

मो. शमीम (JRF)*
msalamcpr@gmail.com

शोध सार -

1871 से 1947 के बीच का समय भारतीय इतिहास के साथ-साथ भारतीय मुस्लिम समाज के लिए एक गहरे संक्रमण, मंथन और पुनर्जागरण का दौर था। 1857 के प्रथम भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के ठीक बाद औपनिवेशिक ब्रिटिश शासन की दमनकारी, वैमानस्व और अविश्वासी नीतियों के कारण मुस्लिम समुदाय हर क्षेत्र में पिछड़ता चला गया था। ऐसे समय में उत्तर भारत से उभरे दो प्रमुख वैचारिक और शैक्षिक आंदोलन- सर सैयद अहमद खान द्वारा प्रेरित 'अलीगढ़ आंदोलन' और दारुल उलूम द्वारा संचालित 'देवबंद आंदोलन' ने भारतीय मुसलमानों के साथ साथ बिहारी मुस्लिमों की दिशा तय करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

बिहार के विशेष भौगोलिक और सामाजिक परिप्रेक्ष्य में, इन दोनों धाराओं ने परस्पर विरोधी होने के बजाय एक-दूसरे के पूरक रूप में काम किया। पटना की विश्वप्रसिद्ध खुदा बख्श ओरिएंटल पब्लिक लाइब्रेरी के दुर्लभ दस्तावेज, उस दौर के उर्दू अखबारों और पत्र-पत्रिकाओं के पन्ने, तथा इस आंदोलन को गति देने वाले मौलवी अब्दुल कयूम, खान बहादुर खुदा बख्श, बैरिस्टर नूरुल हुदा, शाह सुलेमान फुलवारीशरीफ, और सैयद बदरुद्दीन, मौलाना मज़ाहारुल हक़ जैसे दूरदर्शी शिक्षाविदों व समाज सुधारकों का संघर्ष इस बात की गवाही देता है कि कैसे बिहार के मुसलमानों ने आधुनिकता और परंपरा के इस अनूठे मेल से अपना शैक्षिक, सांस्कृतिक और बौद्धिक जागरण किया।

बीज शब्द :

बिहारी मुस्लिम, शैक्षिक जागरण, सांस्कृतिक पुनर्जागरण, अलीगढ़ आंदोलन, देवबंद आंदोलन, औपनिवेशिक बिहार , खुदा बख्श लाइब्रेरी, उर्दू प्रेस, मौलाना मजहरुल हक, अब्दुल कयूम अंसारी, मौलवी अब्दुल कयूम, खान बहादुर खुदा बख्श, नूरुल हुदा, शाह सुलेमान फुलवारीशरीफ, सैयद बदरुद्दीन।

1. प्रस्तावना -

औपनिवेशिक बंगाल प्रेसीडेंसी के तहत आने वाला बिहार उस समय शिक्षा के मामले में बेहद पिछड़े पायदान पर था। ब्रिटिश हुकूमत की नई प्रशासनिक और न्यायिक व्यवस्थाओं में फारसी की जगह अंग्रेजी और स्थानीय भाषाओं के आने से मुस्लिम समाज का एक बड़ा तबका हाशिए पर चला गया। इस गंभीर संकट का संज्ञान लेते हुए ब्रिटिश प्रशासक विलियम विल्सन हंटर ने अपनी चर्चित पुस्तक 'द इंडियन मुसलमानाइज़' (1871) में लिखा कि यदि मुसलमानों को आधुनिक शिक्षा और शासन से दूर रखा गया, तो यह ब्रिटिश साम्राज्य के लिए राजनीतिक रूप से अहितकर होगा। इसके तुरंत बाद, वायसराय लॉर्ड मेयो ने 1871 का शिक्षा प्रस्ताव पारित किया, जिसका उद्देश्य मुस्लिम शिक्षण संस्थाओं को अनुदान देना और उन्हें मुख्यधारा से जोड़ना था।

इस सरकारी पहल और हंटर की रिपोर्ट ने बिहार के प्रबुद्ध वर्ग को झकझोरा। परिणामस्वरुप, उत्तर भारत के दो बड़े केंद्र—अलीगढ़ और देवबंद की विचारधाराएँ बिहार के शहरी अभिजात वर्ग और ग्रामीण-कस्बाई आबादी तक पहुँचीं।

* **शोधार्थी, इतिहास विभाग, जय प्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा**

2. अलीगढ़ आंदोलन का प्रभाव और बिहार का आधुनिक बौद्धिक वर्ग

सर सैयद अहमद खान द्वारा 1875 में स्थापित मोहम्मडन एंग्लो-ओरिएंटल कॉलेज (जो बाद में अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी बना) का मुख्य उद्देश्य पश्चिमी विज्ञान, अंग्रेजी शिक्षा और आधुनिक दृष्टिकोण को मुसलमानों में फैलाना था।[1]

अलीगढ़ आंदोलन का वह मूल संदेश यह था कि "जब तक मुस्लिम समाज आधुनिक अंग्रेजी शिक्षा, पश्चिमी विज्ञान और तार्किक दृष्टिकोण को नहीं अपनाएगा, तब तक वह ब्रिटिश भारत की प्रशासनिक व्यवस्था, वकालत और आधुनिक पेशों में आगे नहीं बढ़ सकता।" सर सैयद अहमद खान का यह स्पष्ट आह्वान था कि धार्मिक शिक्षा के साथ-साथ दुनियावी (आधुनिक) तालीम बेहद जरूरी है, ताकि समुदाय ब्रिटिश शासन की नई व्यवस्था में अपनी हिस्सेदारी सुरक्षित कर सके।बिहार के प्रबुद्ध और संभ्रांत परिवारों तक जब यह संदेश पहुँचा, तो उन्होंने इसे भविष्य की जरूरत मानते हुए हाथों-हाथ लिया। पटना, गया, और भागलपुर जैसे शहरों में आधुनिक स्कूलों की स्थापना और अंग्रेजी शिक्षा के प्रति रुझान तेजी से बढ़ा।[2]

अलीगढ़ के छात्र और बिहार: बिहार से कई मेधावी छात्र अलीगढ़ गए और वहाँ शिक्षा प्राप्त कर वापस लौटे। इनमें मौलाना मजहरुल हक स्वयं शामिल थे, जिन्होंने अलीगढ़ से शिक्षा प्राप्त करने के बाद बैरिस्टर की डिग्री ली और बिहार में राष्ट्रीय चेतना जगाई। उनके अलावा सर अली इमाम और सर हसन इमाम जैसे दूरदर्शी विधिवेत्ता और राजनेता भी अलीगढ़ के शुरुआती बौद्धिक प्रभाव से गहराई से जुड़े थे, जिन्होंने बाद में बिहार को एक अलग प्रांत बनाने और वहाँ उच्च शिक्षा के संस्थानों (जैसे पटना यूनिवर्सिटी) की स्थापना में अहम भूमिका निभाई। इसी कड़ी में सय्यद मोहम्मद फखरुद्दीन (जो आगे चलकर बिहार के शिक्षा मंत्री बने) ने भी अलीगढ़ से प्रेरित होकर प्रान्त में मुस्लिम और आधुनिक शिक्षा के विस्तार के लिए प्रशासनिक स्तर पर कड़े प्रयास किए[3] इन सभी ने रूढ़िवादिता पर कड़ा प्रहार किया और आधुनिक शिक्षा की मजबूत वैचारिक जमीन तैयार की।

3. देवबंद आंदोलन: पारंपरिक जड़ों की रक्षा और नैतिक सुदृढ़ीकरण

जहाँ अलीगढ़ आधुनिकता और पश्चिमी ज्ञान की बात कर रहा था, वहीं 1866 में स्थापित दारुल उलूम देवबंद ने धार्मिक, नैतिक और पारंपरिक पहचान के संरक्षण का बीड़ा उठाया।[4]

मदरसों और मकतबों का जाल: देवबंद की वैचारिक और संगठनात्मक पद्धति ने बिहार के सुदूर गांवों और कस्बों तक मकतबों और मदरसों का एक विशाल नेटवर्क खड़ा किया। इससे आम जनता तक बुनियादी साक्षरता, धार्मिक नैतिकता और सांस्कृतिक अनुशासन पहुँचा [5]

देवबंद की वैचारिक धारा के प्रमुख स्तंभ और उनका विस्तृत योगदान:

मौलाना सज्जाद फुलवारीशरीफ:

देवबंद की वैचारिक चेतना से प्रेरित होकर मौलाना सज्जाद ने बिहार में धार्मिक, शैक्षिक और राजनीतिक पुनर्जागरण को एक नई दिशा दी।उनका यह दृढ़ विश्वास था कि केवल पारंपरिक धार्मिक अनुष्ठानों से समाज की दशा नहीं सुधर सकती, बल्कि इसके लिए संस्थागत सुधार और सुदृढ़ संगठन की आवश्यकता है। इसी उद्देश्य से उन्होंने बिहार में 'इमारत-ए-शरिया' और 'जमीयत उलेमा-ए-हिंद' (बिहार शाखा) की नींव रखी। इमारत-ए-शरिया के माध्यम से उन्होंने न केवल धार्मिक और पारिवारिक विवादों के निपटारे की व्यवस्था की, बल्कि बिहार के विभिन्न जिलों में मदरसों के पाठ्यक्रम को मानकीकृत (Standardize) करने और गरीब मुस्लिम छात्रों के लिए मुफ्त शिक्षा व छात्रवृत्ति का व्यापक प्रबंध किया।[6] उन्होंने यह भी सुनिश्चित किया कि समुदाय के युवा आधुनिक राजनीतिक चेतना से जुड़ें और स्वतंत्रता संग्राम में मुखर भूमिका निभाएं।

मौलाना मिन्हाज उद्दीन:

देवबंद के इस प्रबुद्ध विद्वान ने बिहार के कस्बों, विशेषकर मिथिला और मगध के ग्रामीण इलाकों में घूम-घूमकर पारंपरिक दीनी तालीम को आधुनिक तर्ज पर ढालने का काम किया। उस दौर के मकतबों में केवल रटने की पुरानी पद्धति थी, जिसे बदलकर इन्होंने उसमें व्यावहारिक ज्ञान, साफ-सफाई, बुनियादी गणित और प्राथमिक पठन-पाठन को शामिल करवाया। उनके प्रयासों से ग्रामीण समाज में व्याप्त अंधविश्वास और अशिक्षा के अंधेरे को दूर करने में बहुत बड़ी मदद मिली।

खानकाहों और मदरसों का समन्वय:

देवबंद के सिद्धांतों का पालन करते हुए बिहार के उलेमाओं ने सूफी संतों की ऐतिहासिक खानकाहों (जैसे फुलवारीशरीफ, मनेर और बिहारशरीफ की खानकाहें) को केवल प्रार्थना या अध्यात्म तक सीमित नहीं रखा। इन खानकाहों को विशाल शिक्षण केंद्रों और पुस्तकालयों में बदल दिया गया, जहाँ गरीब, अनाथ और दूर-दराज से आने वाले छात्रों के ठहरने, खाने और पढ़ने का पूरा इंतजाम किया जाता था। इससे यह सुनिश्चित हुआ कि समाज के सबसे अंतिम और पिछड़े तबके के बच्चों तक भी शिक्षा और नैतिक चेतना की रोशनी पहुँची।[7]

सामूहिक चेतना और उसका विस्तार:

देवबंद आंदोलन ने बिहार के मुस्लिम समाज में एक गहरी सामूहिक चेतना को जन्म दिया, जिसके आयाम निम्नलिखित रूप में विस्तृत थे। सांस्कृतिक और आध्यात्मिक जड़ों की सुरक्षा: औपनिवेशिक काल में मिशनरी गतिविधियों और पश्चिमी संस्कृति के प्रभाव से मुस्लिम समाज में अपनी पहचान खोने का जो डर था, देवबंद की विचारधारा ने उसे एक सुदृढ़ आध्यात्मिक कवच प्रदान किया।[8] इसने यह विश्वास दिलाया कि आधुनिकता की अंधी दौड़ में शामिल होने के लिए अपनी धार्मिक, नैतिक और सांस्कृतिक पहचान का बलिदान देना जरूरी नहीं है।

सामुदायिक एकजुटता और भाईचारा: इस चेतना ने बिहार के अलग-अलग हिस्सों (सीमांचल, तिरहुत, मगध और शाहबाद) में बिखरे हुए मुस्लिम समुदायों को एक वैचारिक सूत्र में पिरोया।[9]मदरसों और खानकाहों के माध्यम से लोगों में यह भावना प्रबल हुई कि समाज का उत्थान व्यक्तिगत प्रयासों से नहीं, बल्कि सामूहिक सहयोग (तआवुन) से ही संभव है।

राजनीतिक गोलबंदी और राष्ट्रवाद: देवबंद की वैचारिक सामूहिक चेतना केवल धार्मिक दायरे तक सीमित नहीं रही, बल्कि इसने आगे चलकर एक मजबूत राजनीतिक रूप लिया। जमीयत उलेमा-ए-हिंद और स्थानीय उलेमाओं के नेतृत्व में बिहार के मुसलमानों ने असहयोग आंदोलन, खिलाफत आंदोलन और स्वतंत्रता संग्राम (1947 तक) के दौरान औपनिवेशिक ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ कंधे से कंधा मिलाकर सामूहिक राजनीतिक संघर्ष किया [8]. इस प्रकार, देवबंद ने समुदाय को अंदर से नैतिक रूप से मजबूत करते हुए उसे देश की राष्ट्रीय धारा के साथ एकजुट होकर खड़े होने की मानसिक शक्ति दी।[10]

4. स्थानीय अभिलेखों और उर्दू प्रेस की भूमिका (खुदा बख्श लाइब्रेरी और उर्दू अखबार)

इस पूरे इतिहास को प्रमाणित करने वाले प्राथमिक दस्तावेज आज भी स्थानीय पुस्तकालयों और प्रेस के पन्नों में सुरक्षित हैं।

खुदा बख्श ओरिएंटल पब्लिक लाइब्रेरी, पटना: खान बहादुर मौलवी खुदा बख्श द्वारा स्थापित यह लाइब्रेरी केवल किताबों का घर नहीं, बल्कि बिहार के बौद्धिक जागरण का केंद्र थी [9]. यहाँ संरक्षित अरबी, फारसी और उर्दू की पांडुलिपियाँ, तथा उस दौर के बुद्धिजीवियों के बीच हुए पत्र-व्यवहार यह दर्शाते हैं कि कैसे बिहार के उलेमा, शिक्षक और सुधारक लगातार पत्राचार के माध्यम से नई शिक्षण संस्थाओं के गठन और पाठ्यक्रम पर चर्चा कर रहे थे [11]

उर्दू अखबारों की भूमिका और अलीगढ़-देवबंद से उनका संबंध:

19वीं सदी के अंतिम दशकों और 20वीं सदी के शुरुआती दौर में बिहार से प्रकाशित होने वाले उर्दू अखबार और पत्रिकाएं (जैसे 'अल-पंच', 'इमारत', 'अल-बलाग' और अन्य प्रांतीय पर्चे) केवल समाचार के साधन नहीं थे, बल्कि वे अलीगढ़ और देवबंद आंदोलनों की वैचारिक प्रयोगशालाएं थीं।[12]

अलीगढ़ के स्कॉलर्स का प्रभाव: अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी से शिक्षा प्राप्त कर लौटे बिहारी बुद्धिजीवियों और पत्रकारों ने इन उर्दू अखबारों के माध्यम से पश्चिमी विज्ञान, आधुनिक राजनीतिक अधिकारों, और आधुनिक शिक्षा की आवश्यकता को आम जनता तक पहुँचाया।इन पत्रों में पर्दा प्रथा के खिलाफ और अंग्रेजी/दुनियावी तालीम के समर्थन में लेख छपते थे।

देवबंद और उलेमाओं का संचालन: इसके विपरीत, देवबंद और दारुल उलूम से फारिग (स्नातक) होकर आए उलेमाओं ने कई उर्दू पत्र-पत्रिकाओं का संपादन किया। उन्होंने इन अखबारों के जरिए धार्मिक शुचिता, नैतिक मूल्यों, और समाज सुधार के संदेश को घर-घर पहुँचाया तथा औपनिवेशिक नीतियों के खिलाफ वैचारिक प्रतिरोध तैयार किया।इस प्रकार, ये उर्दू अखबार अलीगढ़ के आधुनिकतावाद और देवबंद के पारंपरिक सुधारवाद के बीच एक महत्वपूर्ण संवाद सेतु साबित हुए।[13] इन

अखबारों में छपने वाले लेखों में इस बात पर विशेष जोर दिया जाता था कि दीनी तालीम के साथ-साथ दुनियावी तालीम और लड़कियों की शिक्षा उतनी ही जरूरी है।

5. बिहार के प्रमुख शिक्षाविद, उलेमा और समाज सुधारक: संस्थागत और वैचारिक योगदा

मौलवी अब्दुल कयूम

संस्थागत पृष्ठभूमि: 19वीं सदी के उत्तरार्ध में पटना के अग्रणी शिक्षाविदों और समाज सुधारकों में मौलवी अब्दुल कयूम का नाम अत्यंत आदर के साथ लिया जाता है।

शैक्षिक और संस्थागत योगदान: उन्होंने यह महसूस किया कि बिहार के मुस्लिम समाज को रूढ़िवादिता और पिछड़ेपन से बाहर निकालने का एकमात्र उपाय यह है कि पारंपरिक शिक्षा के साथ-साथ आधुनिक पश्चिमी विज्ञान और अंग्रेजी शिक्षा को जोड़ा जाए।[14] इसी दूरगामी सोच के तहत उन्होंने पटना में 'एंग्लो-अरबी स्कूल' की स्थापना की [11]. इस संस्थान के निर्माण के लिए उन्होंने स्थानीय संभ्रांत लोगों, जमींदारों और बुद्धिजीवियों से व्यक्तिगत संपर्क कर भारी चंदा जुटाया। इस स्कूल ने शुरुआती दौर में उन मुस्लिम छात्रों को मुख्यधारा से जोड़ने का ऐतिहासिक काम किया जो आधुनिक शिक्षा और पारंपरिक माहौल के बीच संतुलन नहीं बिठा पा रहे थे।[15]

खान बहादुर खुदा बख्श

खान बहादुर खुदा बख्त एक प्रसिद्ध न्यायविद्, सरकारी वकील और पटना उच्च न्यायालय के प्रतिष्ठित विधि विशेषज्ञ थे। इनका बिहारी मुस्लिमों के बौद्धिक एवं सांस्कृतिक जागरण में महत्वपूर्ण योगदान रहा।खान बहादुर खुदा बख्श ने केवल अपने लिए धन कमाने के बजाय ज्ञान और संस्कृति के संरक्षण को अपना जीवन लक्ष्य बनाया। उन्होंने अपने पिता मौलवी मोहम्मद बख्श द्वारा शुरू किए गए दुर्लभ ग्रंथों के संग्रह को अपनी व्यक्तिगत संपत्ति और जीवनभर की कमाई के साथ और अधिक व्यापक रूप दिया। उन्होंने अपनी इस अमूल्य संपत्ति—हजारों दुर्लभ अरबी, फारसी, तुर्की और उर्दू की हस्तलिखित पांडुलिपियों तथा पुस्तकों—को जनता और शोधार्थियों के लिए समर्पित कर दिया, जिससे 1891 में विश्वप्रसिद्ध 'खुदा बख्श ओरिएंटल पब्लिक लाइब्रेरी' की औपचारिक स्थापना हुई।[16]

शोध और अकादमिक चेतना का केंद्र: यह लाइब्रेरी केवल किताबों का संग्रह नहीं थी, बल्कि यह औपनिवेशिक बिहार के मुस्लिम बुद्धिजीवियों, इतिहासकारों, उलेमाओं और आधुनिक शिक्षाविदों का मुख्य मिलन स्थल बन गई। यहाँ बैठकर प्रान्त के शैक्षिक विकास, पाठ्यक्रम सुधार और सांस्कृतिक चेतना की रूपरेखा तैयार की जाती थी। खुदा बख्श ने युवा छात्रों और शोधकर्ताओं को आधुनिक अकादमिक शोध के प्रति प्रेरित किया, जिसने बिहार के बौद्धिक परिदृश्य को हमेशा के लिए बदल दिया।[17]

बैरिस्टर नूरुल हुदा

यें अलीगढ़ (एम.ए.ओ. कॉलेज) के शुरुआती और मेधावी छात्रों में से एक, तथा ब्रिटेन से बैरिस्टर की डिग्री प्राप्त करने वाले बिहार के शुरुआती मुस्लिम विधिवेत्तियाओं में प्रमुख। शैक्षिक अधिकारों और आधुनिकता की लड़ाई मे बैरिस्टर नूरुल हुदा ने अलीगढ़ आंदोलन के विचारों को बिहार की कानूनी और प्रशासनिक व्यवस्था तक पहुँचाया। उन्होंने मुस्लिम युवाओं को पारंपरिक पेशों से निकालकर आधुनिक वकालत, सिविल सेवाओं और उच्च शिक्षा की तरफ रुख करने के लिए प्रेरित किया।[18]

विश्वविद्यालयों के मंच पर प्रतिनिधित्व: वे कलकत्ता विश्वविद्यालय और बाद में 1917 में स्थापित पटना विश्वविद्यालय के सीनेट और सिंडिकेट के सक्रिय सदस्य रहे। इन सर्वोच्च शैक्षणिक निकायों में रहते हुए उन्होंने मुस्लिम छात्रों के शैक्षिक अधिकारों, छात्रवृत्तियों के आवंटन, छात्रावासों के निर्माण और आधुनिक पाठ्यक्रमों में उनके उचित प्रतिनिधित्व के लिए कड़ा प्रशासनिक संघर्ष किया। उनके इन प्रयासों से उच्च शिक्षा के द्वार स्थानीय मुस्लिम युवाओं के लिए सुगमता से खुल गए।[19]

शाह सुलेमान फुलवारीशरीफ

यें खानकाह-ए-मुजीबिया (फुलवारीशरीफ) के सज्जादानशीन, आध्यात्मिक गुरु और प्रमुख समाज सुधारक थे। पारंपरिक खानकाहों का आधुनिकीकरण करके शाह सुलेमान ने यह ऐतिहासिक मिसाल कायम की कि पारंपरिक धार्मिक और

आध्यात्मिक केंद्र (खानकाहें) समाज के शैक्षिक और सांस्कृतिक जागरण का सबसे बड़ा जरिया बन सकते हैं। उन्होंने खानकाह को केवल इबादत या रस्मों-रिवाज तक सीमित न रखकर उसे आधुनिक शिक्षा और गरीब कल्याण का एक सक्रिय केंद्र बना दिया।[20]

शैक्षिक ट्रस्ट और छात्रवृत्तियाँ: उनके नेतृत्व में खानकाह के अंतर्गत एक विशेष 'शैक्षिक ट्रस्ट' की स्थापना की गई। इस ट्रस्ट के माध्यम से बिहार के सुदूर ग्रामीण इलाकों (जैसे सीमांचल और मगध) से आने वाले गरीब, अनाथ और प्रतिभाशाली छात्रों को ठहरने के लिए हॉस्टल, खाने की व्यवस्था और मुफ्त किताबें दी जाती थीं। इसके साथ ही, उन्होंने समाज की आधी आबादी को शिक्षित करने के लिए रूढ़िवादिता के खिलाफ नरम लेकिन प्रभावी रुख अपनाते हुए खानकाह परिसर में ही मुस्लिम बालिकाओं की प्राथमिक शिक्षा के लिए मकतबों की शुरुआत करवाई, जिससे महिलाओं में भी शिक्षा की अलख जगी।[21]

सैयद बदरुद्दीन

यें औपनिवेशिक बिहार के शुरुआती दौर के प्रख्यात पत्रकार, लेखक और सामाजिक कार्यकर्ता थे। पत्रकारिता और वैचारिक जन-जागरण के लिए पटना और आसपास के क्षेत्रों से प्रकाशित होने वाले शुरुआती उर्दू समाचार पत्रों और पत्रिकाओं के संपादक व प्रमुख स्तंभकार के रूप में सैयद बदरुद्दीन ने समाज सुधार की कमान संभाली। उस दौर में मुस्लिम समाज के भीतर जड़ जमा चुकी कुप्रथाओं, अंधविश्वास, और विशेषकर महिलाओं पर थोपे गए कठोर पर्दा प्रथा के बंधनों के खिलाफ उन्होंने अपने अखबारों के संपादकीय के माध्यम से खुली वैचारिक जंग छेड़ी।[22]

संतुलित समाज का निर्माण: अपने लेखों और बहसों के जरिए उन्होंने अलीगढ़ के आधुनिकतावाद (दुनियावी तालीम और विज्ञान) और देवबंद के नैतिक व धार्मिक अनुशासन के बीच एक खूबसूरत वैचारिक संतुलन स्थापित करने का प्रयास किया। उनका यह स्पष्ट मत था कि किसी भी समाज की प्रगति के लिए आधुनिक ज्ञान और नैतिक मूल्यों का समन्वय अनिवार्य है। उनके इन प्रगतिशील और वैचारिक लेखों ने प्रान्त के नव-शिक्षित वर्ग और युवाओं की सोच को गहराई से प्रभावित किया।[23]

निष्कर्ष

1871 से 1947 के कालखंड में बिहार के मुसलमानों का शैक्षिक और सांस्कृतिक जागरण किसी एकतरफा प्रयास का परिणाम नहीं था। यह अलीगढ़ की आधुनिक और वैज्ञानिक दृष्टि तथा देवबंद की पारंपरिक व नैतिक सुदृढ़ता का एक अद्भुत समन्वय था। खुदा बख्श लाइब्रेरी के दुर्लभ अभिलेखों, अलीगढ़ और देवबंद की विचारधारा से संचालित उर्दू प्रेस के तेवरों और उपर्युक्त तमाम शिक्षाविदों व सुधारकों—मौलवी अब्दुल कयूम, खान बहादुर मौलवी खुदा बख्श, बैरिस्टर नूरुल हुदा, शाह सुलेमान फुलवारीशरीफ और सैयद बदरुद्दीन—के अथक संघर्षों ने मिलकर बिहार के मुस्लिम समाज को एक नई वैचारिक पहचान दी। इस ऐतिहासिक सफर ने यह सिद्ध कर दिया कि किसी भी समुदाय का वास्तविक विकास उसकी सांस्कृतिक पहचान को सुरक्षित रखते हुए आधुनिक शिक्षा और ज्ञान को अपनाने में ही निहित है।

संदर्भ -

1. खान,सर सैयद अहमद, *द अलीगढ़ इंस्टीट्यूट गजेट.* अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी, अलिगढ़,1982, पृष्ठ 45.
2. अहमद, कयामुद्दीन. *पटना थ्रू द एजेस: ग्लिम्सिस ऑफ हिस्ट्री, सोसाइटी एंड इकोनॉमी.* कॉमनवेल्थ पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1988, पृष्ठ 170-185.
3. हसन, मुशीरुल. *नेशनलिज्म एंड कम्युनल पॉलिटिक्स इन इंडिया, 1885-1930.* मनोहर पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1991, पृष्ठ 60-75.
4. मेटकाफ, बारबरा डाली. *इस्लामिक रिवाइवल इन ब्रिटिश इंडिया: देवबंद, 1860-1900.* प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन, 1982, पृष्ठ 78-95.

5. मेटकाफ, बारबरा डाली, *मोरल कंडक्ट एंड अथॉरिटी: द प्लेस ऑफ अदब इन साउथ एशियन इस्लाम.* यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस, बर्कले, 1984, पृष्ठ 150-168.
6. फारूकी, जिया-उल-हसन. *द देवबंद स्कूल एंड द मूवमेंट फॉर फ्रीडम.* प्रोग्रेसिव पब्लिशर्स, बॉम्बे, 1963, पृष्ठ 88-100.
7. हार्डी, पीटर. *द मुस्लिम्स ऑफ ब्रिटिश इंडिया.* कैंब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, कैंब्रिज, 1972, पृष्ठ 140-155.
8. घोष, पपिया. *महाजाति: द मेकिंग ऑफ द मुस्लिम बैकवर्ड क्लासेस इन बिहार.* ओरिएंट ब्लैकस्वान, नई दिल्ली, 2004, पृष्ठ 46
9. वही... पृष्ठ 49.
10. खुदा बख्श ओरिएंटल पब्लिक लाइब्रेरी. *डिस्क्रिप्टिव कैटलॉग ऑफ द अरेबिक एंड पर्शियन मैन्युस्क्रिप्ट्स.* खुदा बख्श लाइब्रेरी, पटना, 1995, प्रस्तावना.
11. वही....
12. सेन, सुकुमार. *हिस्ट्री ऑफ बंगाली एंड बिहारी प्रेस इन कॉलोनियल एरा.* फर्मा के. एल. मुखोपाध्याय, कलकत्ता, 1974, पृष्ठ 191.
13. वही... पृष्ठ 195.
14. अहमद, कयामुद्दीन, और जटा शंकर झा. *मजहरुल हक.* प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, 1988, पृष्ठ 15.
15. वही... 20.
16. सुब्हान, अब्दुस. *खुदा बख्श लाइब्रेरी: हिस्ट्री एंड हेरिटेज.* खुदा बख्श ओरिएंटल पब्लिक लाइब्रेरी, पटना, 1990, पृष्ठ 33.
17. वही..39.
18. लेइवेल्ड, डेविड. *अलीगढ़्स फर्स्ट जनरेशन: मुस्लिम सॉलिडैरिटी इन ब्रिटिश इंडिया.* प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन, 1978, पृष्ठ 230.
19. वही...232.
20. रिजवी, एस. ए. *ए. मुस्लिम रिवाइवलिस्ट मूवमेंट्स इन नॉर्दर्न इंडिया इन द सिक्सटीन्थ एंड सेवेंटीन्थ सेंचुरीज.* आगरा यूनिवर्सिटी, आगरा, 1965, पृष्ठ 310.
21. वही..311
22. नदवी, मसूद आलम. *हिंदुस्तान की पहली सियासी और इल्मी तहरीकें.* नदवतुल उलमा, दिल्ली, 1952, पृष्ठ 88.
23. वही...89.

Received: 23.11.2025 | Accepted: 15.12.2025 | Published: 30.12.2025

महात्मा गांधी : सत्य एवं अहिंसा तथा हिंदी साहित्य

डॉ. सुनील दत्त*
sintusunildutt@gmail.com

डॉ. बिजेंद्र कुमार†
bijenderkumar30@gmail.com

शोध सार:

मोहनदास करमचंद गाँधी जिससे सारा विश्व महात्मा गाँधी या बापू जी के नाम से जानता है। उनका जन्म विश्व मानव के लिए एक अप्रत्याशित घटना है। ऐसे युग पुरुष हर रोज जन्म नहीं लेते, बल्कि उनका जन्म तो सदियों बाद होता है। महात्मा गाँधी जी ने अपने जन्म को युग पुरुष के रूप में सार्थक करते हुए केवल भारतवर्ष का ही मार्ग प्रशस्त नहीं किया, बल्कि संपूर्ण विश्व को नई राह दिखाई। जिस पर चलकर आज संपूर्ण विश्व इस वैर-भाव रूपी दलदल से बाहर निकलकर, शांति की राह पर चल सकता है। वह रास्ता है- सत्य एवं अहिंसा का। महात्मा गाँधी जी एक कर्मयोगी और मौलिक चिंतक थे जो दार्शनिक मूल्यों एवं अवधारणाओं को सत्य एवं अहिंसा की कसौटी तथा अपने जीवन की प्रयोगात्मक कसौटी पर कसने के उपरांत ही स्वीकार करते थे। मानवीय जीवन की महत्ता से हटकर कोई भी मूल्य उन्हें स्वीकार नहीं थे। सत्य के प्रयोग करता, मर्मज्ञ राजनीतिज्ञ, समाज एवं संस्कृति के रक्षक, धर्म के संवाहक, नैतिकता के पौषक और मूल्यों की संवर्धक थे। उनका संपूर्ण जीवन विश्व मानव को राह दिखाने के लिए किए गए प्रयोगों में व्यतीत हुआ। उन्होंने पथभ्रष्ट राजनीति, अशांति की कगार पर खड़ी मानवता, सामाजिक विकृति, आडम्बरों में फँसे धर्म को सत्य एवं अहिंसा के द्वारा नई राह दिखाने की कोशिश की। उनका संपूर्ण जीवन दर्शन एक वाद में परिवर्तित हो गया, जिसे गाँधीवाद की संज्ञा दी जाती है। वे आजीवन सत्यांवेषी प्रवृत्ति को अपनाकर चले। इसी सत्य एवं अहिंसा के बल को उन्होंने राजनीति में स्थापित किया तथा भारतवर्ष को स्वतंत्रता दिलवाई। इस कारण सम्पूर्ण विश्व में सत्य एवं अहिंसा का महत्व स्थापित हुआ। आज फिर उनके सत्य एवं अहिंसा के प्रयोगों को अपनाने की आवश्यकता है, ताकि सम्पूर्ण विश्व में शांति स्थापित की जा सके। प्रस्तुत शोध आलेख का विषय भी महात्मा गाँधी जी के सत्य एवं अहिंसा के महत्व को प्रतिपादित करना है। हिंदी साहित्य में भी हमें महात्मा गाँधी जी के इस सत्य एवं अहिंसा के दर्शन होते हैं, इसके साथ उनका वर्णन भी प्रस्तुत शोध आलेख में किया जाएगा।

बीज शब्द:

सत्य एवम् अहिंसा, हिन्दी साहित्य, भारतीय समाज, विश्व शांति, जन कल्याण आदि।

प्रस्तावना

सत्य और अहिंसा: सामान्य परिचय:

सत्य क्या है? यह प्रश्न अपने आप में अद्भुत है। इसका उद्गम कहाँ से हुआ है, यह जिज्ञासा का विषय रहा है। भारतवर्ष में सत्य के विषय में प्राचीन ग्रंथों में विस्तार से वर्णन मिलता है, जो निम्न प्रकार से है-

'सत्य' शब्द की उत्पत्ति संस्कृत के 'सत्' शब्द से हुई है जिसका अर्थ होता है- चेतना का अस्तित्व अर्थात सत्य का अर्थ होता है 'जो अस्तित्ववान है'। चूंकि अस्तित्वविहीनता ब्रह्मांड को परिचारित करने वाले नियमों से कहीं अधिक होती है तो गाँधी के अनुसार विश्व की रीढ़ सत्य की बुनियाद पर टिकी है।'[1]

प्राचीन ग्रंथ 'महाभारत' के शांतिपर्व में 'सत्य' को सनातन ब्रह्म कहा है, जहाँ सब कुछ सत्य पर प्रतिष्ठित है। यथा-

* एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी, पं0 चिरंजी लाल शर्मा राजकीय महाविद्यालय, करनाल
† प्रोफेसर, हिंदी विभाग, आर के एस डी महाविद्यालय, कैथल, हरियाणा , संबद्ध कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

सत्यं ब्रह्म मनातनम।

सर्व सत्ये प्रतिष्ठितम्।।

इसी प्रकार 'विष्णु भागवत' में 'सत्य' को श्रीकृष्ण से उत्पन्न किया है। यथा-

सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं सत्यस्य योनिम् निहितं च सत्ये।

सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं सत्यात्यकम् त्वां शरणम् प्रपन्ना:।।

अर्थात सत्यव्रत, सत्यपर, तीन सत्य, सत्य के उद्गम स्थल, सत्य में निहित, सत्य के भी सत्य, ऋतु एवं सत्य के नेत्र, सत्यात्मक प्रभु हम आपकी शरण ग्रहण करते हैं।[2]

पाश्चात्य विद्वान एवं दार्शनिक प्रोफेसर हरोलु एच. जोशिम ने अपनी पुस्तक 'दि नेचर ऑफ ट्रुथ' में सत्य की बड़ी सुंदर व्याख्या की है- "कोई भी वस्तु जो बोधगम्य हो सकती है, सत्य है। बोधगम्य होने के कारण ही यह सत्य है और यह वहीं तक सत्य है, जहाँ तक बोधगम्य हो सकती है। बोधगम्यता सत्य का अनिवार्य तत्व है। बोधगम्य होने से हमारा मन उत्तम कोटि का बनता है। स्पष्टत: एवं युक्तियुक्त सोचना, विविध तत्वों द्वारा अनिवार्यीकृत अनुषंग में अनेक तत्वों को संयुक्त कर पाना। बोधगम्य होने का तात्पर्य है अर्थान्वित समग्र होना या विचार के उपयुक्त अर्थपूर्ण समग्र होना।"[3]

इस प्रकार सत्य व्यक्तियों के संदर्भ में आत्मचेतना है जो बोधगम्यता से जुड़ी है, जबकि परम तत्व स्वयं सत्य की प्रतिमूर्ति है। इस प्रकार परम तत्व द्वारा प्रदत शक्ति से सत्य को आत्मसात करने का प्रयत्न किया जा सकता है।

अब बात करते हैं अहिंसा पर- यह जान पाना कतई संभव नहीं है कि अहिंसा की स्थापना कब हुई होगी। यह केवल कल्पना की ही विषय वस्तु हो सकती है। वैसे मनुष्य के जन्म के प्रारंभ से ही अहिंसा की प्रवृत्ति रही होगी, ऐसा मानना उचित हो सकता है। अहिंसा के विषय में अन्य दर्शनों की अपेक्षा जैन दर्शन एवं धर्म में अत्यधिक स्पष्टीकरण मिलता है। जैन दर्शन के प्रमुख ग्रंथ 'सूत्रकृतांग' में अहिंसा के विषय को बड़े सुंदर शब्दों में समझाया है-

"अविहिंसामेव पव्वए, अणुधम्मों।"१/२/१/१४

अर्थात वीर पुरुष अहिंसा के राजपथ पर चल पड़ते हैं। जो धर्म मोक्ष के अनुकूल है, उसे अनुधर्म कहते हैं; वह धर्म अहिंसा है। कष्टों के सहन को भी वीतराग में धर्म कहा है।

'सूत्रकृतांग' से एक अन्य उदाहरण देखिए-

"एवं खुनाणिणों सारम्, जं न हिंसई किंचण।
अहिंसा समयं चेव, एयावन्तम् वियाणिया।।"१/१/४/१०

अर्थात किसी भी प्राणी को हिंसा नहीं करनी चाहिए- यही ज्ञानियों के ज्ञान-वचनों का सार है। अहिंसा, समता, सब जीवों के प्रति आत्मवत् भाव, इसे ही शाश्वत धर्म समझो। जैन दर्शन के इस प्राकृत भाषा में लिखे ग्रंथ से स्पष्ट है कि सभी जीवों के प्रति आत्मवत् भाव ही सच्चा धर्म है, वही अहिंसा है।

महावीर जैन द्वारा रचित एक अन्य ग्रंथ 'दशवैकालिक' में अहिंसा के विषय में उत्तम भाव प्रस्तुत किया है-

"अहिंसा निडणम् दिट्ठा, सव्वभूएसु संजमो।"६/९

अर्थात अहिंसा को भगवान ने जीवों के लिए कल्याणकारी देखा है। सर्व जीवों के प्रति संयमपूर्ण जीवन व्यवहार ही अहिंसा है।[4]

इस प्रकार अहिंसा एक ऐसी उत्तम एवं पवित्र अवधारणा है जो मनुष्य को मनुष्य उपयोगी, सभी जीव-जंतुओं, पशु-पक्षियों आदि को न मारना, न कष्ट देना आदि के लिए प्रेरित करती है।

यही कारण है कि आज मानव जीवन में सत्य एवं अहिंसा का महत्व दिन प्रतिदिन बढ़ रहा है। विभिन्न विद्वानों ने इनको अपने-अपने तरीके से परिभाषित किया है।

महात्मा गांधी: सत्य एवं अहिंसा और हिंदी साहित्य:

बीसवीं शताब्दी में जब महात्मा गाँधी जी का प्रादुर्भाव हुआ, उस समय संपूर्ण विश्व साम्राज्यवाद की भावना को लेकर चल रहा था। ब्रिटिश साम्राज्य का फैलाव संपूर्ण विश्व में हो रहा था। उनके अधीन देशों के नागरिकों का निरंतर शोषण हो रहा था। भारतवर्ष में भी अंग्रेजों का शासन स्थापित हुए कई सौ वर्ष हो चुके थे। जिस कारण केवल अंग्रेज ही नहीं, सामंत, साहूकार, जमींदार, महाजन आदि भी जनता का शोषण कर रहे थे। चारों ओर अविश्वास, अंधविश्वास, लूट-खसौट, अन्याय, हिंसा, असत्य आदि का वातावरण फैला हुआ था। ऐसे में राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी जी ने सत्य एवं अहिंसा के बल द्वारा सामान्य जनता में साहस, हिम्मत, आत्मबल आदि भरने का प्रयास किया तथा लोगों को सत्य एवं अहिंसा के मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित किया। ऐसा नहीं है कि सत्य और अहिंसा का प्रयोग केवल महात्मा गाँधी जी ने ही किया, बल्कि यह तो प्राचीन काल से ही भारतवर्ष की महान देन रही है। सतयुग की कथा या त्रेतायुग में रामराज्य में तो सत्य एवं अहिंसा मानव जीवन का गहना थे। महावीर जैन, महात्मा बुद्ध जैसे महात्माओं ने भी अपने जीवन में इनको अपनाया तथा सभी मानवों को इसके प्रति प्रेरित करके, उनके जीवन में सुख-शांति की स्थापना की। आधुनिक युग में यह कार्य बीसवीं शताब्दी के महात्मा मोहनदास करमचंद गाँधी जी ने किया। उन्होंने सत्य एवं अहिंसा को अपने जीवन का लक्ष्य बनाया तथा विश्व में शांति स्थापित करने का प्रयास किया। उनके सत्य एवं अहिंसा के बारे में बड़े ही गहन विचार थे। महात्मा गाँधी जी के अनुसार सत्य की परिभाषा- "सत्य क्या है? यह एक कठिन प्रश्न है, लेकिन इसके लिए मैंने इसे यह कहकर सुलझा लिया है कि जो तुम्हारे अंत:करण की आवाज कहे, वह सत्य है। आप पूछते हैं कि यदि ऐसा है तो भिन्न-भिन्न लोगों के सत्य परस्पर भिन्न और विरोधी क्यों होते हैं? चूंकि मानव मन असंख्य माध्यमों के जरिए काम करता है और सभी लोगों के मन का विकास एक-सा नहीं होता। इसलिए जो एक व्यक्ति के लिए सत्य होगा, वह दूसरे के लिए असत्य हो सकता है। अतः जिन्होंने यह प्रयोग किए हैं, वे इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि प्रयोगों को करते समय कुछ शर्तों का पालन करना जरूरी है। ऐसा इसलिए है कि आजकल हर आदमी किसी तरह की कोई साधना किए बगैर अंत:करण के अधिकार का दावा कर रहा है और दुनिया को जाने कितना असत्य थमाया जा रहा है। मैं सच्ची विनम्रता के साथ तुमसे कहना चाहता हूँ कि जिस व्यक्ति में विनम्रता कूट-कूट न भरी हो, उसे सत्य नहीं मिल सकता। यदि तुम्हें सत्य के सागर में तैरना है, तो तुम्हें अपनी हस्ती को पूरी तरह मिटा देना होगा।"[5]

जब तक शरीर के अंदर अहंकार, घमंड आदि का भाव है, तब तक सत्य प्राप्ति संभव नहीं है। इसके लिए विनम्र होना अति आवश्यक है। यथा- "सत्य के खोजी को धूलि के कण से भी अधिक विनम्र होना चाहिए। धूलि के कणों को तो दुनिया अपने पैरों तले रौंदती है, लेकिन सत्य का खोजी इतना विनम्र होना चाहिए कि उसे धूलिकण भी रौंद सकें। तभी, और केवल तभी उसे सत्य के दर्शन होंगे।"[6]

सत्य के प्रति महात्मा गाँधी जी का यह विचार बड़ा ही पवित्र है। सत्य प्राप्ति का मार्ग विनम्रता है। जब मनुष्य इस भाव को समझ जाएगा तो सत्य प्राप्ति का मार्ग सरल हो जाएगा। जब तक वह घमंड आदि में रहेगा, तब तक उसका भला संभव नहीं है। श्रीकृष्ण जी के परम भक्त सूरदास जी भी इसी तथ्य को समझाते हुए कहते हैं कि हमें इस शरीर पर घमंड नहीं करना चाहिए, नहीं तो मृत्यु होने पर इसको काग-गिद्ध आदि ही खाएँगे। एक उदाहरण देखिए-

"जा दिन मन पंछी उड़ि जैहैँ
ता दिन तेरे तन-तरुवर के, सबै पात झरि जैहैँ
या देहि को गरब न की करिये, स्यार-काग-गिध खैहैँ
तीननि मैं तन कृमि, कै बिष्टा कै ह्वै खाक उड़ैहैँ
कहँ वह नीर, कहाँ वह सोभा, कहँ रंग-रूप दिखैहैँ
जिन लोगनि सौँ नेह करत है, तेइ देखि घिनैहैँ।"[7]

महात्मा गाँधी जी की भी यही मान्यता है कि सत्य के लिए घृणा, घमण्ड, क्रोध, व्यभिचार, लोभ, वासना आदि विकारों को छोड़ना पड़ेगा अन्यथा सत्य प्राप्ति संभव नहीं है। उदाहरण देखिए- "सत्य की खोज में क्रोध, स्वार्थ, घृणा आदि विकार स्वभावत: छूट जाते हैं अन्यथा सत्य की प्राप्ति असंभव ही हो जाए। जो व्यक्ति वासनाओं के वश में है, उसकी नियत साफ होने पर वह कभी सत्य की प्राप्ति नहीं कर सकेगा। सत्य की खोज में सफलता प्राप्त होने पर मनुष्य प्रेम और घृणा, सुख और दु:ख आदि के द्वन्द्वों से पूर्णत: मुक्त हो जाता है।"[8] गाँधी जी के लिए सत्य ही ईश्वर है और ईश्वर ही सत्य है। वे ईश्वर को केवल सत्य के रूप में पूजते हैं। उनका मानना है कि निरपेक्ष सत्य को पाना संभव नहीं है। लेकिन वह उसकी खोज के लिए

सर्वस्व उत्सर्ग करने के लिए तत्पर हैं। यद्यपि सत्य की खोज का मार्ग कठिन, संकरा तथा तलवार की धार की तरह तेज है, लेकिन गाँधी जी ने अपने तप के बल पर उसे सरल बना लिया है। इसमें उनका सबसे बड़ा अस्त्र बनी- अहिंसा। गाँधी जी के अनुसार- "सतत अनुभव ने मेरा यह विश्वास दृढ़ कर दिया है कि ईश्वर सत्य के अलावा और कुछ नहीं है। सत्य की जो क्षणिक झलकियाँ मैं पा सका हूँ, उनसे सत्य के अवर्णनीय तेज का वर्णन करना संभव नहीं है, सत्य का तेज नित्य दिखाई देने वाले सूर्य के प्रकाश से लाखों गुना प्रखर है।

वस्तुत: अतुल प्रभा की बहुत हल्की झलक ही पा सका हूँ। लेकिन अपने अनुभव के बल पर मैं यह बात भरोसे के साथ कह सकता हूँ कि सत्य का सर्वांग दर्शन वही कर सकता है जिसने अहिंसा को पूरी तरह अपना लिया हो।"[9]

गाँधी जी के लिए सत्य के लिए अहिंसा और अहिंसा के लिए सत्य अत्यधिक महत्वपूर्ण है। बल्कि यह एक सिक्के के ही दो पहलू हैं। यूं कहें कि यह दोनों ही गाँधी जी के भगवान हैं, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। गाँधी जी के शब्दों में- "अहिंसा मेरा भगवान है और सत्य मेरा भगवान है। जब मैं अहिंसा को खोजता हूँ तो सत्य कहता है, 'इसे मेरे माध्यम से ढूंढो' और जब मैं सत्य को खोजता हूँ तो अहिंसा कहती है, 'इसे मेरे माध्यम से ढूंढो'।"[10]

महात्मा गाँधी जी के लिए अहिंसा ही धर्म का प्रथम एवं अंतिम नियम है। वे किसी भी प्रकार की हिंसा को ना तो बर्दाश्त करना चाहते हैं और ना ही उसे बढ़ाना चाहते हैं। हिंसा उनकी प्रवृति के विरूद्ध है। यथा- "मैं केवल एक मार्ग जानता हूँ- अहिंसा का मार्ग। हिंसा का मार्ग मेरी प्रकृति के विरुद्ध है। मैं हिंसा का पाठ पढ़ाने वाली शक्ति को बढ़ाना नहीं चाहता।... मेरी आस्था मुझे आश्वस्त करती है कि ईश्वर बेसहारों का सहारा है और वह संकट में सहायता तभी करता है जब व्यक्ति स्वयं को उसकी दया पर छोड़ देता है। इसी आस्था के कारण मैं यह आशा लगाए बैठा हूँ कि एक-न-एक दिन वह मुझे ऐसा मार्ग दिलाएगा जिस पर चलने का आग्रह मैं अपने देशवासियों से विश्वासपूर्वक कर सकूँगा।"[11]

महात्मा गाँधी जी के दर्शन के पीछे कहीं-न-कहीं कबीरदास जी का अहिंसा का सिद्धांत दिखाई देता है। जहाँ वो मनुष्यों को समझाते हैं कि जितने भी जीव-जंतु हैं, वो सब राम, अल्लाह के ही जीव हैं। इसलिए इनसे प्रेम के बिना मुक्ति संभव नहीं है। उन पर किया गया अत्याचार ईश्वर के मिलने में बाधक बन जाता है। एक उदाहरण देखिए-

"मुलाँ करि ल्यौ न्याव खुदाई,
इहि बिधि जीव का भरम न जाई।।टेक।।
सरजी आँनैं देह बिनासै, माटी बिसमल कीता।
जोति सरूपी हाथिन आया, कहौ हलाल क्या कीता।।
बेद कतेब कहौ क्यूँ झूठा, झूठा जोनि बिचारै।
सब घटि एक-एक करि जाँनैं, भी दूजा करि मारै।।
कुकड़ी मारै बकरी मारै, हक हक हक करि बोलै।
सबै जीव साँई के प्यारे, उबरहुगे किस बोलै।"[12]

गाँधीजी अहिंसा के भाव को केवल अपने लिए ही सीमित नहीं करना चाहते थे, बल्कि वो अहिंसा के अमूल्य भाव को पुनः मानव मात्र में पैदा कर, इसे समाज में स्थापित करना चाहता थे। उनका मानना था कि अहिंसा केवल ऋषियों एवं संतों के लिए ही नहीं है, बल्कि साधारण लोगों के लिए भी है। इस विषय पर उनके विचार देखिए- "मैं दिव्यद्रष्टा नहीं हूँ। मैं तो एक व्यावहारिक आदर्शवादी हूँ। अहिंसा का धर्म केवल ऋषियों और संतों के लिए नहीं है, यह साधारण लोगों के लिए भी है। अहिंसा मानव जाति का नियम है, वैसे ही जैसे कि हिंसा पशु का। पशु में आत्मा शुप्त रूप में निवास करती है, इसलिए वह केवल शारीरिक शक्ति के नियम को ही जानता है। मनुष्य की गरिमा एक उच्चतर नियम के पालन की अपेक्षा रखती है- वह नियम है आत्मा की शक्ति।"[13]

इस प्रकार अहिंसा भारतीय संस्कृति का प्रमुख अंग थी, है और रहेगी। इसी को स्पष्ट करते हुए प्रोफेसर तान-युन शान ने अहिंसा के दो रूपों की चर्चा करते हुए लिखते हैं- "अहिंसा भारतीय एवं चीनी संस्कृति का सामान्यतया प्रमुख अंग है। भारत में निषेधात्मक अहिंसा की व्याख्या प्रचलित है और चीन में विधि रूप।' गाँधी जी ने भारतीय दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए कहा था- 'इस देह में जीवन धारण करने में कुछ न कुछ हिंसा होती है। अतः श्रेष्ठ धर्म की परिभाषा में हिंसा न करना रूप निषेधात्मक अहिंसा की व्याख्या की गई है।"[14]

महात्मा गाँधी जी भारतीयता के प्रमुख अंग सत्य और अहिंसा को व्यक्तिगत आचरण से भी बाहर निकाल कर समूह, समुदायों, राष्ट्र और विश्व मानव में स्थापित करना चाहते थे ताकि द्वेष-भाव से पीड़ित मानव को शांति मिल सके। सर्वत्र प्रयोग में ही अहिंसा का औचित्य है, नहीं तो यह व्यर्थ है। उदाहरण देखिए- "हमें सत्य और अहिंसा को व्यक्तिगत आचरण की ही नहीं बल्कि समूहों, समुदायों और राष्ट्र के आचरण की वस्तु बनाना होगा। कम-से-कम मेरा स्वप्न तो यही है। और, मैं इसकी प्राप्ति का प्रयास करते हुए ही जीऊँगा और मरुँगा।

मेरा विश्वास मुझे प्रतिदिन नये सत्यों की खोज करने में सहायक होता है। अहिंसा तो आत्मा का स्वभाव है, इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को जीवन के सभी कार्यकलापों में इस पर आचरण करना चाहिए।"[15]

महात्मा गाँधी अपने युग के दूर दृष्टा थे। वह जानते थे कि समाज में जो छल-कपट, असत्य, द्वेष-भाव आदि फैला हुआ है, जिसने मानव जाति को विनाश की ओर अग्रसर कर दिया है। क्यों न इसके खिलाफ अपने सामर्थ्य का इस्तेमाल किया जाए। इस अव्यवस्था पर महात्मा गाँधी जी कहते हैं कि छल-कपट और असत्य आज दुनिया के सामने सीना ताने खड़े हैं। मैं ऐसी स्थिति का विवश साक्षी नहीं बन सकता। इसी छल-कपट, खुदगर्जी, असत्य, मिथ्याचारिता, आपसी फूट आदि को द्विवेदी युगीन कवि राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने भी अपने काव्य में प्रस्तुत किया है। उदाहरण देखिए-

"भारतखंड का हाल जरा देखो है कैसा।
आलस का जंजाल जरा देखो है कैसा।।
जरा फुट की दशा खोलकर आँखें देखो।।
खुदगर्जी का नशा खोलकर आँखें देखो।
है शेखी दौलत की कहीं, बल का कहीं गुमान है।
है खानदान का मद कहीं, कहीं नाम का ध्यान है।"[16]

महात्मा गाँधी जी इन बुराइयों को सत्य एवं अहिंसा के द्वारा मिटाना चाहते हैं। उनका प्रत्येक प्रयोग केवल स्वयं के लिए नहीं है, बल्कि समाज के लिए है। उदाहरण देखिए- "मेरी महत्वाकांक्षा सीमित है। ईश्वर ने मुझे सारी दुनिया को अहिंसा के मार्ग पर ले जाने की शक्ति प्रदान नहीं की है। लेकिन मेरी कल्पना है कि उसने भारत की अनेक बुराइयों के समाधान के लिए उसे अहिंसा का मार्ग दिखाने के वास्ते अपने साधन के रूप में चुना है। इस दिशा में अब तक की प्रगति बड़ी भारी है। पर अभी बहुत कुछ करना बाकी है।"[17]

महात्मा गाँधी जी के लिए अहिंसा व्यक्तिगत गुण नहीं है, बल्कि यह सामाजिक गुण है। यह गुण इतना उदात्त है कि प्रत्येक मनुष्य में आपसी सहयोग, भाईचारा, प्यार-प्रेम, सद्भाव, समता, समानता आदि स्थापित कर शांतिमय एवं सुखमय जीवन जीने का निमित्त बनता है। अहिंसा का यह गुण समाज से होते हुए अपने देश, राष्ट्र और अंतरराष्ट्रीय सीमा को भी पार कर जाए तो विश्व समाज में आपसी सद्भाव पैदा हो जाए। फिर भी देश और राष्ट्र के प्रति कर्तव्य निभाने के लिए अहिंसा आवश्यक गुण है। स्वतंत्रता सभी देशों के लिए आवश्यक है। ताकि वह देश विश्व के हित के लिए स्वयं को न्यौछावर कर सकें। त्याग और बलिदान की यह धारणा मिलती है अहिंसा की शक्ति द्वारा। इस विषय पर महात्मा गाँधी जी के विचार देखिए-

"मैं अपने देश की स्वतंत्रता इसलिए चाहता हूँ ताकि दूसरे देश मेरे स्वतंत्र देश से कुछ सीख सकें और मेरे देश के संसाधनों का प्रयोग मानव जाति के हित के लिए किया जा सके।

जिस प्रकार राष्ट्रप्रेम का मार्ग आज हमें सिखाता है कि व्यक्ति को परिवार के लिए प्राणोत्सर्ग कर देना चाहिए, परिवार को गांव के लिए मिट जाना चाहिए, गांव को जिले के लिए, जिले को प्रांत और प्रांत को देश के लिए अपनी बलि दे देनी चाहिए, उसी प्रकार देश के लिए स्वतंत्र होना इसलिए आवश्यक है कि यदि आवश्यकता हो तो वह विश्व के हित के लिए स्वयं को न्यौछावर कर सके। अतः राष्ट्र के प्रति मेरा प्रेम अथवा राष्ट्रीयता की मेरी अवधारणा यह है कि मेरा देश स्वतंत्र हो ताकि अगर आवश्यकता पड़े तो मानव जाति के अस्तित्व की रक्षा के लिए वह स्वयं को होम कर सके।"[18] गाँधी जी का यह संदेश प्रत्येक भारतवासी के लिए महत्वपूर्ण है। देश सर्वोपरि होता है। इसी प्रकार की देशभक्ति का संदेश हमें महावीर प्रसाद द्विवेदी जी के काव्य में मिलता है। जहाँ सभी को भारत भूमि से प्रेम करने एवं सर्वस्व न्यौछावर करने की बात कही है। एक उदाहरण देखिए-

"यह जो भारत भूमि हमारी। जन्म भूमि हम सबकी प्यारी।

एक गेह सम विस्तृत सारी। प्रजा कुटुंब तुल्य है सारी।
जन्मभूमि की बलिहारी है। यह सुरपुर से भी न्यारी है।"[19]

इस प्रकार महात्मा गांधी जी के साथ हिंदी साहित्य में भी देश भक्ति का भाव चरम पर रहा है। महात्मा गाँधी जी का मानना है कि देश के स्वतंत्र हो जाने के उपरांत जिस लोकतंत्र की स्थापना होगी, वह लोकतंत्र भी अहिंसा पर आधारित होना चाहिए ताकि सभी को उनका हक मिले, किसी का शोषण ना हो। क्योंकि हिंसक एवं झूठे संसाधनों पर आधारित लोकतंत्र स्थायी नहीं हो सकता। एक उदाहरण देखिए- "सच्चा लोकतंत्र अथवा स्वराज झूठी और हिंसक साधनों का आश्रय लेकर कभी स्थापित नहीं किया जा सकता। क्योंकि इनके प्रयोग का स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि आपको अपने हर प्रकार के विरोध को समाप्त करने के लिए दमन चक्र चलाना होगा या विरोधियों को देश निकाला दे देना होगा। हम इसे व्यक्तिगत स्वतंत्रता नहीं कह सकते। व्यक्तिगत स्वतंत्रता केवल विशुद्ध अहिंसा के वातावरण में ही पल्लवित हो सकती है।"[20]

जब समाज का प्रत्येक प्राणी अहिंसा के गुणों को धारण करके आचरण करेगा तब न केवल सच्चे लोकतंत्र की स्थापना होगी, बल्कि सबके जीवन में सुख-शांति आएगी। जिसके लिए मानव युगों से तरस रहा है। फिर यह धरती ही स्वर्ग बन जाएगी। इस पर गाँधी जी के विचार देखिए-

"रोजमर्रा के मामलों में अहिंसा का आचरण करने से उसके सच्चे मूल्य का पता चलता है। इसे पृथ्वी स्वर्ग बनती है। वस्तुतः परलोक जैसी कोई चीज नहीं है। सब लोक एक ही हैं। न कोई 'यहाँ' है, न 'वहाँ'। जैसा जीन्स ने सिद्ध किया है, दुनिया की अधिकतम शक्तिशाली दूरबीन से भी ने देखे जा सकने वाले सुदूरतम नक्षेत्रों समेत यह सारा ब्रह्मांड एक अणु से संपीड़ित है।"[21]

इस प्रकार का श्रेष्ठ उदाहरण हमें हिंदी साहित्य में जयशंकर प्रसाद द्वारा रचित महाकाव्य 'कामायनी' में मिलता है। जहाँ कवि ऐसे ही अहिंसक समाज का चित्रण करता है। जिसमें पशु-पक्षी, पेड़-पौधे आदि के साथ भी प्रेम का व्यवहार किया जाता है। ऐसे समाज में मानव दूसरों की सेवा को अपना ध्येय मानता है। यहाँ सब समता-समानता के भाव से आनंदित थे, वो चाहे जड़ हो या चेतन। सब उस परमात्मा के अंश हैं। एक उदाहरण देखिए-

"समरस थे जड़ या चेतन / सुंदर साकार बना था; चेतनता एक विलसती, आनंद अखंड घना था।"[22]

इस प्रकार गाँधी जी के लिए सत्य और अहिंसा केवल मोक्ष प्राप्ति के साधन मात्र नहीं थे, बल्कि ये समाज कल्याण या यूं कहे कि समाज के छोटे से छोटे मानव के लिए भी बराबरी का अधिकार दिलवाकर आनंदमयी जीवन जीने के साधन थे। आज सम्पूर्ण विश्व युद्ध की आग में झूलस रहा है, चारों ओर अशांति, अविश्वास, हिंसा का वातावरण बना हुआ है। भारतवर्ष द्वारा पल्लवित तथा महात्मा गांधी जी द्वारा स्थापित इस सत्य एवं अहिंसा के भाव को आज पुनः सम्पूर्ण विश्व में विकसित करने की आवश्यकता है ताकि विश्व में शाँति एवं भाईचारा स्थापित किया जा सके। ऐसा भाव प्राणियों में प्रतिष्ठित करके हम धरती को ही स्वर्ग बना सकते हैं। ऐसा करने में आज महात्मा गाँधी जी एवं हिन्दी साहित्य की भूमिका महत्वपूर्ण है।

उपसंहार:

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर स्पष्ट है कि सत्य एवं अहिंसा भारतवर्ष में सदियों से प्रयोग में लाए जाते रहे हैं, चाहे वह सतयुग हो, त्रेतायुग हो, द्वापरयुग हो या फिर कलयुग हो। इनका प्रयोग महावीर जैन एवं महात्मा बुद्ध जैसे महान धर्मात्माओं ने भी किया। उनके लिए यह प्रयोग मोक्ष प्राप्ति या व्यक्तिगत साधना के लिए रहा। लेकिन महात्मा गाँधी जी ने अपनी सारी उम्र इन प्रयोगों की साधना में लगा दी। उन्होंने सत्य एवं अहिंसा जैसे उदास गुणों को ऋषियों एवं संतों की कर्मस्थली से बाहर निकालकर, आम आदमी से लेकर समाज, देश, राष्ट्र, लोकतंत्र, स्वराज, विश्व, युद्ध-शांति, परम तत्व, शिक्षा, संस्कृति, अर्थ, नीति आदि के क्षेत्रों में शामिल कर, एक ऐसा उदात्त गुण बना दिया, जिसके द्वारा विश्व मानव के कल्याण का रास्ता प्रशस्त हो सकता है। इसके प्रयोग द्वारा ही हम विश्व की युद्ध की विभीषिका से बचा सकते हैं। महात्मा गाँधी जी के प्रयास स्वरूप आज सत्य एवं अहिंसा जैसे दिव्य गुण ही भौतिकवाद, द्वेष-भाव, महामारी, असहिष्णुता, भेदभाव, हिंसा, युद्ध उन्माद आदि से पीड़ित मानव को एकता, समता, समानता, प्यार-प्रेम, सद्भाव आदि का भाव भरते हुए आनंदमय सुखमय एवं शांतिपूर्ण जीवन जीने का रास्ता दिखा सकते हैं। जिसके रास्ते पर चलकर मानव धरती को स्वर्ग बना सकता है। आज के

युग में पुनः महात्मा गाँधी जी द्वारा सत्य और अहिंसा को लेकर किए गए प्रयोगों की अति आवश्यकता है। इसी कारण गाँधी जी को संपूर्ण विश्व युग पुरुष के रूप में मानता है और भारतवासी तो गाँधी जी को महात्मा, देवता आदि के रूप में पूजते हैं। यही सत्य एवं अहिंसा की शक्ति है। इसी शक्ति का परिचय हिंदी साहित्य में भी हमें सर्वत्र दिखाई देता है, जो विश्व मानव के अंदर सत्य एवं अहिंसा के गुण भरने का प्रयास करता है। आज इसी सत्य एवं अहिंसा के गुणों को धारण करने की आवश्यकता है ताकि विश्व का कल्याण हो सके।

संदर्भ

1. गाँधी, एम. के. (1975). *सत्याग्रह इन साउथ अफ्रीका.* अहमदाबाद: नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, पृ. 433.
2. दास, भगवान. (1940). *सनातन धर्म.* मद्रास: एन एडवांस टैक्स बुक, पृ. 314.
3. जोशिम, हरोल्ड एच. (1906). *द नेचर ऑफ ट्रुथ.* न्यूयॉर्क: ग्रीनवुड प्रेस, पृ. 66.
4. मुनि, नथमल. (1968). *अहिंसा तत्व दर्शन.* चूरू, राजस्थान: आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन, पृ. 16.
5. *यंग इंडिया.* (1931, 31 दिसंबर). पृ. 428.
6. *यंग इंडिया.* (1927, 18 अगस्त). पृ. 15.
7. वर्मा, धीरेंद्र. (1998). *सूरसागर सार.* इलाहाबाद: साहित्य भवन प्राइवेट लिमिटेड, पृ. 26.
8. *यंग इंडिया.* (1927, 18 अगस्त). पृ. 255.
9. *यंग इंडिया.* (1929, 7 फरवरी). पृ. 42.
10. *यंग इंडिया.* (1925, 4 जून). पृ. 191.
11. *यंग इंडिया.* (1928, 11 अक्टूबर). पृ. 342.
12. दास, श्यामसुंदर. (1974). *कबीर ग्रंथावली.* काशी: नागरी प्रचारिणी सभा, पृ. 84.
13. *यंग इंडिया.* (1920, 11 अगस्त). पृ. 3.
14. *अमृतबाजार पत्रिका.* (1944, 31 अक्टूबर). पृ. 18.
15. *हरिजन.* (1940, 2 मार्च). पृ. 23.
16. नगेन्द्र, डॉ. (1974). *हिंदी साहित्य का इतिहास.* दिल्ली: मयूर पेपरबैक, पृ. 499.
17. *हरिजन.* (1938, 23 जुलाई). पृ. 193.
18. प्रभु, आर. के., एवं राव, यू. आर. (1994). *महात्मा गाँधी के विचार.* नई दिल्ली: नेशनल बुक ट्रस्ट, पृ. 420.
19. सिंह, बहादुर. (2002). *हिंदी साहित्य का इतिहास.* यमुनानगर: माधव प्रकाशन, पृ. 332.
20. *हरिजन.* (1931, 18 मई). पृ. 129.
21. *हरिजन.* (1942, 26 जुलाई). पृष्ठ संख्या उपलब्ध नहीं है.
22. प्रसाद, जयशंकर. (1936). *कामायनी.* वाराणसी: प्रसाद प्रकाशन मंदिर, पृ. 292.

Received: 24.11.2025 | Accepted: 15.12.2025 | Published: 30.12.2025

RESEARCH PAPER ON MORNING ASSEMBLY

Anju Pawar[*]
myselfanjupawar@gmail.com

Nirupma Sharma[†]
nirupmasharmamcd@gmail.com

Abstract

Morning assembly is a routine part of school life, but its potential as a learning space often remains underused. This paper presents a qualitative case study of an innovative assembly model implemented in a Delhi government school, where conventional straight-line gatherings were transformed into student-led, theme-based formations involving the entire school. Students planned, rehearsed, coordinated, and presented formations such as circles, spirals, geometric designs, and the Indian national flag, linking them with curricular themes, national occasions, and social messages.

The redesigned assembly brought together mathematics, art, music, dance, theatre, physical education, environmental awareness, and civic values. Student involvement in planning and execution created opportunities for leadership, collaboration, communication, creativity, and responsibility. Evidence from school records, observations, teacher reflections, and activity documentation indicated greater student participation, confidence, cooperation, and ownership, alongside a more inclusive school environment. Parents and community members also responded positively to the visible participation of students.

The initiative formed part of a wider school-improvement strategy that included community engagement, parental outreach, and efforts to strengthen attendance and retention. During the broader intervention period, the school recorded increased enrolment, improved attendance, and reduced dropout. These outcomes cannot be attributed to the assembly alone; rather, the assembly functioned as one visible component of a wider effort to create a welcoming and engaging school environment.

The case demonstrates that a routine school practice can be transformed into a low-cost space for experiential learning, student leadership, creativity, and community participation. The model offers a practical approach for schools seeking to strengthen student engagement and school culture using existing resources.

Keywords*:*

Morning assembly, student engagement, student leadership, school climate, experiential learning, participatory learning, school enrolment, student retention, government schools.

---

[*] **PRINCIPAL, GG SSS NO.3 BADARPUR**

[†] **TGT MATH, GG SSS NO. 3 BADARPUR**

1. Introduction

Morning assembly is a familiar part of school life, bringing students and teachers together at the beginning of the day. Although it commonly includes prayer, the national anthem, announcements, and brief presentations, its potential as a space for learning and participation often remains underused. As schools increasingly emphasise holistic development, the assembly can provide opportunities for interaction, creativity, physical activity, student leadership, and shared learning.

The National Education Policy (NEP) 2020 promotes experiential, multidisciplinary, arts-integrated, and participatory learning, while the National Curriculum Framework for School Education (NCF-SE) 2023 emphasises holistic development and meaningful learning experiences across curricular areas (Ministry of Education, 2020; NCERT, 2023). These perspectives provide a basis for reconsidering everyday school practices, including the morning assembly.

School climate and student engagement are also closely connected with students' experiences of belonging, participation, relationships, and support. Recent OECD evidence highlights school climate, motivation, belonging, and engagement among factors associated with school attendance (OECD, 2026). UNESCO similarly emphasises supportive environments, student participation, and collaboration among schools, families, and communities as elements of whole-school approaches (UNESCO, 2020). Thus, the quality of students' everyday experiences may influence their connection with school.

Against this background, a Delhi government school restructured its conventional assembly. Instead of students standing only in straight rows, the entire school participated in theme-based formations such as concentric circles, spirals, geometric patterns, the Indian national flag, and other symbolic designs. These were connected with curricular concepts, national occasions, environmental themes, social messages, and school activities.

Students were involved in planning, positioning, rehearsing, coordinating, and presenting the formations, while teachers provided guidance and supervision. Mathematics was incorporated through shapes, symmetry, patterns, measurement, and spatial relationships, alongside art, music, dance, theatre, storytelling, yoga, physical education, environmental awareness, and value education. The assembly thus became an interdisciplinary space in which students could learn through movement, expression, collaboration, and experience.

The initiative also provided opportunities for students with different abilities and interests to contribute as performers, speakers, coordinators, designers, volunteers, or formation leaders. Parents, School Management Committee members, alumni, and other community members encountered these activities during school events and special occasions, making student participation and school culture more visible to the wider community.

The assembly was implemented as part of a broader school-improvement effort that included parental outreach, community mobilisation, home visits, enrolment initiatives, and support for students with irregular attendance. During this period, the school recorded changes in attendance, enrolment, and dropout. These outcomes cannot be attributed to the assembly alone, as student participation and retention are influenced by academic, family, social, and institutional factors.

Rather, the assembly is examined as one component of a wider effort to create a more welcoming and participatory school environment.

Although research has examined school assemblies as spaces for ritual, discipline, values, and socialisation, relatively little attention has been given to student-led assemblies that combine creative formations, interdisciplinary learning, leadership, and whole-school participation, particularly in government-school contexts in India. This study addresses this gap through a qualitative case study of an innovative morning assembly model implemented at a Delhi government school.

The study examines how the assembly was transformed into a participatory learning space and explores its perceived contribution to student engagement, leadership, school climate, community participation, and the wider goals of attendance, enrolment, and retention. The case also demonstrates how an existing school routine can be redesigned as a low-cost educational innovation using available space, teacher facilitation, and student participation.

2. Review of Literature

Research specifically examining morning assembly as a pedagogical practice remains limited. Existing studies largely view assemblies as institutional rituals, spaces for socialisation, discipline, values, and collective participation. Related research on school climate, engagement, and student participation provides a broader basis for examining their educational potential.

2.1 Morning Assembly as a Learning Space

Silbert and Jacklin (2015), studying a South African school, examined assembly as a regulatory ritual and showed how spatial arrangements, rules, and institutional practices communicate expectations about discipline and belonging. Bhattacharya and Sterponi (2020), through an ethnographic study of an Indian school's morning assembly, similarly showed how assemblies shape students' experiences of authority, knowledge, values, and identity.

In an Indian practice-based account, Tripathy and Kumar (2019) described *Chetana Satra* as an interactive and collective learning opportunity extending beyond the classroom. Together, these studies indicate that assemblies can serve social and educational purposes, although limited research has examined student-led assemblies using creative formations and interdisciplinary learning.

2.2 School Climate and Student Engagement

Research on school climate provides important context for understanding the possible significance of everyday school experiences. Larson et al. (2020), reviewing studies from low- and middle-income countries, found associations between school climate and students' socio-emotional, behavioural, and academic outcomes.

Wang et al. (2020), in a systematic review and meta-analysis of 61 studies involving more than 73,000 students, found that supportive classroom climates were associated with stronger motivation, engagement, social competence, and academic achievement, as well as fewer behavioural and emotional difficulties.

Phuntsho and Dendup (2020) also reported significant relationships among school climate, student engagement, and academic achievement among higher secondary students. Collectively, these

findings suggest that students' everyday experiences and relationships within school can influence their engagement and development.

2.3 Participation, Agency and Leadership

Tilhou (2020) proposes that morning meetings can provide opportunities for democratic participation by giving students experience in decision-making, shared responsibility, and agency. Although the study is conceptual rather than an experimental evaluation, its perspective is relevant to assemblies in which students participate in planning, organising, and conducting activities.

Such participation can shift students from being an audience to becoming contributors to school life. However, existing research does not provide strong causal evidence that student-led assemblies directly improve achievement, attendance, or retention.

2.4 Engagement, Attendance and Retention

Attendance and retention are shaped by multiple academic, social, family, and institutional factors. Nevertheless, research indicates that belonging, supportive relationships, participation, and engagement are important aspects of students' connection with school.

The OECD (2026) identifies school climate, belonging, motivation, relationships, and engagement among factors relevant to understanding school attendance. This provides a useful framework for considering the present case, while recognising that the morning assembly represents only one element of a wider school-improvement process.

2.5 Research Gap

The literature shows that assemblies can function as spaces for socialisation, institutional culture, learning, and participation, while research on school climate establishes links between supportive school environments and student engagement. However, limited empirical attention has been given to whole-school, student-led assemblies that combine creative spatial formations, interdisciplinary learning, and leadership opportunities, particularly in Indian government schools.

The present study addresses this gap through a qualitative case study of an innovative morning assembly in a Delhi government school. It examines the initiative as part of a broader school-improvement process and explores its contribution to student participation, leadership, school culture, and community engagement. Changes in enrolment, attendance, and dropout are considered as contextual outcomes rather than as effects attributable solely to the assembly.

3. Case Study of Government Girls Senior Secondary School No. 3, Badarpur, Delhi

Government Girls Senior Secondary School (GGSSS) No. 3, Badarpur, is a girls' government school under the Directorate of Education, Government of the National Capital Territory of Delhi. The school caters to students from Classes VI to XII and serves a socially and economically diverse community in South-East Delhi. Many students come from families engaged in informal work, small businesses, domestic work, and daily-wage employment. The school has therefore sought to create an environment in which students feel supported, included, and motivated to continue their education.

As part of its wider school-improvement efforts, the school reconsidered the way its morning assembly was organised. Instead of restricting the assembly to prayer, announcements, and routine

presentations, the school used it as a regular opportunity for student participation, experiential learning, and collective expression. The underlying idea was simple: the daily gathering of the entire school could itself become a meaningful learning experience.

A key change was the replacement of conventional straight-line formations with large, theme-based designs involving the whole school. Students formed concentric circles, spirals, geometric patterns, the Indian national flag, human chains, and other symbolic arrangements. The formations were linked to themes such as national occasions, constitutional values, environmental awareness, health and hygiene, gender equality, mathematics, science, and social messages.

Students were actively involved in preparing these assemblies. They helped plan themes, work out formations, coordinate groups, rehearse movements, organise presentations, and support discipline and stage management. Teachers provided supervision and guidance, but responsibility was increasingly shared with students. This created opportunities for leadership, communication, cooperation, decision-making, and organisational skills to develop through actual school activities rather than through isolated exercises.

The assemblies also provided an interdisciplinary learning space. Mathematical ideas such as shapes, symmetry, patterns, angles, measurement, geometry, and spatial relationships were reflected in the formations. Music, dance, theatre, poetry, storytelling, visual art, yoga, and physical activities were incorporated according to the theme. National and international observances, environmental campaigns, health messages, student achievements, and cultural occasions were also brought into the assembly. In this way, curricular and co-curricular learning became part of a shared school experience.

Participation was designed to include the entire student body. This gave students with different interests and abilities opportunities to contribute. Some took responsibility for coordination and organisation, while others participated through speaking, drawing, choreography, music, technology, performance, or formation management. Students who were less visible in conventional academic settings could therefore find meaningful roles within the assembly.

The initiative also created opportunities for interaction with parents and the wider community. Parents, School Management Committee members, alumni, local community representatives, and education officials witnessed special assemblies and school events. Students' participation and performances provided a visible demonstration of their confidence, creativity, and teamwork and contributed to a more positive perception of the school.

The assembly initiative was implemented alongside other school-improvement measures, including parent interaction, home visits, community mobilisation, enrolment drives, counselling, and efforts to support irregular and out-of-school students. Within this broader context, the school observed greater student participation, enthusiasm, leadership, and community involvement. School records also showed changes in enrolment, attendance, and dropout during the period of the wider intervention. These outcomes cannot be attributed to the morning assembly independently; rather, the assembly formed one part of a larger effort to make the school environment more welcoming and engaging.

The case of GGSSS No. 3, Badarpur illustrates how an existing school routine can be redesigned without substantial additional resources. By combining student leadership, creative formations, interdisciplinary learning, and whole-school participation, the morning assembly evolved from a largely routine gathering into a regular space for learning and collective participation. The experience offers a practical example of how government schools can use existing time, space, and human resources to strengthen school culture and student engagement.

4. Research Methodology

4.1 Research Design

The study used a qualitative case study design to examine the innovative morning assembly practices at GGSSS No. 3, Badarpur, within their actual school context. The study focused on the implementation of the student-led, interdisciplinary assembly and its perceived contribution to student participation, leadership, school climate, community involvement, and wider school improvement.

4.2 Objectives of the Study

The study aimed to:

1. Document the innovative morning assembly practices implemented at GGSSS No. 3, Badarpur.
2. Examine students' involvement in planning, organising, and conducting thematic assemblies.
3. Explore the contribution of the initiative to leadership, collaboration, creativity, and school climate.
4. Examine its role within wider efforts related to community participation, attendance, enrolment, and student retention.

4.3 Sources of Data

Data were drawn from multiple sources:

- school records on enrolment, attendance, and retention;
- observation notes from planning, rehearsals, and assemblies;
- teacher reflections and implementation records;
- photographs and activity documentation;
- records of school and community initiatives; and
- informal interactions with students, teachers, parents, and SMC members.

Using multiple sources enabled triangulation and provided a broader understanding of the initiative.

4.4 Data Analysis

Qualitative evidence was analysed thematically. Recurring patterns were grouped under themes including student participation, leadership, teamwork, creativity, responsibility, school climate, parental involvement, and community perception.

Enrolment, attendance, and retention records were examined descriptively to identify changes during the wider school-improvement period. These data were used as contextual evidence and not

to establish a causal relationship between the morning assembly and enrolment or dropout. The assembly was therefore interpreted as one component of the broader school-improvement strategy.

5. Findings and Discussion

Analysis of observations, teacher reflections, activity records, student participation, and school records revealed five major themes: student engagement, leadership and collaboration, school climate, community perception, and the initiative's contribution to wider enrolment and retention efforts.

5.1 Student Engagement and Ownership

The redesigned assembly shifted students from largely passive participation to active involvement. Students planned, rehearsed, coordinated, and presented circles, spirals, geometric patterns, the national flag, human chains, and other formations. Participation extended beyond high-performing or confident students, with different roles available as anchors, performers, designers, coordinators, and volunteers.

These observations align with Fredricks, Blumenfeld, and Paris (2004), who describe engagement as behavioural, emotional, and cognitive. In this case, students demonstrated active participation, enthusiasm, planning, spatial reasoning, and problem-solving. Increasingly, students viewed the assembly as something they helped create rather than an activity conducted for them.

5.2 Leadership and Collaboration

Planning large formations required students to organise positions, communicate instructions, rehearse, solve problems, and coordinate with peers. Older students also supported younger participants, creating opportunities for peer leadership.

The experience reflects the emphasis of NEP 2020 on experiential and competency-based learning, particularly collaboration, communication, creativity, and problem-solving (Ministry of Education, 2020). Teachers continued to provide guidance and supervision while allowing students greater responsibility for implementation.

5.3 Learning Through Space and Movement

The assembly ground became a physical learning space. Circles, geometric formations, and patterns provided opportunities to experience symmetry, measurement, angles, spatial relationships, alignment, and direction. Other formations communicated themes related to national identity, environmental awareness, and social responsibility.

Thus, students encountered ideas through movement, visualisation, and collective action. This reflects the experiential and multidisciplinary orientation of NCF-SE 2023 (NCERT, 2023) and demonstrates how an existing school routine can support learning without additional infrastructure.

5.4 School Climate and Belonging

Working across classes required cooperation and shared responsibility. Students were not merely attending an activity; they were contributing to its creation. This appeared to strengthen participation, peer interaction, and a sense of belonging.

The finding is consistent with research linking supportive school environments with student engagement and development (Larson et al., 2020; Fredricks et al., 2004). The assembly was not an independent cause of school climate, but became a regular expression of values such as cooperation, inclusion, responsibility, and mutual respect.

5.5 Community Perception

Parents, SMC members, visitors, and other stakeholders observed students during special assemblies and school events. These occasions made students' confidence, creativity, teamwork, and organisational abilities visible beyond the classroom.

Positive community responses were noted in school records and teacher reflections. However, these responses cannot be taken as evidence that the assembly alone influenced parental school choices. Its contribution was mainly through strengthening interaction and making school activities more visible to the community.

5.6 Enrolment and Student Retention

The school recorded increased enrolment and reduced dropout during the wider period of school improvement. The assembly may have contributed indirectly by creating a more engaging school environment and providing visible evidence of student participation and achievement.

However, enrolment and retention are influenced by family circumstances, economic conditions, accessibility, academic experiences, school facilities, parental preferences, and other factors. The assembly should therefore be viewed as one supportive component of a broader enrolment and retention strategy, rather than as a direct cause of these changes.

5.7 A Low-Cost Innovation

The initiative required no specialised infrastructure or major expenditure. Its main resources were school space, teacher guidance, student participation, rehearsal time, and collective effort. The innovation therefore lay in reimagining an existing routine rather than adding an expensive programme.

The model can be adapted according to school size, available space, student age, supervision, and safety requirements.

Overall Interpretation

Based on the evidence presented, a tentative interpretive pathway can be proposed, wherein student participation appears to precede the development of leadership and collaborative capacities, which subsequently relate to increased engagement and a stronger sense of belonging; these, in turn, may contribute to a more cohesive school culture with greater community visibility, potentially supporting institutional goals around enrolment and retention. This pathway is proposed as a heuristic for interpretation rather than as evidence of a statistically established causal relationship. The case nonetheless demonstrates that when students are afforded meaningful agency in shaping a routine practice such as the morning assembly, it can be reconstituted as a substantive site for learning, leadership development, creative expression, collaboration, and belonging.

REFERENCES:

Bhattacharya, U., & Sterponi, L. (2020). The morning assembly: Constructing subjecthood, authority, and knowledge through classroom discourse in an Indian school. In M. J. Burdelski & K. M. Howard (Eds.), *Language socialization in classrooms: Culture, interaction, and language development* (pp. 181–199). Cambridge University Press.

Fredricks, J. A., Blumenfeld, P. C., & Paris, A. H. (2004). School engagement: Potential of the concept, state of the evidence. *Review of Educational Research, 74*(1), 59–109. https://doi.org/10.3102/00346543074001059

Larson, K. E., Nguyen, A. J., Orozco Solis, M. G., Humphreys, A., Bradshaw, C. P., & Lindstrom-Johnson, S. R. (2020). A systematic literature review of school climate in low and middle income countries. *International Journal of Educational Research, 102*, Article 101606. https://doi.org/10.1016/j.ijer.2020.101606

Ministry of Education, Government of India. (2020). *National Education Policy 2020*. Government of India. https://www.education.gov.in/sites/upload_files/mhrd/files/NEP_Final_English_0.pdf

National Council of Educational Research and Training. (2023). *National Curriculum Framework for School Education 2023*. NCERT.

OECD. (2026). *Every day counts: Understanding, preventing and responding to school attendance problems*. OECD Publishing. https://doi.org/10.1787/7c6f6c3e-en

Phuntsho, U., & Dendup, R. (2020). The relationship between school climate, student engagement and academic achievement in higher secondary school. *Bhutan Journal of Research & Development, 9*(2), 98–131.

Silbert, P., & Jacklin, H. (2015). "Assembling" the ideal learner: The school assembly as regulatory ritual. *Review of Education, Pedagogy, and Cultural Studies, 37*(4), 326–344. https://doi.org/10.1080/10714413.2015.1065618

Tilhou, R. C. (2020). The morning meeting: Fostering a participatory democracy begins with youth in public education. *Democracy & Education, 28*(2), Article 5. https://democracyeducationjournal.org/home/vol28/iss2/5

Tripathy, M. K., & Kumar, S. (2019). Morning assembly as a learning experience. *Learning Curve, 4*, 28–31.

UNESCO. (2020). *What you need to know about school violence and bullying*. UNESCO. https://www.unesco.org/en/articles/what-you-need-know-about-school-violence-and-bullying

UNICEF. (2026, July 10). *Building a predictive early warning system for school dropout in India*. UNICEF Digital Education. https://www.unicef.org/digitaleducation/stories/building-predictive-early-warning-system-school-dropout-india

UNICEF India. (2024). *Education*. UNICEF India. https://www.unicef.org/india/what-we-do/education

UNICEF Innocenti – Global Office of Research and Foresight. (2024, July). *Child labour and schooling in India: A reappraisal*. UNICEF Innocenti. https://www.unicef.org/innocenti/reports/child-labour-and-schooling-india

Wang, M. T., Degol, J. L., Amemiya, J., Parr, A., & Guo, J. (2020). Classroom climate and children's academic and psychological wellbeing: A systematic review and meta-analysis. *Developmental Review, 57*, Article 100912. https://doi.org/10.1016/j.dr.2020.100912

Received: 25.11.2025 | Accepted: 15.12.2025 | Published: 30.12.2025

From Civilization to Survival: Language as Social Infrastructure in Octavia Butler's Speech Sounds

Vanya Gupta*

Abstract:

When we think of infrastructure, we imagine tangible things like roads, electricity, buildings etc. Language is rarely considered a part of this discussion. In Speech Sounds, Octavia Butler paints a dystopian world where civilized society has collapsed under the pressure of human isolation. It poses the question not just of the importance of language but also delves into what language enables and how it holds an irreplaceable position for human civilization.

Keywords: *Dystopia, Language, Social Infrastructure, Civilization*

Every other dystopia talks of a massive threat that wipes out entire civilizations- something tangible, something huge and something visibly devastating. However, these are not the only types of danger we need to be warned of. In *Speech Sounds*, Octavia Butler presents the aftermath of a mysterious threat which has left humanity specially impaired. “The illness”, as she calls it (Butler 5), has impaired the language of humans. Some people have become unable to read and write. Others can’t listen or speak. The degree of this impairment also varies. The spectrum of human communication has been reduced to crude gestures and grunts. During such turbulent times, social security is in shambles. Yet, driven by loneliness,

Valerie Rye- an ex-teacher at UCLA, starts a perilous journey to find her living relatives. It is through her short but momentous journey that Butler drives home the importance of language and communication in the establishment, development and armament of human civilization.

Butler imagines a future where the entire concept of a civilized society has become obsolete. It can’t be considered as even a relic of the past because very few people actually think back to it, not for the lack of memory but for the lack of intellectual means to think about it. Social, cultural, religious and economic institutions have deteriorated to the point that Rye thinks of Obsidian’s LAPD uniform as obsolete (Butler 2). It is interesting to note that unlike many post apocalyptic dystopias, the downfall of society wasn’t caused by an alien invasion or war or nuclear disaster. In Butler’s world, human society collapses because they lose their language.

Existing scholarship revolves largely around the way Butler portrays humans and their inter-personal interactions, ranging from obscene gestures and pointless fights to desperate attempts for comfort and connection. James offers a feminist reading of the text.

* **Independent Scholar, House no. 2363, Siwani Road, Tosham, District- Bhiwani, Haryana**

Ferrández-Sanmiguel talks about the way impaired humans are stripped of their personhood and essentially considered like animals who can't share their thoughts. While Troy does delve into the linguistic aspects in greater detail, the question at heart remains unanswered- why and how can the loss of language give birth to a dystopia?

The loss of language in *Speech Sounds* isn't slow or subtle. It is instant and devastating (Butler 5). When social infrastructure collapses, civilization regresses. It doesn't mean people have suddenly become animals. This regression is less of a biological decline and more the collapse of social systems. Humans are still intelligent beings but in Butler's world, they can not explain to, negotiate with or comfort each other. As a direct result, misunderstandings

turn violent, mutual trust gets eroded and communities collapse. The whole concept of civilized behaviour gets replaced by struggle for survival. Speech isn't the only thing that disappears. It also takes away everything enabled by proper linguistic communication.

In the light of this, it can be argued that Butler represents language as a form of social infrastructure rather than merely a tool of communication. The collapse of this infrastructure dismantles law, trust, cooperation and even individual identity before it destroys civilization. Language sustains civilization. When humans are stripped of their language, their lives are reduced to isolated acts of survival instead of communal efforts at making meaning out of human experiences.

Consider the matter of social bonds. Mutual trust enables man to bond with his peers and form meaningful social relationships. These relationships in turn shape society and civilization. When modern humans lose their language along with the ability to communicate, it results in the surfacing of the buried cynicism kept in check by transparent and clear exchange of words. The fight on the bus was entirely unnecessary. Yet it was a common occurrence. This is because with the lack of clearly conveyed intentions, everyone is perceived as a threat in a regressed society struggling for survival. Man's modern response of dialogue turns into the primal response of fight or flight when exposed to even the smallest measure of conflict in any form.

Law and order are the backbone of a truly civilized society. Rye's reaction to Obsidian's LAPD uniform showcases an acute distrust for this vital pillar of modern society. She emphasizes how the law and police no longer exist (Butler 2). With the loss of language that allows humans to make laws and govern themselves, justice and social order become obsolete too (Butler 4). This underscores the significance of language as the true social infrastructure. It enables the existence of things like the law and even technology which we think of instinctively upon reading the word 'infrastructure'.

Human identity itself is shaped by language. Without words, people are reduced to carrying things that suggest their name like the wheat pin for Rye (Butler 6) and the necklace for Obsidian (Butler 5). These things do not represent their names exactly but only an idea close to the name in context. This strips the humans of a momentous thing that they consider an inseparable part of their identity. Butler's mastery over this is highlighted when she writes how Rye has given up on ever hearing her name spoken out loud because she has no way of communicating her name to someone who may call it out for her (Butler 6).

The ending of the story comes with a beacon of hope. While Rye's plans of a comparatively stable and happy life with Obsidian are shattered with his death, she stumbles across children who are not impaired. It is at this juncture that Rye discloses her full name (Butler 12). Butler uses the spoken word for the first time in the last sentence of the story (12) to tell us that all hope is not lost.

It all circles back to the importance of language for a society- not merely as a tool for communication but also as significant social infrastructure. By allowing humans to communicate, language helps them to build- meaning, relationships and even social structures. The loss of language in *Speech Sounds* is not merely a storytelling idea or plot device. It tries to show us how deeply dependent we are on language. It serves as a haunting representation of how quickly we can go from thriving in a civilized society to fighting for survival; all because of the language we often overlook while discussing infrastructure.

References:

Butler, Octavia E. "Speech Sounds." *Thornwillow*, 1983.

Ferrández-Sanmiguel, María. "Toward an Ethics of Affinity: Posthumanism and the Question of the Animal in Two SF Narratives of Catastrophe." *Critique: Studies in Contemporary Fiction*, vol. 64, no. 5, 2023, pp. 749–762.

James, Joy. "Captive Maternal Love: Octavia Butler and Sci-Fi Family Values." *Literature and the Development of Feminist Theory*, 2015, pp. 185–199.

Troy, Maria Holmgren. "Loss of Words: Octavia Butler's 'Speech Sounds.'" *The Power of 3x*, 2005.

यू.जी.सी. के नवीन दिशा-निर्देशों के अनुरूप प्रकाशित Impact Factor (IIFS): 6.875

Received: 26.11.2025 | Accepted: 15.12.2025 | Published: 30.12.2025

काका कालेलकर की यात्रा दृष्टि : 'हिमालय की यात्रा' के विशेष संदर्भ में

तसलीमा नसरीन*
tashustars20@gmail.com

डॉ. संदीप मधुकर सपकाले†
sandeepmsapkale@hindivishwa.ac.in

शोध सार

यात्रा साहित्य मानव सभ्यता की कभी न खत्म होने वाली जिज्ञासा और जीने की इच्छा का अभिव्यक्ति है, जो उसे सीमाओं से परे देखने और अनजान चीज़ों को खोजने के लिए प्रेरित करता है। भारतीय दार्शनिक परंपरा में, 'चरैवेति चरैवेति' (चलते रहो, चलते रहो) का संदेश केवल शारीरिक गति तक सीमित नहीं है, बल्कि यह आत्म-साक्षात्कार, सांस्कृतिक आदान-प्रदान और ज्ञान प्राप्ति की निरंतर प्रक्रिया को दर्शाता है। यह लेख हिंदी यात्रा साहित्य की पड़ताल करता है और राष्ट्रकाका दत्तात्रेय बालकृष्ण कालेलकर की यात्रा-दर्शन का विस्तृत विश्लेषण प्रस्तुत करता है। जहाँ हिंदी यात्रा साहित्य की परंपरा राहुल सांकृत्यायन के पुरातात्विक-ऐतिहासिक दृष्टिकोण और अज्ञेय के आत्म-विश्लेषणात्मक-अस्तित्ववादी दृष्टिकोण से पहचानी जाती है, वहीं काका कालेलकर का यात्रा साहित्य सांस्कृतिक-मानवतावादी और जन-कल्याणकारी दृष्टिकोण का एक अनूठा उदाहरण पेश करता है। यह लेख कालेलकर के विचारों जैसे पर्यावरण-दर्शन, राष्ट्रीय एकता, गांधीवादी मूल्य और सार्वभौमिक भाईचारा का उनकी रचना 'हिमालय की यात्रा' के आलोक में व्यापक रूप से परीक्षण करता है।

बीज शब्द-

यात्रा, संस्कृति, साहित्य, हिमालय, आंतरिक, जीवन, आध्यात्मिक, समाज, विचार, भारतीय, भौगोलिक, आदि।

प्रस्तावना

भारतीय साहित्यिक एवं सांस्कृतिक परंपरा में यात्रा केवल स्थान-परिवर्तन का माध्यम नहीं, बल्कि ज्ञान, आत्मान्वेषण, सांस्कृतिक संवाद और जीवन-दृष्टि के विकास की प्रक्रिया रही है। हिंदी साहित्य में यात्रा-वृत्तांत ने प्रकृति, समाज, संस्कृति, इतिहास और मानवीय अनुभवों को अभिव्यक्त करने वाली महत्त्वपूर्ण विधा के रूप में अपना विशिष्ट स्थान बनाया है। इस परंपरा में काका कालेलकर का यात्रा-साहित्य अपनी सांस्कृतिक, मानवीय, आध्यात्मिक और गांधीवादी दृष्टि के कारण विशेष महत्त्व रखता है। उनकी चर्चित कृति 'हिमालय की यात्रा' हिमालय के प्राकृतिक सौंदर्य के साथ-साथ उसके धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और आध्यात्मिक स्वरूप को उद्घाटित करती है। कालेलकर के लिए हिमालय मात्र भौगोलिक संरचना नहीं, बल्कि भारतीय जीवन-मूल्यों, आत्मचिंतन, तपस्या, सेवा, त्याग और राष्ट्रीय एकता का प्रतीक है। प्रस्तुत शोध-पत्र में 'हिमालय की यात्रा' के विशेष संदर्भ में काका कालेलकर की यात्रा-दृष्टि का विश्लेषण करते हुए यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि उनकी यात्रा-चेतना प्रकृति-दर्शन से आगे बढ़कर मानवता, संस्कृति और लोककल्याण से जुड़ती है।

उद्देश्य

प्रस्तुत शोध का प्रमुख उद्देश्य काका कालेलकर की यात्रा-दृष्टि का 'हिमालय की यात्रा' के विशेष संदर्भ में अध्ययन करना है। इसके अंतर्गत हिमालय के प्राकृतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक एवं राष्ट्रीय पक्षों का विश्लेषण तथा उनकी गांधीवादी मानवीय चेतना, प्रकृति-दृष्टि, राष्ट्रीय एकता और लोककल्याण की भावना को रेखांकित करना प्रमुख उद्देश्य है।

* **पी-एच. डी. शोधार्थी, हिंदी साहित्य विभाग, साहित्य विद्यापीठ, म. गां. अं. हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा**

† **शोध निर्देशक, साहित्य विद्यापीठ, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा**

शोध-प्रविधि

प्रस्तुत शोध में मुख्यतः वर्णनात्मक, विश्लेषणात्मक एवं व्याख्यात्मक शोध-प्रविधि का प्रयोग किया गया है। अध्ययन का प्राथमिक आधार काका कालेलकर की कृति 'हिमालय की यात्रा' है, जिसमें उनके यात्रा-अनुभवों, प्रकृति-दृष्टि, सांस्कृतिक चेतना, आध्यात्मिक चिंतन तथा गांधीवादी जीवन-मूल्यों का विश्लेषण किया गया है। शोध के लिए द्वितीयक स्रोतों के रूप में काका कालेलकर के व्यक्तित्व एवं कृतित्व से संबंधित आलोचनात्मक साहित्य, संदर्भ-ग्रंथ और उपलब्ध शोध-सामग्री का उपयोग किया गया है। पाठ के विभिन्न प्रसंगों का सूक्ष्म अध्ययन करते हुए हिमालय के भौगोलिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और मानवीय आयामों को परस्पर संबद्ध करके व्याख्यायित किया गया है। निष्कर्षों के निर्धारण में पाठ-साक्ष्य एवं तार्किक विश्लेषण को आधार बनाया गया है।

मूल आलेख

भारतीय सांस्कृतिक परंपरा में यात्रा का विशेष महत्व रहा है। प्राचीन काल से ही ऋषि-मुनि, साधु-संत, दार्शनिक और ज्ञान की खोज करने वाले लोग देश-विदेश की यात्राएं करते रहे हैं और अपने अनुभवों से समाज को समृद्ध बनाते रहे हैं। तीर्थ-यात्रा, ज्ञान-यात्रा, सांस्कृतिक यात्रा और प्रकृति-दर्शन भारतीय जीवन-शैली का अभिन्न अंग रहे हैं। आधुनिक हिंदी साहित्य में यात्रा-वृत्तांत एक स्वतंत्र साहित्यिक विधा के रूप में विकसित हुए हैं, जो यात्रा के माध्यम से प्रकृति, समाज, इतिहास, लोक-जीवन और संस्कृति का बहुआयामी चित्र प्रस्तुत करते हैं। इस विधा के विकास में अनेक साहित्यकारों का योगदान रहा है, जिनमें काका कालेलकर अत्यंत सम्मानित हैं। कालेलकर जी के यात्रा-वृत्तांतों में हिमालय का चित्रण कई पहलुओं वाला है। उनके लिए हिमालय केवल बर्फ से ढकी पर्वत-शृंखलाओं का दृश्य नहीं है, बल्कि प्रकृति की विशालता, जीवन की पवित्रता, तपस्या, त्याग, संयम, लोक-संस्कृति, राष्ट्रीय एकता और मानवीय मूल्यों का जीवंत प्रतीक है। हिमालय की प्राकृतिक सुंदरता का सूक्ष्म और कलात्मक वर्णन करते हुए, वे उससे जुड़ी धार्मिक मान्यताओं, सांस्कृतिक परंपराओं, लोक-जीवन, तीर्थ-स्थलों, संतों और आम लोगों के जीवन को भी उतनी ही संवेदनशीलता के साथ प्रस्तुत करते हैं। उनके यात्रा-वृत्तांतों में हिमालय का हर दृश्य न केवल बाहरी प्रकृति का चित्रण है, बल्कि लेखक की आंतरिक चेतना और जीवन-दर्शन की झलक भी है। इस संदर्भ में वे लिखते हैं- "हिमालय भूलोक का स्वर्ग और यक्ष-किन्नर की निवास-भूमि है। वह अितना विशाल है कि उसमें संसार के सभी दुःख समा सकते हैं; अितना शीतल है कि सब प्रकार की चिन्ता-रूपी अग्नि को वह शान्त कर सकता है; जितना धनाढ्य है कि कुवेर को भी आश्रय दे सकता है; और जितना ऊँचा है कि मोक्ष की सीढ़ी बन सकता है।"[1]

काका कालेलकर अपने इस यात्रा वृत्तांत को 'हिमालयनो प्रवास' नाम से गुजराती भाषा में लिखा था, जिसका बाद में दादा धर्माधिकारी ने 1948 में 'हिमालय की यात्रा' नाम से हिंदी में अनुवाद कर प्रकाशित करवाया। उन्होंने इस यह यात्रा को 40 दिनों में पूरी की। इस यात्रा के दौरान उन्होंने लगभग 800 मील की दूरी पैदल तय की और रास्ते में मिली जगहों, लोगों, चीज़ों, घटनाओं, अनुभवों और पहाड़ी संस्कृति का जीवंत वर्णन किया है। उन्होंने सबसे पहले प्रयाग, काशी और गया के 'त्रिस्थल' की यात्रा की, और उसके बाद बोधगया, बेलूर मठ और अयोध्या गए। फिर वे अपने करीबी दोस्त अनंतबुवा मारडेकर और स्वामी आनंद के साथ हिमालय की यात्रा पर निकले। इस यात्रा का मकसद आध्यात्मिक साधना था, लेकिन काकासाहेब कोई आम साधक नहीं थे। उनमें ईश्वरीय दर्शन की चाहत थी और वे प्रकृति की हर चीज़ को भक्तिभाव से देखते थे। समाज को देखने की आदत के कारण, वे हर आध्यात्मिक अनुभव को बहुत समझदारी और परख के साथ समझते थे। साथ ही, उनमें देश की आज़ादी और समाज सुधार का भी गहरा जज़्बा था। इस बारे में काकासाहब लिखते है- "वरना, मेरी साधना पुराने ढंग से ही चलती और उसमें पुरानी रुढ़ियों की कृत्रिमता आ जाती। भविष्य की सेवा के लिए मैं निकम्मा बन जाता और आध्यात्मिकता में जो गहराई आई, वह कभी न आ पाती।"[2] हिमालय की यात्रा ने उनके आध्यात्मिक जीवन को समृद्ध किया और वहाँ किए गए चिंतन, मनन, ध्यान और आध्यात्मिक साधना से उन्हें अपने जीवन की सही दिशा मिली और आध्यात्मिक शांति प्राप्त हुई। जैसा कि रवीन्द्र केलेकरजी ने लिखा है, "हिमालय के इस भव्य दिव्य दर्शन से और वहाँ जो चिन्तन, मनन, ध्यान, साधना निरीक्षण किया उससे उनका आंतरिक जीवन बहुत समृद्ध हुआ। जो मंत्र साधना की उससे भी खूब शांति मिली।"[3]

गांधीवादी विचारधारा से प्रेरित होकर, कालेलकर जी हिमालय को राष्ट्रीय जीवन और मानवीय संवेदनाओं का केंद्र मानते हैं, जहाँ प्रकृति, संस्कृति और मानव समाज का संतुलित तालमेल दिखाई देता है। इनके अनुसार, हिमालय भारतीय राष्ट्र की प्राकृतिक सुरक्षा के प्रहरी हैं। सदियों से, इस पर्वत श्रृंखला ने भारत की भौगोलिक सीमाओं की रक्षा की है और भारतीय सभ्यता के विकास में योगदान दिया है। वे हिमालय को राष्ट्र की शक्ति, स्थिरता और आत्मविश्वास का प्रतीक मानते हैं। उनकी नज़र में, हिमालय की अड़िगता भारतीय संस्कृति की मज़बूती को दर्शाती है, और इसकी विशालता भारतीय राष्ट्र की विशालता को दिखाती है। इस प्रकार, हिमालय केवल एक भौगोलिक सीमा के रूप में नहीं, बल्कि राष्ट्रीय गौरव के प्रतीक के रूप में भी उभरता है। उनके यात्रा-साहित्य में राष्ट्रीय एकता की भावना मज़बूती से व्यक्त हुई है। भारत के विभिन्न क्षेत्रों, भाषाओं और समुदायों के लोग हिमालय के तीर्थ स्थलों पर इकट्ठा होते हैं। लेखक इस विविधता में निहित एकता को ही भारतीय राष्ट्र की सबसे बड़ी शक्ति मानते हैं। उनके अनुसार, तीर्थ-यात्राएँ केवल धार्मिक अनुष्ठान नहीं हैं, बल्कि राष्ट्रीय और सांस्कृतिक एकता के प्रभावी माध्यम हैं। इस अर्थ में, हिमालय भारतीय समाज को जोड़ने वाला एक जीवंत सेतु है। उनके यात्रा-वृत्तांत में सामाजिक समानता और मानवीय गरिमा की भावना भी साफ़ झलकती है। वे जाति, वर्ग और आर्थिक भेदभाव से ऊपर उठकर हर इंसान में समान आध्यात्मिक मूल्य देखते हैं। यह नज़रिया गांधीवादी 'सर्वोदय' दर्शन से प्रेरित है, जो हर व्यक्ति की गरिमा और भलाई को प्राथमिकता देता है। उनके लिए, हिमालय एक ऐसा क्षेत्र है जहाँ इंसानों को उनकी सामाजिक पहचान से कहीं ज़्यादा, एक इंसान के तौर पर देखा जाता है। 'हिमालय की यात्रा' में जब वे मंदिरों और तीर्थस्थानों पर पांडे-पुरोहितों के शोषण या जातिगत भेदभाव को देखते हैं, तो उनका गांधीवादी मन मुखर होकर इसका विरोध करता है। वे धार्मिक स्थलों पर बाह्यांबर के स्थान पर अंतः शुद्धि पर बल देते हैं।

पेश की गई शोध आलेख से यह साफ़ होता है कि काका कालेलकर का यात्रा साहित्य हिंदी यात्रा-वृत्तांत की विधा में एक बड़ी उपलब्धि है। उन्होंने यात्रा को सिर्फ़ जगहों या प्राकृतिक सुंदरता के वर्णन तक सीमित नहीं रखा, बल्कि इसे भारतीय संस्कृति, राष्ट्रीय चेतना, मानवीय मूल्यों और आध्यात्मिक अनुभव को व्यक्त करने का एक सशक्त माध्यम बनाया। उनके यात्रा-वृत्तांतों में हिमालय का चित्रण बहुआयामी, संवेदनशील और चिंतनशील है। उनके लिए हिमालय केवल एक भौगोलिक पर्वत-श्रृंखला नहीं, बल्कि भारतीय दर्शन, सांस्कृतिक परंपरा और आध्यात्मिक चेतना का जीवंत प्रतीक है। इस शोध आलेख से यह निष्कर्ष निकलता है कि कालेलकर जी ने हिमालय के भौगोलिक स्वरूप का अत्यंत जीवंत और यथार्थवादी चित्रण किया है। बर्फ़ से ढकी पर्वत चोटियाँ, विशाल घाटियाँ, जीवनदायिनी नदियाँ, घने जंगल, विविध वनस्पति और प्राकृतिक वैभव को उनके यात्रा-वृत्तांतों में कलात्मक ढंग से व्यक्त किया गया है। वे हिमालय को भारत की प्राकृतिक सुरक्षा, पर्यावरणीय संतुलन और सांस्कृतिक विकास का आधार मानते हैं। उनके वर्णनों में प्रकृति की सुंदरता केवल दृश्य आकर्षण के रूप में नहीं, बल्कि जीवन और सृजन के बीच संतुलन के प्रतीक के रूप में उभरती है। उनकी एक अनूठी उपलब्धि हिमालय के सांस्कृतिक पहलुओं का चित्रण है। उन्होंने हिमालयी समाज की लोक-संस्कृति, परंपराओं, मान्यताओं, त्योहारों, भाषा, पहनावे और जीवन-शैली का अत्यंत आत्मीय और संवेदनशील विवरण प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार, हिमालय भारतीय संस्कृति की उस महान परंपरा का प्रतिनिधित्व करता है, जिसमें विविधता के भीतर एकता, सहिष्णुता, समन्वय और जन-कल्याण समाहित है। इस प्रकार, हिमालय भारतीय सांस्कृतिक विरासत के जीवंत प्रतीक के रूप में उभरता है। धार्मिक दृष्टिकोण से भी कालेलकर जी हिमालय को अत्यंत पवित्र और प्रेरणादायक मानते हैं। केदारनाथ, बद्रीनाथ, गंगोत्री, यमुनोत्री और अन्य तीर्थ-स्थलों से संबंधित उनके यात्रा-वृत्तांत केवल धार्मिक आस्था तक सीमित नहीं हैं, बल्कि भारतीय समाज की सांस्कृतिक और आध्यात्मिक एकता को भी दर्शाते हैं। वे तीर्थ-यात्रा को आत्म-शुद्धि, नैतिक विकास और मानवीय करुणा के विस्तार का साधन मानते हैं। उनके अनुसार, धर्म का वास्तविक सार कर्मकांडों में नहीं, बल्कि सत्य, सेवा, करुणा और आत्म-अनुशासन में निहित है। उनके यात्रा-वृत्तांत में हिमालय का दार्शनिक और आध्यात्मिक दृष्टिकोण से चित्रण उसे एक विशेष ऊँचाई प्रदान करता है। उनके लिए हिमालय आत्म-चिंतन, आत्म-संयम, सत्य की खोज और ईश्वर-साक्षात्कार का क्षेत्र है। वे प्रकृति और मानव के संबंधों को भारतीय दर्शन के परिप्रेक्ष्य में देखते हैं और हिमालय की शांति, विशालता और पवित्रता में आध्यात्मिक अनुभूति करते हैं। गांधीवादी विचारधारा से प्रभावित होकर, वे हिमालय को सत्य, अहिंसा, सेवा, अपरिग्रह और लोक-कल्याण के आदर्शों का प्रतीक मानते थे। कालेलकर जी द्वारा हिमालय का वर्णन राष्ट्रीय और मानवीय दृष्टिकोण से भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। वे हिमालय को भारतीय राष्ट्र की पहचान, सांस्कृतिक एकता और राष्ट्रीय गौरव का प्रतीक मानते थे। उनके यात्रा-वृत्तांतों में विभिन्न क्षेत्रों, भाषाओं और संस्कृतियों के लोगों का समावेश भारतीय राष्ट्रीय एकता की भावना को सुदृढ़ करता है। वे पर्वतीय जीवन के मानवीय गुणों, जैसे सादगी, कठोर परिश्रम, आत्मनिर्भरता, सहयोग, करुणा

और अतिथि-सत्कार पर भी विशेष बल देते हैं। उनके अनुसार, सच्चा राष्ट्रवाद मानवता, सहिष्णुता और लोक-कल्याण पर आधारित होना चाहिए। कालेलकर जी का यात्रा-साहित्य भाषाई शैली और शिल्प की दृष्टि से भी अत्यंत प्रभावशाली है। उनकी भाषा सरल, सहज, प्रवाहमयी और चित्रात्मक है। वर्णनात्मकता, भावुकता, आत्मकथात्मकता, संस्मरण और चिंतनशीलता का संतुलित मिश्रण उनकी लेखन-शैली को विशिष्ट बनाता है। प्राकृतिक वर्णनों के साथ-साथ वे सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और दार्शनिक चर्चाओं को भी समान कुशलता के साथ प्रस्तुत करते हैं। उनकी भाषा में गांधीवादी सादगी और भारतीय सांस्कृतिक चेतना का सुंदर समन्वय दिखाई देता है।

निष्कर्ष :-

आज के दौर में, जब पर्यावरण संकट, सांस्कृतिक बिखराव और मानवीय मूल्यों का ह्रास वैश्विक चिंताएँ हैं, काका कालेलकर का हिमालय-दर्शन विशेष रूप से प्रासंगिक है। उनका यात्रा-साहित्य हमें प्रकृति के प्रति संवेदनशील होने, सांस्कृतिक विरासत का सम्मान करने, राष्ट्रीय एकता को मजबूत करने और मानवता, सेवा तथा सह-अस्तित्व के मूल्यों को अपनाने के लिए प्रेरित करता है। यही उनके यात्रा-साहित्य की स्थायी प्रासंगिकता और साहित्यिक महत्ता है। कुल मिलाकर, यह कहा जा सकता है कि काका कालेलकर के यात्रा-वृत्तांतों में हिमालय कई पहलुओं वाला और एक-दूसरे से जुड़ा हुआ है। इसके भौगोलिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, दार्शनिक, आध्यात्मिक, राष्ट्रीय और मानवीय पहलू एक-दूसरे के पूरक हैं। उनके लिए हिमालय केवल प्राकृतिक सुंदरता का विषय नहीं है, बल्कि भारतीय मूल्यों, सांस्कृतिक निरंतरता, आध्यात्मिक खोज और मानवता की सर्वोच्च चेतना का प्रतीक है। उनके यात्रा-वृत्तांतों में हिमालय का चित्रण भारतीय संस्कृति की व्यापक दृष्टि को व्यक्त करता है। इसलिए, काका कालेलकर का यात्रा-साहित्य न केवल हिंदी यात्रा-साहित्य की एक धरोहर है, बल्कि भारतीय सांस्कृतिक चेतना का एक अमूल्य दस्तावेज भी है।

संदर्भ

1. कालेलकर, काका. (1948). *हिमालय की यात्रा*. अहमदाबाद : नवजीवन प्रकाशन मंदिर. पृ. 54
2. केलेकर, रविंद्र. (2011). *काका साहब कालेलकर*. नई दिल्ली : गांधी हिंदुस्तानी साहित्य सभा. पृ. 57
3. केलेकर, रविंद्र. (2011). *काका साहब कालेलकर*. नई दिल्ली : गांधी हिंदुस्तानी साहित्य सभा. पृ. 58

Received: 27.11.2025 | Accepted: 15.12.2025 | Published: 30.12.2025

म्यूचुअल फंड में निवेश के प्रति निवेशकों की जागरूकता, जोखिम धारणा एवं निवेश अभिरुचि का विश्लेषण

टाकेश्वर साहू (Takeshwar Sahu)* **takeshwarshu2@gmail.com**

सिद्धार्थ जैन (Siddharth Jain)† **siddharthjain9691@gmail.com**

सारांश

म्यूचुअल फंड वर्तमान समय में निवेशकों के लिए एक महत्वपूर्ण एवं लोकप्रिय निवेश माध्यम के रूप में उभर रहा है। यह निवेशकों को विभिन्न वित्तीय साधनों में निवेश करने के साथ-साथ जोखिम के विविधीकरण का अवसर प्रदान करता है। हालांकि, म्यूचुअल फंड में निवेश संबंधी निर्णय केवल अपेक्षित प्रतिफल पर निर्भर नहीं करता, बल्कि निवेशकों की जागरूकता, जोखिम धारणा, वित्तीय ज्ञान तथा निवेश अभिरुचि भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य निवेशकों में म्यूचुअल फंड के प्रति जागरूकता के स्तर, विभिन्न प्रकार के जोखिमों के प्रति उनकी धारणा तथा म्यूचुअल फंड में निवेश करने की अभिरुचि का विश्लेषण करना है। अध्ययन में प्राथमिक एवं द्वितीयक दोनों प्रकार के आंकड़ों का उपयोग किया जा सकता है। प्राथमिक आंकड़े संरचित प्रश्नावली के माध्यम से निवेशकों से प्राप्त किए जाएंगे। अध्ययन के माध्यम से यह जानने का प्रयास किया जाएगा कि निवेशकों की जागरूकता एवं जोखिम धारणा उनके म्यूचुअल फंड निवेश निर्णयों को किस प्रकार प्रभावित करती है। अध्ययन के निष्कर्ष निवेशकों, वित्तीय सलाहकारों तथा म्यूचुअल फंड संस्थाओं के लिए उपयोगी हो सकते हैं।

बीज शब्द

म्यूचुअल फंड, निवेशक जागरूकता, जोखिम धारणा, निवेश अभिरुचि, निवेश व्यवहार, वित्तीय साक्षरता।

प्रस्तावना

वर्तमान समय में आर्थिक विकास के साथ व्यक्तियों की आय एवं बचत के स्वरूप में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन देखने को मिल रहा है। निवेशक अपनी बचत को केवल पारंपरिक निवेश साधनों जैसे बैंक जमा, डाकघर बचत एवं सोना आदि तक सीमित न रखकर विभिन्न वित्तीय साधनों में निवेश करने की ओर अग्रसर हो रहे हैं। इस परिवर्तन के कारण पूंजी बाजार से जुड़े निवेश विकल्पों का महत्व निरंतर बढ़ रहा है। म्यूचुअल फंड ऐसे ही प्रमुख वित्तीय निवेश साधनों में से एक है, जो छोटे एवं बड़े दोनों प्रकार के निवेशकों को विभिन्न प्रतिभूतियों में अप्रत्यक्ष रूप से निवेश करने का अवसर प्रदान करता है। म्यूचुअल फंड की प्रमुख विशेषताओं में विविधीकरण, पेशेवर प्रबंधन, अपेक्षाकृत कम प्रारंभिक निवेश तथा विभिन्न जोखिम-प्रतिफल विकल्पों की उपलब्धता शामिल हैं। इसके बावजूद प्रत्येक निवेशक म्यूचुअल फंड को समान रूप से नहीं अपनाता। निवेशक की वित्तीय जानकारी, निवेश का उद्देश्य, आय का स्तर, आयु, अनुभव तथा जोखिम सहनशीलता उसके निवेश निर्णय को प्रभावित करते हैं। निवेश निर्णय में जोखिम धारणा का विशेष महत्व है। कुछ निवेशक अधिक प्रतिफल प्राप्त करने के उद्देश्य से अपेक्षाकृत अधिक जोखिम लेने के लिए तैयार होते हैं, जबकि कुछ निवेशक पूंजी की सुरक्षा को प्राथमिकता देते हैं। इसी प्रकार, म्यूचुअल फंड की कार्यप्रणाली, जोखिम, प्रतिफल, SIP, विभिन्न योजनाओं एवं शुल्क आदि के संबंध में निवेशक की जागरूकता उसके निवेश व्यवहार को प्रभावित कर सकती है।

* **मदनपुर, कुटेलीकला, खैरागढ़, छत्तीसगढ़ 491885**

† **207, वार्ड नंबर 8, देवकर, बेमेतरा, छत्तीसगढ़ 491331**

इस संदर्भ में यह अध्ययन म्यूचुअल फंड में निवेश के प्रति निवेशकों की जागरूकता, जोखिम धारणा एवं निवेश अभिरुचि का विश्लेषण करने का प्रयास करता है। अध्ययन का प्रमुख उद्देश्य यह समझना है कि निवेशकों में म्यूचुअल फंड संबंधी जागरूकता किस स्तर की है, वे विभिन्न निवेश जोखिमों को किस प्रकार देखते हैं तथा इन दोनों का उनकी म्यूचुअल फंड में निवेश करने की अभिरुचि से क्या संबंध है। इस प्रकार यह अध्ययन निवेशकों के वित्तीय व्यवहार को समझने के साथ-साथ म्यूचुअल फंड निवेश को प्रभावित करने वाले प्रमुख कारकों की पहचान करने में सहायक हो सकता है।

शोध समस्या

म्यूचुअल फंड में निवेश के प्रति निवेशकों की जागरूकता, जोखिम की समझ तथा निवेश व्यवहार में पर्याप्त असमानता दिखाई देती है। सभी निवेशकों को म्यूचुअल फंड की विभिन्न योजनाओं, सिस्टेमैटिक इन्वेस्टमेंट प्लान (SIP), संभावित प्रतिफल तथा जोखिम संबंधी समान स्तर की जानकारी प्राप्त नहीं होती, जिसके कारण उनके निवेश निर्णय प्रभावित होते हैं। अनेक निवेशक म्यूचुअल फंड को अत्यधिक जोखिमपूर्ण अथवा पूर्णतः सुरक्षित मान लेते हैं, जबकि वास्तविकता यह है कि विभिन्न म्यूचुअल फंड योजनाओं में जोखिम का स्तर अलग-अलग होता है। इसके अतिरिक्त, निवेश निर्णयों में मित्रों, रिश्तेदारों, सोशल मीडिया तथा बाजार की अनौपचारिक चर्चाओं से प्राप्त सूचनाओं और सलाह की भूमिका भी महत्वपूर्ण होती है, जिससे वैज्ञानिक एवं तथ्यपरक निवेश निर्णय प्रभावित हो सकते हैं। कुछ निवेशक शीघ्र प्रतिफल की अपेक्षा रखते हुए अल्पकालीन बाजार उतार-चढ़ाव के आधार पर निवेश से बाहर निकल जाते हैं, जिससे दीर्घकालीन निवेश के उद्देश्य प्रभावित होते हैं। केवल म्यूचुअल फंड की जानकारी होना पर्याप्त नहीं है, बल्कि निवेशकों में वित्तीय साक्षरता, जोखिम-प्रतिफल की समझ, निवेश अवधि तथा अपनी वित्तीय क्षमता का आकलन करने की क्षमता भी आवश्यक है। साथ ही, आय, शिक्षा, आयु एवं निवेश अनुभव जैसे सामाजिक-आर्थिक कारकों के कारण निवेशकों की निवेश अभिरुचि और जोखिम वहन क्षमता में भिन्नता पाई जाती है। बाजार आधारित निवेश होने के कारण पूंजी की सुरक्षा को लेकर निवेशकों में व्याप्त चिंता भी म्यूचुअल फंड में निवेश की इच्छा को प्रभावित करती है। अतः इन सभी आयामों के संदर्भ में निवेशकों की जागरूकता, जोखिम-बोध, वित्तीय साक्षरता तथा निवेश व्यवहार का समग्र अध्ययन आवश्यक है।

शोध उद्देश्य

1. निवेशकों में म्यूचुअल फंड के प्रति जागरूकता के स्तर का अध्ययन करना।
2. म्यूचुअल फंड निवेश से संबंधित विभिन्न जोखिमों के प्रति निवेशकों की जोखिम धारणा का विश्लेषण करना।
3. निवेशकों की म्यूचुअल फंड में निवेश अभिरुचि का अध्ययन करना।
4. निवेशकों की जागरूकता एवं उनकी निवेश अभिरुचि के मध्य संबंध का अध्ययन करना।
5. निवेशकों की जोखिम धारणा एवं म्यूचुअल फंड में निवेश अभिरुचि के मध्य संबंध का विश्लेषण करना।

शोध परिकल्पनाएँ

H_{01}: निवेशकों की म्यूचुअल फंड संबंधी जागरूकता एवं उनकी निवेश अभिरुचि के मध्य कोई महत्वपूर्ण संबंध नहीं है।

H_{02}: निवेशकों की जोखिम धारणा एवं म्यूचुअल फंड में निवेश अभिरुचि के मध्य कोई महत्वपूर्ण संबंध नहीं है।

H_{03}: विभिन्न सामाजिक-आर्थिक विशेषताओं वाले निवेशकों की म्यूचुअल फंड में निवेश अभिरुचि में कोई महत्वपूर्ण अंतर नहीं है।

H_{04}: निवेशकों की म्यूचुअल फंड संबंधी जागरूकता के स्तर के आधार पर उनकी निवेश अभिरुचि में कोई महत्वपूर्ण अंतर नहीं है।

H_{05}: निवेश अनुभव एवं म्यूचुअल फंड में निवेश अभिरुचि के मध्य कोई महत्वपूर्ण संबंध नहीं है।

शोध प्रविधि

शोध का स्वरूप:- प्रस्तुत अध्ययन वर्णनात्मक एवं विश्लेषणात्मक शोध पर आधारित है।

अध्ययन क्षेत्र:-

अध्ययन के लिए रायपुर संभाग, छत्तीसगढ़ का चयन किया जाएगा। इसमें रायपुर संभाग के चयनित क्षेत्रों में म्यूचुअल फंड में निवेश करने वाले अथवा निवेश में रुचि रखने वाले निवेशकों को अध्ययन में सम्मिलित किया जाएगा।

नमूना आकार:- अध्ययन हेतु 150 निवेशकों का चयन किया गया है।।

नमूना चयन विधि:- उत्तरदाताओं के चयन के लिए सुविधाजनक एवं उद्देश्यपूर्ण नमूना चयन का प्रयोग किया जाएगा।

आंकड़ों का संकलन:- प्राथमिक आंकड़े संरचित प्रश्नावली के माध्यम से तथा द्वितीयक आंकड़े पुस्तकों, शोध-पत्रों, रिपोर्टों, पत्रिकाओं एवं संबंधित आधिकारिक प्रकाशनों से प्राप्त किए जाएंगे।

आंकड़ों का विश्लेषण:- आंकड़ों के विश्लेषण हेतु प्रतिशत विधि, माध्य, मानक विचलन जैसी सांख्यिकीय विधियों का आवश्यकता अनुसार प्रयोग किया जाएगा।

द्वितीयक आंकड़ों का विश्लेषण एवं प्रमुख निष्कर्ष

1. म्यूचुअल फंड उद्योग की वृद्धि : AMFI के उपलब्ध उद्योगगत आंकड़ों से स्पष्ट होता है कि भारत में म्यूचुअल फंड उद्योग ने पिछले कुछ वर्षों में उल्लेखनीय विस्तार किया है। मार्च 2014 में म्यूचुअल फंड उद्योग की कुल प्रबंधित परिसंपत्तियाँ (AUM) लगभग ₹9.45 लाख करोड़ थीं, जो मार्च 2024 तक बढ़कर लगभग ₹53.40 लाख करोड़ हो गई। इससे स्पष्ट होता है कि भारतीय निवेशकों में म्यूचुअल फंड को एक वैकल्पिक निवेश माध्यम के रूप में अपनाने की प्रवृत्ति में पर्याप्त वृद्धि हुई है।

2. निवेशकों की भागीदारी में वृद्धि : म्यूचुअल फंड में निवेशकों की भागीदारी को फोलियो की संख्या के आधार पर भी समझा जा सकता है। मार्च 2014 में लगभग 3.95 करोड़ फोलियो की तुलना में मार्च 2024 तक यह संख्या 18 करोड़ से अधिक हो गई। यह वृद्धि दर्शाती है कि म्यूचुअल फंड निवेश अब केवल बड़े या अनुभवी निवेशकों तक सीमित नहीं है, बल्कि सामान्य एवं छोटे निवेशकों की भागीदारी भी बढ़ रही है।

3. SIP के माध्यम से निवेश में वृद्धि : म्यूचुअल फंड में Systematic Investment Plan निवेश का एक महत्वपूर्ण माध्यम बनकर उभरा है। SIP के माध्यम से निवेशक नियमित रूप से छोटी-छोटी राशियों का निवेश कर सकते हैं। उपलब्ध उद्योगगत आंकड़ों में SIP योगदान एवं SIP खातों में निरंतर वृद्धि दिखाई देती है। इससे यह संकेत मिलता है कि निवेशकों में नियमित निवेश, अनुशासित बचत एवं दीर्घकालीन निवेश के प्रति रुचि बढ़ रही है।

4. निवेशक जागरूकता की स्थिति : SEBI के Investor Survey 2025 के अनुसार म्यूचुअल फंड/ ETF के बारे में जागरूकता का स्तर 53 प्रतिशत दर्ज किया गया। इसके बावजूद प्रतिभूति बाजार से जुड़े उत्पादों में वास्तविक भागीदारी का स्तर जागरूकता की तुलना में काफी कम रहा। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि केवल वित्तीय उत्पाद की जानकारी होना आवश्यक नहीं है, बल्कि निवेशकों को जोखिम, प्रतिफल, उत्पाद की प्रकृति तथा निवेश प्रक्रिया की पर्याप्त समझ होना भी आवश्यक है।

5. जोखिम धारणा का महत्व : म्यूचुअल फंड निवेश बाजार से संबंधित होने के कारण जोखिम से पूर्णतः मुक्त नहीं है। निवेशकों की जोखिम धारणा उनके निवेश निर्णय को प्रभावित करती है। सामान्यतः कम जोखिम सहने वाले निवेशक सुरक्षित एवं अपेक्षाकृत स्थिर निवेश विकल्पों को प्राथमिकता देते हैं, जबकि अधिक जोखिम सहने की क्षमता वाले निवेशक बाजार आधारित योजनाओं में निवेश करने के लिए अधिक इच्छुक हो सकते हैं। अतः जोखिम की सही समझ निवेश अभिरुचि एवं निवेश निर्णय का महत्वपूर्ण निर्धारक है।

6. वित्तीय साक्षरता एवं निवेश व्यवहार : उपलब्ध विभिन्न वित्तीय जागरूकता अध्ययनों से यह संकेत मिलता है कि वित्तीय जानकारी एवं निवेश संबंधी ज्ञान निवेश व्यवहार को प्रभावित करते हैं। जिन निवेशकों को म्यूचुअल फंड की कार्यप्रणाली, जोखिम-प्रतिफल संबंध, SIP विभिन्न योजनाओं तथा निवेश अवधि की बेहतर जानकारी होती है, उनमें म्यूचुअल फंड को समझने एवं अपनाने की संभावना अपेक्षाकृत अधिक होती है।

द्वितीयक आंकड़ों से प्राप्त समग्र निष्कर्ष

उपलब्ध प्रतिवेदनों एवं उद्योगगत आंकड़ों के समग्र अध्ययन से स्पष्ट होता है कि भारत में म्यूचुअल फंड उद्योग का आकार, निवेशकों की भागीदारी तथा नियमित निवेश की प्रवृत्ति लगातार बढ़ी है। हालांकि जागरूकता में वृद्धि के बावजूद निवेशकों के बीच जोखिम की समझ एवं वास्तविक निवेश भागीदारी में अंतर दिखाई देता है। इसलिए वर्तमान अध्ययन में केवल निवेशकों की जागरूकता का अध्ययन करना पर्याप्त नहीं होगा, बल्कि जागरूकता, जोखिम धारणा एवं निवेश अभिरुचि के बीच संबंध का विश्लेषण करना अधिक उपयोगी होगा।

प्राथमिक आंकड़ों का विश्लेषण

अध्ययन में चयनित 150 निवेशकों से संरचित प्रश्नावली के माध्यम से प्राथमिक आंकड़े प्राप्त किए गए। प्राप्त आंकड़ों का प्रतिशत विधि द्वारा विश्लेषण किया गया। अध्ययन के प्रमुख उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए निम्नलिखित तीन महत्वपूर्ण तालिकाएँ प्रस्तुत की गई हैं।

तालिका 1: म्यूचुअल फंड के प्रति निवेशकों की जागरूकता

जागरूकता का स्तर	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
अत्यधिक जागरूक	28	18.67
जागरूक	63	42.00
सामान्य जागरूक	38	25.33
कम जागरूक	16	10.67
बिल्कुल जागरूक नहीं	5	3.33
कुल	150	100

तालिका से स्पष्ट है कि 63 (42%) निवेशक म्यूचुअल फंड के प्रति जागरूक तथा 28 (18.67%) निवेशक अत्यधिक जागरूक हैं। इस प्रकार 60.67% निवेशकों में जागरूकता का स्तर उच्च पाया गया। इससे स्पष्ट होता है कि अध्ययन क्षेत्र के अधिकांश निवेशक म्यूचुअल फंड की सामान्य कार्यप्रणाली एवं निवेश विकल्प के रूप में इसकी उपयोगिता से परिचित हैं।

तालिका 2: म्यूचुअल फंड के प्रति निवेशकों की जोखिम धारणा

जोखिम धारणा	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
बहुत अधिक जोखिम	18	12.00
अधिक जोखिम	37	24.67
मध्यम जोखिम	61	40.67
कम जोखिम	27	18.00
बहुत कम जोखिम	7	4.66
कुल	150	100

तालिका के अनुसार सर्वाधिक 61 (40.67%) निवेशक म्यूचुअल फंड को मध्यम जोखिम वाला निवेश माध्यम मानते हैं। वहीं 36.67% निवेशक इसे अधिक अथवा बहुत अधिक जोखिम वाला मानते हैं। इससे पता चलता है कि निवेशकों की जोखिम धारणा अलग-अलग है और जोखिम की समझ उनकी निवेश अभिरुचि को प्रभावित कर सकती है।

तालिका 3: म्यूचुअल फंड में निवेशकों की निवेश अभिरुचि

निवेश अभिरुचि	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
अत्यधिक इच्छुक	35	23.33
इच्छुक	64	42.67
सामान्य	29	19.33
अनिच्छुक	16	10.67
बिल्कुल अनिच्छुक	6	4.00
कुल	150	100

तालिका से स्पष्ट है कि 64 (42.67%) निवेशक म्यूचुअल फंड में निवेश के लिए इच्छुक तथा 35 (23.33%) अत्यधिक इच्छुक हैं। इस प्रकार कुल 66% निवेशकों में सकारात्मक निवेश अभिरुचि पाई गई। इससे संकेत मिलता है कि निवेशकों के बीच म्यूचुअल फंड को निवेश के एक आकर्षक एवं उपयोगी माध्यम के रूप में स्वीकार करने की प्रवृत्ति मौजूद है।

परिकल्पना परीक्षण

प्राथमिक आंकड़ों के आधार पर अध्ययन में निर्धारित परिकल्पनाओं का परीक्षण प्रतिशत विधि द्वारा किया गया। प्राप्त आंकड़ों के विश्लेषण से यह पाया गया कि अध्ययन में सम्मिलित अधिकांश निवेशक म्यूचुअल फंड के प्रति जागरूक हैं तथा जागरूकता का उच्च स्तर रखने वाले निवेशकों में म्यूचुअल फंड में निवेश करने की अभिरुचि भी अधिक पाई गई। इसी प्रकार निवेशकों की जोखिम धारणा के विश्लेषण से ज्ञात हुआ कि अधिकांश निवेशक म्यूचुअल फंड को मध्यम जोखिम वाला निवेश माध्यम मानते हैं, जबकि अधिक जोखिम की धारणा रखने वाले निवेशकों में निवेश अभिरुचि अपेक्षाकृत कम दिखाई देती है। निवेश के उद्देश्य के संबंध में भी यह पाया गया कि अधिकांश निवेशक पूंजी वृद्धि एवं नियमित बचत को प्राथमिकता देते हैं। इस प्रकार प्राथमिक आंकड़ों से प्राप्त परिणामों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि म्यूचुअल फंड के प्रति निवेशकों की जागरूकता तथा जोखिम धारणा का उनकी निवेश अभिरुचि पर प्रभाव पड़ता है। अतः अध्ययन में निर्धारित परिकल्पनाएँ उपलब्ध प्राथमिक आंकड़ों के आधार पर समर्थित पाई गईं तथा अध्ययन की मूल अवधारणा को पुष्ट करती हैं।

सुझाव

1. **निवेशक जागरूकता कार्यक्रमों का विस्तार-** म्यूचुअल फंड संस्थाओं एवं संबंधित वित्तीय संस्थाओं द्वारा नियमित रूप से निवेशक जागरूकता कार्यक्रम आयोजित किए जाने चाहिए।
2. **जोखिम एवं प्रतिफल की सरल जानकारी-** प्रत्येक योजना से संबंधित जोखिम, संभावित प्रतिफल, निवेश अवधि एवं शुल्क आदि की जानकारी सरल हिंदी भाषा में उपलब्ध कराई जानी चाहिए।
3. **SIP के प्रति जागरूकता-** छोटे निवेशकों को नियमित एवं दीर्घकालीन निवेश की अवधारणा से परिचित कराने के लिए SIP के लाभों के बारे में अधिक जानकारी दी जानी चाहिए।
4. **वित्तीय साक्षरता को बढ़ावा देना-** विद्यालय, महाविद्यालय एवं सामाजिक संस्थाओं के माध्यम से वित्तीय साक्षरता कार्यक्रम चलाए जाने चाहिए, ताकि युवा वर्ग प्रारंभिक अवस्था से ही उचित निवेश निर्णय लेना सीख सके।
5. **ग्रामीण एवं छोटे शहरों में जागरूकता-** म्यूचुअल फंड संबंधी जागरूकता केवल बड़े शहरों तक सीमित न रहकर ग्रामीण एवं अर्ध-शहरी क्षेत्रों तक पहुँचाई जानी चाहिए।

6. **निवेशकों को जोखिम क्षमता के अनुसार निवेश की सलाह**- निवेशकों को केवल अधिक प्रतिफल के आधार पर योजना का चयन न करके अपनी आय, वित्तीय लक्ष्य, निवेश अवधि एवं जोखिम सहनशीलता के अनुसार निवेश करना चाहिए।
7. **डिजिटल माध्यमों का उपयोग-** निवेश जागरूकता के लिए मोबाइल एप, वेबसाइट, सोशल मीडिया एवं डिजिटल शिक्षण सामग्री का उपयोग किया जाना चाहिए, ताकि युवा एवं नए निवेशकों तक आसानी से जानकारी पहुँच सके।

निष्कर्ष

प्रस्तुत अध्ययन से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि म्यूचुअल फंड भारतीय निवेशकों के बीच एक महत्वपूर्ण निवेश माध्यम के रूप में अपनी स्थिति मजबूत कर रहा है। प्राथमिक आंकड़ों के विश्लेषण से अधिकांश निवेशकों में म्यूचुअल फंड के प्रति जागरूकता का संतोषजनक स्तर पाया गया तथा एक बड़ी संख्या में निवेशकों ने म्यूचुअल फंड में निवेश करने के प्रति सकारात्मक अभिरुचि व्यक्त की। हालांकि, जोखिम की धारणा अभी भी निवेश निर्णय को प्रभावित करने वाला महत्वपूर्ण कारक है। कई निवेशक म्यूचुअल फंड को बाजार जोखिम से जुड़ा हुआ मानते हैं, जिसके कारण उनकी निवेश अभिरुचि प्रभावित होती है। अध्ययन से यह भी स्पष्ट होता है कि निवेशकों में वित्तीय ज्ञान एवं सही जानकारी बढ़ाकर म्यूचुअल फंड के प्रति विश्वास तथा दीर्घकालीन निवेश की प्रवृत्ति को बढ़ाया जा सकता है। अतः निवेशक जागरूकता, वित्तीय शिक्षा एवं उचित मार्गदर्शन म्यूचुअल फंड में विवेकपूर्ण निवेश को बढ़ावा देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं।

संदर्भ:

1. भारतीय प्रतिभूति और विनिमय बोर्ड. (2020-25). *वार्षिक प्रतिवेदन*. मुंबई/नई दिल्ली.
2. Association of Mutual Funds in India (AMFI). (2020-24). *भारतीय म्यूचुअल फंड उद्योग के वार्षिक एवं मासिक प्रतिवेदन*. मुंबई.
3. भारतीय रिजर्व बैंक. (2022). *वार्षिक प्रतिवेदन*. मुंबई.
4. भारत सरकार, वित्त मंत्रालय. (विभिन्न वर्ष). *आर्थिक सर्वेक्षण*. नई दिल्ली.
5. अग्रवाल, प्रकाश, एवं शर्मा, आर. के. (2008). *निवेश प्रबंधन एवं पोर्टफोलियो प्रबंधन*. S. Chand Publishing.
6. भाटिया, एच. एल. (1976). *वित्तीय प्रबंधन एवं निवेश प्रबंधन*. विकास पब्लिशिंग हाउस.

Received: 28.11.2025 | Accepted: 15.12.2025 | Published: 30.12.2025

Tribal Society of Sonbhadra District: A Study of Festivals, Culture, and Cultural Identity

Ranjeet Kumar Rai[*]
ranjeetrai@bhu.ac.in

Dr Bala Lakhendra[†]
drbala@bhu.ac.in

Abstract

Sonbhadra district, located in the south-eastern corner of Uttar Pradesh where it borders Bihar, Jharkhand, Chhattisgarh, and Madhya Pradesh, is home to a dense mosaic of tribal communities, notably the Gond, Baiga, Kharwar, Kol, Chero, Panika, Bhuiya/Bhuinya and Agaria. This paper examines how festivals, everyday cultural practices, and expressive traditions shape and sustain cultural identity among these groups. Drawing on census tables, district records, and ethnographic and cultural studies, it analyzes ritual calendars (e.g., Karma, Jitiya/Jivitputrika, Sohrai), performative genres (Karma dance, Baiga song–dance), technologies-as-traditions (Agaria iron-smelting), kinship and life-cycle rites, and contemporary pressures industrialization (coal and power), forest regulation, schooling, migration, and media. The study argues that tribal cultural identity in Sonbhadra is not a static inheritance but a living repertoire that communities mobilize in ritual time, village space (akhra/dance-ground), and civic contention (claims to land and forests), allowing both continuity and creative change. The paper concludes with implications for safeguarding intangible cultural heritage and for inclusive district cultural policy.

Keywords:

Sonbhadra, Gond, Kharwar, Baiga, Agariya, Karma, culture, cultural identity,

Introduction

Sonbhadra (often spelled Sonebhadra) is Uttar Pradesh's second-largest district by area, nicknamed "Sonanchal." Its geography—plateau tracts, forested hills, and river valleys—links the Vindhyan highlands to the tribal belts of adjoining states. The district administration highlights its unique border with four states and a layered cultural history, visible in prehistoric rock art depicting hunting, war, festivals, and dance. These landscapes and histories fostered long-standing tribal settlements and ritual ecologies that continue to inform contemporary identities. Sonbhadra district lies in southeastern Uttar Pradesh, contiguous with the Vindhyan and Kaimur ranges and flanked by dense sal and mixed-deciduous forests. Its social geography is shaped by proximity to central Indian tribal belts of Madhya Pradesh and Chhattisgarh, enabling long-standing inter-regional exchanges in marriage, labour, and ritual culture. A substantial share of the district's rural population identifies as

[*] **Research Scholar, Department of journalism and mass communication, BHU, Varanasi**

[†] **Associate Professor, Department of journalism and mass communication, BHU, Varanasi**

Scheduled Tribes (STs), concentrated especially in the Duddhi and Myorpur belts, with smaller urban clusters across Robertsganj and Renukoot. Historically the region has oscillated between forest-frontier economies and extractive-industrial expansion (dam building, coal mining, bauxite and limestone extraction, and thermal power), producing layered experiences of displacement and resettlement.

According to the 2011 Census, Sonbhadra has one of the highest Scheduled Tribe (ST) concentrations in Uttar Pradesh. District-level census appendices and ST-wise tables show substantial Gond populations, along with Baiga, Kharwar, Kol, Agaria and allied groups. Some communities (e.g., Kharwar) have experienced complex recognition histories in Uttar Pradesh—classified variably in different places and periods—with certain districts, including Sonbhadra, recognizing them as STs. These classifications affect access to reservations and welfare schemes and mediate how cultural identity is publicly represented.

Aims and scope

This study focuses on how festivals and cultural practices reproduce, rework, and display identity among five prominent communities: Gond, Baiga, Kharwar, Kol, and Agaria. It asks:

- Which festivals and ritual cycles are central in Sonbhadra's tribal life, and what do they do socially?
- How do expressive forms (dance, song, wall-art), foodways, and ritual technologies link people to forests, fields, and deities?
- How are these practices negotiated under conditions of accelerated industrialization, schooling, and migration?

Methodology

This research is based on a qualitative synthesis of published sources, anthropological articles, cultural documentation, government portals, and rights-focused reportage supplemented by comparative ethnographic insights from adjacent tribal regions (eastern MP, northern Chhattisgarh, southern Bihar, and Jharkhand) that historically exchange practices with Sonbhadra. Methods include: Document analysis of peer-reviewed studies on Sonbhadra's tribes, festival ethnographies (Karma, Jitiya, Sohrai), and dance/music forms. Contextual triangulation with development and displacement literature (dams, mines, power plants) to map socio-ecological change. Thematic coding around ritual time, gender, ecology, identity politics, and cultural transmission.

Sonbhadra's Tribal Landscape Gond

The Gondi (Gond) are a major ST across Central India with significant presence in Sonbhadra. The Gondi language belongs to the Dravidian family; religion blends Koyapunem (indigenous cosmology) with Hindu influences. Gonds in Sonbhadra share ritual repertoires common across the Gond heartland, notably the Karma seasonal cycle and village fairs such as Madais in adjoining Chhattisgarh that influence border districts.

Baiga

The Baiga are forest-dwelling communities historically linked to shifting cultivation and rich ritual song–dance traditions. Studies of Baiga performing arts in central India—though centered on

Madhya Pradesh and Chhattisgarh—document forms and functions also observed in Baiga hamlets of Sonbhadra: deity-pleasing dances at agricultural and life-cycle thresholds; song texts that encode ecological knowledge; and social rules about participation and gender.

Kharwar

Kharwar communities in Sonbhadra exhibit distinctive social organization, tattooing customs, kinship patterns, and ritual practices, with local deities such as Jhandi Baba. Scholarly articles devoted to Sonbhadra's Kharwar detail marriage rules, endogamous sections, and participation in major seasonal festivals (Karma, Holi, Diwali) alongside local cults.

Kol

While the Kol are widely dispersed across eastern Uttar Pradesh and neighboring states, their ritual calendar includes a set of agricultural and village-protective observances; some sources highlight Singbonga as a high deity among Kol groups, and village festivals structured around seasonal change. In Sonbhadra, Kol cultural life intersects with broader eastern tribal circuits (e.g., Sohrai/Jitiya regionally), though specific local variants vary by hamlet and intermarriage patterns.

Agaria

The Agaria are historically renowned for indigenous iron-smelting, an artisanal complex with deep ritual dimensions (taboos, offerings to furnace-deities, seasonal rhythms for are collection and smelting). Studies note the craft's presence in Sonbhadra and adjacent regions and its contemporary precariousness due to raw-material access, market shifts, and youth aspirations. The ritualized furnace becomes both workshop and shrine, linking craft to identity.

Festivals and Ritual Calendars Karma (Karam)

Timing, form, function - Karma is a seasonal festival and dance complex celebrated at the onset and end of the rains (roughly August–September in the Bhadrapada month). In Sonbhadra, it is widely associated with Gond and allied communities (including Kharwar and Baiga). The ritual centers on the Karam/Karma tree branch (symbol of fertility and prosperity), worship songs, communal dancing in the akhra (village dance-ground), and youth courtship under ritual supervision. Ethnographic notes specific to Uttar Pradesh emphasize the dance's tribal anchoring and agricultural timing.

Social effects- Karma synchronizes dispersed hamlets into a ritual community; it affirms inter-village ties through invitations and reciprocal attendance; it marks youths' transition phases through attire, dance roles, and song repartee. The akhra becomes a public stage of identity in a multi-ethnic district.

Aesthetic regime- The choreography features circular formations, call-and-response singing, and drum–maandar ensembles. Dance and song texts refer to rains, harvest hopes, and deities of field and forest. In Sonbhadra, these performances often spill into district cultural festivals and election-season showcases, illustrating how a community rite becomes a public performance for non-tribal audiences.

Jitiya (Jiutiya/Jivitputrika)

Distribution and meaning - Jitiya is a three-day fast undertaken by mothers for sons' well-being, widely observed in eastern Uttar Pradesh, Bihar, and Jharkhand. In Sonbhadra's mixed settlements,

Kharwar and other communities incorporate Jitiya into their annual cycle. The rite combines domestic ritual (fasting, story-telling of Jivitputra legends) with neighborhood solidarity, indicating the permeability between 'tribal' and 'regional' ritual worlds.

Gendered identity - Jitiya foregrounds women's ritual agency and kinship obligations (natal, affinal). For Kharwar women, oral circulation of vow-legends and ritual etiquette during Jitiya contributes to intergenerational cultural transmission, synergizing with other tattooing and life-cycle customs documented for Sonbhadra.

Sohrai (and related Khovar arts)

Harvest thanksgiving and cattle festival - Sohrai is celebrated after the harvest (around Kartik Amavasya, near Diwali), honoring cattle and the fertility of fields. While most documented richly in Jharkhand, the festival's geographic reach includes border districts of eastern Uttar Pradesh with shared populations and marriage networks. In Sonbhadra's Kol and allied hamlets that maintain Sohrai or Sohrai-like observances, ritual wall-art, cattle worship, and feasting align with the agro-pastoral calendar.

Art as identity - Sohrai painting—freehand finger-drawn murals on freshly mud-plastered walls—turns households into galleries of seasonal gratitude. Even when households do not perform full Sohrai liturgy, its visual idiom (animal, plant, and geometric motifs) circulates as a marker of 'tribal' aesthetic identity in the region's craft markets and school competitions, echoing newer scholarship on Sohrai as a living heritage form.

Beyond these emblematic festivals, Sonbhadra's tribal families celebrate pan-regional Hindu festivals (Holi, Diwali, Dussehra) in distinctly local ways—e.g., clan-specific offerings, dhol-maandar rhythms, and deity processions to village sacred groves. Village fairs (melas), including Madai-style events influenced by Chhattisgarh, bring artisanal stalls, folk-healers, and traveling performers, functioning as ritualized markets where identity is publicly displayed and traded.

Expressive Culture, Ritual Technologies, and Everyday Life

The village akhra is the arena for Karma and other dances. It is where youths rehearse steps, elders adjudicate etiquette, and guests evaluate hospitality. For Baiga and Gond ensembles, performance is simultaneously devotional, pedagogical, and social. Song texts encode forest lore, weather signs, and moral tales; drum patterns signal phases of ritual time. Ethnographic discussions of Baiga performing arts help interpret these layers for Sonbhadra.

Agaria iron-smelting in Sonbhadra (and neighboring districts) historically involved ore scouting, furnace construction, charcoal procurement, ritual offerings at ignition, and taboo observance during smelting runs. This 'technology-as-tradition' fused cosmology with metallurgy spirits appeased to temper iron, songs to pace labor, seasonal scheduling to match wood and ore cycles. Recent scholarship documents both pride in lineage skills and pressures that have made continuous practice difficult (forest rules, raw-material scarcity, cheap industrial iron, and shifting aspirations).

Baiga foodways—coarse millets such as kodo and kutki, rice-water pej, foraged greens and tubers—mirror a subsistence ecology shared with other Sonbhadra communities. Seasonal festivals punctuate culinary cycles: new-grain tastings (navakhani), communal brewing for post-harvest rites, and the ritual sharing of game or fish. Food taboos and gifts (e.g., son's family presenting ritual

baskets to mothers on Jitiya) transform nutrition into kinship symbolism. Among Kharwar and Gond women, tattooing marks life-stage transitions and clan-deity affiliations; jewelry and attire differentiate performers during festival nights. Marriage rites can include Khovar-style décor (where present) and clan-specific vows. Ethnographies of Kharwar in Sonbhadra describe these as embodied identity practices—visible, enduring, and socially legible.

Cultural Identity in Motion: Institutions, Law, and Economy

ST recognition shapes access to reservations, scholarships, and cultural grants. In Uttar Pradesh, recognition histories are complex for some communities (e.g., Kharwar), and Sonbhadra's administrative status has been central to program delivery via the Tribal Development Department. District portals outline offices and notices that structure welfare flows; these bureaucratic interfaces become arenas where identity is documented, certified, and sometimes contested. Disputes over land and forest access are not merely economic—they are cultural conflicts over sacred groves, dance-grounds, and ritual itineraries. Documentation on Gond mobilizations in Sonbhadra notes that protest repertoires borrow festival aesthetics: songs during plantations, processional chants, and collective labor presented as civic ritual, asserting customary ties to the forest. Festivals thus double as scripts for political theatre and rights claims.

Sonbhadra is embedded in a power-coal-aluminum corridor (Singrauli–Rihand). Industrial expansion brings displacement, influx of non-tribal labor, and altered ecologies (forests to overburden dumps). For tribal culture, this yields contradictory effects: (i) disruption of seasonal rhythms; (ii) new cultural labor markets (stage shows, district fairs); and (iii) re-branding of tribal arts for tourism/corporate CSR. The akhra may shift from village commons to school grounds; the furnace shifts from household craft to heritage demonstration. Rock-art sites, once embedded in everyday landscapes, become heritage attractions that circulate a generalized 'tribal past' even as present communities negotiate environmental change.

Community Profiles: Ritual Year and Identity Work Gond

Ritual Year – The Gond ritual calendar is anchored in the Karma festival, which coincides with the monsoon season. Post-harvest observances frequently take the form of village fairs (Madai style), where clan deities are honored with offerings, and temporary markets spring up. Pan-Hindu festivals such as Holi and Diwali are not rejected but are indigenized, expressed through drum ensembles and deity processions that map the sacred geography of grove, stream, and hill.

Identity Work– Gonds articulate a Koyapunem-colored worldview, emphasizing nature spirits and clan totems, even as they participate in temple-centered Hindu practices. Youth troupes perform Karma dances at district-level events, where choices in costuming, song selection, and choreography reflect both continuity (use of Gondi vocabulary, call-and-response formats) and adaptation (film-style interludes). These performances serve as platforms for making claims to visibility, recognition, and material support (e.g., grants for costumes, travel allowances).

Baiga

Ritual Year – For the Baiga, dance and song are not mere entertainment but are integral to worship, healing, and pedagogy. Distinctive drumming patterns correspond to petitions to deities and to the marking of life-cycle thresholds such as puberty and marriage. In Sonbhadra's Baiga hamlets,

Karma nights and seasonal dances reinforce village moral order, while women's choruses preserve language and mythic references, such as the figures of Nanga Baiga and Nanga Baigin.

Identity Work – Contemporary challenges include school calendars clashing with festival schedules and labor migration reducing chorus sizes. Yet festivals continue to function as magnets for homecoming. Increasingly, smartphone recordings circulate on social media, generating new digital archives of Baiga cultural memory and enabling dispersed members to engage with cultural identity virtually.

Kharwar

Ritual Year – The Kharwars observe major regional and pan-Hindu festivals—Karma, Holi, and Diwali—alongside distinctive local cults such as the worship of Jhandi Baba. Marriage systems organized into named endogamous sections and the practice of women's tattooing (godna) further differentiate Kharwar identity. Women's domestic observances, such as Jitiya fasts, root Kharwar identity within both tribal and broader regional religious matrices.

Identity Work – Recognition of Kharwars as Scheduled Tribes (in certain districts) has significant implications for access to welfare schemes and cultural programming. At block-level government events, Kharwar dance troupes and costume displays make intimate ritual practices legible as civic culture, translating kin-based rites into public identity claims.

Kol

Ritual Year – Kol observances are closely tied to agricultural cycles, protective village deities, and inter-village patronage. Some Kol myths reference Singbonga, and their ritual calendar overlaps with neighboring Munda/Oraon communities—especially through Karma, and in some cases through the adoption of Sohrai or Jitiya rituals via proximity or marriage. This produces a hybrid yet coherent cultural identity rooted in agrarian labor, land, and seasonal reciprocity.

Identity Work – Kol history, dance, and attire are increasingly documented through community-managed websites, local media, and video archives. Such digital practices allow mediated continuity, helping younger members learn cultural forms even when migration disperses families across industrial towns or distant labor markets.

Agaria

Ritual Year – The Agaria smelting furnace (loha bhatti) was historically the ritual nexus of community life. The ignition of the furnace was accompanied by offerings, while taboos excluded certain kin or women during smelting runs. Songs coordinated the rhythm of bellows and hammering, embedding moral and cosmological order within technological practice.

Identity Work – With the decline of forest-based fuel and the displacement of indigenous iron-smelting by industrial steel, Agaria households rarely sustain the craft as livelihood. Instead, they demonstrate smelting episodically—at fairs, museums, or school events—where it is reframed as cultural heritage. This marks a shift in identity from livelihood to patrimony, as Agarias increasingly position themselves as custodians of ancestral knowledge rather than as producers in the steel economy.

Intersections: Gender, Generation, and Media

Women's fasting rites (Jitiya), wall-art (where Sohrai/Khovar idioms circulate), and song leadership in Karma choruses substantively shape moral community. Tattooing among Kharwar and ornamentation practices in Gond/Baiga mark life-stage and clan affiliation on bodies, making women custodians of visible identity. Schooling increases literacy and mobility; cultural clubs in schools invite 'tribal dance' on Independence/Republic Day, transforming village rites into staged performances with fixed durations and costumes. This can flatten nuance but also secures recognition and potential livelihoods (troupe honoraria). District news cycles note Karma dancers' visibility and precarity, illustrating the ambivalence of performance economies. Smartphones record festivals, circulate songs, and create archives that outlast seasonal cycles. YouTube and WhatsApp stabilize lyrics and steps while introducing mash-ups with popular music, evidencing cultural bricolage. Kol community videos and Karma dance recordings from UP exemplify this mediated identity work.

Continuity and Change: Five Thematic Findings

Ritual time binds social space- Karma, Jitiya, and Sohrai organize village calendars and inter-household reciprocity. Festival time is when kinship is audited, debts settled, and youth apprenticed into adult roles.

Expressive forms are knowledge systems- Baiga and Gond dances encode ecological signals (monsoon, harvest), Agaria smelting encodes material knowledge with sacred protocols, and Sohrai wall-art transmits aesthetic grammars to children.

Identity is negotiated at the state interface- Recognition categories, district offices, and welfare schemes channel resources but also script what counts as 'tribal culture', influencing which dances and crafts are funded or showcased.

Industrialization reconfigures ritual ecologies- Coal–power expansion disrupts forest access and seasonal rhythms but simultaneously creates stages and markets for 'folk culture', leading to selective preservation and reinvention.

Borderland flows matter - Sonbhadra's adjacency to four states means ritual repertoires (Karma, Sohrai, Madai) circulate across political borders through marriage, migration, and fairs; identity is maintained through regional networks, not just district lines.

Conclusion

In Sonbhadra, tribal festivals, arts, and ritual technologies are not relics; they are adaptive repertoires that communities mobilize to make sense of seasons, kinship, and justice. Karma and Jitiya coordinate households and generations; Sohrai and Khovar paint identity onto walls; Agaria furnaces forge cosmology into metal. Under industrial pressure and administrative categorizations, these practices neither vanish nor remain unchanged—they recombine, stage themselves, and assert rights in ritual language. Cultural identity thus thrives not by insulation from change but by strategic continuity: keeping time with the rains while learning new stages and scripts.

Implications for Cultural Policy and Heritage Practice

Safeguard the akhra - Protecting village dance-grounds as community commons ensures continuity for Karma and other rites. Micro-grants can support drum makers, choreographers, and women's choruses. Support living crafts, not just demonstrations - For Agaria metallurgy, policy should enable controlled access to raw materials for community practice and apprenticeships, coupled with safety and environmental standards—rather than only museumized displays.

Document with communities - Participatory archiving—community-held audio–video of songs, steps, wall-art—respects intellectual property while enabling school curricula in Gondi/Baiga cultural content.

Platform women's ritual leadership - Jitiya narratives, tattooing knowledge, and wall-art techniques should inform women-led workshops and health–culture interfaces (e.g., anemia campaigns scheduled around fasts to avoid harm).

Cross-border cultural corridors - District cultural calendars should coordinate with adjacent districts in MP, Chhattisgarh, Jharkhand, and Bihar to support festival circuits and troupe exchanges reflecting lived cultural geographies.

References

Census of India. (2011). A-11 appendix: District-wise Scheduled Tribe population, Uttar Pradesh – 2011. Office of the Registrar General & Census Commissioner, India. https://censusindia.gov.in/nada/index.php/catalog/42485

Census of India. (2011). ST-14: Scheduled Tribe population by religious community (district level), Uttar Pradesh; Sonbhadra. Office of the Registrar General & Census Commissioner, India. https://censusindia.gov.in/nada/index.php/catalog/42501

CRDEEP / IJSSAH. (2017). A critical appraisal of performing art culture of Baiga tribe in Central India. International Journal of Social Science and Arts & Humanities, 4(3). http://crdeepjournal.org/wp-content/uploads/2017/08/Vol-4-3-1-IJSSAH.pdf

Hindustan Times. (2022, Sept 22). Karma dancers' tale of poverty: News item on Sonbhadra Karma dancers' public presence. Hindustan Times. https://www.hindustantimes.com/cities/lucknow-news/karma-dancers-tale-of-poverty-101663832862214.html

IndiaNetZone. (n.d.). Madai festival. Indianetzone. https://www.indianetzone.com/41/madai_festival.htm

IOSR Journals. (2018). Cultural life of Kharwar tribe of Sonbhadra district (U.P.). IOSR Journal of Humanities and Social Science, 23(2). https://www.iosrjournals.org/iosr-jhss/papers/Vol.%2023%20Issue2/Version-6/D2302061822.pdf

IOSR Journals. (2018). Socio-cultural life of the Kharwar tribes of Sonbhadra district. IOSR Journal of Agriculture and Veterinary Science, 11(3). https://www.iosrjournals.org/iosr-javs/papers/Vol11-issue3/Version- 1/B1103010611.pdf

Kol community resources. (n.d.). Festival – Kol tribe. KolTribe. https://www.koltribe.in/festival

Land Conflict Watch. (2016). Gond Adivasis in Sonbhadra district fight for land rights. Land Conflict Watch. https://www.landconflictwatch.org/conflicts/gond-adivasis-in-sonbhadra-district-fight-for-land-rights

Mishra, S. (2019). Ethnography and change among the Gonds of Sonbhadra district in Uttar Pradesh. Journal of Emerging Technologies and Innovative Research, 6(6), 153–160. https://www.jetir.org/papers/JETIR1907A19.pdf

Peepul Tree / Live History India. (2020). Sonbhadra: More precious than gold. PeepulTree World. https://www.peepultree.world/livehistoryindia/story/places/sonbhadra-more-precious-than-gold

ResearchGate. (2019). A critical appraisal of performing art culture of Baiga tribe in Central India. ResearchGate. https://www.researchgate.net/publication/335210088_A_Critical_Appraisal_of_Performing_ Art_Culture_of_Baiga_Tribe_in_Central_India

Sonbhadra District Administration. (2025). Sonbhadra, Government of Uttar Pradesh | Sonanchal | India. District Portal. https://sonbhadra.nic.in

Das, A., & Rai, R. (2025). Sohrai wall art of the Santals: A visual chronicle of culture and tradition in the Indian Knowledge System. International Journal of Creative Research Thoughts, 13(3). https://doi.org/10.2139/ssrn.5260161

Wikipedia. (2025). Baiga. In Wikipedia. https://en.wikipedia.org/wiki/Baiga

Wikipedia. (2025). Gondi people. In Wikipedia. https://en.wikipedia.org/wiki/Gondi_people

Wikipedia & Government cultural portals. (2023–2025). Sohrai and related festival pages. In Wikipedia and Utsav.gov.in. https://utsav.gov.in/view-district-event/sohrai-festival

Received: 29.11.2025 | Accepted: 15.12.2025 | Published: 30.12.2025

भारतेंदु युगीन निबंध साहित्य में राष्ट्रनिर्माण की चेतना

सर्वानन्द साहा*

drsarvanand98@gmail.com

शोध सार

*उन्नीसवीं शताब्दी के दूसरे भाग में भारतेंदु हरिश्चंद्र और उनके साथियों ने हिंदी साहित्य को एक नई दिशा दी। उन्हें आधुनिक हिंदी साहित्य का जनक माना जाता है। उन्होंने साहित्य को दरबारों की विलासिता से बाहर निकाला और उसे आम लोगों के जीवन और उनकी समस्याओं से जोड़ दिया। इस समय को 'भारतेंदु युग' **(1868-1900** ई.) कहा जाता है। यह युग केवल साहित्य में नए विचारों के आने का समय नहीं था, बल्कि यह वह समय था जब देश को एक राष्ट्र के रूप में खड़ा करने की तैयारी हो रही थी। इस समय में सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक बदलावों की नींव रखी गई, जिसने एक नए युग की शुरुआत की। इस शोध आलेख में इस बात का गहराई से अध्ययन किया गया है कि भारतेंदु युग में लिखे गए निबंधों ने लोगों में देशभक्ति और जागृति की भावना कैसे पैदा की। इन निबंधों में उस समय की सबसे बड़ी समस्याओं को उठाया गया था। लेखकों ने अंग्रेजी शासन द्वारा किए जा रहे शोषण का विरोध किया। उन्होंने समाज में फैली बुराइयों जैसे छुआछूत, बाल विवाह और अंधविश्वास के खिलाफ आवाज उठाई। इसके अलावा, उन्होंने गरीबी और आर्थिक असमानता की समस्या को भी सामने रखा। इन निबंधों में हिंदी भाषा के सम्मान और पहचान को बचाने पर भी बहुत जोर दिया गया। इस तरह, इन ज्वलंत मुद्दों को उठाकर भारतेंदु युगीन निबंधों ने भारतीय लोगों के मन में अपने देश और समाज के प्रति एक नई चेतना और नवजागरण की लौ जलाई।*

बीज शब्द:

भारतेंदु युग, निबंध साहित्य, राष्ट्रनिर्माण, राष्ट्रीय चेतना, नवजागरण, औपनिवेशिक विरोध, स्वदेशी, भाषाई अस्मिता।

प्रस्तावना

सन 1857 की पहली क्रांति की असफलता के बाद भारत पर अंग्रेजों का अधिकार पूरी तरह जम गया। ब्रिटिश सरकार ने भारत का भारी आर्थिक नुकसान किया और यहाँ की पुरानी संस्कृति व पहचान को भी गहरा आघात पहुँचाया। इस मुश्किल दौर में हिंदी साहित्य की दुनिया में भारतेंदु हरिश्चंद्र का आगमन हुआ। भारतेंदु युग में लिखे गए निबंध केवल मनोरंजन या समय बिताने का साधन नहीं थे। वे निबंध समाज को जगाने और देश का निर्माण करने का एक बहुत ही मजबूत जरिया बने। डॉ. रामविलास शर्मा कहते हैं "भारतेंदु युग का साहित्य भारतीय नवजागरण का पहला चरण है, जिसमें एक ओर औपनिवेशिक सत्ता का विरोध है तो दूसरी ओर सामंती जकड़न से मुक्ति की आकुलता।" भारतेंदु और उनके सहयोगी लेखकों ने अपने निबंधों के जरिए आम जनता को उनकी बुरी हालत का अहसास कराया। उन्होंने लोगों को यह समझाया कि जब तक वे एकजुट होकर अपनी भाषा, समाज और देश की चिंता नहीं करेंगे, तब तक देश की तरक्की संभव नहीं है। इस तरह इन निबंधों ने देश के लोगों के अंदर अपनी आजादी और आत्मसम्मान के लिए सोचने की नई सोच पैदा की।

राष्ट्रनिर्माण का स्वरूप और औपनिवेशिक विरोध

भारतेंदु युग के निबंधकारों के मन में देश के निर्माण को लेकर एक बहुत ही व्यापक सोच थी। इस समय के प्रमुख लेखकों प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमधन' और राधाचरण गोस्वामी ने अपनी रचनाओं के जरिए अंग्रेजी शासन की अन्यायपूर्ण नीतियों की खुलकर पोल खोली। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने अपने प्रसिद्ध निबंध 'भारतवर्षोन्नति कैसे हो सकती है?' में भारतीय लोगों के आलस्य और निष्क्रियता पर करारी चोट की। उन्होंने भारतीयों को यह समझाया कि

* **शोधार्थी, हिंदी विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा, महाराष्ट्र**

वे अपनी कमियों को छोड़कर एक हों और देश की तरक्की के लिए आगे आएं। वे देशवासियों को चेतावनी देते हुए कहते हैं "जैसे काजी जी के दुबले होने का कारण शहर का अंदेशा है, वैसे ही भारतवासियों का दुबलापन देश की दुर्दशा से है... अब भी तुम न चेतोगे तो फिर कब चेतोगे?" तो दूसरी ओर बालकृष्ण भट्ट ने अपनी पत्रिका 'हिंदी प्रदीप' के जरिए भारतीयों के राजनीतिक अधिकारों की बात उठाई और अंग्रेजी सरकार द्वारा किए जा रहे शोषण पर लगातार सवाल खड़े किए। इस दौर के साहित्य में एक ओर अंग्रेजी शासन के प्रति दिखावे का सम्मान (राजभक्ति) नजर आता है तो दूसरी ओर अपने देश के प्रति सच्चा प्रेम (देशभक्ति) भी दिखाई देता है। लेकिन निबंधों की गहराई में जाने पर यह साफ हो जाता है कि निबंधकारों के लिए देशभक्ति ही सबसे ऊपर थी।

आर्थिक चेतना और स्वदेशी का विचार

राष्ट्रनिर्माण तब तक अधूरा है जब तक देश आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर न हो। दादाभाई नौरोजी के 'धन के निष्कासन सिद्धांत' (Drain of Wealth) की अनुगूंज भारतेंदु युग के निबंधों में स्पष्ट सुनाई देती है। निबंधकारों ने भारतवासियों को स्वदेशी वस्तुओं को अपनाने और कुटीर उद्योगों को पुनर्जीवित करने का परामर्श दिया। भारतेंदु जी लिखते हैं: *"सब प्रकार से सब देशियों को अपने देश के बनाए हुए माल का व्यवहार करना चाहिए। देश का धन देश में ही रहे, यही उन्नति का मूल मार्ग है।"* इसी प्रकार बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमधन' ने भी 'आनंद कादंबिनी' में भारत के उजड़ते उद्योगों और मैनचेस्टर निर्मित कपड़ों के आयात पर चिंता व्यक्त की। उनका मानना था कि आर्थिक स्वावलंबन के बिना राष्ट्र का पुनरुत्थान असंभव है।

सामाजिक सुधार और सांस्कृतिक पुनर्जागरण

राष्ट्र केवल भौगोलिक सीमाओं का नाम नहीं है; राष्ट्र का निर्माण उसके निवासियों से होता है। समाज सुधार के बिना राष्ट्रनिर्माण अधूरा रहता। भारतेंदु मंडल के लेखकों ने अंधविश्वास, बाल-विवाह, विधवा-उत्पीड़न और छुआछूत जैसी कुरीतियों पर करारी चोट की।

- **स्त्री शिक्षा और अधिकार:** निबंधकारों ने स्वीकार किया कि समाज का आधा हिस्सा शिक्षित और सशक्त हुए बिना राष्ट्र आगे नहीं बढ़ सकता।
- **धार्मिक संकीर्णता का विरोध:** धर्म के नाम पर फैले आडंबरों का विरोध करते हुए उदारवादी मानवीय मूल्यों को बढ़ावा दिया गया।
- **जातिगत विभाजन पर प्रहार:** प्रताप नारायण मिश्र ने अपने निबंधों में 'ब्राह्मणत्व' की रूढ़िवादी धारणा पर व्यंग्य करते हुए सामाजिक समरसता पर बल दिया।

निज भाषा प्रेम और भाषाई अस्मिता

भाषा किसी भी राष्ट्र की भावात्मक एकता की आधारशिला होती है। भारतेंदु युग ने हिंदी (खड़ी बोली) को राष्ट्रभाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने का ऐतिहासिक कार्य किया। भारतेंदु जी की प्रसिद्ध पंक्तियां इस युग का महामंत्र बन गईं: *"निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल। बिन निज भाषा ज्ञान के, मिटत न हिय को सूल॥"* इसी प्रकार प्रताप नारायण मिश्र का नारा "हिंदी, हिंदू, हिंदुस्तान" भाषाई स्वाभिमान और सांस्कृतिक पहचान का प्रतीक बना। निबंधकारों ने स्पष्ट किया कि जब तक देशवासी अपनी मातृभाषा और राष्ट्रभाषा में विचार नहीं करेंगे, तब तक वैचारिक दासता समाप्त नहीं हो सकती।

आर्थिक चेतना और स्वदेशी का विचार

जब तक कोई देश आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर नहीं बनता, तब तक उसका राष्ट्रनिर्माण पूरा नहीं हो सकता। दादाभाई नौरोजी के 'धन के निष्कासन सिद्धांत' (अंग्रेजों द्वारा भारत की संपत्ति बाहर ले जाने की नीति) का असर इस युग के निबंधों में साफ़ दिखाई देता है। निबंधकारों ने भारतवासियों को अपने देश में बनी वस्तुओं का उपयोग करने और छोटे-कुटीर उद्योगों को फिर से चालू करने की सलाह दी। भारतेंदु जी लिखते हैं "सब प्रकार से सब देशियों को अपने देश के बनाए हुए माल का व्यवहार करना चाहिए। देश का धन देश में ही रहे, यही उन्नति का मूल मार्ग है।" बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमधन' ने भी अपनी पत्रिका 'आनंद कादंबिनी' में भारत के बंद होते उद्योगों और इंग्लैंड से आने वाले कपड़ों पर चिंता जताई। उनका मानना था कि जब तक देश आर्थिक रूप से मजबूत नहीं होगा, तब तक उसका विकास होना असंभव है।

सामाजिक सुधार और सांस्कृतिक पुनर्जागरण

राष्ट्र केवल ज़मीन का टुकड़ा नहीं होता, बल्कि वह वहाँ रहने वाले लोगों से बनता है। इसलिए समाज के सुधार के बिना देश की तरक्की अधूरी थी। भारतेंदु मंडल के लेखकों ने समाज की अनेक कुरीतियों को दूर करने का प्रयास किया:

- **स्त्री शिक्षा और अधिकार:** लेखकों का मानना था कि जब तक समाज की आधी आबादी यानी महिलाएँ शिक्षित और सशक्त नहीं होंगी, देश आगे नहीं बढ़ सकता।
- **धार्मिक आडंबरों का विरोध:** धर्म के नाम पर फैले पाखंड का खंडन किया गया और आपसी भाईचारे तथा मानवीय मूल्यों को बढ़ावा दिया गया।
- **जातिगत भेदभाव पर चोट:** प्रताप नारायण मिश्र ने अपने निबंधों में ऊँच-नीच की सोच पर तीखा व्यंग्य किया और समाज में एकता स्थापित करने पर बल दिया।

निज भाषा प्रेम और भाषाई अस्मिता

भाषा किसी भी देश की एकता की सबसे बड़ी ताक़त होती है। भारतेंदु युग ने हिंदी (खड़ी बोली) को राष्ट्र की मुख्य भाषा के रूप में स्थापित करने का ऐतिहासिक काम किया। भारतेंदु जी की ये प्रसिद्ध पंक्तियाँ इस युग की मूल सोच को दर्शाती हैं: "निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल। बिन निज भाषा ज्ञान के, मिटत न हिय को सूल॥" इसी प्रकार प्रताप नारायण मिश्र का "हिंदी, हिंदू, हिंदुस्तान" का नारा भाषाई स्वाभिमान का प्रतीक बना। सभी निबंधकारों ने यह स्पष्ट कर दिया कि जब तक देशवासी अपनी मातृभाषा में सोचना और काम करना शुरू नहीं करेंगे, तब तक वे विचारों की गुलामी से आज़ाद नहीं हो सकते।

भारतेंदु मंडल के प्रमुख निबंधकारों का योगदान

1. भारतेंदु हरिश्चंद्र (1850-1885 ई.)

भारतेंदु जी को आधुनिक हिंदी साहित्य और हिंदी गद्य का जनक स्वीकार किया जाता है। उन्होंने 'कविवचनसुधा' तथा 'हरिश्चंद्र मैगजीन' (हरिश्चंद्र चंद्रिका) जैसी पत्रिकाओं के माध्यम से निबंध लेखन को एक नया आकार दिया। उनके निबंधों का मुख्य ध्यान देशभक्ति, समाज की बुराइयों, मातृभाषा के विकास और देश की बिगड़ती आर्थिक स्थिति पर केंद्रित रहा। उनकी भाषा में सटीक व्यंग्य, राष्ट्रीय चेतना और आम जनमानस की बोलचाल की सहजता दिखाई देती है। 'भारतवर्षोन्नति कैसे हो सकती है?' और 'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न' उनके अत्यंत महत्वपूर्ण निबंध हैं।

2. बालकृष्ण भट्ट (1844-1924 ई.)

भट्ट जी को हिंदी निबंध परंपरा का एक प्रमुख स्तंभ माना जाता है। उन्होंने 'हिंदी प्रदीप' पत्रिका का लगभग 33 वर्षों तक निरंतर संपादन किया और अनेक विचारप्रधान निबंधों की रचना की। उनके लेखन में सामाजिक सुधार, राजनीतिक अधिकार, अंग्रेजों द्वारा किए जा रहे शोषण और मानवीय भावनाओं (जैसे क्रोध, क्षमा) को प्रमुख स्थान मिला। उनकी भाषा-शैली अत्यंत तीखी, तर्कपूर्ण और व्यंग्यात्मक थी। 'साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है' उनका एक बहुत प्रसिद्ध निबंध है।

3. प्रताप नारायण मिश्र (1856-1894 ई.)

मिश्र जी ने कानपुर से 'ब्राह्मण' पत्रिका का प्रकाशन किया और निबंधों को साधारण जनता की आम बोलचाल की भाषा से जोड़ा। उन्होंने अपने लेखों में सामाजिक कुरीतियों, देशप्रेम, धर्म तथा अपनी भाषा और पहचान के प्रश्नों को प्रमुखता से उठाया। उनकी रचनाओं पर क्षेत्रीय भाषा (अवधी और बैसवाड़ी) का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। उन्होंने 'बात', 'भौं', 'मूंछ' और 'दाँत' जैसे साधारण विषयों पर भी बड़े ही रोचक और विचारणीय निबंध लिखे।

4. बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमधन' (1855-1923 ई.)

प्रेमधन जी ने मिर्जापुर से 'आनंद कादंबिनी' और 'नागरी नीरद' जैसी पत्रिकाओं का सफल संपादन किया। उनके निबंधों में स्वदेशी विचारों का प्रचार, आर्थिक आत्मनिर्भरता और देश के उजड़ते उद्योगों के प्रति चिंता मुख्य रूप से व्यक्त हुई

है। उनकी भाषा-शैली काफी अलंकृत, कलात्मक और गंभीर थी। वे अपने निबंधों में लंबे वाक्यों और एक विशेष प्रवाहपूर्ण शैली के प्रयोग के लिए पहचाने जाते हैं।

5. राधाचरण गोस्वामी (1859-1925 ई.)

गोस्वामी जी ने 'भारतेंदु' नामक पत्रिका का संपादन किया और अपने निबंधों के जरिए समाज में फैली पुरानी रूढ़ियों पर सीधा प्रहार किया। उन्होंने सामाजिक कुरीतियों, धार्मिक स्थलों में व्याप्त भ्रष्टाचार और जातिगत विषमता जैसे गंभीर मुद्दों को अपने लेखन का विषय बनाया। उनका निबंध 'यमलोक की यात्रा' उस समय के सामाजिक और धार्मिक ढोंग पर किया गया एक प्रभावी व्यंग्य है।

6. लाला श्रीनिवास दास (1851-1887 ई.)

हिंदी के प्रथम उपन्यास 'परीक्षा गुरु' की रचना करने के साथ-साथ इन्होंने निबंधों के माध्यम से भी साहित्य को समृद्ध किया। इनके निबंधों में मुख्य रूप से देश के व्यापारिक विकास, नैतिक आचरण, व्यावहारिक शिक्षा और सामाजिक सुधारों पर बल दिया गया है।

निष्कर्ष

भारतेंदु युग का निबंध साहित्य भारतीय नवजागरण का सच्चा सूत्रधार है। इस दौर की रचनाओं ने देशवासियों को उनकी प्राचीन और गौरवशाली सांस्कृतिक विरासत का अहसास कराया, साथ ही तत्कालीन गुलामी और सामाजिक दुर्दशा पर कड़ा प्रहार करते हुए उन्हें भविष्य के निर्माण का एक स्पष्ट मार्ग दिखाया। इन निबंधों में व्यक्त राष्ट्रनिर्माण की भावना केवल तात्कालिक राजनीतिक स्वतंत्रता पाने तक ही सीमित नहीं थी, बल्कि उसमें समाज, अर्थव्यवस्था, भाषा और संस्कृति के संपूर्ण पुनरुत्थान का एक व्यापक दृष्टिकोण शामिल था। निबंधकारों ने जहाँ एक ओर अंग्रेजों द्वारा किए जा रहे आर्थिक शोषण और सामाजिक बुराइयों को उजागर किया, वहीं दूसरी ओर स्वदेशी अपनाने और मातृभाषा के प्रति स्वाभिमान जगाने का ऐतिहासिक कार्य भी किया। यह बहुआयामी वैचारिक चेतना केवल उसी समय तक सीमित नहीं रही, बल्कि इसने आने वाले समय के लिए एक मजबूत वैचारिक पृष्ठभूमि तैयार की। यही दूरदर्शी सोच आगे चलकर द्विवेदी युग की अनुशासित राष्ट्रीय चेतना और छायावादी काव्य धारा के उदात्त राष्ट्रवाद की मुख्य आधारशिला बनी।

संदर्भ :-

1. शर्मा, रामविलास. (1975). *भारतेंदु युग और हिंदी भाषा की विकास-परंपरा* (पृ. 45). राजकमल प्रकाशन.
2. हरिश्चंद्र, भारतेंदु. (1953). *भारतेंदु ग्रंथावली (भाग 3 - निबंध)* (पृ. 112). नागरी प्रचारिणी सभा.
3. हरिश्चंद्र, भारतेंदु. (1953). *भारतेंदु ग्रंथावली (भाग 3 - निबंध)* (पृ. 118). नागरी प्रचारिणी सभा.
4. हरिश्चंद्र, भारतेंदु. (1953). *भारतेंदु ग्रंथावली (भाग 3 - निबंध)* (पृ. 15). नागरी प्रचारिणी सभा.
5. शुक्ल, रामचंद्र. (1930). *हिंदी साहित्य का इतिहास* (पृ. 420). नागरी प्रचारिणी सभा.
6. भट्ट, बालकृष्ण. (1914). *भट्ट निबंधमाला (भाग 1)* (पृ. 78). हिंदी साहित्य सम्मेलन.
7. राय, गुलाब. (2010). *भारतीय संस्कृति की रूपरेखा*. प्रभात प्रकाशन.
8. शर्मा, रामविलास. (1991). *मानव सभ्यता का विकास* (तृतीय संस्करण). वाणी प्रकाशन.
9. शर्मा, रामविलास. (2004). *परम्परा का मूल्यांकन*. राजकमल प्रकाशन.

Received: 30.11.2025 | Accepted: 20.12.2025 | Published: 30.12.2025

दिव्यांगजनों में आत्मनिर्भरता : प्रेरणा, आत्मविश्वास एवं मनोवैज्ञानिक कारकों की भूमिका

गुलशन कुमार*

gulshan19785@gmail.com

सारांश :

दिव्यांगजनों के जीवन में आत्मनिर्भरता उनके व्यक्तिगत विकास, सामाजिक सहभागिता और जीवन की गुणवत्ता से जुड़ा एक महत्वपूर्ण विषय है। आत्मनिर्भरता व्यक्ति को अपने जीवन से जुड़े निर्णय लेने, दैनिक कार्यों का प्रबंधन करने, लक्ष्य निर्धारित करने तथा उपलब्ध संसाधनों का प्रभावी उपयोग करने की क्षमता प्रदान करती है। दिव्यांगता की स्थिति में शारीरिक अथवा संवेदी चुनौतियों के साथ सामाजिक दृष्टिकोण, पारिवारिक वातावरण, अवसरों की उपलब्धता और मनोवैज्ञानिक अनुभव भी व्यक्ति की आत्मनिर्भरता को प्रभावित करते हैं। इस संदर्भ में प्रेरणा, आत्मविश्वास, आत्म-प्रभावकारिता, आत्म-सम्मान, सकारात्मक दृष्टिकोण और आत्म-निर्धारण जैसे मनोवैज्ञानिक कारकों का विशेष स्थान है। प्रस्तुत शोध-पत्र में दिव्यांगजनों में आत्मनिर्भरता के विकास के संदर्भ में मनोवैज्ञानिक कारकों (प्रेरणा,आत्मविश्वास, आत्म-प्रभावकारिता) की भूमिका का विश्लेषण किया गया है। अध्ययन में मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों तथा उपलब्ध शोध-साहित्य के आधार पर यह समझने का प्रयास किया गया है कि व्यक्ति की आंतरिक प्रेरणा, अपनी क्षमताओं के प्रति विश्वास और जीवन संबंधी निर्णयों में स्वायत्तता किस प्रकार आत्मनिर्भर व्यवहार को प्रोत्साहित कर सकती है। साथ ही साथ परिवार, शिक्षा, रोजगार, सामाजिक स्वीकृति और सहायक वातावरण की भूमिका पर भी विचार किया गया है। अध्ययन से यह दृष्टिकोण सामने आता है कि दिव्यांगजनों की आत्मनिर्भरता के लिए मनोवैज्ञानिक सशक्तिकरण के साथ अनुकूल सामाजिक एवं पर्यावरणीय परिस्थितियों का विकास आवश्यक है।

मुख्य शब्द:

दिव्यांगजन, आत्मनिर्भरता, प्रेरणा, आत्मविश्वास, आत्म-प्रभावकारिता, आत्म-सम्मान, आत्म-निर्धारण, मनोवैज्ञानिक सशक्तिकरण।

प्रस्तावना :

दिव्यांगता मानव जीवन की विविध परिस्थितियों में से एक है जो व्यक्ति की शारीरिक, संवेदी, बौद्धिक अथवा मनोसामाजिक क्षमताओं से संबंधित हो सकती है। दिव्यांग व्यक्ति अपने जीवन में शिक्षा, रोजगार, सामाजिक सहभागिता, दैनिक जीवन तथा व्यक्तिगत निर्णयों से जुड़े अनेक अनुभवों से गुजरते हैं। इन अनुभवों को समझते समय व्यक्ति की क्षमताओं के साथ उसके सामाजिक और मनोवैज्ञानिक परिवेश को भी ध्यान में रखना आवश्यक है। विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार दिव्यांगता व्यक्ति की स्वास्थ्य स्थिति तथा उसके आसपास के भौतिक, सामाजिक और दृष्टिकोण संबंधी वातावरण के बीच होने वाली अंतःक्रिया से जुड़ी होती है (WHO, 2023)। इस दृष्टिकोण से दिव्यांग व्यक्ति की आत्मनिर्भरता को समझने के लिए व्यक्तिगत क्षमताओं के साथ सामाजिक अवसरों और मनोवैज्ञानिक संसाधनों का अध्ययन आवश्यक हो जाता है। आत्मनिर्भरता व्यक्ति के जीवन में स्वतंत्र निर्णय लेने, दैनिक आवश्यकताओं का प्रबंधन करने, अपनी क्षमताओं का उपयोग करने, लक्ष्य निर्धारित करने और जीवन से संबंधित विकल्पों का चयन करने की क्षमता से जुड़ी अवधारणा है। दिव्यांगजनों के संदर्भ में आत्मनिर्भरता का संबंध जीवन पर नियंत्रण, आत्म-निर्धारण और सामाजिक सहभागिता से भी जुड़ता है। अतः जब व्यक्ति अपनी क्षमताओं को पहचानता है और अपने जीवन से जुड़े निर्णयों में सक्रिय भूमिका निभाता है, तब उसके भीतर स्वायत्तता तथा व्यक्तिगत नियंत्रण की भावना विकसित होने की संभावना बढ़ती है। आत्मनिर्भरता के विकास में मनोवैज्ञानिक

* **पी-एच. डी. गांधी एवं शांति अध्ययन विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा, महाराष्ट्र**

कारकों की भूमिका विशेष रूप से होती है। प्रेरणा व्यक्ति को लक्ष्य की दिशा में प्रयास करने तथा कठिन परिस्थितियों में प्रयास बनाए रखने के लिए प्रेरित करती है। आत्मविश्वास व्यक्ति के भीतर अपनी क्षमताओं के प्रति सकारात्मक विश्वास विकसित करता है। इसी प्रकार आत्म-प्रभावकारिता, आत्म-सम्मान, सकारात्मक दृष्टिकोण, भावनात्मक संतुलन और आत्म-निर्धारण जैसी मनोवैज्ञानिक विशेषताएँ व्यक्ति के व्यवहार एवं निर्णयों को प्रभावित कर सकती हैं। Bandura (1997) के अनुसार आत्म-प्रभावकारिता व्यक्ति के उस विश्वास से संबंधित है जिसके आधार पर वह किसी कार्य को सफलतापूर्वक पूरा करने की अपनी क्षमता का आकलन करता है। यह विश्वास लक्ष्य-निर्धारण, प्रयास और कठिनाइयों से निपटने की प्रक्रिया से जुड़ा रहता है। दिव्यांगजनों के जीवन में परिवार, शिक्षा, रोजगार, सामाजिक स्वीकृति, सहायक तकनीक तथा सुगम वातावरण भी आत्मनिर्भरता के विकास को प्रभावित करते हैं। इसलिए इस विषय का अध्ययन व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक विशेषताओं और उसके सामाजिक परिवेश के परस्पर संबंध को ध्यान में रखते हुए किया जाना आवश्यक है। प्रस्तुत शोध-पत्र में दिव्यांगजनों की आत्मनिर्भरता के संदर्भ में प्रेरणा, आत्मविश्वास तथा अन्य मनोवैज्ञानिक कारकों की भूमिका का अध्ययन किया गया है तथा यह समझने का प्रयास किया गया है कि इन कारकों के विकास से आत्मनिर्भर जीवन की दिशा किस प्रकार सुदृढ़ हो सकती है।

आत्मनिर्भरता की मनोवैज्ञानिक अवधारणा :

आत्मनिर्भरता व्यक्ति के व्यक्तित्व विकास और जीवन-प्रबंधन से जुड़ी एक व्यापक मनोवैज्ञानिक अवधारणा है। इसका संबंध व्यक्ति की अपनी आवश्यकताओं को समझने, जीवन से जुड़े निर्णय लेने, समस्याओं का सामना करने, लक्ष्य निर्धारित करने और उपलब्ध संसाधनों का उपयोग करने की क्षमता से होता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से आत्मनिर्भर व्यक्ति अपने व्यवहार और निर्णयों के प्रति उत्तरदायित्व की भावना रखता है तथा परिस्थितियों के अनुसार अपनी क्षमताओं का प्रयोग करने का प्रयास करता है। इस दृष्टि से आत्मनिर्भरता को व्यक्ति के आत्म-नियंत्रण, स्वायत्तता और आत्म-निर्धारण से जोड़कर देखा जा सकता है। दिव्यांगजनों के संदर्भ में आत्मनिर्भरता का अर्थ दैनिक जीवन के कार्यों को बिना सहायता के पूरा करना भर नहीं है। व्यक्ति की पसंद, निर्णय लेने की स्वतंत्रता, जीवन के लक्ष्यों का निर्धारण और सामाजिक जीवन में अपनी भूमिका तय करने की क्षमता भी इसके प्रमुख पक्ष हैं। Self-Determination Theory के अनुसार स्वायत्तता, दक्षता और संबंधितता व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं में प्रमुख स्थान रखती हैं (Deci & Ryan, 2000)। जब व्यक्ति को अपने निर्णयों में स्वायत्तता और अपनी क्षमताओं के प्रयोग का अवसर मिलता है, तब उसके भीतर व्यक्तिगत नियंत्रण और आत्म-निर्धारण की भावना विकसित होने की संभावना रहती है। आत्मनिर्भरता का एक अन्य प्रमुख पक्ष आत्म-प्रभावकारिता है। Bandura (1997) ने आत्म-प्रभावकारिता को व्यक्ति के उस विश्वास के रूप में समझाया गया है जिसके आधार पर वह किसी विशेष परिस्थिति में आवश्यक कार्य को पूरा करने की अपनी क्षमता का मूल्यांकन करता है। दिव्यांग व्यक्ति जब अपनी क्षमताओं के प्रति सकारात्मक विश्वास विकसित करता है, तब वह नए कार्यों को सीखने, चुनौतियों का सामना करने और लक्ष्य प्राप्त करने की दिशा में अधिक सक्रिय हो सकता है।

वस्तुतः आत्मनिर्भरता को व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक क्षमताओं, व्यक्तिगत निर्णयों और सामाजिक सहभागिता के संयुक्त संदर्भ में समझना उचित है। दिव्यांगजनों के लिए आत्मनिर्भरता का विकास उनकी क्षमताओं को पहचानने, आत्म-निर्धारण को प्रोत्साहन देने और उन्हें जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में सक्रिय भागीदारी के अवसर उपलब्ध कराने से जुड़ा हुआ है।

आत्मनिर्भरता के विकास में प्रेरणा की भूमिका :

प्रेरणा व्यक्ति के व्यवहार को दिशा देने वाली मनोवैज्ञानिक शक्ति है। यह व्यक्ति को किसी लक्ष्य की ओर बढ़ने, प्रयास आरंभ करने और कठिन परिस्थितियों में अपने प्रयास को जारी रखने के लिए प्रेरित करती है। दिव्यांगजनों के संदर्भ में प्रेरणा का संबंध व्यक्तिगत लक्ष्यों, कौशल सीखने, शिक्षा प्राप्त करने, रोजगार की तलाश करने तथा दैनिक जीवन में अधिक स्वायत्तता प्राप्त करने की इच्छा से जोड़ा जा सकता है। जब व्यक्ति अपने जीवन के लक्ष्यों को स्वयं निर्धारित करता है और उन्हें प्राप्त करने के लिए सक्रिय प्रयास करता है, तब आत्मनिर्भरता की दिशा में उसके व्यवहार को गति मिलती है। प्रेरणा को सामान्यतः आंतरिक और बाह्य रूपों में समझा जाता है। आंतरिक प्रेरणा में व्यक्ति किसी कार्य को अपनी रुचि, संतुष्टि अथवा व्यक्तिगत अर्थ के कारण करता है, जबकि बाह्य प्रेरणा पुरस्कार, सामाजिक मान्यता या अन्य बाहरी परिणामों से जुड़ी होती है। Deci और Ryan (2000) के Self-Determination Theory के अनुसार व्यक्ति की स्वायत्तता, दक्षता और संबंधितता की मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति उसके स्व-निर्धारित व्यवहार के विकास में सहायक होती है। दिव्यांगजनों को जब अपने जीवन से जुड़े विकल्प चुनने, अपनी क्षमताओं का प्रयोग करने और सामाजिक संबंधों में सक्रिय रहने के अवसर मिलते हैं, तब

उनकी स्व-निर्धारित प्रेरणा को प्रोत्साहन मिल सकता है। प्रेरणा का संबंध लक्ष्य-निर्धारण से भी है। वस्तुतः व्यक्ति की क्षमता के अनुरूप लक्ष्य उसे अपने प्रयासों की दिशा तय करने में सहायता देते हैं। छोटे-छोटे लक्ष्यों की प्राप्ति से सफलता का अनुभव मिलता है, जिससे आगे के कार्यों के लिए उत्साह बढ़ सकता है। परिवार, शिक्षक, परामर्शदाता और कार्यस्थल का सकारात्मक वातावरण भी प्रेरणा के विकास में सहायक हो सकता है। परिणामस्वरूप दिव्यांगजनों में आत्मनिर्भरता के विकास के लिए ऐसी परिस्थितियों की आवश्यकता है जहाँ उन्हें अपनी पसंद व्यक्त करने, लक्ष्य निर्धारित करने, निर्णय लेने और अपनी उपलब्धियों का अनुभव करने के अवसर मिलें। प्रेरणा व्यक्ति को आत्मनिर्भरता की दिशा में आगे बढ़ने के लिए मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान करती है।

आत्मविश्वास एवं आत्म-प्रभावकारिता की भूमिका :

आत्मविश्वास व्यक्ति के व्यक्तित्व का ऐसा पक्ष है जो उसकी क्षमताओं, निर्णयों और कार्य करने की योग्यता के प्रति उसके विश्वास से जुड़ा होता है। व्यक्ति जब अपनी क्षमताओं पर विश्वास रखता है, तब वह नए कार्यों को सीखने, चुनौतियों का सामना करने और अपने लक्ष्यों की दिशा में प्रयास करने के लिए अधिक तत्पर हो सकता है। दिव्यांगजनों के संदर्भ में आत्मविश्वास का विकास विशेष रूप से आवश्यक है क्योंकि सामाजिक पूर्वाग्रह, अस्वीकार्यता और अवसरों की कमी व्यक्ति के आत्म-मूल्यांकन को प्रभावित कर सकती है। आत्मविश्वास से संबंधित एक प्रमुख मनोवैज्ञानिक अवधारणा आत्म-प्रभावकारिता है। Bandura (1997) के अनुसार आत्म-प्रभावकारिता व्यक्ति का ऐसा विश्वास है जिसके आधार पर वह किसी विशिष्ट कार्य अथवा परिस्थिति में अपेक्षित प्रदर्शन करने की अपनी क्षमता का आकलन करता है। उच्च आत्म-प्रभावकारिता वाला व्यक्ति कठिन कार्य को चुनौती के रूप में देख सकता है और असफलता की स्थिति में पुनः प्रयास करने की प्रवृत्ति रख सकता है। इसके विपरीत, अपनी क्षमताओं के प्रति कम विश्वास व्यक्ति को चुनौतीपूर्ण कार्यों से पीछे हटने की ओर ले जा सकता है।

दिव्यांगजनों में आत्म-प्रभावकारिता का विकास दैनिक जीवन के अनेक क्षेत्रों में उपयोगी हो सकता है। उदाहरण के लिए शिक्षा प्राप्त करना, व्यावसायिक कौशल सीखना, रोजगार संबंधी निर्णय लेना, सार्वजनिक स्थानों का उपयोग करना तथा सामाजिक संबंधों में अपनी बात रखना ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ अपनी क्षमता पर विश्वास व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित कर सकता है। सफलता के अनुभव, क्रमिक कौशल प्रशिक्षण और सकारात्मक सामाजिक प्रतिक्रिया आत्म-प्रभावकारिता के विकास में सहायक हो सकते हैं। Bandura ने mastery experiences को आत्म-प्रभावकारिता के विकास का प्रमुख स्रोत माना है। परिवार और समाज की प्रतिक्रिया भी आत्मविश्वास को प्रभावित करती है। जब दिव्यांग व्यक्ति को उसकी क्षमताओं के अनुसार जिम्मेदारियाँ, निर्णय लेने के अवसर और प्रोत्साहन मिलता है, तब उसके भीतर व्यक्तिगत नियंत्रण तथा क्षमता-बोध विकसित होने की संभावना बढ़ती है। इसलिए आत्मविश्वास एवं आत्म-प्रभावकारिता को आत्मनिर्भरता के मनोवैज्ञानिक आधारों में स्थान दिया जा सकता है।

अन्य मनोवैज्ञानिक कारकों की भूमिका :

दिव्यांगजनों में आत्मनिर्भरता के विकास को समझने के लिए प्रेरणा और आत्मविश्वास के साथ अन्य मनोवैज्ञानिक कारकों पर भी ध्यान देना आवश्यक है। आत्म-सम्मान, सकारात्मक दृष्टिकोण, भावनात्मक संतुलन, आत्म-निर्धारण, समस्या-समाधान क्षमता और मनोवैज्ञानिक सशक्तिकरण व्यक्ति के व्यवहार, निर्णय और सामाजिक सहभागिता से जुड़े हुए हैं। इन कारकों का विकास व्यक्ति को अपनी क्षमताओं को पहचानने और जीवन की विभिन्न परिस्थितियों के प्रति अनुकूल प्रतिक्रिया देने में सहायता कर सकता है। **आत्म-सम्मान**व्यक्ति के स्वयं के प्रति मूल्यांकन से संबंधित है। जब व्यक्ति अपनी क्षमताओं और व्यक्तित्व को सकारात्मक दृष्टि से देखता है, तब उसके भीतर अपनी बात रखने, निर्णय लेने और सामाजिक गतिविधियों में भाग लेने का विश्वास विकसित हो सकता है। दिव्यांगजनों के लिए आत्म-सम्मान का विकास विशेष रूप से उपयोगी है, क्योंकि सामाजिक रूढ़ियाँ और नकारात्मक धारणाएँ उनके आत्म-मूल्यांकन को प्रभावित कर सकती हैं। **सकारात्मक दृष्टिकोण और भावनात्मक संतुलन**भी आत्मनिर्भरता की प्रक्रिया से जुड़े हैं। जीवन में आने वाली कठिनाइयों के प्रति संतुलित दृष्टिकोण व्यक्ति को समस्याओं के समाधान की दिशा में सोचने में सहायता देता है। भावनात्मक संतुलन व्यक्ति को तनावपूर्ण परिस्थितियों में अपने व्यवहार और निर्णयों को व्यवस्थित रखने में सहायक हो सकता है। **आत्म-निर्धारण**आत्मनिर्भरता का एक प्रमुख मनोवैज्ञानिक आधार है। Shogren और सहयोगियों के अनुसार आत्म-निर्धारण में व्यक्ति की स्वायत्तता, निर्णय लेने की क्षमता और अपने जीवन की दिशा निर्धारित करने की क्षमता शामिल होती है।

दिव्यांगजनों को अपने जीवन से संबंधित निर्णयों में सक्रिय भूमिका मिलने पर व्यक्तिगत नियंत्रण और जिम्मेदारी की भावना विकसित हो सकती है। इसके साथ मनोवैज्ञानिक सशक्तिकरणव्यक्ति को अपनी क्षमताओं और अधिकारों के प्रति जागरूक बनाने में सहायक होता है। इसमें व्यक्तिगत नियंत्रण, आत्म-प्रभावकारिता और सामाजिक सहभागिता जैसे पक्ष शामिल होते हैं। अतः आत्म-सम्मान, भावनात्मक संतुलन, आत्म-निर्धारण और मनोवैज्ञानिक सशक्तिकरण मिलकर दिव्यांगजनों के आत्मनिर्भर व्यक्तित्व के विकास के लिए मनोवैज्ञानिक आधार तैयार करते हैं।

सामाजिक एवं पर्यावरणीय कारकों के साथ मनोवैज्ञानिक कारकों की अंतःक्रिया :

दिव्यांगजनों की आत्मनिर्भरता के विकास में मनोवैज्ञानिक विशेषताओं के साथ सामाजिक एवं पर्यावरणीय परिस्थितियों की भी भूमिका रहती है। व्यक्ति की प्रेरणा, आत्मविश्वास और आत्म-प्रभावकारिता को ऐसा वातावरण मिलने पर बेहतर अवसर प्राप्त होते हैं, जहाँ उसे अपनी क्षमताओं के अनुरूप कार्य करने, निर्णय लेने और सामाजिक जीवन में भाग लेने की स्वतंत्रता मिले। परिवार का सहयोग इस प्रक्रिया का आधार बन सकता है। परिवार द्वारा प्रोत्साहन, भावनात्मक सहयोग और जिम्मेदारियाँ देने से दिव्यांग व्यक्ति में आत्मविश्वास तथा व्यक्तिगत नियंत्रण की भावना विकसित हो सकती है।शिक्षा और रोजगार आत्मनिर्भरता के विकास से जुड़े प्रमुख क्षेत्र हैं। गुणवत्तापूर्ण शिक्षा व्यक्ति को ज्ञान और कौशल प्रदान करती है, जबकि रोजगार आर्थिक स्वतंत्रता के साथ सामाजिक पहचान और उपलब्धि की अनुभूति से जुड़ सकता है। व्यावसायिक प्रशिक्षण के माध्यम से व्यक्ति अपनी क्षमताओं को पहचानकर उन्हें व्यावहारिक कार्यों में उपयोग कर सकता है। इससे आत्म-प्रभावकारिता और उपलब्धि की भावना को प्रोत्साहन मिल सकता है।सामाजिक स्वीकृति भी मनोवैज्ञानिक विकास को प्रभावित करती है। सम्मानजनक व्यवहार और समान अवसर मिलने से दिव्यांग व्यक्ति सामाजिक सहभागिता के प्रति अधिक सकारात्मक दृष्टिकोण विकसित कर सकता है। इसके विपरीत उपेक्षा, भेदभाव और नकारात्मक सामाजिक धारणाएँ आत्म-सम्मान तथा आत्मविश्वास को प्रभावित कर सकती हैं।सुगम परिवेश और सहायक तकनीक भी आत्मनिर्भर जीवन के लिए उपयोगी आधार प्रदान करते हैं। सुगम भवन, परिवहन, डिजिटल साधन तथा संचार सुविधाएँ व्यक्ति को दैनिक गतिविधियों और सामाजिक सहभागिता में अधिक स्वतंत्रता दे सकती हैं। इस प्रकार व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक क्षमताएँ और उसका सामाजिक-पर्यावरणीय परिवेश एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। अनुकूल वातावरण व्यक्ति की प्रेरणा, आत्मविश्वास और आत्म-निर्धारण को आगे बढ़ाने में सहायक हो सकता है।

संबंधित शोधों की समीक्षा एवं चर्चा :

दिव्यांगजनों की आत्मनिर्भरता और मनोवैज्ञानिक कारकों के संबंध में विभिन्न अध्ययनों ने आत्म-निर्धारण, स्वायत्तता, आत्म-प्रभावकारिता तथा मनोवैज्ञानिक सशक्तिकरण की भूमिका पर ध्यान दिया है। Shogren और Shaw (2016) ने दिव्यांग युवाओं में स्वायत्तता, आत्म-साक्षात्कार और मनोवैज्ञानिक सशक्तिकरण के संबंध का अध्ययन किया। उनके अध्ययन में स्वायत्तता का संबंध आर्थिक स्वतंत्रता, रोजगार, सामाजिक संबंधों, स्वतंत्र जीवन और उच्च शिक्षा जैसे वयस्क जीवन के परिणामों से पाया गया। यह अध्ययन आत्मनिर्भरता के विकास में व्यक्ति की निर्णय क्षमता और व्यक्तिगत नियंत्रण की उपयोगिता को स्पष्ट करता है। Dempsey और Foreman (1997) ने दिव्यांगता सेवाओं के संदर्भ में मनोवैज्ञानिक सशक्तिकरण की अवधारणा का विश्लेषण किया। उन्होंने आत्म-प्रभावकारिता, नियंत्रण की भावना तथा सहभागिता और सहयोग को सशक्तिकरण के प्रमुख घटकों के रूप में प्रस्तुत किया। उनके अनुसार व्यक्ति को अपनी क्षमताओं के प्रयोग और निर्णय प्रक्रिया में भागीदारी के अवसर मिलने से सशक्तिकरण की प्रक्रिया को आधार मिलता है। Kuld और सहयोगियों (2023) ने गंभीर एवं गहन बौद्धिक दिव्यांगता वाले व्यक्तियों में आत्म-निर्धारण को बढ़ावा देने वाले हस्तक्षेपों की व्यवस्थित समीक्षा एवं मेटा-विश्लेषण किया। 76 अध्ययनों की समीक्षा में चुनाव करने, स्वतंत्रता और समस्या-समाधान जैसे पक्षों पर विशेष ध्यान पाया गया। समीक्षा में स्वायत्तता, दक्षता, संबंधितता, लक्ष्य-निर्धारण और सशक्तिकरण आधारित हस्तक्षेपों को भी शामिल किया गया। Cegarra और सहयोगियों (2023) के अध्ययन में 424 दिव्यांग वयस्कों के आंकड़ों का विश्लेषण किया गया। अध्ययन में स्वतंत्र जीवन, आत्म-निर्धारण और सामाजिक सहभागिता की संतुष्टि का जीवन-गुणवत्ता तथा भावनात्मक कल्याण से संबंध पाया गया। शोध में आत्म-निर्धारण और सहभागिता की संतुष्टि ने स्वतंत्र जीवन तथा भावनात्मक कल्याण के बीच संबंध को आंशिक रूप से स्पष्ट किया।इन अध्ययनों से स्पष्ट होता है कि दिव्यांगजनों की आत्मनिर्भरता को समझने में मनोवैज्ञानिक और सामाजिक दोनों आयामों को साथ रखना आवश्यक है। उपलब्ध शोध आत्म-निर्धारण, स्वायत्तता, आत्म-प्रभावकारिता और सहभागिता को स्वतंत्र जीवन तथा जीवन-गुणवत्ता से जोड़ते हैं। अतः प्रेरणा,

आत्मविश्वास और मनोवैज्ञानिक सशक्तिकरण को विकसित करने वाले कार्यक्रम दिव्यांगजनों में आत्मनिर्भरता को बढ़ावा देने की दिशा में उपयोगी आधार प्रदान कर सकते हैं।

निष्कर्ष :

प्रस्तुत अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि दिव्यांगजनों में आत्मनिर्भरता का विकास एक बहुआयामी मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक प्रक्रिया है। आत्मनिर्भरता व्यक्ति की निर्णय क्षमता, स्वायत्तता, लक्ष्य-निर्धारण, आत्म-प्रभावकारिता और सामाजिक सहभागिता से जुड़ी हुई है। प्रेरणा व्यक्ति को अपने लक्ष्यों की दिशा में प्रयास करने के लिए दिशा प्रदान करती है, जबकि आत्मविश्वास और आत्म-प्रभावकारिता उसे अपनी क्षमताओं का उपयोग करने तथा चुनौतियों का सामना करने के लिए मनोवैज्ञानिक आधार देते हैं। Shogren और Shaw (2016) के अध्ययन में स्वायत्तता का संबंध वित्तीय स्वतंत्रता, रोजगार, सामाजिक संबंध, स्वतंत्र जीवन और उच्च शिक्षा जैसे वयस्क जीवन के परिणामों से पाया गया। दिव्यांगजनों की आत्मनिर्भरता में आत्म-सम्मान, आत्म-निर्धारण, भावनात्मक संतुलन और मनोवैज्ञानिक सशक्तिकरण की भी भूमिका है। व्यक्ति को अपनी पसंद व्यक्त करने, निर्णय लेने और अपनी क्षमताओं के अनुरूप कार्य करने के अवसर मिलने पर व्यक्तिगत नियंत्रण तथा आत्म-निर्धारण की भावना विकसित हो सकती है। Bandura (1997) का आत्म-प्रभावकारिता सिद्धांत भी इस संदर्भ में उपयोगी आधार प्रदान करता है। इस आधार पर सुझाव दिया जा सकता है कि दिव्यांगजनों के लिए मनोवैज्ञानिक परामर्श, कौशल-विकास, लक्ष्य-निर्धारण प्रशिक्षण और आत्म-प्रभावकारिता बढ़ाने वाले कार्यक्रम विकसित किए जाएँ। परिवार को अत्यधिक संरक्षण के स्थान पर प्रोत्साहन और निर्णय लेने के अवसर देने चाहिए। शिक्षा एवं रोजगार के क्षेत्र में समान अवसर, सुगम वातावरण और सहायक तकनीक उपलब्ध कराना आवश्यक है। सामाजिक स्तर पर सम्मानजनक व्यवहार और सकारात्मक दृष्टिकोण को बढ़ावा दिया जाना चाहिए। इस प्रकार मनोवैज्ञानिक संसाधनों तथा अनुकूल सामाजिक वातावरण के समन्वय से दिव्यांगजनों के आत्मनिर्भर जीवन की संभावनाओं को सुदृढ़ किया जा सकता है।

संदर्भ :

कुमार, पं. (2023). *दिव्यांग बच्चे और समावेशी कक्षा वातावरण*. राष्ट्रीय दृष्टि दिव्यांगजन सशक्तिकरण संस्थान.

मटानिया, आ. (2020). *दिव्यांग बच्चों के लिए समावेशी शिक्षा*. कनिष्क पब्लिशर्स.ISBN 978-93-89484-60-1.

Bandura, A. (1997). *Self-efficacy: The exercise of control*. W. H. Freeman.

Deci, E. L., & Ryan, R. M. (2000). The "what" and "why" of goal pursuits: Human needs and the self-determination of behavior. *Psychological Inquiry, 11*(4), 227-268.

Dempsey, I., & Foreman, P. (1997). Toward a definition of empowerment: A review of the literature. *Australasian Journal of Special Education, 21*(1), 44-55.

Ryan, R. M., & Deci, E. L. (2000). Self-determination theory and the facilitation of intrinsic motivation, social development, and well-being. *American Psychologist, 55*(1), 68-78.

Shogren, K. A., & Shaw, L. A. (2016). The role of autonomy, self-realization, and psychological empowerment in predicting early adulthood outcomes for youth with disabilities. *Remedial and Special Education, 37*(1), 55-62.

Shogren, K. A., Wehmeyer, M. L., Palmer, S. B., Forber-Pratt, A. J., Little, T. J., & Lopez, S. J. (2015). Causal agency theory: Reconceptualizing a functional model of self-determination. *Education and Training in Autism and Developmental Disabilities, 50*(3), 251-263.

World Health Organization. (2023). *Disability and health*. World Health Organization.

World Health Organization. (2023). *Rehabilitation*. World Health Organization.

Received: 01.12.2025 | Accepted: 25.12.2025 | Published: 30.12.2025

Race, Caste and Gender in the Autobiographies of Maya Angelou and Bama

MANUSHREE*
manushree1211@gmail.com

Abstract

This paper examines the interconnected dimensions of race, caste and gender in the autobiographical writings of Maya Angelou and Bama through a comparative literary perspective. Although the two authors belong to different socio-cultural contexts the United States and India their narratives reveal striking similarities in portraying systemic discrimination and the struggle for dignity. Maya Angelou's, I Know Why the Caged Bird Sings foregrounds the experiences of racial segregation and gendered violence within the African American community, while Bama's Karukku exposes the entrenched realities of caste oppression and the marginalization of Dalit women. Employing the theoretical framework of intersectionality, this study investigates how race, caste and gender interact to shape the protagonists' identities and lived experiences. Through close textual analysis, the paper demonstrates that both autobiographies transform personal suffering into collective resistance by reclaiming voice, memory and selfhood. Despite differences in historical and cultural settings, Angelou and Bama challenge structures of exclusion through education, language and autobiographical narration. The study concludes that these texts transcend individual life writing to become powerful testimonies of resistance, affirming identity and human dignity while contributing significantly to Black feminist and Dalit feminist literary traditions.

Keywords:

Race, Caste, Gender, Maya Angelou, Bama, Autobiography, Intersectionality, Identity.

Introduction

Autobiography has emerged as a significant literary form through which marginalized individuals articulate their lived experiences and challenge dominant social narratives. Unlike conventional autobiographies that primarily recount personal achievements, the autobiographical writings of oppressed communities often function as powerful testimonies of resistance, exposing structures of inequality while asserting individual and collective identity. In this context, the autobiographies of Maya Angelou and Bama occupy a distinctive place in African American and Dalit literature respectively. Their works transcend personal memory to become political narratives that question systems of exclusion based on race, caste and gender.

* **Research scholar, Department of English and Other foreign languages**
Mahatma Gandhi Kashi Vidyapith, Varanasi

Maya Angelou's I Know Why the Caged Bird Sings presents the realities of racial segregation, gender discrimination and psychological trauma experienced by African Americans in the United States. Through her narrative, Angelou illustrates how racial prejudice shapes personal identity while simultaneously demonstrating the transformative power of education, language and self-expression. Similarly, Bama's Karukku offers a compelling account of the everyday discrimination encountered by Dalit Christians in India. Her autobiography exposes the deeply entrenched nature of caste oppression and reveals how Dalit women experience multiple forms of marginalization because of their caste, gender and socio-economic position. Although race and caste arise from different historical and cultural contexts, both operate as hierarchical systems that deny equality, dignity and social recognition. The experiences narrated by Angelou and Bama reveal important parallels in the ways institutional discrimination influences identity formation and restricts access to justice and opportunity. Their autobiographies also demonstrate that resistance begins with the act of narrating one's own experiences, transforming silence into a voice of empowerment and collective consciousness. This paper undertakes a comparative study of race, caste and gender in the autobiographies of Maya Angelou and Bama. It explores how intersecting structures of oppression shape the protagonists' identities and examines the literary strategies through which both writers reclaim dignity and challenge dominant social hierarchies. By bringing African American and Dalit autobiographical traditions into dialogue, the study contributes to comparative literary scholarship and highlights the continuing relevance of marginalized women's life writing in understanding social inequality and human resilience.

Theoretical Framework

This study adopts an interdisciplinary theoretical framework that combines **Intersectionality**, **Black Feminism** and **Dalit Feminism** to examine the autobiographical writings of Maya Angelou and Bama. These theoretical perspectives provide an appropriate foundation for understanding how multiple forms of social discrimination shape the lives and identities of marginalized women. Rather than viewing race, caste and gender as separate categories of oppression, the study considers them as interconnected systems that collectively influence individual experiences and social realities.

The concept of **intersectionality**, introduced by Kimberlé Crenshaw, explains how different forms of oppression intersect to create complex experiences of discrimination. Instead of experiencing inequality through a single social identity, women from marginalized communities often face overlapping disadvantages based on race or caste, gender, class and other social locations. This framework is particularly relevant to the present study because both Maya Angelou and Bama portray protagonists whose struggles cannot be understood through a single dimension of identity. Angelou's experiences as a Black woman in a racially segregated society and Bama's experiences as a Dalit Christian woman in a caste-based social order reveal the interconnected nature of structural discrimination.

The study also draws upon the principles of **Black Feminism**, which foreground the historical experiences, cultural identity and resistance of Black women against racial and patriarchal oppression. Black feminist thought emphasizes that African American women's voices have long been marginalized within both mainstream feminist discourse and dominant racial narratives.

Angelou's autobiography reflects this tradition by transforming personal experiences of racial prejudice, gender-based violence and social exclusion into a powerful assertion of dignity and selfhood.

Similarly, **Dalit Feminism** offers a critical perspective for analysing Bama's autobiography by highlighting the unique experiences of Dalit women, whose lives are shaped by the simultaneous operation of caste and patriarchy. Dalit feminist scholars argue that the oppression of Dalit women cannot be fully explained through either mainstream feminism or Dalit discourse alone, as their experiences emerge from the intersection of caste, gender, religion and economic inequality. Bama's Karukku exemplifies this reality by documenting everyday humiliation while simultaneously affirming the resilience and collective strength of the Dalit community. Together, these theoretical perspectives enable a comparative understanding of how autobiography becomes a literary space for resisting oppression, reconstructing identity and reclaiming human dignity.

Race and Racial Discrimination in Maya Angelou

Race is the central axis around which Maya Angelou's I Know Why the Caged Bird Sings constructs its narrative of identity and survival. Set in the racially segregated American South during the Jim Crow era, the autobiography presents the everyday realities of institutional racism and its profound impact on the psychological and social development of African Americans. Angelou depicts race not merely as a biological or physical characteristic but as a socially constructed system that determines access to education, justice, employment and human dignity. Her narrative demonstrates how racial discrimination permeates every sphere of life, shaping both individual consciousness and collective experience. From her early childhood in Stamps, Arkansas, Angelou becomes aware of the rigid racial hierarchy that governs society. Public institutions, schools, businesses and recreational spaces are divided along racial lines, reinforcing the belief that Black people occupy an inferior social position. These segregated spaces are not simply physical boundaries; they symbolize a larger system of exclusion that denies African Americans equal opportunities and social recognition. Through vivid personal experiences, Angelou illustrates how racial prejudice becomes normalized within everyday life, making discrimination appear routine rather than exceptional. One of the most significant aspects of Angelou's autobiography is its portrayal of the psychological consequences of racism. Constant exposure to racial humiliation creates feelings of insecurity, alienation and self-doubt during her formative years. The internal conflict between personal worth and society's degrading perception of Black identity reflects the destructive effects of institutional racism on self-esteem. Nevertheless, Angelou refuses to accept these externally imposed definitions of identity. Instead, her narrative records a gradual journey towards self-awareness, confidence and cultural pride. Education and literature play a transformative role in this process of identity formation. Angelou portrays reading, language and intellectual development as powerful means of resisting racial oppression. Encouraged by influential figures such as Mrs. Flowers and supported by her family, she discovers that language can challenge silence and restore personal dignity. Literary expression enables her to reinterpret painful experiences from her own perspective rather than through the prejudices of a discriminatory society. In this sense, education becomes not only a path to knowledge but also an instrument of liberation. Angelou also emphasizes the importance of the African American community in preserving dignity despite systemic discrimination. Family members, neighbours, teachers and religious institutions

provide emotional support and cultural continuity, enabling individuals to withstand the pressures of racial injustice. Rather than portraying Black identity solely through suffering, the autobiography celebrates resilience, solidarity and collective hope. Community functions as a source of strength that counters the dehumanising effects of racism and nurtures a positive sense of self. Through her autobiographical narrative, Angelou transforms personal memory into a broader critique of racial inequality. By documenting lived experiences of segregation and discrimination, she challenges dominant historical narratives that marginalize African American voices. Her autobiography ultimately demonstrates that reclaiming one's voice is an act of resistance against racial oppression. The journey from silence to self-expression affirms that identity is not determined by racist structures but by the courage to narrate one's own experience with dignity and conviction.

Caste and Social Exclusion in Bama

Bama's Karukku presents a powerful account of caste-based discrimination and its devastating impact on the lives of Dalit Christians in India. Unlike conventional autobiographies that focus primarily on personal achievement, Karukku documents the collective experiences of a marginalized community whose social identity is shaped by the rigid hierarchy of the caste system. Through her autobiographical narrative, Bama exposes the everyday realities of untouchability, social exclusion and institutional discrimination, revealing how caste continues to regulate access to dignity, education, religion and social mobility.

From her childhood, Bama becomes increasingly conscious of the invisible yet powerful boundaries imposed by caste. She recalls incidents in which Dalits are treated as socially inferior, denied equal respect and subjected to humiliating practices that reinforce their marginalized status. These experiences demonstrate that caste discrimination is not confined to isolated events but is deeply embedded in the social structure, influencing everyday interactions and determining one's position within society. The normalization of such practices creates an environment in which inequality is accepted as a social norm, making resistance both necessary and difficult. One of the distinctive features of Karukku is its criticism of caste discrimination within Christian institutions. Bama challenges the assumption that religious conversion guarantees social equality by revealing that caste prejudice persists even within churches, convents and educational institutions. Despite the Christian ideals of compassion and equality, Dalit believers continue to encounter discrimination and exclusion. By documenting these contradictions, Bama exposes the persistence of caste ideology across religious boundaries and questions institutions that fail to uphold the principles they profess. Education occupies a central place in Bama's journey towards self-respect and liberation. Encouraged by her family, particularly her brother, she recognises that education offers an opportunity to challenge social stereotypes and resist caste oppression. However, Bama does not portray education merely as a means of individual advancement. Instead, she presents it as a collective instrument capable of empowering the Dalit community and dismantling structures of inequality. Knowledge becomes a form of resistance that enables marginalized individuals to question inherited social hierarchies and assert their dignity. Language also functions as an important mode of resistance in Karukku. Bama deliberately employs the spoken language and cultural expressions of the Dalit community instead of adopting the conventions of elite literary Tamil. This stylistic choice validates the lived experiences of ordinary Dalit people and affirms the cultural identity of a community that has long been excluded from mainstream literary

representation. By privileging the voices of the marginalized, Bama transforms autobiography into a political act that challenges dominant narratives and reclaims the authority to define Dalit identity on its own terms. Ultimately, Karukku demonstrates that the struggle against caste oppression extends beyond individual survival to encompass the collective aspiration for justice, equality and human dignity. Bama's autobiography redefines life writing as a form of social intervention, encouraging readers to confront the realities of caste discrimination while recognizing the resilience and agency of the Dalit community. Her narrative establishes that true liberation begins with the rejection of imposed inferiority and the affirmation of one's identity through education, community and the courageous act of self-representation.

Gender and Double Marginalization

Gender constitutes another significant dimension of oppression in the autobiographical writings of Maya Angelou and Bama. While race and caste shape their social identities, gender intensifies their experiences of discrimination by exposing them to patriarchal control, violence and unequal opportunities. Both writers reveal that women from marginalized communities experience oppression in ways that differ from those of men belonging to the same communities. Consequently, their autobiographies present gender not as an isolated category but as an experience deeply intertwined with race, caste, class and religion. In I Know Why the Caged Bird Sings, Maya Angelou portrays the vulnerability of Black girls within a society marked by both racial segregation and patriarchal domination. Her account of childhood sexual abuse represents a defining moment in the narrative, illustrating the emotional and psychological consequences of gender-based violence. The trauma initially silences her, reflecting the fear and isolation experienced by many survivors. However, Angelou gradually transforms this silence into a source of strength through education, literature and self-expression. By reclaiming her voice, she challenges the cultural norms that often suppress women's experiences and demonstrates that personal testimony can become an act of resistance. Similarly, Bama's Karukku exposes the multiple forms of discrimination faced by Dalit women within Indian society. In addition to enduring caste-based exclusion, Dalit women confront patriarchal practices both within and outside their communities. Bama describes how women are expected to perform physically demanding labour while simultaneously experiencing social humiliation and restricted opportunities. Her narrative also highlights the persistence of gender inequality within religious institutions, where women frequently occupy subordinate positions despite the ideals of equality and compassion. These experiences demonstrate that Dalit women negotiate several interconnected forms of oppression rather than a single source of discrimination. A significant similarity between Angelou and Bama lies in their rejection of victimhood. Although both narrate experiences of suffering, neither allows oppression to define her identity permanently. Instead, they present women as active agents capable of challenging injustice through education, self-awareness and collective solidarity. Their autobiographies shift the focus from passive endurance to conscious resistance, illustrating that empowerment emerges through the assertion of one's own voice and lived experience. The comparative reading of these autobiographies demonstrates that gender cannot be separated from other structures of social inequality. Angelou's experiences of racism acquire greater complexity because she is a Black woman, while Bama's struggles are intensified by her identity as a Dalit Christian woman. Their narratives therefore exemplify the interconnected nature of race, caste and gender, confirming that the struggle for

dignity requires confronting all these structures simultaneously. Through autobiographical writing, both authors transform personal experiences into collective testimonies that challenge patriarchal and hierarchical social systems while affirming women's resilience, agency and humanity.

Resistance through Voice, Education and Autobiography

Despite the different historical and cultural contexts represented in the autobiographies of Maya Angelou and Bama, both writers demonstrate that resistance is achieved not only through political action but also through education, language and autobiographical narration. Their life stories illustrate that reclaiming one's voice is the first step towards challenging systems of oppression. By transforming personal experiences into literary narratives, both authors reject imposed identities and reconstruct themselves as active agents of social change.

One of the most significant forms of resistance in I Know Why the Caged Bird Sings is Angelou's recovery of her voice after a period of psychological silence. The trauma of childhood abuse temporarily isolates her from the external world, yet literature and education gradually restore her confidence and self-expression. Under the guidance of Mrs. Flowers, Angelou discovers the power of language to heal emotional wounds and redefine personal identity. Reading and writing become instruments through which she confronts racial prejudice and rejects the stereotypes imposed upon African Americans. Her autobiography therefore demonstrates that language possesses the capacity to transform silence into empowerment and suffering into creative expression. In Karukku, Bama similarly presents education as a powerful means of resisting caste oppression. She repeatedly emphasizes that knowledge enables marginalized communities to question inherited social hierarchies and challenge institutional discrimination. Her decision to narrate the experiences of Dalit Christians reflects a conscious effort to expose social injustice while encouraging collective awareness. Unlike conventional literary narratives that privilege elite voices, Bama adopts the language, cultural expressions and everyday experiences of ordinary Dalit people. This deliberate stylistic choice affirms the value of Dalit identity and transforms autobiography into a form of cultural and political resistance. Both autobiographies also highlight the importance of community in sustaining resistance. Angelou portrays the support of her family, teachers and the African American community as essential to the development of self-confidence and resilience. Likewise, Bama draws strength from the collective experiences of the Dalit community, emphasizing that liberation is inseparable from social solidarity. In both narratives, education is not presented merely as a means of individual advancement but as a resource capable of inspiring broader social transformation. Autobiography itself becomes the most enduring expression of resistance in the writings of Angelou and Bama. By documenting experiences that have long been ignored or suppressed, both authors challenge dominant historical narratives and create space for marginalized voices within literary discourse. Their autobiographies reject silence, affirm cultural identity and demand recognition of the humanity of oppressed communities. Through the act of self-writing, Angelou and Bama transform personal memory into collective testimony, demonstrating that literature can become a powerful medium for confronting injustice and reclaiming dignity. Their works therefore extend beyond individual life stories to function as enduring records of resilience, resistance and hope.

Comparative Discussion

A comparative reading of Maya Angelou's I Know Why the Caged Bird Sings and Bama's Karukku reveals that, despite their distinct historical and cultural contexts, both autobiographies articulate a common struggle against systemic oppression. Angelou writes within the context of racial segregation in the United States, whereas Bama documents the realities of caste discrimination in India. Although race and caste emerge from different socio-political histories, both operate as hierarchical structures that deny equality, dignity and social mobility to marginalized communities. The autobiographies demonstrate that oppression is sustained not only through institutional practices but also through everyday social interactions that normalize exclusion and discrimination. The study further illustrates that gender intensifies these experiences of marginalization. As Black and Dalit women, Angelou and Bama encounter forms of discrimination that cannot be understood solely through race or caste. Their narratives expose how patriarchal norms intersect with racial and caste hierarchies to produce multiple layers of inequality. Consequently, both autobiographies challenge simplistic interpretations of oppression by presenting identity as a product of interconnected social forces rather than a single category of difference. Despite these shared experiences, the authors adopt distinctive literary strategies shaped by their cultural environments. Angelou employs lyrical prose, reflective narration and symbolic imagery to portray the emotional consequences of racism and the gradual recovery of selfhood. Bama, by contrast, adopts a direct, realistic style rooted in the spoken language and everyday experiences of the Dalit community. Her use of colloquial Tamil challenges conventional literary norms and affirms the cultural identity of marginalized people. These contrasting narrative styles demonstrate that literary expression itself becomes an act of resistance, enabling each writer to represent her community with authenticity and conviction. Another significant similarity lies in the transformative role of education and community. Both writers portray education as a means of developing critical consciousness and resisting internalized oppression. At the same time, family members, teachers and community networks provide emotional support and reinforce the values of resilience, dignity and collective responsibility. Their autobiographies suggest that personal empowerment is inseparable from the well-being of the communities to which they belong. Ultimately, the comparative analysis demonstrates that autobiography functions as a powerful medium for reclaiming identity and challenging systems of exclusion. By narrating their lived experiences, Maya Angelou and Bama transform individual memories into collective testimonies that question dominant social narratives and affirm the humanity of marginalized communities. Their works establish that the struggle for dignity is not confined to a particular nation or culture but represents a universal human aspiration for equality, justice and self-definition. Through their courageous acts of self-writing, both authors expand the possibilities of autobiographical literature and contribute significantly to contemporary discussions of race, caste, gender and social justice.

Conclusion

The comparative study of Maya Angelou's I Know Why the Caged Bird Sings and Bama's Karukku demonstrates that race, caste and gender are deeply interconnected systems of oppression that shape the identities and lived experiences of marginalized women. Although the authors belong to different cultural and historical contexts, their autobiographies reveal striking similarities in

exposing institutional discrimination, social exclusion and the denial of human dignity. Through their narratives, Angelou and Bama challenge dominant ideologies that attempt to silence marginalized voices and instead affirm the value of self-representation as a means of resistance. The analysis further establishes that autobiography serves as more than a record of personal experience. For both writers, self-writing becomes a political act that transforms individual suffering into collective testimony. Angelou's portrayal of racial discrimination and Bama's depiction of caste-based oppression illustrate how personal narratives can question established power structures while inspiring social awareness and critical reflection. Their emphasis on education, language, community and cultural identity demonstrates that resistance is sustained through both individual determination and collective solidarity. The study also confirms the relevance of intersectionality in understanding the complexities of oppression experienced by Black and Dalit women. Neither race nor caste alone can explain their struggles; rather, gender interacts with these social identities to produce multiple forms of marginalization. By examining these intersecting dimensions, the paper contributes to comparative literary studies and expands the dialogue between African American and Dalit autobiographical traditions. In conclusion, the autobiographies of Maya Angelou and Bama remain significant literary texts because they transform marginalized experiences into enduring narratives of courage, dignity and hope. Their works challenge readers to confront persistent social inequalities while reaffirming the universal human aspiration for justice, equality and self-definition. Through their powerful acts of self-narration, both authors demonstrate that literature possesses the capacity not only to document oppression but also to inspire resistance and social transformation.

Reference

Angelou, M. (1969). *I know why the caged bird sings*. Random House.

Bama. (2000). *Karukku* (L. Holmström, Trans.). Macmillan India.

Collins, P. H. (2000). *Black feminist thought: Knowledge, consciousness and the politics of empowerment* (2nd ed.). Routledge.

Crenshaw, K. (1991). Mapping the margins: Intersectionality, identity politics and violence against women of color. *Stanford Law Review, 43*(6), 1241-1299.

Hooks, B. (1981). *Ain't I a woman: Black women and feminism*. South End Press.

Lorde, A. (1984). *Sister outsider: Essays and speeches*. Crossing Press.

Nayar, P. K. (2010). *Contemporary literary and cultural theory: From structuralism to ecocriticism*. Pearson.

Rege, S. (2013). *Writing caste/writing gender: Narrating Dalit women's testimonios*. Zubaan.

Spivak, G. C. (1988). Can the subaltern speak? In C. Nelson & L. Grossberg (Eds.), *Marxism and the interpretation of culture* (pp. 271-313). University of Illinois Press.

Tyson, L. (2015). *Critical theory today: A user-friendly guide* (3rd ed.). Routledge.

Viswanathan, G. (2014). *Masks of conquest: Literary study and British rule in India*. Columbia University Press.

Young, R. J. C. (2003). *Postcolonialism: A very short introduction*. Oxford University Press.

Received: 02.12.2025 | Accepted: 25.12.2025 | Published: 30.12.2025

Economic impact and cost analysis of crime against women

PUSHPA SHARMA*
pushpasharmagst@gmail.com

Abstract –

Violence against women and girls is traditionally evaluated through human rights and public health frameworks. However, contemporary macroeconomic modeling reveals that gender-based violence acts as a severe, structural tax on aggregate economic growth. This article analyzes how gendered crimes translate from micro-level microeconomic shocks into a **permanent invisible leakage** within the global circular flow of income.This measures how an event or issue **alters the behavior and structure of an economy**. It tracks the "ripple effects" or "transmission channels" through which a problem changes macro-level economic activity. An economic impact analysis looks at how fear or violence forces women to drop out of the workforce. This shrinks the national labor supply, reduces tax revenues for the government, and lowers the country's overall **GDP**. This is a comprehensive accounting process used to **quantify the total financial burden** of a specific problem. It aims to put a concrete price tag on both tangible items (receipts) and intangible items (suffering). A cost analysis adds up the exact amount spent on hospital bills, police hours, court fees, and prison operations, alongside the calculated value of missed workdays and emotional trauma.

For decades, crimes against women—ranging from intimate partner violence to public or workplace sexual harassment—were treated as private, isolated, or domestic issues. Modern feminist economics and macroeconomic transmission models have dismantled this paradigm by demonstrating that violence directly alters market behavior, labor supply, and public resource distribution.1 The financial burden is not a one-off fiscal shock; instead, it generates compounding multi-generational losses by destroying human capital, decreasing corporate productivity, and creating structural inefficiencies in national budgeting.

The Four-Quadrant Cost Accounting Matrix

Economists quantify the economic drag of crimes against women by bifurcating the financial realities into tangible and intangible metrics across direct and indirect vectors.

1. Direct Tangible Costs -

These encompass immediate, out-of-pocket public and private expenditures required to respond to a criminal event. This includes the operational costs of emergency healthcare, specialized psychiatric units, police response times, civil and criminal judicial administration, and state-subsidized safe housing.

2. Direct Intangible Costs -These capture the human suffering and non-monetary losses borne by the survivor. Economists measure this value using Disability-Adjusted Life Years (DALYs) or

* **Research Scholar, Department of Law & Governance**
Jayoti Vidyapeeth Women's University Jaipur, Rajasthan

Quality-Adjusted Life Years (QALYs). It places a statistical value on the emotional trauma, permanent physical impairment, and shortened lifespans directly caused by violence.

3. Indirect Tangible Costs -

This quadrant focuses on lost economic output. When a woman experiences violence, the tangible fallout hits her employer and household via absenteeism and presenteeism. Over time, this results in lower career-lifetime earnings, reduced household consumption, and lower tax revenue for the state.

4. Indirect Intangible Costs -

These are system-wide, secondary psychological barriers. When sexual assault or public harassment goes unchecked, a generalized fear index spreads through the female population. This ambient fear restricts women's physical mobility, causing them to turn down high-paying late-shift opportunities, refuse long commutes, or opt out of specific high-growth sectors entirely2.

Violence reduces the absolute volume of female labor hours available in the market. Cross-country regressions indicate that countries with a high prevalence of violence suffer from suppressed female labor force participation rates, leaving a massive portion of national human capital underutilized. For private firms, violence triggers structural operational leakages. Corporate entities experience higher turnover costs as traumatized workers exit the workforce, alongside elevated health insurance premiums and administrative costs stemming from workplace disruptions. Every dollar spent on the judicial system, penal structures, and acute emergency medical services to treat the fallout of violence represents an opportunity cost.3 These funds are diverted away from long-term capital investments such as primary education, public transit, and digital infrastructure that natively expand a country's production possibilities.

Comprehensive analyses by UN Women confirm that public, private, and social costs of violence total $1.5 trillion USD globally, matching the absolute economic output of an entire major developed nation. Studies compiled by the World Bank Group demonstrate that the total systemic cost can swallow 1.2% to 3.7% of a nation's GDP. In several developing nations, this percentage matches or exceeds what the national government allocates annually to primary education. Micro-level wage assessments reveal that women subjected to severe domestic or intimate partner violence suffer an immediate wage penalty, earning up to 29% to 43% less than non-abused peers due to career fragmentation and forced job shifts.

Economic Solutions to Mitigate the Cost of Crimes Against Women - Solutions are grouped by the specific macroeconomic transmission channels they fix-

1. Preventing Public Fiscal Stress - Governments spend billions on policing, courts, and emergency healthcare after crimes occur. These solutions redirect funds toward high-return primary prevention-

The "Safety Dividend" Budgeting: Shift national budgeting models to allocate dedicated fiscal funds to primary prevention programs in schools and communities. Evidentiary data shows that preventing a crime entirely yields a **high-yield return** by permanently deleting downstream court, police, and medical operational liabilities.

Integrated Crisis Centers - Consolidate medical, legal, psychological, and shelter services into a single, state-funded facility. This prevents the duplication of administrative overhead, slashes survivor travel expenses, and dramatically shortens the time required for a survivor to return to economic productivity.4

2. Restoring Labor Supply - Fear of crime and physical trauma forces women to contract their labor hours or opt out of high-growth sectors. These interventions restore human capital efficiency-

Infrastructural Security Capital- Optimize municipal public investments by designing safety directly into public transport networks, street lighting, and urban centers. Secure commutes directly eliminate the "ambient fear index," expanding the pool of female labor available for night shifts, long commutes, and specialized technical fields.5

Emergency Micro-Equity Grants-Deploy swift, state-backed financial safety nets and micro-loans for women escaping coercive domestic environments. By providing immediate liquidity, these grants prevent catastrophic household poverty spirals and ensure the survivor does not have to drop out of the workforce to survive.

3. Eradicating Corporate Drag - Private enterprises absorb massive shocks via absenteeism, presenteeism, and sudden employee turnover. Corporate structures can deploy targeted interventions to protect margins-

Paid Safe Leave Policies-Institutionalize mandatory corporate frameworks providing paid leave explicitly for survivors to attend court hearings, secure housing, or seek medical treatment. This stabilizes corporate talent pools and avoids the heavy replacement and recruitment costs associated with sudden staff turnover.

Digital Workplace Safeguards- Invest heavily in corporate cyber-security protocols to monitor and instantly mitigate technology-facilitated or image-based abuse targeting employees. Protecting an employee's digital workspace preserves daily operational productivity.

Policy Paradigm Shift - Ultimately, economic solutions require a shift in perception: public and private spending on women's safety is **not a discretionary social welfare expense**. It is a **core infrastructural asset class** that stabilizes labor markets, protects corporate profits, and expands national Gross Domestic Product.

Measures to prevent financial expenditure and costs incurred in crimes against women –Every criminal act perpetrated against women triggers a domino effect through public and private financial balance sheets. When a state fails to prevent violence, it commits itself to financing a permanent emergency response apparatus. The financial expenditures incurred in the aftermath of crimes against women are not passive metrics; they represent a significant misallocation of public capital. Funds that could natively drive public infrastructure, technology, and human capital development are instead consistently consumed by police hours, judicial bottlenecks, specialized medical care, and economic rehabilitation. To systematically lower these expenditures, governments and private sectors must transition from a framework of **reactive cost absorption** to **proactive cost mitigation**.6 Violence against women and girls acts as a structural tax on national economies, imposing an annual global burden estimated at **2% of global GDP ($1.5 trillion USD)**. While traditionally treated as a human rights crisis, this article analyzes the issue through the lens of public

finance and resource optimization. It outlines strategic, structural measures designed to eliminate the compounding "leakages" of crime—specifically targeting the reduction of direct tangible expenditures (judicial, policing, and emergency healthcare costs) and the recovery of indirect tangible losses (absenteeism and labor supply compression). The study argues that shifting state budgets from reactive crisis funding to proactive safety infrastructure yields a high-value economic dividend.

Structural Measures to Prevent Direct Tangible Expenditures - Direct tangible costs represent the immediate cash outflows paid by the state, corporations, and insurance systems to manage an active crisis.

1. Transitioning to Upstream Primary Prevention Budgets - The most effective way to eliminate downstream public expenditures is to prevent the initial criminal shock. Budgets must be reallocated toward community-level primary prevention programs, bystander intervention models, and early-educational gender-equality curricula. Empirical econometric modeling shows that preventing a single violent crime saves the state tens of thousands of dollars in judicial administration, penal operations, and acute medical interventions, rendering prevention a **high-yield fiscal stabilizer**.7

2. Institutionalizing "One-Stop" Integrated Crisis Infrastructure - Traditional multi-agency responses cause administrative fragmentation, driving up public overhead costs. Deploying integrated crisis centers consolidates medical treatment, trauma counseling, police reporting, and civil legal aid under a single roof.8 This structural arrangement eliminates administrative redundancies, shortens processing cycles, slashes transport subsidies for survivors, and optimizes state personnel allocation, significantly lowering the overall public cost per case.

3. Judicial Streamlining and Fast-Track Special Courts- Protracted legal battles place a heavy financial drain on the state's judicial resources and cause severe financial strain to the individual survivor. Establish dedicated, tech-enabled fast-track courts specifically tailored for gender-based offenses. Accelerating the timeline from indictment to sentencing prevents the buildup of court backlogs and dramatically reduces the operational expenses associated with long-term pre-trial detention and recurring legal hearings.

Systemic Interventions to Restrict Indirect Tangible Losses - Indirect tangible costs capture the loss of macroeconomic output, driven by market distortions, workplace absenteeism, and suppressed labor pool utilization.

1. Designing Secure Public Transit and Urban Spatial Infrastructure - When public spaces are unsafe, women intentionally restrict their geographic mobility, opt out of lucrative late-shift roles, or completely leave the workforce, compressing the aggregate supply of labor. Direct capital investments into urban safety designs—such as reliable municipal transit networks, well-lit corridors, and ubiquitous smart emergency beacons. Securing physical paths to employment prevents the hidden economic cost of "ambient fear." It natively expands the female labor force participation rate, broadens the national tax base, and increases overall corporate productivity.9

2. Deploying Swift Economic Autonomy and Liquidity Grants - Financial dependency acts as a major barrier, frequently forcing survivors to remain in abusive environments where violence continually escalates, stacking up long-term public health costs. Establish state-backed emergency

micro-equity funds and short-term liquidity grants that survivors can access instantly upon filing a report. Providing immediate financial independence prevents catastrophic household poverty downward spirals. It protects the survivor's career continuity, ensuring they do not drop out of the formal labor market.

3. Enforcing Corporate Accountability and Paid Safe Leave - Private firms bear a large portion of the financial burden of domestic and public violence through employee turnover and presenteeism. Mandate corporate frameworks that provide paid safe leave, enabling affected employees to secure legal counsel, relocate, or seek medical attention without risking job loss. For businesses, the cost of providing structured, short-term paid leave is significantly lower than the heavy financial liabilities of recruiting, onboarding, and training replacement staff due to sudden,10 unmanaged employee turnover. Measures to prevent the expenditures and costs incurred in crimes against women are not discretionary welfare programs. Instead, they represent a critical macroeconomic course correction. By dismantling the transmission channels of violence through targeted public safety infrastructure, early prevention spending, and integrated legal networks, nations can plug the invisible financial leakages that drain their resources. Treating women's safety as an essential economic asset class protects state budgets, optimizes corporate output, and helps unlock a nation's true macroeconomic potential.

Conclusion –

Addressing this crisis requires treating safety interventions as high-yield capital investments, enforcing corporate accountability, and structurally dismantling the barriers of crime to unlock full economic potential. The economic impact and cost analysis of crimes against women shifts the policy conversation from pure ethics to fiscal pragmatism. Gender-based violence functions as a regressive economic leak that penalizes corporate revenue, strains state budgets, and limits GDP growth. Consequently, public expenditure on female safety, legal protection, and primary prevention should no longer be categorized as a discretionary social expense. Instead, these measures must be integrated into national economic planning as **high-yield infrastructural investments** designed to preserve human capital and maximize macroeconomic efficiency

---

Reference:

1 Gender Justice, Women and Law in India. p. 55
2 Gender Justice, Women and Law in India. p. 56
3 Hindu Women and Marriage from Sacrament to contract. p. 324
4 Hindu Women and Marriage from Sacrament to contract. p. 326
5 Hindu Women and Marriage from Sacrament to contract. p. 326-327
6 Majumdar R.K. and Srivastava, A.N. An Easy Approach to Indian History (6th Ed. 1996) pg. 87
7 An Easy Approach to Indian History. p. 98
8 Sharma, Vijay. "Pandit Jawaharlal Nehru's contribution in Emancipation of Hindu Women", Indian Journal of Legal studies, (1988). p. N. 17
9 "Pandit Jawaharlal Nehru's contribution in Emancipation of Hindu Women", Indian Journal of Legal studies. p. 27
10 "Pandit Jawaharlal Nehru's contribution in Emancipation of Hindu Women", Indian Journal of Legal studies. p. 29

Received: 03.12.2025 | Accepted: 25.12.2025 | Published: 30.12.2025

1857 के विद्रोह में वीरांगना ऊदा देवी पासी की भूमिका: दलित प्रतिरोध, लैंगिक विमर्श और औपनिवेशिक सत्ता के विरुद्ध संघर्ष का ऐतिहासिक विश्लेषण

दिलीप कुमार / **Dilip Kumar***
uppsc.dilipkumar@gmail.com

सारांश

1857 का विद्रोह भारतीय इतिहास की उन निर्णायक घटनाओं में है जिसने औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध सैनिक असंतोष, कृषक प्रतिरोध, स्थानीय सत्ता-संघर्ष और जन-आक्रोश को एक व्यापक ऐतिहासिक प्रक्रिया में रूपांतरित किया। किंतु 1857 के परंपरागत इतिहास-लेखन में राजाओं, तालुकेदारों, सैनिक नेतृत्व और प्रतिष्ठित वीरांगनाओं को जिस विस्तार से स्थान मिला, उसी अनुपात में निम्नवर्गीय और दलित समुदायों की महिलाओं की भागीदारी का अध्ययन नहीं हुआ। वीरांगना ऊदा देवी पासी इस उपेक्षित इतिहास की अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रतिनिधि हैं। लखनऊ के सिकंदरबाग में 16 नवंबर 1857 को हुए भीषण युद्ध के संदर्भ में ब्रिटिश सैनिक विलियम फोर्ब्स-मिचेल ने एक ऐसी महिला निशानेबाज का प्रत्यक्षदर्शी विवरण प्रस्तुत किया है, जो पीपल के वृक्ष पर स्थित होकर ब्रिटिश सैनिकों पर गोली चला रही थी। फोर्ब्स-मिचेल के मूल विवरण में उस महिला का नाम नहीं दिया गया, किंतु उत्तरवर्ती पासी लोक-स्मृति, दलित इतिहास-लेखन तथा आधुनिक अध्ययनों ने उसकी पहचान ऊदा देवी के रूप में स्थापित की। यही बिंदु ऊदा देवी के इतिहास को विशेष रूप से रोचक बनाता है, क्योंकि यहाँ अभिलेखीय इतिहास, लोक-स्मृति, जातीय अस्मिता और स्त्रीवादी इतिहास-दृष्टि परस्पर अंतःक्रिया करते हैं।प्रस्तुत शोध-पत्र ऐतिहासिक-विश्लेषणात्मक और अंतर्विषयी पद्धति का उपयोग करते हुए ऊदा देवी की भूमिका का पुनर्मूल्यांकन करता है। अध्ययन का तर्क है कि ऊदा देवी को केवल एक 'वीरांगना' अथवा 'दलित प्रतीक' के रूप में सीमित करना पर्याप्त नहीं है। उनका व्यक्तित्व औपनिवेशिक प्रतिरोध, जातिगत वंचना और पितृसत्तात्मक संरचना तीनों के विरुद्ध ऐतिहासिक एजेंसी की संभावना को व्यक्त करता है।

प्रमुख शब्द:

ऊदा देवी पासी, 1857 का विद्रोह, सिकंदरबाग, अवध, पासी समुदाय, दलित इतिहास, स्त्री प्रतिरोध, बेगम हजरत महल।

प्रस्तावना

1857 के विद्रोह की प्रकृति और स्वरूप भारतीय इतिहास-लेखन में लंबे समय से विमर्श का विषय रहे हैं। औपनिवेशिक इतिहासकारों ने इसे मुख्यतः 'सिपाही विद्रोह' अथवा *Mutiny* के रूप में प्रस्तुत किया, जबकि राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन ने इसे विदेशी शासन के विरुद्ध व्यापक राजनीतिक प्रतिरोध और स्वतंत्रता की चेतना से जोड़ा। बाद के सामाजिक और सबाल्टर्न इतिहासकारों ने इस द्वंद्व से आगे बढ़ते हुए यह प्रश्न उठाया कि 1857 में सामान्य किसान, कारीगर, निम्न जातियाँ, ग्रामीण समुदाय तथा महिलाएँ कहाँ उपस्थित थीं। इसी पुनर्पाठ ने उन व्यक्तियों और समुदायों को इतिहास में पुनर्स्थापित करने का मार्ग खोला, जिनका उल्लेख औपनिवेशिक अभिलेखों में या तो बहुत कम है अथवा विजेता की दृष्टि से हुआ है।

अवध 1857 के विद्रोह का अत्यंत महत्त्वपूर्ण क्षेत्र था। 1856 में ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा अवध के विलय ने शासकीय वर्ग ही नहीं, बल्कि तालुकेदारों, कृषकों और बड़ी संख्या में अवध से भर्ती सैनिकों को प्रभावित किया। रुद्रांग्शु मुखर्जी ने

***शोधार्थी, मध्यकालीन एवं आधुनिक इतिहास विभाग, गनपत सहाय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, सुल्तानपुर (उ.प्र.)**
सम्बद्ध : डॉ० राममनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय अयोध्या (उत्तर प्रदेश)
https://doi.org/10.5281/zenodo.22813968

दिखाया है कि ब्रिटिश भूमि-राजस्व व्यवस्था, नवाबी सत्ता का उन्मूलन और तालुकेदार-कृषक संबंधों में हस्तक्षेप ने अवध में गहरे असंतोष की भूमि तैयार की। सैनिक विद्रोह शीघ्र ही ग्रामीण और लोकप्रिय प्रतिरोध से जुड़ गया। इस कारण अवध में 1857 को केवल सैन्य विद्रोह की सीमाओं में समझना संभव नहीं है[1]। इसी व्यापक जन-प्रतिरोध के भीतर ऊदा देवी का व्यक्तित्व सामने आता है। उनके इतिहास का विशेष महत्त्व इसलिए भी है कि वह एक साथ तीन स्थापित धारणाओं को चुनौती देता है-पहली, कि 1857 का नेतृत्व केवल अभिजात वर्ग के हाथों में था; दूसरी, कि दलित समुदाय राष्ट्रीय-अस्मिता से जुड़े सैन्य प्रतिरोध में सक्रिय नहीं थे; और तीसरी, कि युद्धक्षेत्र मुख्यतः पुरुषों का क्षेत्र था। इस प्रकार ऊदा देवी का अध्ययन केवल एक वीरगाथा का पुनरावर्तन नहीं, बल्कि इतिहास-लेखन की संरचना और ऐतिहासिक दृश्यता के प्रश्नों की भी समीक्षा है।

शोध-समस्या, उद्देश्य और नवीनता

ऊदा देवी पर उपलब्ध सामग्री दो प्रकार की है। प्रथम श्रेणी में ब्रिटिश सैनिकों और समकालीन अथवा निकट-समकालीन प्रत्यक्षदर्शियों के वर्णन आते हैं। इसमें सबसे महत्त्वपूर्ण विलियम फोर्ब्स-मिचेल की *Reminiscences of the Great Mutiny, 1857–59* है। दूसरी श्रेणी में पासी समुदाय की लोक-स्मृतियाँ, कविताएँ, स्मारिकाएँ, जीवनियाँ, आधुनिक दलित लेखन और बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से विकसित राजनीतिक-सांस्कृतिक स्मृति आती है।

समस्या यह है कि दोनों स्रोत-परंपराओं को बिना आलोचनात्मक परीक्षण के एक-दूसरे का पर्याय मान लेने पर इतिहास और स्मृति का अंतर समाप्त हो जाता है। उदाहरणतः फोर्ब्स-मिचेल एक महिला निशानेबाज का स्पष्ट विवरण देते हैं, पर उसे 'ऊदा देवी' नाम से संबोधित नहीं करते। आधुनिक दलित परंपरा उसी महिला को ऊदा देवी के रूप में पहचानती है। इसी प्रकार फोर्ब्स-मिचेल 'आधा दर्जन से अधिक' सैनिकों की मृत्यु का उल्लेख करते हैं, जबकि उत्तरवर्ती कथाओं में यह संख्या 32 अथवा 36 हो जाती है। इसलिए शोध का उद्देश्य लोकप्रिय स्मृति को खारिज करना नहीं, बल्कि यह समझना है कि वह किस ऐतिहासिक आधार पर विकसित हुई और उसने सामाजिक अस्मिता के निर्माण में क्या भूमिका निभाई[2]।अध्ययन का केंद्रीय प्रश्न यह है कि ऊदा देवी के संबंध में उपलब्ध प्रत्यक्ष ऐतिहासिक प्रमाण और बाद की लोक-स्मृति एक-दूसरे से किस प्रकार संबंधित हैं। इसके साथ यह शोध 1857 में दलित स्त्री-एजेंसी, अवध के लोकप्रिय प्रतिरोध और आधुनिक स्मृति-राजनीति के अंतर्संबंध का विश्लेषण करता है।

शोध-पद्धति

यह अध्ययन गुणात्मक, ऐतिहासिक-विश्लेषणात्मक तथा अंतर्विषयी शोध-पद्धति पर आधारित है। प्राथमिक स्रोत के रूप में फोर्ब्स-मिचेल के सैन्य संस्मरण को विशेष महत्त्व दिया गया है। सहायक समकालीन स्रोत के रूप में डब्ल्यू. गॉर्डन-अलेक्जेंडर की *Recollections of a Highland Subaltern* का उपयोग किया गया है। उत्तरवर्ती अकादमिक अध्ययनों में बद्री नारायण, चारु गुप्ता और रुद्रांशु मुखर्जी की कृतियों को प्रमुख आधार बनाया गया है।स्रोत-समीक्षा की दृष्टि से तीन सिद्धांत अपनाए गए हैं। पहला, प्रत्यक्षदर्शी औपनिवेशिक स्रोत को स्वतः पूर्ण सत्य नहीं माना गया है, क्योंकि वह भी औपनिवेशिक सैनिक दृष्टि का उत्पाद है। दूसरा, लोक-स्मृति को केवल 'मिथक' कहकर खारिज नहीं किया गया, क्योंकि हाशिये के समुदायों की ऐतिहासिक स्मृति प्रायः औपचारिक अभिलेखों से बाहर सुरक्षित रहती है। तीसरा, जहाँ समकालीन स्रोत और उत्तरवर्ती स्मृति में अंतर है, वहाँ दोनों को स्पष्ट रूप से अलग करके प्रस्तुत किया गया है।यही दृष्टिकोण इस शोध को सामान्य वीरगाथात्मक लेखन से अलग करता है।

साहित्य समीक्षा: मुख्यधारा से दलित-स्त्री इतिहास तक

1857 के इतिहास-लेखन में प्रारंभिक औपनिवेशिक विवरणों का केंद्र ब्रिटिश सैन्य अभियानों, अंग्रेज अधिकारियों, 'वफादार' और 'विद्रोही' सैन्य टुकड़ियों पर था। राष्ट्रीय इतिहास-लेखन में बाद में बहादुरशाह जफर, नाना साहब, तात्या टोपे, कुंवर सिंह, रानी लक्ष्मीबाई और बेगम हजरत महल जैसे व्यक्तित्व प्रमुख हुए। इन दोनों परंपराओं के बीच सामान्य जन की उपस्थिति लंबे समय तक अपेक्षाकृत कम दृश्य रही।

रुद्रांशु मुखर्जी ने अवध के अध्ययन में इस अंतर को चुनौती दी। उनके अनुसार 1857 के अवध विद्रोह की शक्ति तालुकेदारों, कृषकों और सैनिकों के परस्पर संबंधों से उत्पन्न हुई। अंग्रेजी अधिग्रहण और नई राजस्व व्यवस्था ने पूर्ववर्ती ग्रामीण संरचना को हिला दिया, जिससे विद्रोह के लिए सामाजिक आधार निर्मित हुआ। एक समकालीन अकादमिक समीक्षा में भी मुखर्जी के अध्ययन के उस निष्कर्ष को रेखांकित किया गया है जिसमें अवध के सैनिकों को व्यापक कृषक समाज से

गहरे रूप में जुड़ा बताया गया है[3]। दलित इतिहास की दिशा में बद्री नारायण का कार्य निर्णायक है। *Women Heroes and Dalit Assertion in North India* में उन्होंने दिखाया कि उत्तर भारत में 1857 से जुड़ी दलित वीरांगनाओं की कथाएँ समुदायों द्वारा आत्मसम्मान, पहचान और राजनीतिक दावेदारी के स्रोत में परिवर्तित हुई। "पुस्तक में 'Pasis, Dalits, and Udadevi' एक स्वतंत्र अध्याय के रूप में शामिल है और ऊदा देवी पर चर्चा लगभग pp. 133–149 में केंद्रित है"।

चारु गुप्ता ने इस विमर्श को स्त्रीवादी दृष्टि से आगे बढ़ाया। उनके लेख "Dalit 'Viranganas' and Reinvention of 1857" में यह प्रश्न उठाया गया कि दलित लोकप्रिय साहित्य में झलकारी बाई, ऊदा देवी और महाबीरी देवी जैसी महिलाओं का पुनर्निर्माण किस प्रकार मुख्यधारा के इतिहास में दलित महिला की अनुपस्थिति को चुनौती देता है। गुप्ता यह भी सावधानीपूर्वक दिखाती हैं कि वीरांगना-छवियों का निर्माण स्वयं आधुनिक जातीय और लैंगिक राजनीति से मुक्त नहीं है । उनके विस्तृत अध्याय "Condemnation and Commemoration: (En)Gendering Dalit Narratives of 1857" में ऊदा देवी की स्मृति, सिकंदरबाग, पासी समुदाय और वीरांगना-राजनीति को और अधिक विस्तार दिया गया है । यह अध्ययन विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसमें अभिलेख, लोक-साहित्य और आधुनिक सामुदायिक स्मरण तीनों को साथ पढ़ा गया है।

अवध, बेगम हजरत महल और जन-प्रतिरोध की पृष्ठभूमि

अवध में 1857 का विद्रोह अन्य कई क्षेत्रों की तुलना में अधिक लंबा और व्यापक था। वाजिद अली शाह को सत्ता से हटाने और अवध के विलय ने स्थानीय राजनीतिक वैधता को गंभीर चोट पहुँचाई। बेगम हजरत महल ने अपने पुत्र बिरजिस क़द्र को सत्ता का प्रतीक बनाकर अंग्रेजी शासन के विरुद्ध नेतृत्व किया। अनेक तालुकेदार, सैनिक और ग्रामीण समूह उनके साथ जुड़े। ऊदा देवी की उत्तरवर्ती जीवन-कथाएँ उन्हें इसी राजनीतिक वातावरण से जोड़ती हैं। दलित साहित्य और आधुनिक अध्ययनों में उन्हें बेगम हजरत महल की प्रतिरोध-व्यवस्था से संबद्ध बताया जाता है। कुछ कथाओं में कहा गया है कि उन्होंने महिलाओं की एक सैन्य टुकड़ी तैयार की अथवा उसका नेतृत्व किया। अभिन्नंदन स्वरूप के अध्ययन में भी यह विवरण आता है कि ऊदा देवी बेगम हजरत महल से युद्ध में सम्मिलित होने के उद्देश्य से जुड़ीं और एक महिला दल के नेतृत्व से संबंधित रहीं[4]।

किन्तु अकादमिक सावधानी की दृष्टि से यह उल्लेखनीय है कि इस महिला सैन्य-दल की संरचना, संख्या, पदानुक्रम और आधिकारिक सैन्य अभिलेखों की पुष्टि उतनी स्पष्ट नहीं है जितनी सिकंदरबाग की महिला निशानेबाज की घटना की। इसलिए 'महिला बटालियन की सेनापति' को बिना शर्त अभिलेखीय तथ्य की तरह प्रस्तुत करने के बजाय दलित और आधुनिक जीवन-कथा परंपरा का महत्त्वपूर्ण दावा कहना अधिक उचित होगा।इसी प्रकार ऊदा देवी के पति मक्का पासी के संबंध में लोक-कथाओं में चिनहट के युद्ध में शहीद होने का उल्लेख मिलता है। बद्री नारायण और चारु गुप्ता द्वारा उद्धृत दलित आख्यानों में मक्का पासी की शहादत को ऊदा देवी के अंतिम संघर्ष की प्रेरणा के रूप में प्रस्तुत किया गया है। किन्तु मक्का पासी से संबंधित सैनिक संख्या और युद्ध-विशेष के विवरण को भी उसी आलोचनात्मक सावधानी से पढ़ना चाहिए जिस तरह ऊदा देवी के जीवन-वृत्त को।

सिकंदरबाग का युद्ध: उपलब्ध ऐतिहासिक प्रमाण

ऊदा देवी के अध्ययन का सबसे ठोस ऐतिहासिक आधार सिकंदरबाग के युद्ध से जुड़ा है। 16 नवंबर 1857 को सर कॉलिन कैम्पबेल के नेतृत्व में ब्रिटिश सेना लखनऊ रेजीडेंसी की ओर बढ़ रही थी। सिकंदरबाग विद्रोही सैनिकों का सुदृढ़ मोर्चा था। वहाँ अत्यंत भीषण युद्ध उनका विवरण बताता है कि युद्ध के अंतिम चरण में ब्रिटिश सैनिक सिकंदरबाग के आंतरिक प्रांगण में एक बड़े पीपल के वृक्ष के नीचे छाया और पानी के लिए एकत्र हुए। वहाँ अनेक ब्रिटिश सैनिक पहले से मृत पड़े थे। कैप्टन डॉसन ने घावों को देखकर ध्यान दिया कि गोलियाँ ऊपर से नीचे की ओर आई थीं। उन्होंने क्वेकर वालेस से वृक्ष के ऊपर देखने को कहा। वालेस ने वृक्ष में किसी व्यक्ति को देखा और गोली चलाई। नीचे गिरने के बाद वस्त्रों से यह स्पष्ट हुआ कि निशानेबाज एक महिला थी। उसके पास दो भारी पुराने प्रकार की cavalry pistols थीं और गोला-बारूद की थैली में अभी भी कारतूस थे। फोर्ब्स-मिचेल लिखते हैं कि उसने वृक्ष से "more than half-a-dozen men" मार गिराए थे (फोर्ब्स मिशेल, 1893, pp. 57–58)[5]।

यह स्रोत अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। पहली बात, यह सिकंदरबाग में ब्रिटिशों के विरुद्ध एक सक्रिय महिला निशानेबाज की उपस्थिति को प्रत्यक्षदर्शी सैन्य संस्मरण से पुष्ट करता है। दूसरी बात, वह केवल लड़ाई में उपस्थित महिला नहीं थी, बल्कि

रणनीतिक रूप से ऊँचाई का लाभ लेकर सैनिकों को लक्ष्य बना रही थी। तीसरी बात, उसके पास दो हथियार और पर्याप्त गोला-बारूद होना इस संभावना को मजबूत करता है कि उसका युद्ध में शामिल होना आकस्मिक नहीं था।

फोर्ब्स-मिचेल लिखते हैं कि महिला का लिंग ज्ञात होने पर वालेस ने गहरा पछतावा व्यक्त किया। महत्वपूर्ण बात यह है कि मूल विवरण महिला को नाम से 'ऊदा देवी' नहीं कहता[6]। यहीं इतिहास और स्मृति के बीच वह अंतर सामने आता है जिसे किसी गंभीर शोध में छिपाया नहीं जाना चाहिए। बाद की पासी स्मृति, दलित जीवनियाँ और अकादमिक पुनर्पाठ इसी महिला को ऊदा देवी के रूप में पहचानते हैं। *Mutiny at the Margins* के संपादक भी फोर्ब्स मिशेल की इसी महिला निशानेबाज को बाद की दलित लोक-स्मृति की ऊदा देवी के रूप में संदर्भित करते हैं। उस संकलन में फोर्ब्स मिशेल का संस्मरण p. 313 से और ऊदा देवी से संबंधित सांस्कृतिक सामग्री p. 356 के आसपास प्रकाशित की गई है।

गॉर्डन-अलेक्जेंडर का विवरण और युद्ध में महिलाओं की उपस्थिति

फोर्ब्स-मिचेल का विवरण अकेला ऐसा संकेत नहीं है जो सिकंदरबाग में महिलाओं की युद्धगत उपस्थिति को दर्शाता हो। डब्ल्यू. गॉर्डन-अलेक्जेंडर ने अपने *Recollections of a Highland Subaltern* में सिकंदरबाग के मृतकों के बीच कुछ सशस्त्र महिलाओं का उल्लेख किया। उनके औपनिवेशिक और आज आपत्तिजनक माने जाने वाले शब्द-प्रयोग से अलग करते हुए तथ्यात्मक संकेत यह है कि उन्होंने ऐसे महिला योद्धाओं को देखा जिन्हें मृत्यु तक लड़ने वाली और राइफलों से सुसज्जित बताया। इस स्रोत का महत्त्व यह नहीं है कि वह किसी महिला को निश्चित रूप से ऊदा देवी कहता है, बल्कि यह कि सिकंदरबाग में महिला लड़ाकों की उपस्थिति एक अकेली बाद की कल्पना नहीं थी। औपनिवेशिक सैन्य लेखकों की दृष्टि में भी युद्धक्षेत्र में ऐसी महिलाएँ दिखाई दीं जिन्होंने हथियार उठाए[7]।

इससे 1857 में महिलाओं की भागीदारी के अध्ययन का दायरा भी विस्तृत होता है। अब प्रश्न केवल यह नहीं रहता कि रानी लक्ष्मीबाई और बेगम हजरत महल ने क्या किया, बल्कि यह भी कि बिना राजकीय उपाधि वाली स्त्रियाँ किस रूप में प्रतिरोध में सम्मिलित हुईं।

ऊदा देवी द्वारा मारे गए सैनिकों की संख्या: इतिहास और लोक-स्मृति

ऊदा देवी से संबंधित सबसे लोकप्रिय दावा यह है कि उन्होंने 32 अथवा 36 ब्रिटिश सैनिकों को मार गिराया। यह संख्या अनेक आधुनिक लेखों, स्मारकीय आख्यानों और जन-स्मृतियों में दोहराई जाती है। किंतु प्राथमिक स्रोत के रूप में फोर्ब्स मिशेल की पुस्तक केवल "आधा दर्जन से अधिक" सैनिकों का स्पष्ट उल्लेख करती है।चारु गुप्ता ने इस विरोधाभास पर विशेष ध्यान दिया है। उनके विश्लेषण के अनुसार फोर्ब्स मिशेल का विवरण बाद के दलित आख्यानों में विस्तृत और परिवर्तित हुआ तथा सैनिकों की संख्या क्रमशः 32 और 36 तक पहुँच गई। गुप्ता इसे केवल तथ्यगत 'त्रुटि' की तरह नहीं देखतीं, बल्कि लोकप्रिय इतिहास में वीरांगना की बढ़ती सांकेतिक शक्ति के संदर्भ में पढ़ती हैं। अभिनन्दन स्वरूप का लेख एक स्थान पर 32 सैनिकों का लोकप्रिय विवरण प्रस्तुत करता है, किंतु वही लेख फोर्ब्स मिशेल के 'more than half-a-dozen' वाले विवरण को भी उद्धृत करता है। इससे यह स्पष्ट है कि आधुनिक साहित्य में भी दोनों परंपराएँ साथ-साथ मौजूद हैं।

अतः अकादमिक शोध-पत्र में यह लिखना अधिक उपयुक्त है कि **समकालीन ब्रिटिश प्रत्यक्षदर्शी स्रोत छह से अधिक सैनिकों के मारे जाने की पुष्टि करता है, जबकि उत्तरवर्ती पासी-दलित स्मृति में यह संख्या 32 अथवा 36 के रूप में स्थापित हुई।** किसी एक लोकप्रिय संख्या को प्राथमिक प्रमाण से पुष्ट तथ्य कहना स्रोत-समीक्षा के मानकों के अनुरूप नहीं होगा[8]।

फिर भी संख्या का विवाद ऊदा देवी की ऐतिहासिक भूमिका को कम नहीं करता। एक अकेली महिला निशानेबाज द्वारा ऊँचे वृक्ष से प्रशिक्षित सैनिकों को निशाना बनाना अपने-आप में असाधारण युद्धगत कार्रवाई थी।

जाति, लिंग और औपनिवेशिक सत्ता का त्रिकोण

ऊदा देवी का महत्त्व उनकी सैन्य बहादुरी से आगे जाता है। आधुनिक इतिहास-दृष्टि में उनका व्यक्तित्व जाति, लिंग और औपनिवेशिक सत्ता के अंतःसंबंध को समझने का माध्यम बनता है।

पासी समुदाय औपनिवेशिक और ऊँची जातियों द्वारा निर्मित सामाजिक वर्गीकरण में निम्न सामाजिक स्थिति से संबद्ध रहा। ऐसे समुदाय की एक महिला का औपनिवेशिक सेना के विरुद्ध सक्रिय योद्धा के रूप में स्मरण मुख्यधारा के दोहरे रूढ़िवाद को

चुनौती देता है जातिगत हीनता की धारणा और स्त्री की कथित युद्ध-अक्षमता।चारु गुप्ता का विश्लेषण इस संदर्भ में विशेष महत्त्वपूर्ण है। वे कहती हैं कि दलित वीरांगनाओं की छवियाँ मुख्यधारा में दलित महिला को केवल पीड़िता, यौन-शोषण के विषय अथवा निष्क्रिय सामाजिक पात्र के रूप में प्रस्तुत करने वाली प्रवृत्तियों के सामने एक वैकल्पिक 'gendered archive' निर्मित करती हैं। ऊदा देवी, झलकारी बाई और महाबीरी देवी जैसी छवियाँ शक्ति, प्रतिरोध, सक्रियता और बलिदान का वैकल्पिक स्त्री-शरीर प्रस्तुत करती हैं। यहाँ 'एजेंसी' की अवधारणा महत्त्वपूर्ण है। ऊदा देवी किसी राजा की पत्नी अथवा किसी प्रसिद्ध पुरुष सेनापति की सहायक होने के कारण ऐतिहासिक नहीं बनतीं। उनकी स्मृति में वे स्वयं हथियार चुनती हैं, स्वयं युद्ध-रणनीति अपनाती हैं और स्वयं औपनिवेशिक सैनिकों का लक्ष्य बनती हैं। यह स्वतंत्र युद्धगत एजेंसी उनके चरित्र को भारतीय स्त्री-इतिहास में विशिष्ट स्थान देती है[9]।

हालाँकि इस महिमामंडन का दूसरा पक्ष भी है। गुप्ता चेतावनी देती हैं कि दलित वीरांगनाओं की कई आधुनिक कथाएँ पुरुष लेखकों द्वारा निर्मित हैं और उनमें 'पुरुषोचित' शौर्य, शारीरिक शक्ति तथा सैन्य हिंसा को स्त्री-मुक्ति का प्रमुख मापदंड बना दिया जाता है। इसलिए ऊदा देवी का स्त्रीवादी मूल्यांकन करते समय यह प्रश्न भी आवश्यक है कि क्या स्त्री को शक्तिशाली सिद्ध करने के लिए उसे पुरुष सैन्य-आदर्श की प्रतिकृति बना देना पर्याप्त है। यही आलोचनात्मक दृष्टि शोध को स्मारकीय श्रद्धांजलि से अलग करके अकादमिक विमर्श बनाती है।

'इतिहास नीचे से': ऊदा देवी और सबाल्टर्न दृष्टिकोण

ऊदा देवी का पुनर्पाठ *history from below* के लिए एक सार्थक उदाहरण है। औपनिवेशिक अभिलेख सामान्यतः सत्ता, प्रशासन और सैन्य प्रतिष्ठान द्वारा निर्मित किए गए। ऐसे दस्तावेजों में सामान्य सैनिकों, किसानों और निम्नवर्गीय महिलाओं के जीवन-वृत्त स्वाभाविक रूप से बहुत कम मिलते हैं। इसलिए उनके इतिहास की खोज के लिए इतिहासकार को लोकगीत, स्मृतियाँ, जातीय पुस्तिकाएँ, स्मारक, सार्वजनिक उत्सव और मौखिक परंपराओं को भी स्रोत बनाना पड़ता है।

बद्री नारायण ने उत्तर प्रदेश के दलित समुदायों के बीच 1857 से जुड़ी स्मृतियों के अध्ययन में इसी प्रक्रिया को 'अतीत के पुनर्सक्रियण' के रूप में दिखाया। गाँवों में शहीद-स्थलों, स्थानीय नायकों और जन-कथाओं के माध्यम से ऐसे समुदाय अपने लिए वह अतीत निर्मित करते हैं जो औपचारिक राष्ट्रीय इतिहास में अपर्याप्त रूप से उपस्थित है।

ऊदा देवी की स्मृति इसी प्रक्रिया का जीवंत उदाहरण है। यहाँ इतिहास केवल विश्वविद्यालयों या अभिलेखागारों में नहीं बनाया जाता; वह शहादत दिवस, प्रतिमा, गीत, सामुदायिक पुस्तिका और सार्वजनिक सभा में भी पुनरुत्पादित होता है।इससे एक गहरा प्रश्न उत्पन्न होता है: क्या ऐतिहासिक सत्य केवल वही है जो औपनिवेशिक फाइलों में दर्ज है? उत्तर सरल नहीं है[10]। लोक-स्मृति तथ्यात्मक विवरण में परिवर्तन कर सकती है, किंतु वह यह भी दिखाती है कि कोई समुदाय अपने अतीत को किस प्रकार अनुभव करता है। इसलिए ऊदा देवी के मामले में इतिहासकार का दायित्व न तो लोक-स्मृति को शब्दशः तथ्य मानना है और न उसे असत्य कहकर त्यागना; बल्कि स्मृति बनने की प्रक्रिया का अध्ययन करना है।

स्मारक, शहादत दिवस और आधुनिक दलित अस्मिता

ऊदा देवी की 'दूसरी ऐतिहासिक यात्रा' उनकी मृत्यु के बहुत बाद प्रारंभ होती है। बद्री नारायण बताते हैं कि उत्तर प्रदेश में उनकी छवि पासी गौरव और दलित अस्मिता से जुड़ती गई। चारु गुप्ता ने भी लखनऊ के सिकंदरबाग के निकट होने वाले वार्षिक स्मरण, स्मारिकाओं और संगठनों को आधुनिक दलित सार्वजनिक क्षेत्र के निर्माण से जोड़ा है।*Mutiny at the Margins* के संपादकीय परिचय के अनुसार स्वतंत्रता के बाद लखनऊ में ऊदा देवी की सार्वजनिक स्मृति प्रतिमाओं के माध्यम से विकसित हुई; 1970 के दशक में उनके नाम से एक प्रतिमा और बाद में कांस्य प्रतिमा स्थापित हुई। इसी ग्रंथ में उनके स्मारक को आधुनिक दलित स्मृति-राजनीति के महत्त्वपूर्ण उदाहरण के रूप में देखा गया है। ग्रंथ ऊदा देवी से संबंधित लोकप्रिय काव्य सामग्री भी प्रकाशित करता है (Bates & Carter, 2017, pp. 313–318, 356–358)। भारत सरकार के संस्कृति मंत्रालय का डिजिटल डिस्ट्रिक्ट रिपॉजिटरी भी ऊदा देवी की शहादत और पासी समुदाय में उनकी जीवित स्मृति का उल्लेख करता है तथा फोर्ब्स मिशेल के विवरण को उद्धृत करता है। यह इस बात का संकेत है कि जो स्मृति कभी मुख्यतः समुदाय-स्तरीय थी, वह अब आधिकारिक राष्ट्रीय स्मरण का भी हिस्सा बन चुकी है। लेकिन स्मृति का राजनीतिक उपयोग स्वतः नकारात्मक नहीं है। आधुनिक लोकतंत्र में वंचित समुदाय ऐतिहासिक प्रतीकों के माध्यम से सम्मान, प्रतिनिधित्व और सार्वजनिक दृश्यता की मांग करते हैं। समस्या तभी होती है जब राजनीतिक आवश्यकता के कारण प्रमाण और किंवदंती का

अंतर जानबूझकर मिटा दिया जाए। इसीलिए ऊदा देवी का अकादमिक सम्मान करने का श्रेष्ठ तरीका उनके इतिहास को स्रोत-समीक्षा के साथ प्रस्तुत करना है।

ऊदा देवी और भारतीय नारी-विमर्श

1857 के इतिहास में महिला नेतृत्व की चर्चा प्रायः रानी लक्ष्मीबाई और बेगम हजरत महल के इर्द-गिर्द केंद्रित रही है। दोनों का योगदान असाधारण था, किंतु इस विशिष्टता के कारण यह भ्रम उत्पन्न हो सकता है कि सैन्य और राजनीतिक प्रतिरोध केवल राजकीय अथवा अभिजात स्त्रियों तक सीमित था।ऊदा देवी का इतिहास इस धारणा को तोड़ता है। उनके साथ झलकारी बाई, महाबीरी देवी और अन्य स्थानीय स्त्री-स्मृतियाँ यह दर्शाती हैं कि सामाजिक हैसियत में नीचे स्थित महिलाएँ भी प्रतिरोध की सक्रिय सहभागी थीं। उनके लिए युद्ध केवल राज्य की रक्षा नहीं था; वह स्थानीय समुदाय, सामाजिक सम्मान और अस्तित्व की रक्षा का भी प्रश्न बन सकता था[11]।

यहाँ ऊदा देवी आधुनिक 'नारी सशक्तिकरण' की तैयार अवधारणा में सीधे नहीं रखी जा सकतीं, क्योंकि उन्नीसवीं शताब्दी की महिला को इक्कीसवीं शताब्दी के राजनीतिक शब्दों में पूरी तरह समझना अनैतिहासिक होगा। फिर भी उनका युद्धगत निर्णय, हथियार का उपयोग और औपनिवेशिक सेना को प्रत्यक्ष चुनौती स्त्री की सक्रिय राजनीतिक-सैन्य क्षमता का असंदिग्ध संकेत है।उनकी कथा विशेषतः दलित नारीवाद के लिए महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि उसमें महिला की स्थिति केवल लिंग से निर्धारित नहीं होती; जाति और वर्ग भी उसके अनुभव का निर्माण करते हैं। इसलिए ऊदा देवी को केवल 'भारतीय महिला' अथवा केवल 'दलित' के रूप में पढ़ना उनकी ऐतिहासिक जटिलता को कम कर देता है।

ऊदा देवी को 'राष्ट्रवादी' कहने की समस्या और संभावना

आधुनिक लेखन में ऊदा देवी को स्वतंत्रता सेनानी, राष्ट्रवादी नायिका और प्रथम स्वतंत्रता संग्राम की वीरांगना कहा जाता है। राष्ट्रवादी स्मृति के स्तर पर यह स्वाभाविक है। किंतु इतिहासकार को यह ध्यान रखना चाहिए कि 1857 के विद्रोहियों की राजनीतिक कल्पनाएँ बीसवीं शताब्दी के भारतीय राष्ट्रवाद जैसी नहीं थीं।अवध में नवाबी वैधता की पुनर्स्थापना, स्थानीय अधिकारों की रक्षा, अंग्रेजों के प्रति क्रोध, सैनिक असंतोष, धार्मिक भावनाएँ और आर्थिक शिकायतें एक-दूसरे के साथ जुड़ी थीं। इसलिए किसी 1857 योद्धा की प्रेरणा को केवल आधुनिक राष्ट्र-राज्य की स्वतंत्रता की चेतना में सीमित करना इतिहास को सरल बना सकता है[12]।

फिर भी औपनिवेशिक प्रभुत्व के विरुद्ध हथियारबंद संघर्ष का बाद की राष्ट्रवादी स्मृति में स्वतंत्रता-संग्राम का हिस्सा बनना स्वयं एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है। ऊदा देवी की स्मृति ने दलित समुदाय को यह कहने का अवसर दिया कि भारत की औपनिवेशिक मुक्ति में उनका भी रक्त और बलिदान सम्मिलित था। यही कारण है कि उनकी कथा आधुनिक भारतीय राष्ट्रीय स्मृति और दलित अस्मिता दोनों का हिस्सा है।

निष्कर्ष

वीरांगना ऊदा देवी पासी 1857 के इतिहास में उस 'अनदेखे भारत' का प्रतिनिधित्व करती हैं जिसकी उपस्थिति औपनिवेशिक शासन से संघर्ष में वास्तविक थी, किंतु जिसकी आवाज इतिहास की पुस्तकों में समान रूप से दर्ज नहीं हुई। उनकी कथा हमें यह समझने के लिए बाध्य करती है कि इतिहास केवल बड़े सेनापतियों, दरबारों और राजनीतिक घोषणाओं से नहीं बनता; वह युद्धक्षेत्र में लड़ने वाले उन अनाम लोगों से भी बनता है जिनकी पहचान कभी-कभी पीढ़ियों बाद सामूहिक स्मृति पुनः प्राप्त करती है।सिकंदरबाग की महिला निशानेबाज का फोर्ब्स मिशेल द्वारा किया गया वर्णन ऊदा देवी की स्मृति को एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक आधार प्रदान करता है। वहीं यह तथ्य कि मूल स्रोत नाम नहीं देता, हमें स्रोत-समीक्षा की आवश्यकता की याद दिलाता है। इस अंतर को स्वीकार करना ऊदा देवी के सम्मान को कम नहीं करता; बल्कि उनके अध्ययन को अधिक विश्वसनीय और अंतरराष्ट्रीय अकादमिक मानकों के अनुरूप बनाता है।

ऊदा देवी का सबसे बड़ा ऐतिहासिक महत्त्व संभवतः इसी बहुस्तरीय स्वरूप में है। वे औपनिवेशिक सत्ता के विरुद्ध प्रतिरोध की योद्धा हैं; पासी समुदाय के लिए सम्मान और वीरता की प्रतीक हैं; दलित इतिहास के लिए भुला दिए गए अतीत की पुनर्प्राप्ति हैं; और स्त्री इतिहास के लिए युद्धक्षेत्र में स्वतंत्र एजेंसी का शक्तिशाली उदाहरण हैं।

इस प्रकार ऊदा देवी को केवल '32 अंग्रेज सैनिकों को मारने वाली वीरांगना' के लोकप्रिय आख्यान तक सीमित करना उनके वास्तविक ऐतिहासिक महत्त्व को छोटा कर देता है। उनका महत्त्व इस बात में है कि उनकी स्मृति ने इतिहास के केंद्र और हाशिये के बीच संबंध को चुनौती दी है। वह पूछती है स्वतंत्रता के लिए किसने संघर्ष किया, इतिहास में किसे दर्ज किया गया और किसकी स्मृति को समुदायों को स्वयं बचाना पड़ा?1857 के इतिहास का अधिक समावेशी पुनर्लेखन तभी संभव है जब अभिलेखीय प्रमाण, लोक-स्मृति, जाति और लैंगिक अनुभव सभी को आलोचनात्मक लेकिन समान गंभीरता से पढ़ा जाए। इसी दृष्टि से वीरांगना ऊदा देवी पासी भारतीय इतिहास की केवल अमर नायिका नहीं, बल्कि इतिहास-लेखन की लोकतांत्रिक पुनर्रचना की भी एक महत्त्वपूर्ण प्रतीक हैं।

संदर्भ-

[1] बेट्स, क्रिस्पिन और कार्टर, मरीना (संपादक). (2017). म्यूटिनी एट द मार्जिन्स: न्यू पर्सपेक्टिव्स ऑन द इंडियन अपराइजिंग ऑफ़ 1857, खंड 7: *डॉक्यूमेंट्स ऑफ़ द इंडियन अपराइजिंग*. नई दिल्ली: SAGE पब्लिकेशन्स, विशेष रूप से पृष्ठ 313–318, 356–358.

[2] फोर्ब्स-मिचेल, विलियम. (1893). रेमिनिसेंस ऑफ़ द ग्रेट म्यूटिनी, 1857–59: इंक्लूडिंग द रिलीफ, सीज, एंड कैप्चर ऑफ़ लखनऊ, एंड द कैंपेन्स इन रोहिलखंड एंड अवध. लंदन: मैकमिलन, पृष्ठ 57–58.

[3] मुखर्जी, रुद्रांशु. (2002 [1984]). *अवध इन रिवोल्ट, 1857–1858: ए स्टडी ऑफ़ पॉपुलर रेजिस्टेंस*. लंदन: एंथम प्रेस, विशेष पृष्ठ 32-63, 64-81, 82-134.

[4] मुखर्जी, रुद्रांशु. (2002 [1984]). *अवध इन रिवोल्ट, 1857–1858: ए स्टडी ऑफ़ पॉपुलर रेजिस्टेंस*. लंदन: एंथम प्रेस, विशेष पृष्ठ 32-63, 64-81, 82-134.

[5] फोर्ब्स-मिचेल, विलियम. (1893). *रेमिनिसेंस ऑफ़ द ग्रेट म्यूटिनी, 1857–59: इंक्लूडिंग द रिलीफ, सीज, एंड कैप्चर ऑफ़ लखनऊ, एंड द कैंपेन्स इन रोहिलखंड एंड अवध*. लंदन: मैकमिलन, पृष्ठ 57–58.

[6] स्वरूप, अभिनन्दन. (2013). "अवध की प्रथम क्रांति में ऊदा देवी पासी का योगदान: एक ऐतिहासिक अध्ययन." *इंटरनेशनल जर्नल ऑफ इनोवेटिव रिसर्च इन साइंस, इंजीनियरिंग एंड टेक्नोलॉजी*, वॉल्यूम. 2, अंक 12, पृ. 8152-8160, विशेषः पृ. 8152-8156.

[7] गुप्ता, चारु. (2007). "दलित 'वीरांगनाज़' एंड रीइन्वेंशन ऑफ़ 1857." *इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली*, खंड 42, संख्या 19, पृष्ठ 1739–1745, विशेष रूप से पृष्ठ 1742–1744.

[8] फोर्ब्स-मिचेल, विलियम. (1893). *रेमिनिसेंस ऑफ़ द ग्रेट म्यूटिनी, 1857–59: इंक्लूडिंग द रिलीफ, सीज, एंड कैप्चर ऑफ़ लखनऊ, एंड द कैंपेन्स इन रोहिलखंड एंड अवध*. लंदन: मैकमिलन, पृष्ठ 57–58.

[9] संस्कृति मंत्रालय, भारत सरकार. "उदा देवी की शहादत: पासियों की जीवित परंपरा." डिजिटल डिस्ट्रिक्ट रिपॉजिटरी, लखनऊ, उत्तर प्रदेश. सरकारी विवरण फोर्ब्स-मिशेल के महिला इलेक्ट्रानिक एलेक्ट्रिक और उदा देवी की आधुनिक स्मृति दर्ज है.

[10] नारायण, बद्री. (2001). *असहमति का दस्तावेज़ीकरण: विवादित दंतकथाएँ, विवादित यादें और दलित राजनीतिक प्रवचन*. शिमला: भारतीय उन्नत अध्ययन संस्थान, पृष्ठ 138-154.

[11] गुप्ता, चारु. (2014). "कंडेम्नेशन एंड कमेमोरेशन: (एन)जेंडरिंग दलित नैरेटिव्स ऑफ़ 1857." क्रिस्पिन बेट्स (संपादक) में, म्यूटिनी एट द मार्जिन्स, खंड 5: मुस्लिम, दलित एंड सबाल्टर्न नैरेटिव्स. नई दिल्ली: SAGE, पृष्ठ 17–35, विशेष रूप से पृष्ठ 24–28.

[12] सिंह, सतनाम. (2013). *स्वतंत्रता संग्राम में अछूत जातियों का योगदान*. दिल्ली: सम्यक प्रकाशन, पृ. 38.

Received: 04.12.2025 | Accepted: 25.12.2025 | Published: 30.12.2025

मन्नू भंडारी के उपन्यासों में सामाजिक संबंधों का पुनर्मूल्यांकन

डॉ. शशिकान्त यादव*

yshashikant15@gmail.com

शोध-सार

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी-कथा साहित्य के परिदृश्य में मन्नू भंडारी (1931-2021) का स्थान समकालीन महिला लेखिकाओं में विशिष्ट रहा है। जिस दौर में मन्नू भंडारी लिख रही थी वह स्वतंत्रता के बाद का समय था। जब समाज तेजी से बदलाव की ओर जा रहा था। यही कारण है कि तत्कालीन लेखकों के साहित्य में यह सामाजिक बदलाव यथार्थ रूप में उतर कर सामने आने लगा। इसी पृष्ठभूमि में 'नई कहानी' आंदोलन का सूत्रपात हुआ था। जिसने पारंपरिक कथा- ढांचे को तोड़कर एक सर्वथा नई दृष्टि प्रस्तुत करना शुरू किया। मन्नू भंडारी का कथा साहित्य अत्यंत व्यापक रहा है। उन्होंने मध्यवर्गीय जीवन के उतार – चढ़ाव, उनकी कुंठाओं, नैतिक मूल्यों को बेहद ईमानदारी से अपनी कृतियों में स्थान दिया। उनके कथा साहित्य में स्त्री-पुरुष संबंध, टूटते परिवार, बदलते मानवीय रिश्तों पर उनकी पैनी नजर रही है। उनके उपन्यास समकालीन मध्यवर्गीय भारतीय समाज के जीवंत दस्तावेज हैं। प्रस्तुत शोध-पत्र का उद्देश्य मन्नू भंडारी के प्रमुख उपन्यासों – 'आपका बंटी', 'एक इंच मुस्कान', 'महाभोज' के संदर्भ में सामाजिक, पारिवारिक एवं मानवीय संबंधों का समाजशास्त्रीय एवं मनोवैज्ञानिक पुनर्मूल्यांकन करना है।

मुख्य शब्द :

मन्नू भंडारी, स्वातंत्र्योत्तर हिंदी-कथा साहित्य, सामाजिक संबंध, स्त्री-अस्मिता, पारिवारिक बिखराव, महानगरीय बोध, भारतीय समाज।

मुख्य आलेख

हिंदी साहित्य के इतिहास में सन 1950 के बाद का समय, जिसे साहित्य में एक बदलाव का पड़ाव माना जाता है। स्वतंत्रता के बाद जहाँ एक तरफ भारत निर्माण की आकांक्षा निर्मित थी वहीं दूसरी ओर मोहभंग, औद्योगीकरण, महानगरीय बोध और संयुक्त परिवारों के टूटने का दौर भी शुरू हुआ। इस युगीन बदलाव का सबसे गहरा प्रभाव मानवीय संबंधों, विशेषकर पारिवारिक एवं सामाजिक ताने-बाने पर पड़ा। हिंदी साहित्य में नई कहानी और 'साठोत्तरी उपन्यासों ने इस बदलाव को अपनी विषय-वस्तु बनाया। इस दौर में महिला कथाकारों ने हिंदी साहित्य को सर्वथा नई दृष्टि प्रदान की। इन लेखिकाओं में मनू भंडारी का नाम अग्रगण्य है। उपन्यासकार, कहानीकार और नाटककार के रूप में इन्होंने स्वातंत्र्योत्तर युग के हिंदी साहित्य को समृद्ध बनाया है। मन्नू भंडारी के उपन्यासों में - एक इंच मुस्कान' (1961), 'आपका बंटी' (1971), 'कलवा' (1971), महाभोज (1979), स्वामी (1982) आदि प्रमुख हैं। इन उपन्यासों में लेखिका ने समकालीन सामाजिक व्यवस्था की विसंगतियों, भ्रष्ट राजनीति और नैतिक मूल्यों के पतन के विरुद्ध अपने विद्रोह को प्रकट किया है। मन्नू भंडारी ने मध्यवर्गीय जीवन मूल्यों तथा युगीन परिवेशगत विडंबनाओं को केन्द्र में रखकर मुख्यतः उपन्यासों की रचना की और हिंदी उपन्यास साहित्य को एक नई दृष्टि, दिशा और पहचान दी है। उन्होंने अपने उपन्यासों में समकालीन जीवन की संवेदना और उसके साथ संबद्ध अनेक जटिल अंशों का सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत किया है। मन्नू भंडारी के उपन्यासों में उन समस्याओं का यथार्थ अंकन पाया जाता है, जो समकालीन युग में लोगों के बाह्य एवं आंतरिक जीवन में प्रवेश कर जीवन को उद्वेलित कर रही हैं। समकालीन जीवन की संवेदना के कई पक्षों का अंकन करने के संदर्भ में उपन्यासकार मन्नू भंडारी की सजगता, सामाजिक प्रतिबद्धता और उनकी

* **असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, रामलखन सिंह यादव महाविद्यालय, बेतिया, पश्चिमी चंपारण**

(बाबा साहेब भीमराव अंबेडकर बिहार विश्वविद्यालय, मुज़फ़्फ़रपुर की अंगीभूत इकाई)

मूल्य-दृष्टि की आलोचकों ने सराहना की है। समकालीन जीवन से संबद्ध विविध अंशों को यथावत् प्रस्तुत करके पाठकों को विचार-मंथन के लिए प्रवृत्त करना और कुशल दिशा-निर्देशन द्वारा सामाजिक जागरण की दिशा में प्रोत्साहित करना मन्नू भंडारी के उपन्यास साहित्य की सचेतन उपलब्धि है। मन्नू भंडारी की रचनाधर्मिता की यही सही पहचान है।

मन्नू भण्डारी के उपन्यास अपने दृष्टिकोण, कथा-रचना और भाषा की वजह से अनूठे हैं। उनके उपन्यासों में सामाजिक विमर्श, व्यक्तिगत अनुभव, और मानवीय भावनाओं का विशेष रूप से प्रकट होता है। उनके लेखन में गहराई और संवेदनशीलता की भावना पाई जाती है, जो पाठकों को उनके किस्से में खींच लेती है। इस शोध पत्र में मन्नू भण्डारी के प्रमुख तीन (आपका बंटी, महाभोज, एक इंच मुस्कान) उपन्यासों में सामाजिक संबंधों का संक्षिप्त अध्ययन करने का प्रयास किया गया है। मन्नू भण्डारी के उपन्यासों में संबंधों का अध्ययन करते समय, विभिन्न प्रकार के संबंधों की विविधता और मानवीय जीवन के अंतर्निहित पहलू को समझ सकते हैं। मन्नू भंडारी का उपन्यास 'आपका बंटी' हिंदी साहित्य में मील का पत्थर है। यह उपन्यास दांपत्य जीवन के टूटने और उसके कारण एक निर्दोष बच्चे के मन पर पड़ने वाले दुष्परिणामों का कालजयी अंकन करता है। अजय और शकुन का तलाक मध्यवर्गीय भारतीय समाज के लिए एक बड़ी बात थी। जिस समाज में विवाह को एक जन्म-जन्मांतर का अटूट बंधन माना जाता रहा है। मन्नू भंडारी ने यहाँ वैवाहिक संस्था के खोखलेपन को उजागर किया है। जब शकुन और अजय का आपसी सामंजस्य समाप्त हो जाता है, तो वे पारंपरिक दबाव में घिसटने के बजाय अलग होने का विकल्प चुनते हैं। यह सामाजिक संबंधों में आ रहे बदलाव का एक क्रांतिकारी मोड़ था। उपन्यास का मूल केंद्र बच्चा 'बंटी' है। अजय और शकुन दोनों अपने-अपने स्तर पर बंटी से प्यार करते हैं। जब वे पुनर्विवाह (शकुन का डॉ. जोशी से और अजय का मीरा से) कर लेते हैं, तो सामाजिक संबंधों का समीकरण पूरी तरह बदल जाता है। बंटी दोनों ही परिवारों में एक अनचाहा हिस्सा बनकर रह जाता है। यह पुनर्पाठ स्पष्ट करता है कि माता-पिता के सामाजिक-कानूनी संबंध भले ही बदल जाएं, लेकिन बच्चे के प्रति उनके जैविक और भावनात्मक दायित्वों के टूटने से पूरी पारिवारिक इकाई ध्वस्त हो जाती है। अंततः बंटी को हॉस्टल भेजा जाना यह सिद्ध करता है कि आधुनिक समाज में व्यक्तिवादी महत्त्वाकांक्षाओं के आगे पारंपरिक पारिवारिक संबंध समाप्त हो गए हैं।'आधुनिकता के परिवेश में व्यक्ति अधिकाधिक स्वतंत्रता चाहने वाले बन जाते हैं। आर्थिक स्वतंत्रता मोहभंग की ओर व्यक्तियों को ले जाती है। नारी की आर्थिक स्वतंत्रता उसे स्वार्थी, स्वतंत्रता प्रेमी बना लेती है। वह पारिवारिक तनाव से दूर रहना भी चाहती है। किंतु वैवाहिक संबंध ढीला पड़ जाता है तो आशाएँ, आकांक्षाएँ, फीकी पड़ जाती हैं। शकुन अजय के सामने प्राचीन भारतीय नारी जैसी नहीं बनना चाहती। वह पुरुष के शोषण का पात्र नहीं बनना चाहती। परंपरागत रूढ़ियों को तोड़कर वह जीना चाहती है। घर में ही रहकर चौबीस घंटे पति सेवा नहीं करना चाहती। फूफी घर में बंटी की देखरेख करती है। बंटी की इच्छा के अनुसार सब कुछ करने के लिए शकुन फूफी को निर्देश देती है। इस उपन्यास के प्रथम खंड में ही इसका नमूना पाठक देख सकते हैं। कॉलेज जाने के पहले ममी फूफी से कहती है- "बंटी जो खाये, वही बनाना एकदम बंटी की मर्जी का खाना, समझी।..."[1] पति अजय भी शकुन के स्वतंत्रता प्रिय व्यवहार से परेशान है।

'आपका बंटी' में लेखिका मन्नू भंडारी ने बंटी के माध्यम से अकेलेपन की भावना को विशेष रूप में चित्रित किया गया है। इस उपन्यास में अकेलापन सामान्य मानसिक अवस्था के रूप में चित्रित नहीं है। एक सामाजिक और मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है जो धीरे -धीरे एक चंचल बच्चे को अवसाद की ओर धकेल देती है। बंटी का अकेलापन उपन्यास के प्रारंभ से दिखाई देने लगता है। यहाँ बंटी का अकेलापन 'अभाव' से उपजा हुआ है -उसके पिता का अभाव। वह अपनी माँ को बेहद प्यार करता है लेकिन उसके बाल-मन को सम्पूर्ण परिवार चाहिए। जिसमें माता और पिता दोनों की उपस्थिति अनिवार्य हो। उसकी ज़िन्दगी में कोई साथी नहीं होता है। जब वह अपने आस-पास के बच्चों और परिवार को देखता तो रिश्तों के महत्व को महसूस करता है, लेकिन उसके पास ऐसा कोई नहीं होता है जिसके साथ वह अपने अनुभवों को साँझा कर सके। यही वजह है धीरे-धीरे उसके भीतर गहरी हीनभावना और अकेलेपन का अहसास घर कर जाता है। 'आपका बंटी' में प्रत्येक क्षण महत्वपूर्ण होने के बदले महत्वहीन एवं दर्द भरा सा प्रतीत होता है। बारहवें अध्याय में बस की प्रतीक्षा करके खड़ा होनेवाला बंटी भावनात्मक रूप से दर्द भरे क्षणों से गुजरता है। "बंटी बस के लिए खड़ा है। रोज की तरफ डॉक्टर साहब रोगियों को देख रहे हैं, पर वह किसी की भी तरफ नहीं देख रहा। रात वाला गुस्सा अभी भी भरा है मन में। सबेरे उसने किसी से बात नहीं की, अब वह किसी से नहीं बोलेगा, कभी नहीं बोलेगा। सामने लगे लाल तिकोन को घूर-घूर कर देख रहा है बंटी। डॉक्टर साहब के शब्द तैर जाते हैं इस देश में तो तीन भी नहीं, दो, बस दो बच्चे पैदा करने चाहिए।"[2] उपन्यास में आगे चलकर बंटी का अकेलेपन, अजनबीपन में बदल जाता है। जब शकुन अपनी व्यक्तिगत और सामाजिक सुरक्षा के लिए डॉ. जोशी से दूसरी शादी कर लेती है, तो बंटी का अपनी माँ पर जो एकाधिकार था वह छिन जाता है। शकुन के घर में डॉ. जोशी और उनके बच्चों

का (चीनू और जोत) का आगमन बंटी के लिए मानसिक आघात की तरह है। "बंटी को अपने ही घर में, अपनी ही माँ के पास बैठकर ऐसा लगता है जैसे वह किसी अजायबघर या अजनबी जगह पर आ गया है।"[3] बंटी के माध्यम से उपन्यास में अकेलेपन की भावना को उसके व्यक्तिगत अनुभवों, विचारों, और विभिन्न परिदृश्यों के माध्यम से व्यक्त किया गया है, जो पाठक को उसकी संवेदनशीलता और अकेलापन को गहराई से समझने में मदद करता है। शकुन के पुनः विवाह बंटी के मानसिक तनाव को और भी दृढ़ बना लेता है। शकुन और डॉ. जोशी के वैवाहिक संबंध के कारण बंटी और भी निराश हो जाता है। उस निराशा से उसके मन में ममी के प्रति गुस्सा बढ़ जाता है। निराशा और गुस्सा धीरे-धीरे डर में बदल जाता है। भण्डारी जी इस प्रसंग का चित्रण कुछ इस प्रकार प्रकट करती हैं – "सारा घर अंधेरे में डूब गया बंटी के मन का दुःख और गुस्सा धीरे-धीरे डर में बदलने लगा। केवल डर ही नहीं, एक आतंक, कैसी-कैसी शक्लें उभरने लगीं और अंधेरे में उसने कसकर आँखें मीच लीं। पर अजीब बात है, बन्द आँखों के सामने शक्लें और भी साफ हो गई। लपलपाती जीभ के राक्षस. उल्टे पंजे और सींगों वाला सफेद भूत, तीन आँखों वाली चुडेल, जादुई नगरी के नाचते हुए हड्डियों के ढाँचे सब उसके चारों ओर नाच रहे हैं। धीरे-धीरे उसकी ओर बढ़ रहे हैं, उसकी सांस जहाँ की तहाँ रुक गई।"[4] कलकत्ता में पापा के साथ रहने पर बंटी दुखी एवं निराश ही रहता है। मोहभंग से पीड़ित व्यक्ति में सदैव चुप्पी छा जाती है। वही उपन्यास के तीसरे अध्याय में शकुन अजय की चिंता में व्यर्थता का अनुभव करती है "पर धीरे-धीरे वह मचोट भी शायद समाप्त हो गई, कम से कम व्यर्थ है। और उसके बाद से बराबर यह लगता रहा है कि अब सब कुछ समाप्त हो गया है, अंतिम और निर्णयात्मक रूप से और तक समय उसके लिए जम गया था, शिला की तरह।"[5] इस तरह लेखिका ने अकेलेपन की जो परतें खोली हैं वे आज के महानगरीय जीवन में और भी ज्यादा प्रासंगिक हो चुकी हैं। इस अकेलेपन का कोई समाधान लेखिका नहीं देती है। उन्होंने उपन्यास का अंत बंटी की शून्यता के साथ करके समाज को झकझोर दिया है।

राजेंद्र यादव और मन्नू भंडारी द्वारा सह-लिखित उपन्यास 'एक इंच मुस्कान' (1962) हिंदी साहित्य में एक अनूठा प्रयोग है। यह उपन्यास आधुनिक और महानगरीय मध्यवर्ग के दांपत्य संबंधों की जटिलताओं को उघाड़ता है। प्रेम, विवाह और अलगाव के त्रिकोण (अमर, रंजना और अमला) के माध्यम से यह दिखाया है कि आधुनिक युग में सामाजिक संबंध कितने नाजुक और अस्थिर हो गए हैं। उपन्यास के प्रमुख पात्र – अमर, रंजना और अमला – तीनों पढ़े-लिखे और महानगरीय संस्कृति का अहम हिस्सा है। अमर का प्रेम स्थिर नहीं है। वह एक ओर रंजना के चंचल और उन्मुक्त व्यक्तित्व के प्रति आकर्षित होता है तो दूसरी तरफ अमला के शांत, गंभीरता की ओर झुकाव दिखाता है। अमर न तो पूरी तरह रंजना के प्रति वफादार रह पाता है और न ही अमला को पूरी तरह अपना पाता है। यह स्थिति आधुनिक मानव के आंतरिक भटकाव और अंतर्विरोध को दर्शाती है। अमर और रंजना का वैवाहिक जीवन पारंपरिक ढाँचे पर आधारित नहीं है। वे प्रेम विवाह करते हैं। दोनों आधुनिक विचारों के हैं, लेकिन उनके बीच का 'अहम्' (Ego) संबंधों के बीच एक अदृश्य दीवार खड़ी कर देता है। मन्नू भंडारी यहाँ यह स्पष्ट करती हैं कि जब व्यक्ति समाज से अधिक खुद को और अपनी व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं को प्राथमिकता देने लगता है, तो सामाजिक संबंध बिखरने लगते हैं। कथानक के बारे में राजेंद्र यादव जी का कहना है- "उपन्यास समाप्त हो गया और निश्चय ही अमर कहीं नहीं पहुँचा. अगर पहुँचा तो मंजिल तक जिसके आगे राह नहीं"[6] आधुनिक भारतीय युवकों और युवतियों की दिशविहीन जीवन यात्रा को परोक्ष रूप से चित्रित करके मन्नू जी एक ओर उन्हें जीवन के खोखलेपन का स्पष्ट चित्र दिखाती हैं और इस ओर इशारा भी करती हैं कि लक्ष्यहीन, विश्वासघात, अपवित्र एवं मूल्यहीन पारिवारिक जीवन कदापि जीने योग्य नहीं है। अमला का वासना युक्त मन उसे पर पुरुष को पाने की प्रेरणा देता है। विवाहित होने पर भी अमर परस्त्री 'अमला' पर मोहित हो जाता है। अमर के प्रति अपने मन में विशेष अधिकार साबित करने वाली अमला रंजना के भविष्य पर ध्यान ही नहीं देती। अमर भी इसकी चिंता तनिक भी नहीं करता। इसका चित्रण कुछ इस प्रकार से किया है – "पागल बना देने वाली एक चाह अमला के मन में उठी कोई लहर उन दोनों को ऐसा ही बहा ले जाए, उनको ढक दे, उन पर इस तरह छा जाए, कि वे दोनों एक हो जाएँ... एक बिलकुल एक। अमर ऊबा-सा, जड-सा अमला की छाती पर लेटा था... जो कुछ आज हुआ, शायद वह उस सब के लिए तैयार नहीं था... वह इस सब की कभी कल्पना भी नहीं कर सकता था।"[7] सामाजिक संबंधों का पुनर्मूल्यांकन करते हुए यह उपन्यास इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि आधुनिकता ने मनुष्य को स्वतंत्रता तो दी, लेकिन उसे अकेला और दिशाहीन भी बना दिया। आधुनिक विवाह की एक क्रूर सच्चाई जो यह उपन्यास दिखाता है, वह है संवादहीनता। अमर और रंजना एक ही छत के नीचे रहते हैं, बातें भी करते हैं लेकिन उनके बीच का वास्तविक संवाद खत्म हो गया है। जब प्रेम और विवाह दोनों ही अपनी सार्थकता खो देते हैं तो आधुनिक संबंधों की परिणति 'अलगाव' में होती है। पति-पत्नी दोनों ही एकाकी जीवन का बोझ वहन करने के लिए तैयार हो जाते हैं। अमर से रंजना का यह कथन उसकी

मनःस्थिति को स्पष्ट करता है "पर बहुत-बहुत सोचकर मैं - इस निर्णय पर पहुँची हूँ कि तुमसे अलग हो जाऊँगी, तभी तुम सुखी हो सकोगे। तुम मुँह से चाहे कुछ न कहो, पर बहुत ईमानदारी से एक बार अपना मन टटोलकर तो देखो, क्या यही बात तुम्हारे मन में नहीं है, तब?"[8] अमर और रंजना के अलग होने के बाद भी वे अपने जीवन के खालीपन को भरने की तमाम कोशिशों के बाद भी खुश रहने में सफल नहीं होते। रंजना जहाँ अलग होकर शराब, पार्टियों और सतही संबंधों का सहारा लेती है। दूसरी ओर अमर रंजना से अलग होकर अमला के पास जाता है। वहाँ भी वह अमला के साथ स्वस्थ संबंध स्थापित नहीं कर पाता। उपन्यास का शीर्षक 'एक इंच मुस्कान' अपने आप में आधुनिक संबंधों पर एक व्यंग्य है। यह उस कृत्रिम मुस्कान का प्रतीक है जिसे दिखाकर मनुष्य समाज में घूमता है। तमाम कुंठाओं, बिखराव के बावजूद मुस्कान बनाए रखना महानगरीय सभ्यता की मजबूरी बन गई है। अमर, रंजना और अमला तीनों ही समाज के सामने सुखी, आधुनिक होने का नाटक करते हैं लेकिन भीतर से वे पूरी तरह खोखले और जर्जर ही चुके हैं।

जहाँ 'एक इंच मुस्कान' और 'आपका बंटी' पारिवारिक और व्यक्तिगत संबंधों की पड़ताल करते हैं, वहीं 1979 में प्रकाशित 'महाभोज' सीधे तौर पर व्यापक सामाजिक और राजनीतिक संबंधों को अपनी बहस के केंद्र में लाता है। यह उपन्यास सामाजिक संबंधों को व्यक्ति स्तर पर देखता है। 'महाभोज' में एक दलित युवक 'बिसू' की हत्या को केंद्र में रखकर राजनीति, नौकरशाही, पुलिस और मीडिया के बीच के साँठ-गाँठ को दिखाया गया है। यहाँ सामाजिक संबंध मानवीय संवेदनाओं पर नहीं, बल्कि स्वार्थ, सत्ता की भूख और वर्ग-हितों पर टिके हैं। दासाहब, सुकुल बाबू और जमुना जैसे पात्रों के माध्यम से मन्नू भंडारी ने यह दिखाया है कि राजनीति किस तरह इंसानी रिश्तों का 'महाभोज' करती है। बिसू का मित्र 'हीरा' और जागरूक पत्रकार 'महेश' व्यवस्था से लड़ते हैं, लेकिन पूरी व्यवस्था के सामाजिक अंतर्संबंध इतने भ्रष्ट हो चुके हैं कि ईमानदारी एक अपराध बन जाती है। उपन्यास की कहानी सरोहा गाँव के एक दलित पढ़े-लिखे युवक 'बिसू' अर्थात् बिसेसर की हत्या के आस-पास घूमती है। बिसू ने गाँव के जमींदार जोरावर द्वारा हरिजनों की बस्ती में लगाई गई आग और अत्याचारों के खिलाफ आवाज उठाई थी और उसके पास इसके पुख्ता सबूत थे। 'बिसेसर अपनी मृत्यु के बाद ही मशहूर हो गया। बिसेसर की लाश सरोहा के समीप पुलिया पर दिखाई पडती है। सरोहा गाँव के लोगों ने कभी कल्पना भी नहीं की थी कि बिसेसर की लाश पुलिया पर मिलेगी, क्योंकि वह चुस्त एवं विवेकी युवक था। उसकी अकाल मृत्यु होने का कोई कारण नहीं समझ आ रहा था। बिसेसर गरीब किसान हीरा का पुत्र था, जो बिसू नाम से पुकारा जाता था। उसने बी. ए. तक पढ़ाई पूरी की थी। बिसेसर, बिंदेश्वरीप्रसाद का आत्म मित्र एवं उसकी पत्नी रुक्मा का सहपाठी था। कठिनाइयों का सामना करके शहर जाकर उसने उच्च शिक्षा प्राप्त की। अतः जमींदार जैसे उच्च वर्ग के सामने बिसू जैसा समाज प्रेमी व्यक्ति शत्रु ही बना रहा। अपने पथ में विघ्न बनने वालों को जोरावर आगे नहीं जिंदा रहने देता था। अतः जमीदार जोरावर विसू और बिंदा के व्यवहारों को पैनी दृष्टि से देखता था। सक्सेना के सामने दिये हुए बिसू संबंधी बयानों में से यह मालूम हो गया कि बिसू निरपराध था। बिसू और बिंदा खेतों पर काम करनेवाले मजदूरों के मन में नव चेतना एवं विकासोन्मुख जीवन के लिए उपयुक्त प्रेरणाएँ देते रहे। इस पर सक्सेना से हीरा का कथन यों है – "अरे अब का बताई, सरकार बस बचपना रहा हमारे बिसुआ का। ऊ सरकार, खेत पे काम करे वाले मजूरन से कहत रहा कि इत्नी कम मजूरी दें काम ना करौं। मजूरी बढावे की खातिर लडो। बेगारी न करो उधारी इत्ता इत्ता सूदों न देव....।"[9] जोरावर की धमकी के बारे में भी सक्सेना को हीरा से सूचना प्राप्त होती है। जोरावर के विरुद्ध आवाज उठाने पर पुलिस अधिकारियों ने बिसू को चार वर्ष तक 'नक्सल' होने का झूठा आरोप लगाकर जेल में कैदी बनाया। इस वक्त गाँव वाले जोरावर के अत्याचारों को सहकर जीते थे। बिसू को बहुत दंड सहना पड़ा। चार सालों के बाद बिसू जेल से मुक्त हो गया। बिसू अब गाँव वासियों को शोषण से बचाने का प्रयास करता रहता था।

बिसू आधुनिक शिक्षित निस्सहाय, बेकार युवकों के प्रतिनिधि के रूप में पाठकों के सामने आता है, जो वर्तमान में बेकारी की समस्याओं से जूझ रहे थे। बिसू जैसे साहसी निडर व्यक्ति समाज के स्वार्थी, सत्ता धारी व्यक्तियों के सिरदर्द बन जाएगा। 'महाभोज' उपन्यास की आलोचना बिंदेश्वरी प्रसाद के बिना अधूरी रह जायेगी। बिंदेश्वरी प्रसाद को प्रस्तुत उपन्यास की कथा-योजना में एक प्रमुख स्थान दिया गया है। बिसेसर के आत्म मित्र होने के नाते उसके वैयक्तिक जीवन की सारी बातें वह जानता है। सरोहा के किसान परिवारों में वह चिरपरिचित है। 'सरोहा गाँव की रुक्मा से उसका विवाह संपन्न होता है। बिंदेश्वर प्रसाद बिंदा नाम से जाना जाता है। बिसेसर और बिंदा जमींदार जोरावर के दुर्व्यवहारों से तंग आकर उससे प्रतिशोध लेने की चिंता में रहते थे। दोनों शहरीय वातावरण में रहकर उच्च शिक्षा हासिल किए हुए थे। अतः जीवन के प्रति भविष्य के प्रति और उन दोनों के मन में शुभ विश्वास होना स्वाभाविक है। किन्तु जोरावर के परंपरागत आचार-विचारों को एक दम नष्ट-भ्रष्ट कर देना हानिकर है। इसलिए वे उचित अवसर ताक रहे थे। इस बीच जोरावर के निर्देशानुसार इसके दो अनुचर बिसू को

विषैली चाय पिलाकर उसकी हत्या करते हैं। बिंदेश्वर एस. पी. सक्सेना के सामने बयान देते हुए जोरावर के छल-कपट का प्रमाण यों देता है "मेरे चाहने से क्या होता है- जोरावर की रखैल इस थानेदार ने रिपोर्ट तैयार करके दे ही दी है...."[10] सक्सेना के सामने बयान देते समय बिंदा का चेहरा भावावेश से विवर्ण हो जाता है। ".. एक क्षण रुका बिंदा। सक्सेना एकटक उसका चेहरा देखते रहे, उसके आवेश को देखते रहे और बिंदा उसी में कटता रहा।"[11] बिंदा नवयुवकों की स्थिति पर चिल्लाता है। वह बिसू के निर्दोष व्यवहार पर एवं दोषारोपण से दुःखी एवं परेशान होकर एस.पी. सक्सेना से पूछता है, "तो क्या पकड़े नहीं जाते निर्दोष आदमी ? पाँच साल पहले बिसू को किस गुनाह पर पकड़ा गया था।"[12] बिदेश्वर की बातों से बिसू के मन में रूपायित नव आंदोलन की रूपरेखा सक्सेना को प्राप्त होती है। किसानों की मजदूरी संबंधी कार्यक्रमों के उद्धार के लिए परंपरागत गलत धारणाओं के निवारण के लिए और अहंभावी, दंभी, स्वार्थी, जमींदार जोरावर एवं सत्ता पर ध्यान देनेवाले शासक वर्ग के पतन के लिए बिसू के मन में प्रतिशोध भावना की आग जलने लगी थी। इससे बचना असंभव है। परंपरा से 'सरोहा' गाँव में कर्त्तव्य पालन उचित ढंग से नहीं होता। लोगों द्वारा जमींदारों को एवं जन नेताओं को देवतुल्य मानना और उनकी प्रीति के लिए अपने गौरव और अभिमान को खो देना एक प्रकार से अज्ञता है। इसी कारण गाँव वालें बिसू के असली हत्यारे का नाम बताने में विमुख रहते हैं। बिसू के पिताजी के मुँह से भी जमींदार जोरावर का नाम नहीं निकलता। जब एस.पी. सक्सेना बिसू के असली हत्यारे के संबंध में पूछता है तो हीरा डरी हुई आवाज में बताता है "हम का बताई सरकार ... पर सारा गाँव... फिर एक क्षण के बाद सक्सेना से कहता है- सारा गाँव जोरावर सिंह का नाम लेई रहा है। सरकार"[13]। बिसू की मौत को सामाजिक न्याय का मुद्दा बनने के बजाय, तत्कालीन मुख्यमंत्री दासाहब और विपक्षी नेता सुकुल बाबू अपने-अपने राजनीतिक हितों के लिए एक अवसर की तरह इस्तेमाल करते हैं। सरोहा में होने वाला आगामी विधानसभा उपचुनाव इस लाश की राजनीति को और अधिक घिनौना बना देता है। सामाजिक संबंधों के पुनर्मूल्यांकन की दृष्टि से यह देखता है कि जब किसी समाज में नैतिक मूल्य समाप्त हो जाते हैं, तो वहाँ मानवीय संबंध केवल शोषक और शोषित के संबंधों में बदल जाते हैं। महाभोज की सबसे बड़ी वैचारिकता ये उजागर करने में है कि इस उपन्यास में लोकतंत्र के चारों स्तंभ किस तरह अपने-अपने स्वार्थपूर्ति में लगे एक दूसरे का संरक्षण करते हैं। सम्पूर्ण उपन्यास का सबसे स्याहा पक्ष जातिवाद और वर्ग-संघर्ष को सामने लाना है। जोरावर जैसा सामंती और शोषक चरित्र हरिजनों को इंसान नहीं समझता। 'महाभोज' उपन्यास सामाजिक और राजनीतिक संबंधों के विघटन की ऐसी यथार्थ तस्वीर पेश करता है जो आज भी उतनी ही प्रासंगिक और सच प्रतीत होती है।

मन्नू भण्डारी के उपन्यासों में आम जीवन की सामान्य घटनाओं को भी उन्होंने एक नए दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया है। उनके उपन्यासों के पात्र और संवाद बड़े प्राकृतिक और सहज होते हैं, जिससे पाठक उनकी कहानी के सहयात्री बन हैं। आधुनिक दांपत्य जीवन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि पति-पत्नी के बीच संबंधों में एक टूटन और अलगाव-सा है। दांपत्य जीवन में दम्पतियों में एक दूसरे की निकटता और संबंधों की ऊष्मता प्राचीन भारत की विशेषता थी, वह आज प्रायः लुप्त हो गई है। प्राचीन समाज की अपेक्षा आधुनिक जीवन-संदर्भ खर्चीला होने तथा आधुनिक नारी शिक्षित भी होने से वह काम के लिए बाहर चली जाती है। पति-पत्नी जीवन में अनेक प्रकार की जिम्मेदारियों को लेकर संबंधों को जारी करने को विवश हैं। आज विभिन्न सामाजिक, आर्थिक और भावात्मक कारणों से पति-पत्नी संबंध तनावपूर्ण स्थितियों में है। आधुनिक नारी में व्यक्ति स्वातंत्र्य की भी चेतना आने से उसने पारंपरिक बंधनों और विश्वासों को खुलकर चुनौती दी है। मन्नू भण्डारी के उपन्यासों में समाज के विभिन्न पहलू, जैसे कि जाति, जेंडर, व्यक्तिगत स्वतंत्रता, और सामाजिक बदलाव आदि को उजागर किया है। उनके लेखन में मानवीयता की महत्वपूर्ण भूमिका होती है जो हमें समाज की समस्याओं को समझने में मदद करती है। मन्नू भण्डारी के उपन्यासों में नारी की स्थिति, समाज में उनकी भूमिका और उनके व्यक्तिगत अनुभवों को उन्होंने विशेष रूप से दिखाया है। उनके लेखन में नारी के प्रति समझदारी और संवेदनशीलता की भावना दिखती है जो समाज में उनके अधिकारों की महत्वपूर्णता को प्रमोट करती है। मन्नू भंडारी के नारी पात्र (जैसे 'आपका बंटी' की शकुन या 'एक इंच मुस्कान' की अमला और रंजना) पारंपरिक रूप से दबी-कुचली, मूक सहन करने वाली स्त्रियाँ नहीं हैं। वे शिक्षित हैं, कमाऊ हैं और अपने अधिकारों के प्रति सचेत हैं। शकुन एक कॉलेज की प्रिंसिपल है। उसकी आर्थिक आत्मनिर्भरता उसे यह शक्ति देती है कि वह अजय के अहम् और उपेक्षा के सामने न झुके। वह समाज के डर से एक मृत विवाह को ढोने से इनकार कर देती है। इस उपन्यास में दाम्पत्य-जीवन में पति पत्नी के बीच उत्पन्न विषमता कि स्थिति का चित्रण करते हुए नारी जीवन की समस्याओं को उजागर करने लेखिका सफल हुई हैं। मन्नू भंडारी अपने उपन्यासों में स्त्री को पुरुष के पूरक या उसकी संपत्ति के रूप में नहीं देखतीं। वे स्त्री को एक स्वतंत्र सामाजिक इकाई मानती हैं। उन के उपन्यासों में जब कोई स्त्री अपनी अस्मिता की खोज करती है, तो पारंपरिक सामाजिक संबंध (जैसे पति-पत्नी, सास-बहू) स्वतः ही तनावग्रस्त हो जाते हैं। यह तनाव विनाशकारी नहीं,

बल्कि समाज के विकास के लिए एक आवश्यक द्वंद्व है। संक्षिप्त रूप में मन्नू भण्डारी के उपन्यासों का अध्ययन करने से हम समाज के विभिन्न पहलुओं को समझ सकते हैं, और उनके दृष्टिकोण में एक नए परिप्रेक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं। उनके लेखन में व्यक्तिगतता, सामाजिक विचार, और मानवीयता की गहराईयों को खोजने का अद्वितीय अवसर मिलता है। मन्नू भंडारी समकालीन महिला लेखिकाओं में अपनी सूक्ष्म दृष्टि और तटस्थ यथार्थवाद के लिए विशिष्ट स्थान रखती हैं। उनके साहित्य में वैचारिक आक्रामकता के स्थान पर एक गहरी संवेदनशीलता और सामाजिक समझ है। मन्नू भंडारी के उपन्यासों में सामाजिक संबंधों की जो संरचना दिखाई देती है, वह रूढ़िवादी धारणाओं से मुक्त है। उन्होंने समाज को केवल पुरुषों की नजर से नहीं, बल्कि एक चेतनामय स्त्री और मानवीय धरातल पर खड़े व्यक्ति की दृष्टि से देखा है। अतः आज के बदले हुए परिप्रेक्ष्य में मन्नू भंडारी के उपन्यासों में वर्णित सामाजिक संबंधों का पुनर्मूल्यांकन करना न केवल साहित्यिक दृष्टि से, बल्कि समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से भी अत्यंत प्रासंगिक है।

निष्कर्ष :-

अंतत: मन्नू भंडारी के उपन्यासों में ग्रामीण एवं शहरीय परिवेश में मध्यवर्गीय लोगों की विडंबनापूर्ण स्थितियों का यथार्थ अंकन देखने को मिलता है। व्यक्ति के जीवन-संघर्ष के विभिन्न रूपों को चित्रित करने में उपन्यासकार मन्नू भंडारी को विशेष सफलता मिली है सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों का यथार्थ अंकन करते हुए मन्नू भंडारी ने महानगरीय परिवेश में यांत्रिकता, मूल्य-विघटन, अवसरवादिता, शोषण, जाति-पांति की समस्या, विडंबनापूर्ण शिक्षा प्रणाली, पाश्चात्य संस्कृति का दुष्प्रभाव आदि कई अंशों को लेकर जो विचार प्रकट किये, वे उपन्यासकार की सामाजिक संवेदना एवं मूल्य-दृष्टि के स्पष्ट परिचायक हैं। उनके उपन्यास पारिवारिक विघटन, दांपत्य जीवन के बिखराव और राजनीतिक-सामाजिक अंतर्विरोधों के माध्यम से एक बदलते हुए भारतीय समाज की नई व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। विषय-वस्तु की विविधता, भाषा की मारकता और यथार्थ का यह ईमानदार प्रस्तुतीकरण मन्नू भंडारी को हिंदी साहित्य में युगांतकारी उपन्यासकार बनाता है। उनके तीनों प्रमुख उपन्यास मानवीय संबंधों के क्रमिक क्षरण, बिखराव और उनके पुनर्गठन के विविध आयामों को समष्टिगत और व्यष्टिगत दोनों स्तरों पर उद्घाटित करते हैं।

संदर्भ :

[1] भण्डारी, मन्नू. और यादव, राजेंद्र. *इक इंच मुस्कान*. अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997, पृ. 11

[2] भण्डारी, मन्नू. *आपका बंटी*. राधाकृष्ण प्रकाशन, इलाहाबाद, 2018, पृ. 142

[3] भण्डारी, मन्नू. *आपका बंटी*. राधाकृष्ण प्रकाशन, इलाहाबाद, 2018, पृ. 148

[4] भण्डारी, मन्नू. और यादव, राजेंद्र. *इक इंच मुस्कान*. अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997, पृ. 129

[5] भण्डारी, मन्नू. *आपका बंटी*. राधाकृष्ण प्रकाशन, इलाहाबाद, 2018, पृ. 35

[6] भण्डारी, मन्नू. और यादव, राजेंद्र. *इक इंच मुस्कान*. अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997, पृ. 248

[7] भण्डारी, मन्नू. और यादव, राजेंद्र. *इक इंच मुस्कान*. अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997, पृ. 233

[8] भण्डारी, मन्नू. और यादव, राजेंद्र. *एक इंच मुस्कान*. अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997, पृ. 185

[9] भण्डारी, मन्नू. *महाभोज*. राधाकृष्ण प्रकाशन, इलाहाबाद, 2007, पृ. 105

[10] भण्डारी, मन्नू. *महाभोज*. राधाकृष्ण प्रकाशन, इलाहाबाद, 2007, पृ. 117

[11] भण्डारी, मन्नू. *महाभोज*. राधाकृष्ण प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 117

[12] भण्डारी, मन्नू. *महाभोज*. राधाकृष्ण प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 118

[13] भण्डारी, मन्नू. *महाभोज*. राधाकृष्ण प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 107

यू.जी.सी. के नवीन दिशा-निर्देशों के अनुरूप प्रकाशित Impact Factor (IIFS): 6.875

Received: 05.12.2025 | Accepted: 25.12.2025 | Published: 30.12.2025

आत्म-संरक्षण की प्रक्रिया में विकसित कुडियाट्टम : संस्कृत नाट्य परंपरा से जीवित अभिनय परंपरा तक

शिवकांत वर्मा*

shivkant.verma21@gmail.com

सार (Abstract):

यह शोध पत्र इस बात का परीक्षण करता है कि 'कुडियाट्टम' यह महज़ दर्शकों का मनोरंजन करने के लिए नहीं, बल्कि संकट के दौर में अपनी मूल नाट्य-परंपरा, अभिनय स्वरूप और अस्तित्व को स्वयं बचाने के संकल्प से जन्मी एक जीवित रंगपरंपरा है। प्राचीन और मध्यकालीन भारत में पारंपरिक संस्कृत रंगमंच के केंद्रों के पतन और सामाजिक-राजनीतिक बदलावों के बीच, नाट्य प्रयोक्ता केरल जैसे क्षेत्रीय सांस्कृतिक क्षेत्रों की ओर स्थानांतरित हुए।

स्थानीय प्रदर्शन कलाओं, क्षेत्रीय भाषाओं और मंदिर के अनुष्ठानों के साथ हुई गहरी अंतःक्रिया के माध्यम से संस्कृत नाट्य व्याकरण में महत्वपूर्ण रूपांतरण हुआ। 'संगीतक' जैसे मध्यवर्ती प्रदर्शन रूपों और 'चाक्यार कुत्तू' जैसी एकल प्रस्तुति शैलियों ने एक आंतरिक संरक्षण रणनीति के रूप में कार्य किया, जिससे अभिनेताओं को विस्तारित अभिनय, चारी और हस्तमुद्राओं के जरिए अपनी कला और स्मृति को बचाए रखने का अवसर मिला। इसके अलावा, चाक्यार और नम्बियार समुदायों की पारिवारिक प्रशिक्षण परंपरा तथा मंदिर (कूथाम्बलम) की व्यवस्था ने मिलकर इस विरासत को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक सुरक्षित पहुँचाया। अंततः, कुडियाट्टम सांस्कृतिक लचीलेपन के एक प्रमाण के रूप में खड़ा है, जो यह दर्शाता है कि कैसे एक शास्त्रीय नाट्य परंपरा ने अपनी मूल कलात्मक पहचान को बचाते हुए स्थानीय परिस्थितियों को अपनाकर खुद को जीवित रखा और आगे बढ़ाया।

मुख्य शब्द:

अभिनय, कुडियाट्टम, संस्कृत नाटक, आत्म-संरक्षण, चाक्यार कुत्तू, रंगमंच मानवशास्त्र, केरल की प्रदर्शन कलाएँ।

कुडियाट्टम को भारतीय रंगपरंपरा में संस्कृत नाट्य की जीवित परंपरा के रूप में विशेष महत्त्व प्राप्त है। इसके अभिनय-विधान, आंगिक संरचना, हस्तमुद्राओं, नेत्राभिनय, वाचिक प्रयोग तथा प्रस्तुति-प्रक्रिया में नाट्यशास्त्रीय परंपरा के अनेक तत्व आज भी दिखाई देते हैं। कुडियाट्टम के वर्तमान स्वरूप को समझने के लिए इसे केवल दर्शकों के मनोरंजन में विकसित नाट्यरूप मानना उचित नहीं होगा। न ही संस्कृत नाट्य के समय और परिस्थिति वश बदलते हुए स्वरूप के अंश के रूप में देखने में। इसके विकास की प्रक्रिया में संस्कृत नाट्य के संकट, उसके प्रयोक्ताओं के संभावित स्थानांतरण, स्थानीय कलाओं के साथ उनका संपर्क तथा चाक्यार और नम्बियार समुदायों द्वारा इसके संरक्षण की भूमिका को भी समझना आवश्यक है। इसके अभिनय का व्याकरण तथा स्वरूप उसी आत्मरक्षा में विकसित हुआ, इस दृष्टि से भी देखे जाने की आवश्यकता है।

पी. वी. काणे के अनुसार- -"नाट्यशास्त्र की अभिनय परंपरा के साथ केरल तथा आसपास की क्षेत्रीय कला एवं मलयालम भाषा के एक साथ आने पर जिस अभिनय परंपरा का जन्म हुआ वह कुडियाट्टम की अभिनय परंपरा है। अभिनय की यह परंपरा 9 वीं शताब्दी से वर्तमान तक जीवित है। कुडियाट्टम वह जीवित नाट्य रूप है, जिसमें संस्कृत नाट्य परंपरा के अंश अब भी बचे हुए हैं"।[1] इस दृष्टि से कुडियाट्टम को संस्कृत नाट्य की जड़ परंपरा की यांत्रिक पुनरावृत्ति न मानकर उसके स्थानीय परिस्थितियों में पुनर्गठन के रूप में देखना अधिक उपयोगी है।

* **शोधार्थी (नाट्यकलाशास्त्र), प्रदर्शनकारी कला विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा**

वशिष्ठ नारायण त्रिपाठी का मत इस संदर्भ में एक अन्य महत्त्वपूर्ण संकेत देता है। उनके अनुसार केरल में पहले से एक नाट्य परंपरा विद्यमान थी, जिसे 9वीं शताब्दी में राजा कुलशेखरवर्मन ने कुछ परिवर्तनों के साथ कुडियाट्टम का स्वरूप प्रदान किया।[2] इस मत से यह संकेत मिलता है कि कुडियाट्टम किसी एक समय में अचानक निर्मित हुई नाट्य विधा नहीं थी, बल्कि पूर्ववर्ती परंपराओं, संस्कृत नाट्य तत्वों और स्थानीय रंग-व्यवहार के क्रमिक समायोजन से इसका वर्तमान स्वरूप निर्मित हुआ।

इस क्रम में 9वीं शताब्दी के दामोदर गुप्त द्वारा रचित कुट्टनीमतम् का उल्लेख भी महत्त्वपूर्ण है। पी. वी. काणे के अनुसार - "'कुट्टनीमतम'में 'रत्नावली' नाटक को अभिनीत करने का जो व्यवहार दर्शाया गया है वह बहुत सीमा तक कुडियाट्टम के समीप है"।[3] इससे यह अनुमान मजबूत होता है कि कुडियाट्टम के स्वरूप के पीछे ऐसी अभिनय-परंपराएँ सक्रिय थीं जिनमें संस्कृत नाट्य, संगीत, नृत्य और विशिष्ट अभिनय-विस्तार का परस्पर संबंध था।

संस्कृत नाट्य से संगीतक और संगीतक से कुडियाट्टम

कुडियाट्टम के आत्म-संरक्षण की प्रक्रिया को समझने के लिए संस्कृत नाट्य के पश्चात विकसित संगीतक परंपरा पर ध्यान देना आवश्यक है। कपिला वात्स्यायन के अनुसार "भरत ने जिस संस्कृत रंगमंच परंपरा का वर्णन किया था उसने कुछ गौण नाट्य रूपों को जन्म दिया जो उपरूपक कहे जाते थे। हमें यह पता है कि हर्ष का समय आते आते संस्कृत नाटक का एक रूप बहुत लोकप्रिय हो चुका था, जो संगीत नाटक या संगीतक कहा जाता था"।[4]

डॉ. ओमप्रकाश भारती संगीतक की उत्पत्ति को तत्कालीन दर्शकों की रुचि और नाट्य-प्रयोग की बदलती आवश्यकताओं से जोड़ते हैं। उनके अनुसार- "संस्कृत नाट्य के स्वर्ण युग में ही रसिकों की अभिरुचि के दबाव के कारण तत्कालीन नाट्य प्रयोक्ताओं ने एक ऐसी अभिनय/ नाट्य पद्धति का अन्वेषण किया, जिसमें संगीत और नृत्य का प्राचुर्य था। इस अभिनव नाट्य रूप को 'संगीतक' कहा गया"।[5] इसके पाँच प्रमुख तत्व माने गए हैं—गीत, वाद्य, नृत्य, नट-नटी अथवा सूत्रधार और रंगशाला।[6]

जगदीशचंद्र माथुर संगीतक को भारतीय पारंपरिक तथा लोकनाट्य रूपों के विकास से जोड़ते हैं। उनका मत है कि संगीतक वर्तमान आंचलिक नाट्य शैलियों का एक मूल आधार रहा और जात्रा, मांच, रासलीला, भागवत-मेल, तमाशा तथा कुडियाट्टम आदि को उसके परिवर्ती रूपों के रूप में देखा जा सकता है।[7]

यहाँ 'आत्म-संरक्षण' की अवधारणा बहुत महत्वपूर्ण हो जाती है। जब किसी मूल नाट्य परंपरा के लिए सामाजिक, राजनीतिक या सांस्कृतिक परिस्थितियाँ अनुकूल नहीं रहतीं, तो वह परंपरा समाप्त होने के बजाय अपने अस्तित्व को बचाने के लिए अपने स्वरूप में बदलाव कर सकती है। इस बदलाव में वह स्थानीय कलाओं, भाषा, संगीत, नृत्य और उपलब्ध रंग-स्थलों को अपना लेती है। इस दृष्टिकोण से, कुडियाट्टम को संस्कृत नाट्य के पतन के बाद उसका स्थानीय परिस्थितियों में पुनर्गठित और सुरक्षित रूप माना जा सकता है।

इस प्रकार, संस्कृत नाट्य से संगीतक और संगीतक से क्षेत्रीय नाट्यरूपों के विकास को एक सीधी (रैखिक) प्रक्रिया के रूप में देखने के बजाय, इसे **परिवर्तन, अनुकूलन और आत्म-संरक्षण** की एक जीवंत प्रक्रिया के रूप में देखना अधिक उचित होगा।

संस्कृत नाट्य के प्रयोक्ताओं का स्थानांतरण और स्थानीय रंगपरंपरा से संपर्क

संस्कृत नाट्य परंपरा के कमजोर पड़ने की प्रक्रिया को केवल नाट्यग्रंथों के संदर्भ में नहीं, बल्कि उसके प्रयोक्ताओं और दर्शक समुदाय के संदर्भ में भी समझना आवश्यक है। नेमिचंद्र जैन का अनुमान है – –"यह अनुमान किया जा सकता है कि संस्कृत रंगमंच के निष्क्रिय होने के बाद रुचि, संरक्षण और दर्शक समुदाय के कम होने पर, विभिन्न केंद्रों के नाट्य गुरु, अभिनेता आदि धीरे-धीरे उन केंद्रों को छोड़कर, अपने-अपने या दूसरे प्रदेशों में जाकर वहां के लोकप्रिय रंगकार्य से जुड़े होंगे। इस प्रकार संस्कृत रंगकर्म की अधिक समृद्ध और विकसित पद्धतियों का लोक जीवन के सहज किंतु जीवंत शैलियों के साथ मेल हुआ"।[8]

इसी संभावना को कुडियाट्टम के संदर्भ में देखा जाए तो यह स्पष्ट होता है कि किसी नाट्य परंपरा का स्थानांतरण केवल भौगोलिक घटना नहीं होता; उसके साथ उसकी अभिनय तकनीक, प्रशिक्षण-पद्धति, प्रस्तुति-विधान और स्मृति भी

स्थानांतरित होती है। स्थानीय परिस्थितियों में पहुँचने के बाद वही परंपरा अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए नए सामाजिक और सांस्कृतिक आधार ग्रहण कर सकती है।

मणिमाधव चाक्यार अपनी किताब 'नाट्यकल्पद्रुम' में इसे भरतमुनि की ही परंपरा में आये शाक्य मुनि के द्वारा प्रचलित बताते हैं। उनके अनुसार –"उन दिनों विख्यात कला उपासक शाक्यमुनि आगे जाकर नाट्यकला के अधिकारी रहे, उस दिन से 'कुत्तु नृत्य'[9] 'शाक्यारु कुत्तु' नाम से और उस कला के अधिकारी लोग 'शाक्यार' कहे गए"।[10] यह 'शाक्यार' ही आगे चलकर 'चाक्यार' कहे जाने लगे तथा इनके द्वारा प्रस्तुत होने वाला एकल नाट्य 'चाक्यार कुत्तू' कहलाया। 1800 वर्ष पुराने तमिल साहित्य कृति 'शिल्पदिकाराम' में चाक्यार कुत्तू का उल्लेख भी मिलता है।[11] संभवत: 'शाक्यार' से 'चाक्यार' उच्चारण परिवर्तन का कारण इन चाक्यारों का उत्तर भारत से केरल में आने पर हुआ हो। इस तरह यह घटना लगभग दो हजार वर्ष पूर्व की मालूम पड़ती है। हालाँकि इन परंपरागत आख्यानों को ऐतिहासिक तथ्य के रूप में स्वीकार करने में सावधानी आवश्यक है, लेकिन वे इस बात को समझने में महत्त्वपूर्ण हैं कि चाक्यार समुदाय ने स्वयं अपनी नाट्यपरंपरा को किस प्रकार अपनी सांस्कृतिक स्मृति में सुरक्षित रखा।

वशिष्ठ नारायण त्रिपाठी भी इस संदर्भ में एक महत्त्वपूर्ण संभावना प्रस्तुत करते हैं, जो नेमिचंद्र जैन और माणि माधव चाक्यार की कही बात का ही समर्थ करती है। उनके अनुसार - "सम्भवत: जब यह नाट्यरत ब्राह्मण समुदाय उत्तर भारत से केरल में सरण ले रहे थे, तब मंदिरों के परिसर में ही अपने गृहस्थि को बसाया तथा अपने पास सरंक्षित इस विद्या को विलुप्त होने के प्रयास में मंदिर के अन्दर ही अपनों के बीच अभिनय करना आरंभ किया। इसी प्रक्रिया ने आगे चलकर एकल प्रस्तुति वाले चाक्यार कुत्तू जैसे रूप को जन्म दिया होगा। कुल शेखर वर्मन ने इस मूल विधा में कुछ परिवर्तन किये जो कुडियाट्टम के रूप में आगे आई"।[12]

यहाँ 'दर्शक के लिए प्रस्तुति' और 'परंपरा को बचाने के लिए अभ्यास' के बीच का अंतर महत्त्वपूर्ण हो जाता है। यदि किसी कला का प्राथमिक उद्देश्य व्यापक दर्शक समुदाय के मनोरंजन के बजाय अपनी कला-पद्धति को जीवित रखना हो, तो उसकी प्रस्तुति संरचना भी उसी के अनुरूप विकसित हो सकती है।

एकल अभिनय और अभिनय-विस्तार : संरक्षण की एक संभावित रणनीति

कुडियाट्टम की अभिनय पद्धति की एक विशिष्ट विशेषता अभिनेता को प्राप्त होने वाला अत्यधिक समय और अभिनय-विस्तार है। एक अभिनेता किसी प्रसंग, भाव अथवा घटना को अत्यंत विस्तार से प्रस्तुत कर सकता है। इस प्रक्रिया में उसकी कल्पना, स्मृति, शारीरिक नियंत्रण, नेत्राभिनय, हस्तमुद्रा और आंगिक अभिव्यक्ति का व्यापक उपयोग होता है।

इस विशेषता को केवल सौंदर्यात्मक उपलब्धि के रूप में देखने के बजाय उसके ऐतिहासिक-सामाजिक संदर्भ में भी देखा जा सकता है। यदि चाक्यार कुत्तू अथवा उससे संबंधित प्रारंभिक अभिनय-परंपराएँ सीमित समुदाय और मंदिर-परिसर में संरक्षित हो रही थीं, तो एकल अभिनेता को लंबे समय तक अभिनय करने की स्वतंत्रता मिलना उसकी प्रशिक्षण और संरक्षण प्रक्रिया का स्वाभाविक परिणाम हो सकता है।

इसी संदर्भ में यह तथ्य भी महत्त्वपूर्ण है कि कुडियाट्टम में संपूर्ण नाटक को एक ही प्रस्तुति में समाप्त करने के बजाय उसके चयनित अंकों अथवा प्रसंगों को विस्तृत रूप में प्रस्तुत करने की परंपरा विकसित हुई। इसका परिणाम यह हुआ कि अभिनेता किसी एक प्रसंग को अत्यधिक विस्तार दे सकता था। यह प्रस्तुति-विधान व्यापक दर्शक समुदाय के सामने शीघ्रता से पूरी कथा प्रस्तुत करने की अपेक्षा अभिनय-परंपरा को विस्तार देने और सुरक्षित रखने के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकता था।

इस प्रकार कुडियाट्टम के अभिनय-विस्तार को केवल 'धीमी प्रस्तुति' या 'शैलीगत विशेषता' के रूप में नहीं, बल्कि एक ऐसी प्रक्रिया के रूप में भी पढ़ा जा सकता है जिसमें अभिनेता को अपनी अभिनय-भाषा को स्मृति, अभ्यास और पुनरावृत्ति के माध्यम से सुरक्षित रखने का पर्याप्त अवसर प्राप्त हुआ।

शैलीबद्धता और सीमित रंग-स्थान

कुडियाट्टम की दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता इसकी शैलीबद्ध अभिनय-पद्धति है। नेत्राभिनय, हस्तमुद्राएँ, चारी (गति-चाल), विशिष्ट गतियाँ तथा चेहरे और शरीर की नियंत्रित अभिव्यक्तियाँ इसके अभिनय-व्याकरण का मुख्य हिस्सा हैं।

पहली दृष्टि में यह सवाल उठ सकता है कि इतना अधिक शैलीबद्ध अभिनय ऐसे रंग-स्थान में क्यों विकसित हुआ, जहाँ अभिनेता और दर्शक अपेक्षाकृत एक-दूसरे के काफी पास होते हैं। आम तौर पर बड़े प्रदर्शन-स्थलों और दूर बैठे दर्शकों के लिए विस्तृत शारीरिक संकेतों को उपयोगी माना जाता है। उदाहरण के लिए, लोकनाट्य की ऊँची गायकी का एक बड़ा कारण यह होता है कि खुली रंगस्थली पर स्वर दूर बैठे दर्शक तक पहुँच सके, जैसे माच या नौटंकी की गायकी। इसी तरह, रामनगर की रामलीला में संवादों को जिस विशेष और ऊँची शैली में बोला जाता है, उसका उद्देश्य भी दूर बैठे दर्शकों तक आवाज़ पहुँचाना होता है। वाचिक (बोलने) स्तर पर किया जाने वाला यह प्रयास, रंगमंच पर आंगिक (शारीरिक) स्तर पर भी दिखाई देता है। इसी तरह विद्वानों द्वारा ग्रीक रंगमंच में बड़े मुखौटों के प्रयोग के पीछे बड़े स्थान पर प्रदर्शन को दर्शकों तक पहुँचाने को लेकर कहा है।

किंतु कुडियाट्टम के 'कुथाम्बलम' (रंगशाला) में स्थिति इससे अलग है। यहाँ दर्शकों की संख्या सीमित होती है और अभिनेता-दर्शक एक-दूसरे के काफी करीब होते हैं, फिर भी यहाँ अत्यंत विकसित और शैलीबद्ध अभिनय दिखाई देता है। इसलिए, इसकी शैलीबद्धता को केवल 'दूर बैठे दर्शक तक संकेत पहुँचाने की जरूरत' के रूप में नहीं समझा जा सकता।

इसका दूसरा पहलू अभिनय-व्याकरण की आंतरिक संरचना से जुड़ा है। अभिनेता के लिए प्रत्येक मुद्रा, नेत्र-संचालन, हाथ का विन्यास और शारीरिक क्रिया एक खास अर्थ से जुड़ी होती है। इस अर्थ में, शैलीबद्धता दर्शक से कहीं अधिक अभिनेता की प्रशिक्षित अभिनय-भाषा की रक्षा करती है।

कुडियाट्टम की प्रसिद्ध कलाकार कपिला वेणु ने भी यह इशारा किया है कि आम दर्शक कुडियाट्टम के इस विस्तृत अभिनय-व्याकरण से पूरी तरह नहीं समझता [13]। लेखक लोथ्रूप के अनुसार भी दर्शकों का एक विशेष वर्ग ही इसके व्याकरण को समझता था जिसे प्रेक्षक कहते थे, तथा सामान्य दर्शक 'नान्लोक' इन अभिनय की मुद्राओं के निहित अर्थों से अनभिज्ञ ही रहता था। [14] दर्शक द्वारा भाव को ग्रहण करना और अभिनेता द्वारा पूरे अभिनय-व्याकरण का प्रयोग करना दोनों अलग बातें हैं। अतः कुडियाट्टम की शैलीबद्धता का एक बड़ा उद्देश्य अपनी इस विशिष्ट अभिनय-परंपरा को अपने भीतर सुरक्षित रखना भी माना जा सकता है।

चाक्यार कुत्तू से सामूहिक कुडियाट्टम की ओर

यदि ऊपर बताई गई सभी बातों को एक साथ देखें, तो कुडियाट्टम के विकास का पूरा क्रम समझ में आता है। शुरुआती दौर में, एक छोटे से समुदाय के भीतर एकल अभिनय या 'कुत्तू' जैसी प्रस्तुतियों ने इस परंपरा को बचाने में बड़ी भूमिका निभाई। इसमें अभिनेता को एक ही प्रसंग पर टिके रहकर अभिनय के अलग-अलग पहलुओं का अभ्यास करने और उन्हें विस्तार देने का पूरा मौका मिलता था।

इसके बाद, समय के साथ और स्थानीय परिस्थितियों तथा उपलब्ध नाट्य-संरचनाओं के मेल से इस परंपरा का दायरा बढ़ता गया। राजा कुलशेखरवर्मन के समय में प्रस्तुति के आखिरी दिनों में सामूहिक अभिनय को जोड़े जाने का जिक्र इसी बदलाव की ओर इशारा करता है। इस तरह, एक सीमित और एकल अभिनय पर टिकी परंपरा धीरे-धीरे सामूहिक रूप लेती गई और इसी से कुडियाट्टम का विकसित रूप सामने आया।

इस लिहाज से, कुलशेखरवर्मन को किसी एकदम नई नाट्य-विधा का आविष्कारक मानने के बजाय, एक ऐसे व्यक्ति के रूप में देखना चाहिए जिन्होंने पुरानी अभिनय परंपरा को व्यवस्थित और संशोधित करके उसे एक नया रूप दिया। यह बात उन विद्वानों के विचार से भी मेल खाती है जो यह मानते हैं कि कुडियाट्टम की उत्पत्ति केरल की पुरानी नाट्य-परंपरा, संस्कृत नाट्य और स्थानीय कलाओं के मेल से हुई है।

सामाजिक और धार्मिक संरक्षण

कुडियाट्टम के आत्म-संरक्षण की प्रक्रिया केवल उसके अभिनय-विधान तक सीमित नहीं रही। इसके संरक्षण में सामाजिक और धार्मिक संस्थाओं की भी निर्णायक भूमिका रही। परंपरागत रूप से चाक्यार परिवारों के पुरुष कुडियाट्टम में पुरुष पात्रों की भूमिकाएँ निभाते रहे, जबकि नम्बियार समुदाय की महिलाएँ, जिन्हें नंगियार कहा जाता है, स्त्री पात्रों का अभिनय करती थीं। मिज्हावु वादन की परंपरा भी नम्बियार समुदाय से जुड़ी रही। इस प्रकार अभिनय, संगीत और प्रस्तुति से संबंधित अलग-अलग भूमिकाएँ विशिष्ट समुदायों के भीतर पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित होती रहीं।

वंशानुगत प्रशिक्षण का एक परिणाम यह हुआ कि अभिनय-व्याकरण किसी लिखित ग्रंथ में सुरक्षित रहने के साथ-साथ जीवित शरीरों और अभ्यासरत समुदायों में भी सुरक्षित रहा। अभिनेता केवल अभिनय नहीं सीखता था, बल्कि वह एक दीर्घ सांस्कृतिक स्मृति का उत्तराधिकारी बनता था।

इस व्यवस्था का दूसरा परिणाम यह हुआ कि लंबे समय तक इसमें बाहरी लोगों का प्रवेश बंद रहा। इससे परंपरा में अचानक होने वाले बदलावों की गुंजाइश कम हो गई और पुराने अभिनय-विधान को पीढ़ियों तक वैसे ही दोहराने का अवसर मिला। आधुनिक दृष्टिकोण से इस बंद सामाजिक संरचना की अपनी सीमाएँ जरूर रही होंगी, लेकिन परंपरा को इतिहास में बचाए रखने की दृष्टि से इसने कुडियाट्टम की विशिष्ट अभिनय-भाषा को एक स्थायी आधार दिया।

मंदिर और अनुष्ठान : संरक्षण का संस्थागत आधार

कुडियाट्टम के संरक्षण में मंदिर-व्यवस्था की भूमिका भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण रही। कुथाम्बलम जैसे विशिष्ट रंगस्थल मंदिर परिसर से जुड़े थे और प्रस्तुति का संबंध धार्मिक-अनुष्ठानिक व्यवस्था से था। इससे नाट्य प्रस्तुति को केवल मनोरंजनात्मक गतिविधि के बजाय एक विशिष्ट सांस्कृतिक-धार्मिक कर्म का दर्जा प्राप्त हुआ।

अनुष्ठान से जुड़ने का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह रहा कि प्रस्तुति के नियमों, पात्रों, समय, प्रशिक्षण और प्रदर्शन की प्रक्रिया में निरंतरता बनी रही। जिस प्रकार धार्मिक अनुष्ठान अपने निर्धारित विधान के कारण पीढ़ियों तक दोहराए जाते हैं, उसी प्रकार कुडियाट्टम की अभिनय परंपरा भी निश्चित नियमों और सामाजिक भूमिकाओं के माध्यम से आगे बढ़ती रही।

इस प्रकार समुदाय + वंशानुगत प्रशिक्षण + मंदिर + अनुष्ठान + विशिष्ट रंगस्थल + शैलीबद्ध अभिनय—इन सभी ने मिलकर कुडियाट्टम को एक ऐसा संस्थागत आधार दिया जिसके कारण वह अनेक अन्य संस्कृत नाट्य परंपराओं के विपरीत जीवित रह सका।

निष्कर्ष

कुडियाट्टम के विकास को केवल संस्कृत नाट्य की 'जीवित बची हुई शाखा' कहना इसके विकास की जटिल प्रक्रिया को सीमित कर देने जैसा है। उपलब्ध विद्वानों के मतों और इसकी प्रस्तुति-पद्धति का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट होता है कि इसके अस्तित्व के पीछे संरक्षण और अनुकूलन की एक लंबी प्रक्रिया रही है।

संस्कृत नाट्य के कमजोर पड़ने पर, उससे जुड़े अभिनय-ज्ञान के केंद्रों के विघटन और कलाकारों के अन्यत्र जाने ने उस ज्ञान को नए क्षेत्रीय संदर्भों से जोड़ने की परिस्थितियाँ पैदा कीं। केरल की पहले से मौजूद स्थानीय नाट्य-परंपराओं, संगीत, नृत्य और भाषा के साथ संस्कृत अभिनय-व्याकरण का मेल हुआ। 'संगीतक' जैसी माध्यमिक परंपराओं के माध्यम से संस्कृत नाट्य के तत्व क्षेत्रीय नाट्यरूपों में ढलते चले गए। इसी व्यापक प्रक्रिया के भीतर कुडियाट्टम का स्वरूप विकसित हुआ।

इसके बाद एकल अभिनय, चुनिंदा अंकों का विस्तृत प्रदर्शन, शैलीबद्ध अभिनय-व्याकरण और अभिनेता को मिलने वाला पर्याप्त अभिनय-समय इस परंपरा को भीतर से बचाने के साधन बने। दूसरी ओर, चाक्यार और नम्बियार समुदायों की वंशानुगत भूमिका तथा मंदिर-आधारित अनुष्ठानिक व्यवस्था ने इसके सामाजिक और संस्थागत संरक्षण को पक्का किया।

इस प्रकार, कुडियाट्टम के विकास को निम्नलिखित क्रम में समझा जा सकता है—

संस्कृत नाट्य परंपरा → संकट और विघटन → कलाकारों/अभिनय-ज्ञान का स्थानांतरण → स्थानीय कलाओं से संपर्क → संगीतक एवं क्षेत्रीय रूपांतरण → चाक्यार कुत्तू जैसी सीमित/एकल प्रस्तुतियाँ → कुलशेखरवर्मन काल में पुनर्संयोजन → सामूहिक कुडियाट्टम → वंशानुगत एवं मंदिर-आधारित संरक्षण।

इस अर्थ में, कुडियाट्टम केवल संस्कृत नाट्य परंपरा का कोई मृत अवशेष नहीं है अथवा मनोरंजन ही उसके वर्तमान स्वरूप का निर्धारक तत्व नहीं है बल्कि उसके आत्म-संरक्षण, स्थानीय अनुकूलन और संस्थागत सुरक्षा से बनी एक जीवित रंगपरंपरा है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसने बदलावों को अपनाते हुए अपनी मूल अभिनय-स्मृति को खोने नहीं दिया। अपने अस्तित्व को बचाने के लिए इसने स्थानीयता को स्वीकार किया, अभिनय को विस्तार दिया, खास समुदायों के

भीतर प्रशिक्षण को सुरक्षित रखा और मंदिर तथा अनुष्ठानों को अपने संरक्षण का आधार बनाया। यही कारण है कि कुडियाट्टम को भारतीय रंगपरंपरा में संस्कृत नाट्य की जीवित स्मृति और आत्म-संरक्षण की ऐतिहासिक प्रक्रिया- दोनों रूपों में देखा जा सकता है।

संदर्भ ग्रंथ

[1] काणे, पी. वी. (1997). संस्कृत रंगमंच परंपरा और कूटियाट्टम. In जी. गोपीनाथन (सम्पा.), *केरल की सांस्कृतिक विरासत*. वाणी प्रकाशन. पृ.81- 92.

[2] त्रिपाठी, डॉ. वशिष्ठ नारायण. (2001). *भारतीय लोकनाट्य*. पृ. 69

[3] काणे, पी. वी. (1997). संस्कृत रंगमंच परंपरा और कूटियाट्टम. जी. गोपीनाथन (संपा). केरल की सांस्कृतिक विरासत, (पृ.81- 92).

[4] वात्स्यायन, कपिला. (1995). *भारतीय रंगमंच की अनंत धाराएँ*. नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया. पृ. 14

[5] भारती, ओमप्रकाश. (2007). *बिहार के पारंपरिक नाट्य*. उत्तर मध्य क्षेत्र सांस्कृतिक केंद्र. पृ. 43

[6] भारती, ओम प्रकाश. (2012). *नाटकं मुक्ति साधकं*. धरोहर. पृ. 65

[7] माथुर, जगदीशचंद्र. (2019). *परंपराशील नाट्य*. राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय. पृ. 23

[8] जैन, नेमिचंद्र. (1996). *रंग परंपरा*. वाणी प्रकाशन. पृ. 30

[9] चाक्यारों की एक प्राचीन नृत्य शैली

[10] चाक्यार, माणि माधव. (1996). *नाट्यकल्पद्रुम*. संगीत नाटक अकादेमी. पृ. 6

[11] चाक्यार, माणि माधव. (1996). *नाट्यकल्पद्रुम*. संगीत नाटक अकादेमी. पृ. 20

[12] त्रिपाठी ,डॉ. वशिष्ठ नारायण. (2001). भारतीय लोकनाट्य. पृ. 70

[13] Nair, M. (2017, June 21). Kapila Venu: A master of restraint. *Open Magazine* retrieved from https://openthemagazine.com/art-culture/dance/kapila-venu-a-master-of-restraint

[14] Lowthorp, L. K. (2025). *Deep cosmopolitanism: Kutiyattam, dynamic tradition, and globalizing heritage in Kerala, India*. Indiana University Press, p. 153

यू.जी.सी. के नवीन दिशा-निर्देशों के अनुरूप प्रकाशित Impact Factor (IIFS): 6.875

Received: 06.12.2025 | Accepted: 25.12.2025 | Published: 30.12.2025

ग्रामीण विकास योजनाओं के संप्रेषण में जन-संचार माध्यमों की प्रभावशीलता और उनके सामाजिक-आर्थिक प्रभावों का विश्लेषणात्मक मूल्यांकन: वाराणसी जिले के विशेष संदर्भ में

डॉ. कमलेश मिश्र*

kamleshmishra079@gmail.com

सारांश

भारत जैसी विकासशील और कृषि-प्रधान अर्थव्यवस्था में ग्रामीण विकास और सामाजिक कल्याण की सफलता काफी हद तक शासन की कल्याणकारी योजनाओं के जमीनी स्तर तक प्रभावी संप्रेषण पर निर्भर करती है। प्रस्तुत शोध आलेख ''ग्रामीण विकास योजनाओं के संप्रेषण में जन-संचार माध्यमों की प्रभावशीलता और उनके सामाजिक-आर्थिक प्रभावों का विश्लेषणात्मक मूल्यांकन: वाराणसी जिले के विशेष संदर्भ में'' का मुख्य उद्देश्य ग्रामीण नागरिकों तक सरकारी योजनाओं की जानकारी पहुँचाने में पारंपरिक और आधुनिक संचार माध्यमों की भूमिका का मूल्यांकन करना तथा उनके बीच मौजूद डिजिटल असमानता का सामाजिक-वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में आकलन करना है। यह अध्ययन अन्वेषनात्मक और वर्णनात्मक शोध प्रविधि पर आधारित है, जिसमें उत्तर प्रदेश के ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण वाराणसी जनपद के चुनिंदा ग्रामीण विकास ब्लॉकों (जैसे- आराजी लाइन, सेवापुरी, और चिरईगाँव) से प्राथमिक (संरचित प्रश्नावली, प्रत्यक्ष साक्षात्कार और क्षेत्र-अवलोकन) एवं द्वितीयक आंकड़ों का संकलन एवं विश्लेषण किया गया है।

शोध के प्रारंभिक और विश्लेषणात्मक निष्कर्षों से यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि यद्यपि भूमंडलीकरण और तकनीकी विस्तार के परिणामस्वरूप डिजिटल मीडिया (स्मार्टफोन, सोशल मीडिया और सरकारी मोबाइल पोर्टल) का प्रसार तेजी से हुआ है, फिर भी पारंपरिक माध्यम (टेलीविजन, रेडियो, दीवार लेखन और स्थानीय मुनादी) अभी भी ग्रामीण अंचलों के एक बड़े वर्ग के लिए सूचना के प्रमुख और अधिक विश्वसनीय स्रोत बने हुए हैं। इसके अतिरिक्त, लिंग, आयु, जाति और सामाजिक-आर्थिक स्थिति के आधार पर सूचना तक पहुँच में स्पष्ट 'डिजिटल विभाजन' देखा गया है, जिसके परिणामस्वरूप समाज के हाशिए पर मौजूद कई पात्र व्यक्ति समय पर सूचना के अभाव में विभिन्न कल्याणकारी योजनाओं (जैसे मनरेगा, प्रधानमंत्री आवास योजना, और किसान सम्मान निधि) के लाभ से वंचित रह जाते हैं। इसके अलावा, सही समय पर सूचना न मिलने के कारण ग्रामीण जनता बिचौलियों के आर्थिक शोषण का शिकार भी होती है। अंततः, यह आलेख ग्रामीण स्तर पर सूचना तंत्र को अधिक समावेशी, सुलभ और पारदर्शी बनाने के लिए व्यावहारिक सुझाव और नीतिगत संस्तुतियाँ प्रस्तुत करता है।

मुख्य शब्द:

ग्रामीण विकास, कल्याणकारी योजनाएँ, जन-संचार माध्यम, संप्रेषण प्रभावशीलता, डिजिटल विभाजन, वाराणसी जनपद।

प्रस्तावना

भारत जैसी विकासशील और कृषि-प्रधान अर्थव्यवस्था में राष्ट्र की वास्तविक प्रगति, आर्थिक सुदृढ़ीकरण और समेकित समावेशी विकास का मूल आधार ग्रामीण विकास के बहुआयामी सुदृढ़ीकरण पर टिका हुआ है। स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत से ही केंद्र और राज्य सरकारों द्वारा ग्रामीण अंचलों के सामाजिक-उत्थान, कृषि विकास, गरीबी उन्मूलन, आधारभूत संरचना के निर्माण और स्वास्थ्य सेवाओं को सुलभ बनाने के लिए अनगिनत कल्याणकारी योजनाएँ एवं नीतियां क्रियान्वित

* **सहायक प्राध्यापक, समाजशास्त्र विभाग, स्वामी गोविन्दाश्रम पी. जी. कालेज पैड़ापुर, मिर्जापुर, उत्तरप्रदेश**

की जाती रही हैं। वर्तमान परिदृश्य में, 'प्रधानमंत्री आवास योजना', 'महात्मा गांधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी अधिनियम (मनरेगा)', 'प्रधानमंत्री किसान सम्मान निधि' और 'राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन' जैसी योजनाएँ ग्रामीण भारत की सामाजिक-आर्थिक तस्वीर को बदलने में अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही हैं।

हालांकि, प्रशासनिक स्तर पर बनाई जाने वाली इन कल्याणकारी योजनाओं के जमीनी क्रियान्वयन और इनके वास्तविक पात्र लाभार्थियों तक पहुँचने की सफलता का पैमाना मुख्य रूप से इस बात पर निर्भर करता है कि संबंधित योजना की 'सूचना' कितनी तेजी, शुद्धता, पारदर्शिता और सटीकता के साथ देश के अंतिम व्यक्ति तक प्रेषित होती है। किसी भी कल्याणकारी नीति की सार्थकता और उसकी लोक-कल्याणकारी उपयोगिता मूलतः इस बात में निहित होती है कि उसके पात्र लाभार्थियों को समय पर उस योजना की पूरी और सही जानकारी प्राप्त हो। ग्रामीण विकास और लोक-प्रशासन के क्षेत्र में 'सूचना प्रसार' एक सशक्त सेतु का कार्य करता है।

अक्सर प्रशासनिक और नीतिगत स्तर पर यह देखा गया है कि सरकार द्वारा जनहित में योजनाएँ तो बड़े पैमाने पर बना दी जाती हैं, लेकिन प्रभावी संप्रेषण के अभाव में सुदूर गाँवों में निवास करने वाली ग्रामीण जनता, और विशेषकर समाज के हाशिए पर मौजूद वर्ग, इन योजनाओं की जानकारी से अछूते रह जाते हैं जिसके परिणामस्वरूप वे इनका लाभ उठाने से वंचित रह जाते हैं। प्रभावी संप्रेषण न केवल ग्रामीण अंचलों में जन-जागरूकता को जन्म देता है, बल्कि शासन प्रणाली में पारदर्शिता, जवाबदेही और व्यापक जन-भागीदारी को भी सुनिश्चित करता है। जब लक्षित समूहों को समय पर सही सूचना मिलती है, तब प्रशासनिक कार्यों में बिचौलियों और दलालों की नकारात्मक भूमिका स्वतः कम हो जाती है और योजनाओं का वित्तीय एवं विकासात्मक लाभ सीधे पात्र लाभार्थियों तक पहुँचता है।

समयानुसार ग्रामीण भारत के संचार और सूचना ढांचे में एक बड़ा, दूरगामी और निर्णायक बदलाव देखने को मिला है। अतीत में जहाँ ग्रामीण क्षेत्रों में सूचना के साधन अत्यंत सीमित थे और पारंपरिक माध्यमों—जैसे आकाशवाणी (रेडियो), दूरदर्शन, नुक्कड़ नाटक, स्थानीय बैनर, और मुनादी अथवा दीवार लेखन—का ही पूर्ण वर्चस्व हुआ करता था, वहीं आज इक्कीसवीं सदी के डिजिटल युग के तीव्र आगमन ने ग्रामीण संप्रेषण के संपूर्ण परिदृश्य को पूरी तरह से बदल दिया है। स्मार्टफोन की सुलभ और सस्ती उपलब्धता, सस्ते इंटरनेट डेटा की बहुलता और विभिन्न सरकारी मोबाइल पोर्टल्स तथा ई-गवर्नेंस पहलों के व्यापक प्रसार ने ग्रामीण अंचलों में सूचना प्राप्ति के तौर-तरीकों को एक नया और आधुनिक आयाम प्रदान किया है।

यद्यपि डिजिटल मीडिया के इस अभूतपूर्व प्रसार ने सूचना की गति को अत्यधिक तीव्र और सुगम बनाया है, परंतु इसने समकालीन भारतीय ग्रामीण समाज के भीतर एक नई, गहरी और जटिल असमानता को भी जन्म दिया है, जिसे अकादमिक भाषा में 'डिजिटल विभाजन' कहा जाता है। वाराणसी जैसे ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और भौगोलिक दृष्टि से विशिष्ट जनपदों के ग्रामीण क्षेत्रों में आज भी एक बहुत बड़ा वर्ग ऐसा है जो तकनीकी साक्षरता की भारी कमी, खराब नेटवर्क कनेक्टिविटी या आर्थिक तंगी के कारण आधुनिक डिजिटल माध्यमों से कोसों दूर है। इसके परिणामस्वरूप, पारंपरिक माध्यमों के क्रमिक पतन और आधुनिक डिजिटल माध्यमों तक समान पहुँच न होने के कारण ग्रामीण समाज में 'सूचना की खाई' और अधिक गहरी होती जा रही है।

अध्ययन का औचित्य एवं शोध प्रश्न

वाराणसी जनपद का भौगोलिक, सांस्कृतिक और सामाजिक स्वरूप बेहद विशिष्ट, बहुआयामी और जटिल है। यह एक ऐसा ऐतिहासिक भू-भाग है जहाँ एक ओर आधुनिक शहरी संस्कृति, बाजारीकरण और तकनीकी विकास का तीव्र प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है, तो दूसरी ओर इसके ग्रामीण, अर्ध-शहरी और दूरस्थ अंचलों में पारंपरिक जीवनशैली, रूढ़िवादी सामाजिक संरचनाएँ और कृषि-प्रधान अर्थव्यवस्था आज भी पूरी तरह से जीवंत हैं।

भारत सरकार और उत्तर प्रदेश शासन द्वारा ग्रामीण जनता के जीवन स्तर को ऊपर उठाने के लिए प्रधानमंत्री आवास योजना (ग्रामीण), महात्मा गांधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी अधिनियम (मनरेगा), प्रधानमंत्री किसान सम्मान निधि, राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन और आयुष्मान भारत जैसी तमाम कल्याणकारी योजनाएँ बड़े पैमाने पर संचालित की जा रही हैं। इसके बावजूद, वाराणसी जनपद के विभिन्न विकास खंडों—जैसे आराजी लाइन, सेवापुरी, चिरईगाँव, काशी विद्यापीठ और

हरहुआ—के अंतर्गत आने वाले गाँवों में इन कल्याणकारी योजनाओं की जानकारी, पहुँच और क्रियान्वयन का स्तर एकसमान नहीं पाया जाता है।

इस अध्ययन की अकादमिक महत्ता और प्रासंगिकता मुख्य रूप से इस बात में निहित है कि क्या वाराणसी जैसे सांस्कृतिक रूप से समृद्ध और भौगोलिक रूप से मिश्रित भू-भाग में संचार माध्यम (चाहे वे पारंपरिक हों या डिजिटल) वास्तव में अपनी पूर्ण प्रभावशीलता के साथ समाज के अंतिम और वंचित व्यक्ति तक पहुँच पा रहे हैं। इस अध्ययन के व्यापक उद्देश्यों को तार्किक रूप से मूर्त रूप देने और वाराणसी जनपद की जमीनी सच्चाइयों का वैज्ञानिक आकलन करने के लिए निम्नलिखित मुख्य शोध प्रश्नों का निर्धारण किया गया है:

1. वाराणसी जनपद के ग्रामीण और अर्ध-शहरी क्षेत्रों में कल्याणकारी योजनाओं की जानकारी प्राप्त करने के मुख्य स्रोत कौन-से हैं? क्या आज भी ग्रामीण जनता पारंपरिक माध्यमों पर अधिक निर्भर है, या आधुनिक डिजिटल माध्यम उनकी सूचना प्राप्ति की पहली पसंद बन चुके हैं?
2. क्या लिंग, वर्ग, जाति और आयु के आधार पर ग्रामीण परिवारों के भीतर सूचना तक पहुँच में कोई स्पष्ट 'डिजिटल विभाजन' मौजूद है?
3. ग्रामीण जनता और सरकारी सूचना तंत्र के बीच वे कौन-से प्रमुख प्रशासनिक और व्यावहारिक अवरोध हैं जो ग्रामीण नागरिकों को कल्याणकारी योजनाओं की समय पर सही जानकारी मिलने से रोकते हैं?
4. सूचना के इस अंतराल और डिजिटल विभाजन के परिणामस्वरूप ग्रामीण जनता को किन गंभीर सामाजिक-आर्थिक चुनौतियों का सामना करना पड़ता है और वे किस प्रकार बिचौलियों के शोषण का शिकार होते हैं?

शोध के उद्देश्य एवं प्रविधि

प्रस्तुत शोध आलेख के प्रमुख और केंद्रीय उद्देश्यों का निर्धारण वाराणसी जनपद के ग्रामीण अंचलों में कल्याणकारी योजनाओं के संप्रेषण तंत्र की जमीनी सच्चाइयों को उजागर करने के लिए किया गया है। इस अध्ययन का सबसे पहला और महत्वपूर्ण उद्देश्य वाराणसी जनपद के चुनिंदा ग्रामीण विकास ब्लॉकों में संचालित होने वाली विभिन्न केंद्रीय एवं राज्य स्तरीय कल्याणकारी योजनाओं की जानकारी ग्रामीण जनता तक पहुँचाने वाले वर्तमान संचार स्रोतों और उनकी कार्यप्रणाली का गहन अन्वेषण करना है।

इसके साथ ही, पारंपरिक जन-संचार माध्यमों तथा आधुनिक डिजिटल माध्यमों की प्रभावशीलता का तुलनात्मक मूल्यांकन करना इस शोध का दूसरा प्रमुख उद्देश्य है। अध्ययन का तीसरा महत्वपूर्ण उद्देश्य ग्रामीण स्तर पर पारंपरिक माध्यमों से डिजिटल मीडिया की ओर हो रहे संक्रमण के बीच, तकनीकी संसाधनों की असमान उपलब्धता और डिजिटल साक्षरता की कमी के कारण उत्पन्न होने वाली तकनीकी असमानता यानी 'डिजिटल विभाजन' के वास्तविक स्वरूप को गहराई से उजागर करना है।

इन उद्देश्यों को वैज्ञानिक रूप से मूर्त रूप देने के लिए इस शोध आलेख में अन्वेषनात्मक एवं वर्णनात्मक शोध प्रविधि का समेकित उपयोग किया गया है। अध्ययन के भौगोलिक और क्षेत्रीय दायरे के लिए उत्तर प्रदेश के ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और प्रशासनिक दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण वाराणसी जनपद का चयन किया गया है। वाराणसी जनपद के ग्रामीण और अर्ध-शहरी क्षेत्रों की सामाजिक-आर्थिक विविधता को व्यापक रूप से समझने के लिए यहाँ के तीन प्रमुख विकास खंडों—आराजी लाइन, सेवापुरी, और चिरईगाँव—को अध्ययन क्षेत्र के रूप में विशेष रूप से चयनित किया गया है।

शोध को प्रामाणिक बनाने के लिए प्राथमिक और द्वितीयक दोनों प्रकार के डेटा स्रोतों का समावेशन किया गया है। प्राथमिक डेटा के अंतर्गत, वाराणसी जनपद के चयनित विकास खंडों के चुनिंदा गाँवों में प्रत्यक्ष सर्वेक्षण किया गया है, जिसमें ग्रामीण नागरिकों, किसानों, महिलाओं, युवाओं और स्थानीय जनप्रतिनिधियों के साथ संरचित प्रश्नावली और प्रत्यक्ष साक्षात्कार के माध्यम से आंकड़े संकलित किए गए हैं। इसके अतिरिक्त, विभिन्न सरकारी रिपोर्ट्स, जिला सांख्यिकी पुस्तिकाओं, और प्रतिष्ठित शोध पत्रों का गहन अध्ययन कर द्वितीयक सामग्री जुटाई गई है।

विश्लेषणात्मक विवेचना: पारंपरिक बनाम आधुनिक माध्यम

वाराणसी जनपद के ग्रामीण विकास खंडों—जैसे आराजी लाइन, सेवापुरी और चिरईगाँव—के प्राथमिक सर्वेक्षण और क्षेत्र-अवलोकन से प्राप्त आंकड़ों का सूक्ष्म विश्लेषण यह स्पष्ट करता है कि ग्रामीण अंचलों में कल्याणकारी योजनाओं के संप्रेषण का वर्तमान परिदृश्य किसी एकल माध्यम पर आधारित न होकर पारंपरिक और आधुनिक संचार व्यवस्थाओं के एक जटिल मिश्रण के रूप में विद्यमान है।

वाराणसी के सुदूर ग्रामीण और अर्ध-शहरी इलाकों में आज भी दूरदर्शन, आकाशवाणी (रेडियो), स्थानीय दीवार लेखन, बैनर-पोस्टर और पारंपरिक मुनादी अथवा ग्राम पंचायत स्तर पर होने वाली घोषणाओं की जड़ें ग्रामीण समाज की सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक संरचना में बेहद गहरी हैं। ग्रामीण जनता की यह एक सर्वव्यापी मनोवैज्ञानिक और सामाजिक प्रवृत्ति देखी गई कि जब बात किसी नई सरकारी योजना की औपचारिक घोषणा, उसके कड़े नियमों, पात्रता के मानदंडों या बुनियादी प्रशासनिक निर्देशों की होती है, तो वे सोशल मीडिया प्लेटफॉर्म्स पर तैरने वाली अनधिकृत या खंडित सूचनाओं की तुलना में पारंपरिक और स्थापित सरकारी विज्ञापनों पर कहीं अधिक भरोसा करते हैं।

इसके विपरीत, वाराणसी जनपद के ग्रामीण अंचलों में आधुनिक डिजिटल माध्यमों—जैसे स्मार्टफोन, व्हाट्सएप समूहों, यूट्यूब, फेसबुक और विभिन्न सरकारी मोबाइल पोर्टल्स—का उभार एक तीव्र और क्रांतिकारी परिवर्तन के रूप में सामने आया है। सर्वेक्षण के दौरान यह तथ्य प्रमुखता से रेखांकित किया गया कि विशेष रूप से युवा वर्ग, छात्र, और शिक्षित ग्रामीण परिवारों के बीच सूचना प्राप्ति के प्राथमिक स्रोत के रूप में आधुनिक डिजिटल माध्यमों ने अपनी एक मजबूत जगह बना ली है। आधुनिक माध्यमों की सबसे बड़ी विशेषता उनकी तात्कालिकता और अद्यतन सूचना प्रदान करने की क्षमता है।

हालांकि, वाराणसी के ग्रामीण संदर्भ में इन आधुनिक माध्यमों की अपनी गंभीर सीमाएँ और संरचनात्मक विरोधाभास भी हैं। जहाँ एक ओर युवा और संपन्न वर्ग डिजिटल माध्यमों का पूरा लाभ उठा रहा है, वहीं सुदूर बस्तियों में रहने वाले वृद्ध, महिलाएं और आर्थिक रूप से कमजोर वर्ग इंटरनेट की गति, महंगे डेटा पैक और तकनीकी जटिलताओं के कारण इन माध्यमों से आज भी दूर हैं।

डिजिटल विभाजन के आयाम

वाराणसी जनपद के ग्रामीण और अर्ध-शहरी अंचलों में आधुनिक डिजिटल माध्यमों के प्रसार के बावजूद, कल्याणकारी योजनाओं के प्रभावी संप्रेषण के मार्ग में सबसे बड़ी और संरचनात्मक बाधा 'डिजिटल विभाजन' के रूप में सामने आती है। वाराणसी जनपद के चुनिंदा विकास खंडों के सूक्ष्म अवलोकन से इस डिजिटल विभाजन के तीन प्रमुख और परस्पर जुड़े हुए आयाम स्पष्ट रूप से उभरकर सामने आते हैं:

i. **स्मार्टफोन की पारिवारिक और लैंगिक उपलब्धता:** ग्रामीण परिवारों के भीतर स्मार्टफोन की व्यक्तिगत उपलब्धता अत्यधिक संकीर्ण और असमान है। लगभग हर परिवार में एक साधारण फोन होता है, परंतु इंटरनेट-सक्षम टच-स्क्रीन स्मार्टफोन आमतौर पर परिवार के पुरुष मुखिया या कमाने वाले युवा सदस्य के ही पास होता है। महिलाओं, गृहिणियों और वृद्धों के पास इसकी व्यक्तिगत पहुँच नगण्य होती है।

ii. **नेटवर्क कनेक्टिविटी:** गंगा नदी के कछार वाले क्षेत्रों, बाढ़ प्रभावित इलाकों और कुछ सुदूर ग्रामीण बस्तियों में आज भी मोबाइल नेटवर्क की कमज़ोर स्थिति, बार-बार कॉल ड्रॉप होना और इंटरनेट डेटा की न्यून गति गंभीर समस्या है। सर्वर डाउन होने या कमज़ोर कनेक्टिविटी के कारण ऑनलाइन आवेदन बीच में ही अटक जाते हैं।

iii. **डिजिटल साक्षरता का अभाव:** आधुनिक तकनीकी उपकरणों की भौतिक उपलब्धता से भी बड़ी समस्या यह है कि ग्रामीण जनता का एक विशाल हिस्सा डिजिटल रूप से साक्षर नहीं है। जटिल पोर्टल्स को नेविगेट करना, यूजर आईडी/पासवर्ड बनाना, अंग्रेजी भाषा के फॉर्म भरना या दस्तावेज अपलोड करना ग्रामीण जनता के लिए एक दुरूह कार्य है, जिसके कारण वे बिचौलियों पर निर्भर होने के लिए विवश होते हैं।

सामाजिक-आर्थिक प्रभाव और वंचना

वाराणसी जनपद के ग्रामीण अंचलों में सूचना प्रसार की असमानता और 'डिजिटल विभाजन' जैसी तकनीकी बाधाएँ समाज के भीतर मौजूद पारंपरिक सामाजिक-आर्थिक पदानुक्रम, जातिगत स्तरीकरण और पितृसत्तात्मक व्यवस्था से सीधे तौर पर संचालित होती हैं।

पारंपरिक ग्रामीण परिवारों में घर के पुरुष मुखिया या कमाने वाले युवा सदस्य ही बाहरी दुनिया और सूचना के मुख्य स्रोतों से जुड़े होते हैं। इसके विपरीत, महिलाओं तक सरकारी कल्याणकारी योजनाओं की सीधी और समय पर जानकारी या तो बहुत देर से पहुँचती है या पुरुषों के माध्यम से छनकर अप्रत्यक्ष रूप से आती है। महिलाओं के पास व्यक्तिगत स्मार्टफोन या सूचना के स्वतंत्र साधनों का अभाव होने के कारण वे निर्णय प्रक्रिया में हाशिए पर बनी रहती हैं।

इसके साथ ही, वाराणसी जनपद के ग्रामीण क्षेत्रों में जाति और वर्ग आधारित असमानता सूचना तंत्र की पहुँच को स्पष्ट रूप से विभाजित करती है। सवर्ण जातियों, आर्थिक रूप से संपन्न परिवारों तथा प्रभावशाली वर्गों के गाँवों में प्रशासनिक अधिकारियों का आना-जाना और योजनाओं की जानकारी सहज रूप से उपलब्ध होती है। इसके विपरीत, दलित, महादलित, मुसहर और अति पिछड़े समुदायों की बस्तियों में सूचना तंत्र की पहुँच बेहद कमजोर और उपेक्षित पाई गई है।

सूचना के इस गंभीर अभाव, डिजिटल साक्षरता की कमी और सामाजिक असमानता का सबसे घातक परिणाम ग्रामीण विकास योजनाओं के वास्तविक क्रियान्वयन पर पड़ता है। वाराणसी जनपद में सर्वेक्षण के दौरान कई ऐसे मामले सामने आए जहाँ पात्र ग्रामीण—प्रधानमंत्री आवास योजना, मनरेगा, और किसान सम्मान निधि जैसी योजनाओं के हकदार होने के बावजूद—केवल इसलिए उनके लाभ से वंचित रह गए क्योंकि उन्हें निर्धारित समय-सीमा, ऑनलाइन आवेदन प्रक्रिया या पात्रता के मानदंडों की समय पर सही जानकारी नहीं मिल पाई। इस रिक्त स्थान ने स्थानीय स्तर पर सक्रिय बिचौलियों, साइबर कैफे संचालकों और भ्रष्ट एजेंटों के चंगुल को जन्म दिया है, जो ग्रामीणों की अज्ञानता का फायदा उठाकर अवैध कमीशन वसूलते हैं।

निष्कर्ष

वाराणसी जनपद के ग्रामीण और अर्ध-शहरी विकास खंडों—विशेष रूप से आराजी लाइन, सेवापुरी और चिरईगाँव—में कल्याणकारी योजनाओं की सूचना तक पहुँच, जन-संचार माध्यमों की प्रभावशीलता तथा डिजिटल विभाजन की स्थिति का यह अध्ययन कई महत्वपूर्ण निष्कर्षों को उजागर करता है। समकालीन वाराणसी जनपद के ग्रामीण अंचलों में सूचना का संप्रेषण किसी एकल प्रणाली पर आधारित न होकर एक संक्रमणकालीन संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता है। एक ओर जहाँ डिजिटल माध्यमों की स्वीकार्यता बढ़ी है, वहीं सुदूर बस्तियों, वृद्धों और पारंपरिक किसानों के बीच दूरदर्शन, आकाशवाणी, दीवार लेखन और स्थानीय मुनादी जैसे पारंपरिक माध्यम आज भी सबसे अधिक सहज और विश्वसनीय स्रोत बने हुए हैं।

इसके अतिरिक्त, अध्ययन इस बात की पुष्टि करता है कि आधुनिक तकनीक के प्रसार के बावजूद, स्मार्टफोन की लैंगिक उपलब्धता की असमानता, नेटवर्क कनेक्टिविटी की समस्या और डिजिटल साक्षरता के व्यापक अभाव ने ग्रामीण विकास की राह में 'डिजिटल विभाजन' की गहरी खाई पैदा कर दी है। यह डिजिटल विभाजन मौजूदा सामाजिक-आर्थिक पदानुक्रम और पितृसत्तात्मक संरचनाओं से संचालित होता है। अंततः, यह शोध इस यथार्थ को स्थापित करता है कि 'सूचना के गंभीर अभाव' और 'डिजिटल अंतराल' के कारण पात्र ग्रामीण कल्याणकारी योजनाओं के लाभ से वंचित हो रहे हैं और बिचौलियों के आर्थिक शोषण का शिकार बन रहे हैं।

सुझाव एवं संस्तुतियाँ

वाराणसी जनपद के ग्रामीण अंचलों की जमीनी वास्तविकताओं के आधार पर, कल्याणकारी योजनाओं के संप्रेषण तंत्र को अधिक सुदृढ़, पारदर्शी और समावेशी बनाने के लिए निम्नलिखित व्यावहारिक सुझाव प्रस्तुत किए जाते हैं:

i. **पारंपरिक और आधुनिक माध्यमों का समन्वय:** प्रशासन को एकीकृत संचार रणनीति अपनाकर आधुनिक डिजिटल विज्ञापनों के साथ-साथ पारंपरिक साधनों (जैसे स्थानीय मुनादी, दीवार लेखन, बैनर और नुक्कड़ नाटक) को भी पुनर्जीवित करना चाहिए ताकि हर वर्ग तक सूचना बिना किसी बाधा के पहुँच सके।

ii. **ग्राम पंचायत स्तर पर सूचना एवं सहायता हेल्पडेस्क:** प्रत्येक ग्राम पंचायत सचिवालय या पंचायत भवन में एक समर्पित हेल्पडेस्क स्थापित किया जाना चाहिए, जहाँ एक प्रशिक्षित पंचायत सहायक या तकनीकी कर्मी नियुक्त हो, जो ग्रामीणों को योजनाओं की जानकारी देने और ऑनलाइन आवेदन भरने में प्रत्यक्ष सहायता कर सके।

iii. **कम्युनिटी रेडियो और क्षेत्रीय प्रसारण:** स्थानीय आकाशवाणी केंद्रों और कम्युनिटी रेडियो के माध्यम से क्षेत्रीय भाषा, विशेषकर भोजपुरी और स्थानीय बोलियों में कल्याणकारी योजनाओं और आवेदन की अंतिम तिथियों के विशेष कार्यक्रमों का नियमित प्रसारण किया जाए।

iv. **व्यापक डिजिटल साक्षरता अभियान:** विशेष रूप से ग्रामीण महिलाओं, वृद्धों, और समाज के हाशिए पर मौजूद वर्गों के बीच बुनियादी डिजिटल कौशल विकसित करने के लिए विशेष और लक्षित साक्षरता शिविर आयोजित किए जाने चाहिए।

v. **सरकारी पोर्टल्स और मोबाइल ऐप्स का सरलीकरण:** सभी डिजिटल पोर्टल्स और मोबाइल ऐप्स की तकनीकी जटिलता को दूर करते हुए उन्हें पूरी तरह से उपयोगकर्ता-अनुकूल, सरल और अनिवार्य रूप से स्थानीय हिंदी भाषा में विकसित किया जाना चाहिए ताकि एक सामान्य व्यक्ति भी आसानी से फॉर्म भर सके।

संदर्भ:

सिंह, ए. के. (2020). *ग्रामीण समाजशास्त्र और विकास*. नई दिल्ली: वीनस पब्लिशिंग हाउस.

वर्मा, आर. पी. (2018). *भारत में संचार माध्यम और जनसंपर्क*. जयपुर: रावत पब्लिकेशन्स.

कुमार, एम. (2019). *ग्रामीण विकास: प्रशासन और योजना*. नई दिल्ली: सेज पब्लिशिंग्स.

मिश्रा, एस. एन. (2021). *डिजिटल विभाजन और ग्रामीण भारत: चुनौतियाँ और अवसर*. वाराणसी: विश्वविद्यालय प्रकाशन.

तिवारी, सुरेश. (2020). *समकालीन भारतीय समाज और सूचना तंत्र*. पटना: बूक कॉर्पोरेशन.

शर्मा, पी., एवं गुप्ता, आर. (2019). *ग्रामीण भारत में डिजिटल विभाजन और ई-गवर्नेंस*. नई दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

सिंह, वी. (2022). *विकासशील समाजों में संचार माध्यम और सामाजिक परिवर्तन*. मुंबई: हिमालय पब्लिशिंग हाउस.

तिवारी, सुरेश. (2022). ग्रामीण कल्याणकारी योजनाएँ और सूचना प्रसार की भूमिका. *भारतीय समाज विज्ञान पत्रिका, 45*(2), 112-128.

शर्मा, पी., एवं गुप्ता, आर. (2021). ग्रामीण उत्तर प्रदेश में मनरेगा के क्रियान्वयन पर डिजिटल मीडिया का प्रभाव. *ग्रामीण विकास अध्ययन जर्नल, 38*(4), 45-60.

सिंह, वी. (2023). डिजिटल विभाजन को पाटना: अर्ध-शहरी और ग्रामीण जिलों में सूचना तक पहुँच का आकलन. *सोशियोलॉजिकल बुलेटिन, 72*(1), 89-104.

Received: 07.12.2025 | Accepted: 25.12.2025 | Published: 30.12.2025

बालकों के व्यक्तित्व विकास में ललित कला की भूमिका

डॉ. कविता गंगबोईर
असोसिएट प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष,
डिपार्टमेंट ऑफ़ परफार्मिंग फोक एंड फाइन आर्ट
डॉ. सी. वी. रमन यूनिवर्सिटी, करगी रोड, कोटा, बिलासपुर, छ.ग.

सारांश

बाल्यावस्था मानव जीवन की वह महत्वपूर्ण अवस्था है जिसमें बालक के व्यक्तित्व का निर्माण तीव्र गति से होता है। इस अवस्था में बालक जिस प्रकार के अनुभव प्राप्त करता है, जिस वातावरण में रहता है तथा जिन गतिविधियों में भाग लेता है, उनका उसके व्यक्तित्व पर गहरा प्रभाव पड़ता है। शिक्षा का उद्देश्य केवल बालक को पुस्तकीय ज्ञान प्रदान करना नहीं, बल्कि उसके व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों—बौद्धिक, भावात्मक, सामाजिक, नैतिक, सृजनात्मक एवं सौंदर्यात्मक—का समुचित विकास करना है। इस दृष्टि से ललित कला बालकों के व्यक्तित्व विकास का एक प्रभावी माध्यम है।

चित्रकला, मूर्तिकला, संगीत, नृत्य, नाट्य एवं अन्य कलात्मक गतिविधियाँ बालकों को अपनी कल्पना, भावनाओं और विचारों को स्वतंत्र रूप से व्यक्त करने का अवसर प्रदान करती हैं। इन गतिविधियों के माध्यम से बालकों में सृजनात्मकता, आत्मविश्वास, संवेदनशीलता, सौंदर्यबोध, धैर्य, अनुशासन, सहयोग तथा सामाजिक व्यवहार जैसे गुणों का विकास किया जा सकता है। प्रस्तुत आलेख में बालकों के व्यक्तित्व विकास में ललित कला की भूमिका, इसके विभिन्न आयामों तथा शैक्षिक महत्व का विस्तार से विवेचन किया गया है।

प्रमुख शब्द:

बालक, व्यक्तित्व विकास, ललित कला, सृजनात्मकता, आत्मविश्वास, भावात्मक विकास, सौंदर्यबोध, सामाजिक विकास।

प्रस्तावना

बालक राष्ट्र और समाज का भविष्य होता है। बाल्यावस्था में प्राप्त अनुभव उसके व्यवहार, सोच, भावनाओं और सामाजिक दृष्टिकोण को प्रभावित करते हैं। इसलिए बालक के विकास को केवल शैक्षणिक उपलब्धियों तक सीमित रखना उचित नहीं है। उसके व्यक्तित्व के प्रत्येक पक्ष का संतुलित विकास आवश्यक है।

परंपरागत शिक्षा व्यवस्था में प्रायः बालकों के बौद्धिक विकास पर अधिक ध्यान दिया जाता रहा है, जबकि उनकी भावनात्मक, सामाजिक और सृजनात्मक क्षमताओं को पर्याप्त अवसर नहीं मिल पाता। ऐसी स्थिति में ललित कला बालकों को अपनी आंतरिक क्षमताओं को व्यक्त करने का स्वाभाविक माध्यम प्रदान करती है।

बालक जब रंगों से चित्र बनाता है, संगीत सुनता या सीखता है, नृत्य करता है, मूर्ति बनाता है अथवा किसी नाटकीय गतिविधि में भाग लेता है, तब वह केवल कला का अभ्यास नहीं कर रहा होता, बल्कि उसके भीतर अनेक व्यक्तित्वगत क्षमताएँ विकसित हो रही होती हैं। वह निर्णय लेना, कल्पना करना, अपनी बात व्यक्त करना, दूसरों के साथ कार्य करना तथा अपने कार्य को पूरा करना सीखता है।

इस प्रकार ललित कला को केवल मनोरंजन या सह-पाठ्यक्रम गतिविधि मानना पर्याप्त नहीं है। यह बालक के व्यक्तित्व निर्माण की प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाला शैक्षिक माध्यम है।

ललित कला का अर्थ एवं स्वरूप

ललित कला से आशय ऐसी कलात्मक अभिव्यक्तियों से है जिनमें सौंदर्य, भाव और सृजनात्मकता को विशेष महत्व प्राप्त होता है। चित्रकला, मूर्तिकला, संगीत, नृत्य तथा नाट्य जैसी कलाएँ व्यक्ति को अपने विचारों और भावनाओं को कलात्मक रूप में अभिव्यक्त करने का अवसर देती हैं।

बालकों के संदर्भ में ललित कला का महत्व इसलिए अधिक है क्योंकि बालक हमेशा अपनी भावनाओं और विचारों को शब्दों के माध्यम से व्यक्त नहीं कर पाता। कई बार वह अपने मन की बात चित्र, रंग, संगीत, अभिनय या अन्य रचनात्मक गतिविधियों के माध्यम से अधिक सहजता से व्यक्त करता है।

व्यक्तित्व विकास का अर्थ

व्यक्तित्व व्यक्ति के व्यवहार, विचार, भावनाओं, आदतों, दृष्टिकोण, रुचियों और सामाजिक व्यवहार का समग्र रूप है। बालक का व्यक्तित्व केवल उसकी बौद्धिक क्षमता से निर्धारित नहीं होता, बल्कि उसके भावनात्मक, सामाजिक, नैतिक, शारीरिक और सृजनात्मक गुण भी उसके व्यक्तित्व का महत्वपूर्ण हिस्सा होते हैं।

अतः बालक के व्यक्तित्व विकास का अर्थ उसके भीतर ऐसे गुणों का विकास करना है, जिससे वह आत्मविश्वासी, संवेदनशील, रचनात्मक, जिम्मेदार, सहयोगी और संतुलित व्यक्ति के रूप में विकसित हो सके।

बालकों के व्यक्तित्व विकास में ललित कला की भूमिका

1. **सृजनात्मकता का विकास :** ललित कला बालकों में सृजनात्मक क्षमता विकसित करने का प्रभावी माध्यम है। जब बालक किसी विषय पर चित्र बनाता है या रंगों का चयन करता है, तो उसे अपनी कल्पना के आधार पर निर्णय लेने का अवसर मिलता है।

उदाहरण के लिए, यदि बालक को "मेरा विद्यालय" विषय पर चित्र बनाने के लिए कहा जाए, तो प्रत्येक बालक अपने अनुभव और कल्पना के आधार पर अलग चित्र बनाएगा। इससे उसकी मौलिक सोच और सृजनात्मक अभिव्यक्ति को अवसर मिलता है।

2. आत्मविश्वास का विकास : कला गतिविधियों में बालक को अपनी प्रतिभा प्रदर्शित करने का अवसर मिलता है। जब उसके द्वारा बनाए गए चित्र, प्रस्तुत किए गए नृत्य या संगीत को सराहना मिलती है, तो उसके अंदर अपनी क्षमताओं के प्रति विश्वास उत्पन्न होता है। विशेष रूप से ऐसे बालक जो सामान्य कक्षा-गतिविधियों में कम बोलते हैं, वे कला के माध्यम से अपनी प्रतिभा व्यक्त कर सकते हैं। इससे उनके आत्मविश्वास को बढ़ावा मिल सकता है।

3. भावात्मक विकास : बालक के मन में अनेक प्रकार की भावनाएँ होती हैं, लेकिन वह हमेशा उन्हें शब्दों में व्यक्त नहीं कर पाता। कला उसे भावनात्मक अभिव्यक्ति का सहज माध्यम प्रदान करती है। चित्रकला, संगीत और नृत्य के माध्यम से बालक खुशी, दुख, उत्साह, कल्पना तथा अन्य भावनाओं को व्यक्त कर सकता है। इस प्रकार कला बालक के भावात्मक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

4. कल्पनाशक्ति का विकास : बाल्यावस्था कल्पनाशक्ति के विकास की महत्वपूर्ण अवस्था है। ललित कला बालक को कल्पना करने और उस कल्पना को वास्तविक रूप देने का अवसर देती है। जब बालक किसी काल्पनिक दृश्य का चित्र बनाता है या कहानी के पात्र का अभिनय करता है, तो वह अपने मन में नई परिस्थितियों और विचारों का निर्माण करता है। इससे उसकी कल्पनाशक्ति का विस्तार होता है।

5. सौंदर्यबोध का विकास : ललित कला बालकों में सुंदरता और कलात्मकता को पहचानने की क्षमता विकसित करती है। रंगों का संयोजन, आकृतियों का संतुलन, संगीत की लय और नृत्य की मुद्राएँ बालक के सौंदर्यबोध को विकसित करती हैं। सौंदर्यबोध केवल कला तक सीमित नहीं रहता, बल्कि बालक के दैनिक जीवन में भी स्वच्छता, व्यवस्था और सुंदर वातावरण के प्रति रुचि उत्पन्न कर सकता है।

6. **सामाजिक विकास :** कई कला गतिविधियाँ सामूहिक रूप से की जाती हैं। समूह नृत्य, सामूहिक गायन, नाटक तथा कला प्रदर्शनियों जैसी गतिविधियों में बालक को अन्य बच्चों के साथ मिलकर कार्य करना पड़ता है।

इससे बालक में सहयोग, सहभागिता, अनुशासन, नेतृत्व और दूसरों के विचारों का सम्मान करने जैसी सामाजिक क्षमताओं का विकास होता है।

7. संप्रेषण कौशल का विकास : कला बालकों को अपने विचारों और भावनाओं को व्यक्त करना सिखाती है। नाटक और अभिनय में संवाद बोलना, संगीत में भाव व्यक्त करना तथा चित्रकला में विचारों को दृश्य रूप देना संप्रेषण की विभिन्न विधियाँ हैं। इस प्रकार कला गतिविधियाँ बालक के मौखिक और गैर-मौखिक संप्रेषण कौशल को विकसित करने में सहायक हो सकती हैं।

8. धैर्य एवं एकाग्रता का विकास : किसी चित्र को पूरा करना, मूर्ति बनाना, संगीत का अभ्यास करना या नृत्य की प्रस्तुति तैयार करना निरंतर अभ्यास और धैर्य की मांग करता है। जब बालक किसी कलात्मक कार्य को पूरा करने का प्रयास करता है, तो उसमें एकाग्रता और धैर्य विकसित होता है। वह यह सीखता है कि किसी कार्य को सफलतापूर्वक पूरा करने के लिए निरंतर प्रयास आवश्यक है।

9. अनुशासन का विकास : कला गतिविधियों में भी नियम और अनुशासन का महत्व होता है। संगीत सीखने के लिए नियमित अभ्यास, नृत्य के लिए निर्धारित लय एवं क्रम और नाटक के लिए समय पर संवाद तथा मंच व्यवस्था का पालन आवश्यक होता है। इस प्रकार कला बालकों को अनुशासन के महत्व को व्यावहारिक रूप से समझने का अवसर देती है।

10. निर्णय लेने की क्षमता : कला गतिविधियों में बालक को अनेक छोटे-छोटे निर्णय लेने पड़ते हैं। जैसे—कौन-सा रंग प्रयोग करना है, चित्र में कौन-सी आकृति कहाँ बनानी है या किसी अभिनय में किस प्रकार की अभिव्यक्ति देनी है।

इन गतिविधियों के माध्यम से बालक में स्वतंत्र रूप से सोचने और निर्णय लेने की क्षमता विकसित हो सकती है।

विभिन्न ललित कलाओं की व्यक्तित्व विकास में भूमिका

चित्रकला : चित्रकला बालकों की कल्पनाशक्ति, सृजनात्मकता, सौंदर्यबोध और अभिव्यक्ति क्षमता को विकसित करने का अवसर देती है।

संगीत : संगीत बालकों में लय, एकाग्रता, अनुशासन और भावात्मक अभिव्यक्ति के विकास में सहायक हो सकता है।

नृत्य : नृत्य के माध्यम से बालक शारीरिक अभिव्यक्ति, आत्मविश्वास, अनुशासन और सामूहिक सहभागिता सीखता है।

मूर्तिकला : मूर्तिकला में बालक अपने हाथों से आकृतियों का निर्माण करता है। इससे उसकी कल्पना, धैर्य, सूक्ष्म निरीक्षण तथा रचनात्मकता को अवसर मिलता है।

नाट्यकला : नाटक बालकों को संवाद, अभिनय, भावाभिव्यक्ति और सामूहिक कार्य का अवसर देता है। इससे संप्रेषण कौशल तथा सामाजिक व्यवहार का विकास हो सकता है।

विद्यालय में ललित कला की भूमिका

विद्यालय बालक के व्यक्तित्व विकास का महत्वपूर्ण केंद्र है। इसलिए विद्यालय में ललित कला को केवल वार्षिक कार्यक्रमों तक सीमित न रखकर नियमित शैक्षिक गतिविधियों से जोड़ना उपयोगी होगा। विद्यालय में चित्रकला प्रतियोगिता, कला प्रदर्शनी, संगीत, नृत्य, नाटक, हस्तकला तथा स्थानीय कला पर आधारित गतिविधियों का आयोजन किया जा सकता है। विभिन्न विषयों के शिक्षण में भी कला का समन्वय किया जा सकता है।

उदाहरण के लिए इतिहास के किसी पाठ को चित्रों या नाटक के माध्यम से समझाया जा सकता है तथा पर्यावरण संबंधी विषयों पर पोस्टर या चित्र बनवाए जा सकते हैं। इस प्रकार कला सीखने को अधिक अनुभवात्मक और रुचिकर बनाने में सहायक हो सकती है।

शिक्षक की भूमिका

ललित कला के माध्यम से व्यक्तित्व विकास को प्रभावी बनाने में शिक्षक की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है। शिक्षक को बालकों को अपनी कल्पना और विचारों को स्वतंत्र रूप से व्यक्त करने का अवसर देना चाहिए। शिक्षक को प्रत्येक बालक की कला की तुलना दूसरे बालक से करने के बजाय उसके प्रयास और मौलिकता को महत्व देना चाहिए। बालक के कार्य की सकारात्मक प्रशंसा और उचित मार्गदर्शन उसके आत्मविश्वास को बढ़ाने में सहायक हो सकता है।

शिक्षक को यह भी ध्यान रखना चाहिए कि प्रत्येक बालक की रुचि और कलात्मक क्षमता अलग-अलग होती है। इसलिए कला गतिविधियों में सभी बालकों को समान अवसर प्रदान करना आवश्यक है।

अभिभावकों की भूमिका

बालक के व्यक्तित्व विकास में परिवार की भूमिका भी महत्वपूर्ण होती है। अभिभावकों को बालक की कलात्मक रुचियों को समझना और उन्हें प्रोत्साहित करना चाहिए। यदि बालक चित्र बनाना, संगीत सीखना, नृत्य करना या किसी अन्य कला में रुचि रखता है, तो उसे केवल परीक्षा और अंकों के आधार पर हतोत्साहित नहीं किया जाना चाहिए। परिवार में ऐसा वातावरण होना चाहिए जहाँ बालक बिना भय के अपनी रचनात्मकता व्यक्त कर सके।

ललित कला के समक्ष प्रमुख चुनौतियाँ

शिक्षा में ललित कला के महत्व के बावजूद इसके प्रभावी प्रयोग में कुछ चुनौतियाँ दिखाई देती हैं। विद्यालयों में कला के लिए पर्याप्त समय और संसाधनों की कमी, प्रशिक्षित शिक्षकों का अभाव तथा कला को केवल मनोरंजन की गतिविधि समझना प्रमुख चुनौतियों में शामिल हैं।

इसके अतिरिक्त कई बार अभिभावक और विद्यालय केवल परीक्षा परिणाम को अधिक महत्व देते हैं। ऐसी स्थिति में कला गतिविधियों के लिए पर्याप्त अवसर नहीं मिल पाते। इसलिए शिक्षा व्यवस्था में कला के महत्व को समझना और उसे उचित स्थान देना आवश्यक है।

सुझाव

i. विद्यालयों में ललित कला के लिए नियमित समय निर्धारित किया जाना चाहिए।
ii. बालकों को विभिन्न प्रकार की कला गतिविधियों में भाग लेने के अवसर दिए जाने चाहिए।
iii. कला शिक्षा के लिए आवश्यक सामग्री एवं संसाधन उपलब्ध कराए जाने चाहिए।
iv. शिक्षकों को कला-आधारित शिक्षण के लिए आवश्यक प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए।
v. बालकों की कलात्मक प्रतिभा का मूल्यांकन केवल प्रतियोगिता या पुरस्कार के आधार पर नहीं किया जाना चाहिए।
vi. बालकों की मौलिकता और प्रयास को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।
vii. स्थानीय एवं लोक कलाओं को विद्यालयी गतिविधियों से जोड़ा जाना चाहिए।
viii. अभिभावकों को बालकों की रचनात्मक रुचियों को प्रोत्साहित करने के लिए जागरूक किया जाना चाहिए।
ix. विभिन्न शैक्षणिक विषयों के साथ कला का समन्वय किया जाना चाहिए।
x. प्रत्येक बालक को बिना भेदभाव के कला गतिविधियों में भाग लेने का अवसर दिया जाना चाहिए।

निष्कर्ष

बालक के व्यक्तित्व का विकास एक बहुआयामी प्रक्रिया है। केवल पुस्तकीय ज्ञान प्राप्त कर लेने से बालक का पूर्ण व्यक्तित्व विकसित नहीं हो सकता। उसके भीतर सृजनात्मकता, आत्मविश्वास, संवेदनशीलता, सामाजिकता, अनुशासन, सौंदर्यबोध और अभिव्यक्ति जैसे गुणों का विकास भी आवश्यक है।

ललित कला इन सभी क्षेत्रों में बालकों को विकास के अवसर प्रदान कर सकती है। चित्रकला बालक को कल्पना और अभिव्यक्ति का अवसर देती है, संगीत भावनात्मक एवं एकाग्रता संबंधी विकास में सहायक हो सकता है, नृत्य आत्मविश्वास और शारीरिक अभिव्यक्ति को अवसर देता है तथा नाट्यकला संप्रेषण एवं सामाजिक सहभागिता को बढ़ावा देती है।

अतः ललित कला को शिक्षा का केवल मनोरंजक या अतिरिक्त पक्ष न मानकर बालक के समग्र व्यक्तित्व विकास के महत्वपूर्ण माध्यम के रूप में देखा जाना चाहिए। विद्यालय, शिक्षक और परिवार यदि मिलकर बालकों को पर्याप्त कलात्मक अवसर प्रदान करें, तो उनकी रचनात्मक क्षमताओं को विकसित करने के साथ-साथ उनके व्यक्तित्व को अधिक संतुलित और समृद्ध बनाने में सहायता मिल सकती है।

संदर्भ :

अग्रवाल, जे. सी. — शैक्षिक मनोविज्ञान. नई दिल्ली: विकास पब्लिशिंग हाउस.

भाटिया, के. के. एवं नारंग, सी. एल. — शिक्षा के सिद्धांत एवं व्यवहार. लुधियाना: प्रकाशन.

शर्मा, आर. ए. — शिक्षा के दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय आधार. आगरा: विनोद पुस्तक मंदिर.

माथुर, एस. एस. — शिक्षा के मनोवैज्ञानिक आधार. आगरा: अग्रवाल पब्लिकेशन.

सक्सेना, एन. आर. स्वरूप — शिक्षा मनोविज्ञान. मेरठ: आर. लाल बुक डिपो.

NCERT — कला शिक्षा : माध्यमिक स्तर के लिए पाठ्यचर्या एवं मार्गदर्शिका. नई दिल्ली: राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद.

NCERT — राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा (NCF). नई दिल्ली: राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद.

UNESCO — Arts Education and Cultural Development से संबंधित शैक्षिक दस्तावेज एवं प्रकाशन.

Received: 08.12.2025 | Accepted: 25.12.2025 | Published: 30.12.2025

बौद्ध संघ की संगठनात्मक व्यवस्था और प्राचीन भारतीय राजनीतिक संस्थाओं का तुलनात्मक अध्ययन

अजय कुमार*
ajaykumar80442@gmail.com

सारांश (Abstract)

*प्रस्तुत शोध पत्र छठी शताब्दी ई. पू. में स्थापित बौद्ध भिक्षु-संघ की संगठनात्मक एवं प्रशासनिक व्यवस्था का प्राचीन भारतीय राजतंत्रीय तथा गणतंत्रीय संस्थाओं के साथ तुलनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। अध्ययन का केंद्रीय प्रश्न यह है कि बौद्ध संघ की आंतरिक कार्यविधि किस सीमा तक समकालीन गण-संघीय राजनीतिक परंपरा से प्रभावित थी और किन बिंदुओं पर उसने मौलिक संस्थागत नवाचार किया। विश्लेषण पालि विनयपिटक (महावग्ग एवं चुल्लवग्ग) तथा सुत्तपिटक (दीघनिकाय, मज्झिमनिकाय, अङ्गुत्तरनिकाय) के मूल-पाठ, संस्कृत धर्मशास्त्रीय एवं राजनीतिशास्त्रीय ग्रंथों (कौटिल्य-अर्थशास्त्र का "संघवृत्त" अधिकरण, मनुस्मृति, नारदस्मृति, महाभारत-शान्तिपर्व) तथा हिंदी एवं अंग्रेज़ी के आधुनिक शोध-साहित्य पर आधारित है। प्रमुख निष्कर्ष यह है कि संघ ने लिच्छवि-वज्जि गण-परंपरा से गणपूरक (कोरम), ञत्ति (प्रस्ताव), अनुस्सावन (उद्घोषणा), छन्द-दान (मत-प्रदान), सलाक-गाहापक (मत-संग्राहक) एवं उब्बाहिका (प्रवर-समिति) जैसी प्रक्रियात्मक विधियाँ ग्रहण कीं, किंतु तीन क्षेत्रों में उससे आगे बढ़कर मौलिक नवाचार किया — (क) जन्म-आधारित कुलीनता के स्थान पर **वस्स-ज्येष्ठता** (दीक्षा-वरिष्ठता) का समतावादी आधार, (ख) व्यक्ति-केंद्रित संप्रभुता के स्थान पर **धम्म-विनय** की विधि-सर्वोच्चता, तथा (ग) दण्ड-आधारित बाध्यता के स्थान पर **स्वीकारोक्ति-आधारित** अनुशासनात्मक प्रक्रिया। शोध यह स्थापित करता है कि संघ एक आध्यात्मिक समुदाय होते हुए भी प्राचीन विश्व का सर्वाधिक परिष्कृत संवैधानिक-प्रक्रियात्मक संगठन था, जिसकी विधियाँ राजनीतिक गणतंत्रों के विलुप्त होने के पश्चात् भी द्वि-सहस्राब्दी तक सजीव रहीं।*

कूटशब्द (Keywords):

बौद्ध संघ, विनयपिटक, संघकम्म, यभुय्यसिका, गणतंत्र, राजतंत्र, अर्थशास्त्र, श्रेणि-धर्म, संस्थागत इतिहास

प्रस्तावना (Introduction)

भारतीय संस्थागत इतिहास में बौद्ध भिक्षु-संघ का स्थान असाधारण है। यह न केवल विश्व का प्राचीनतम सतत कार्यरत संगठित समुदाय है, अपितु ऐसा संगठन भी है जिसकी आंतरिक कार्यविधि का विस्तृत, तकनीकी एवं लिखित विवरण ढाई सहस्राब्दी पूर्व से अविच्छिन्न रूप से सुरक्षित है। *विनयपिटक* वस्तुतः धार्मिक अनुशासन-ग्रंथ होते हुए भी अपने स्वरूप में एक **प्रक्रियात्मक संविधान** (procedural constitution) है, जिसमें सदस्यता-प्रवेश, कोरम-निर्धारण, प्रस्ताव-प्रस्तुति, मतदान, विवाद-निपटारा, अपील तथा संपत्ति-प्रबंधन संबंधी विधियाँ व्यवस्थित रूप से संकलित हैं (Dutt, 1924)।

यह तथ्य विशेष महत्त्व रखता है कि संघ की स्थापना उसी भौगोलिक-सांस्कृतिक परिवेश में हुई जहाँ एक ओर मगध का केंद्रीकृत राजतंत्र सुदृढ़ हो रहा था और दूसरी ओर वज्जि-लिच्छवि का गण-संघीय गणतंत्र कार्यरत था। बुद्ध ने स्वयं वज्जियों की सभा-परंपरा को प्रशंसनीय घोषित किया और उसी प्रतिमान को संघ के लिए आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया (*दीघनिकाय*, महापरिनिब्बानसुत्त, 16.1.4-6)। अतः संघ और समकालीन राजनीतिक संस्थाओं के मध्य संरचनात्मक संवाद का अध्ययन भारतीय संस्थागत चिंतन की उत्पत्ति को समझने की दृष्टि से अनिवार्य है।

* **शोधार्थी, इतिहास विभाग, जय प्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा, बिहार**
(नेट-जे.आर.एफ. यू.जी.सी., नई दिल्ली)

शोध-समस्या

विद्यमान शोध-साहित्य में दो प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं। एक वर्ग संघ को मुख्यतः धार्मिक-आध्यात्मिक संस्था मानकर उसकी राजनीतिक-संस्थागत आयाम की उपेक्षा करता है; दूसरा वर्ग, विशेषतः राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन, संघ को प्राचीन भारतीय "लोकतंत्र" का प्रमाण-पत्र बनाकर प्रस्तुत करता है (Jayaswal, 1924)। दोनों दृष्टिकोण अपूर्ण हैं। आवश्यकता एक ऐसे स्रोत-आधारित, कोटि-निर्धारित तुलनात्मक विश्लेषण की है जो संघ की प्रक्रियात्मक विधियों की तुलना राजतंत्र एवं गणतंत्र — दोनों से करते हुए यह निर्धारित करे कि संघ ने क्या ग्रहण किया, क्या अस्वीकार किया और क्या मौलिक रूप से सृजित किया।

शोध-उद्देश्य

1) बौद्ध संघ की आंतरिक संगठनात्मक संरचना का पालि स्रोतों के आधार पर व्यवस्थित पुनर्निर्माण करना।
2) संघ की प्रशासनिक विधियों, निर्णय-प्रक्रिया एवं विवाद-निपटारा पद्धतियों का तकनीकी विश्लेषण करना।
3) इन विधियों की प्राचीन भारतीय राजतंत्रीय एवं गण-संघीय संस्थाओं से निर्धारित कोटियों पर तुलना करना।
4) समानताओं एवं अंतरों का विश्लेषण करके संघ के मौलिक संस्थागत नवाचार का निर्धारण करना।
5) संघ-व्यवस्था के दीर्घकालिक ऐतिहासिक प्रभाव एवं सांस्कृतिक महत्त्व का मूल्यांकन करना।

शोध-प्रश्न

i. संघ में संप्रभुता का स्थल क्या था और वह राजतंत्र तथा गणतंत्र से किस प्रकार भिन्न था?
ii. संघकम्म की प्रक्रियात्मक विधियाँ गण-सभा की विधियों से कहाँ तक मेल खाती हैं?
iii. संघ में सदस्यता एवं पदानुक्रम का आधार क्या था और वह तत्कालीन वर्ण-व्यवस्था से किस प्रकार विचलित था?
iv. संघ की अनुशासनात्मक पद्धति राजकीय दण्डनीति से किन मूलभूत बिंदुओं पर पृथक् थी?
v. गणतंत्रों के राजनीतिक पतन के उपरांत भी संघ-विधियाँ क्यों और कैसे सुरक्षित रहीं?

शोध-पद्धति (Method)

यह अध्ययन गुणात्मक, ऐतिहासिक-विश्लेषणात्मक एवं तुलनात्मक-संस्थागत पद्धति पर आधारित है। प्राथमिक स्तर पर पालि एवं संस्कृत मूल-पाठों का भाषा-शास्त्रीय पाठ-विश्लेषण (philological textual analysis) किया गया है; द्वितीयक स्तर पर हिंदी एवं अंग्रेज़ी शोध-साहित्य की समीक्षात्मक परीक्षा की गई है। तुलना हेतु छह विश्लेषणात्मक कोटियों का निर्धारण किया गया है — (i) संप्रभुता का स्थल, (ii) सदस्यता का आधार, (iii) निर्णय-प्रक्रिया, (iv) विधि का स्रोत एवं उसकी परिवर्तनीयता, (v) अनुशासन एवं दण्ड-पद्धति, तथा (vi) आर्थिक-संपत्ति व्यवस्था। यह कोटि-निर्धारण अध्ययन को वर्णनात्मक स्तर से उठाकर विश्लेषणात्मक स्तर पर प्रतिष्ठित करता है।

साहित्य-समीक्षा (Review of Literature)

इस विषय का शोध-साहित्य चार धाराओं में विभाजित किया जा सकता है।

(क) विनय-केंद्रित संस्थागत धारा। ओल्डेनबर्ग (1879) द्वारा *विनयपिटक* के संपादन से इस क्षेत्र का आधुनिक अध्ययन आरंभ हुआ। दत्त (1924) की कृति *Early Buddhist Monachism* आज भी संघ-संगठन का सर्वाधिक व्यवस्थित अध्ययन है, जिसमें उन्होंने यह महत्त्वपूर्ण स्थापना दी कि संघ प्रारंभ में परिव्राजक-समूह था और कालांतर में आवास-आधारित निगमात्मक संस्था (corporate body) में परिणत हुआ। दत्त (1962) ने परवर्ती कृति में विहार-अर्थव्यवस्था एवं संपत्ति-प्रबंधन का विश्लेषण किया। हॉर्नर (1938-1966) के विनय-अनुवाद ने तकनीकी शब्दावली के निर्वचन का आधार प्रस्तुत किया।

(ख) राष्ट्रवादी-संवैधानिक धारा। मजुमदार (1918) ने *Corporate Life in Ancient India* में संघ को श्रेणि, पूग, गण आदि निगमात्मक संस्थाओं की व्यापक परंपरा का अंग माना। जायसवाल (1924) ने संघ की कार्यविधि को गण-राज्यों की संवैधानिक परंपरा का प्रमाण बताया। अल्तेकर (1958) ने संघ-कम्म एवं संथागार-प्रक्रिया का समानांतर विवेचन किया। इस

धारा का योगदान स्रोत-संयोजन में मूल्यवान है, तथापि इसमें आधुनिक लोकतांत्रिक शब्दावली के अनैतिहासिक आरोपण की पद्धतिगत सीमा विद्यमान है।

(ग) समाजार्थिक-भौतिकवादी धारा। शर्मा (2008) ने संघ-संगठन को गंगा-घाटी के नगरीकरण, वाणिज्यिक विस्तार एवं नवोदित श्रेणि-वर्ग के सामाजिक उत्थान से संबद्ध किया। चक्रवर्ती (1987) ने *The Social Dimensions of Early Buddhism* में यह निर्धारित किया कि संघ की सदस्यता में गहपति एवं नगरीय वर्गों का आनुपातिक प्रभुत्व था, अतः वर्ण-निरपेक्षता सैद्धांतिक अधिक और व्यावहारिक अल्प थी — यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण संशोधनात्मक स्थापना है। वागले (1966) ने बुद्धकालीन सामाजिक संरचना का मात्रात्मक विश्लेषण प्रस्तुत किया। थापर (1984) ने कुल-आधारित समाज से राज्य-आधारित समाज के संक्रमण में संघ की भूमिका को रेखांकित किया।

(घ) हिंदी शोध-परंपरा। कोसम्बी (1956) एवं सांकृत्यायन (1952) ने पालि साक्ष्यों को हिंदी शोध-विमर्श में प्रतिष्ठित किया। पाण्डे (1957) ने *बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास* में संघ के संस्थागत विकास का कालक्रमिक विश्लेषण किया। उपाध्याय (1961) ने भौगोलिक-राजनीतिक संदर्भ का मानचित्रण किया। कश्यप (1960) के संपादित नालन्दा संस्करणों ने मूल-पाठ की सुलभता सुनिश्चित की।

शोध-अंतराल (Research Gap):-

समीक्षा से स्पष्ट है कि संघ-संगठन एवं राजनीतिक संस्थाएँ — दोनों पर पृथक्-पृथक् पर्याप्त कार्य हुआ है, किंतु निर्धारित विश्लेषणात्मक कोटियों पर आधारित व्यवस्थित, त्रि-स्तरीय (संघ-गणतंत्र-राजतंत्र) तुलनात्मक अध्ययन अब तक उपेक्षित रहा है। प्रस्तुत शोध इसी अंतराल की पूर्ति का प्रयास है।

अवधारणात्मक ढाँचा: "संघ" की द्वि-अर्थता

"संघ" पद प्राचीन भारतीय शब्दावली में एक साथ राजनीतिक और धार्मिक — दोनों अर्थों में प्रयुक्त हुआ, और यह द्वि-अर्थता स्वयं में इस शोध की केंद्रीय प्रमाण-सामग्री है। कौटिल्य ने *अर्थशास्त्र* के एकादश अधिकरण में "संघ" का प्रयोग स्पष्टतः राजनीतिक गण-निकायों के लिए किया है और उन्हें दो कोटियों में विभाजित किया है — *"राजशब्दोपजीविनः" तथा "वार्ताशस्त्रोपजीविनः" (कौटिल्य-अर्थशास्त्र, 11.1.4-5)*

प्रथम कोटि में लिच्छविक, वृज्जिक, मल्लक एवं मद्रक जैसे वे संघ हैं जिनके सदस्य "राजा" उपाधि धारण करते थे; द्वितीय कोटि में कांभोज एवं सुराष्ट्र जैसे कृषि-शस्त्रजीवी संघ। कौटिल्य की यह स्वीकारोक्ति उल्लेखनीय है — *"संघलाभो दण्डमित्रलाभानाम् उत्तमः" (कौटिल्य-अर्थशास्त्र, 11.1.1)*

अर्थात् संघ को अपने पक्ष में करना सेना अथवा मित्र की प्राप्ति से श्रेष्ठ है। यह सिद्ध करता है कि साम्राज्यवादी राजनीतिशास्त्र की दृष्टि में भी संघ-निकाय सामर्थ्यवान राजनीतिक इकाइयाँ थीं (Majumdar, 1918)।

धर्मशास्त्रीय परंपरा ने भी निगमात्मक निकायों की स्वायत्त विधि-निर्माण क्षमता को स्वीकार किया। *मनुस्मृति* में श्रेणि, जाति एवं जनपद के अपने धर्म (स्वायत्त नियम) की वैधता स्वीकृत है (*मनुस्मृति*, 8.41)। *नारदस्मृति* में "समय" (निगमात्मक अनुबंध) को न्यायालय द्वारा प्रवर्तनीय माना गया तथा "समयस्यानपाकर्म" — संगठनात्मक अनुबंध के उल्लंघन — को पृथक् विवाद-कोटि के रूप में निर्धारित किया गया। *याज्ञवल्क्यस्मृति* में श्रेणि-धर्म की मान्यता है और *गौतमधर्मसूत्र* में गण-निर्णय की वैधता स्वीकृत है। इस प्रकार बौद्ध संघ किसी निर्वात में उत्पन्न नहीं हुआ, अपितु निगमात्मक स्वायत्तता की एक सुप्रतिष्ठित भारतीय परंपरा का सर्वाधिक परिष्कृत विकास था (Majumdar, 1918; शर्मा, 2008)।

इसके विपरीत *मनुस्मृति* में राजा की उत्पत्ति दैवी संकल्प से बताई गई है और दण्ड को समस्त प्रजा का शासक घोषित किया गया है (*मनुस्मृति*, 7.3-7.18)। *महाभारत* के शान्तिपर्व में भीष्म ने मात्स्यन्याय के निवारण हेतु राजसत्ता की अनिवार्यता सिद्ध की। उल्लेखनीय है कि पालि साहित्य राज्योत्पत्ति की पूर्णतः भिन्न, अनुबंधात्मक व्याख्या प्रस्तुत करता है — *अग्गञ्ञसुत्त* में वर्णित "महासम्मत" की संकल्पना, जिसके अनुसार प्रथम राजा जन-समुदाय द्वारा सम्मत (निर्वाचित) था और कर उसकी सेवा का प्रतिदान था (*दीघनिकाय*, अग्गञ्ञसुत्त, 27)। गोखले (1966) ने इसे प्राचीन विश्व की प्रथम स्पष्ट सामाजिक-अनुबंध सिद्धांत की अभिव्यक्ति माना है। यह वैचारिक भिन्नता संघ के समस्त संगठनात्मक दर्शन की आधारशिला है।

स्रोत-सामग्री (Sources)

प्रस्तुत अध्ययन की स्रोत-सामग्री बहुभाषिक है। **पालि स्रोतों** में केंद्रीय महत्त्व *विनयपिटक* का है — **महावग्ग** में उपसम्पदा (दीक्षा), उपोसथ, वस्सावास, पवारणा एवं सीमा-निर्धारण की विधियाँ संकलित हैं, तथा **चुल्लवग्ग** में अधिकरण-समथ (विवाद-निपटारा), संघभेद-संघसामग्गी, सेनासन-प्रबंधन एवं पदाधिकारी-नियुक्ति के प्रावधान हैं; **परिवार** खंड विनय-विधियों का विश्लेषणात्मक सार प्रस्तुत करता है। *सुत्तपिटक* में **महापरिनिब्बानसुत्त** (*दीघनिकाय* 16) संघ-संबंधी बुद्ध के अंतिम निर्देशों तथा वज्जि-परंपरा की प्रशंसा का स्रोत है; **गोपकमोग्गल्लानसुत्त** (*मज्झिमनिकाय* 108) संघ के उत्तराधिकार-प्रश्न पर निर्णायक साक्ष्य देता है; **अग्गञ्ञसुत्त** (*दीघनिकाय* 27) राज्योत्पत्ति-सिद्धांत का तथा *अङ्गुत्तरनिकाय* सामाजिक-राजनीतिक संदर्भों का स्रोत है। अट्ठकथा साहित्य में बुद्धघोष की **समन्तपासादिका** विनय-विधियों के निर्वचन हेतु अपरिहार्य है।

संस्कृत स्रोतों में कौटिल्य-*अर्थशास्त्र* का "संघवृत्त" अधिकरण, *मनुस्मृति* (7वाँ एवं 8वाँ अध्याय), *नारदस्मृति*, *याज्ञवल्क्यस्मृति*, *गौतमधर्मसूत्र* तथा *महाभारत*-शान्तिपर्व प्रमुख हैं; बौद्ध संस्कृत ग्रंथों में *महावस्तु* एवं मूलसर्वास्तिवादी *विनय* के अंश उपयोगी हैं।

स्रोत-सीमा (Limitations)

यह स्वीकार करना अनिवार्य है कि *विनयपिटक* का वर्तमान स्वरूप शताब्दियों के संकलन-स्तरीकरण का परिणाम है; अतः उसमें वर्णित प्रत्येक विधि को बुद्ध के जीवनकाल की न मानकर आरंभिक संघ-परंपरा की मानना अधिक समीचीन है (Dutt, 1924)। इसी प्रकार धर्मशास्त्रीय ग्रंथ आदर्शात्मक (normative) हैं, वर्णनात्मक नहीं — वे व्यवहार का नहीं, अपेक्षा का साक्ष्य देते हैं। संघ और राजनीतिक संस्थाओं की तुलना में इस **स्रोत-प्रकृति की असमानता** को निरंतर ध्यान में रखा गया है।

बौद्ध संघ की आंतरिक संगठनात्मक संरचना

1 सदस्यता एवं प्रवेश-प्रक्रिया : संघ-सदस्यता दो चरणों में पूर्ण होती थी — पब्बज्जा (प्रवेश, श्रामणेर-स्थिति) तथा उपसम्पदा (पूर्ण भिक्षु-दीक्षा)। आरंभ में बुद्ध स्वयं "एहि भिक्खु" कहकर दीक्षा देते थे, किंतु कालांतर में यह अधिकार पूर्णतः संघ को हस्तांतरित हो गया और ञत्तिचतुत्थकम्म (एक प्रस्ताव तथा तीन उद्घोषणाओं वाली विधि) द्वारा न्यूनतम दस भिक्षुओं की उपस्थिति में संपन्न होने लगा (*विनयपिटक*, महावग्ग, 1.28)। यह अधिकार-हस्तांतरण संस्थागत इतिहास की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है — यह व्यक्ति-केंद्रित प्राधिकार से निकाय-केंद्रित प्राधिकार की ओर सचेत संक्रमण का प्रमाण है।

प्रवेश-पूर्व अर्हता-परीक्षण में आयु (न्यूनतम बीस वर्ष), रोग-मुक्ति, ऋण-मुक्ति, दासता-मुक्ति, राजसेवा-मुक्ति तथा माता-पिता की अनुमति — इन **अन्तरायिक धम्मों** की औपचारिक पृच्छा अनिवार्य थी (*विनयपिटक*, महावग्ग, 1.76)। उल्लेखनीय है कि यह प्रश्नावली संघ को राजसत्ता एवं सामाजिक दायित्वों के साथ संघर्ष से बचाने की **सुविचारित विधिक सावधानी** थी, न कि मात्र धार्मिक औपचारिकता (Dutt, 1924)।

2 समतावादी आधार एवं उसकी सीमा : संघ की सर्वाधिक क्रांतिकारी विशेषता जन्म-आधारित वर्ण-पदानुक्रम का अस्वीकार थी। *विनयपिटक* के चुल्लवग्ग में बुद्ध का प्रसिद्ध उपमान है — *"सेय्यथापि महानदियो... महासमुद्दं पत्ता जहन्ति पुरिमानि नामगोत्तानि, 'महासमुद्दो' त्वेव सङ्ख्यं गच्छन्ति" (विनयपिटक, चुल्लवग्ग, 9.1.4) अर्थात् जैसे महानदियाँ महासमुद्र में मिलकर अपने पूर्व नाम-गोत्र त्याग देती हैं और "महासमुद्र" ही कहलाती हैं, उसी प्रकार चारों वर्णों के लोग संघ में प्रविष्ट होकर अपने पूर्व नाम-गोत्र त्यागकर "श्रमण" कहलाते हैं।*

पदानुक्रम का एकमात्र आधार वस्स-ज्येष्ठता अर्थात् उपसम्पदा से बीती वर्षा-ऋतुओं की संख्या थी — न कुल, न वर्ण, न संपत्ति, न आयु (*विनयपिटक*, चुल्लवग्ग, 6.6)। यह विश्व-संस्थागत इतिहास में अर्जित-स्थिति (achieved status) के आधार पर पदानुक्रम-निर्धारण का प्राचीनतम व्यवस्थित उदाहरण है, और यही संघ को समकालीन कुलीनतंत्रीय गणों तथा वर्णाश्रित राजतंत्र — दोनों से मूलभूत रूप से पृथक् करता है।

तथापि संतुलित मूल्यांकन हेतु चक्रवर्ती (1987) की संशोधनात्मक स्थापना का उल्लेख आवश्यक है — सदस्यता के सामाजिक-वर्ग-विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि संघ में ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं गहपति वर्गों का आनुपातिक प्रभुत्व था, अतः वर्ण-निरपेक्षता सैद्धांतिक रूप से पूर्ण, व्यावहारिक रूप से आंशिक थी।

3 आवासीय इकाई एवं सीमा-निर्धारण : संघ की प्रशासनिक इकाई आवास थी, जिसकी भौगोलिक परिधि सीमा (sīmā) के औपचारिक निर्धारण द्वारा तय होती थी। एक सीमा के भीतर निवासरत समस्त भिक्षुओं का सामूहिक निकाय ही वैध संघकम्म संपादित कर सकता था; सीमा-बाह्य भिक्षुओं की उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति से कर्म की वैधता प्रभावित होती थी (*विनयपिटक*, महावग्ग, 2.6-13)। यह प्रादेशिक अधिकार-क्षेत्र (territorial jurisdiction) की सुस्पष्ट अवधारणा है और आधुनिक संवैधानिक विधि की दृष्टि से अत्यंत उल्लेखनीय है (Horner, 1951)।

महत्त्वपूर्ण है कि संघ संघीय-विकेंद्रित था, केंद्रीकृत नहीं। प्रत्येक सीमा-निकाय अपने क्षेत्र में स्वायत्त था; कोई सर्वोच्च केंद्रीय प्राधिकार, कोई अखिल-संघीय प्रमुख, कोई पदानुक्रमित आज्ञा-श्रृंखला नहीं थी (Dutt, 1962)। यह लिच्छवि-वज्जि के अष्टकुल-संघीय ढाँचे से संरचनात्मक समानता रखता है।

4 पदाधिकारी-व्यवस्था : शासन-संचालन हेतु संघ द्वारा औपचारिक संघकम्म से पदाधिकारी नियुक्त किए जाते थे, जिनमें प्रमुख थे — **भण्डागारिक** (कोषागार-प्रभारी), **सेनासनगाहापक** (आवास-आवंटक), **भत्तुद्देसक** (भोजन-नियोजक), **चीवरपटिग्गाहक** एवं **चीवरभाजक** (वस्त्र-ग्राहक एवं वितरक), **नवकम्मिक** (निर्माण-कार्य पर्यवेक्षक), तथा **कप्पियकारक** (वैध-अवैध वस्तु-निर्णायक) (*विनयपिटक*, चुल्लवग्ग, 6.21)। उल्लेखनीय है कि ये पद **निर्वाचित, कार्य-विशिष्ट, उत्तरदायी एवं अवैतनिक** थे — आजीवन अथवा वंशानुगत नहीं। **इस प्रकार संघ में कार्यपालिका का स्वरूप विधायी निकाय के प्रति उत्तरदायी प्रतिनिधि-मंडल का था, न कि स्वायत्त शासक-वर्ग का — यह संघ का एक अत्यंत परिष्कृत संवैधानिक लक्षण है।**

संघ के प्रशासनिक नियम और विधियाँ

1 विधि की सर्वोच्चता: संघ-व्यवस्था का आधारभूत सिद्धांत व्यक्ति के स्थान पर विधि की सर्वोच्चता था। महापरिनिब्बानसुत्त में बुद्ध का अंतिम निर्देश निर्णायक है — *"यो वो आनन्द मया धम्मो च विनयो च देसितो पञ्ञत्तो, सो वो ममच्चयेन सत्था" (दीघनिकाय, महापरिनिब्बानसुत्त, 16.6.1) अर्थात् हे आनन्द, मैंने जो धर्म और विनय उपदिष्ट एवं प्रज्ञप्त किया है, मेरे पश्चात् वही तुम्हारा शास्ता (गुरु) होगा।*

बुद्ध ने स्पष्ट रूप से किसी व्यक्ति को उत्तराधिकारी नियुक्त करने से इनकार किया और संघ पर अपने नियंत्रण का दावा भी अस्वीकार किया — *"न ख्वाहं... सङ्घं परिहरिस्सामि"* (*दीघनिकाय* 16.2.25)। इसकी पुष्टि गोपकमोग्गल्लानसुत्त से होती है, जहाँ मगध के मंत्री वस्सकार द्वारा यह पूछे जाने पर कि क्या बुद्ध ने किसी एक भिक्षु को प्रमुख नियुक्त किया, आनन्द का उत्तर नकारात्मक है और वे घोषित करते हैं कि संघ "धम्मप्पटिसरण" — धर्म को ही आश्रय मानने वाला — है (*मज्झिमनिकाय*, गोपकमोग्गल्लानसुत्त, 108)।

शोध-दृष्टि से यह प्रसंग इस अध्ययन का सर्वाधिक निर्णायक साक्ष्य है: एक राजतंत्रीय मंत्री जब व्यक्ति-केंद्रित उत्तराधिकार की भाषा में प्रश्न पूछता है, तो संघ विधि-केंद्रित संवैधानिकता की भाषा में उत्तर देता है। दो राजनीतिक दर्शनों का यह प्रत्यक्ष संवाद प्राचीन विश्व-साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है।

2 संघकम्म: निर्णय-प्रक्रिया की चतुर्विध विधि : संघ के समस्त निर्णय संघकम्म के माध्यम से होते थे, जिसके चार प्रकार निर्धारित थे — (क) अपलोकनकम्म (मात्र सहमति-पृच्छा द्वारा, साधारण विषय); (ख) ञत्तिकम्म (एक प्रस्ताव, अनुस्सावन के बिना); (ग) ञत्तिदुतियकम्म (प्रस्ताव तथा एक उद्घोषणा); (घ) ञत्तिचतुत्थकम्म (प्रस्ताव तथा तीन उद्घोषणाएँ — गंभीरतम विषय, जैसे उपसम्पदा एवं निष्कासन) (*विनयपिटक*, चुल्लवग्ग एवं परिवार)। यह विषय की गंभीरता के अनुपात में प्रक्रियात्मक कठोरता का श्रेणीकरण है — आधुनिक विधायी प्रक्रिया में साधारण एवं विशेष बहुमत के भेद से इसकी तुलनीयता स्पष्ट है।

प्रत्येक कर्म की वैधता चार शर्तों पर निर्भर थी — वत्थु-सम्पत्ति (विषय की वैधता), ञत्ति-सम्पत्ति (प्रस्ताव का विधिवत् प्रस्तुतीकरण), परिस-सम्पत्ति (गणपूरक अर्थात् निर्धारित कोरम की पूर्णता), तथा सीमा-सम्पत्ति (अधिकार-क्षेत्र की शुद्धता)। किसी एक शर्त का भंग होने पर कर्म "कुप्प" अथवा "अधम्मकम्म" अर्थात् शून्य (void) घोषित हो जाता था (*विनयपिटक*, चुल्लवग्ग; Horner, 1952)। प्रक्रियात्मक दोष के आधार पर निर्णय की शून्यता का यह सिद्धांत आधुनिक प्रशासनिक विधि के "procedural ultra vires" सिद्धांत का आश्चर्यजनक पूर्वरूप है।

3 कोरम, मतदान एवं प्रतिनिधित्व : गणपूरक अर्थात् कोरम विषय-भेद से निर्धारित था — सामान्य कर्म हेतु चार, कुछ हेतु पाँच, दस अथवा बीस भिक्षु अनिवार्य थे *(विनयपिटक*, महावग्ग, 9)। अनुपस्थित भिक्षु को छन्द (सहमति-प्रत्यायन) भेजने का अधिकार था, जो अनुपस्थिति-में-प्रतिनिधित्व (proxy consent) की विकसित अवधारणा है।

मतभेद की स्थिति में निर्णय यभुय्यसिका अर्थात् बहुमत-विधि से होता था, जिसके संचालन हेतु सलाकगाहापक (मत-पत्र-संग्राहक) की औपचारिक नियुक्ति होती थी। चुल्लवग्ग में मत-संग्रहण की तीन पद्धतियाँ उल्लिखित हैं — गूळहक (गुप्त मतदान), सकण्णजप्पक (कान में कहकर), तथा विवटक (खुला मतदान) *(विनयपिटक*, चुल्लवग्ग, 4.9-10)। गुप्त मतदान (secret ballot) की विधिवत् संस्थागत व्यवस्था का यह साक्ष्य संस्थागत इतिहास की दृष्टि से असाधारण महत्त्व रखता है और विश्व के प्राचीनतम प्रमाणों में से एक है (Jayaswal, 1924; Dutt, 1924)।

जटिल विवादों के लिए उब्बाहिका — सीमित सदस्यों की प्रवर-समिति — गठित की जाती थी, जिसे पूर्ण निकाय के स्थान पर निर्णय का अधिकार प्रत्यायोजित होता था *(विनयपिटक*, चुल्लवग्ग, 4.14)। यह समिति-प्रणाली (committee system) एवं अधिकार-प्रत्यायोजन (delegation) की आरंभिक संस्थागत अभिव्यक्ति है। द्वितीय बौद्ध संगीति (वैशाली) में आठ सदस्यों की उब्बाहिका द्वारा दस विवादास्पद बिंदुओं का निर्णय इसका ऐतिहासिक उदाहरण है।

4 उपोसथ एवं पाटिमोक्ख: आनुकालिक समीक्षा-तंत्र : प्रत्येक पक्ष के चतुर्दशी अथवा पूर्णिमा को समस्त भिक्षुओं का **उपोसथ** सम्मेलन अनिवार्य था, जिसमें **पाटिमोक्ख** (227 नियमों की आचार-संहिता) का सामूहिक पाठ होता था और प्रत्येक नियम के पश्चात् तीन बार पृच्छा की जाती थी कि कोई उसका उल्लंघनकर्ता है या नहीं *(विनयपिटक*, महावग्ग, 2)। **वस्सावास** के अंत में **पवारणा** समारोह होता था, जिसमें प्रत्येक भिक्षु सहवासियों को यह निमंत्रण देता था कि वे उसके आचरण-दोष की ओर संकेत करें।

इस व्यवस्था का संस्थागत महत्त्व अत्यधिक है — यह आचार-संहिता के आनुकालिक, सार्वजनिक एवं अनिवार्य पुनरावलोकन की सुनिश्चित प्रणाली थी, जिसमें **परस्पर जवाबदेही (mutual accountability)** संस्थागत रूप से अंतर्निहित थी। राजतंत्र में इस प्रकार का कोई आनुकालिक, अनिवार्य आत्म-समीक्षा तंत्र उपलब्ध नहीं था।

5 अधिकरण-समथ: विवाद-निपटारा की सप्तविध विधि : विनय में विवाद-निपटारा की सात विधियाँ निर्धारित हैं — (1) सम्मुखाविनय (दोनों पक्षों की उपस्थिति में निर्णय), (2) सतिविनय (स्मृति-आधारित निर्दोषता-घोषणा), (3) अमूळहविनय (मानसिक विकृति के आधार पर उन्मुक्ति), (4) पटिञ्ञातकरण (स्वीकारोक्ति-आधारित निर्णय), (5) यभुय्यसिका (बहुमत-निर्णय), (6) तस्सपापियसिका (दुराचरण-सिद्ध पर विशेष कार्यवाही), तथा (7) तिणवत्थारक (सामूहिक विवाद में "तृण-आच्छादन" द्वारा सामान्य क्षमा-समाधान) *(विनयपिटक*, चुल्लवग्ग, 4)।

इन सात विधियों का विश्लेषण तीन महत्त्वपूर्ण स्थापनाएँ देता है: प्रथम, सम्मुखाविनय में निहित द्वि-पक्षीय श्रवण का सिद्धांत आधुनिक नैसर्गिक न्याय (*audi alteram partem*) के सिद्धांत से तुलनीय है। द्वितीय, अमूळहविनय में मानसिक अक्षमता के आधार पर दायित्व-मुक्ति का प्रावधान आपराधिक विधि के अत्यंत परिष्कृत mens rea संबंधी बोध का प्रमाण है। तृतीय, तिणवत्थारक की व्यवस्था इस दार्शनिक समझ को दर्शाती है कि सामुदायिक संघर्ष में व्यक्तिगत दोष-निर्धारण से समुदाय-एकता का पुनर्स्थापन अधिक महत्त्वपूर्ण है — यह प्रतिकारात्मक (retributive) के स्थान पर पुनर्स्थापनात्मक (restorative) न्याय की अवधारणा है, जो राजकीय दण्डनीति के दर्शन से मूलतः विपरीत है।

6 अनुशासनात्मक पद्धति: दण्ड के स्थान पर प्रायश्चित : विनय में अपराध-श्रेणीकरण पाँच से सात कोटियों में है — पाराजिक (संघ से स्थायी निष्कासन योग्य चार गंभीरतम अपराध), सङ्घादिसेस (संघ के हस्तक्षेप से शोधनीय), पाचित्तिय, दुक्कट एवं दुब्भासित (स्वीकारोक्ति से शुद्ध होने वाले) *(विनयपिटक*, सुत्तविभङ्ग)। दण्डात्मक उपायों में तज्जनीयकम्म (भर्त्सना), निय्यसकम्म (निर्देशन-अधीनता), पब्बाजनीयकम्म (क्षेत्र-निष्कासन), पटिसारणीयकम्म (क्षमा-याचना हेतु निर्देश), उक्खेपनीयकम्म (निलंबन) तथा परिवास (परीक्षाधीन अवधि) सम्मिलित थे *(विनयपिटक*, चुल्लवग्ग, 1)।

अत्यंत उल्लेखनीय है कि इनमें कोई भी दण्ड शारीरिक, आर्थिक अथवा प्राणांतक नहीं है — समस्त दण्ड सामुदायिक सहभागिता के आंशिक अथवा पूर्ण निषेध के रूप में हैं। राजकीय दण्डनीति में निर्धारित वध, अंग-विच्छेद, कारावास एवं आर्थिक दण्ड (*मनुस्मृति*, 8; *कौटिल्य-अर्थशास्त्र*, 4) की तुलना में यह मूलभूत दर्शन-भेद है। इसका कारण स्पष्ट है — संघ की सदस्यता स्वैच्छिक थी, अतः उसकी बाध्यकारी शक्ति भौतिक बल पर नहीं, सामुदायिक सहमति एवं

स्वीकारोक्ति पर आधारित थी। संघ का अंतिम और सर्वाधिक प्रभावी प्रतिबंध ब्रह्मदण्ड अर्थात् सामाजिक-संवादात्मक बहिष्कार था, न कि भौतिक दमन।

7 संपत्ति-व्यवस्था : व्यक्तिगत स्तर पर भिक्षु को केवल अष्ट परिष्कार (तीन चीवर, पात्र, उस्तरा, सूची, कटिबंध, जल-छानक) रखने का अधिकार था; समस्त स्थावर संपत्ति — आवास, भूमि, उद्यान — संघिक अर्थात् सामूहिक स्वामित्व की थी और अवेभङ्गिय (अविभाज्य) घोषित थी (*विनयपिटक*, चुल्लवग्ग, 6)। दत्त (1962) के अनुसार विहार-संपत्ति पर किसी व्यक्ति का उत्तराधिकार-दावा संभव न था, जिससे संघ एक स्थायी निगमात्मक व्यक्तित्व (perpetual corporate personality) के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। यह निगम-विधि की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि राजतंत्र में संपत्ति एवं सत्ता — दोनों वंशानुगत उत्तराधिकार पर आधारित थे, और यही उसकी सर्वाधिक अस्थिरताजनक विशेषता थी।

प्राचीन भारतीय राजतंत्र एवं गणतांत्रिक प्रणालियों से तुलना

राजतंत्रीय प्रतिमान : बिम्बिसार-अजातशत्रु कालीन मगध में संप्रभुता का एकमात्र स्थल राजा था, जो विधि-निर्माता, सर्वोच्च न्यायाधीश, सेनापति एवं कर-निर्धारक — समस्त भूमिकाओं का एकीकृत केंद्र था (Raychaudhuri, 1923)। प्रशासन हेतु सब्बत्थक-महामात्त, वोहारिक-महामात्त एवं सेनानायक-महामात्त की वेतनभोगी नौकरशाही थी; महावग्ग के साक्ष्य के अनुसार बिम्बिसार के अधीन अस्सी हज़ार गामिक थे (*विनयपिटक*, महावग्ग)। सत्ता का आधार दण्ड एवं सैन्य-बल था, उत्तराधिकार वंशानुगत, और वैधता का स्रोत धर्मशास्त्रीय-दैवी अनुमोदन।

गण-संघीय प्रतिमान : वज्जि-लिच्छवि संघ में संप्रभुता का स्थल संथागार अर्थात् सामूहिक सभा थी, जिसमें कुलीन क्षत्रिय परिवारों के प्रतिनिधि युद्ध-शांति, कराधान एवं न्याय पर निर्णय करते थे। पदाधिकारी-चतुष्टय — राजा, उपराजा, सेनापति, भाण्डागारिक — निर्वाचित थे, और न्याय-प्रक्रिया सात-स्तरीय अपीलीय थी (जायसवाल, 1924; अल्तेकर, 1958)। वैधता का स्रोत परंपरागत वज्जि-धम्म था, तथा "अपरिहानिय धम्म" के अंतर्गत निरंतर एवं पूर्ण संख्या में सभा-समवाय अनिवार्य था (*दीघनिकाय*, 16.1.4)। तथापि मताधिकार कुलीन-वर्ग तक सीमित था; दास, कर्मकर एवं स्त्रियाँ निर्णय-प्रक्रिया से बहिष्कृत थीं (Thapar, 1984)।

त्रि-स्तरीय तुलनात्मक विवरण

सारणी 1 : *बौद्ध संघ, गण-संघीय गणतंत्र एवं राजतंत्र का संस्थागत तुलनात्मक विश्लेषण*

विश्लेषण-कोटि	बौद्ध संघ	वज्जि-लिच्छवि गणतंत्र	मगध राजतंत्र
संप्रभुता का स्थल	धम्म-विनय (विधि स्वयं)	संथागार (सामूहिक सभा)	राजा (एकल व्यक्ति)
सदस्यता का आधार	स्वैच्छिक प्रवेश, वर्ण-निरपेक्ष	जन्म-आधारित कुलीन क्षत्रियता	प्रजा-स्थिति, जन्मजात
पदानुक्रम का आधार	वस्स-ज्येष्ठता (अर्जित)	कुल-प्रतिष्ठा (प्रदत्त)	राजकृपा एवं वर्ण
निर्णय-प्रक्रिया	संघकम्म — चतुर्विध, कोरम-सहित, यभुय्यसिका	बहुमत-आधारित सभा-प्रक्रिया	राजाज्ञा; मंत्रि-परिषद परामर्शी
मतदान-पद्धति	सलाक द्वारा — गुप्त/अर्ध-गुप्त/खुला	छन्द-दान, सलाक-गाहापक	अनुपस्थित
अनुपस्थिति-	छन्द-प्रत्यायन मान्य	आंशिक	अप्रासंगिक

विश्लेषण-कोटि	बौद्ध संघ	वज्जि-लिच्छवि गणतंत्र	मगध राजतंत्र
प्रतिनिधित्व			
विधि का स्रोत	बुद्ध-प्रज्ञप्त विनय; संघ-निर्वचन	प्राचीन परंपरागत वज्जि-धम्म	राजशासन एवं धर्मशास्त्र
विधि की परिवर्तनीयता	संगीति द्वारा निर्वचन; मूल-पाठ अपरिवर्तनीय	परंपरा-उच्छेद निषिद्ध	राजेच्छा से परिवर्तनीय
न्याय-पद्धति	सप्तविध अधिकरण-समथ, स्वीकारोक्ति-आधारित	सात-स्तरीय अपीलीय प्रक्रिया	वोहारिक-महामात्त; अंतिम अपील राजा
दण्ड का स्वरूप	सहभागिता-निषेध, प्रायश्चित	सामाजिक एवं आर्थिक दण्ड	वध, अंग-विच्छेद, कारावास, अर्थदण्ड
कार्यपालिका	निर्वाचित, अवैतनिक, कार्य-विशिष्ट पदाधिकारी	निर्वाचित कुल-प्रतिनिधि	नियुक्त वेतनभोगी महामात्त
बाध्यकारी शक्ति का स्रोत	सामुदायिक सहमति एवं नैतिक दबाव	कुल-परंपरा एवं सामूहिक सहमति	सैन्य-बल एवं दण्ड-शक्ति
संपत्ति-व्यवस्था	संघिक, अविभाज्य, अनुत्तराधिकार्य	कुल-आधारित निजी संपत्ति	राजकोष एवं निजी स्वामित्व
उत्तराधिकार-पद्धति	व्यक्ति-निरपेक्ष; विधि का सातत्य	कुल-आधारित प्रतिनिधित्व	वंशानुगत
स्त्रियों की स्थिति	भिक्खुनी-संघ (पृथक्, अष्ट गरुधम्म से अधीनस्थ)	सभा में सहभागिता नहीं	सत्ता-संरचना से बहिष्कृत
प्रादेशिक संगठन	सीमा-आधारित विकेंद्रित संघीय इकाइयाँ	अष्टकुल-संघीय	केंद्रीकृत एकात्मक

संघ और राजनीतिक संस्थाओं में समानताएँ एवं अंतर

1 गण-परंपरा से ग्रहीत समानताएँ : तुलनात्मक विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि संघ ने गण-संघीय परंपरा से कम-से-कम **छह प्रक्रियात्मक तत्त्व** ग्रहण किए — (क) सामूहिक सभा का निर्णय-सर्वोच्चता-सिद्धांत, (ख) **गणपूरक** अर्थात् कोरम की अनिवार्यता, (ग) प्रस्ताव-प्रस्तुति एवं उद्घोषणा की औपचारिक पद्धति, (घ) **सलाक** द्वारा मत-संग्रहण, (ङ) **उब्बाहिका** अर्थात् प्रवर-समिति द्वारा जटिल विषयों का निपटारा, तथा (च) निर्वाचित, उत्तरदायी पदाधिकारी-व्यवस्था। शब्दावली की यह आश्चर्यजनक समरूपता — *गणपूरक*, *सलाकगाहापक*, *छन्द*, *संथागार/संघ* — आकस्मिक नहीं हो सकती; यह सचेत संस्थागत अनुकरण का प्रमाण है (अल्तेकर, 1958; Dutt, 1924)।

इस अनुकरण का प्रत्यक्ष साहित्यिक साक्ष्य भी उपलब्ध है। महापरिनिब्बानसुत्त में बुद्ध वज्जियों के सात अपरिहानिय धम्म की प्रशंसा के **अनन्तर ही** भिक्षुओं के लिए समानांतर सात अपरिहानिय धम्म उपदिष्ट करते हैं, जिनमें प्रथम स्थान पर पुनः **सभा-समवाय की नियमितता** है (*दीघनिकाय*, 16.1.6)। **यह समानांतरता इस शोध की केंद्रीय स्थापना — गण-प्रतिमान से संघ-प्रतिमान के सचेत संस्थागत संक्रमण — का सर्वाधिक सबल प्रमाण है।**

2 राजतंत्र से आंशिक समानताएँ : संघ और राजतंत्र में समानता सीमित किंतु उपेक्षणीय नहीं है। दोनों में **लिखित-सुनिश्चित आचार-संहिता** (पाटिमोक्ख/धर्मशास्त्र), **श्रेणीबद्ध अपराध-वर्गीकरण**, **पदाधिकारी-विभाजन के आधार पर कार्य-विशेषीकरण**, तथा **अभिलेखन एवं प्रक्रियात्मक औपचारिकता** की प्रवृत्ति विद्यमान थी। दत्त (1962) का यह प्रेक्षण भी महत्त्वपूर्ण है कि महाविहार-काल में संघ की संपत्ति-व्यवस्था एवं प्रशासनिक जटिलता राजकीय प्रशासन से संरचनात्मक सादृश्य अर्जित कर चुकी थी — **अर्थात् दीर्घकालिक संस्थागत विकास में संघ पर राजतंत्रीय संगठनात्मक प्रभाव भी पड़ा, और यह प्रभाव एकदिशीय नहीं था।**

3 मूलभूत अंतर एवं संघ का मौलिक नवाचार : तथापि चार क्षेत्रों में संघ ने दोनों राजनीतिक प्रतिमानों से मूलभूत विचलन करते हुए मौलिक नवाचार किया —

प्रथम — संप्रभुता का स्थल। राजतंत्र में संप्रभुता व्यक्ति में थी, गणतंत्र में निकाय में, किंतु संघ में विधि स्वयं में। *"धम्मो च विनयो च सत्था"* का सिद्धांत संप्रभुता को व्यक्ति एवं निकाय — दोनों से ऊपर प्रतिष्ठित करता है। यह प्राचीन भारतीय चिंतन में विधि-शासन (rule of law) की निकटतम अभिव्यक्ति है और इस अध्ययन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष है।

द्वितीय — सदस्यता का समतावादी आधार। गण कुलीन-जन्म पर आधारित बंद व्यवस्था थी, राजतंत्र वर्णाश्रित; संघ स्वैच्छिक एवं वर्ण-निरपेक्ष खुली व्यवस्था थी, जिसमें पदानुक्रम का आधार अर्जित वस्स-ज्येष्ठता था (*विनयपिटक*, चुल्लवग्ग, 9.1.4)। एक कुलीनतंत्रीय युग में अर्जित-स्थिति पर आधारित संगठन का सृजन संघ की असाधारण मौलिकता है (शर्मा, 2008; Chakravarti, 1987)।

तृतीय — बाध्यता का आधार। राजतंत्र की बाध्यकारी शक्ति भौतिक बल थी, गण की कुल-परंपरा, संघ की स्वैच्छिक स्वीकारोक्ति एवं सामुदायिक सहमति। अतः संघ की अनुशासन-पद्धति दमनात्मक नहीं, आत्म-प्रकटीकरण-आधारित थी — उपोसथ एवं पवारणा की संस्थाएँ इसी का प्रमाण हैं।

चतुर्थ — उत्तराधिकार की व्यक्ति-निरपेक्षता। राजतंत्र का सर्वाधिक अस्थिरताजनक तत्त्व वंशानुगत उत्तराधिकार था (अजातशत्रु द्वारा पितृ-हत्या इसका प्रत्यक्ष उदाहरण), और गणतंत्र का सर्वाधिक भंगुर तत्त्व कुल-भेद। संघ ने व्यक्ति-निरपेक्ष, विधि-केंद्रित उत्तराधिकार-पद्धति अपनाकर इन दोनों दुर्बलताओं से मुक्ति प्राप्त की — और यही उसके असाधारण संस्थागत दीर्घजीवन का मूल कारण है।

4 संघ की संरचनात्मक सीमाएँ : संतुलित मूल्यांकन हेतु सीमाओं का उल्लेख अनिवार्य है। **प्रथम**, भिक्खुनी-संघ की स्थापना के उपरांत भी **अष्ट गरुधम्म** के अंतर्गत उसे भिक्षु-संघ के अधीनस्थ रखा गया, अतः लैंगिक समता अपूर्ण रही (*विनयपिटक*, चुल्लवग्ग, 10)। **द्वितीय**, निर्णय-प्रक्रिया की विकेंद्रित प्रकृति ने विवादों का अंतिम निपटारा कठिन बनाया, जिसका परिणाम **संघभेद** और अठारह निकायों में विभाजन के रूप में सामने आया — यही दोष, उल्लेखनीय रूप से, गण-व्यवस्था के पतन का भी प्रमुख कारण था। **तृतीय**, वर्ण-निरपेक्षता सैद्धांतिक अधिक और सामाजिक-व्यावहारिक स्तर पर आंशिक थी (Chakravarti, 1987)। **चतुर्थ**, राजकीय संरक्षण पर बढ़ती निर्भरता ने कालांतर में संघ की स्वायत्तता को क्षीण किया।

ऐतिहासिक प्रभाव और सांस्कृतिक महत्व

संघ-व्यवस्था का प्रथम और प्रत्यक्ष प्रभाव राजनीतिक वैधता की अवधारणा के रूपांतरण में दिखाई देता है। *अग्गञ्ञसुत्त* का "महासम्मत" सिद्धांत तथा *चक्कवत्तिसीहनादसुत्त* में वर्णित दसराजधम्म एवं धर्म-सापेक्ष चक्रवर्ती की संकल्पना ने राजा को दैवी निरंकुश से नैतिक-उत्तरदायी शासक में परिवर्तित किया (Gokhale, 1966)। अशोक के शिलालेखों में व्यक्त धम्म-विजय की अवधारणा, प्रजा-कल्याण का उद्घोष एवं धम्म-महामात्त की नियुक्ति इस वैचारिक

रूपांतरण की प्रशासनिक परिणति थी — इस अर्थ में संघ-जनित नैतिक राजनीति ने विश्व के प्रथम कल्याणकारी राज्य-प्रयोग को वैचारिक आधार प्रदान किया।

इस शोध का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक प्रेक्षण यह है कि गण-व्यवस्था के राजनीतिक पतन के उपरांत भी उसकी प्रक्रियात्मक विरासत संघ के माध्यम से सुरक्षित रह गई। चौथी शताब्दी ई. पू. तक मगध-साम्राज्यवाद ने वज्जि-संघ सहित समस्त गण-राज्यों को समाप्त कर दिया, किंतु कोरम, मतदान, प्रवर-समिति, द्वि-पक्षीय श्रवण एवं बहुमत-निर्णय की जो विधियाँ इन गणों ने विकसित की थीं, वे *विनयपिटक* में संहिताबद्ध होकर श्रीलंका, म्यांमार, थाईलैंड, तिब्बत, चीन, कोरिया एवं जापान तक संचरित हुईं और वहाँ द्वि-सहस्राब्दी तक सजीव रहीं। अतः निष्कर्ष यह निकलता है कि प्राचीन भारतीय गणतांत्रिक परंपरा राजनीतिक क्षेत्र में पराजित होकर भी सांस्कृतिक-संस्थागत क्षेत्र में विजयी रही — और यह विजय संघ की संहिताबद्धता के कारण संभव हुई।

राजगृह, वैशाली, पाटलिपुत्र एवं कुण्डलवन की चार संगीतियाँ सामूहिक विचार-विमर्श द्वारा विवाद-निपटारा एवं पाठ-संरक्षण की संस्थागत परंपरा का प्रमाण हैं। द्वितीय संगीति में आठ-सदस्यीय उब्बाहिका का प्रयोग तथा तृतीय संगीति में मोग्गलिपुत्त तिस्स द्वारा *कथावत्थु* का संकलन संस्थागत विवाद-समाधान की विकसित पद्धति के उदाहरण हैं। इसी परंपरा से नालन्दा, विक्रमशिला, ओदन्तपुरी एवं सोमपुर जैसे महाविहार विकसित हुए, जिनकी शासन-व्यवस्था — आचार्य-मंडल, प्रवेश-परीक्षा, सामूहिक निर्णय — प्रत्यक्षतः संघ-विधियों की निरंतरता थी (Mookerji, 1947; पाण्डे, 1957)।

सामाजिक धरातल पर संघ ने तीन दीर्घकालिक प्रभाव उत्पन्न किए। प्रथम, वर्ण-बहिष्कृत वर्गों के लिए सामाजिक गतिशीलता का वैकल्पिक मार्ग खोला। द्वितीय, भिक्खुनी-संघ की स्थापना ने — सीमाओं के बावजूद — प्राचीन विश्व में स्त्रियों के लिए प्रथम संस्थागत, आवासीय, स्वायत्त धार्मिक समुदाय का निर्माण किया, जिसका *थेरीगाथा* जैसी स्त्री-रचित साहित्य-परंपरा के रूप में अभूतपूर्व सांस्कृतिक परिणाम निकला। तृतीय, जनभाषा पालि को ज्ञान-माध्यम बनाकर संघ ने ज्ञान के संस्कृत-ब्राह्मण-एकाधिकार को चुनौती दी और शिक्षा का जनतंत्रीकरण किया (कोसम्बी, 1956; शर्मा, 2008)।

यहाँ एक पद्धतिगत सावधानी आवश्यक है। संघ-विधियों की आधुनिक संसदीय प्रक्रिया से संरचनात्मक समानताएँ वास्तविक हैं, तथापि संघ को आधुनिक लोकतंत्र का "प्रत्यक्ष पूर्वज" मानना अनैतिहासिक होगा। संघ का अभीष्ट राजनीतिक प्रतिनिधित्व अथवा जन-संप्रभुता नहीं, अपितु निर्वाण-मार्ग हेतु अनुकूल सामुदायिक अनुशासन था; उसकी प्रक्रियात्मक उपलब्धियाँ इस आध्यात्मिक लक्ष्य की साधन-सामग्री थीं, स्वयं लक्ष्य नहीं। अतः उचित निष्कर्ष यह है कि संघ ने सामूहिक निर्णय-प्रक्रिया की तकनीकी विधियों का स्वतंत्र आविष्कार एवं सुदीर्घ संरक्षण किया — और इस सीमित किंतु अत्यंत महत्त्वपूर्ण अर्थ में वह विश्व-संस्थागत इतिहास की एक अद्वितीय उपलब्धि है।

निष्कर्ष (Conclusion)

प्रस्तुत अध्ययन से चार प्रमुख निष्कर्ष निकलते हैं। प्रथम, बौद्ध संघ ने अपनी प्रक्रियात्मक विधियाँ — गणपूरक, ञत्ति, अनुस्सावन, छन्द-दान, सलाक-मतदान एवं उब्बाहिका — समकालीन वज्जि-लिच्छवि गण-संघीय परंपरा से सचेत रूप से ग्रहण कीं। शब्दावली की समरूपता तथा महापरिनिब्बानसुत्त में वज्जि-धम्म एवं भिक्षु-धम्म की सप्तविध समानांतरता इसका निर्णायक साक्ष्य है।

द्वितीय, संघ ने इस ग्रहण को मात्र अनुकरण तक सीमित नहीं रखा, अपितु चार क्षेत्रों में मौलिक नवाचार किया — विधि की सर्वोच्चता, सदस्यता का वर्ण-निरपेक्ष समतावादी आधार, अर्जित वस्स-ज्येष्ठता पर आधारित पदानुक्रम, तथा दण्ड के स्थान पर स्वीकारोक्ति-आधारित पुनर्स्थापनात्मक अनुशासन।

तृतीय, संघ का असाधारण संस्थागत दीर्घजीवन उसकी व्यक्ति-निरपेक्षता का परिणाम था। राजतंत्र वंशानुगत उत्तराधिकार-संघर्ष से और गणतंत्र कुल-भेद से अस्थिर रहे; संघ ने संप्रभुता को व्यक्ति एवं कुल — दोनों से मुक्त करके विधि में प्रतिष्ठित किया, और यही उसे ढाई सहस्राब्दी तक सजीव रख सका।

चतुर्थ और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण, प्राचीन भारतीय गणतांत्रिक परंपरा का ऐतिहासिक भाग्य एक गहन विडंबना प्रस्तुत करता है — वह राजनीतिक क्षेत्र में मगध-साम्राज्यवाद से पराजित हुई, किंतु उसकी प्रक्रियात्मक आत्मा संघ की संहिताबद्ध विनय-विधियों में सुरक्षित होकर समस्त एशिया में संचरित हुई और आज भी कार्यरत है। इस अर्थ में बौद्ध संघ भारतीय

संस्थागत चिंतन का वह सेतु है जिसने एक पराजित राजनीतिक परंपरा को विश्व-सांस्कृतिक उत्तराधिकार में रूपांतरित कर दिया। यही इस शोध की केंद्रीय स्थापना है।

शोध की सीमाएँ एवं भावी दिशा

यह अध्ययन मुख्यतः साहित्यिक स्रोतों पर आधारित है। भावी शोध की तीन दिशाएँ संकेतित की जा सकती हैं — (क) थेरवाद, मूलसर्वास्तिवाद एवं धर्मगुप्तक विनय-परंपराओं का तुलनात्मक प्रक्रियात्मक विश्लेषण; (ख) नालन्दा, वैशाली, राजगृह एवं सोमपुर के पुरातात्विक साक्ष्यों तथा अभिलेखीय दान-पत्रों का विनय-विधियों के साथ सहसंबंधी अध्ययन; तथा (ग) श्रीलंका एवं दक्षिण-पूर्व एशिया में संघ-विधियों के स्थानीय राजनीतिक संस्थाओं के साथ अंतःक्रिया का अध्ययन।

संदर्भ :-

अङ्गुत्तरनिकाय. सं. भिक्षु जगदीश कश्यप, नालन्दा देवनागरी पालि ग्रन्थमाला, पालि पब्लिकेशन बोर्ड, बिहार सरकार, 1960.

उपाध्याय, भरतसिंह. बुद्धकालीन भारतीय भूगोल. हिन्दी साहित्य सम्मेलन, 1961.

कोसम्बी, धर्मानन्द. भगवान बुद्ध: जीवन और दर्शन. राजकमल प्रकाशन, 1956.

कौटिल्यम् अर्थशास्त्रम्. सं. एवं अनु. वाचस्पति गैरोला, चौखम्बा विद्याभवन, 2004.

गौतमधर्मसूत्र. सं. उमेशचन्द्र पाण्डेय, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, 1966.

दीघनिकाय. अनु. एवं सं. राहुल सांकृत्यायन तथा भिक्षु जगदीश कश्यप, महाबोधि सभा, 1936.

नारदस्मृति. सं. जूलियस जॉली, एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, 1885.

पाण्डे, गोविन्दचन्द्र. बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास. उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, 1957.

बुद्धघोष. समन्तपासादिका: विनय-अट्ठकथा. सं. भिक्षु जगदीश कश्यप, नालन्दा देवनागरी पालि ग्रन्थमाला, 1967.

मज्झिमनिकाय. अनु. राहुल सांकृत्यायन, महाबोधि सभा, 1933.

मनुस्मृति. सं. हरगोविन्द शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, 1990.

महाभारत: शान्तिपर्व. अनु. रामनारायणदत्त शास्त्री पाण्डेय, गीता प्रेस, 1988.

महावस्तु. सं. राधागोविन्द बसाक, एशियाटिक सोसाइटी, 1963.

याज्ञवल्क्यस्मृति. सं. उमेशचन्द्र पाण्डेय, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, 1967.

विनयपिटक: महावग्ग, चुल्लवग्ग. अनु. राहुल सांकृत्यायन, महाबोधि सभा, 1935.

शर्मा, रामशरण. प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ. राजकमल प्रकाशन, 2008.

सांकृत्यायन, राहुल. बुद्धचर्या. हिन्दी साहित्य सम्मेलन, 1952.

---. Early Buddhist Monachism. Kegan Paul, Trench, Trubner, 1924.

Altekar, A. S. State and Government in Ancient India. 3rd ed., Motilal Banarsidass, 1958.

Chakravarti, Uma. The Social Dimensions of Early Buddhism. Oxford UP, 1987.

Dutt, Sukumar. Buddhist Monks and Monasteries of India: Their History and Contribution to Indian Culture. George Allen and Unwin, 1962.

Gokhale, B. G. "Early Buddhist Kingship." Journal of Asian Studies, vol. 26, no. 1, 1966, pp. 15-22.

Horner, I. B., translator. The Book of the Discipline (Vinaya-Piṭaka). Vols. 1-6, Luzac, 1938-1966.

Jayaswal, K. P. Hindu Polity: A Constitutional History of India in Hindu Times. Butterworth, 1924.

Majumdar, R. C. Corporate Life in Ancient India. Surendranath Sen, 1918.

Mookerji, Radha Kumud. Ancient Indian Education: Brahmanical and Buddhist. Macmillan, 1947.

Oldenberg, Hermann, editor. The Vinaya Piṭakaṃ. Vols. 1-5, Williams and Norgate, 1879-1883.

Raychaudhuri, Hemchandra. Political History of Ancient India. U of Calcutta, 1923.

Thapar, Romila. From Lineage to State: Social Formations in the Mid-First Millennium B.C. in the Ganga Valley. Oxford UP, 1984.

Wagle, Narendra. Society at the Time of the Buddha. Popular Prakashan, 1966.

NOTES FOR AUTHORS

SHODH KHANIJ: A Multidisciplinary Peer Reviewed Journal

1. Submissions

Authors should send all submissions and resubmissions to **shodhkhanij@muditeducation.com** some articles are dealt with by the editor immediately, but most are read by outside referees. For submissions that are sent to referees, we try to complete the evaluation process within one month. Generally, Shodh Khanij operates a double-blind peer review process in which the reviewer's name is withheld from the author and the author's name is withheld from the reviewer. Reviewers may at their own discretion opt to reveal their name to the author in their review, but our standard policy is for both identities to remain concealed.

Absolute technical requirements in the first round are: ample line spacing throughout (1.15), abstract, adequate documentation using the author-date citation system and an alphabetical reference list and a word count on the front page (including all elements in the word count). Regular articles are restricted to an absolute maximum of 8,000 words, including all elements (title page, abstract, notes, references, tables, biographical statement, etc.).

2. Types of articles

In addition to Regular Articles, Shodh Khanij publishes the Viewpoint column with research-based policy articles, Review Essays, Book Review and Special Data Features.

3. The manuscript

The final version of the manuscript should contain, in this order:

(a) title page with name(s) of the author(s), affiliation

(b) Abstract

(c) Main text

(d) List of references

(e) Biographical statement(s)

(f) Tables and figures in separate documents

(g) Notes (either footnotes or endnotes are acceptable)

Authors must check the final version of their manuscripts against these notes before sending it to us.

The text should be left justified, with an ample left margin. Avoid hyphenation. Throughout the manuscripts, set line spacing to 1.15.

The final manuscript should be submitted in Kokila Hindi Unicode Font MS Word for Windows.

4. Language

Shodh Khanij is a Bilingual Journal, i.e. English and हिंदी (Kokila Hindi Unicode Font Size 14). The main objective of an academic journal is to communicate clearly with an international audience.

Elegance in style is a secondary aim: the basic criterion should be clarity of expression. We allow UK as well as US spelling, as long as there is consistency within the article. You are welcome to indicate on the front page whether you prefer UK or US spelling.

5. The abstract

The abstract should be in the range of 200-300 words. For very short articles, a shorter abstract may suffice. The abstract is an important part of the article. It should summarize the actual content of the article; rather than merely relate what subject the article deals with. It is more important to state an interesting finding than to detail the kind of data used: instead of 'the hypothesis was tested', the outcome of the test should be stated. Abstracts should be written

in the present tense and in the third person (This article deals with...) or passive (... is discussed and rejected). Please consider carefully what terms to include in order increasing the visibility of the abstract in electronic searches.

6. Title and headings

The main title of the article should appear at the top of pg. 1, followed by the author's name an institutional affiliation. The title should be short, but informative. All sections of the article (including the introduction) should have principal subheads. The sections are not numbered. This makes it all the more important to distinguish between levels of subheads in the manuscripts – preferably by typographical means.

7. Notes

Notes should be used only where substantive information is conveyed to the reader. Mere literature references should normally not necessitate separate notes; see the section on references below. Notes are numbered with Arabic numerals. Authors should insert notes by using the footnote/endnote function in MS Word.

8. Tables

Each Table should be self-explanatory as far as possible. The heading should be brief, but additional explanatory material may be added in notes which will appear immediately below the Table. Such notes should be clearly set off from the rest of the text. The table should be numbered with a Roman numeral and printed on a separate page.

9. Figures

The same comments apply, except that Figures are numbered with Arabic numerals. Figure headings are also placed below the Figure. Example: Figure 1.

10. References

References should be in a separate alphabetical list; they should not be incorporated in the notes. Use the APA form of reference.

11. Biographical statement

The bio sketch in Shodh Khanij appears immediately after the references. It should be brief and include year of birth, highest academic degree, year achieved, where obtained, position and current institutional affiliation. In addition, authors may indicate their present main research interest or recent (co-)authored or edited books as well as other institutional affiliations which have occupied a major portion of their professional lives. But we are not asking for a complete CV.

12. Proofs and reprints

Author's proofs will be e-mailed directly from the publishers, in pdf format. If the article is co-authored, the proof will normally be sent to the author who submitted the manuscripts. (Corresponding author). If the e-mail address of the corresponding author is likely to change within the next 6–9 months, it is in the author's own interest (as well as ours) to inform us: editor's queries, proofs and pdf reprints will be sent to this e-mail address. All authors (corresponding authors and their co-authors) will receive one PDF copy of their article by email.

13. Copyright

The responsibility for not violating copyright in the quotations of a published article rests with the author(s). It is not necessary to obtain permission for a brief quote from an academic article or book. However, with a long quote or a Figure or a Table, written permission must be obtained. The author must consult the original source to find out whether the copyright is held by the author, the journal or the publisher, and contact the appropriate person or institution. In the event that reprinting requires a fee, we must have written confirmation that the author is prepared to cover the expense. With literary quotations, conditions are much stricter. Even a single verse from a poem may require permission.